प्रकाशक :
मूलचन्द गुप्ता
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, चौड़ारास्ता,
जयपुर–302003

प्रथम संस्करण,

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक :
हुक्मचन्द विलूरिया
शीतल प्रिंटर्स
फिल्म कालोनी, जयपुर-302003

आमुख

तत्कालीन इतिहास की ऐतिहासिक घटनाओं का निष्पक्ष मूल्यांकन आधुनिक भारत के इतिहास की घटनाओं के परिपेक्ष्य में ही किया जा सकता है। यद्यपि आधुनिक भारत के इतिहास से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है तथापि आधुनिक भारत के इतिहास की हिन्दी में ऐसी कोई अच्छी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुकूल हो तथा जिसमें नवीनतम शोध ग्रन्थों एवं अनुसंधान के परिणामों का समावेश हो। अब तक प्रकाशित आधुनिक भारत के इतिहास की पुस्तकों में विषय सामग्री सामान्यतः गवर्नर जनरलों के कार्यों तक ही सीमित रखी गयी है, जबकि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में मूलभूत परिवर्तन हो चुके हैं, जिसमें गवर्नर जनरलों के कार्यों को अधिक महत्व न देकर राजनीतिक घटनाओं, प्रशासनिक नीतियों का क्रमवद्ध विकास तथा सामाजिक एवं आर्थिक तत्वों के योगदान को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में हमने मूलतः यही प्रयास किया है कि पुस्तक विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुरूप हो तथा नवीनतम शोध ग्रन्थों एवं अनुसंधान के परिणामों से छात्रों को परिचित करवाया जाय। हम अपने प्रयास में कहां तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय तो मेधावी छात्र एवं प्रवुद्ध शिक्षक वंधु ही कर सकेंगे।

पुस्तक के प्रणयन में जिन विद्वान लेखकों की रचनाओं की सहायता ली गई है, उन सभी के प्रति हम आभारी हैं। अन्त में पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि पुस्तक में कोई त्रुटि या दोष दिखाई दे अथवा वे कोई सुझाव देना चाहें तो निःसंकोच हमें सूचित करने का कष्ट करें। इसके लिये हम आभारी रहेंगे।

लेखकगण

विषय सूची

य　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पृष्ठ संख्या

अध्याय 1

राजनीतिक संक्रमण काल

(1707–1740)

1707 ई० में औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। मुगल सम्राट बाबर ने जिस मुगल साम्राज्य की स्थापना की थी, अकबर ने उसे उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। जहांगीर और शाहजहां ने वैभव और ऐश्वर्य से उसे गौरवपूर्ण बनाया। वही समृद्ध साम्राज्य औरंगजेब की नीतियों के फलस्वरूप उसके शासन काल में ही पतनोन्मुख हो गया और उसकी मृत्यु के पश्चात पतन के गर्भ में जा गिरा। औरंगजेब के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए तथा साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। विभिन्न प्रान्तों के सूबेदार अपने-अपने प्रान्तों में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने लगे। जिस समय मुगल साम्राज्य का दीपक मन्द पड़ रहा था, उसी समय विदेशी आक्रमण की आंधियाँ चलने लगी। अफगान नेता नादिरशाह के आक्रमण ने साम्राज्य को अस्त-व्यस्त कर किया। इस प्रकार 1740 ई० तक मुगलों की केन्द्रीय शक्ति क्षीण होने पर क्षेत्रीय शक्तियां शक्ति सम्पन्न होने लगीं तथा यूरोपियन शक्तियों का राजनैतिक रंगमंच पर प्रादुर्भाव होने लगा। इन यूरोपियन शक्तियों ने देश की अव्यवस्था का पूरा-पूरा लाभ उठाया।

मुगल साम्राज्य की अवनति—औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों मोअज्जम, आजम और कामबख्श के बीच मुगल-तख्त के लिये उत्तराधिकार युद्ध हुआ। इस युद्ध में विजयी होकर मोअज्जम, बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। बहादुरशाह वृद्धावस्था में गद्दी पर बैठा था, अतः अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। 1712 में उसकी मृत्यु हो गयी। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जहांदरशाह (1712–13) को गद्दी पर बैठा, जो पूर्णतः अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ। वह एक नाचने वाली लड़की लालकुंवर के प्रेम में इतना आसक्त हो गया कि उसने लालकुंवर के रिश्तेदारों को दरबार में ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त कर दिया। इससे दरबार में षडयंत्र आरम्भ हो

गये। अतः फर्रुखसियर, जो बहादुरशाह के पुत्र आजम-उस-शाह का पुत्र था, इस स्थिति का लाभ उठाकर गद्दी हथिया ली तथा जहांदरशाह की गला घोंट कर हत्या कर दी। फर्रुखसियर (1713–1719) सैयद भाइयों (सैयद अब्दुल्ला और सैयद हुसैन खां) के सहयोग से गद्दी पर बैठा था। अतः प्रशासन में सैयद भाइयों का महत्व बढ़ गया। फर्रुखसियर सैयद भाइयों के प्रभुत्व से मुक्त होना चाहता था, अतः दोनों के सम्बन्ध बिगड़ गये। 1719 में सैयद हुसैन मराठा सेना की सहायता से दिल्ली पर आक्रमण कर फर्रुखसियर की हत्या कर दी और रफी-उद-दरजात को गद्दी पर बैठाया। किन्तु जून 1719 में उसे भी हटा दिया गया और रफीउद्दौला को गद्दी पर बैठाया। रफीउद्दौला भी अधिक समय तक सिंहासन पर आरूढ़ न रह सका। पेचिस की बीमारी के कारण 17 सितम्बर 1719 को उसकी मृत्यु हो गयी तथा 18 सितम्बर 1719 को मुहम्मदशाह (1719–1748) मुगल तख्त पर आसीन हुआ।

मोहम्मदशाह के काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना सैयद भाइयों का पतन था। किन्तु इस काल में साम्राज्य की विघटनकारी प्रवृतियां प्रबल हो उठीं। दक्षिण में निज़ाम-उल-मुल्क ने स्वतन्त्र हैदराबाद राज्य की स्थापना कर ली, अवध में सआदतखां ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया, बंगाल में मुर्शीदकुलीखां ने मुगल अधीनता का जामा उतार फेंका, आगरा के निकट जाटों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, पंजाब में सिक्खों ने लूटमार आरम्भ कर दी और राजपूत रियासतों ने भी केन्द्रीय मुगल सत्ता की अवहेलना करना आरम्भ कर दिया। मुगल साम्राज्य की इस क्षीण शक्ति पर अफगान नेता नादिरशाह ने घातक प्रहार किया। रक्तपात और लूटमार के द्वारा उसने देश को तबाह कर दिया और मुगलों की रही-सही शक्ति को भी नष्ट कर दिया। कालान्तर में अनुकूल परिस्थितियां देखकर अंग्रेज भी ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखने लगे और अन्ततः उन्हें सफलता भी मिली।

मराठा शक्ति का अभ्युदय—17 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति का उत्कर्ष हुआ था। शिवाजी ने स्वतन्त्र मराठा राज्य की स्थापना की तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये जीवन भर मुगलों से संघर्ष करते रहे। शिवाजी की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी शम्भाजी ने मुगलों से संघर्ष जारी रखा। 1689 ई० में शम्भाजी को बन्दी बनाकर औरंगजेब ने उसका वध करवा दिया। तत्पश्चात शम्भाजी के सौतेले भाई राजाराम ने मुगलों के दांत खट्टे किये। औरंगजेब ने शम्भाजी की स्त्री तथा उसके अल्पवयस्क पुत्र को बन्दी बना लिया। फिर भी मराठों ने अपूर्व साहस एवं उत्साह का परिचय दिया। 1700 में राजाराम की मृत्यु हो गयी। राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय को गद्दी पर बैठाया और स्वयं उसकी संरक्षिका बन गयी। अब मराठों का स्वतन्त्रता संग्राम ताराबाई के

नेतृत्व में चालू हो गया। ताराबाई के नेतृत्व में मराठों ने उन सभी दुर्गों पर अधिकार कर लिया जिन पर पहले औरंगजेब अधिकार कर चुका था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगलों ने शाहू को मुक्त कर दिया। 1707 से 1749 तक मराठा राज्य का स्वामित्व छत्रपति शाहू के हाथ में रहा। शाहू शान्ति प्रिय व आलसी व्यक्ति था, अतः मराठा राज्य की वास्तविक शक्ति पेशवा के हाथ में आ गयी। इन पेशवाओं ने मराठा शक्ति को सुदृढ़ करके दक्षिण में अपना प्रभाव स्थापित किया। 1720 से 1740 तक पेशवा बाजीराव प्रथम ने मराठों के प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाया। मराठा की बढ़ती हुई शक्ति से यूरोपीय जातियां भी चौकन्नी हो गयी। पेशवा बाजीराव ने 1738 में पुर्तगालियों से बसीन व सालसेट छीन लिये। बाजीराव की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर अंग्रेजों ने उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये। इस प्रकार, मुगलों के पतन से जो राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गयी थी, मराठों ने उस शून्यता को भरने का प्रयत्न किया।

सिक्ख शक्ति का उत्थान—सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख जाति के धार्मिक समुदाय को सैनिक शक्ति के रूप में संगठित किया था। गुरु गोविन्दसिंह के बाद उसके एक सेवक बन्दा बहादुर ने देश के विभिन्न भागों से सिक्खों को बुलाकर अपने झण्डे के नीचे एकत्र कर लिया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने सिक्खों से मैत्री सम्बन्ध रखे। किन्तु गुरु गोविन्दसिंह की हत्या के बाद सिक्खों ने पुनः मुगलों से लोहा लेना आरम्भ कर दिया। 1710 में सिक्खों और मुगलों के बीच भयंकर युद्ध हुआ। सिक्खों ने सरहिन्द पर विजय प्राप्त कर ली। सिक्खों ने सरहानपुर और जलालाबाद में विद्रोह कर दिया तथा अमृतसर, कसूर, बटाला, कलानौर और पठानकोट पर विजय प्राप्त करली। किन्तु अन्त में मुगलों ने बन्दा बहादुर को बन्दी बना लिया तथा 1716 में उसे मौत के घाट उतार दिया। बन्दा बहादुर की मृत्यु के बाद सिक्ख 'बन्दई' एवं 'तत् खालसा' नामक दो दलों में विभक्त हो गये. किन्तु 1721 में इन दोनों दलों में पुनः एकता स्थापित हो गयी। 1726 में मुगल सम्राट मोहम्मदशाह ने जकरियाखां को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया, जिसने सिक्खों पर भीषण अत्याचार किये। अतः सिक्खों ने अपने आपको 'दल खालसा' में संगठित कर लिया और यह 'दल खालसा' मुगलों के लिये आतंक सिद्ध हुआ।

1738 में ईरान के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया और भारत से अतुल सम्पत्ति लूटकर जब वह अपने देश लौट रहा था, तब लौटती हुई नादिरशाह की सेना के पिछले भाग पर सिक्खों ने आक्रमण कर बहुत सा लूट का माल छीन लिया। मुगल सूबेदार जकरियाखां ने सिक्खों पर अपना दमन चक्र जारी रखा। किन्तु सिक्ख शान्त नहीं हुए और वे मुगलों पर प्रहार करते रहे। फलतः 1740 तक मुगल सत्ता का दबदबा समाप्त हो गया। सिक्खों ने दल खालसा को

विभिन्न जत्थों में विभाजित किया तथा 11 जत्थों की एक 'मिसल' बनाई। पंजाब में ये सिक्ख मिसलें धीरे-धीरे राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त करने लगी। आगे चलकर रणजीतसिंह ने इन मिसलों को जीतकर संगठित पंजाब राज्य की स्थापना की थी।

यूरोपीय जातियों का आगमन—1498 में पुर्तगाली नाविक वास्को-डी-गामा भारत के मलाबार तट पर पहुँचकर यूरोप से एक सामुद्रिक मार्ग खोज निकाला। इस घटना ने भारत और यूरोप के सम्बन्धों में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। कालीकट के राजा जमोरिन ने पुर्तगालियों को अपने राज्य में व्यापार करने की अनुमति दे दी। इसके बाद पुर्तगालियों का भारत में आना जाना बढ़ता गया। पुर्तगालियों ने गोआ, दमन, दीव, हुगली आदि स्थानों पर अपनी व्यापारिक कोठियां स्थापित करली तथा सुदृढ़ नौ-सैना स्थापित करली। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने भारतीय व्यापार से इतना धन कमाया कि उसे देखकर अन्य यूरोपीय जातियां दंग रह गयी। अतः पुर्तगालियों की तरह अन्य यूरोपीय देशों के व्यापारियों ने भी भारतीय व्यापार के लिये कम्पनियां स्थापित की। 1595 में हालैण्ड के डच व्यापारियों ने पूर्वी देशों से व्यापार करने हेतु एक कम्पनी स्थापित की। अब भारतीय व्यापार के लिये डचों और पुर्तगालियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। डचों की शक्ति के सामने पुर्तगाली नहीं टिक सके। इधर मराठों ने भी पुर्तगालियों से बसीन व सालसेट छीन लिये।

ब्रिटेन में भी एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित की गई तथा 1608 में इस कम्पनी का पहला जहाज सूरत के बन्दरगाह पर पहुँचा। इस जहाज का कप्तान हाकिन्स था, जो अपने साथ ब्रिटेन के राजा का पत्र लाया था। हाकिन्स ने यह पत्र मुगल सम्राट जहांगीर को दिया। 6 फरवरी 1613 को एक शाही फरमान द्वारा अंग्रेजों को व्यापार करने के लिये एक कोठी बनाने तथा मुगल दरबार में एक एलची रखने की अनुमति दे दी गई। सर टामस रो को इस पद पर नियुक्त किया गया, जिसने मुगल सम्राट को प्रभावित कर भारत में अंग्रेजी कोठियां स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त करली। फलस्वरूप भारत में अंग्रेजों की व्यापारिक कोठियां स्थापित होने लगी। अब भारतीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने हेतु पुर्तगालियों, डचों और अंग्रेजों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। अंग्रेजों ने डचों और पुर्तगालियो को पराजित किया। डचों और पुर्तगालियों को पराजित करने के बाद अंग्रेजों की शक्ति में वृद्धि होने लगी।

अन्य यूरोपीय जातियों की तरह फ्रांसीसियों ने भी 1664 में एक व्यापारिक कम्पनी स्थापित की। भारत में उन्होंने सूरत, मछलीपट्टम, पाण्डीचेरी और चन्दरनगर में अपनी व्यापारिक कोठियां स्थापित करली। मुगल सत्ता के पतनोन्मुख काल में फ्रांसीसियों ने विशेष प्रगति की। पुर्तगालियों व डचों की शक्ति छिन्न-भिन्न करने के बाद अब केवल फ्रांसीसी ही अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। ये दोनों

शक्तियां भारतीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना चाहती थी। अतः दोनों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। दोनों शक्तियों के पास आत्मरक्षा के लिये पर्याप्त सेना थी। दोनों शक्तियों ने भारत के देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़ों में तथा राज्यों के उत्तराधिकार के मामलों में हस्तक्षेप कर उन्हें सैनिक सहायता प्रदान करना आरम्भ किया। इस सहायता के बदले में उन्होंने भारतीय शासकों से भूमि, धन और अन्य व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करली। धीरे-धीरे ये व्यापारी एक राजनैतिक शक्ति बन गये और भारत में राजनैतिक प्रभुत्व के लिये दोनों में संघर्ष आरम्भ हो गया। 1744 से 1763 के बीच दोनों के बीच तीन युद्ध हुए, जिन्हें 'कर्नाटक के युद्ध' कहा जाता है। अन्त में अंग्रेज सफल हुए और भारत में साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग साफ हो गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद 1740 तक आते-आते भारत में राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी। केन्द्रीय नियंत्रण शिथिल हो गया, जिससे शक्तियां शक्ति सम्पन्न होने लगी। मालवा और गुजरात पर मराठों का प्रभुत्व स्थापित होने लगा, उत्तर-पश्चिम के सूबों पर अफगानों ने अधिकार कर लिया और राजस्थान व बुन्देलखण्ड के राजपूत राजा स्वतन्त्र हो गये। केन्द्रीय नियन्त्रण समाप्त होने पर देशी राज्यों के बीच पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गये। देशी राज्यों के पारस्परिक संघर्ष में अंग्रेजों व फ्रांसीसियों ने खुलकर हस्तक्षेप किया। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में अराजकता व्याप्त हो गयी। इसी पृष्ठ-भूमि में अंग्रेजों ने भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया और अन्ततः वे सफल हुए।

अंग्रेजों की सफलता के कारण—ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आई थी, किन्तु देश में विद्यमान परिस्थितियों का लाभ उठाकर उसने भारतीयों पर विजय प्राप्त करली। इस प्रसंग में स्वतः ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसे कौन से कारण थे जिससे अंग्रेज भारत में सफलता प्राप्त कर सके। अंग्रेजों की सफलता और भारतीयों की पराजय के निम्न कारण बताये जा सकते हैं—

(1) जिस समय यूरोपियन जातियों का आगमन हुआ, उस समय भारतीयों में राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति की भावना का सर्वथा अभाव था। ऐसी परिस्थिति में भारतवासियों को एक दूसरे से लड़ा देना बड़ा आसान था। भारतवासियों के पारस्परिक झगड़ों में किसी तीसरी शक्ति द्वारा लाभ उठाना तो स्वाभाविक ही था। इतिहासकार मेलीसन ने लिखा है कि भारतीयों में गैरों पर विश्वास करने की विलक्षण आदत थी। अतः अपने पारस्परिक झगड़ों में उन्होंने यूरोपियनों पर विश्वास करके उनसे सहयोग और सहायता प्राप्त की, जो भारतीयों के लिये विनाश-कारी सिद्ध हुई।

(2) पंडित सुन्दरलाल के अनुसार अंग्रेज, भारतीयों की अपेक्षा कम सभ्य थे। उनमें बर्बरता, चालाकी एवं हिंसक प्रवृति कूट-कूट कर भरी हुई थी। अतः असभ्य एवं बर्बर जाति का सभ्य जाति पर विजय प्राप्त करना कोई नई बात नहीं थी। पंडित सुन्दरलाल ने इसके तीन कारण बताये हैं—

(i) अधिक सभ्य जाति में हिंसक प्रवृति नहीं होती और उनमें आराम-तलबी का आदत होती है। सभ्य जाति में असभ्य जाति की तरह उद्दण्डता एवं पराक्रमशीलता नहीं होती। अतः हिंसक प्रवृति द्वारा सभ्य जाति पर विजय आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

(ii) असभ्य जाति निःसंकोच रूप से पाशविक प्रवृतियों एवं शक्ति का प्रयोग करने हेतु तत्पर हो जाती है, जबकि सभ्य जाति अपने नैतिक आदर्शों के कारण ऐसा नहीं कर पाती।

(iii) जय और पराजय अधिकांशतः हिंसा व शक्ति पर निर्भर करती है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सभ्य जाति में, कम सभ्य जाति की अपेक्षा हिंसा करने की प्रवृति अधिक हो। अतः कम सभ्य जाति का, जो हिंसा व शक्ति में विश्वास करती है, सभ्य जाति पर विजय प्राप्त करना स्वाभाविक है।

(3) भारतीयों के मन में अपने और पराये का भेद कभी नहीं रहा। अतः यूरोपवासियों के साथ उसी प्रकार प्रेम और सत्कार का व्यवहार किया। इसलिये भारतीय नरेशों के पारस्परिक संघर्ष में कभी एक पक्ष का तो कभी दूसरे पक्ष का साथ देना अथवा षड़यंत्रों द्वारा संघर्ष खड़ा करके लाभ उठाना अंग्रेजों के लिये सरल हो गया।

(4) भारतीय नरेश अपने राज्य में व्यापारियों के माल की रक्षा करना अपना धर्म समझते थे। इसीलिये मुगल सम्राट जहांगीर ने अंग्रेजों को भारत में व्यापार करने की अनुमति दे दी। किन्तु अंग्रेजों ने व्यापार की आड़ में राजनीतिक कुचक्र रचना आरम्भ कर दिया। भारतीयों को इसका अनुभव नहीं था। भारतीय यह बात समझ हीं नहीं सके कि उनकी उदारता भारतीय व्यापार, उद्योग धन्धे तथा राजनैतिक स्वाधीनता का सर्वनाश कर देगी।

(5) उस समय यद्यपि भारत की तिजारत (व्यापार) अंग्रेजों से कई गुना ज्यादा थी, फिर भी भारतीय अपनी तिजारत को कभी इतना महत्व नहीं देते थे जितना अंग्रेज; क्योंकि भारत में तिजारत का काम एक विशेष श्रेणी के लिये छोड़ दिया गया था। भारत में तिजारत से धन कमाना छोटा काम समझा जाता था, यहां तक कि खेती को भी तिजारत से ऊंचा समझा जाता था। इसलिये भारतीयों के लिये यह सोचना संभव ही नहीं था कि अंग्रेजों के व्यापार के राजनैतिक परिणाम भी हो सकते है।

(6) भारतीयों ने कभी भी विदेशियों को संदेह या अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखा। इसलिये विदेशियों के साथ हुई सन्धियों व समझौतों को पवित्र मानते थे तथा पारस्परिक व्यवहार में कभी छल या कपट का प्रयोग नहीं करते थे। इसलिये भारतीयों ने कभी भी सन्धियों या समझौतों का उल्लंघन नहीं किया। इसके विपरीत अंग्रेजों ने कभी भी सन्धियों या समझौतों का निष्ठा से पालन नहीं किया। स्वयं बर्क महोदय ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि एक भी सन्धि ऐसी नहीं है जो अंग्रेजों ने भारत में किसी के साथ की हो और जिसे बाद में तोड़ा न हो। भोले-भाले भारतीय ऐसे कपट के सामने कैसे टिक सकते थे।

(7) भारत में अंग्रेजों और भारतीय शासकों के बीच अनेक युद्ध हुए थे। इन युद्धों में सदैव भारतीयों के दो दल होते थे, एक तो विदेशियों का समर्थक और दूसरा उनका विरोधी। विदेशियों का समर्थक दल अपने राज्य से गद्दारी करके महत्वपूर्ण सूचनाएं अंग्रेजों के पास पहुँचा देता था तथा अवसर आने पर सैनिक दल को ही अंग्रेजों के पक्ष में कर लेता था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों का विजयी होना कोई कठिन नहीं था। इसलिये कुछ आधुनिक इतिहासकारों की मान्यता है कि अंग्रेजों ने भारत को नहीं जीता बल्कि स्वयं भारतीयों ने अपने देश को जीतकर विदेशियों के हवाले कर दिया था।

उपर्युक्त कारणों से अंग्रेजों को भारत में सफलता प्राप्त हुई तथा भारतीय पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ दिये गये। लगभग दो सौ वर्षों तक भारतीय असम्मान का जीवन व्यतीत करते रहे और अन्त में भारतीयों को छुटकारा देश के विभाजन की कीमत पर मिला।

अध्याय 2

पेशवाओं का उत्थान और पानीपत का तीसरा युद्ध

पृष्ठभूमि—सतरहवीं शताब्दी में मराठा-शक्ति का उत्कर्ष भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। महाराष्ट्र प्रदेश की भौगोलिक परिस्थिति, वहाँ के लोगों की चारित्रिक विशेषताएं, स्थानीय संस्थाएं, सांस्कृतिक जागरण और दक्षिण के मुस्लिम सुल्तानों के शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया आदि ने मराठा-शक्ति के उत्कर्ष का आधार तैयार कर दिया था। शिवाजी के सुयोग्य नेतृत्व ने मराठा जाति में नवजीवन का संचार किया। उन्होंने मराठों को संगठित करके एक स्वतन्त्र मराठा राज्य की स्थापना की। इसके लिये उन्हें शक्तिशाली मुगल सम्राट औरंगजेब तथा दक्षिण के मुस्लिम राज्यों और पुर्तगालियों से लोहा लेना पड़ा। शिवाजी न केवल एक स्वतन्त्र मराठा राज्य स्थापित करने में सफल रहे अपितु वे मराठा जाति में एकता और आत्मविश्वास की ऐसी सुदृढ़ भावना भरने में भी सफल रहे जिससे उनकी मृत्यु के बाद भी मराठे मुसलमान शक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में कामयाब रहे।

शिवाजी की मृत्यु के बाद उसका बड़ा पुत्र शम्भाजी 30 जुलाई, 1680 को सिंहासन पर बैठा। सिंहासन पर बैठने के समय से उसने जो क्रूरता और विलासिता आरम्भ की, वह उसकी मृत्यु तक चली, जिससे वह शीघ्र ही अलोकप्रिय हो गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के पतन के बाद औरंगजेब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति शम्भाजी के विरुद्ध लगा दी। शम्भाजी ने वीरता के साथ मुगलों का सामना किया। परन्तु अपनी असावधानी के कारण फरवरी 1689 ई० में वह अपने मन्त्री कवि कलश के साथ पकड़ा गया। औरंगजेब ने उसे अपने सम्पूर्ण किलों और खजानों को मुगलों को सौंप देने की माँग की। शम्भाजी ने उसकी माँग को बड़े ही अपमानजनक ढंग से ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप शम्भाजी और कवि कलश को कठोर यातनाएँ दी गईं। पन्द्रह दिन की घोर शारीरिक यातनाओं के बाद उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों को डाल दिये गये। शम्भाजी जैसे विलासी व्यक्ति ने जिस साहस का परिचय दिया उससे मराठा राष्ट्र को मुगलों से संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

शम्भाजी की मृत्यु के वाद भी औरंगजेव को कठिनाइयों से छुटकारा नहीं मिला। मराठों ने शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम को राजा घोषित कर दिया और मुगलों के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संघर्ष छेड़ दिया। नवम्बर 1689 ई० में मराठों की राजधानी रायगढ़ का पतन हो गया। राजाराम तो वच निकला परन्तु शम्भाजी की विधवा येसूवाई और पुत्र (जो वाद में शाहू के नाम से प्रसिद्ध हुआ) मुगलों के हाथ लग गये और उन्हें मुगल शिविर में वंदी वनाकर रखा गया। महाराष्ट्र पर मुगलों का दवाव कम करने की दृष्टि से राजाराम सुदूर जिंजी की तरफ चला गया। महाराष्ट्र में अमात्य रामचन्द्र, संताजी घोरपड़े, धानाजी जाधव आदि नेताओं ने मुगलों की वड़ी दुर्दशा की। 1698 ई० में राजाराम पुनः महाराष्ट्र लौट आया। इस समय मराठों में अपार जोश था और मुगलों की स्थिति काफी शोचनीय थी। तभी अचानक राजाराम वीमार पड़ गया और तीस वर्ष की अल्पायु में 12 मार्च, 1700 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

खफीखाँ ने लिखा है कि, "जव राजाराम अपनी विधवाओं और छोटे वच्चे को छोड़कर मर गया तो उस समय लोगों ने सोचा कि दक्षिण में मराठा शक्ति का अन्त आ गया। किन्तु उसकी (राजाराम की) वड़ी पत्नी तारावाई ने अपने तीन वर्ष के वालक (जो शिवाजी द्वितीय कहलाया) को सिंहासन पर वैठाया और सरकार की वागडोर अपने हाथ में ले ली।" तारावाई एक योग्य एवं महत्वाकांक्षिणी स्त्री थी। उसने विलक्षण संगठन-शक्ति का परिचय भी दिया। उसके नेतृत्व में मराठों ने औरंगजेव और उसके सेनानायकों को वुरी तरह से परेशान किया। विफलता, विनाश और व्यथा का भार लेकर फरवरी, 170 ई० में औरंगजेव ने प्राण छोड़ दिये।

छत्रपति शाहू (1707–1749 ई०)—जैसा कि ऊपर वतलाया जा चुका है कि शम्भाजी की विधवा येसूवाई और पुत्र शाहू को मुगल शिविर में वन्दी वना कर रखा गया था। औरंगजेव की इच्छा शाहू को मुसलमान वनाने की थी परन्तु अपनी पुत्री जीनतुन्निसा के अनुरोध पर उसने अपना विचार त्याग दिया। अव उसने शाहू का राजनैतिक मोहरे के रूप में उपयोग करने का विचार किया। मराठों में आन्तरिक फूट डालने अर्थात तारावाई और शाहू को आपस में लड़ा देने की वात सोची। परन्तु अपने अविश्वासी स्वभाव के कारण वह अपने विचार को कभी कार्यान्वित न कर सका।

1707 ई० में औरंगजेव की मृत्यु हो गई और उसके साथ ही उसके पुत्रों में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। मुख्य संघर्ष उत्तर में स्थित शाहजादा मुअज्जम और दक्षिण में तैनात शाहजादा आजम के वीच में था। जव आजम दक्षिण भारत से उत्तर के लिये रवाना हुआ तो वह अपने साथ शाहू एवं उसके परिवार को भी लेता गया। नर्मदा नदी पार करने के वाद मुगल सेनानायक जुल्फिकारखां के

सुझाव पर शाहू को मुक्त कर दिया गया परन्तु उसकी माता, पत्नियों और सौतेले भाई को बन्धक के रूप में मुगल शिविर में ही रखा गया। शाहू को मुक्त करने में जुल्फिकार खां के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला, शाहू और ताराबाई में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ जायेगा जिससे मराठे विनाशकारी गृह-युद्ध में उलझ जायेंगे। दूसरा, गृह-युद्ध में उलझ जाने के परिणामस्वरूप मराठे दक्षिण भारत में मुगल सत्ता को अधिक हानि नहीं पहुंचा सकेंगे।

शाहू अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ महाराष्ट्र को चल पड़ा। महाराष्ट्र पहुंचते-पहुंचते उसके पास एक अच्छी सेना हो गयी। जब ताराबाई को शाहू के आगमन की सूचना मिली तो उसने घोषणा की कि शाहू एक छलिया है और शाहू का मराठा राज्य पर कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि शिवाजी ने जिस राज्य का निर्माण किया था उसे उसके पिता शम्भाजी ने खो दिया था। मौजूदा मराठा राज्य का निर्माण उसके पति राजाराम और स्वयं उसने किया है, अतः इसका वास्तविक उत्तराधिकारी उसका पुत्र शिवाजी द्वितीय ही है। अन्त में, नवम्बर, 1707 ई० में खेड़ के मैदान पर दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ। ताराबाई का सेनापति धानाजी जाधव शाहू के पक्ष में जा मिला जिससे ताराबाई की सेना परास्त हो गई। इसके बाद, शाहू सतारा की तरफ बढ़ा। वहां ताराबाई की सेना पुनः परास्त हुई। शाहू ने सतारा को अपनी राजधानी बनाया और जनवरी, 1708 ई० में अपना राज्याभिषेक किया। उसी के समय में पेशवाओं की शक्ति का विकास हुआ। परन्तु उनका विकास केवल शाहू की कृपा का परिणाम न था। इसके लिए बहुत से कारण उत्तरदायी थे।

पेशवाओं के उत्थान के कारण

प्रोफेसर एच. एन. सिन्हा के मतानुसार 1707 ई० में महाराष्ट्र की राजनैतिक स्थिति और शाहू की कठिनाइयां—पेशवाओं के उत्थान के दो प्रमुख कारण थे। पहले हम महाराष्ट्र की राजनीतिक स्थिति की चर्चा करेंगे। शम्भाजी की मृत्यु के बाद महाराष्ट्र में मुगलों के विरुद्ध जो स्वतन्त्रता संघर्ष छिड़ा उसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। एक तरफ तो मुगल साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया और मराठों को मुगल क्षेत्रों से चौथ और सरदेशमुखी नामक कर वसूल करने का अवसर उपलब्ध हो गया। दूसरी तरफ, शिवाजी की शासन पद्धति का लोप हो गया और नवीन शासन पद्धति में वंशानुगत जागीरों और पदों की पुनः स्थापना हुई।

राजाराम और ताराबाई के नेतृत्व में मराठों ने कई बार मुगल सेनाओं को बुरी तरह से पराजित किया और मुगलों ने महाराष्ट्र के प्रदेशों को बुरी तरह से बर्बाद किया। औरंगजेब के जीवन काल में ही दक्षिण भारत में चारों ओर अव्यवस्था तथा अराजकता फैल चुकी थी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार-संघर्ष शुरू हो गया और दक्षिण में तैनात उसका पुत्र आजम दक्षिण में स्थित मुगल

सेना के साथ उत्तर की ओर चल पड़ा। अब दक्षिण में मराठों की गतिविधियों को रोकने वाला कोई नहीं था। ऐसी स्थिति में जुल्फिकारखां की सलाह पर शाहू को मुक्त किया गया ताकि मराठों में आपसी फूट पड़ जाय और उनका सम्पूर्ण ध्यान अपनी आन्तरिक समस्या पर केन्द्रित हो जाय।

शाहू की मुक्ति की सूचना के साथ ही सम्पूर्ण महाराष्ट्र में एक हलचल सी पैदा हो जाती है। शाहू शहीद शम्भाजी का पुत्र था। उसे मुगलों का वैधानिक समर्थन प्राप्त था। उसका व्यक्तित्व आकर्षक था और वह मिलनसार स्वभाव का था। अतः शीघ्र ही उसका पक्ष सवल हो गया। स्वतन्त्रता संघर्ष के समय महाराष्ट्र की राजनीति में दो व्यक्ति प्रमुख थे—रामचन्द्र पन्त हुकुमतपनाह और परशुराम पन्त प्रतिनिधि। तारावाई की अवसरवादी नीति ने दोनों को ही असंतुष्ट बना दिया। प्रतिनिधि तो फिर भी तारावाई के साथ वना रहा परन्तु रामचन्द्र का लड़का श्रीपतराय शाहू के पक्ष में चला गया। तारावाई के सेनापति धनाजी जाधव ने भी पक्ष वदल दिया और शाहू छत्रपति वन गया।

छत्रपति बनने के वाद शाहू ने तारावाई की सत्ता को पूरी तरह से समाप्त करने का निश्चय किया। परन्तु मराठा सरदारों ने जान बूझ कर तारावाई को नष्ट नहीं होने दिया क्योंकि उनको भय था कि यदि तारावाई की शक्ति पूर्ण रूप से नष्ट हो गई तो शाहू की शक्ति सर्वोच्च हो जायेगी और फिर शाहू को उनकी सेवाओं की उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः वे शाहू को अपने नियन्त्रण में रखना चाहते थे और इसके लिए शाहू की शत्रु तारावाई की शक्ति को वनाये रखना आवश्यक था। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये मराठा सरदारों को पक्ष परिवर्तन करने तथा शाहू की केन्द्रीय सत्ता की अवहेलना करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होती थी।

अब हम शाहू की कठिनाइयों की चर्चा करेंगे। शाहू की पहली समस्या अपने आपको महाराष्ट्र का सर्वोच्च शासक सिद्ध करना था। इसके लिये उसे तारा-वाई और उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय और वाद में राजसवाई तथा उसके पुत्र शम्भाजी द्वितीय के विरुद्ध लड़ना था और उन्हें अपने अधीन लाना था। उसे यह भी सिद्ध करना था कि वह शम्भाजी का असली लड़का है और मराठा राज्य पर उसका वैधानिक अधिकार है। परन्तु शाहू जैसे व्यक्ति के लिए इन कठिनाइयों को हल करना सम्भव नहीं था। क्योंकि वह मुगल शिविर में बड़ा हुआ था। वह आराम पसन्द व्यक्ति था। उसका स्वभाव भी ऐसा था कि वह किसी से कुछ कह नहीं सकता था। अतः इस समय शाहू को एक ऐसे दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति की सेवाओं की आवश्यकता थी जो कि उसकी कठिनाइयों को हल कर सके, सम्पूर्ण महाराष्ट्र में उसकी सर्वोच्च सत्ता को स्थापित कर सके। महाराष्ट्र में शान्ति एवं व्यवस्था कायम कर सके और प्रशासन-व्यवस्था को सुसंगठित कर सके।

प्रशासन व्यवस्था के संगठन की समस्या सबसे अधिक कठिन थी। स्वतन्त्रता संघर्ष के समय जागीर प्रथा पुनः लागू कर दी गई थी और इन जागीरों को मराठा सरदारों ने अपने बलबूते पर मुगलों से जीता था और उन पर स्वतन्त्र शासक की भांति शासन करते आ रहे थे। अब वे लोग किसी भी कीमत पर अपने विशेष अधिकारों तथा सुविधाओं को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे। अतः शाहू को एक ऐसे निपुण राजनीतिज्ञ की आवश्यकता थी जो इन सामन्तों को उनके विशेष अधिकारों तथा सुविधाओं को छीने बिना उन्हें किसी समझौते के लिए तैयार कर सके; उन्हें कन्द्रीय सत्ता के अधीन करके महाराष्ट्र को राजनीतिक एकता प्रदान कर सके। मराठा सरदारों की लूटमार की मनोवृति को सन्तुष्ट करने के लिए महाराष्ट्र के बाहर उनके लिए पृथक-पृथक प्रभाववर्ती क्षेत्रों का निर्धारण कर सके।

जिस समय शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया था, शिवाजी के अष्ट-प्रधान अपने प्रभाव को खो चुके थे। शम्भाजी के शासन काल में कवि कलश ने पेशवा के अधिकारों को हथिया लिया था। राजाराम के शासन काल में हुकुमतपनाह और प्रतिनिधि नामक दो नये अधिकारियों ने अष्ट-प्रधान की समस्त सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थी। पेशवा की स्थिति एवं प्रभाव काफी कम हो गया था। हुकुमतपनाह और प्रतिनिधि दोनों एक-दूसरे के विरोधी थे और एक-दूसरे के प्रभाव को नष्ट करने में लगे रहते थे जिससे दोनों की लोकप्रियता कम होती जा रही थी। ताराबाई के शासनकाल में हुकुमतपनाह की गिरफ्तारी तथा शाहू के हाथों प्रतिनिधि की पराजय ने दोनों की रही-सही प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया। इसीलिए पेशवा को पुनः आगे आने का अवसर मिल सका। उसको चुनौती देने वाला एक ही व्यक्ति था—सेनापति धानाजी जाधव। परन्तु धानाजी की आकस्मिक मृत्यु के अनुभवहीन नये सेनापति चन्द्रसेन (धानाजी का लड़का) के लिए पेशवा को चुनौती देना कठिन काम था। इस प्रकार, पेशवा वंश के संस्थापक बालाजी विश्वनाथ के लिये मैदान खाली पड़ा था। बालाजी विश्वनाथ एक साधारण चितपावन ब्राह्मण परिवार का व्यक्ति था। महाराष्ट्र की नई राजनीतिक स्थिति में उसके पास खोने के लिये कुछ न था। परन्तु शाहू के विश्वास को अर्जित करके पाने के लिये बहुत कुछ था। शाहू की सत्ता एवं प्रभाव की वृद्धि में ही स्वयं उसकी उन्नति निहित थी। संयोगवश, उसके पास वैसी योग्यता, नीति-निपुणता और अनुभव भी था जैसाकि शाहू को चाहिये था। बालाजी विश्वनाथ ने अपनी सेवाओं द्वारा शाहू को महाराष्ट्र का सर्वोच्च शासक ही नहीं बना दिया अपितु एक सुसंगठित शासन-व्यवस्था की नींव रखकर महाराष्ट्र में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की तथा सय्यद बन्धुओं से समझौता करके चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त किया।

इस प्रकार, पेशवाओं का अभ्युदय मुख्यतः बालाजी विश्वनाथ की सेवाओं के कारण हुआ। उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर ही आरामपसन्द शाहू ने स्वेच्छा से छत्रपति के अधिकार उसको सौंप दिये। बालाजी विश्वनाथ का पुत्र बाजीराव और पोता बालाजी बाजीराव भी छत्रपति के स्वामीभक्त सेवक सिद्ध हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाहू के प्रथम तीन पेशवा योग्य प्रबन्धक, साहसी सेनानायक तथा विषम परिस्थितियों से जूझने वाले और मराठा शक्ति को सर्वोच्च बनाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ सिद्ध हुए। उन्होंने मराठा सरदारों का ध्यान संकीर्ण झगड़ों से हटा कर उत्तरी भारत की महान् विजय की ओर लगाया जिससे मराठा शक्ति भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गई। अपनी योग्यता से पेशवाओं ने वह कर दिखाया जो उस समय की पुकार थी। अतः वे पहले "अष्ट-प्रधान" की शक्ति से ऊपर उठे और बाद में मराठा-छत्रपति से भी ऊपर उठ गये। सत्ता का यह हस्तान्तरण इतना चुपचाप और सुचारु रूप से हुआ कि तत्कालीन लोगों को इसकी पर्याप्त जानकारी भी न मिल सकी।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713–1720 ई०)

पेशवा घराने के संस्थापक और प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव के 'चितपावन' ब्राह्मणों के भट्ट परिवार में 1660 ई० के लगभग हुआ था। यह गाँव जंजीरा के सीदियों के शासन के अन्तर्गत था। सीदियों से कलह हो जाने के परिणामस्वरूप बालाजी विश्वनाथ को अपने परिवार सहित अपने गाँव से भागकर महाराष्ट्र में आना पड़ा। इधर-उधर के कुछ काम-काज के बाद बालाजी ने मराठा सेनानायक धनाजी जाधव की नौकरी कर ली और 1699 से 1708 ई० के बीच वह धनाजी की तरफ से पूना और दौलताबाद का सर-सूबेदार रहा। इसी पद पर काम करते हुए वह शाहू के सम्पर्क में आया जो उन दिनों औरंगजेब की नजरबन्दी में था।

शाहू की सेवा में—खेड़ के युद्ध में बालाजी विश्वनाथ के अनुरोध पर ही सेनापति धानाजी जाधव ने शाहू का पक्ष लिया था। बालाजी स्वयं भी शाहू की सेवा में आ गया और इसके बाद अपनी मृत्युपर्यन्त हृदय, बुद्धि और कर्म से शाहू का निष्ठावान सेवक बना रहा। शाहू ने प्रारम्भ में बालाजी विश्वनाथ को अल्पायु अमात्य अम्बुराव हनुमन्ते का मुतालिक नियुक्त किया। जून 1708 ई० में सेनापति धनाजी जाधव की मृत्यु हो गई। शाहू ने धानाजी के पुत्र चन्द्रसेन को तुरन्त ही अपना सेनापति नियुक्त कर दिया परन्तु उसे अपने नये सेनापति पर पूरा भरोसा नहीं था क्योंकि वह ताराबाई का समर्थक माना जाता था और गुप्त रूप से ताराबाई के साथ पत्र-व्यवहार भी किया करता था। इसलिए 1708 ई० में उसने बालाजी विश्वनाथ को "सेनाकार्ते" के पद पर नियुक्त किया ताकि वह सेना के संगठन के साथ-साथ चन्द्रसेन की कार्यवाहियों पर भी निगाह रख सके। शाहू के

इस कार्य से चन्द्रसेन बालाजी विश्वनाथ से चिढ़ गया। कुछ समय बाद जब चन्द्रसेन और बालाजी विश्वनाथ—दोनों को ही विद्रोही मराठा सरदार थोरट के विरुद्ध भेजा गया तो मार्ग में ही दोनों में झड़प हो गई और बालाजी को भाग कर अपने प्राण बचाने पड़े। इस पर शाहू ने अपने एक अन्य सेनानायक हैबतराव निम्बालकार को चन्द्रसेन के विरुद्ध भेजा। निम्बालकर ने चन्द्रसेन को परास्त किया। पराजित चन्द्रसेन शाहू का पक्ष छोड़कर ताराबाई से जा मिला। चन्द्रसेन की प्रेरणा से हैबतराव निम्बालकार भी ताराबाई के पक्ष में चला गया। इससे शाहू की स्थिति को जबरदस्त धक्का लगा। उसके पास अपनी स्थायी सेना नहीं थी। अतः उसने बालाजी विश्वनाथ को एक नई शक्तिशाली सेना खड़ी करने को कहा। यद्यपि शाहू का राजकोष रिक्त था, फिर भी बालाजी ने साहूकारों से धन उधार लेकर एक शक्तिशाली सेना संगठित कर ली।

1712 ई० में शाहू को अपने पेशवा बहिरोपन्त पिंगले को कान्होजी आंग्रे के विरुद्ध भेजना पड़ा। कान्होजी मराठा जल सेना का प्रधान था और वह पश्चिमी घाट का सर्वाधिक शक्तिशाली सामन्त था। वह अपने ही बलबूते पर मुगलों, जंजीरा के सीदियों, पुर्तगालियों, अंग्रेजों आदि से एक लम्बे समय से संघर्ष करता आ रहा था और कई बार उसने अपने शत्रुओं पर महत्वपूर्ण विजयें प्राप्त की थी। शाहू के महाराष्ट्र आने पर उसने नाम मात्र के लिए शाहू की अधीनता स्वीकार कर ली थी परन्तु चन्द्रसेन के पक्ष बदलने पर वह भी ताराबाई का समर्थक बन गया। इसके बाद कान्होजी ने कल्याण, लौहगढ़ एवं राजमाची के किलों पर अधिकार कर लिया। इसीलिए शाहू ने पेशवा पिंगले को उसके विरुद्ध भेजा। कान्होजी ने पेशवा को परास्त कर कैद कर लिया और शाहू की राजधानी सतारा पर आक्रमण की तैयारी करने लगा। इससे शाहू अत्यधिक चिंतित हो उठा।

पेशवा पद पर नियुक्ति (1713 ई०)—इस प्रकार की संकटपूर्ण स्थिति में शाहू ने जेलखाने में बन्द पुराने अनुभवी प्रतिनिधि परशुराम पंत से पेशवा पद सम्भालने का अनुरोध किया। परन्तु वृद्ध प्रतिनिधि ने इस पद के लिए स्वामि-भक्त बालाजी विश्वनाथ का नाम सुझाया। अतः 16 नवम्बर, 1713 ई० को मंजरी नामक स्थान पर बालाजी विश्वनाथ को नया पेशवा नियुक्त किया गया तथा उसे कान्होजी आंग्रे के विरुद्ध जाने को कहा गया। कान्होजी आंग्रे और बालाजी विश्वनाथ बहुत दिनों से एक दूसरे से परिचित थे। अतः बालाजी ने शस्त्र बल की अपेक्षा कूटनीति से काम लिया। उसने कान्होजी से व्यक्तिगत मुलाकात की और शाहू के नेतृत्व में महाराष्ट्र की एकता की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणामस्वरूप कान्होजी ने शाहू की अधीनता स्वीकार कर ली। यह बालाजी की शानदार सफलता थी। इससे महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति काफी सबल हो गई।

ताराबाई को प्रभावहीन बनाना—खेड़ और सतारा की पराजयों के बाद ताराबाई कृष्णा नदी के दक्षिण में चली गई। शाहू ने ताराबाई की सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु अपने सरदारों का पर्याप्त सहयोग न मिलने तथा अपने उदार स्वभाव के कारण शाहू ने अपनी चाची के विरुद्ध कठोर कार्यवाही न की। इससे ताराबाई को अपनी शक्ति संगठित करने का अवसर मिल गया और उसने कोल्हापुर को अपनी नई राजधानी बनाया। 1708 ई० में शाहू ने ताराबाई से समझौता करने का प्रयास किया परन्तु असफल रहा। इसी साल जब मुगल सम्राट बहादुरशाह दक्षिण की तरफ आया तो शाहू ने उससे प्रार्थना की कि दक्षिण के 6 सूबों से उसे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार दिये जाय। ताराबाई ने भी अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम पर मुगल सम्राट से इन अधिकारों के दिये जाने की मांग की। इस पर बहादुरशाह ने उन दोनों को कहलवाया कि पहले वे आपस में लड़कर तय कर ले कि असली अधिकारी कौन है। इससे शाहू और ताराबाई के मध्य पुनः तनाव बढ़ गया।

चन्द्रसेन जाधव और हैबतराव निम्बालकार द्वारा ताराबाई का पक्ष लेने से शाहू की स्थिति काफी कमजोर हो गई। इसी समय कान्होजी आंग्रे ने आक्रमण कर दिया। नवनियुक्त पेशवा बालाजी ने कान्होजी को शाहू के पक्ष में कर लिया। 1713 ई० में मराठों के घोर शत्रु निजामउलमुल्क को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। चन्द्रसेन की सलाह से ताराबाई ने शाहू के विरुद्ध निजाम से सहयोग लेने की सोची। यह बात रामचन्द्र पंत अमात्य को अच्छी न लगी क्योंकि इससे सम्पूर्ण महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता को ही जबरदस्त खतरा था। अतः उसने ताराबाई को सत्ताच्युत करने का षड़यन्त्र रचा। इस षड़यन्त्र को सफल बनाने में बालाजी विश्वनाथ ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जुलाई 1714 ई० में रामचन्द्र ने ताराबाई और शिवाजी द्वितीय को बन्दी बना लिया और उनके स्थान पर राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई और उसके पुत्र शम्भाजी द्वितीय को सत्तारूढ़ बनाया। इस प्रकार, शाहू को अपने सबसे कट्टर शत्रु से मुक्ति मिली। ताराबाई के पतन के बाद चन्द्रसेन भी कोल्हापुर से निजाम की सेवा में चला गया।

अन्य मराठा सरदारों का दमन—शाहू के राज्याभिषेक के बाद भी कई मराठा सरदार स्वतन्त्र रूप से लूटमार करने में संलग्न थे और वे शाहू की केन्द्रीय सत्ता का रत्ती भर भी सम्मान नहीं करते थे। ऐसे सरदारों में कृष्णराव खटावकर, दाभाजी थोरट और ऊदाजी चौहान मुख्य थे। बालाजी विश्वनाथ ने सर्वप्रथम कृष्णराव पर आक्रमण किया और खटाव के समीप एक युद्ध में उसे पराजित करके मार डाला। 1718 ई० में दाभाजी थोरट पर आक्रमण किया गया और उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया गया। ऊदाजी चौहान के विरुद्ध भी कार्यवाही की गई परन्तु वह भाग कर निजाम की शरण में चला गया। इस प्रकार, बालाजी

ने घरेलू संकटों पर विजय प्राप्त की और शाहू की शक्ति को सबल बनाया।

सैय्यद बन्धुओं के साथ समझौता—बालाजी विश्वनाथ की सबसे महत्वपूर्ण सेवा शाहू के लिए दक्षिण के 6 मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का शाही फरमान प्राप्त करना था। इसके लिए हमें दिल्ली की घटनाओं पर ध्यान देना होगा। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद जहाँदारशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। परन्तु 1713 ई० में सैय्यद बन्धुओं—अब्दुल्ला खाँ और हुसैन अली की सहायता से फर्रुखशियर जहाँदारशाह को हटा कर मुगल बादशाह बन गया। परन्तु फर्रुखशियर की सैय्यद बन्धुओं से नहीं बनी और उसने उन्हें समाप्त करने की योजना बनाई। योजनानुसार छोटे भाई हुसैनअली जो अधिक चतुर था, को सूबेदार बनाकर दिल्ली से दूर भेज दिया गया। दक्षिण में उसे मराठों का दमन करने का काम भी सौंपा गया। दूसरी तरफ फर्रुखशियर ने शाहू और उसके मराठा सरदारों को गुप्त संदेश भिजवाया कि वे नये सूबेदार को समाप्त करने में सहयोग प्रदान करे। हुसैनअली ने दक्षिण आते ही मराठों का दमन करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न मिली। इसी समय उसे फर्रुखशियर की गुप्त योजना का भी पता चल गया। उधर दिल्ली में उसके बड़े भाई अब्दुल्ला की स्थिति संकटप्रद हो गई और उसने हुसैनअली को दिल्ली बुला भेजा। हुसैनअली ने इस विषम स्थिति को अपने अनुकूल बनाने का संकल्प कर लिया और शंकराजी मल्हार के माध्यम से बालाजी विश्वनाथ से समझौता की वार्ता शुरू की। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने राजनीतिज्ञता एवं गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया और दोनों पक्षों के मध्य 1719 ई० में समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार मुगलों ने शाहू को वे सभी प्रदेश और किले जो शिवाजी के "स्वराज्य" के अन्तर्गत सम्मिलित थे, वापस देने का वचन दिया। शाहू को दक्षिण के 6 मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देने का वचन दिया। शाहू की माता, पत्नी, भाई आदि जो अभी भी मुगलों की कैद में थे, को छोड़ने का वचन दिया। बदले में शाहू ने मुगल बादशाह को 10 लाख रुपया वार्षिक भेंट देने तथा दक्षिण में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने और मुगल बादशाह की सेवा में 15,000 मराठा घुड़सवार सैनिक रखने का वचन दिया।

यह एक महत्वपूर्ण सन्धि थी। इसके द्वारा बालाजी ने न केवल शाहू की अपितु अपने देश की बहुमूल्य सेवा की। इससे महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति सर्वोच्च हो गई और पहली बार दक्षिण की शासन-व्यवस्था में मराठे मुगलों के साझीदार बन गये। इससे महाराष्ट्र की जनता को लूटमार से राहत मिल गई। हुसैनअली के साथ दिल्ली जाने पर मराठों को केन्द्रीय सत्ता का असली स्वरूप मालूम हो गया, जिससे प्रेरित होकर उन्हें उत्तर भारत की ओर अपना प्रभाव बढ़ाने का मार्ग मिल गया।

दिल्ली यात्रा—सम्राट फर्रूखशियर ने मराठों के साथ सम्पन्न सन्धि को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इस पर सैय्यद हुसैनअली 15,000 मराठा सैनिकों के साथ दिल्ली जा पहुँचा। मराठा सेना के साथ पेशवा बालाजी विश्वनाथ और उसका युवा पुत्र बाजीराव, सेनापति खांडेराव दाभाड़े, संताजी भोंसले आदि प्रमुख नेता भी दिल्ली गए। मराठों को सन्धि की संपुष्टि तथा पुरस्कार का वचन भी दिया गया था। दिल्ली पहुँचने के बाद सैय्यद हुसैन अली ने अपने भाई के साथ मिलकर फर्रूखशियर को अपमानित किया। फिर उसे अन्धा कर दिया गया और गला घोंट कर मार डाला गया। उसके स्थान पर रफी-उद-दाराजत को सम्राट बनाया गया। नये सम्राट से बालाजी को तीन शाही फरमान मिले—(1) तंजौर, त्रिचिनापल्ली तथा मैसूर सहायक राज्यों सहित दक्षिण के 6 सूबों के लिए चौथ का अधिकार, (2) दक्षिण के सूबों से सरदेशमुखी का अधिकार, (3) शिवाजी के 'स्वराज्य' पर शाहू के अधिकार को मान्यता। शाहू के परिवार के सभी सदस्यों को रिहा कर दिया गया। मराठों की यह दिल्ली यात्रा अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। दक्षिण के निवासी जिन प्रतापी मुगलों से आतंकित थे उनकी सत्ता का खोखलापन उन्हें स्पष्ट हो गया। मुगल सरदारों की स्वार्थ लिप्सा तथा उनकी आत्मघातक दलबन्दी एवं कुचक्रों से मराठों को विश्वास हो गया कि अब मुगल सरकार अपनी अन्तिम घड़ियों की प्रतीक्षा कर रही है। अतः दिल्ली से वापस आने के बाद बालाजी विश्वनाथ ने उत्तर भारत में मराठा शक्ति के प्रसार की योजना बनाई, परन्तु योजना को कार्यान्वित करने के पूर्व ही 1720 ई० में मृत्यु हो गई।

मूल्यांकन—बालाजी विश्वनाथ जब पेशवा पद पर नियुक्त किया गया था उस समय सम्पूर्ण महाराष्ट्र अव्यवस्था एवं गृह-युद्ध के विनाश से पीड़ित था। लेकिन बालाजी ने कठोर श्रम एवं अनवरत काम से देश को शक्तिशाली एवं समृद्ध बनाया। अव्यवस्था को दूर करके शान्ति की स्थापना की। महाराष्ट्र की वित्त-व्यवस्था को पुनर्गठित किया और भावी मराठा महासंघ का सूत्रपात किया। वस्तुतः बालाजी विश्वनाथ अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने शाहू की शक्ति को न केवल सर्वोच्च ही बनाया अपितु मुगलों से उसके अधिकार को कानूनी मान्यता भी प्रदान करवाई। उसने पेशवा पद के सम्मान और प्रभाव में इतनी वृद्धि कर दी कि अन्त में पेशवा मराठा छत्रपति से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। उसने मराठा सरदारों को एक भयंकर गृह-युद्ध से बचाकर मराठा शक्ति को संगठित किया। उसने मराठा सरदारों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर मराठा साम्राज्य की नींव खड़ी की जा सकती है। इसके लिए उसने मराठा महासंघ की नींव रखी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत शाहू के स्वामीभक्त सामन्तों को न केवल उनकी पुरानी जागीरों में स्थायी किया गया बल्कि उन्हें नई जागीरें एवं सुविधाएँ भी प्रदान की गई। ये मराठा सरदार

अपने-अपने क्षेत्र में लगभग स्वतन्त्र होते थे तथा अपने क्षेत्र से चौथ एवं सरदेशमुखी वसूल कर, अपने हिस्से की निश्चित राशि निकाल कर शेष धन सरकारी कोष में जमा करा देते थे। समय के साथ-साथ ये मराठा सरदार इतने अधिक शक्तिशाली हो गये कि पेशवा के लिए भी इन्हें नियन्त्रण में रखना कठिन हो गया। संक्षेप में, बालाजी विश्वनाथ ने साम्राज्यी राज्य-व्यवस्था के सभी उपकरण और सामग्रियाँ एकत्र कर दिये तथा मराठा राज्य को राष्ट्रीय गरिमा तथा क्षेत्र-प्रसार के साम्राज्यवादी मार्ग की ओर अग्रसर किया।

पेशवा बाजीराव प्रथम (1720–1740 ई०)

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद, शाहू ने उसके बीस वर्षीय बड़े पुत्र बाजीराव को अपना पेशवा नियुक्त किया। बाजीराव को शासन तथा अर्थ-व्यवस्था में अधिक रुचि नहीं थी परन्तु इस आयु में भी वह सैन्य-संचालन तथा कूटनीति में दक्ष हो चुका था। वह अपने समय का एक साहसी सैनिक और रणकुशल सेनानायक था। छापामार युद्ध-पद्धति में तो वह अद्वितीय था। अपने पिता के साथ रह कर उसने राजनीति और कूटनीति के सभी आवश्यक दाव-पेंच समझ लिए थे। यही योग्यताएँ उसकी भावी सफलता का आधार बनी।

बाजीराव के पेशवा बनने के समय मराठा राज्य की स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। यह ठीक है कि बालाजी विश्वनाथ ने तात्कालिक समस्याओं को हल कर दिया था परन्तु वह उनका स्थायी समाधान नहीं खोज पाया था। अभी भी बहुत से मराठा सरदार और कोल्हापुर का शम्भाजी द्वितीय शाहू के विरुद्ध कुचक्रों में लीन थे। निजामउलमुल्क के दक्षिण में स्थायी रूप से बस जाने तथा हैदराबाद में अपनी पृथक स्वतन्त्र सत्ता कायम करने की योजना से मराठों के लिए एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई थी। क्योंकि निजामउलमुल्क अपने समय का सुयोग्य कूटनीतिज्ञ, षड्यंत्रकारी, सेनानायक और मराठों का घोर विरोधी था। इस समय शाहू की सरकार की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी जिससे प्रशासन-व्यवस्था को ठीक से चलाना भी मुश्किल काम था। परन्तु बाजीराव ने बड़े धैर्य, साहस और लगन से इन कठिन समस्याओं का सामना किया।

बाजीराव शुरू से ही साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। उसका ध्येय सम्पूर्ण भारत में मराठा-शक्ति का विस्तार करना था। उसने मुगल साम्राज्य की आन्तरिक दुर्बलताओं को पहचान लिया था। अतः वह मुगल साम्राज्य के तने पर चोट करना चाहता था। उसने कहा था कि "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए, शाखाएं तो स्वयं ही गिर जायेंगी। यदि हम अपने संघर्ष को आगे बढ़ायें तो मराठा ध्वज कृष्णा से अटक तक फहरायेगा।" परन्तु उसे अपनी नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए दस वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि दक्षिण भारत में ही उसके मार्ग में तीन मुख्य अवरोध आ खड़े हुए

जिन्हें हटाये बिना आगे बढ़ना सम्भव न था। ये थे—(1) हैदराबाद दक्षिण का निज़ामउलमुल्क, (2) कोल्हापुर का शम्भाजी द्वितीय और (3) सेनापति दाभाड़े।

निजाम से संघर्ष—जैसा कि बतलाया जा चुका है कि सैय्यद बन्धुओं की सहायता से फर्रूखशियर ने जहाँदारशाह को हटा कर सिंहासन प्राप्त किया था। इससे केन्द्रीय शासन पर सैय्यद बन्धुओं का वर्चस्व कायम हो गया। आसफजहाँ निजामउलमुल्क सैय्यदों का विरोधी था। अतः नई सरकार के साथ उसकी निभ न सकी और वह दिल्ली से दक्षिण को लौट आया। सैय्यदों के कहने पर दक्षिण के तत्कालीन कार्यवाहक सूबेदार आलिमअली ने निजाम का विरोध किया परन्तु वह युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। निजाम ने दक्षिण के 6 सूबों पर अपना अधिकार जमा लिया। सैय्यद बन्धुओं के पतन के बाद निजाम ने 1719 ई० में सम्पन्न मुगल-मराठा सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया और मराठों को दक्षिण के 6 सूबों से चौथ और सरदेशमुखी देने से मना कर दिया। इस पर छापामार मराठा सैनिक दस्तों ने निजाम को इतना अधिक परेशान किया कि 1721 ई० में निजाम ने पेशवा बाजीराव से व्यक्तिगत मुलाकात करके बीदर क्षेत्र की चौथ तथा दक्षिण के 6 सूबों से सरदेशमुखी देने का वचन दिया। यह युवक पेशवा बाजीराव की प्रथम सफलता थी। कुछ समय बाद मुगल सम्राट मुहम्मदशाह ने निजाम को दिल्ली बुला भेजा और उसे वजीर पद पर नियुक्त किया। उसे दक्षिण के 6 सूबों के अलावा मालवा तथा गुजरात की सूबेदारी भी प्रदान की गई। परन्तु निजाम नये मुगल सम्राट तथा उसके कृपापात्रों के साथ अधिक समय तक निर्वाह नहीं कर पाया और दो वर्ष बाद वह चुपचाप दिल्ली से वापस दक्षिण लौट आया। इस बार भी दक्षिण के कार्यवाहक सूबेदार मुबारिजखाँ ने उसका विरोध किया। मुबारिजखाँ के विरुद्ध उसे मराठों की सहायता लेनी पड़ी और इसके लिए उसने 1719 की सन्धि का पालन करने का वचन दिया। मराठों के सहयोग से निजाम ने मुबारिजखाँ को परास्त करके दक्षिण पर पुनः अपना अधिकार जमा लिया। मुगल सम्राट ने उससे वजीर पद तथा मालवा और गुजरात की सूबेदारी छीन ली। परिणामस्वरूप निजाम का प्रभाव क्षेत्र दक्षिण तक ही सीमित रह गया। अब उसने दक्षिण में ही अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का निश्चय किया। उसकी इस योजना ने उसे मराठों का प्रबल शत्रु तथा प्रतिद्वन्द्वी बना दिया।

अपनी मुसीबत के समय में निजाम ने 1719 ई० की सन्धि का पालन करने का वचन दिया था परन्तु हृदय से वह इसका पालन करने का इच्छुक नहीं था। उसने शीघ्र ही पेशवा बाजीराव के विरूद्ध षड़यंत्र रचना शुरू कर दिया। अपने इस षड़यंत्र में उसे शाहू के सेनापति त्रिम्बकराव दाभाड़े एवं कोल्हापुर के शम्भाजी द्वितीय का सक्रिय सहयोग भी मिल गया। 1726 ई० में जब पेशवा बाजीराव कर्नाटक अभियान पर गया था तब पीछे से निजाम ने शाहू एवं प्रतिनिधि

श्रीपतराव को व्यक्तिगत जागीरें देकर प्रसन्न किया तथा उनसे यह आश्वासन ले लिया कि भविष्य में चौथ एवं सरदेशमुखी की वसूली के लिए मराठे अधिकारी उसकी राजधानी हैदराबाद तथा उसके आस-पास की सीमा में प्रवेश नहीं करेंगे। यह मराठों को अपने केन्द्र से दूर रखने की चाल थी जिसे शाहू समझ न पाया। इसके बाद निजाम ने कोल्हापुर के शम्भाजी को उकसाया कि वह दक्षिण के 6 सूबों से चौथ एवं सरदेशमुखी की मांग करे। इस प्रकार की मांग किये जाने पर निजाम ने शाहू को चौथ एवं सरदेशमुखी देने से इन्कार कर दिया। अब शाहू को निजाम का असली रूप मालूम हुआ। इसी समय (1726 ई०) निजाम तथा कोल्हापुर के शम्भाजी ने मिलकर शाहू के विरुद्ध युद्ध भी छेड़ दिया। परन्तु पेशवा बाजीराव ने 1728 ई० में पालखेद नामक स्थान पर निजाम को उसकी सेना सहित चारों तरफ से घेर लिया और निजाम को बिना युद्ध लड़े ही सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। पालखेद में निजाम की पराजय पेशवा बाजीराव की शानदार सैनिक तथा कूटनीतिक विजय थी। इस सन्धि के अनुसार निजाम ने शाहू को महाराष्ट्र का एक मात्र शासक स्वीकार करते हुए चौथ एवं सरदेशमुखी की बकाया राशि चुकाने का वचन दिया तथा भविष्य में कोल्हापुर के शम्भाजी का साथ न देने का वचन भी दिया।

1737 ई० में मुगल सम्राट ने निजाम को पुनः दिल्ली बुलाया। दिल्ली में उसे "आसफजहाँ" की उपाधि से विभूषित किया गया तथा उसे मराठों का दमन करने का काम सौंपा गया। इसके लिए निजाम को केन्द्रीय सरकार का सर्वोत्तम तोपखाना तथा एक विशाल सेना प्रदान की गई। जब निजाम सेना सहित भोपाल के निकट पहुँचा तो पेशवा बाजीराव ने अचानक उसे चारों तरफ से घेर लिया जिससे मुगल सेना भूखों मरने लगी। अन्त में बिना युद्ध किये निजाम को जनवरी 1738 ई० में सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार निजाम ने सम्पूर्ण मालवा एवं नर्मदा तथा चम्बल नदी के बीच का भू-भाग मराठों को सौंप दिया तथा युद्ध के हर्जाने के 50 लाख रुपये देने का वचन दिया। डा. एच. एन. सिन्हा ने ठीक ही लिखा है कि "इस विजय के पश्चात बाजीराव एक अखिल भारतीय व्यक्तित्व के रूप में उभरा और भारतीय राजनीति में एक शक्ति समझा जाने लगा।"

शम्भाजी द्वितीय को परास्त करना – कोल्हापुर का राजा शम्भाजी द्वितीय आरम्भ से ही अपने ताऊ के लड़के शाहू की बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्या करने लगा था। इसी कारण वह सरलता से निजाम के बहकावे में आ गया और उसने शाहू से दादा शिवाजी के "स्वराज्य" के आधे भाग की मांग की तथा दक्षिण से चौथ और सरदेशमुखी के लिए भी अपना दावा प्रस्तुत किया। 1726 ई० में उसने निजाम के साथ मिलकर शाहू के राज्य पर आक्रमण भी किया परन्तु पालखेद

में निजाम की पराजय से वह अकेला पड़ गया। निजाम की पराजय से भी उसने सवक नहीं सीखा और ऊदाजी चौहान जैसे मराठा सरदारों के सहयोग से शाहू का विरोध करता रहा। अन्त में 1730 ई० में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी की निर्णायक पराजय हुई। उदार शाहू ने अप्रैल 1731 ई० शम्भाजी के साथ वार्ना की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार कर्नाटक एवं कोंकण के प्रदेश शम्भाजी और शाहू में विभाजित कर दिये गये तथा शम्भाजी ने महाराष्ट्र में शाहू की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर लिया। इसके वाद शम्भाजी ने शाहू का कभी विरोध नहीं किया। शिवाजी के इन दोनों वंशजों की मैत्री से मराठों की एकता पुष्ट हो गई और इससे पेशवा वाजीराव को उत्तर की ओर प्रसार के लिए अवसर उपलव्ध हो गया।

सेनापति दाभाड़े की पराजय—शाहू के दरवार में दाभाड़े परिवार पेशवा-विरोधी दल के साथ था। 1730 ई० में खाण्डेराव दाभाड़े की मृत्यु के वाद उसके पुत्र त्रिम्वकराव दाभाड़े को सेनापति नियुक्त किया गया। त्रिम्वकराव को पेशवा वाजीराव की वढ़ती हुई शक्ति से काफी जलन थी। पेशवा को भी दाभाड़े की अवज्ञा सहन नहीं हो पा रही थी। अतः दोनों में संघर्ष अनिवार्य था। संघर्ष का वहाना भी मिल गया। वालाजी विश्वनाथ के समय में शाहू ने गुजरात से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दाभाड़े परिवार को और मालवा पेशवा को दे रखा था। परन्तु वाजीराव किसी एक ही परिवार को सम्पूर्ण प्रान्त का अधिकार दिये जाने के विरुद्ध था। उसने दाभाड़े के सामने सुझाव रखा कि वह गुजरात की आधी आय पेशवा को दे और पेशवा मालवा की आधी आय दाभाड़े को देगा। परन्तु दामाड़े ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उसे अपने क्षेत्र के मामलों में किसी का हस्तक्षेप पसन्द न था जवकि पेशवा की नीति सभी मराठा सरदारों को एक-दूसरे पर निर्भर वनाने की थी ताकि मराठा महासंघ शक्तिशाली वन सके। सेनापति दाभाड़े द्वारा अपना प्रस्ताव ठुकरा दिये जाने पर पेशवा ने वलपूर्वक अपनी व्यवस्था को लागू करने का फैसला किया। इसी समय निजामउलमुल्क ने सेनापति को उकसाया और पेशवा के विरुद्ध उसे सैनिक सहयोग देने का वचन दिया क्योंकि निजाम पालखेड़ की पराजय को भूला न था। ऊदाजी पवार भी सेनापति के साथ हो गया। अव यह योजना वनी कि सेनापति और ऊदाजी अपनी संयुक्त सेना के साथ निजाम की सेना से आ मिलेंगे और फिर तीनों मिलकर पेशवा वाजीराव की शक्ति को समाप्त कर देंगे। जव पेशवा को इसकी जानकारी मिली तो वह तत्काल सेनापति के विरुद्ध चल पड़ा। वह तीनों के मिलन के पूर्व ही सेनापति की शक्ति को नष्ट करने का निर्णय ले चुका था। अप्रैल, 1731 ई० में दभाई के निकट वाजीराव ने सेनापति दामाड़े को वुरी तरह से परास्त किया। इस युद्ध में सेनापति त्रिम्वकराव दाभाड़े मारा गया। इस युद्ध के वाद महाराष्ट्र में वाजीराव

का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा और पेशवा व्यावहारिक रूप में सेनापति भी हो गया। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर सिन्हा ने लिखा है कि, "दभाई की विजय बाजीराव के लिए दोहरे लाभ की थी—एक तो उसकी नीति की विजय थी और दूसरे वह उसके उत्कर्ष की विजय थी।" बाजीराव की यह विजय रण-कौशल की दृष्टि से भी उल्लेखनीय थी क्योंकि बाजीराव ने केवल 15 हजार सैनिकों से त्रिम्बकराव के 50,000 सैनिकों पर विजय प्राप्त की थी। युद्ध के बाद शाहू ने दोनों परिवारों में सुलह कराने का प्रयास किया और त्रिम्बकराव के स्थान पर यशवन्तराव दाभाड़े को नया सेनापति नियुक्त किया। परन्तु यशवन्तराव नितान्त अयोग्य एवं विलासी निकला। परिणामस्वरूप दाभाड़े परिवार धीरे-धीरे प्रभावहीन हो गया।

उत्तर भारत की ओर प्रसार—1727 ई० तक गुजरात पर मराठों का काफी प्रभाव स्थापित हो चुका था तथा मुगल सूबेदारों ने उन्हें चौथ एवं सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया था। त्रिम्बकराव दाभाड़े की मृत्यु के बाद गुजरात के नये सूबेदार महाराजा अभयसिंह ने गुजरात को मराठा प्रभुत्व से मुक्त करने का प्रयास किया। परन्तु दाभाड़े के योग्य अधिकारी पिलाजी गायकवाड़ ने उसके प्रयासों को असफल बना दिया। इस पर महाराजा अभयसिंह ने धोखे से पिलाजी गायकवाड़ को मरवा दिया। क्रोधित मराठों ने गुजरात पर जबरदस्त आक्रमण किया और अंततः 1735 ई० तक सम्पूर्ण गुजरात मुगलों के हाथ से निकल गया और गुजरात में मराठा सत्ता स्थापित हो गई।

मालवा की भी वही गति हुई। यहां उन्हें जयपुर के सवाई जयसिंह और इंदौर के नन्दलाल चौधरी से महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। ये दोनों नेता मराठा सहयोग से उत्तर में हिन्दू सत्ता के पुनरुत्थान में विश्वास रखते थे। 1722 ई० में बाजीराव ने मालवा पर पहली बार आक्रमण किया तथा 1724 ई० में उसने मालवा से चौथ की मांग की। मुगल सम्राट ने उसकी इस मांग को ठुकरा दिया। इस पर 1728 ई० से मालवा पर निरन्तर मराठों का आक्रमण होता रहा। अन्त में जनवरी, 1738 ई० में दुराय-सराय के प्रख्यात समझौते द्वारा मुगल साम्राज्य के तत्कालीन वजीर निजामउलमुल्क ने बाजीराव को मालवा प्रदेश तथा नर्मदा और चम्बल के मध्यवर्ती सम्पूर्ण इलाके प्रदान करने तथा उसकी सम्राट से संपुष्टि कराने का वादा किया। इस प्रकार, मालवा पर मराठों का अधिकार स्थापित हो गया।

1728 ई० में बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल ने मुहम्मदबंगश के विरुद्ध पेशवा बाजीराव से सहायता की मांग की। 1729 ई० में स्वयं बाजीराव सेना सहित छत्रसाल की सहायता को गया और बंगश को परास्त किया। समय पर सहायता देने के लिए छत्रसाल ने बाजीराव को अपना एक तिहाई राज्य दे दिया जिसकी वार्षिक आय 33 लाख रुपये थी। इस प्रकार, मराठों को बुन्देलखण्ड में

पांव रखने का स्थान मिल गया। उनके अधिकृत क्षेत्र में कालपी तथा झांसी मुख्य थे। बुन्देलखण्ड का इलाका मिल जाने से मराठे दोआब तथा आगरा से सीधे सम्पर्क में आ गये। इससे उन्हें उत्तर में अपना प्रभाव बढ़ाने का मौका मिल गया।

अब मराठों ने दोआब, राजस्थान और दिल्ली के निकट मुगल सीमाओं पर धावे मारना शुरू कर दिया। अन्त में 1736 ई० में मुगल सम्राट ने मराठों को चम्बल नदी के दक्षिणी भूक्षेत्र के लिये लगभग 13 लाख रुपये, राजस्थान के लिए 10 लाख 60 हजार रुपये तथा दक्षिण की आय का 5 प्रतिशत मराठों को देना स्वीकार कर कर लिया, परन्तु बाजीराव इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने अवध, बंगाल, बनारस, गया और इलाहबाद जैसे नगरों की मांग की जिसे मुगल सम्राट ने ठुकरा दी। 1737 ई० में बाजीराव ने अवध पर आक्रमण किया। अवध के सूबेदार सादतअली ने मराठों के एक सैनिक दस्ते को परास्त कर दिया तथा मुगल सम्राट को झूठी खबर भिजवा दी कि उसने बाजीराव को चम्बल के दक्षिणी भाग में खदेड़ दिया है। इससे बाजीराव क्रोधित हो उठा और उसने राजधानी दिल्ली पर धावा मारने का निश्चय किया। मार्ग में चम्बल तक के प्रदेशों से कर वसूल करते हुए मार्च में मराठे दिल्ली के निकट जा पहुँचे। मुगल दरबार में मातम छा गया। बाजीराव के विरुद्ध जो सेना भेजी गई, वह परास्त होकर भाग खड़ी हुई। बाजीराव ने असहाय दिल्ली को लूटना उचित न समझा और तेजी के साथ वापस लौट गया। परन्तु उसके इस साहसिक अभियान ने मुगल सम्राट को भयभीत तथा आतंकित कर दिया और उसने मालवा के अतिरिक्त 13 लाख रुपये बाजीराव को देना स्वीकार कर लिया।

राजस्थान में मराठों का प्रदेश—शिवाजी के समय से ही मराठों और राजपूत राजाओं के मध्य अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे थे। पेशवा बाजीराव ने इनको और सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। संयोगवश, जयपुर का सवाई जयसिंह हिन्दू शक्ति के पुनरुत्थान का समर्थक था। अतः उसने मराठों को पूरा-पूरा सहयोग दिया। परन्तु बून्दी राज्य के उत्तराधिकार की समस्या को लेकर मराठों और सवाई जयसिंह में संघर्ष उठ खड़ा हुआ। मराठों के हस्तक्षेप ने सभी राजपूत नरेशों को सचेत कर दिया। 1736 ई० में पेशवा बाजीराव स्वयं उदयपुर गया। आपसी बातचीत के बाद उदयपुर महाराणा ने मराठों को चौथ देना स्वीकार कर लिया। अजमेर के निकट बाजीराव ने सवाई जयसिंह से मुलाकात की। जयसिंह ने मुगल दरबार से बाजीराव को सुविधाएँ दिलवाने का आश्वासन देकर वापिस लौटा दिया। इसके बाद मराठा राजस्थान के अन्य राज्यों से भी चौथ वसूल करने का प्रयास करने लगे।

कोंकण में स्थिति दृढ़ करना—कोंकण प्रदेश के जंजीरा क्षेत्र में सीदी, गोआ में पुर्तगाली और बम्बई में अंग्रेज प्रभावशाली हो गये थे। 1729 ई० में कान्होजी

आंग्रे की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों मानाजी व शम्भाजी के बीच उत्तराधिकार संघर्ष आरम्भ हो गया जिससे सीदी को अपनी शक्ति बढ़ाने का सुअवसर मिल गया। 1733 ई० में स्वयं पेशवा बाजीराव कोंकण गया। 1734 ई० में दोनों पक्षों में सुलह हो गई, परन्तु शीघ्र ही दोनों पक्षों में पुनः युद्ध शुरू हो गया। अन्त में, 1736 ई० में बाजीराव के भाई चिमनाजी ने सीदियों को परास्त किया और उन्हें सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। सन्धि के अनुसार सीदियों ने कोंकण प्रदेश पर पेशवा का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया।

सीदियों से निपटने के बाद 1737 ई० में बाजीराव ने पुर्तगालियों पर आक्रमण किया क्योंकि पुर्तगालियों ने मराठों के विरुद्ध सीदियों को सहयोग दिया था। इस आक्रमण में मराठों ने बसीन पर अधिकार कर लिया, इससे पुर्तगाली घबरा गये और उन्होंने मराठों के साथ सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार पुर्तगालियों ने 340 गांव, 8 नगर, 20 बन्दरगाह, थाना एवं बसीन के दोनों प्रमुख स्थान मराठों को सौंप दिये। पुर्तगालियों की पराजय से अंग्रेज भी डर गये और उन्होंने भी मराठों के साथ सन्धि कर ली। इस प्रकार, पश्चिमी तट पर मराठों का प्रभुत्व कायम हो गया।

बाजीराव के अन्तिम दिन—40 वर्ष की अल्पायु में ही 28 अप्रैल, 1740 ई० को पेशवा बाजीराव की मृत्यु हो गई। पेशवा की मृत्यु बीमारी से अधिक प्रेमवियोग के कारण हुई थी। राजा छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक सुन्दर युवती बाजीराव को भेंट स्वरूप दी थी। मस्तानी अद्वितीय सुन्दरी, अत्यन्त ही व्यवहार कुशल और श्रेष्ठ संगीतज्ञ होने के साथ-साथ साहसी एवं निपुण घुड़सवार भी थी। बाजीराव उसके प्रेम में इतना अधिक आसक्त हो गया कि अपनी पत्नी काशी बाई की उपेक्षा करने लगा। इससे पेशवा परिवार के सभी सदस्य बाजीराव के विरुद्ध हो गए। जब पेशवा पूना से बाहर गया हुआ था तो मस्तानी को महल में नजरबन्द कर दिया गया। इससे बाजीराव को गहरा सदमा पहुँचा। वह बीमार पड़ गया और थोड़े दिनों बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। मस्तानी भी उसके साथ सती हो गई। प्रो० सिन्हा ने लिखा है, "बहादुरों में सर्वश्रेष्ठ, सुन्दरता में सुन्दरतम बाजीराव एक प्रेम प्रसंग में आकर्षक व्यक्ति के समान मर गया।"

बाजीराव का मूल्यांकन—बाजीराव अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ, संगठनकर्त्ता और सेनापति था। उसने सौ से अधिक युद्धों में भाग लेने वाले महान् मुगल सेनानायक निजामउलमुल्क को बिना लड़े ही दो बार समर्पण के लिए बाध्य किया। उसने उत्तर भारत की विजय का महान् लक्ष्य रख कर मराठा राज्य का विस्तार किया, परन्तु अल्पायु में ही मृत्यु हो जाने से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सका। प्रो० सिन्हा ने बाजीराव का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि, "एक बार फिर आधुनिक भारत के इतिहास में बाजीराव ने नवीन आशाओं का संचार किया,

गिरी हुई हिन्दू जाति के समक्ष महान् सम्भावनाएँ प्रस्तुत की और एक वार फिर उसने उनके आन्तरिक झगड़ों को समाप्त करने का प्रयत्न किया।" वस्तुतः वाजीराव ने पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य की कमजोरियों को भांप लिया था और यह पूर्वानुमान लगा लिया था कि इससे भारतीय राजनीति में एक शून्यता उत्पन्न होगी। वाजीराव ने इस शून्यता को भरने का अथक प्रयास किया। उसने अपनी सैन्यशक्ति के बल पर मराठों को अखिल भारतीय शक्ति में परिवर्तित करने का प्रयास किया ताकि वे मुगलों का स्थान ले सकें। एच. जी. राविन्स ने ठीक ही लिखा है कि "मराठा जाति ने शिवाजी के वाद पेशवा वाजीराव के रूप में दूसरा महान् पुरुष उत्पन्न किया।"

पेशवा बालाजी बाजीराव (1740–1761 ई०)

वाजीराव की मृत्यु के वाद शाहू ने उसके 19 वर्षीय पुत्र वालाजी वाजीराव (जो नाना के नाम से पुकारा जाता था) को पेशवा पद पर नियुक्त किया। पेशवा वनते ही वालाजी वाजीराव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कोंकण का मराठा सरदार तुलाजी आंग्रे पेशवा से असंतुष्ट था। नागपुर का रघुजी भोंसले स्वयं पेशवा वनना चाहता था। वह शाहू की पत्नी की वहिन का पति था। जव उसे पेशवा पद नहीं मिला तो वह नये पेशवा का विरोधी वन गया। निजाम और उसके उत्तराधिकारी वाजीराव के साथ किये गये वायदों को पूरा करने को तैयार नहीं थे। कर्नाटक में भी मुसलमान मराठा सत्ता को चुनौती देने लग गये थे। राजपूत शासक भी मराठों से असंतुष्ट थे। गुजरात का गायकवाड़ भी पेशवा से अप्रसन्न था। पेशवा के अपने सेनानायकों—सिन्धिया और होल्कर में आपसी संघर्ष शुरू हो गया था। मराठा राज्य की आर्थिक स्थिति भी शोचनीय वनी हुई थी। परन्तु सवसे गम्भीर समस्या शाहू के उत्तराधिकार की थी। शाहू काफी वृद्ध हो गया था और अभी तक उसके कोई पुत्र न था। इस प्रकार, वालाजी वाजीराव को पेशवा वनते ही आन्तरिक तथा वाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

आर्थिक समस्या का समाधान—वालाजी वाजीराव को सर्वप्रथम राज्य की शोचनीय आर्थिक अवस्था की तरफ ध्यान देना पड़ा। वाजीराव के अभियानों से राजकोष खाली हो चुका था। स्वयं वाजीराव लगभग 14 लाख रुपये का कर्जा छोड़ गया था। नाना साहव (वालाजी वाजीराव) ने इसका समाधान कर्नाटक में ढूंढा। उसने अपने एक अधिकारी मुरारीराव घोरपदे को त्रिचनापल्ली तथा अर्काट से वसूलियाँ करने को नियुक्त किया। इसके वाद उसने महादाजी पुरन्दरे से ऋण लेकर वावूजी नायक का कर्जा चुकाया। अपनी वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए पेशवा ने शाहू से वसीन सहित पुर्तगालियों से छीने गये सभी इलाके एवं गुजरात को छोड़कर नर्मदा के उत्तर के सम्पूर्ण देश से वसूलियाँ करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इससे उसे आय का नया स्रोत प्राप्त हो गया जिससे उसकी आर्थिक स्थिति

में काफी सुधार आ गया और वह अन्य समस्याओं को हल करने के लिए अग्रसर हो पाया।

आंग्रे बन्धुओं की समस्या—1739 ई० में शम्भाजी आंग्रे की मृत्यु के बाद आंग्रे परिवार में उत्तराधिकार संघर्ष शुरू हो गया। पेशवा ने तुलाजी आंग्रे के विरुद्ध मानाजी आंग्रे का पक्ष लिया। परन्तु तुलाजी अपने विरोधियों के लिए शक्तिशाली सिद्ध हुआ। इस पर पेशवा ने अंग्रेजों से नौसैनिक सहायता लेकर तुलाजी की शक्ति का अन्त किया और मानाजी की सत्ता कायम की। मानाजी पेशवा के प्रति वफादार बना रहा। परन्तु पेशवा ने अंग्रेजों से सहयोग लेकर भारी भूल की थी। इसके लिए उसे अंग्रेजों को 'वनकोट' का समूचा क्षेत्र देना पड़ा और इससे मराठा नौ शक्ति भी नष्ट हो गई।

मालवा की प्राप्ति—1738 ई० में दुराय-सराय की सन्धि के अनुसार निजाम ने साम्राज्य के वजीर की हैसियत से मालवा का प्रान्त बाजीराव को दे दिया था। परन्तु मुगल सम्राट ने अभी तक इसकी संपुष्टि नहीं की थी। अतः बालाजी ने कूटनीति तथा शस्त्रनीति दोनों का सहारा लिया। जयपुर के सवाई जयसिंह के माध्यम से कूटनीति का काम किया गया और वह स्वयं एक शक्तिशाली सेना के साथ मालवा में जा घुसा और नर्मदा तटवर्ती गढ़ तथा मंडला पर अधिकार कर लिया। इससे घबराकर 1741 ई० में मुगल सम्राट ने पेशवा को मालवा का प्रान्त प्रदान कर दिया। इसके बदले में पेशवा ने मुगल सम्राट की सेवा में स्थायी रूप से 500 सैनिक और आवश्यकता पड़ने पर 4000 सैनिक भेजने का वायदा किया। मुगलों की राजनीति में मराठों का यह प्रत्यक्ष प्रवेश था जिसके परिणाम अन्तोगत्वा विनाशकारी सिद्ध हुए।

कर्नाटक—पेशवा बाजीराव के लिए कर्नाटक कभी रुचि का विषय नहीं रहा। परन्तु उसके पुत्र बालाजी बाजीराव के लिए कर्नाटक एक जबरदस्त आकर्षण था। इसका मुख्य कारण यह था कि शाहू ने बालाजी के विरोधी मराठा सरदार रघुजी भोंसले को कर्नाटक विजय का काम सौंप दिया था। रघुजी ने 1739 ई० में कर्नाटक पर आक्रमण किया और शानदार सफलताएँ प्राप्त की। उसने कर्नाटक के नवाब दोस्तअली को परास्त करके मार डाला और उसके दामाद चाँदा साहब को बन्दी बनाकर सतारा ले आया। इससे रघुजी भोंसले की प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई। पेशवा बालाजी बाजीराव कर्नाटक में अपना प्रभुत्व कायम करने को उत्सुक हो उठा। 1743 ई० में निजामउलमुल्क ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और रघुजी भोंसले की सफलताओं पर पानी फेर दिया। इस पर 1745 ई० में शाहू ने पेशवा के एक अन्य विरोधी सरदार बाबूजी नायक को कर्नाटक अभियान का काम सौंपा। बाबूजी का अभियान बुरी तरह से असफल रहा। 1746 ई० में पेशवा ने सदाशिवराव भाऊ को कर्नाटक अभियान पर भेजा। सदाशिवराव भाऊ बालाजी

का चचेरा भाई था और एक पराक्रमी सेनानायक था। उसने सारे पश्चिमी कर्नाटक को छत्रपति के आधीन कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाना साहब ने अपने पिता से भिन्न नीति अपनाई। वह उत्तर की भांति कर्नाटक के मामलों को भी अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था।

उड़ीसा, बंगाल और बिहार—नागपुर का रघुजी भोंसले काफी शक्तिशाली सरदार था। उसे पेशवा तथा छत्रपति दोनों की विशेष चिन्ता न थी। उसने सम्पूर्ण गोंडवाना प्रदेश अपने अधिकार में कर रखा था। इसके बाद उसने कर्नाटक में शानदार सफलताएँ प्राप्त की। 1742 ई० में रघुजी भोंसले ने उड़ीसा तथा बंगाल में अपना प्रभाव बढ़ाया। उसके प्रतिनिधि भास्करपन्त ने बंगाल के कई स्थानों को लूटा तथा नवाब अलीवर्दीखां को परास्त किया। परन्तु 1744 ई० में अलीवर्दीखां ने छल-कपट से भास्करपन्त और 22 अन्य मराठा सेनानायकों को मौत के घाट उतार दिया।

रघुजी भोंसले और पेशवा बालाजी बाजीराव में शुरू से ही अनबन चली आ रही थी। जब भास्कर पन्त ने बंगाल में लूटमार शुरू की तो अलीवर्दीखां ने पेशवा से सहायता की याचना की। इसी समय मुगल सम्राट ने भी पेशवा को लिखा कि वह बंगाल में रघुजी की कार्यवाहियों को रोके। अतः पेशवा एक शक्तिशाली सेना के साथ बंगाल की तरफ चला और उसने कई स्थानों पर रघुजी को परास्त किया। रघुजी ने शाहू के सामने सारा मामला रखा। शाहू ने बीच में पड़कर पेशवा और रघुजी में समझौता करा दिया और दोनों के क्षेत्र बांट दिये। अतः विवश होकर पेशवा को बंगाल से हटना पड़ा। इसके बाद ही भास्करपन्त मारा गया जिससे रघुजी क्रोधित हो उठा और 1747 से 1741 के मध्य उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अनेक सफल अभियान किये। अन्त में 1751 ई० में अलीवर्दीखां को रघुजी भोंसले से सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। सन्धि के अनुसार उड़ीसा का सूबा मराठों को सौंप दिया गया तथा बंगाल और बिहार की चौथ के रूप में 12 लाख रुपया वार्षिक रघुजी को देने का वायदा करना पड़ा। इस सन्धि से बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर मराठों का प्रभुत्व और सुदृढ़ हो गया।

निजाम और उसके उत्तराधिकारी मुगल साम्राज्य के वजीर की हैसियत से निजाम ने पेशवा बाजीराव को मालवा सौंप दिया था और सम्राट से इसकी संपुष्टि कराने का वचन भी दिया था। परन्तु बाजीराव की मृत्यु के बाद निजाम ने सम्राट से इसकी संपुष्टि नहीं करवाई। परन्तु कुछ दिनों बाद ही निजाम के पुत्र नासिरजंग ने अपने बाप के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसके विद्रोह को दबाने के लिए निजाम को पेशवा से सहायता की याचना करनी पड़ी और इस सहायता के लिए उसने पेशवा को 15 लाख रुपये नगद दिये। इसके अलावा उसने मालवा प्रान्त दिलवाने के साथ-साथ सम्राट से 50 लाख रुपये दिलवाने का भी आश्वासन दिया। परन्तु

जब शाहू के आदेश से रघुजी भोंसले ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तो निजाम मराठों से पुनः असन्तुष्ट हो गया क्योंकि वह कर्नाटक को अपना सूबा समझता था। 1743 ई० में निजाम ने कर्नाटक पर आक्रमण करके मराठों को वहां से खदेड़ दिया। 1748 ई० में निजाम की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूर्व वह अपने पुत्र को मराठों से शत्रुता मोल न लेने की सलाह देता गया। परन्तु नासिरजंग ने फ्रांसीसियों की सहायता से मराठों का प्रभाव नष्ट करने का निश्चय किया। कुछ दिनों बाद ही स्थानीय पाठानों ने उसका वध कर दिया और मुजफ्फरजंग को नया निजाम बनाया। जनवरी 1751 ई० में वह भी मारा गया और फ्रांसीसी सेनायक बूसी की सहायता से सलाबतजंग नया निजाम बना। उसके समय में मराठा हैदराबाद के क्षेत्रों पर निरन्तर धावे मारते रहे और धीरे-धीरे असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा उसके समीपवर्ती इलाकों पर अपना अधिकार जमाने में सफल रहे।

राजपूतों के साथ सम्बन्ध—1743 ई० में जयपुर के सवाई जयसिंह की मृत्यु हो गई और उसके पुत्रों ईश्वरसिंह और माधोसिंह में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। उदयपुर के महाराणा ने माधोसिंह का पक्ष लिया। इस पर ईश्वरसिंह ने सिन्धिया तथा होल्कर की सहायता ली और 1745 ई० में उसने माधोसिंह को परास्त किया। इसी समय रानोजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई और उसके पुत्र जयप्पा तथा मल्हारराव होल्कर के मध्य गम्भीर मतभेद पैदा हो गये। उधर माधोसिंह ने पेशवा से सहायता की याचना की। पेशवा को शाहू का कर्जा चुकाने के लिए रुपयों की सख्त जरूरत भी थी। अतः वह स्वयं उत्तर भारत की ओर आया। इतिहास में उसका यह अभियान "निवाई अभियान" के नाम से प्रसिद्ध है। पेशवा की मध्यस्थता से ईश्वरसिंह और माधोसिंह में समझौता सम्पन्न हो गया। ईश्वरसिंह ने अपने भाई को अपने राज्य के चार जिले देना स्वीकार कर लिया। पेशवा को लगभग 3 लाख रुपये भेंट में मिले।

इसके बाद, मराठे ईश्वरसिंह को चौथ के नाम पर निरन्तर परेशान करते रहे। 1750 ई० में मल्हारराव होल्कर ने उस पर कर अदा करने के लिए जबरदस्त दबाव डाला जिससे दुःखी होकर ईश्वरसिंह ने विष खा कर आत्म हत्या कर ली। उसकी मृत्यु के बाद माधोसिंह जयपुर का राजा बना। जब मराठों ने उससे धन की मांग की तो उसने धोखे से हजारों मराठों को कत्ल करा दिया। इस घटना से राजपूतों और मराठों के सम्बन्ध बिगड़ गये जिसके परिणाम घातक सिद्ध हुए। मराठों ने राजपूतों के साथ वर्षों से स्थापित अपनी मित्रता को खो दिया और पानीपत के युद्ध में राजपूतों ने उन्हें कोई सहायता नहीं दी।

जोधपुर राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी राजपूतों और मराठों में जबरदस्त झगड़ा उत्पन्न हो गया। जून 1749 ई० में महाराजा अभयसिंह की मृत्यु के बाद उसका लड़का रामसिंह जोधपुर शासक बना परन्तु नवम्बर 1750 ई० में उसके

चाचा बख्तसिंह ने उसे पराजित करके जोधपुर पर अपना अधिकार जमा लिया। रामसिंह ने जयप्पा सिन्धिया की सहायता से जून 1952 ई० में बख्तसिंह पर आक्रमण किया, परन्तु परास्त हुआ। सितम्बर 1752 ई० में बख्तसिंह की मृत्यु हो गई और उसका लड़का विजयसिंह जोधपुर का शासक बना। सितम्बर 1754 ई. में रामसिंह ने जयप्पा सिन्धिया की सहायता से मेड़ता के निकट विजयसिंह को परास्त किया। मराठों ने मारवाड़ को खूब लूटा। क्रोधित विजयसिंह ने एक दिन मौका पाकर धोखे से जयप्पा सिन्धिया को कत्ल करा दिया। इस पर सिन्धिया परिवार ने विजयसिंह को इतना अधिक परेशान किया कि फरवरी 1756 ई० में उसे मराठों के साथ अपमानजनक सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। संधि के अनुसार उसने अजमेर का दुर्ग और सूबा मराठों को सौंपना तथा 50 लाख रुपये जुर्माना देना स्वीकार किया। जालौर का नगर और आधा मारवाड़ रामसिंह को देने का वचन देना पड़ा। परन्तु विजयसिंह ने केवल पहली शर्त ही पूरी की।

सूरजमल जाट—सूरजमल जाट भरतपुर का शासक था। मुगल सम्राट के विरुद्ध उसने सफदरजंग का साथ दिया था, जिसकी वजह से मुगल सम्राट उससे रुष्ट था। इसके अतिरिक्त सूरजमल जाट आगरा के सूबे में अपने हितों का विस्तार करना चाहता था। जब मराठों को आगरा और अजमेर से सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त हुआ तो मराठों और सूरजमल में तनाव बढ़ गया। उधर नये वजीर गाजीउद्दीन ने मराठों को सूरजमल जाट के विरुद्ध उकसाया। परिणामस्वरूप 1754 ई० में मल्हारराव होल्कर तथा रघुनाथराव ने सूरजमल के प्रसिद्ध दुर्ग कुम्भेर को घेर लिया। इस युद्ध में संयोगवश खाण्डेराव होल्कर (मल्हारराव का एक मात्र पुत्र) मारा गया जिससे क्रुद्ध होकर मराठों ने जाटों को भीषण क्षति पहुँचाई और अन्त में सूरजमल को 30 लाख रुपया चुकाने का वचन देकर मराठों से पीछा छुड़ाना पड़ा। परन्तु इस घटना से सूरजमल जाट को मराठों से घृणा हो गई और पानीपत के युद्ध में उसने भी मराठों का साथ नहीं दिया।

शाहू के उत्तराधिकार का प्रश्न—शाहू के जीवन के शेष दिन उत्तराधिकार सम्बन्धी उलझनों के कारण घोर चिन्ता तथा परेशानी में बीते। शाहू निःसंतान था। अतः शुरू में उसने भोंसले परिवार के किसी सुयोग्य लड़के को गोद लेने का विचार किया। जब वृद्ध ताराबाई को पता चला तो उसने शाहू से कहलवाया कि उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय का लड़का अभी जीवित है और राजसबाई तथा शम्भाजी द्वितीय के भय से उसने उसे छिपा रखा है। कोल्हापुर का शम्भाजी द्वितीय भी अपने आप को शाहू का उत्तराधिकारी समझता था। इन्हीं परिस्थितियों में शाहू की मृत्यु हो गई (25 दिसम्बर, 1749)। मरने से पहले शाहू ने पेशवा को स्पष्ट आदेश दिये कि ताराबाई के पोते रामराजा को नया छत्रपति बनाया जाये। इसके साथ ही शाहू ने पेशवा का पद वंशानुगत बना दिया तथा उसे प्रशासन के साथ-साथ

सेना का अध्यक्ष भी बना दिया। इससे पेशवा का पद राज्य में सर्वोपरि बन गया और उसे पूर्ण वैधता भी प्राप्त हो गई।

जनवरी 1750 ई. में ताराबाई के पोते रामराजा को छत्रपति बना दिया गया। ताराबाई ने अपने पोते को अपने नियन्त्रण में लेकर मराठा राज्य का शासन-सूत्र संभालने का प्रयास किया परन्तु रामराजा अपनी दादी के आदेशानुसार कार्य न करके पेशवा की योजनानुसार शासन चलाने लगा। इस पर कुपित ताराबाई ने यह कहना शुरू कर दिया कि रामराजा उसका असली पोता नहीं है अपितु एक छली है। ताराबाई के कथनों से बहुत से मराठा सरदारों में भारी असंतोष फैल गया। अतः 1750 ई. में पेशवा ने सांगोला नामक स्थान पर सभी प्रमुख सरदारों के सन्मुख छत्रपति रामराजा के साथ नई व्यवस्था की। इस नई व्यवस्था के अनुसार छत्रपति की अधिकांश शक्तियाँ पेशवा के हाथ में आ गई और अब सतारा के स्थान पर पूना मराठा राज्य का प्रमुख केन्द्र बन गया। सांगोला व्यवस्था ने "अष्ट-प्रधानों" का महत्व भी नगण्य कर दिया। रामराजा ने बिना किसी विरोध के पेशवा की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। इससे ताराबाई और अधिक कुपित हो गई। सतारा आते ही उसने रामराजा को कैद कर लिया और पेशवा से निपटने के लिए उमाबाई दाभाड़े की सहायता ली। दाभाड़े के प्रतिनिधि दामाजी गायकवाड़ ने अपनी सेना सहित पेशवा के केन्द्र पर अभियान की योजना बनाई, परन्तु नाना साहब ने छल से दामाजी को पकड़ लिया और उसे अपनी माँगें स्वीकार करने को बाध्य किया। ताराबाई ने अब पेशवा का विरोध करना निरर्थक समझा। अतः उसने पेशवा के साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार सतारा दुर्ग और रामराजा के परिवार का नियन्त्रण ताराबाई को सौंप दिया गया। पेशवा ने छत्रपति की रिहाई के लिये किसी प्रकार का प्रयास नहीं किया और इसका सारा दायित्व ताराबाई पर डाल दिया। छत्रपति और उसके वंशज बन्दी जीवन बिताते रहे और पेशवा मराठा साम्राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति बन गया।

पानीपत का तीसरा युद्ध (1761 ई०)

अब्दाली का भारतीय राजनीति में प्रवेश—ईरान के शासक नादिरशाह की मृत्यु के बाद उसके एक प्रमुख सेनानायक अहमदशाह अब्दाली ने 1747 ई. में काबुल तथा कन्धार पर अधिकार करके अफगानिस्तान में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। उसे भारतीय राजनीति की अच्छी जानकारी थी क्योंकि वह नादिर शाह के नेतृत्व में किये गये भारतीय अभियान में भारत आ चुका था। अब्दाली एक महत्वाकांक्षी शासक था। अफगानिस्तान में अपनी सत्ता के सुदृढ़ होते ही उसने भारत को ताकना शुरू कर दिया। उसका एक उद्देश्य पंजाब, मुल्तान, काश्मीर आदि उन भारतीय भू-भागों जो नादिरशाह के राज्य के अंग रह चुके थे, को अपने अधिकार में लाना था क्योंकि नादिरशाह के उत्तराधिकारी होने के नाते वह

इन क्षेत्रों को अपने राज्य का अंग समझता था। दूसरा ध्येय धन प्राप्त करना था। तीसरा ध्येय लूटमार के द्वारा अपने अफगान सैनिकों को संतुष्ट बनाये रखना था और अन्तिम उद्देश्य नवीन विजयों के द्वारा अपनी प्रतिष्ठा, लोकप्रियता तथा शक्ति को बढ़ाना था। अब्दाली को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का बहाना भी शीघ्र ही मिल गया। 1745 ई. में पंजाब के सुयोग्य सूबेदार जबरियाखां की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्रों-यहियाखां और शाहनवाजखां में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। मुगल साम्राज्य के वजीर कमरुद्दीन ने यहियाखां का पक्ष लिया तो शाहनवाजखां ने अब्दाली से सहयोग मांगा। अब्दाली जो कि अवसर की ताक में था, 1748 ई. में पंजाब में आ पहुँचा। इस बीच शाहनवाजखां को मुगल वजीर ने अपने पक्ष में मिला लिया था। अतः अब्दाली को सबसे पहले शाहनवाजखां को परास्त करना पड़ा। उसकी पराजय के बाद अब्दाली ने लाहौर पर अपना अधिकार जमा लिया। इसी समय वजीर कमरुद्दीन के नेतृत्व में दिल्ली से शाही सेना भी आ पहुँची और मार्च 1748 ई. में मानूपुर नामक स्थान पर लड़े गये युद्ध में अहमदशाह अब्दाली परास्त हुआ। वापस जाने के पूर्व अब्दाली पंजाब के तत्कालीन सूबेदार मीर मन्नू (मुइन-उल-मुल्क) से समझौता कर गया। 1752 ई. में अब्दाली ने पुनः आक्रमण किया। मुगल सम्राट ने विवश होकर पंजाब और मुलतान अब्दाली को सौंप दिये। अब्दाली ने मुइन-उल-मुल्क को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया और वापस अफगानिस्तान चला गया।

मराठों का दिल्ली की राजनीति में उलझना—1748 ई. में मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई और अहमदशाह नया सम्राट बना। उसने अवध और इलाहबाद के सूबेदार सफदरजंग को अपना वजीर बनाया। अवध के पड़ौस में रूहेलखण्ड में रोहिल्लों ने अधिकार जमा रखा था और वे धीरे-धीरे अपना राज्य बढ़ा रहे थे। वे प्रायः अवध के इलाकों पर धावा मार कर लूटमार किया करते थे। अतः वजीर बनते ही सफदरजंग ने रोहिल्लों का दमन करने का निश्चय किया। परन्तु वह अपने ही बलबूते पर उन्हें परास्त करने में समर्थ नहीं था, अतः इसके लिये उसने मराठों से सहायता ली। मराठों ने सम्पूर्ण रूहेलखंड को रौंद डाला और रूहेलों को कई बार परास्त किया। परास्त रोहिल्लों ने अहमदशाह अब्दाली से सहायता की याचना की। 1752 ई. के प्रारम्भ में दिल्ली दरबार को जानकारी मिली कि अब्दाली शीघ्र ही भारत पर आक्रमण करने वाला है। अतः सम्राट ने वजीर सफदरजंग सेमराठों की सहायता प्राप्त करने को कहा। वजीर ने अप्रैल 1752 ई. में मराठों सो समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार मराठों को पंजाब, सिन्ध तथा दोआब से चौथ वसूल करने का अधिकार तथा आगरा, अजमेर की सूबेदारी प्रदान किये जाने की व्यवस्था की थी। बदले में; मराठों ने बाह्य एवं आन्तरिक संकटों से मुगल साम्राज्य की रक्षा करने का वचन दिया। इस प्रकार, मराठे मुगल साम्राज्य के संरक्षक बन गये। इस हैसियत से उन्हें अब दिल्ली

दरबार की राजनीति में भी उलझ जाना पड़ा। इस बीच अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया था। उसने सम्राट से पंजाब सूबे की मांग की। मुगल सम्राट में उसकी मांग को ठुकराने की शक्ति नहीं थी। अतः उसने पंजाब अब्दाली को सौंप दिया। अब्दाली ने अब मीर मन्नू को अपनी तरफ से सूबेदार नियुक्त किया और स्वयं वापिस अफगानिस्तान लौट गया।

मुगल सम्राटों की निर्बलता के कारण दिल्ली दरबार में दो परस्पर विरोधी दल बने हुए थे। एक दल भारतीय मुसलमानों का था और दूसरा विदेशी मुसलमानों का। मराठों ने भारतीय मुसलमानों का साथ दिया और अब्दाली ने विदेशी मुसलमानों का पक्ष लिया। परन्तु भारतीय मुसलमानों में एकता नहीं थी। वे आपस में भी लड़ रहे थे। मुगल सम्राट अहमदशाह, उसकी माँ उद्यम बाई तथा उसका प्रेमी खोजा जाविदखां ये सभी लोग वजीर सफदरजंग के विरोधी बन चुके थे और उसे पदच्युत करना चाहते थे। सफदरजंग ने छल-कपट से जाविदखां को मरवा डाला जिससे सम्राट और वजीर में अघोषित युद्ध शुरू हो गया। दोनों पक्षों ने मराठों को सहायता करने के लिये उन्हें अत्यधिक प्रलोभन दिये। मराठों ने सम्राट का साथ दिया और बार-बार परास्त होने के बाद वजीर अपने सूबे को लौट गया। परन्तु वह मराठों के विश्वासघात को कभी न भुला सका।

13 मई, 1754 ई० को मुगल सम्राट ने सफदरजंग के स्थान पर इन्तिजाम उद्दौला को अपना नया वजीर बनाया। हैदराबाद के निजाम का बड़ा लड़का गाजीऊद्दीन इमाद-उल-मुल्क भी उसके साथ हो गया। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी तथा षड़यन्त्रकारी युवक था। उसने मराठों की सहायता से सम्राट अहमदशाह को पदच्युत करके आलमगीर द्वितीय को नया सम्राट बनाया तथा खुद वजीर बन गया। गाजीऊद्दीन अपनी ही स्वार्थपूर्ति में लगा रहा और इसके लिए वह कभी मराठों से तो कभी नजीबखां से और कभी अब्दाली से मदद लेने की सांठ-गांठ करता रहा। मजे की बात यह रही कि वजीर सफदरजंग से लेकर गाजीऊद्दीन तक, मराठों को सहायता के लिए जो धन देने का आश्वासन दिया गया था—वह कभी पूरा नहीं किया गया और मराठों के विशाल सैनिक दस्तों को चारों तरफ लूटमार करके अपना निर्वाह करना पड़ रहा था। सिन्धिया, होल्कर और पेशवा का भाई रघुनाथराव सभी ने अपने-अपने ढंग से धन प्राप्त करने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें पर्याप्त सफलता न मिल पाई।

अब्दाली का दिल्ली अभियान—नवम्बर 1753 ई. में पंजाब के सूबेदार मीर मन्नू की मृत्यु हो गई। उसकी विधवा मुगलानी बेगम अपने शिशु पुत्र के नाम पर शासन चलाने लगी। इस स्थिति का लाभ उठाकर वजीर गाजीऊद्दीन ने पंजाब पर पुनः अधिकार जमाने का प्रयास किया। पंजाब के उप-सूबेदार अदीना बेगम ने भी उसे सहायता दी। फरवरी 1756 में गाजीऊद्दीन सेना सहित पंजाब में जा

पहुँचा। उसने मुगलानी बेगम तथा उसकी लड़की और धन सम्पत्ति सभी पर अधिकार कर लिया और उन्हें दिल्ली ले आया। गाजीऊद्दीन ने शाही परिवार की स्त्रियों को भी काफी परेशान किया। परेशान बेगमों ने नजीबउद्दौला से सहायता की मांग की। नजीबखां का मानना था कि गाजीऊद्दीन मराठों की शक्ति पर ही उछल रहा है। अतः मराठों की शक्ति को समाप्त करने के लिए अब्दाली को निमन्त्रित करना चाहिये। परिणामस्वरूप शाही बेगमों की ओर से अब्दाली को निमन्त्रण भिजवाया गया। उधर मुगलानी बेगम ने भी गुप्त रूप से अब्दाली से सांठ-गांठ कर रखी थी और उसने अब्दाली को यह भी कहलवाया कि भूतपूर्व वजीर कमरुद्दीन की करोड़ों की सम्पदा की उसे जानकारी है। इस प्रकार की स्थिति का लाभ उठाने से अब्दाली चूकने वाला व्यक्ति नहीं था। 1757 ई. के प्रारम्भ में वह भारत आ पहुँचा। उसकी सेना ने अदीना बेगम को परास्त करके लाहौर पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद अब्दाली दिल्ली के निकट आ पहुँचा। वजीर गाजीऊद्दीन स्थिति को न संभाल पाया। अब्दाली की सेना ने दिल्ली के नागरिकों को जी भर कर लूटा। स्वयं अब्दाली ने बड़े-बड़े अमीरों को लूटा। इसके बाद मथुरा और आस-पास के क्षेत्रों को लूटा गया। संयोगवश अब्दाली की सेना में महामारी फैल गई और उसने वापस जाने का फैसला कर लिया। जाने के पूर्व वह नजीबउद्दौला का मुगल साम्राज्य का मीरबख्शी और गाजीऊद्दीन को वजीर नियुक्त कर गया। पंजाब का शासन अपने पुत्र तैमूरशाह और जहानखां को सौंप कर अब्दाली लगभग 12 करोड़ रुपये की धन सम्पदा के साथ अफगानिस्तान लौट गया। मुगल साम्राज्य की सुरक्षा का भार लेने वाले मराठे इस अवधि में राजस्थान के शासकों से धन बटोरने में लगे रहे। उन्होंने आगे बढ़ कर अब्दाली का सामना करने का साहस नहीं दिखलाया।

मराठों का अटक तक धावा—अब्दाली की वापसी के तुरन्त बाद रघुनाथराव और मल्हारराव होल्कर एक विशाल सेना के साथ मई, 1757 ई० में आगरा पहुँच गये जहाँ गाजीऊद्दीन उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। नजीबउद्दौला ने मल्हारराव की मध्यस्थता से मराठों तथा अब्दाली के मध्य समझौता कराने का प्रस्ताव रखा परन्तु गाजीऊद्दीन तथा मुगल सम्राट के विरोध के कारण समझौता न हो सका। वे दोनों नजीबउद्दौला को सजा देना चाहते थे। मराठों ने नजीब को बन्दी बना लिया परन्तु मल्हारराव होल्कर के अनुरोध पर उसे अपनी जागीर में लौट जाने दिया। यह कदम आगे चल कर मराठों के लिए आत्मघातक सिद्ध हुआ, क्योंकि पानीपत में मराठों के विनाश में उसने सर्वाधिक भूमिका अदा की। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद मराठों ने कुंजपुरा तथा सरहिन्द पर अधिकार जमाया। इसके बाद वे लाहौर की तरफ बढ़े। तैमूरशाह और जहानखाँ लाहौर से भाग खड़े हुए और लाहौर पर मराठों का अधिकार हो गया। इसके बाद मराठों

ने अटक तक के भूभाग को रौंद डाला और सिन्धु नदी के जल से अपने घोड़ों की प्यास बुझाई। रघुनाथराव ने वापसी के पूर्व अदीना वेग को मुल्तान और लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया और उसकी सहायता के लिए एक छोटी-सी सैनिक टुकड़ी भी रख दी। कुछ अन्य महत्वपूर्ण सीमान्त चौकियों पर द्वितीय श्रेणी के मराठा अधिकारियों को नियुक्त करके वह वापस पूना लौट गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मराठों ने पहली बार इतने बड़े पैमाने पर विजय प्राप्त की थी परन्तु इस अभियान से उन्हें किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नहीं मिला। उल्टे 80 लाख का कर्जा हो गया और उत्तरी भारत में ठोस व्यवस्था भी कायम न हो पाई।

पानीपत की ओर—मराठों द्वारा पंजाव की विजय और उस प्रान्त से अव्दाली के अधिकारियों के निष्कासित किये जाने पर अहमदशाह आग-बबूला हो गया। उसने पुनः आक्रमण की तैयारियां शुरू कर दी। उधर पेशवा ने उत्तरी भारत की व्यवस्था को ठीक करने का दायित्व सिन्धिया परिवार को सौंपा और मल्हारराव होल्कर को सिन्धिया की सहायता करने को कहा गया। परन्तु न जाने किस कारण से मल्हारराव होल्कर ने पेशवा के आदेश का पालन नहीं किया और वह दत्ताजी सिन्धिया की पराजय तथा मृत्यु के वाद ही दिल्ली गया।

दत्ताजी सिन्धिया ने दिल्ली पहुँचने के वाद नजीवउद्दौला को पकड़ने का प्रयास किया परन्तु वह सफल न हो पाया। नजीव ने पुनः अव्दाली से सहायता की मांग की। अव्दाली ने पेशावर में डेरा लगाया और जहानखाँ को लाहौर पर अधिकार जमाने के लिए भेजा। सावाजी सिन्धिया ने उसे परास्त करके वापस खदेड़ दिया। इसी समय 30 नवम्बर 1759 ई० को वजीर गाजीउद्दीन ने सम्राट आलमगीर द्वितीय और भूतपूर्व वजीर इन्तिजामउद्दौला तथा कुछ अन्य मुगल अमीरों का वध करा दिया जिससे अव्दाली और भी अधिक क्रुद्ध हो उठा। वह पंजाव की तरफ वढ़ा। उसके आगमन का समाचार सुनकर दत्ताजी ने नजीव का पीछा छोड़कर अव्दाली की तरफ प्रयाण किया। परन्तु अव्दाली दत्ताजी को चकमा देकर दिल्ली पहुँच गया। नजीव भी अपनी सेना सहित अव्दाली से जा मिला। जनवरी 1760 ई० में वरारी घाट के युद्ध में दत्ताजी सिन्धिया परास्त हुआ और मारा गया। वजीर गाजीउद्दीन सूरजमल जाट की शरण में भाग गया। अव्दाली ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। नजीव के विशेष अनुरोध पर अव्दाली ने कुछ समय और भारत में रहना स्वीकार कर लिया। दत्ताजी की मृत्यु के वाद मल्हारराव होल्कर ने दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया परन्तु उसे अफगानों के हाथों बुरी तरह परास्त होकर राजस्थान की ओर भागना पड़ा।

अव्दाली के हाथों मराठों की दुर्दशा से पेशवा को वहुत अधिक दुःख हुआ और उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को एक विशाल सेना के साथ दिल्ली अभियान के लिए भेजा। इस अभियान का औपचारिक नेतृत्व पेशवा के

बड़े लड़के विश्वासराव को सौंपा गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदाशिवराव एक योग्य एवं पराक्रमी सैनिक था। परन्तु उसमें दम्भ की मात्रा अधिक थी और कूटनीति का पर्याप्त ज्ञान न था। अब्दाली ने घोषित किया कि वह दिल्ली के मुस्लिम राज्य को दक्षिण के मराठों की लूटमार से बचाने के लिए भारत में रुका हुआ है। इसके विपरीत सदाशिवराव ने विदेशियों को भारत से खदेड़ने में सभी से सहयोग की मांग की। परन्तु मराठों की लूटमार तथा बलात् चौथ वसूली ने उत्तरी भारत की सभी शक्तियों को मराठों का शत्रु बना दिया था। सूरजमल जाट को छोड़कर सभी की सहानुभूति अब्दाली के साथ थी। अब्दाली और नजीब की कूटनीति के कारण भारत के अधिकांश मुस्लिम शासक अब्दाली के शिविर में उपस्थित हो गये। अवध का शुजाउद्दौला भी अब्दाली के पक्ष में चला गया। शुरू में केवल सूरजमल जाट ने मराठों का साथ दिया परन्तु पानीपत के युद्ध के पूर्व वह भी मराठों का साथ छोड़कर चला गया।

7 मार्च 1760 ई० को सदाशिवराव दक्षिण से चला और अगस्त 1760 ई० में उसने अब्दाली के अधिकारियों से दिल्ली छीन ली। अगस्त से अक्टूबर तक का समय भाऊ ने व्यर्थ ही खो दिया। इस बीच अब्दाली ने मराठों से सन्धि वार्ता करनी चाही परन्तु नजीबखाँ ने रुकावट पैदा कर दी। इसके बाद भाऊ ने दिल्ली के निकट अफगानों के प्रमुख केन्द्र कुंजपुरा पर अधिकार कर लिया। यहाँ से प्राप्त सामग्री से मराठों की स्थिति काफी सुधर गई। अब्दाली के लिए यह घातक प्रहार था। उसने यमुना को पार कर मराठों पर पीछे से आक्रमण करने की योजना बनाई और सेना सहित सोनीपत जा पहुँचा। सदाशिवराव को इसकी सूचना मिल गई और वह भी सेना सहित पानीपत जा पहुँचा। नवम्बर 1760 ई० में दोनों सेनाएं एक-दूसरे के सामने हो गई परन्तु दोनों में अन्तिम निर्णायक युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई० के दिन लड़ा गया।

पानीपत का तीसरा युद्ध : कारण—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि पानीपत के तीसरे युद्ध का मूल कारण दिल्ली दरबार की दलपरस्त राजनीति थी। मुगल सम्राट की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और दिल्ली दरबार के परस्पर-विरोधी दल सम्राट को अपने नियंत्रण में बनाये रखने को लालायित थे। इसके लिए उन्हें भारी कीमत पर मराठों की सहायता लेनी पड़ी। मराठे भी अब पुनः हिन्दू पादशाही के स्वप्न साकार करने की महत्वाकांक्षा रखने लगे थे। उनकी इस नीति ने बहुत से मुस्लिम शासकों को भयभीत बना दिया था। परिणामस्वरूप उन्होंने अब्दाली के पास बारम्बार गुप्त रूप से आमंत्रण भेज कर भारत पर अभियान करने का प्रोत्साहन दिया। अब्दाली को अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए धन-सम्पदा की आवश्यकता थी। भारत समृद्ध देश था। उसकी धन-सम्पदा ने अब्दाली को आकर्षित किया। इसके अतिरिक्त अब्दाली पंजाब, मुल्तान तथा

काश्मीर के प्रदेशों को अधिकृत करना चाहता था ताकि उसे नियमित आय का अच्छा साधन मिल सके। भारत की सीमान्त सुरक्षा व्यवस्था भी कमजोर थी। अतः अब्दाली के लिए भारत पर आक्रमण करना कठिन कार्य नहीं था।

1759 ई० में सम्राट आलमगीर द्वितीय की हत्या, मराठों द्वारा अब्दाली के अधिकारियों को परास्त करके अटक तक के क्षेत्रों पर कब्जा जमाना, नजीबखाँ तथा शाहीहरम की बेगमों द्वारा अब्दाली से सहायता की याचना आदि घटनाओं ने अब्दाली और मराठों को आमने-सामने कर दिया। दोनों ही शक्तियाँ मुगल साम्राज्य को अपने नियंत्रण में रखकर अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहती थी। इसके लिए दोनों में संघर्ष अवश्यंभावी था।

घटनाएँ—14 जनवरी 1761 ई० के दिन 9 बजे प्रातः से युद्ध आरम्भ हो गया। कुछ घन्टों तक मराठा सेना ने जमकर युद्ध दिया। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली की सेना को बहुत हानि पहुँचाई। सदाशिवराव भाऊ और सिन्धिया ने अनेक भीषण प्रहार किये। परन्तु पांच घन्टों के भीषण युद्ध के बाद मराठा सैनिक थक गये। इसी समय अब्दाली ने अपनी सुरक्षित सेना को भी युद्ध में झोंक दिया। संयोगवश पेशवा का पुत्र विश्वासराव शत्रु की गोली से मारा गया जिससे सदाशिवराव भाऊ अपना संयम खो बैठा और अन्धाधुन्ध लड़ते हुए मारा गया। मल्हारराव होल्कर ने शुरू से आखिर तक युद्ध में विशेष भाग नहीं लिया और स्थिति को प्रतिकूल भांप कर अपनी सेना सहित युद्ध मैदान से भाग खड़ा हुआ। मराठों के अनेक प्रसिद्ध सेनानायक जिनमें जसवन्तराव पंवार तथा तुकोजी सिन्धिया भी थे, युद्ध में मारे गये। इब्राहीम गार्दी और जनकोजी सिन्धिया घायलावस्था में बन्दी बनाये गये और बाद में कत्ल कर दिये गये। हजारों मराठा सैनिक युद्ध में मारे गये और भागते हुए हजारों मराठा सैनिकों को बन्दी बना लिया गया। सायंकाल तक भीषण हत्याकाण्ड के बाद अब्दाली और उसके समर्थकों को मराठों के ऊपर निर्णायक विजय प्राप्त हो चुकी थी।

परिणाम—पानीपत के तीसरे युद्ध के परिणामों के बारे में इतिहासकारों में भारी मतभेद है। सुप्रसिद्ध मराठा इतिहासकार सरदेसाई का मत है कि इसमें सन्देह नहीं कि जहां तक जनशक्ति का सम्बन्ध है, उन्हें इस युद्ध से भारी क्षति पहुँची; पर इसके अलावा मराठों के भाग्य पर इस विपत्ति का वस्तुतः कोई प्रभाव न पड़ा। नई पीढ़ी के लोग शीघ्र ही, पानीपत में होने वाली क्षति की पूर्ति करने के लिए उठ खड़े हुए। अतः यह सोचना कि पानीपत के युद्ध ने मराठों की उठती हुई शक्ति को पूरी तरह से कुचल दिया; ठीक नहीं होगा। इसके विपरीत यदुनाथ सरकार की मान्यता है कि भारतीय इतिहास का एक निरपेक्ष सर्वेक्षण यह दिखा देगा कि बिना किसी प्रमाण पर आधारित वीरता तथा गौरव का यह दावा कितना

कमजोर है। इस भयंकर संघर्ष में मराठों को बुरी तरह से मार खानी पड़ी। सम्पूर्ण महाराष्ट्र में शायद ही कोई ऐसा सैनिक परिवार बचा हो जिसने पानीपत के इस पवित्र संघर्ष में अपना एक सदस्य न खोया हो। अनगिनित सैनिकों और गैर-सैनिकों के साथ-साथ पेशवा की आशाओं का केन्द्र विश्वासराव, महान् सेनानायक सदाशिवराव भाऊ, योग्य एवं पराक्रमी सेनानायक—जसवन्तराव पंवार, तुकोजी सिन्धिया, इब्राहीम गार्दी आदि को खोने से पेशवा बालाजीराव का हृदय भी टूट गया और 23 जून, 1761 ई० को वह स्वर्ग सिधार गया। इतने लोगों को एक ही चपेट में खो देने से महाराष्ट्र अचानक ही अपने चुने हुये व्यक्तियों से वंचित रह गया। इससे मराठों की सैनिक एवं राजनैतिक प्रतिष्ठा में भारी कमी आ गई। पेशवा की मृत्यु से मराठा सरदारों पर नियंत्रण रखने वाला कोई न रहा और वे पुनः अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आत्मघातक षड्यन्त्रों एवं कुचक्रों में लीन हो गये। मराठों की इस आपसी फूट के कारण उत्तरी भारत में उनकी प्रगति अवरुद्ध हो गई।

निस्सन्देह मराठों ने अपेक्षाकृत कम समय में अपनी उपरोक्त क्षति को पूरा कर लिया। 1769 ई० में उन्होंने पुनः नर्बदा को पार किया और राजपूत शासकों, रोहिल्लों, जाटों आदि से कर वसूल किया और बाद में सिन्धिया कुछ समय के लिए मुगल सम्राट का संरक्षक बन गया। परन्तु फिर भी, वे उत्तरी भारत की राजनीति में अपना स्थायी प्रभाव जमाने में सफल नहीं हो पाये। जहां तक अफगानों का सम्बन्ध है, उन्हें भी इस विजय से कोई लाभ न हुआ। उनकी विजय पराजय से भी निकृष्ट रही। अहमदशाह इस विजय का लाभ उठाए बिना ही स्वदेश लौट गया और इसके बाद उसने फिर कभी भारतवर्ष के मामलों में कोई भाग नहीं लिया।

पानीपत के युद्ध का महत्व एक भिन्न दिशा में निहित है। अठारहवीं सदी के मध्य में दो शक्तियाँ—मराठे और अफगान, भारत में सर्वोच्च सत्ता को हस्तगत करने के लिए संघर्षरत थी। पानीपत से जहाँ मराठा शक्ति को जबरदस्त धक्का लगा वहीं रोगग्रस्त लड़खड़ाते मुगल साम्राज्य का भी अन्त हो गया। दोनों शक्तियों के पराभव ने अंग्रेजों के लिए मैदान साफ कर दिया। 15 जनवरी 1761 ई. को अंग्रेजों ने मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय को परास्त किया और वह अंग्रेजों का आश्रित बन गया। 16 जनवरी 1761 ई. को अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों के मुख्य केन्द्र पांडिचेरी को हस्तगत करके भारत में फ्रेंच शक्ति को कमजोर बना दिया। थोड़े समय बाद अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इस प्रकार पानीपत के युद्ध के परिणामस्वरूप भारत की प्रमुख शक्ति (मराठा) के पराभव ने अंग्रेजों का मार्ग अधिक सरल बना दिया जिस पर चलकर वे भारत में एक सुदृढ़ धरातल पर

एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर पाये। इस दृष्टि से पानीपत का युद्ध भारतीय इतिहास में एक मोड़ विन्दु प्रमाणित हुआ।

पानीपत में मराठों की पराजय के कारण

पानीपत में मराठों की पराजय के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। प्रो. एच. आर. गुप्ता ने निम्न कारणों को अधिक महत्वपूर्ण माना है—

1. प्रतिद्वन्द्वी सेनानायक—निस्सन्देह सदाशिवराव भाऊ एक महान् और पराक्रमी सैनिक था और पिछले कुछ वर्षों में उसने दक्षिण भारत में लड़े गये युद्धों में शानदार सफलताएँ भी प्राप्त की थीं परन्तु उत्तरी भारत के लिए वह एक अजनवी था। उसे यहाँ के मामलों तथा भौगोलिक स्थिति की पर्याप्त जानकारी न थी। दुर्भाग्यवश उसे उस युग के सर्वोच्च सेनानायक अब्दाली से सामना करना पड़ा। अब्दाली सदाशिव से कहीं अधिक अनुभवी तथा रणकुशल सेनानायक था। उसने भाऊ की भांति अपनी सेना के किसी एक भाग का व्यक्तिगत रूप से नेतृत्व नहीं किया अपितु कुछ दूरी से पूर्ण शान्ति के साथ सम्पूर्ण युद्ध का निरीक्षण करता रहा और अन्तिम दांव के लिए 10,000 सैनिकों का एक दस्ता सुरक्षित रख छोड़ा था। इसी सुरक्षित दस्ते ने युद्ध का पांसा पलट दिया था।

2. प्रतिद्वन्द्वी नायक—अब्दाली के पास जहानखां, शाहपसन्दखां, अताईखां, करीमखां, शाहवलीखां, नजीवखां आदि सेनानायक थे जो एक से एक वढ़-चढ़ कर थे। भाऊ के पास इनकी टक्कर का एक भी नायक नहीं था। बूढ़ा मल्हारराव होल्कर और नवयुवक जनकोजी सिन्धिया तथा अन्य मराठा नायक विभिन्न अवसरों पर अब्दाली के हाथों परास्त होकर अपना आत्मविश्वास खो चुके थे। इब्राहीम गार्दी और उसके सैनिकों के प्रति भाऊ की विशेष कृपा से मराठों में भारी असंतोष उत्पन्न हो गया था। युद्ध पद्धति की शैली को लेकर मराठा सेनानायकों में इतना गम्भीर मतभेद पैदा हो गया कि वे अन्तिम समय तक ठोस कदम न उठा पाये। मल्हारराव होल्कर पर तो यह आरोप भी लगाया जाता है कि वह पहले से ही नाजिव तथा शाहपसन्दखां से सांठ-गांठ किये हुए था।

3. प्रतिद्वन्द्वी सेनाएँ—मराठा सेना सामन्तवादी संगठन के दूपित रोग से पीड़ित थी। आपस में लड़ने वाले तथा एक-दूसरे से घृणा करने वाले सेनानायकों के नेतृत्व में मराठा सेना अपना अनुशासन भी खो चुकी थी। शिवाजी के समय में मराठा सेना एक राष्ट्रीय सेना थी। अब उसका राष्ट्रीय स्वरूप भी जाता रहा और वह भड़ैतों की सेना वन गई जिसे महीनों वेतन भी नहीं चुकाया जाता था और सैनिक लोग लूटमार से प्राप्त धन से गुजारा चलाते थे। उनकी लूटमार और अत्याचारों ने उत्तरी भारत में उन्हें घृणा का पात्र वना दिया और स्थानीय जनता से उन्हें किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिल पाता था। इसके विपरीत अब्दाली की

सेना पूर्णतः अनुशासित थी और उनके नायकों में भी एकता थी। अफगान सेना एक सर्वोच्च सेनानायक के आदेशों पर चलती थी। अवज्ञाकारी तथा अनुशासनहीन अफगान सैनिकों को सख्त सजा दी जाती थी।

4. सैनिक शिविरों की स्थिति—पानीपत में भाऊ का शिविर भीड़-भाड़ से भरा हुआ था। मराठा अधिकारियों की पत्नियाँ, रखैलें, नौकरानियों के अलावा दक्षिण भारत से तीर्थ यात्रा पर आने वाले असंख्य नर-नारी भी शामिल थे। मराठा शिविर में हजारों जानवरों की उपस्थिति भी कठिनाई सिद्ध हुई। युद्ध में भाग लेने वाले सैनिकों की दृष्टि से भी मराठों की संख्या कम थी। वे अब्दाली के 60,000 सैनिकों के मुकाबले में केवल 45,000 सैनिक ही जुटा पाये। अफगानों के पास लगभग 80,000 द्वितीय श्रेणी के सैनिक थे जबकि मराठों के पास केवल 15,000 ही थे।

5. खाद्यान व्यवस्था—खाद्य पदार्थों की अपर्याप्त व्यवस्था मराठों की पराजय का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुई। दक्षिण से कूच करने के समय से युद्ध के समय तक भाऊ को इस विषय में निरन्तर कठिनाई का सामना करना पड़ा। पानीपत में भाऊ को सर्वाधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। मराठा शिविर में दुर्भिक्ष की स्थिति पैदा हो गई और भूखों मरने की अपेक्षा युद्ध में वीरगति प्राप्त करना अधिक अच्छा मानकर भाऊ को अचानक आक्रमण करने का निर्णय लेना पड़ा। इसके विपरीत भारतीय मुसलमान नेताओं की सहायता के कारण अब्दाली की सेना को खाद्य-पदार्थों की कभी कमी नहीं रही। एक इतिहासकार ने लिखा है कि पानीपत के मैदान पर जिस मराठा सेना ने अफगानों का सामना किया था वह अध मरे देसी टट्टूओं पर भूख से पीड़ित कमर झुकाये सैनिकों का झुण्ड था।

6. तोपखाना—मराठों के पास भारी वजन की तोपें थी जिन्हें इधर-उधर घुमाना तथा निशाना बांधना आसान काम न था। युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी इतिहासकार काशीराज ने लिखा है कि उनके गोले अफगान सैनिकों के ऊपर से होते हुए लगभग एक मील की दूरी पर पार्श्व भूमि पर गिरते थे। बारूद की कमी के कारण इन तोपों का समुचित उपयोग भी नहीं हो पाया। आमने-सामने की लड़ाई के अवसर पर यह वजनदार तोपखाना बिल्कुल निरर्थक था। इसके विपरीत अब्दाली का तोपखाना हल्का तथा गतिशील था। उसने हल्की तोपों को ऊँटों पर लदवा दिया और उन पर बैठे 400 तोपचियों ने मराठा सेना की कमर तोड़ दी। अब्दाली के साधारण तोपचियों की बन्दूकें भी मराठों की बन्दूकों से श्रेष्ठ थीं। अफगान सैनिक आग्नेय अस्त्रों के संचालन में मराठों से कहीं अधिक निपुण थे।

7. गम्भीर भूलें पानीपत में मराठों की पराजय के लिए उनके द्वारा समय-समय पर की गई गम्भीर भूलें भी कम उत्तरदायी न थी। कुंजपुरा की तरफ अभियान पर जाते समय भाऊ ने राजधानी दिल्ली की सुरक्षा के लिए किसी महत्व-

पूर्ण सेनानायक को न रख कर गम्भीर भूल की थी। क्योंकि अफगानों ने पीछे से आकर दिल्ली पर नियन्त्रण कर लिया और भाऊ का दक्षिण से सम्पर्क तोड़ दिया। यमुना नदी के घाटों और पुलों की निगरानी के सम्बन्ध में भी भाऊ ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जिससे अफगानों को यमुना पार करने में विशेष प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। भाऊ की योजना अब्दाली की नाकेबन्दी करके उसे भूखों मारना थी परन्तु वह स्वयं ही इस स्थिति में फंस गया। इस पर भी उसने स्थिति का सही मूल्यांकन नहीं किया और व्यर्थ में ही समय नष्ट करता रहा। युद्ध के लिए भी कोई ठोस योजना नहीं बनाई गई।

8. **कूटनीतिक असफलता**—पानीपत में मराठों की पराजय का एक प्रमुख कारण उनकी कूटनीतिक असफलता है। पेशवा बालाजीराव ने अपनी स्वार्थी नीति के द्वारा उत्तरी भारत की लगभग सभी प्रमुख शक्तियों की सहानुभूति को खो दिया। उसके उत्तरी अभियानों का ध्येय बिना किसी भेदभाव के सभी से अधिक से अधिक धन बटोरना था। राजपूत शासकों को आशा थी कि मुगलों से प्रतिरोध लेने में मराठा उनकी सहायता करेंगे। परन्तु मराठों ने उन पर मुगलों से भी अधिक जुल्म ढाये। परिणाम यह निकला कि वे मराठों के शत्रु बन गये और पानीपत के अवसर पर उन्होंने मराठों को किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया। सूरजमल जाट ने शुरू में मराठों का साथ दिया था परन्तु मराठे उसे भी सन्तुष्ट न रख पाये और वह युद्ध के पूर्व ही मराठा शिविर छोड़ कर चला आया। अवध के शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में लाने के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाया गया। इसके विपरीत अब्दाली को नजीबखां जैसे व्यक्ति की सेवाएँ उपलब्ध हो गई थी जिसने बुद्धिमतापूर्ण प्रचार और इस्लाम की रक्षा की अपील के द्वारा उत्तरी भारत के सभी प्रमुख मुसलमानों को अब्दाली के झण्डे के नीचे एकत्र करने में सफलता प्राप्त की। मराठों की पराजय का मूल कारण वस्तुतः भारतीय मुसलमानों को अब्दाली से मिलने से न रोक पाना और हिन्दू शक्तियों का सहयोग प्राप्त न कर पाना था।

अन्तिम कारण सदाशिवराव भाऊ द्वारा अपना संयम खो देना था। पेशवा के पुत्र विश्वासराव के मरते ही सदाशिवराव अपना मानसिक संतुलन खो बैठा और बिना आगे-पीछा सोचे शत्रु सेना के भीतर घुसता गया और मारा गया। यदि भाऊ व्यक्तिगत भावनाओं पर काबू रख कर सेनापति के उत्तरदायित्व को निभा पाया होता तो मराठों को इतना विनाश नहीं देखना पड़ता।

बालाजीराव का मूल्यांकन—पेशवा बालाजी बाजीराव (नाना साहब) के शासन-काल में मराठा साम्राज्य प्रसार, आन्तरिक व्यवस्था और भौतिक समृद्धि की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया था। बाजीराव को राजस्व व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था में सुधार करने का समय न मिल पाया और न ही इस प्रकार के कार्यों में उसकी रुचि थी। परन्तु नाना साहब ने इस तरफ ध्यान दिया।

ग्रान्ट डफ ने लिखा है कि माल गुजारी वसूल करने के विषय में पेशवा ने सदाशिवराव भाऊ के सुझाव पर बलोवा मन्दवागुनी नामक योग्य व्यक्ति को सर-सूबेदार नियुक्त करके राजस्व सम्बन्धी आलेखों को सुव्यवस्थित कराया। न्याय विभाग का संचालन बालकृष्ण गाडगिल शास्त्री को सौंपा गया जिसने देश में न्याय एवं आन्तरिक सुरक्षा का संतोषजनक प्रबन्ध किया। उसके शासन-काल में स्थानीय पंचायतों की दशा में भी विशेष प्रगति हुई।

अपने पिता के विपरीत बालाजीराव में एक भयंकर दोष यह था कि वह एक योग्य सेनानायक नहीं था। अतः उसे दूसरों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था। उसकी इस कमजोरी का लाभ उठाकर सिन्धिया और होल्कर जैसे मराठा सरदार स्वतन्त्र शासकों की भांति व्यवहार करने लगे। इसलिए पेशवा ने अपने सजातीय लोगों—त्र्यम्बकराव पैंठे, गोपालराव पटवर्धन, विसाजी कृष्ण विनिवाले, बलवन्तराव महेन्डले आदि को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करके उनके द्वारा अपना कार्य संचालन करने का विचार किया। परन्तु पेशवा मराठा सरदारों को पूर्ण नियन्त्रण में लाने में सफल नहीं हो पाया। पेशवा की इस कमी को उसके चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ ने काफी सीमा तक कम कर दिया। वह एक पराक्रमी एवं साहसी सेनानायक था।

नाना साहब में राजनैतिक षड्यन्त्रों एवं कुचक्रों की पर्याप्त प्रतिभा थी और इसमें उसका मन भी लगता था। समय के साथ-साथ नाना साहब दूसरे लोगों पर अधिक भरोसा करके आलसी एवं विलासी होता गया। वह अपने अन्तिम समय तक दिल्ली की राजनीति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाया। अपने पिता के विपरीत उसने दक्षिण भारत के मामलों में विशेष रुचि ली। वह यह नहीं समझ सका कि उत्तर की अवज्ञा करने से सम्पूर्ण राष्ट्र की भयंकर क्षति हो रही है। नाना साहब ने आंग्रे बन्धुओं की शक्ति को कुचलने के लिए अंग्रेजों से सहायता ली और इसके बदले में उन्हें "बनकोट" तथा उसके पास के 10 गाँवों की जागीर भी दी। इस अवसर पर पेशवा यह नहीं समझ पाया कि उसकी यह स्वार्थपूर्ण कूटनीति एक दिन महाराष्ट्र की भावी स्वतन्त्रता को कितना बड़ा आघात पहुँचायेगी।

बालाजीराव को एक अन्य बात के लिए भी दोषी माना जाता है। उसने मराठा सेना को अराष्ट्रीय बना दिया। अब वह भड़ैतों की सेना बन गई और उसका मुख्य आकर्षण लूटमार तक ही सीमित रह गया। पेशवा ने अपने अधिकारियों तथा सैनिकों को सैनिक अभियानों के समय अपनी पत्नियों तथा परिवारों को भी साथ ले जाने की अनुमति प्रदान करके मराठा सेना की गतिशीलता को कमजोर बना दिया। ग्रान्ट डफ ने नाना साहब के बारे में लिखा है—"बालाजी बाजीराव उन राजकुमारों में था जिन्हें सौभाग्यवश, पूर्ववर्ती कारणों से राष्ट्रीय उत्कर्ष के परिणामस्वरूप; अपने देशवासियों में अपनी योग्यता से कहीं अधिक ख्याति मिली

है"। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बिल्कुल अयोग्य था। उसमें पर्याप्त राजनैतिक सूझ-बूझ थी। उसका आचरण एवं व्यवहार बहुत ही अच्छा तथा शिष्ट था। उसका व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था। वह उदार तथा दानशील था और अपने लोगों के हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसमें कमी यही थी कि वह एक योग्य सेना नायक नहीं था और राजनैतिक उथल-पुथल को समझ नहीं पाया।

पेशवा माधवराव (1761–1772)

पानीपत की घोर पराजय के कुछ मास बाद ही पेशवा बालाजीराव स्वर्ग सिधार गया और उसका 17 वर्षीय पुत्र माधवराव नया पेशवा बना। मराठों के शत्रुओं ने अनुकूल अवसर देख कर अपने स्वार्थों को पूरा करने की योजना बनाई। हैदराबाद के निजाम अली ने अपने खोये हुए प्रदेशों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया तो मैसूर के हैदरअली ने मराठों के प्रभुत्व को कम करने का। परन्तु युवक पेशवा माधवराव ने उनके इरादों पर पानी फेर दिया। उसने मराठों के प्रभाव एवं गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। कम आयु के उपरान्त भी माधवराव में राजनीतिक सूझ-बूझ थी और वह प्रौढ़ निर्णय लेने में समर्थ था। बाजीराव की भांति वह एक महान् सेनानायक भी था।

परन्तु माधवराव को शुरू में अपने चाचा रघुनाथराव (राघोवा) तथा अन्य स्वार्थी मराठा सरदारों से काफी परेशानी उठानी पड़ी। राघोवा सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ही रखने का आकांक्षी था और अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए उसने राष्ट्रीय हितों की भी चिन्ता न की। हैदराबाद के निजाम अली ने अवसर देख कर महाराष्ट्र पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ में उसे पर्याप्त सफलता मिली परन्तु अन्त में उसे विवश होकर मराठों से सन्धि याचना करनी पड़ी। परन्तु राघोवा ने भविष्य में निजाम का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से उसके साथ बहुत ही उदार शर्तों पर सन्धि करली। पेशवा माधवराव को उसका कार्य पसन्द न आया। अतः राघोवा के पूना लौटते ही माधवराव ने राज-काज में पूरा हिस्सा दिये जाने की मांग की। राघोवा तथा उसके समर्थकों ने यह सोच कर कि उनके बिना शासन नहीं चलाया जा सकेगा; त्याग पत्र दे दिये। माधवराव ने उनके स्थान पर नई नियुक्तियाँ कर दी। इससे राघोवा और अधिक असंतुष्ट हो गया और अपनी पत्नी आनन्दीबाई के उकसाने पर उसने जानोजी भोंसले, निजाम अली तथा अन्य असन्तुष्ट मराठा सरदारों के साथ मिलकर माधवराव के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में परास्त होने पर माधवराव ने चाचा के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। राघोवा ने उसे नजरबन्द कर दिया और शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली। इसके बाद उसने सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर अपने अनुयायियों को नियुक्त किया।

मराठों की आपसी लड़ाई ने निजाम अली को पुनः आक्रमण की प्रेरणा दी। इस बार बहुत से मराठा सरदारों ने भी उसका साथ दिया। राक्षस भुवन

नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। युद्ध के पूर्व राघोवा ने जानोजी भोंसले को बड़े प्रदेशों का प्रलोभन देकर अपनी तरफ मोड़ लिया। जानोजी ने दूसरे मराठा सरदारों को निजाम से पृथक करवा दिया। राक्षस-भुवन के इस युद्ध में पेशवा माधवराव ने अपूर्व पराक्रम एवं नेतृत्व का परिचय दिया। निजाम परास्त होकर लौट गया। सभी मराठे सरदार माधवराव की योग्यता के कायल हो गये। राघोवा में अब उसे नजरबन्द बनाने की हिम्मत न हुई। माधवराव ने पुनः अपने समर्थकों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया।

उत्तर भारत में जिन दिनों पानीपत का युद्ध लड़ा जा रहा था, दक्षिण के हिन्दू राज्य मैसूर में हैदरअली का उत्कर्ष हो रहा था और उसने छल-कपट से हिन्दू शासक की समस्त सत्ता को हथिया लिया था। अब उसने मराठा प्रदेशों पर धावे मारने शुरू कर दिये और मैसूर की सीमा को कृष्णा नदी तक फैला दिया। माधवराव ने एक विशाल सेना के साथ हैदरअली पर आक्रमण किया और उसे परास्त किया। परन्तु उसके साथ सन्धि करने का अधिकार राघोवा को सौंप दिया। राघोवा ने इस बार भी राष्ट्रीय हितों के साथ विश्वासघात किया और हैदरअली के साथ उदार शर्तों पर सन्धि कर ली। इस बार भी उसका ध्येय अपने भतीजे के विरुद्ध एक मित्र की तलाश थी। माधवराव को शर्तें पसन्द न आई परन्तु चाचा का मान रखने के लिए उसने सन्धि को मान्यता दे दी।

जानोजी भोंसले ने जिस कुचक्र से विस्तृत प्रदेश प्राप्त कर लिये थे, उसे माधवराव हृदय से न भुला पाया था। इसी समय जानोजी ने राघोवा की पत्नी आनन्दीबाई के साथ मिलकर माधवराव को सत्ता से हटाने के लिए गुप्त पत्राचार शुरू किया। माधवराव को इसकी जानकारी मिल गई और उसने निजामअली के साथ मिलकर जानोजी पर आक्रमण करके उसे परास्त किया तथा धोखेबाजी से प्राप्त किये गये प्रदेशों को वापिस लौटाने तथा राघोवा का साथ छोड़ने के लिए विवश किया। इसके बाद पेशवा ने हैदरअली पर आक्रमण करके उसे परास्त किया और उससे 35 लाख रुपये तथा भूतपूर्व मराठा इलाके वापस लिये।

दक्षिण में पेशवा शानदार सफलताएँ प्राप्त कर रहा था परन्तु उत्तर भारत में राघोवा को विशेष सफलता न मिली। 18 महीनों के निष्फल एवं खर्चीले अभियान के बाद जून 1767 ई० में वह वापस पूना लौट आया और माधवराव से राज्य के बंटवारे की मांग की जिसे उसने ठुकरा दी। इस पर राघोवा ने पुनः जानोजी भोंसले से गुप्त पत्राचार शुरू किया। जानकारी मिलते ही माधवराव ने राघोवा को बन्दी बना लिया। इसी समय हैदरअली ने मराठा राज्य पर आक्रमण किया। माधवराव ने उसे परास्त करके खदेड़ दिया।

दक्षिण में अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को पराभूत करने के बाद पेशवा माधवराव ने उत्तर की तरफ ध्यान दिया। बाजीराव के बाद से ही उत्तर भारत के मामलों

का दायित्व सिन्धिया तथा होल्कर निभाते आ रहे थे। माधवराव ने विसाजी कृष्ण विनिवाले के नेतृत्व में एक विशाल सेना उत्तरी भारत में मराठों की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिए भेजी। तुकोजी होल्कर और माधवजी (महादजी) सिन्धिया को भी साथ भेजा गया। इस सेना ने राजपूत शासकों से 10 लाख रुपया वसूल करके जाट राज्य पर आक्रमण किया और जाटों को परास्त करके उनसे 65 लाख रुपये वसूल किये। इसके वाद मराठा अपने शत्रुओं अफगानों, पठानों और रोहिल्लों से प्रतिशोध लेने के लिए आगे वढ़े। इस समय मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय नजीवखां के भय से अंग्रेजों के संरक्षण में इलाहावाद के समीप ही निवास कर रहा था। नजीवखां सम्राट के नाम पर दिल्ली में शासन चला रहा था। मराठों ने दिल्ली पर धावा मारा और नजीवखां ने गिड़गिड़ा कर सन्धि की याचना की। इसके वाद मराठों ने गंगा-यमुना के दोआव में प्रवेश किया और रोहिल्लों से अपना पुराना हिसाव चुकाया। आतंकित रोहिल्ले गंगा के उस पार भाग गये और सम्पूर्ण दोआव पर मराठों का अधिकार कायम हो गया। इसके वाद, मराठों ने मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय को अंग्रेजों का संरक्षण छोड़कर मराठों की शरण में आने को कहा। मुगल सम्राट ने उनकी वात को मान लिया और 1771 ई० में वह मराठों की सेना के साथ राजधानी दिल्ली लौट आया। उसने मराठों को कड़ा और इलाहावाद के जिले प्रदान किये। इस वीच मराठों ने रोहिल्लों से जी भर कर प्रतिशोध लिया परन्तु अन्त में नजीवखां के पुत्र जविताखां को रुहेल खण्ड वेच दिया। मराठों की कार्यवाही से सम्राट शाह आलम द्वितीय काफी असंतुष्ट हो गया और उसने नजीवखां को आदेश दिया कि वह मराठों को दिल्ली से निकाल दे। मराठों को सम्राट से इस प्रकार की कार्यवाही की आशा न थी। अतः विसाजी विनिवाले ने दिल्ली से मराठा सैनिकों को हटा लिया और भावी कार्यवाही के सम्बन्ध में पूना से आदेश मांगे। इसी वीच नवम्वर, 1772 ई० में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई।

मूल्यांकन—पेशवा माधवराव का मराठा इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। शिवाजी के वाद उसे सर्वाधिक योग्य एवं लोकप्रिय नेता माना जाता है। उसमें सैनिक प्रतिभा तथा शासकीय योग्यता का सुन्दर समन्वय था। पानीपत की घोर पराजय के वाद उसने मराठों की लड़खड़ाती नाव की पतवार संभाली और आन्तरिक तथा वाह्य संकटों का सामना करते हुए महाराष्ट्र को न केवल सुरक्षा ही प्रदान की अपितु खोई प्रतिष्ठा को पुनः लौटाने में भी कामयाव रहा। उसने शासन-व्यवस्था में घुस आई वुराइयों को दूर करके भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करने का अथक प्रयास किया। उसने गुप्तचर व्यवस्था को सक्रिय एवं समर्थ वनाया। सेना को पुनर्गठित किया गया तथा महाराष्ट्र के शत्रुओं का परास्त किया गया। रुहेलों और पठानों को वुरी तरह से पराजित किया गया और मुगल सम्राट को अंग्रेजों की

शरण से निकाल कर दिल्ली लाया गया। राजपूत शासकों तथा जाटों को पुनः मराठा प्रभुसत्ता के अधीन लाया गया। निजाम तथा हैदरअली को परास्त करके दक्षिण भारत में मराठों की सर्वोच्चता को कायम किया गया। संक्षेप में, पानीपत के मैदान में जो कुछ खोया था उसे माधवराव ने फिर से हासिल कर लिया। इसीलिए बहुत से विद्वानों का मानना है कि पेशवा माधवराव की आकस्मिक मृत्यु महाराष्ट्र के लिए पानीपत से भी अधिक प्राण घातक चोट थी।

अध्याय 3

आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्द्धा एवं फ्रांसीसी सत्ता का अन्त

18 वीं शताब्दी में, भारत में पुर्तगाली और डचों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अतः अंग्रेजों के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसीसी रह गये थे। जब तक मुगल सम्राट शक्तिशाली रहा, दोनों आपस में लड़ने का साहस नहीं कर सके। किन्तु ज्योंही मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हुआ, दोनों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा जागृत हो उठी। फ्रांसीसियों ने भारत की राजनीति में दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया था और वह भारत में फ्रांसीसी उपनिवेश स्थापित करने को उत्सुक हो उठे। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस नीति को पहले ही स्वीकार कर चुकी थी। ऐसी स्थिति में दोनों विदेशी जातियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक के लिये ही भारत में स्थान हो सकता था। इस प्रतिद्वन्द्विता में दोनों जातियों के बीच सशस्त्र संघर्ष हुए। जिस क्षेत्र में संघर्ष हुए उसे कर्नाटक कहा जाता था, जो दक्षिण भारत के पूर्वी घाटों और बंगाल की खाड़ी के समुद्र तट के बीच लम्बाई में फैला हुआ छोटा सा राज्य था, जिसकी राजधानी अर्काट थी। 1744 से 1763 के दौरान दोनों के बीच तीन युद्ध हुए, जिन्हें कर्नाटक के युद्ध कहा जाता है। तीसरे युद्ध के अन्त तक फ्रांसीसियों की शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि अंग्रेजों के लिये भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने हेतु मैदान साफ हो गया। तीसरे युद्ध के बाद फ्रांसीसियों ने भारतीय नरेशों की सहायता करके अंग्रेजों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया। किन्तु फ्रांसीसियों का यह प्रयत्न भी विफल रहा।

अंग्रेज और फ्रांसीसियों के सम्बन्ध—18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के सम्बन्ध बहुत अच्छे थे। यद्यपि स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न पर यूरोप में इंगलैण्ड और फ्रान्स के बीच संघर्ष हुआ था, किन्तु भारत में दोनों कम्पनियों ने कोई झगड़ा नहीं किया। भारत में दोनों कम्पनियां व्यापार करने तथा

धन कमाने आयी थी। चूंकि युद्ध, व्यापार करने और धन कमाने में बाधक होता था, अतः युद्ध की अपेक्षा दोनों में मित्रता अधिक लाभदायक थी। उस समय दोनों की स्थिति भी दृढ़ नहीं थी और दोनों को मुगल सम्राट से भी भय था कि झगड़ा करने पर कहीं मुगल सम्राट दोनों को देश से बाहर न निकाल दे। अतः 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दोनों के सम्बन्ध बहुत अच्छे थे।

किन्तु दोनों के अच्छे सम्बन्ध लम्बे समय तक नहीं रह सके। दोनों का उद्देश्य भारत के व्यापार से लाभ प्राप्त करना था। अतः दोनों की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता स्वाभाविक थी। इधर 1746 के आसपास कर्नाटक में अव्यवस्था फैली हुई थी, अतः दोनों ही कम्पनियां इस अव्यवस्था का लाभ उठाना चाहती थी। फलस्वरूप दोनों की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता की परिणिति राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता के रूप में हुई। जब अलेक्जेण्डर ड्यूमा फ्रांसीसी कम्पनी का गवर्नर बना तो यह प्रतिद्वन्द्विता और भी अधिक तीव्र हो गयी। ड्यूमा समुद्र तट पर एक सुदृढ़ आधार चाहता था ताकि कठिनाई के अवसर पर उसे फ्रान्स से आर्थिक अथवा सैनिक सहायता प्राप्त हो सके। इसलिये उसने अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने पांडिचेरी को खूब सजाया तथा कर्नाटक के नवाब दोस्तअली और हैदराबाद के निजाम आसफजा को आमंत्रित किया। नवाब और निजाम दोनों पांडिचेरी गये और ड्यूमा के साथ छः महीने तक रहे। ड्यूमा ने उनका भव्य स्वागत किया तथा उन्हें खूब भेंटें दी। निजाम, ड्यूमा के आदर सत्कार से बहुत प्रसन्न हुआ। अतः निजाम ने ड्यूमा को नवाब की उपाधि तथा कृष्णा नदी के दक्षिण की भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार ड्यूमा जो चाहता था, वह उसे मिल गया। ड्यूमा ने वहां सेना रखना और शासन करना आरम्भ कर दिया। अब तंजोर और मैसूर के शासक भी कानूनी तौर पर उसके अधीन हो गये। 1739 में ड्यूमा ने तंजोर के शासक को सैनिक सहायता दी, जिसके बदले में उसे कारीकल प्राप्त हुआ। इसी प्रकार जब दोस्तअली मराठों के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ मारा गया तब ड्यूमा ने दोस्तअली के पुत्र सफदरअली को सहायता दी, जिसके बदले में उसे भूमि एवं जेवरात प्राप्त हुए। इस प्रकार दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ने लगा। इस समय यद्यपि अंग्रेज शान्त थे, तथापि वे फ्रांसीसियों की गतिविधियों पर बड़ी सतर्क दृष्टि लगाये हुए थे। 1742 में डूप्ले फ्रांसीसी कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत आया। वह ड्यूमा से भी अधिक महत्वाकांक्षी था। डूप्ले प्रथम फ्रांसीसी गवर्नर था, जिसने भारत में फ्रांसीसी राज्य स्थापित करने का विचार किया। अतः अब अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष अवश्यंभावी हो गया।

उस समय फ्रांसीसियों की अपेक्षा अंग्रेजों की स्थिति अधिक अच्छी थी। पश्चिमी तट पर अंग्रेजों की प्रसिद्ध बस्ती बम्बई थी; जबकि फ्रांसीसियों की वहां

कोई वस्ती नहीं थी। पूर्वी तट पर अंग्रेजों की वस्ती कलकत्ता और मद्रास थी और फ्रांसीसियों की चन्द्रनगर और पांडिचेरी। वम्वई, कलकत्ता और मद्रास की अपेक्षा फ्रांसीसी वस्तियां महत्वहीन थी। अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति भी फ्रांसीसियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ थी। व्यापार में अंग्रेजों का पलड़ा भारी था। फ्रांसीसी अपनी स्थिति से भलीभांति परिचित थे और जानते थे कि वे अंग्रेजों को व्यापार में मात नहीं दे सकते। इसलिये फ्रांसीसी व्यापार को अधिक प्रोत्साहन देने के स्थान पर भारत में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना उचित समझते थे। फ्रांसीसी इस वात को जानते थे कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्हें अंग्रेजों से संघर्ष करना पड़ेगा। अतः भारत में फ्रांसीसी शक्ति को संगठित करने के उद्देश्य से उन्होंने पांडिचेरी की किलावन्दी की। इधर अंग्रेजों की भी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं थी, अतः उन्होंने भी अपनी सैनिक शक्ति वढ़ानी शुरू करदी। फ्रांसीसियों ने भारतीयों को अपनी सेना में भर्ती करके उन्हें फ्रेंच सैनिक पद्धति का प्रशिक्षण दिया। अंग्रेजों ने भी भारतीयों को अपनी सेना में भर्ती करके उन्हें अंग्रेजी सैनिक पद्धति से प्रशिक्षित किया। उस समय भारतीय सैनिकों की कोई राष्ट्रीय आकांक्षा तो थी नहीं, केवल आर्थिक लाभ के लिये वे विदेशी सेना में भर्ती होते थे।

आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष के मूल कारण—उपर्युक्त परिस्थितियों में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के वीच संघर्ष अवश्यंभावी हो गया। दोनों के संघर्ष के मूल कारण निम्नलिखित थे—

1. भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की व्यापारिक स्पर्द्धा के कारण दोनों ही कम्पनियां भारत में विदेशी व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना चाहती थी। यूरोप में भी इन दोनों के वीच व्यापारिक स्पर्द्धा चल रही थी, अतः यूरोपीय झगड़ों का प्रभाव भारत में दोनों कम्पनियों के सम्वन्धों पर भी पड़ा।

2. दोनों ही कम्पनियां एक दूसरे को भारत से निकाल वाहर करना चाहती थी, ताकि वे अपनी राजनीतिक एवं व्यापारिक महत्वाकांक्षा पूरी कर सके। उस समय भारत में फैली राजनीतिक अव्यवस्था का दोनों ही लाभ उठाना चाहते थे।

3. यूरोप में इंगलैंड और फ्रांस एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे। फ्रांस यूरोप में अपना प्रभुत्व स्थापित करने को उद्विग्न था और इंगलैंड शक्ति-संतुलन वनाये रखने के लिये फ्रांसीसी प्रयत्नों का विरोधी था। दोनों राष्ट्रों का आपसी वैर उन्हें हर जगह संघर्ष के लिये मजवूर कर रहा था।

4. इंगलैंड और फ्रान्स दोनों देशों में गहरी औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा भी थी। उत्तरी अमेरीका तथा दक्षिणी अफ्रीका में दोनों ही देशों के उपनिवेश थे। दोनों ही एक दूसरे के उपनिवेशों पर अधिकार करना चाहते थे। अतः उनमें युद्ध छिड़ना अनिवार्य हो गया था।

उपर्युक्त कारणों से अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–1748)

भारत में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने हेतु अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में संघर्ष दक्षिण भारत में कर्नाटक से शुरू हुआ। कर्नाटक मुगल साम्राज्य के दक्षिणी सूबे के अन्तर्गत था। दक्षिणी सूबे का सूबेदार निजाम–उल–मुल्क आसफजां था, जिसने हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर नाम मात्र के लिये मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करली थी। इस प्रकार कर्नाटक का प्रदेश सिद्धान्तः हैदराबाद के शासक निजाम के अधीन था, किन्तु व्यवहार में वह एक स्वतंत्र राज्य था। कर्नाटक प्रदेश में त्रिचनापल्ली का एक छोटा हिन्दू राज्य था। वहां के राजा की मृत्यु होने पर कर्नाटक के नवाब दोस्तअली के दामाद चांदा साहब ने त्रिचनापल्ली पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। दोस्तअली फ्रांसीसियों की सहायता से कर्नाटक का नवाब बना था, अतः फ्रांसीसियों से उसकी मित्रता थी। कर्नाटक की उन्नत आर्थिक स्थिति देखकर 1740 में मराठों ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में दोस्तअली मारा गया तथा उसका पुत्र सफदरअली कर्नाटक का नवाब बना, जिसने मराठों को धन देकर सन्धि करली। 1741 में मराठों ने त्रिचनापल्ली पर आक्रमण किया तथा चान्दा साहब को बन्दी बनाकर सहारा ले आये, जहां उसे कारावास में बन्द कर दिया। इधर कर्नाटक में सफदरअली के चचेरे भाई मुर्तजाअली ने 1742 में सफदरअली की हत्या करवादी और स्वयं नवाब बन गया, किन्तु जनता के विद्रोह कर देने के कारण वह वहां से भाग निकला। अतः सफदरअली का अल्पवयस्क पुत्र मुहम्मदअली कर्नाटक का नवाब बना। कर्नाटक में आन्तरिक अव्यवस्था देखकर निजाम ने भी हस्तक्षेप किया तथा अनवरुद्दीन नामक व्यक्ति को मुहम्मदअली का संरक्षक नियुक्त कर दिया। कुछ समय बाद अनवरुद्दीन ने अल्पवयस्क नवाब की हत्या कर स्वयं कर्नाटक का नवाब बन गया। इन्हीं आन्तरिक झगड़ों के समय अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के मध्य प्रथम कर्नाटक का युद्ध आरम्भ हो गया।

कर्नाटक के प्रथम युद्ध का भारतीय राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह यूरोप में इंगलैंड और फ्रान्स के आपसी संघर्ष का परिणाम था। 1740 में आस्ट्रिया की महारानी मेरिया थेरीसा के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर इंगलैंड और फ्रान्स के मध्य युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। यद्यपि भारत में दोनों कम्पनियों ने युद्ध रोकने का प्रयास किया, किन्तु यह सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि इंगलैंड और फ्रान्स सम्पूर्ण विश्व में एक दूसरे से युद्ध में उलझ गये थे। जैसाकि वाल्टेयर ने लिखा था कि, "हमारे देश में पहली तोप से निकली हुई आग ने सम्पूर्ण अमेरीका और एशिया की तोपों को आग लगादी।"

जिस समय यूरोप में इंगलैंड और फ्रान्स के बीच युद्ध आरम्भ हुआ तब भारत में भी अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के मध्य युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गयी।

फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले अपनी सैनिक शक्ति की निर्बलता समझता था। अत डूप्ले ने मद्रास के अंग्रेज गवर्नर को लिखा कि वह अंग्रेजों से मित्रता के पक्ष में है तथा शान्ति बनाये रखना चाहता है। अंग्रेज गवर्नर ने डूप्ले के प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रगट की। दोनों कम्पनियों ने अपनी अपनी गृह सरकारों को लिखा कि वे भारत में शान्ति बनाये रखना चाहते हैं। फ्रांसीसी सरकार ने डूप्ले के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, किन्तु इंगलैंड की सरकार ने अपनी कम्पनी की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और तुरन्त ही कमाण्डर बारनेट के नेतृत्व में एक जहाजी बेड़ा फ्रांसीसी व्यापार पर आक्रमण करने भेज दिया। ब्रिटिश जहाजी बेड़े ने कुछ फ्रांसीसी जहाजों को डुबो दिया जिसमें एक जहाज डूप्ले का भी था। इससे डूप्ले क्रुद्ध हो उठा और उसने मारीशस द्वीप के फ्रांसीसी गवर्नर व जहाजी बेड़े के सेनापति लॉ-बॉडिनो (La-Bourdonnais) से सहायता मांगी। अब अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनियां एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ी। इस समय तक ब्रिटिश जहाजी बेड़ा पांडिचेरी के निकट पहुंच चुका था, किन्तु इसी समय कमाण्डर बारनेट की मृत्यु हो गयी। अतः उसके स्थान पर कर्नल पेटन की नियुक्ति की गई। 1746 में लॉ-बॉडिनो ने पेटन से समुद्र पर युद्ध करके पेटन को हुगली की ओर जाने के लिये बाध्य कर दिया। तत्पश्चात डूप्ले के कहने पर लॉ-बॉडिनो ने मद्रास पर आक्रमण कर दिया। मद्रास में ब्रिटिश गवर्नर निकोलस मोर्स (Nicholas Mores) ने बड़ी बहादुरी से फ्रांसीसी सेनाओं का मुकाबला किया, किन्तु अन्त में उसे फ्रांसीसी सेना के समक्ष आत्म समर्पण करना पड़ा।

मद्रास पर फ्रांसीसियों का अधिकार होने पर डूप्ले और लॉ-बॉडिनो में मतभेद उत्पन्न हो गये। लॉ-बॉडिनो अंग्रेज गवर्नर से तीन लाख रुपये फ्रांसीसी कम्पनी के लिये तथा एक लाख रुपये अपने लिये लेकर मद्रास पुनः अंग्रेजों को लौटा देना चाहता था। किन्तु डूप्ले मद्रास लौटाने के पक्ष में नहीं था। डूप्ले चाहता था कि मद्रास को आधार बनाकर सेंट डेविड के किले पर आक्रमण किया जाय और वहां से एक जहाज़ी बेड़ा बंगाल भेजा जाय, ताकि अंग्रेजों को भारत से भगाया जा सके और भारत पर फ्रांसीसी प्रभुत्व स्थापित किया जा सके। लॉ-बॉडिनो ने डूप्ले की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मद्रास के अंग्रेज गवर्नर से इस सम्बन्ध में समझौता कर लिया तथा उससे 60 हजार रुपये अग्रिम ले लिये। डूप्ले ने लॉ-बॉडिनो को समझाया, धमकाया, किन्तु लॉ-बॉडिनो डूप्ले की इच्छा के समक्ष झुकने को तैयार नहीं हुआ। एक दिन लॉ-बॉडिनो ने एक जहाज को मद्रास आते देखा। उसने समझा कि वह कोई अंग्रेजी बेड़ा है, जो मद्रास पर अधिकार करने आ रहा है। अतः वह तुरन्त मद्रास छोड़कर वापिस मारीशस चला गया ताकि वह अपने 60 हजार रुपयों से हाथ न धो बैठे। वह जहाज ब्रिटिश जहाज न होकर स्वयं डूप्ले का ही जहाज था। लॉ-बाडिनो के जाने के बाद डूप्ले ने सन्धि को भंग

कर दिया तथा मद्रास पर आक्रमण कर अनेकों अंग्रेजों को वन्दी वना लिया।

डूप्ले ने मद्रास पर अधिकार करके वहां बेहद लूटमार की। इस पर अंग्रेजों ने कर्नाटक के नवाव से सहायता मांगी। कर्नाटक के नवाब ने डूप्ले को मद्रास छोड़ने का आदेश दे दिया। किन्तु डूप्ले ने नवाव को लिखा कि वह तो नवाब के लिये ही मद्रास को जीत रहा है। इस पर नवाव शान्त हो गया, किन्तु वाद में जव उसने मद्रास पर फ्रांसीसी झण्डे को देखा तथा उसे मालूम हुआ कि डूप्ले ने लूट के धन को अपने लिये रख लिया है। अतः नवाव ने अपने पुत्र महफ़ुजखां के नेतृत्व में 10 हजार घुड़सवार सेना फ्रांसीसियों पर आक्रमण करने भेज दी। फ्रांसीसी सेनापति पारादिस ने अपनी थोड़ी सी सेना से 1746 में मद्रास के समीप आडियार नामक स्थान पर नवाव की सेना को पराजित किया। यह युद्ध सेण्ट थोमी का युद्ध कहलाता है। इस युद्ध के वाद नवाव ने मद्रास पर अधिकार करने की आशा छोड़ दी।

इस विजय से डूप्ले का उत्साह वढ़ गया। अतः वह अव केवल मद्रास विजय से सन्तुष्ट होने वाला नहीं था। वह भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। डूप्ले ने अंग्रेजों के सेण्ट डेविड के किले पर आक्रमण कर दिया, जो मद्रास से केवल 12 मील दूर था। अठारह माह के निरन्तर प्रयास के वावजूद डूप्ले को कोई सफलता नहीं मिली। इधर 6 अगस्त, 1748 को अंग्रेजों के नौसैनिक वेड़े ने पांडिचेरी को घेर लिया, किन्तु अंग्रेज पांडिचेरी को विजय न कर सके। फलतः अंग्रेजों को घेरा उठा लेना पड़ा। अव अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों पुनः युद्ध की तैयारी करने लगे। किन्तु 1748 में यूरोप में एक्स-ला-शैपल की सन्धि द्वारा आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया। फलस्वरूप भारत में भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच युद्ध समाप्त हो गया। एक्स-ला-शैपल की सन्धि के अनुसार फ्रांसीसियों ने मद्रास अंग्रेजों को वापिस लौटा दिया, यद्यपि डूप्ले मद्रास लौटाने के पक्ष में नहीं था। इसके वदले में फ्रांसीसियों को अमेरीका में लुइसवर्ग प्राप्त हुआ। इस प्रकार एक्स-ला-शैपल की सन्धि के साथ ही आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष का प्रथम दौर समाप्त हुआ।

युद्ध का महत्व और परिणाम—कर्नाटक का प्रथम युद्ध भारतीय राजनीति से सम्वन्धित नहीं था। इस युद्ध में न किसी की विजय हुई और न पराजय। भारत की राजनीतिक स्थिति में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न दोनों कम्पनियों के अधिकारों अथवा सीमाओं में परिवर्तन हुआ। फिर भी इसके परिणाम अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इस युद्ध के महत्वपूर्ण परिणामों का उल्लेख करते हुए डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "एक्स-ला-शैपल की सन्धि के साथ ही हम भारतीय इतिहास के एक नये काल में प्रवेश करते हैं। एक ऐसे काल में जिसमें कि भारत में वसने वाले यूरोप के लोग शान्त व्यापारियों का जामा उतारकर प्रवल राजनीतिक शक्तियां वन गये। इस संक्रमण काल में डूप्ले और क्लाइव दो व्यक्तियों के नाम

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन्होंने कर्नाटक की डांवाडोल स्थिति का अनुभव किया और अपनी अपनी योजनाओं की सफलता के लिये इसका उपयोग किया। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध से भारतीयों के मन में यूरोप वालों की सैनिक शक्ति की और निपुणता की धाक जम गई। अब कर्नाटक के छोटे छोटे रजवाड़े अपने आपसी झगड़ों के लिये उनकी सहायता पाने के लिये व्यग्र हो उठे। इससे अंग्रेजों और फ्रांसीसियों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अच्छा अवसर मिल गया। वे अब उसी का पक्ष लेने लगे, जो उन्हें अधिक से अधिक देने को तैयार होता। इस प्रकार राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये आन्तरिक झगड़ों में भाग लेने की नीति प्रारम्भ हुई। यद्यपि यह नीति अंग्रेजों या फ्रांसीसियों की कोई नई सूझ नहीं थी। पुर्तगाली गवर्नर अल्वुकर्क इसका प्रयोग कर चुका था। किन्तु डूप्ले व क्लाइव के हाथों यह नीति फलवती हुई।"

वस्तुतः इस युद्ध के वाद दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों की धाक जम गई। भारतीय सैनिक व्यवस्था का खोखलापन स्पष्ट हो गया। कर्नाटक के नवाव अनवरुद्दीन ने इस युद्ध को रोकने का प्रयास किया था। किन्तु जब फ्रांसीसी नहीं माने तो नवाव ने उनके विरुद्ध एक सेना भेजी, पर फ्रांसीसियों ने अपनी थोड़ी सी सेना से नवाव की सेना को पराजित कर दिया। इससे यह सिद्ध हो गया कि यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित छोटी सेनाएं भी भारतीय नरेशों की वड़ी सेनाओं से अधिक शक्तिशाली है। नवाव अनवरुद्दीन ने समझ लिया कि फ्रांसीसियों से छेड़छाड़ उचित नहीं है। इस युद्ध के वाद भारत में अपना राजनीतिक प्रभुत्व एवं साम्राज्य स्थापित करने के फ्रांसीसी मन्सूवे पहले से अधिक पक्के हो गये। इससे नौसेना का महत्व भी स्पष्ट हो गया। डॉडवेल ने लिखा है कि, "विदेशी व्यापारी अधीन प्रजा की स्थिति से उछलकर वे प्रायः नरेशों की समता की स्थिति में पहुंच गये।"

कर्नाटक का द्वितीय युद्ध (1749–1754)

एक्स-ला-शैपल की सन्धि के वाद यह आशा की जाती थी कि भारत में अब अंग्रेज और फ्रांसीसी व्यापारी शान्ति से रहेंगे। किन्तु भारत में दोनों कम्पनियां अधिक समय तक शान्त नहीं रह सकी। प्रथम कर्नाटक का युद्ध समाप्त ही हुआ था कि दोनों कम्पनियां पुनः युद्ध के लिये तत्पर हो उठी। डूप्ले अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी था तथा कर्नाटक के प्रथम युद्ध की सफलता से उसका उत्साह वढ़ गया था। भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य की स्थापना के लिये उसने अब भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। अतः इस वार युद्ध का कारण अंग्रेजों व फ्रांसीसियों का भारतीय शासकों की राजनीति में हस्तक्षेप करके प्रभाव वढ़ाने का प्रयत्न था। इस समय कर्नाटक, हैदरावाद और तंजोर तीनों राज्यों में उत्तराधिकार के लिये संघर्ष चल रहा था। तंजोर में प्रतापसिंह ने शाहजी को गद्दी से हटाकर स्वयं गद्दी हथिया ली थी। अतः 1748 में तंजोर की गद्दी के लिये शाहजी और प्रतापसिंह के वीच

संघर्ष चल रहा था। अंग्रेजों ने शाहजी को सहायता देने का वचन दिया तथा इसके बदले में शाहजी ने अंग्रेजों को सम्पूर्ण युद्ध का खर्चा और देवीकोटाई नामक नगर देने का वादा किया। अंग्रेजों ने तंजोर पर आक्रमण करके देवीकोटाई पर अधिकार कर लिया। अतः प्रतापसिंह ने अंग्रेजों से सन्धि करली, जिसके अनुसार अंग्रेजों को देवीकोटाई तथा उसके निकट का भूभाग, जिसकी आर्थिक आय 36 हजार रुपये थी, दे दिया। इस सन्धि से अंग्रेजों का लक्ष्य पूरा हो गया, अतः उन्होंने शाहजी के हितों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। शाहजी को केवल 4,000 रुपये वार्षिक पेन्शन देकर मद्रास में रहने की अनुमति दे दी गई।

अंग्रेजों की इस नीति का अनुसरण करने का अवसर फ्रांसीसियों को भी शीघ्र मिल गया। 21 मई, 1748 को हैदराबाद के निजाम आसफजाँ की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र नासिरजंग हैदराबाद का निजाम बना। किन्तु आसफजाँ के दोहित्र मुजफ्फरजंग ने हैदराबाद की गद्दी का दावा इस आधार पर किया कि मुगल सम्राट ने उसे ही दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया था। फलस्वरूप नासिरजंग और मुजफ्फरजंग में तलवारें खनक गईं। इधर कर्नाटक में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। जैसा कि बताया जा चुका है, अनवरुद्दीन ने अल्पवयस्क नवाब की हत्या कर कर्नाटक का नवाब बन गया था। किन्तु भूतपूर्व नवाब दोस्तअली का दामाद चांदा साहब कर्नाटक की गद्दी प्राप्त करना चाहता था, क्योंकि वह दोस्तअली का सबसे निकट सम्बन्धी था, जो जीवित बचा था। किन्तु चांदा साहब इस समय मराठों की कैद में था।

जब मुजफ्फरजंग और नासिरजंग में संघर्ष चल रहा था, तब मुजफ्फरजंग, चांदा साहब से सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से सतारा गया। मुजफ्फरजंग और चांदा साहब में एक दूसरे को सहायता करने का समझौता हो गया। तत्पश्चात दोनों ने फ्रांसीसियों से सहायता मांगी। डूप्ले तो कर्नाटक व हैदराबाद की स्थिति से लाभ उठाने को तैयार बैठा था। अतः डूप्ले ने चांदा साहब को मराठों की कैद से मुक्त करवाने में सहायता दी और तत्पश्चात चांदा साहब, डूप्ले व मुजफ्फरजंग की सम्मिलित सेनाओं ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। अगस्त 1749 में कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन अम्बर के युद्ध में परास्त हुआ। अनवरुद्दीन की हत्या करदी गई तथा उसके पुत्र मुहम्मदअली ने भाग कर त्रिचनापल्ली में शरण ली। सम्पूर्ण कर्नाटक पर चांदा साहब का अधिकार हो गया। चांदा साहब ने इस सहायता के बदले में फ्रांसीसियों को पांडिचेरी के पास 80 गांव भेंट में दिये। इधर फ्रांसीसियों की सहायता से मुजफ्फरजंग हैदराबाद का निजाम बना और उसने भी फ्रांसीसियों को काफी भूमि भेंट में दी।

डूप्ले की सफलता अंग्रेजों के लिये असह्य थी। कर्नाटक व हैदराबाद में फ्रांसीसियों का बढ़ता हुआ प्रभाव अंग्रेजों के लिये गंभीर चुनौती थी। अतः अंग्रेजों

ने इस घटना चक्र में हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। अनवरुद्दीन का पुत्र मुहम्मदअली भाग कर त्रिचनापल्ली में अंग्रेजों की शरण में आया था। अंग्रेजों ने दक्षिण में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये कर्नाटक की गद्दी के लिये मुहम्मदअली तथा हैदराबाद में निजाम की गद्दी के लिये नासिरजंग को सहायता देने का निश्चय किया। इस प्रकार अंग्रेजों व फ्रांसीसियों में पुनः युद्ध आरम्भ हो गया।

डूप्ले ने चांदा साहब को सलाह दी कि त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करके मुहम्मदअली की शक्ति का विनाश किया जाय। किन्तु डूप्ले की इच्छा के विरुद्ध चांदा साहब ने तंजोर पर आक्रमण कर दिया। इधर नासिरजंग ने अंग्रेजी सेना की सहायता से कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। अतः चांदा साहब को तंजोर छोड़कर वापिस आना पड़ा। अंत में जिंजी नदी के तट पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में चांदा साहब व फ्रांसीसियों की पराजय हुई तथा चांदा साहब को पांडिचेरी की ओर भागने के लिये विवश होना पड़ा। यद्यपि डूप्ले ने मुजफ्फरजंग की सहायतार्थ सेना भेजी, किन्तु कुछ सैनिकों के विश्वासघात के कारण उसकी सेनाएं पराजित हुईं तथा मुजफ्फरजंग को अपने मामा नासिरजंग के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा। तत्पश्चात नासिरजंग हैदराबाद का निजाम बन गया तथा मुजफ्फरजंग को बन्दी गृह में डाल दिया गया। इस पराजय से डूप्ले हतोत्साहित नहीं हुआ। उसने शीघ्र ही मछलीपट्टम तथा जिंजी नदी के दृढ़ स्थानों पर अधिकार कर लिया। दिसम्बर 1750 में फ्रांसीसी सेना ने नासिरजंग पर आक्रमण कर दिया। इसी वर्ष हैदराबाद में नासिरजंग के विरोधियों ने नासिरजंग की हत्या करदी। अतः डूप्ले ने मुजफ्फरजंग को बन्दीगृह से मुक्त किया और उसे हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया। मुजफ्फरजंग ने डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण की सम्पूर्ण भूमि की सूबेदारी दी, कर्नाटक में अपने सिक्के चलाने का अधिकार दिया तथा डूप्ले को 2,16,000 रुपये वार्षिक आय की जागीर प्रदान की।

डूप्ले की इस सफलता से मुहम्मदअली भयभीत हो गया तथा फ्रांसीसियों से मित्रता स्थापित करनी चाही। वह कर्नाटक पर चांदा साहब का अधिकार भी मानने को तैयार हो गया। अतः डूप्ले की संरक्षता में चांदा साहब को कर्नाटक का नवाब स्वीकार कर लिया गया। यह समय डूप्ले के उत्थान की पराकाष्ठा थी। हैदराबाद का निजाम उसका मित्र था, कर्नाटक का नवाब उसके अधीन था, दक्षिण के एक बड़े भूभाग की सूबेदारी उसे प्राप्त हो चुकी थी और व्यक्तिगत रूप से उसे धन और जागीर भी प्राप्त हो चुके थे। डूप्ले ने हैदराबाद में मुजफ्फरजंग को सहायता देने के लिये बुसी को हैदराबाद भेज दिया। जनवरी 1751 में मुजफ्फरजंग की मृत्यु हो गयी। अतः बुसी ने भूतपूर्व निजाम के तीसरे पुत्र सलावतजंग को निजाम घोषित कर दिया। सलावतजंग ने उन सभी शर्तों को स्वीकार कर लिया, जो मुजफ्फरजंग ने की थीं। अब डूप्ले त्रिचनापल्ली में मुहम्मदअली से समझौता

करके दक्षिण में अपने अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहता था। किन्तु अंग्रेजों ने मुहम्मदअली को सलाह दी कि वह डूप्ले से कोई समझौता न करे और उसे कर्नाटक की गद्दी दिलाने का आश्वासन दिया।

इस समय मुहम्मदअली दोहरी चाल चल रहा था। वह फ्रांसीसियों से सन्धि वार्ता भी कर रहा था और अंग्रेजों से सहायता लेने का भी प्रयत्न कर रहा था। डूप्ले इस चाल को समझ गया और उसने चांदा साहब की सहायता से त्रिचनापल्ली को घेर लिया। इस समय फ्रांसीसियों की स्थिति अच्छी थी और त्रिचनापल्ली का पतन सन्निकट दिखाई दे रहा था। यदि इस समय त्रिचनापल्ली पर फ्रांसीसियों का अधिकार हो जाता तो दक्षिण भारत अंग्रेजों के प्रभाव से शून्य हो जाता। ऐसे संकट के समय अंग्रेज कम्पनी के अधिकारी रावर्ट क्लाइव का राजनीतिक रंगमंच पर आगमन हुआ। क्लाइव ने त्रिचनापल्ली पर फ्रांसीसी सेना के दवाव को कम करने के लिये कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर आक्रमण करने का सुझाव दिया। मुहम्मदअली ने भी इस सुझाव पर अपनी सहमति व्यक्त की। अंग्रेज गवर्नर सॉण्डर्स ने क्लाइव के सुझाव पर अपनी स्वीकृति दे दी। अतः अगस्त 1751 में केवल 500 सैनिकों के साथ क्लाइव ने अर्काट पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस पर चांदा साहब ने अपने पुत्र राजा साहब के नेतृत्व में एक सेना भेजी। 53 दिन तक क्लाइव अर्काट के दुर्ग की रक्षा करता रहा। इससे अंग्रेजों का भाग्य पलट गया। फ्रांसीसियों को विवश होकर त्रिचनापल्ली का घेरा उठाना पड़ा। चांदा साहब ने भाग कर तंजोर के शासक के यहाँ शरण ली, जहां उसकी हत्या करदी गई। इधर अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष चलता रहा, किन्तु अब फ्रांसीसी कर्नाटक में एक हारे हुए युद्ध के लिये संघर्ष कर रहे थे। 1753 में डूप्ले ने अंग्रेजों से सन्धि वार्ता आरम्भ की। किन्तु डूप्ले मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब बनाने को तैयार नहीं था। अतः सन्धि वार्ता असफल हो गयी। इसी समय फ्रांसीसी सरकार ने डूप्ले को वापस बुला लिया तथा अगस्त 1754 में नया फ्रांसीसी गवर्नर गोड्यू सन्धि के आदेश लेकर आया। अतः दिसम्बर 1754 में अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के बीच पांडिचेरी की सन्धि हो गयी। इस सन्धि में निम्न बातें तय हुई :—

(1) अंग्रेजों व फ्रांसीसियों ने मुगल सम्राट अथवा अन्य भारतीय नरेशों द्वारा दिये गये सभी पदों को छोड़ दिया और वायदा किया कि वे भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

(2) अंग्रेजों का सेण्ट जार्ज, सेण्ट डेविड के किलों तथा देवीकोटाई पर अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

(3) फ्रांसीसियों ने मछलीपट्टम से अपना अधिकार वापिस ले लिया।

(4) जहाजरानी और सीमा सम्बन्धी कुछ बातें भी तय की गई।

(5) दोनों ही पक्षों ने वायदा किया कि वे अपनी अपनी गृह सरकारों से इस सन्धि को स्वीकृत करायेंगे तथा इस स्वीकृति के प्राप्त होने तक न तो आपस में कोई संघर्ष करेंगे और न किलेबन्दी करेंगे।

(6) युद्ध की क्षतिपूर्ति के बारे में भी समझौता किया गया।

(7) ऐसी व्यवस्था की गई कि दक्षिण में दोनों कम्पनियों के पास समान भू-क्षेत्र रहे।

युद्ध का महत्व और परिणाम– पांडिचेरी की सन्धि को फ्रांसीसी हितों के विरुद्ध कहा जाता है। स्वयं डूप्ले ने कहा था, "गोड्यू ने अपने देश के विनाश और असम्मान पर हस्ताक्षर किये हैं।" इतिहासकार मेलीसन ने भी इस सन्धि को फ्रांसीसियों के लिये अपमानजनक बताया है। इसी प्रकार इतिहासकार मिल ने लिखा है कि, "अंग्रेजों ने इस सन्धि के द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जिसके लिये वे युद्ध कर रहे थे और फ्रांसीसियों ने वह सब कुछ छोड़ दिया जो वे अब तक प्राप्त कर चुके थे।" किन्तु इन कथनों को पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। इस समय यूरोप में अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के बीच युद्ध की संभावना दिखाई दे रही थी तथा भारत में निरन्तर संघर्ष से फ्रांसीसी कम्पनी के साधन स्रोत समाप्त हो रहे थे। अतः परिस्थितियां ऐसी उत्पन्न हो गयी थीं कि फ्रांसीसियों को सन्धि करने के लिये विवश होना पड़ा था। वास्तव में अर्काट के घेरे के बाद सैनिक दृष्टि से फ्रांसीसियों की स्थिति दुर्बल हो गयी थी। अतः फ्रांसीसी इतिहासकारों का मत है कि भारत में अंग्रेजों व फ्रांसीसियों की तुलनात्मक सैनिक शक्ति को देखते हुए पांडिचेरी की सन्धि अत्यन्त ही बुद्धिमतापूर्ण कदम था। इस सन्धि में फ्रांसीसियों के पक्ष में यह बात थी कि इस सन्धि से अंग्रेजों को जो भूमि प्राप्त हुई थी उसकी वार्षिक आय एक लाख रुपये थी जबकि फ्रांसीसियों के पास अब भी आठ लाख रुपये वार्षिक आय की भूमि थी। हैदराबाद में बुसी के रहने से वहां अब भी फ्रांसीसियों का प्रभाव था। किन्तु इस युद्ध के बाद दक्षिण में अंग्रेजों की सर्वोच्चता पुनः स्थापित हो गयी, जो प्रथम कर्नाटक के युद्ध में समाप्त हो चुकी थी। इस युद्ध ने भारत में फ्रांसीसियों के बढ़ते हुए प्रभाव पर रोक लगादी। अब यह स्पष्ट हो गया कि व्यापार की आड़ में अंग्रेज और फ्रांसीसी भारत की राजनीति में खुलकर खेलना चाहते हैं। अब यह भी स्पष्ट हो गया कि विदेशी जातियों ने भारतीय राजनीति में जो हस्तक्षेप शुरु किया है, उसका क्रम अब रुकने वाला नहीं है।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756–1763)

पांडिचेरी की सन्धि से अंग्रेजों व फ्रांसीसियों को काफी विश्राम मिल गया था, ताकि वे अपनी शक्ति को पुनर्व्यवस्थित कर सके। दूसरे युद्ध में फ्रांसीसी हार अवश्य गये थे, किन्तु वे चुपचाप बैठने वाले नहीं थे। अभी अन्तिम निर्णय होना बाकी था। अतः अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनी के बीच स्थापित शान्ति अस्थायी

थी। दोनों कम्पनियां एक दूसरे के विरुद्ध कार्यवाही करने की तैयारी कर रहे थे। तीसरे कर्नाटक के युद्ध का कारण यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध का आरम्भ होना था, जिसमें इंगलैंड और फ्रांस एक दूसरे के विरुद्ध थे। 1756 में यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ होते ही समस्त विश्व में जहां भी अंग्रेजों व फ्रांसीसियों की बस्ती थी, वहां उनमें संघर्ष आरम्भ हो गया। इस समय भारत में दोनों कम्पनियों की स्थिति प्रायः वही थी, जो दूसरे कर्नाटक के युद्ध के पूर्व थी। फ्रांसीसी त्रिचनापल्ली पर पुनः आक्रमण करने का विचार कर रहे थे तथा अंग्रेज बुसी को हैदराबाद से निकालने की योजना बना रहे थे।

यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ होने की सूचना प्राप्त होते ही भारत में भी दोनों कम्पनियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। किन्तु 1756 में भारत में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी। 1757 में स्थिति में एकदम परिवर्तन आया जबकि बंगाल में अलीनगर की सन्धि द्वारा अंग्रेज कम्पनी का सिक्का जम गया। दक्षिण में फ्रांसीसियों ने त्रिचनापल्ली लेने का असफल प्रयास किया, किन्तु कर्नाटक के अधिकांश भाग पर उनका अधिकार हो गया, केवल कुछ महत्वपूर्ण स्थानों अर्काट, वेलूर, काजीपुरम्, मद्रास, सेण्ट डेविड़ का किला आदि पर उनका अधिकार न हो सका। अंग्रेजों को उत्तर भारत में अधिक सफलता प्राप्त हुई। अंग्रेजों ने बंगाल में फ्रांसीसियों की महत्वपूर्ण बस्ती चन्द्रनगर पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने बालासोर, कासिम बाजार व पटना की फ्रांसीसी फक्ट्रियों पर भी अधिकार कर लिया। 1757 में अंग्रेजों ने बंगाल में प्लासी का युद्ध जीत कर वहां अपना प्रभाव जमा चुके थे तथा बंगाल के नये नवाब मीर जाफर से भारी धनराशि भी प्राप्त कर चुके थे। अतः बंगाल के साधन स्रोतों का उपयोग वे अब दक्षिण के युद्धों के लिये करने लगे।

भारत में युद्ध का वास्तविक आरम्भ अप्रैल 1758 में हुआ जबकि फ्रांसीसी सरकार ने काउण्ट-डी-लैली को भारत के सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों का प्रमुख सेनापति तथा सम्पूर्ण सैनिक व असैनिक अधिकार देकर भारत भेजा। लैली को प्रमुख रूप से दो कार्य सौंपे गये थे प्रथम तो अंग्रेजों को भारत से निकाल बाहर करना और दूसरा फ्रांसीसी कम्पनी के शासन में सुधार करना। यद्यपि लैली एक योग्य एवं साहसी सेनापति था, किन्तु वह क्रोधी एवं कटुभाषी व्यक्ति था। दम्भ तो उसमें इतना था कि वह अन्य किसी का कोई परामर्श स्वीकार करना नहीं चाहता था। अप्रैल 1758 में आते ही उसने अंग्रेजों के सेण्ट डेविड के किले पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। यह लैली का प्रथम व अन्तिम सफल आक्रमण था। उसके पास धन की कमी थी। इसलिये वह अपने सैनिकों को समय पर वेतन भी नहीं दे सका था। धन की कमी को पूरा करने के लिये उसने तंजोर पर आक्रमण किया, किन्तु वहां अंग्रेजी सेना पहुंच जाने से उसे वहां से लौटना पड़ा। इसी समय

फ्रांसीसी नौ-सेनापति डी- एचे (D- Ache) अंग्रेज सेनापति पीकॉक से पराजित हुआ तथा उसने भागकर पांडिचेरी के निकट शरण ली। तत्पश्चात लैली के विरोध के बावजूद वह अपने जहाजों को लेकर फ्रांसीसी टापुओं की ओर चला गया। इससे फ्रांसीसी सेना की शक्ति दुर्बल हो गई, फिर भी लैली ने दिसम्बर 1758 में मद्रास का घेरा डाला। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में भारत में फ्रांसीसियों की सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करने के उद्देश्य से उसने हैदराबाद से बुसी को बुला लिया। हैदराबाद से बुसी को बुलाकर उसने भयंकर भूल की, क्योंकि हैदराबाद से बुसी के प्रस्थान करते ही, क्लाइव द्वारा बंगाल से भेजी हुई सेना ने मछलीपट्टम पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। हैदराबाद का निजाम सलाबतजंग अत्यन्त ही डरपोक था, अतः भयभीत होकर उसने अंग्रेजों से सन्धि करली। इस प्रकार हैदराबाद पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

इधर लैली ने बुसी को बुला तो लिया था, लेकिन दोनों मिलकर कार्य नहीं कर सके। क्योंकि लैली और बुसी की नीतियों में अन्तर था। बुसी कूटनीति से भारत में फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ाना चाहता था जबकि लैली सैनिक शक्ति का प्रयोग कर भारत से अंग्रेजों को भगाना चाहता था। लैली ने अपनी इस नीति को अपने एक पत्र में स्पष्ट कर दिया था, जो उसने 13 जून 1758 को बुसी के नाम लिखा था। उसने बुसी को लिखा था कि, "बादशाह और कम्पनी ने मुझे इसीलिये भारत भेजा है कि अंग्रेज कम्पनी को इस देश से बाहर खदेड़ दूँ.... मुझे इस बात से कोई सरोकार नहीं कि अमुक निवासियों के लिये अमुक नरेश आपस में झगड़ रहे हैं।" इन नीतिगत मतभेदों के कारण बुसी का आगमन लैली के लिये लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ। फलस्वरूप मद्रास के घेरे में लैली और बुसी को सफलता नहीं मिली। फरवरी 1759 में उन्हें विवश होकर मद्रास का घेरा उठाना पड़ा। इस समय फ्रांसीसियों को धन, रसद और सैनिकों की कमी का सामना करना पड़ रहा था जबकि अंग्रेजों को बंगाल से निरन्तर हर तरह की सहायता प्राप्त हो रही थी।

मद्रास का घेरा हट जाने के बाद एक वर्ष तक छुट-पुट युद्ध चलता रहा। फ्रांसीसियों की शक्ति दुर्बल होती गई। सितम्बर 1759 में फ्रांसीसी नौ-सेनापति डी-एचे पुनः कोरोमण्डल तट पर आया, किन्तु अंग्रेजी नौ-सेना से पराजित होकर वह वापिस चला गया। लैली बड़ी कठिनाई से अंग्रेजों का सामना करता रहा। अन्त में 22 जनवरी 1760 को वाण्डीवास का युद्ध (Battle of Wandiwash) हुआ, जिसमें फ्रांसीसियों की निर्णायक पराजय हुई। इसने भारत में फ्रांसीसियों के भाग्य का निर्णय कर दिया। बुसी को बन्दी बना लिया गया। तत्पश्चात लैली ने पांडिचेरी बचाने का प्रयत्न किया। उसने जून 1760 में मैसूर के शासक हैदरअली से भी सन्धि की और उससे सैनिक सहायता प्राप्त की। लेकिन लैली को इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। अंग्रेजों ने पांडिचेरी का घेरा डाल दिया। कई महीनों के

घेरे के बाद 16 जनवरी 1761 को विवश होकर लैली ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। लैली को बन्दी बनाकर इंगलैण्ड भेज दिया गया और बाद में वहां से उसे फ्रान्स भेज दिया गया, जहां उस पर मुकदमा चलाया गया। यह मुकदमा दो वर्ष तक चलता रहा और अन्त में उसे मृत्यु दण्ड दे दिया गया। पांडिचेरी के पतन के बाद सभी फ्रांसीसी बस्तियों पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

1763 में पेरिस की सन्धि के साथ ही यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध समाप्त हो गया और फरवरी 1763 में भारत में भी संघर्ष समाप्त हो गया। पेरिस की सन्धि में भारत के सम्बन्ध में भी व्यवस्थाएं थी। सन्धि के अनुसार पांडिचेरी और चन्द्रनगर की बस्तियां पुनः फ्रासीसियों को लौटादी गई, किन्तु शर्त यह थी कि भारत में वे अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक तैयारी नहीं करेंगे। फ्रांसीसियों की समस्त किलेबन्दी नष्ट करदी गई। बंगाल में फ्रांसीसियों का राजनीतिक प्रभाव समाप्त हो गया। वहां अब वे केवल व्यापार कर सकते थे। कोरोमण्डल के तट पर तैनात सशस्त्र फ्रांसीसी सैनिकों की संख्या को भी सीमित कर दिया गया। मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब तथा सलाबतजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया गया।

युद्ध का महत्व और परिणाम—कर्नाटक का तीसरा युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। युद्ध में फ्रांसीसियों की पराजय ने उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा को चूर-चूर कर दिया। फ्रांसीसियों की शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि अब वे अंग्रेजों से मुकाबला नहीं कर सकते थे। इसलिये भारत में अब अंग्रेजी राज्य स्थापित करने हेतु मैदान साफ हो गया। इसके बाद फ्रांसीसियों ने भारतीय नरेशों की सहायता करके अंग्रेजों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया। किन्तु अब उनकी सहायता स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं रही बल्कि वे भारतीय नरेशों के यहां सैनिक अथवा सैनिक शिक्षकों की स्थिति में रहकर उन्हें सहायता देने लगे। वे मैसूर, हैदराबाद व पूना के दरबारों में अंग्रेज विरोधी कार्यवाहियों में लगे रहे। किन्तु आगे चलकर वैलेजली तथा लार्ड हेस्टिंग्ज ने उनकी चेष्टाएं सदा के लिये समाप्त करदी। इस प्रकार तीसरे कर्नाटक के युद्ध के बाद भारत में फ्रांसीसी शक्ति लगभग पूरी तरह से समाप्त हो गयी।

फ्रांसीसियों की असफलता के कारण

भारत में फ्रांसीसियों की असफलता के विभिन्न कारण थे। किन्तु कुछ परिस्थितियां ऐसी होती है अथवा ऐसी परिस्थितियां बन जाती है जिन पर मानव प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी, जिन्हें डूप्ले की महान योजनाएं, बुसी की कूटनीति और लैली का साहस और शौर्य प्रभावित नहीं कर सका। भारत में फ्रांसीसियों की पराजय के निम्न कारणों का उल्लेख किया जा सकता है—

1. अंग्रेज कम्पनी की श्रेष्ठता—भारत में अंग्रेज कम्पनी की श्रेष्ठता

फ्रांसीसियों की पराजय का कारण बनी। अंग्रेज कम्पनी एक स्वतन्त्र गैर सरकारी व्यापारिक कम्पनी थी। साधारण स्थिति में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। अतः सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त होकर इसने अपना विकास किया था। जबकि फ्रांसीसी कम्पनी एक सरकारी कम्पनी थी। फ्रांसीसी कम्पनी में राजा व मंत्रियों की पूंजी लगी होने के कारण इस पर फ्रांसीसी राजनीति का प्रभाव पड़ता था। इस कम्पनी को होने वाला लाभ सरकार को प्राप्त होता था। अतः इसके व्यापार की उन्नति में किसी ने भी व्यक्तिगत रूप से रुचि नहीं दिखाई। इसलिये फ्रांसीसी कम्पनी की आर्थिक स्थिति सदैव खराब रहती थी। भारत में फ्रांसीसी कम्पनी की नीति फ्रान्स की औपनिवेशिक नीति का भाग मात्र थी। फ्रांसीसी अधिकारियों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहते थे और इन अधिकारियों में व्यापार के प्रति कोई उत्साह नहीं होता था। जबकि अंग्रेज कम्पनी गैर सरकारी होने से इसे प्राप्त होने वाला लाभ कम्पनी के हिस्सेदारों का लाभ होता था। अतः अंग्रेज कम्पनी के अधिकारी व्यापार की उन्नति में रुचि लेते थे, जिससे यह निरन्तर सम्पन्न होती गई। इस प्रकार फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में ब्रिटिश कम्पनी की स्थिति श्रेष्ठ थी।

भारत में ब्रिटिश कम्पनी ने जो स्थान प्राप्त किये थे वे भी फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में श्रेष्ठ थे। बंगाल में चन्द्रनगर की अपेक्षा कलकत्ता की स्थिति अच्छी थी। पश्चिमी तट पर बम्बई की स्थिति भी सर्वश्रेष्ठ थी। इन श्रेष्ठ स्थानों व ब्रिटिश कम्पनी के अधिकारियों में व्यापार के प्रति उत्साह होने के कारण आर्थिक दृष्टि से भी ब्रिटिश कम्पनी की स्थिति श्रेष्ठ थी।

2. भारत की ओर अपर्याप्त ध्यान—फ्रान्स ने भारत में साम्राज्य स्थापना के कार्य को इतना महत्व नहीं दिया जितना अमेरीका में साम्राज्य स्थापना को महत्व दिया था। इस समय फ्रान्स की विदेश नीति का लक्ष्य यूरोप में प्रभुत्व स्थापित करके फ्रांस के लिये एक प्राकृतिक सीमा प्राप्त करना था। फ्रांस की आंखें इस समय अमेरिकी उपनिवेशों पर लगी हुई थी। अतः फ्रान्स ने अपनी शक्ति यूरोप, अमेरीका और भारत में लगा रखी थी, जिससे फ्रान्स की शक्ति विभाजित हो गयी और भारत की ओर उसका ध्यान बहुत ही कम था। इसलिये फ्रांसीसी सरकार ने भारत की फ्रांसीसी कम्पनी को पर्याप्त सहायता नहीं दी। सरकारी कम्पनी को सरकार से सहायता न मिलने पर उसका पंगु हो जाना तो स्वाभाविक ही था। जबकि ब्रिटिश कम्पनी को किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ी थी। अतः भारत में फ्रांसीसी कम्पनी ब्रिटिश कम्पनी का मुकाबला नहीं कर सकी।

3. ब्रिटिश नौसेना की श्रेष्ठता—यह निर्विवाद सत्य है कि ब्रिटिश नौसैनिक शक्ति फ्रांसीसी कम्पनी से श्रेष्ठ थी। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में इंगलैंड

ने अपनी नौसेना की श्रेष्ठता सिद्ध करदी थी। डूप्ले को भारत में प्रारम्भिक सफलताएं उसी समय तक मिलती रही, जब तक कि ब्रिटिश नौसेना ने युद्ध में सक्रिय भाग नहीं लिया। किन्तु जब ब्रिटिश नौसेना सक्रिय हो गई तब लॉ-बॉर्डिनो को मद्रास छोड़कर जाना पड़ा तथा डी-एचे को दो बार परास्त होना पड़ा। समुद्र पर अंग्रेजों का प्रभुत्व होने के कारण उन्हें निरन्तर यूरोप, बम्बई और बंगाल से सहायता प्राप्त होती रही, जबकि फ्रांसीसियों को निरन्तर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। समुद्र पर प्रभुत्व होने से वे फ्रांसीसी सहायता को बीच में ही रोक लेते थे। इस प्रकार नौसैनिक शक्ति ने कर्नाटक के युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया था। स्मिथ ने लिखा है कि, "पांडिचेरी को आधार बनाकर एक ऐसी शक्ति से युद्ध करने में, जिसके पास बंगाल व समुद्र की सत्ता थी, सिकन्दर महान और नेपोलियन भी भारत में साम्राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हो सकते थे।"

4. ब्रिटिश कम्पनी की आर्थिक सम्पन्नता—ब्रिटिश कम्पनी की आर्थिक सम्पन्नता फ्रांसीसी कम्पनी से श्रेष्ठ थी। अंग्रेजों को सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि उनका मुख्य लक्ष्य व्यापार करना है। अतः वे अपने व्यापारिक हितों की कभी उपेक्षा नहीं करते थे। जबकि डूप्ले ने प्रारम्भ में ही सोच लिया था कि फ्रांसीसी व्यापार में सफल नहीं हो सकते तथा व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में वे अंग्रेजों को मात नहीं दे सकते। इसलिये डूप्ले ने प्रारम्भ में ही अपना लक्ष्य भारत में राज्य प्राप्त करना बना लिया। इसलिये अंग्रेज अपने युद्धों का भार उठाने में समर्थ होते थे जबकि फ्रांसीसियों को सदैव धन का अभाव रहता था। इस आर्थिक सम्पन्नता के कारण अंग्रेज राजनीतिक व सैनिक मोर्चों पर बड़े आत्मविश्वास और दृढ़ता से लड़ते थे। अंग्रेज सदैव अपने सैनिक अभियानों का व्यय पराजित पक्ष से वसूल करते थे, जबकि डूप्ले ने कभी भी इस नीति का पालन नहीं किया। प्लासी के युद्ध के बाद तो ब्रिटिश कम्पनी इतनी सम्पन्न हो गयी कि दक्षिण में युद्धों का संचालन सुगमता पूर्वक कर सके। फ्रांसीसियों के पास न तो पर्याप्त सेना थी और न सेना को समय पर देने के लिये वेतन। फ्रांसीसी सेना को वेतन न मिलने के कारण लैली के सैनिक तो विद्रोह करने पर उतारू हो गये थे। अतः लैली को व्यर्थ ही तंजोर पर आक्रमण करना पड़ा। क्लाइव ने कहा था, "हमारी नौसेना की श्रेष्ठता और अपार धन तथा अन्य सभी प्रकार की रसद जो हम अपने मित्रों को दक्षिण में इस सूबे से भेजेंगे, जबकि शत्रु को प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता है और उसकी पूर्ति का उसके पास कोई साधन नहीं है, ऐसे लाभ हैं कि यदि इनका पूरा ध्यान रखा जाय तो हम वहीं नहीं बल्कि भारत के प्रत्येक भाग में उनका पूर्ण विनाश करने में सफल हो सकते हैं।" इस प्रकार बिना आर्थिक सम्पन्नता के साम्राज्य विस्तार की नीति एक व्यापारिक कम्पनी के लिये सम्भव नहीं थी। अपने देश से हजारों मील दूर भारत में, बिना आर्थिक सम्पन्नता के, साम्राज्य स्थापित करना संभव नहीं था। डूप्ले ने

जिस समय से बिना धन की व्यवस्था किये राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का लक्ष्य रखा था, उसी समय से फ्रांसीसी कम्पनी के पतन का मार्ग प्रशस्त हो गया था।

5. **फ्रांसीसियों की पारस्परिक फूट**—फ्रांसीसियों की आपसी फूट ने भी उन्हें पराजय दिलवाने में योगदान दिया था। डूप्ले और लॉ-वॉडिनो में हमेशा मतभेद रहे। डूप्ले की इच्छा के विरुद्ध उसने मद्रास के गवर्नर से सन्धि कर 4 लाख रुपये में मद्रास पुनः अंग्रेजों को देने के लिये तैयार होगया। डूप्ले व बुसी अच्छे मित्र होते हुए भी दोनों में नीति सम्बन्धी मतभेद थे। लैली ने अपने कटु व्यवहार से सभी को असन्तुष्ट कर दिया था। लैली और बुसी में भी नीति सम्बन्धी मतभेद थे। डी-एचे ने कभी भी डूप्ले की आज्ञा का पालन नहीं किया। एक समकालीन भारतीय ने अपनी डायरी में लिखा था, "यूरोपियनों के तरीके भी जो सदैव मिलकर कार्य करते थे, अब स्पष्ट रूप से भारतीय और मुसलमानों जैसे ही हो गये हैं।" इसके विपरीत अंग्रेज कम्पनी को योग्य अधिकारी प्राप्त होते रहे। क्लाइव, लारेन्स व आयरकूट ने कम्पनी के प्रभाव का विस्तार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। क्लाइव ने अर्काट के युद्ध में अंग्रेजों की डूबती हुई नाव को बचाया था तथा आयरकूट ने वाण्डीवाश के युद्ध में फ्रांसीसियों को निर्णायक शिकस्त दी थी। आंगल-फ्रांसीसी संघर्ष की घटनाओं से स्पष्ट है कि लैली और बुसी, क्लाइव व आयरकूट के मुकाबले में योग्य नहीं थे। फ्रांसीसी अधिकारी तो घूस लेकर शत्रु को लाभ पहुंचाने में भी संकोच नहीं करते थे। लॉ-वॉडिनो ने 60 हजार रुपये लेकर मद्रास अंग्रेजों को लौटा दिया था।

स्वयं फ्रांसीसी सरकार भी अपने अधिकारियों से सहयोग नहीं कर रही थी। डूप्ले की सेवाओं की प्रशंसा करने की बजाय उसे भारत से उस समय वापिस बुला लिया जबकि वह भारत में अपनी योजना कार्यान्वित करने को दृढ़ प्रतिज्ञ था। लैली ने यद्यपि अपूर्व वीरता दिखाई थी, लेकिन फ्रांस में उस पर मुकदमा चलाया गया तथा उसे मृत्युदण्ड दिया गया। इससे फ्रांसीसी अधिकारियों का निराश होना स्वाभाविक ही था। इसके विपरीत ब्रिटिश कम्पनी की गृह सरकार अपने अधिकारियों द्वारा भूल किये जाने पर भी उनकी प्रशंसा करती थी, जिससे उनका मनोबल सदैव बना रहता था। अंग्रेज अधिकारियों में संगठन, एकता और त्याग की भावना थी, जबकि फ्रांसीसी अधिकारी सदैव अपनी भूलों का दायित्व एक दूसरे पर थोपने का प्रयत्न करते रहते थे और आपस में झगड़ते रहते थे।

6. **यूरोप में अंग्रेजों की विजय**—यूरोप में आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्द्धा का प्रभाव भारत पर भी पड़ता रहा, क्योंकि भारत में दोनों का संघर्ष, यूरोपीय संघर्ष का ही एक भाग था। यूरोप के सप्तवर्षीय युद्ध ने अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के भाग्य का फैसला कर दिया था। सप्तवर्षीय युद्ध में अंग्रेजों की विजय ने अमेरीका और भारत में स्थित उपनिवेशों में भी फ्रांसीसियों की पराजय घोषित करदी। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि, "फ्रांसीसियों के प्रयत्न भारत में विफल हुए, क्योंकि यूरोप में

उनकी शक्ति का अन्त हो गया था। भारत में कोई भी यूरोपीय जाति यूरोप में अपना प्रभुत्व खोकर कभी सफल नहीं हुई।" इस प्रकार जब यूरोप में फ्रान्स पराजित हो गया तो उसका प्रभाव भारत की स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों से भारत में फ्रांसीसी अपनी सत्ता स्थापित करने में असफल रहे। इन कारणों में से किसी कारण विशेष को अधिक या कम महत्व नहीं दिया जा सकता, बल्कि सभी कारणों ने मिलकर एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करदी थी कि फ्रांसीसियों की असफलता अवश्यंभावी हो गयी। फ्रांसीसियों की पराजय के कारणों का उल्लेख करते हुए अल्फ्रेड लायल ने लिखा है, "भारत में व्यापारिक अथवा फौजी सफलता की दो मुख्य शर्तें थीं—तटीय प्रदेशों में सुदृढ़ मोर्चेबन्दी तथा यूरोप के साथ संचार मार्ग खोज सकने वाली दृढ़ नौसेना। अंग्रेज समुद्र पर अपना गौरव बढ़ा चुके थे, जबकि फ्रांसीसी स्थल पर भी अपनी शक्ति खो रहे थे।"

डूप्ले का मूल्यांकन

भारत में फ्रांसीसियों के इतिहास में डूप्ले का स्थान प्रमुख है। डूप्ले की गणना विश्व के महान राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिज्ञों में की जाती है, जिसने भारत की तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करके अपनी नीति निर्धारित की थी। फिर भी डूप्ले का चरित्र इतिहास में विवादास्पद ही रहा है। कुछ इतिहासकारों ने उसके चरित्र की काली तस्वीर प्रस्तुत की है तो कुछ इतिहासकारों ने उसे विशेष गुणों से युक्त चरित्र वाला बताया है। वास्तव में डूप्ले का चरित्र इन विरोधी तत्वों का मिश्रण था।

डूप्ले का जन्म 1697 ई. में हुआ था। 18 वर्ष की आयु में वह नाविक बन गया तथा विभिन्न देशों की यात्राएं की। फलस्वरूप उसकी रुचि व्यापार करने की ओर जागृत हुई। किन्तु पिता की इच्छानुसार उसने फ्रांसीसी में नौकरी करली और 1720 में पांडिचेरी आया। 1730 में वह चन्द्रनगर की फ्रांसीसी फैक्टरी का डायरेक्टर बन गया। अपनी योग्यता से उन्नति करता हुआ 1742 में वह पांडिचेरी का गवर्नर तथा भारत में फ्रांसीसी बस्तियों का डायरेक्टर जनरल नियुक्त हुआ। बारह वर्षों तक उसने इस पद पर कार्य किया तथा भारत में फ्रांसीसियों की शक्ति को चोटी पर पहुंचा दिया।

भारत में आने वाले फ्रांसीसी अधिकारियों में डूप्ले का प्रमुख स्थान है। वह भारत की राजनीति को 1720 से देखता आया था, अतः कुशल राजनीतिज्ञ होने के कारण उसने तुरन्त समझ लिया कि भारत में फ्रांसीसी कम्पनी अपना राजनीतिक प्रभुत्व तभी स्थापित कर सकती है जबकि वह देशी राज्यों के पारस्परिक झगड़ों में हस्तक्षेप करे। उसने यह भी अनुभव किया कि देशी राज्यों में हस्तक्षेप करने तथा देशी नरेशों से गठबन्धन करके उनसे व्यापारिक सुरक्षा, व्यापारिक विशेषाधिकार व अन्य व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त की जा सकती हैं। यह मान लेना उचित नहीं होगा

कि प्रारम्भ से ही डूप्ले का लक्ष्य भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करना था, किन्तु ज्यों-ज्यों उसे सफलता मिलती गई, उसकी महत्वाकांक्षाएं बढ़ती गई और वह भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य के विस्तार की योजनाएं बनाने लगा। यह तो डूप्ले का दुर्भाग्य था कि उसकी योजनाएं सफल नहीं हुई। फिर भी उसकी असफलता से उसकी योग्यता का अवमूल्यन नहीं हो जाता। वस्तुतः भारत आने वाले यूरोपीय अधिकारियों में डूप्ले प्रथम व्यक्ति था जिसने अनुशासित सेना का प्रयोग किया, जिसने समुद्र के बन्दरगाहों को छोड़ दिया तथा देश के मध्य भाग तक अपनी सेनाओं को ले गया। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने मुगलों की झूठी शान शौकत के भ्रम को पहचाना और भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का लक्ष्य लेकर जो साहस व कौशल प्रदर्शित किया, उससे फ्रांसीसियों की स्थिति इतनी दृढ़ हो गयी कि अंग्रेज भी भयभीत हो गये। उसकी दूरदर्शिता इस बात से स्पष्ट होती है कि उसने भली-भांति समझ लिया कि फ्रांसीसी कम्पनी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में अंग्रेजों को मात नहीं दे सकती। इसलिये वह व्यापारिक लक्ष्य से धीरे-धीरे राजनीतिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगा। वह साहसी था तथा अवसर की अनुकूलता को समझ लेता था। उसने अपनी सेना में भारतीयों की नियुक्ति करके उन्हें यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित किया और अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने की योजनाएं बनाईं। उसकी योजनाएं तात्कालिक भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल थी। उस समय मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा था तथा शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव में देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़े निर्बाध रूप से फूट पड़े। अतः डूप्ले ने दो राजाओं के झगड़े में एक का साथ देकर, उसे प्रसन्न करके विभिन्न प्रकार की सुविधाएं व भूमि प्राप्त करने की नीति अपनायी। उसकी यह नीति परिस्थितियों के अनुकूल थी।

डूप्ले की प्रारम्भिक सफलताएं सराहनीय थी। कर्नाटक की राजगद्दी पर चांदा साहब को तथा हैदराबाद में मुजफ्फरजंग को बैठाने में सफलता प्राप्त की। मुजफ्फरजंग की मृत्यु के बाद वह सलाबतजंग को हैदराबाद का निजाम बनाने में सफल हुआ। इस प्रकार डूप्ले ने फ्रांसीसियों की प्रतिष्ठा में चार चांद लगा दिये। दक्षिण में फ्रांसीसियों की धाक जम गई। लेकिन उसकी नीति ने कम्पनी के व्यापारिक हितों को अपूर्व क्षति पहुंचाई। डूप्ले को आशा थी कि वह नये भू-क्षेत्रों को प्राप्त कर व्यापारिक क्षति को पूरा कर लेगा, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। उसकी नीति से यह स्पष्ट हो गया था कि व्यापार और विजय साथ-साथ नहीं चल सकते। इसलिये गृह सरकार उसकी नीति के विरुद्ध हो गयी। फलतः उसे वापस बुला लिया गया। भारत में डूप्ले की सफलताएं अल्पकालिक सिद्ध हुई। ऐसे अनेक कारण थे जिनके कारण डूप्ले असफल रहा। वे कारण बाह्य भी थे जिनका सम्बन्ध फ्रांसीसी कम्पनी की दुर्बलता और गृह सरकार की उदासीनता से था, किन्तु कुछ ऐसे कारण भी थे जिनके लिये डूप्ले स्वयं उत्तरदायी था। उनमें से प्रमुख निम्न थे—

1. आर्थिक व्यवस्था ठीक न करना—डूप्ले को सदैव धन और सैनिकों की कमी का सामना करना पड़ा। फ्रांसीसी कम्पनी के व्यापार की स्थिति पहले से ही ठीक नहीं थी और डूप्ले ने उसे और भी खराब कर दिया। डूप्ले का उद्देश्य भारत में साम्राज्य स्थापित करना था। उसने कर्नाटक में चांदा साहब को तथा हैदराबाद में मुजफ्फरजंग को सहायता देना आरम्भ कर दिया। अतः उसने न तो व्यापार में रुचि ली और न उस ओर कभी ध्यान दिया। उसे विश्वास था कि भारत में राजनीतिक लाभ प्राप्त करके धन की पूर्ति भी कर लेगा। किन्तु अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण धन का अपव्यय भी हुआ और उसे राजनीतिक लाभ भी प्राप्त नहीं हुए। उसने कई बातें फ्रांसीसी सरकार से छिपायी। वह अपनी सरकार को यही कहता रहा कि इन युद्धों में धन व्यय नहीं होगा वल्कि वह व्यापार के लिये धन प्राप्त कर लेगा। अतः फ्रांसीसी सरकार से उसे कोई मदद प्राप्त नहीं हुई। उसने कभी अपनी सरकार से धन की मांग नहीं की। 1751 से उसकी असफलता का क्रम आरम्भ हो गया। उसके पास धन की कमी होने से सैनिकों को वेतन देने में कठिनाई होने लगी। अतः उसने अपने मित्रों से व्यक्तिगत रूप से 3½ लाख रुपये का कर्ज लिया। फिर भी धन की कमी को पूरा नहीं कर सका। इससे फ्रांसीसी सैनिकों का नैतिक पतन आरम्भ हो गया। डूप्ले ने सैनिकों के अभाव को पूरा करने के लिये भाड़े के भारतीय सैनिकों को भर्ती किया, जिनमें उत्साह और आदर्श की कमी थी।

2. अपने निर्णय और सफलता में विश्वास—डूप्ले को अपने निर्णय के प्रति इतना विश्वास था कि वह अपने सहयोगियों की शक्ति एवं कुशलता का भी सही मूल्यांकन नहीं कर सका। उसकी दृष्टि में मुहम्मदअली का कर्नाटक की गद्दी पर कोई अधिकार नहीं था वल्कि दोस्तअली का दामाद चांदा साहब ही उस गद्दी का वास्तविक अधिकारी था। मुहम्मदअली तो उसकी दृष्टि में एक विद्रोही था। इसलिये उसे विश्वास था कि अंग्रेज एक विद्रोही को मदद नहीं देंगे। किन्तु राजनीति में न्याय और नैतिकता का कोई स्थान नहीं होता। इसलिये राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों ने मुहम्मदअली को सहायता देना उचित समझा। वह अन्त तक अपने निर्णय और अपनी सफलता में विश्वास करता रहा। इसी कारण जब चांदा साहब की हत्या करदी गई तब भी वह मुहम्मदअली को नवाब बनाने को तैयार नहीं हुआ। उसका विश्वास घमण्ड में बदल गया। अपने दम्भ के कारण वह अपने कर्मचारियों की उचित सलाह को भी ठुकरा देता था। यद्यपि वह कूटनीतिज्ञ व दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। किन्तु वह उग्र एवं दम्भी स्वभाव का व्यक्ति था तथा उसमें सफल नेता के गुणों की कमी थी। उसकी योजनाएं असन्तुलित और अव्यवहारिक थी। अपनी साम्राज्यवादी भावना में वहकर इतनी विस्तृत योजनाएं बना लेता था कि उसे कार्यान्वित करना असम्भव हो जाता था। उसने कर्नाटक व हैदराबाद में एक साथ हस्तक्षेप किया, जिससे उसका कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि वह उसे संभाल ही नहीं

सका। यही कारण था कि वह अपने वैभव की पराकाष्ठा पर पहुंचने के बाद भी अपनी योजना का निर्वाह नहीं कर सका।

3. फ्रांसीसी सरकार की सहायता का अभाव—डूप्ले की असफलता का सबसे प्रमुख कारण यह था कि उसे फ्रांसीसी सरकार से कभी पूरी सहायता प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यह था कि उसने अपनी सही स्थिति से कभीभी फ्रांसीसी सरकार को अवगत नहीं कराया। जब उसने भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप किया तो उसे अपनी सफलता में दृढ़ विश्वास था। इस कारण फ्रांसीसी सरकार से वास्तविक स्थिति छिपाता रहा। अतः फ्रांस से उसे कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। यदि वह अपनी योजनाएं फ्रांसीसी सरकार से स्पष्ट कर देता तो संभवतः उसे फ्रांस से सहायता मिल सकती थी। किन्तु फ्रांसीसी सरकार को अन्धकार में रखने के कारण उसे अपनी सीमित शक्ति और साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ा, जो भारत जैसे दूरस्थ देश में साम्राज्य स्थापित करने हेतु पर्याप्त नहीं थे। यह सही है कि फ्रांसीसी सरकार अमेरीका में उपनिवेश स्थापित करने की ओर अधिक ध्यान दे रही थी और जब डूप्ले ने फ्रांसीसी सरकार को सही स्थिति की जानकारी नहीं दी तो सरकार ने भी भारत की ओर ध्यान ही नहीं दिया। जब डूप्ले की योजना का थोड़ा सा आभास मिला, तब तक भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति दुर्बल हो चुकी थी और गोड्यू भारत में गवर्नर का पद लेकर फ्रांस से चल चुका था। अतः डूप्ले की भूल ही उसकी असफलता का कारण सिद्ध हुई।

4. डूप्ले द्वारा धन का अपव्यय—हैदराबाद के निजाम ने फ्रांसीसी गवर्नर ड्यूमा को नवाब की उपाधि दी थी। ड्यूमा के जाने के बाद जब डूप्ले गवर्नर बना तो नवाब का पद उसने ग्रहण कर लिया। वह भारत में एक भारतीय नवाब की तरह पूरी शान शौकत से रहने लगा। वैभवपूर्ण और विलासितापूर्ण जीवन के प्रति उसका विशेष लगाव था। फ्रांस में उसके बारे में यह धारणा फैल गयी कि वह विलासी और अहंकारी व्यक्ति है, जो अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिये फ्रांसीसी कम्पनी तथा फ्रांस के हितों का बलिदान कर रहा था। यह सही है कि अपने देश के सम्मान की वृद्धि के नाम पर धन उसने अपनी जेब से खर्च किया था। किन्तु इसके पीछे उसकी राष्ट्रीय भावना नहीं थी वरन् मुख्य रूप से अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा ही उसे प्रेरित कर रही थी। इसमें उसे सफलता भी मिली, लेकिन उसने अपने वैभव और विलास पर धन का अपव्यय करके अपनी स्थिति ही दुर्बल बना डाली।

5. भगोड़े व्यक्ति का पक्ष लेना—डूप्ले ने भगोड़े चांदा साहब का पक्ष लेकर भी भूल की। चांदा साहब वर्षों तक मराठों की कैद में रहा जिससे कर्नाटक की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। चांदा साहब का कर्नाटक प्रदेश में भी कोई प्रभाव नहीं था। फिर चांदा साहब ने डूप्ले की इच्छानुसार कार्य भी नहीं किया।

चांदा साहब ने डूप्ले की इच्छा के विरुद्ध तंजोर पर आक्रमण करके अपना समय व्यर्थ में नष्ट किया। डूप्ले को चाहिये था कि वह मुहम्मदअली का पक्ष लेता, क्योंकि वह अपने पिता के समय से कर्नाटक से सम्बन्धित था और कर्नाटक की प्रजा भी मुहम्मदअली को कर्नाटक की गद्दी का वास्तविक अधिकारी समझती थी। चांदा साहब द्वारा डूप्ले की इच्छा के विपरीत कार्य करने से अंग्रेजों को पर्याप्त समय मिल गया, जिससे स्वयं चांदा साहब को पराजित होना पड़ा और डूप्ले की समस्त योजना असफल हो गयी।

इस प्रकार डूप्ले की भूलों ने डूप्ले को असफल बना दिया और डूप्ले की असफलता फ्रांसीसी कम्पनी की असफलता का कारण सिद्ध हुई। किन्तु असफलता का आलिंगन करके भी वह भारतीय इतिहास में अपना नाम अमर कर गया। वस्तुतः वह विलक्षण बुद्धि का व्यक्ति था। उसमें योजनाओं के निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। उसने भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने के लिये अपना सर्वस्व लुटा दिया। उसी के शब्दों में, इस कार्य के लिये "उसने अपना यौवन, भाग्य तथा जीवन तक का बलिदान कर दिया।" इतिहास में डूप्ले का चरित्र दुखान्त नाटक के उस नायक के रूप में है जिसे भाग्य ने धोखा दिया और देशवासियों ने उसकी उपेक्षा की। डॉडवेल ने उसकी असफलता का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, "उसकी नीति में स्थायी सफलता के आधारभूत तत्वों की कमी थी। उसने जो भी सफलता प्राप्त की वह अस्थायी अनुकूल परिस्थितियों के कारण थी। उसने अपना ध्यान आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध के बाद तब दिया जबकि अंग्रेजों की सामुद्रिक शक्ति ठंडी पड़ी हुई थी और वे पांडिचेरी की ओर रसद एवं गोला बारूद ले जाने वाले फ्रांसीसी जहाज़ों की रोकथाम या तोड़फोड़ नहीं कर सकते थे। यदि ये अनुकूल परिस्थितियां न होती तो डूप्ले के लिये यह सम्भव न था कि प्रारम्भ में ही इतनी शानदार विजय प्राप्त कर सकता।" इतिहासकार अल्फ्रेड मारटिन्यू ने उसकी असफलता के लिये उसकी हठधर्मी और जिद्दी स्वभाव तथा उसकी गलत वृति को बताया है। किन्तु मेलीसन ने उसकी असफलता का उत्तरदायित्व कुछ घटनाओं के संयोग पर रखा है जिसकी पहले से आशा नहीं की जा सकती थी।

डूप्ले की भूलों एवं असफलताओं के बावजूद उसकी महानता इस बात में निहित है कि उसने भारत में एक मौलिक नीति का अनुसरण किया, जिसने भावी राजनीतिज्ञों का पथ प्रदर्शन किया।

अध्याय 4

बंगाल में ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—औरंगजेब के शासनकाल में बंगाल, विहार और उड़ीसा मुगल साम्राज्य के तीन पृथक-पृथक सूबे थे। 1705 ई० में औरंगजेब ने मुर्शीदकुली जफरखां को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। कुछ समय बाद उड़ीसा का सूबा भी उसके नियन्त्रण में रख दिया गया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुर्शीद कुली एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा। 1727 ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दौलाखां उसका उत्तराधिकारी बना। उसने बलपूर्वक विहार सूबे को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया। इस प्रकार, पूर्वी भारत के तीनों समृद्ध सूबे एक ही व्यक्ति के शासन के अन्तर्गत आ गये। 1739 ई० में शुजाउद्दौला की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सरफराज खां उसका उत्तराधिकारी बना। उस समय अलीवर्दीखां विहार का नायब सूबेदार था। वह एक पराक्रमी सैनिक तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। अप्रैल 1740 ई० में अलीवर्दीखां ने अपने स्वामी सरफराजखां पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में सरफराजखां परास्त होकर मारा गया। अलीवर्दी खां बंगाल, विहार और उड़ीसा का सूबेदार बन बैठा और कमजोर मुगल सम्राट ने उसको मान्यता भी प्रदान कर दी।

बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल में अपनी पहली व्यापारिक बस्ती हुगली नगर में 1651 ई० में स्थापित की थी। मुगल सम्राट शाहजहां ने उसे अपने एक फरमान द्वारा बंगाल सूबे में व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया था और कम्पनी द्वारा निर्यात किए जाने वाले माल को चुंगी कर से मुक्त रखने की सुविधा दी गई। 1717 ई० में मुगल सम्राट फर्रुखशियर ने एक फरमान द्वारा कम्पनी के सामान को लाने व ले जाने पर लगने वाले चुंगी या सीमा शुल्क से भी मुक्त कर दिया। बंगाल के सूबेदारों को शाही फरमानों द्वारा कम्पनी को दी गई व्यापारिक सुविधायें शुरू से ही पसन्द न आई थी। ज्यों-ज्यों मुगल शासकों की सत्ता कमजोर होती गई त्यों-त्यों बंगाल के सूबेदार शाही फरमानों की अवज्ञा करने लगे क्योंकि इससे उनकी आय में कमी होती थी।

अब चूंकि बंगाल के सूबेदार लगभग स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे अतः वे चाहते थे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल सूबे में व्यापारिक मामलों में उनसे आदेश प्राप्त करने चाहिए। इस प्रकार, व्यापार के प्रश्न को लेकर बंगाल के सूबेदार और ईस्ट इण्डिया कम्पनी में शुरू से ही मतभेद उत्पन्न हो गया था और समय के साथ-साथ यह मतभेद बढ़ता ही गया। बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि दोनों के मध्य भविष्य में जो युद्ध लड़ा गया उसका मूल कारण व्यापार का यही प्रश्न था। कलकत्ता के आसपास का जो क्षेत्र कम्पनी को जमीन्दारी के रूप में मिला था उस पर भी दोनों पक्षों में विवाद था। बंगाल के सूबेदार का मानना था कि उनके सूबे के तमाम जमींदारी क्षेत्रों पर उनका नियन्त्रण है। इस नाते कलकत्ता के जमींदारी क्षेत्र पर भी उनका नियन्त्रण है। परन्तु कम्पनी का मानना था कि जमींदारी क्षेत्र में उसे स्वायत्तता प्राप्त है और सूबेदार को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। अतः दोनों में विवाद उठना स्वाभाविक ही था।

अलीवर्दी खाँ का शासन काल—अलीवर्दी खां एक साधारण सैनिक के पद से उन्नति करते-करते बिहार का उप सूबेदार बना था और फिर बंगाल के सूबेदार को परास्त करके बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन गया। वह नाम मात्र के लिए मुगल सम्राट का सूबेदार था। व्यावहारिक रूप में वह एक स्वतन्त्र शासक था। उसने 1740 से 1756 तक बंगाल पर शासन किया। वैसे अलीवर्दी खां एक योग्य शासक एवं पराक्रमी सेनानायक था परन्तु मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने बंगाल के आर्थिक जीवन को बुरी तरह से बर्बाद कर दिया। अतः 1751 ई० में उसने मराठों के साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार उसे उड़ीसा का अधिकांश भाग मराठों को देना पड़ा और प्रतिवर्ष 12 लाख रुपया चौथ के बदले में देने का वचन देना पड़ा। इसके बाद उसने शासन व्यवस्था की तरफ ध्यान दिया। उसे बंगाल का सूबेदार बनने में बंगाल के हिन्दू व्यापारियों से महत्व-पूर्ण सहयोग मिला था। अतः उसने हिन्दुओं को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। राय दुर्लभ, जगत सेठ बन्धु—मेहताब राय और स्वरूप चन्द्र, राजा रामनारायण, राजा माणिकचन्द्र आदि का उसके शासनकाल में भारी सम्मान बना रहा।

उस समय में बंगाल का अधिकांश व्यापार हिन्दू व्यापारियों के हाथ में था। यूरोपीय व्यापारियों के सम्पर्क में आने के बाद हिन्दू व्यापारियों का कारोबार और अधिक बढ़ गया और वे काफी समृद्ध हो गये थे। बंगाल से अब कृषि पदार्थों के अलावा सूती कपड़े तथा रेशम का भी भारी मात्रा में निर्यात होने लगा था। बढ़ते हुए व्यापार तथा पर्याप्त मुनाफे ने बंगाल के हिन्दू व्यापारियों को अंग्रेज व्यापारियों का मित्र बना दिया। यही कारण है कि जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य संघर्ष हुआ तो बंगाल के इन हिन्दू व्यापारियों ने कम्पनी के साथ सहानुभूति रखते हुए महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अलीवर्दीखां और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आपसी सम्बन्ध कभी मैत्रीपूर्ण न रहे। विवाद का एक कारण व्यापारिक सुविधाएं थी। कम्पनी का कहना था कि उसे 1717 के शाही फरमान के अनुसार सुविधाएं नहीं दी जा रही है। इसके विपरीत नवाब का मत था कि कम्पनी को जो कुछ सुविधाएं दी गई है, वह उनका नाजायज फायदा उठाकर अत्यधिक मुनाफा कमा रही है जिससे बंगाल के सरकारी कोष को भारी घाटा उठाना पड़ रहा है। अतः कम्पनी को चाहिए कि वह अपने मुनाफे का कुछ अंश सीमा शुल्क के रूप में सरकार को दे। परन्तु कम्पनी इसके लिए तैयार नहीं थी। दोनों पक्षों में विवाद बना रहा और इसका हल ढूंढने का प्रयास नहीं किया गया। विवाद का दूसरा पहलू कम्पनी के राजनीतिक इरादे थे। कर्नाटक के युद्धों में मिली सफलता से जहां कम्पनी का आत्मविश्वास बढ़ गया था, वहीं उसकी महत्वाकांक्षा भी बढ़ गई थी और वह बंगाल में भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में जुट गई। दूसरी तरफ अलीवर्दी खां सचेत हो गया। उसे पहले से ही यह आभास हो गया था कि बंगाल में स्थित दोनों यूरोपीय कम्पनियों (अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की) में कभी भी संघर्ष छिड़ सकता है और उनका संघर्ष व्यापक भी हो सकता है जिससे बंगाल की शान्ति एवं व्यवस्था बिगड़ सकती है। अतः उसने शुरू से ही दोनों कम्पनियों को अपनी-अपनी बस्तियों की क़िलेबन्दी करने तथा अस्त्र-शस्त्रों को जमा करने की इजाजत नहीं दी। उसका कहना था कि तुम लोग व्यापार करने आये हो और व्यापारियों को सामरिक तैयारी में समय नष्ट नहीं करना चाहिए।

अलीवर्दीखां के सुझाव के उपरान्त भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक स्वयं सेवक सेना गठित कर ली। इसका मुख्य ध्येय मराठों की लूटमार से अपनी बस्ती की रक्षा करना था। अपनी बस्ती के अलावा अंग्रेजों ने आस-पास के कुछ अन्य क्षेत्रों को भी मराठों की लूटमार से बचाया तथा मराठों द्वारा लूटे गये क्षेत्रों के लोगों को थोड़ी-बहुत आर्थिक सहायता भी दी। इसका परिणाम बहुत अच्छा निकला। अंग्रेजों ने स्थानीय लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर ली जो आगे चलकर उनके काम आई। 1756 ई० में सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में दोनों कम्पनियों में संघर्ष शुरू हो गया। बंगाल में भी दोनों के मध्य युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई थी परन्तु अलीवर्दीखां ने दोनों पर कठोर निगरानी रखी और उन्हें आपस में लड़ने नहीं दिया।

सिराजुद्दौला

10 अप्रैल, 1756 ई० को 82 वर्षीय अलीवर्दी खां की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था। केवल तीन पुत्रियां थी जिन्हें उसने अपने तीन भतीजों को विवाह दिया और उन्हें पूर्णिया, ढाका तथा पटना के गवर्नर पदों पर नियुक्त किया। दुर्भाग्यवश, अलीवर्दीखां के तीनों दामादों (भतीजों) का देहान्त उसके

जीवन काल में ही हो गया था। अतः भावी उत्तराधिकार के प्रश्न पर षड़यन्त्रों का सिलसिला शुरू हो गया जिससे सशस्त्र संघर्ष की संभावना स्पष्ट लगने लगी। अलीवर्दीखां भी इस स्थिति से परिचित था। बंगाल को गृह-युद्ध से बचाने की दृष्टि से उसने अपने जीवन काल में ही अपनी सबसे छोटी पुत्री के लड़के सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। परन्तु उसके निर्णय से सिराजुद्दौला के विरोधियों को सन्तोष नहीं हुआ। अलीवर्दीखां की सबसे बड़ी लड़की घसीटी बेगम ने सिराजुद्दौला के स्वर्गीय बड़े भाई के अल्प वयस्क लड़के मुराउद्दौला को गोद ले लिया और उसे बंगाल का नवाब बनाने का स्वप्न देख रही थी। घसीटी बेगम का दीवान राजवल्लभ काफी चतुर एवं योग्य राजनीतिज्ञ था और वह उसे पूरा-पूरा सहयोग दे रहा था। दूसरी लड़की का लड़का शौकतजंग जो पूर्णिया का गवर्नर था अपने आपको बंगाल की नवाबी का सही उत्तराधिकारी समझता था। अलीवर्दीखां का बहनोई और प्रधान सेनानायक मीरजाफर भी शासनतन्त्र को अपने नियन्त्रण में रखने का इच्छुक था। इस प्रकार, सिराजुद्दौला को अपने ही सम्बन्धियों से सुलझना था।

अलीवर्दीखां की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला का राज्याभिषेक तो बिना किसी विघ्न बाधा के सम्पन्न हो गया। परन्तु इसके तत्काल बाद सिराजुद्दौला ने अपनी बड़ी मौसी घसीटी बेगम को घेर लिया और छल-कपट से उसे बन्दी बना लिया। इसी प्रकार, उसने शौकतजंग के विरुद्ध भी सैनिक कार्यवाही करके उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया।

अंग्रेजों के साथ संघर्ष के कारण—यदि अंग्रेज इतिहासकारों का विश्वास कर लिया जाय तो अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के मध्य संघर्ष का मुख्य कारण सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचार थे। उन विद्वानों का यह भी मत है कि चूंकि सिराजुद्दौला को नवाबी से हटाने के लिये कुचक्र एवं षड़यन्त्र चल रहे थे, अंग्रेजों ने भी अपनी सुरक्षा के निमित्त सिराजुद्दौला के विरोधियों को सहयोग प्रदान कर दिया क्योंकि नवाब सिराजुद्दौला शुरू से ही अंग्रेजों से घृणा करता था। परन्तु अब अंग्रेज इतिहासकारों के उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया जाता है। आज के विद्वानों की मान्यता है कि सिराजुद्दौला के शासन तथा उसके समकालीन अन्य भारतीय शासकों के शासन में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों के मध्य संघर्ष के कारण कुछ दूसरे ही थे जो इस प्रकार थे—

1. **राजनीतिक**—सिराजुद्दौला ने नवाब बनते ही अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। वह अपने आपको वास्तविक शासक सिद्ध करना चाहता था जबकि उसके विरोधी—घसीटी बेगम और दीवान राजवल्लभ, शौकतजंग तथा मीरजाफर आदि उसको नवाबी से हटाने के लिये षड़यन्त्र रच रहे थे। सिराजुद्दौला

को ऐसा अनुभव हुआ कि अंग्रेज व्यापारी उसकी सत्ता की अवज्ञा ही नहीं कर रहे हैं अपितु उसके विरोधियों के साथ सांठ-गांठ करके उन्हें सहयोग एवं प्रोत्साहन भी दे रहे हैं। अतः सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया। दूसरी तरफ अंग्रेजों का विश्वास था कि भावी संघर्ष में नवाब हार जायेगा। इसीलिए उन्होंने उसके विरोधियों का साथ दिया ताकि भविष्य में उन्हें और अधिक व्यापारिक तथा राजनीतिक सुविधाएं एवं अधिकार उपलब्ध हो सके।

2. अंग्रेजों के प्रति सन्देह—अंग्रेजों का मानना है कि नवाब सिराजुद्दौला आरम्भ से ही अंग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखा करता था। परन्तु तत्कालीन साक्ष्यों से पता चलता है कि आरम्भ में सिराजुद्दौला अंग्रेजों के साथ सहानुभूति रखता था। 1752 ई० में जब कम्पनी के अध्यक्ष हुगली आये थे तब सिराजुद्दौला ने आदरपूर्वक उनका सम्मान किया था। यदि हॉलवेल का विश्वास किया जाय तो अलीवर्दीखां ने मरने से पूर्व सिराजुद्दौला को अंग्रेजों पर कड़ी नजर रखने की चेतावनी दी थी क्योंकि उसे आशंका थी कि कर्नाटक का नाटक बंगाल में भी दोहराया जा सकता है। अतः नवाब बनने के बाद सिराजुद्दौला के रुख में अन्तर आ गया और वह अंग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा तथा उनकी कार्यवाहियों को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया जिससे अंग्रेज उसके शत्रु बन गये।

3. नवाब के प्रति अंग्रेजों की अशिष्टता—भारत में यह परम्परा रही है कि जब कोई व्यक्ति नया शासक बनता है तब उसके राज्याभिषेक के अवसर पर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से प्रतिष्ठित नागरिक, अधिकारी एवं जमींदार लोग उसे मूल्यवान भेटें प्रदान करते हैं। सिराजुद्दौला के राज्याभिषेक के अवसर पर अंग्रेज अधिकारी जान-बूझ कर अनुपस्थित रहे और उन्होंने सिराजुद्दौला को भेटें भी नहीं दी। उनकी यह कार्यवाही एक प्रकार से नवाब के प्रति उनकी अशिष्टता थी। इस घटना के कुछ दिनों बाद ही जब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों की कासिम बाजार की फैक्टरी को देखने की इच्छा व्यक्त की तो अंग्रेजों ने उसे फैक्टरी दिखाने से ही मना कर दिया। जब नवाब ने उनसे उनके व्यापार के बारे में जानकारी चाही तो अंग्रेजों ने जानकारी देना भी उचित न समझा। अंग्रेज विद्वान् भी यह स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजों ने अपने व्यापार के सम्बन्ध में कभी भी नवाब को सूचना नहीं दी। उनके इस प्रकार के अशिष्ट व्यवहार से सिराजुद्दौला के सम्मान को भारी ठेस पहुंची थी।

4. व्यापारिक झगड़ा—मुगल सम्राट फर्रुखशियर ने 1717 ई० में एक शाही फरमान प्रदान किया था जिसके अन्तर्गत उन्हें बंगाल में बिना चुंगी कर दिये व्यापार करने की सुविधा प्रदान की गई थी। इससे एक तरफ तो भारतीय व्यापारियों के हितों को हानि पहुंच रही थी और दूसरी तरफ नवाब के राजकोष को भी हानि हो रही थी। बाद में अंग्रेजों ने अपनी इस सुविधा का दुरुपयोग करना शुरू कर

दिया। वे भारतीय व्यापारियों से कुछ ले-देकर उनके माल को भी अपना बता कर चुंगी कर बचा लेते थे। इसे 'दस्तक' (Free Pass) कहा जाता है। बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अध्यक्ष अपने दस्तक से कम्पनी के माल को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने-ले जाने का पत्र जारी करता था। इस प्रकार के 'दस्तक' वाले सामान पर चुंगी कर वसूल नहीं किया जाता था। इस समय तक कम्पनी के अधिकाँश कर्मचारी भी निजी व्यापार में लग चुके थे और वे लोग अपने निजी व्यापार के सामान को भी कम्पनी का बताकर चुंगी कर बचा लेते थे। इससे बंगाल की सरकार को काफ़ी हानि उठानी पड़ रही थी। नवाब सिराजुद्दौला कम्पनी के साथ कोई नया समझौता करना चाहता था जिससे कि मौजूदा अव्यवस्था को दूर किया जा सके। परन्तु अंग्रेज अपने इस पुराने विशेषाधिकार को छोड़ने के लिए तैयार न थे। अतः दोनों पक्षों में तनाव का बढ़ना स्वाभाविक ही था। वस्तुतः दोनों के मध्य संघर्ष का मूल कारण यही था।

5. **नवाब के शत्रुओं को संरक्षण देना**—अंग्रेजों की कलकत्ता बस्ती नवाब के शत्रुओं तथा राजद्रोहियों के लिए आश्रय स्थल बनी हुई थी। अंग्रेज ऐसे लोगों को खुशी के साथ संरक्षण प्रदान करते थे। जब नवाब ने घसीटी बेगम को बन्दी बना लिया तो दीवान राजवल्लभ ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने लड़के कृष्ण-वल्लभ के साथ कलकत्ता भिजवा दी। उसने घसीटी बेगम की धन सम्पत्ति को भी छिपाने का प्रयास किया। इस पर नवाब ने उसे दीवान पद से हटा दिया और कलकत्ता के अंग्रेज अधिकारियों से कृष्णवल्लभ को लौटाने की माँग की जिसे अंग्रेजों ने ठुकरा दिया। इससे सिराजुद्दौला को पक्का विश्वास हो गया कि अंग्रेज उसके शत्रुओं से मिले हुए हैं।

6. **कलकत्ता की किलेबन्दी**—सिराजुद्दौला के नवाब बनते ही यूरोप में इंगलैण्ड और फ्रांस में युद्ध छिड़ने की संभावना बढ़ गई थी। अतः भारत में स्थित दोनों कम्पनियों में भी पुनः सशस्त्र संघर्ष की आशंका उत्पन्न हो गई। परिणाम-स्वरूप दोनों ने बंगाल में अपने-अपने स्थानों की किलेबन्दी करना और सैनिकों की संख्या बढ़ाना शुरू कर दिया। नवाब को दोनों की कार्यवाहियां पसन्द न आई और उसने दोनों को आदेश दिया कि वे अपने स्थानों की किलेबन्दी के काम को तुरन्त बन्द कर दे। फ्राँसीसियों ने तो नवाब के आदेश को मान लिया। परन्तु अंग्रेजों ने आदेश की परवाह न की। वे उस समय कलकत्ता के चारों तरफ एक खाई खुदवा रहे थे। जब नवाब के अधिकारियों ने उन्हें खाई को भर देने के लिए कहा तो एक अहंकारी अंग्रेज अधिकारी ने उन्हें जवाब दिया कि "यह खाई अवश्य भर दी जायेगी परन्तु मुसलमानों के सिरों से।" जब सिराजुद्दौला को उनकी उद्दण्डता की सूचना दी गई तो उसने अंग्रेजों को सबक सिखाने का फैसला कर लिया।

इस प्रकार, दोनों पक्षों के मध्य झगड़े के कारण एकत्र होते गये। इनमें एक कारण और जुड़ गया। वह था जमींदारी के अधिकारों की व्याख्या। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि कम्पनी को कलकत्ता बस्ती के आस-पास के क्षेत्र की जमींदारी दी गई थी। नवाब का मानना था कि जमींदार उसका प्रतिनिधि मात्र है और उसका काम नवाब की तरफ से जमींदारी क्षेत्र से राजस्व वसूल करना तथा शान्ति एवं व्यवस्था को कायम रखना है। उस क्षेत्र पर नवाब का राजनीतिक प्रभुत्व सर्वोपरि है और इस नाते कम्पनी उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। परन्तु कम्पनी का मानना था कि उसे अपने क्षेत्र में पूर्ण राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त है और नवाब को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। नवाब उनकी दलीलों को मानने के लिए तैयार नहीं था। फिर भी, उसने तत्काल उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करना उचित नहीं समझा और अपने अधिकारियों को उनसे बातचीत करने भेजा। परन्तु दक्षिण भारत में प्राप्त सफलताओं से मदोन्मत्त अंग्रेज अधिकारियों ने नवाब के शान्ति प्रस्तावों को ठुकरा दिया। ऐसी स्थिति में सिराजुद्दौला के लिए अपने सम्मान की रक्षा के निमित्त सैनिक कार्यवाही के अलावा अन्य कोई विकल्प न बचा। इतिहासकार हिल ने भी यह स्वीकार किया है कि जिन कारणों पर नवाब ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया उनमें तर्क अवश्य था। अकेले सिराजुद्दौला को इसके लिये उत्तरदायी ठहराना किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं होगा।

सैनिक कार्यवाही—4 जून, 1756 ई० को सिराजुद्दौला ने मुर्शिदाबाद के समीप स्थित अंग्रेजों की कासिम बाजार फैक्टरी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। फैक्टरी के अंग्रेज अधिकारी वाट्स ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद 5 जून को नवाब ने लगभग 50,000 सैनिकों के साथ कलकत्ता पर धावा बोल दिया। उस समय कलकत्ता में अंग्रेजों के पास केवल 500 सैनिक थे, फिर भी कलकत्ता के गवर्नर ड्रेक ने लड़ने का निश्चय किया। 15 जून को नवाब की सेना ने उनके दुर्ग फोर्ट विलियम को घेर लिया। पराजय और मृत्यु को सामने देखकर गवर्नर ड्रेक और बहुत से अंग्रेज अधिकारी अपने परिवारों सहित फोर्ट विलियम से भाग खड़े हुए। हुगली नदी में उनके जहाज पहले से ही तैयार थे जिन पर सवार होकर वे फुल्टा टापू चले गये। किले की रक्षा का भार हॉलवेल नामक व्यक्ति तथा थोड़े से सैनिकों को सौंपा गया। दो दिन के बाद हॉलवेल को भी आत्म-समर्पण करना पड़ा और कलकत्ता पर नवाब का अधिकार हो गया। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि बाद में वाट्स ने यह स्वीकार किया था कि नवाब के शान्ति प्रस्ताव पर्याप्त थे और इन्हें ठुकरा कर तथा कासिम बाजार की घटना से कोई सबक न लेकर गवर्नर ड्रेक ने स्वयं खतरा मोल ले लिया था।

काल-कोठरी की घटना—20 जून को फोर्ट विलियम का पतन हो गया। दुर्ग में उपस्थित अंग्रेजों को बन्दी बना लिया गया। कहा जाता है कि नवाब के किसी अधिकारी ने उन्हें रात्रि में एक छोटी सी काल कोठरी जो लगभग 18 फीट लम्बी और 15 फीट चौड़ी थी, में बन्द कर दिया। प्रातः जब कोठरी का दरवाजा खोला गया तो बहुत से बन्दी मर चुके थे। इतिहास में यह दुर्घटना "ब्लेक होल" के नाम से विख्यात है। इस दुर्घटना का विवरण हॉलवेल द्वारा लिखे गये एक पत्र से मिला है। हॉलवेल के अनुसार जून मास की भयंकर गर्मी में नवाब के आदेश से 146 अंग्रेज बन्दियों को काल कोठरी में बन्द किया गया था और सुबह तक 123 व्यक्ति मर गये। केवल 23 व्यक्ति जीवित रह पाये।

ब्लेक होल की दुर्घटना पर इतिहासकारों में गम्भीर विवाद है। इस घटना का विवरण हॉलवेल की कल्पना की उड़ान पर आश्रित है। कुछ फ्रांसीसी एवं आर्मीनियन दस्तावेजों में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है परन्तु मरने वालों की संख्या एक जैसी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि अंग्रेजों ने इस घटना को काफी बढ़ा-चढ़ा कर बताया है। उनका एक मात्र उद्देश्य सिराजुद्दौला को क्रूर एवं रक्तपिपासु नवाब सिद्ध करना रहा होगा ताकि भारत में स्थित समस्त अंग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त की जा सके और नवाब के विरुद्ध उनकी घृणा को उत्तेजित किया जा सके। हॉलवेल ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए इस कहानी को संवारा होगा।

डॉ० भोलानाथ और बाद में डॉ० ब्रिजेन गुप्ता ने विभिन्न तथ्यों की पूरी छानबीन के बाद इस दुर्घटना की सत्यता को सही नहीं माना है। अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि यदि हम यह स्वीकार भी करलें कि इस प्रकार की घटना हुई थी तो भी इसके लिए सिराजुद्दौला को किसी प्रकार से दोषी नहीं ठहराया जा सकता। जो लोग इस घटना की सत्यता में विश्वास नहीं करते उनके तर्क इस प्रकार हैं—(1) तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों—"शेर-अ-मुतेखरीन" और "रायस-उस-सलातीन" आदि में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं मिलता। (2) तत्कालीन अंग्रेजी पुस्तकों, मद्रास कौंसिल के दस्तावेजों, कम्पनी के डायरेक्टरों को क्लाइव तथा वाटसन द्वारा लिखे गये पत्रों आदि में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। (3) गणित के हिसाब से उस कालकोठरी में 146 व्यक्तियों को किसी भी प्रकार से नहीं ठूंसा जा सकता। (4) हॉलवेल ने जो सूची दी है, उतने आदमी फोर्ट विलियम में मौजूद ही नहीं थे। हॉलवेल अत्यन्त ही झूठा व्यक्ति था। इसकी पुष्टि स्वयं क्लाइव एवं वाटसन के कथनों से होती है। हॉलवेल ने बाद में इसी प्रकार का आरोप मीरजाफर पर भी लगाया था कि उसने एक ही रात में असंख्य अंग्रेजों को मरवा डाला। हॉलवेल ने मृत व्यक्तियों की सूची भी दी। परन्तु बाद में क्लाइव और वाटसन ने लिखा कि हॉलवेल का आरोप असत्य था और उसकी

सूची के अधिकांश व्यक्ति अभी तक जीवित हैं। (5) 1757 ई० में अंग्रेजों ने जब नवाब सिराजुद्दौला के साथ सन्धि की तो उन्होंने कई बातों की क्षतिपूर्ति के लिए नवाब से धन की मांग की थी। यदि कालकोठरी की घटना घटित हुई होती तो अंग्रेज मृत लोगों का मुआवजा अवश्य मांगते। चूंकि इस प्रकार का मुआवजा नहीं मांगा गया, इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोई दुर्घटना घटित नहीं हुई।

अलीनगर की सन्धि (1757 ई०)—कासिम बाजार तथा कलकत्ता की पराजयों का समाचार जब मद्रास पहुंचा तो वहां के अंग्रेज अधिकारी अत्यधिक उत्तेजित हो उठे। वे इतनी आसानी से अपनी पराजय स्वीकार करने अथवा नवाब से क्षमा याचना करने के लिए तैयार नहीं थे। वे तो शस्त्र बल से नवाब को झुका कर अपना राजनीतिक वर्चस्व कायम करने के पक्ष में थे। क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करते तो भारतीय राजनीति में उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिल सकती थी और इसका लाभ उठाकर उनके प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसीसी पुनः जोर-शोर के साथ उनके विरुद्ध उठ खड़े हो सकते थे। अतः मद्रास कौंसिल की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि क्लाइव के नेतृत्व में कासिम बाजार और कलकत्ता पर आक्रमण करने तथा उन पर पुनः अधिकार करने के लिए एक शक्तिशाली सेना बंगाल भेजी जाय। क्लाइव की सहायता के लिए जल सेनानायक वाटसन को नियुक्त किया गया तथा अंग्रेजी जहाजों पर कारगर तोपें तैनात की गई। मद्रास कौंसिल ने क्लाइव को यह भी आदेश दिया था कि बंगाल के मौजूदा नवाब को हटाने का पूरा-पूरा प्रयास किया जाय और इस सम्बन्ध में उसे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों का सही मूल्यांकन नहीं किया था। उसे यह आशा नहीं थी कि अंग्रेज इतनी जल्दी आ धमकेंगे और उसके विरुद्ध पुनः एक शक्तिशाली गुट खड़ा करके उसके विरुद्ध षड़यन्त्र रचने में सफल हो जायेंगे। इसीलिए उसने न तो कलकत्ता की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की और न ही समुद्र तटों की निगरानी तथा सुरक्षा पर ध्यान दिया।

दिसम्बर 1756 के अन्त में अंग्रेजों की सेना बंगाल पहुंच गई। क्लाइव और वाटसन ने अपने विश्वस्त लोगों की सहायता से सिराजुद्दौला के प्रमुख अधिकारियों तथा सेठ-साहूकारों को अपनी ओर मिलाने तथा नवाब को सत्ताच्युत करने के लिए षड़यन्त्र रचना शुरू कर दिया। ऐसे लोगों में राजा मानिकचन्द, व्यापारी अमीचन्द, जगत सेठ बन्धु, मीरजाफर आदि मुख्य थे। राजा मानिकचन्द को भारी रिश्वत दी गई और 2 जनवरी, 1757 ई० को अंग्रेजों ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया। अंग्रेजों की सेना ने हुगली और उसके आस-पास के क्षेत्रों को लूटा। नवाब सिराजुद्दौला को जब इसकी सूचना मिली तो वह 40,000 सैनिकों के साथ कलकत्ता की तरफ बढ़ा। क्लाइव ने नवाब को धोखे में रखने तथा उसकी वास्तविक शक्ति का अनुमान लगाने के लिए सन्धि-वार्ता के बहाने अपना

एक अधिकारी नवाब की सेवा में भेजा। नवाब धोखा खा गया। परन्तु 30 जनवरी को क्लाइव ने नवाब की सेना पर अचानक आक्रमण करके उसे काफी क्षति पहुंचाई। इससे नवाब का मनोबल गिर गया। उसके सलाहकारों ने भी अंग्रेजों के साथ सन्धि करने के लिए उस पर दबाव डाला। परिणामस्वरूप नवाब सन्धि के लिए तैयार हो गया। नवाब तत्काल सन्धि के लिए क्यों तैयार हो गया—यह अत्यन्त विवाद का विषय है। एक मान्यता यह है कि नवाब को अपने दरबारियों तथा अधिकारियों पर सन्देह हो गया था कि वे अंग्रेजों से मिले हुए हैं। दूसरी मान्यता यह है कि इन दिनों अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने मुगल सम्राट को पराजित करके दिल्ली में डेरा डाल रखा था और यह अफवाह जोरों पर थी कि रूहेलों और अफगानों की सहायता से वह बंगाल पर आक्रमण करने वाला है। ऐसी स्थिति में नवाब ने अंग्रेजों के साथ सन्धि कर लेना ही उचित समझा। उधर क्लाइव की स्थिति भी अधिक मजबूत न थी। वाटसन के साथ उसके सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये थे और कलकत्ता कौंसिल से उसे अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पा रहा था। अतः बिना कठिनाई के प्राप्त होने वाले यश से वंचित रहना क्लाइव को पसन्द न था। इसलिए जब नवाब की तरफ से सन्धि का प्रस्ताव आया तो क्लाइव ने उसे स्वीकार कर लिया। 9 फरवरी, 1757 ई० को दोनों पक्षों में सन्धि हो गई जो "अलीनगर की सन्धि" कहलायी और जिसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. मुगल बादशाह ने अंग्रेजों को जो व्यापारिक सुविधाएं तथा विशेषाधिकार दिये थे—नवाब ने उनको मान्यता प्रदान कर दी।

2. बंगाल, बिहार और उड़ीसा में पहले की भांति कम्पनी को दस्तक के प्रयोग का अधिकार मान लिया गया।

3. जिन फैक्टरियों पर नवाब ने अधिकार कर लिया था, वे पुनः कम्पनी को लौटा दी जायेगी तथा कम्पनी की सम्पत्ति तथा अंग्रेजों को जो हानि हुई—नवाब ने उसकी क्षतिपूर्ति का वचन दिया।

4. कम्पनी को कलकत्ता में अपनी इच्छानुसार किलेबन्दी करने की छूट मिल गई।

5. कम्पनी को अपने निजी सिक्के ढालने का अधिकार भी दिया गया।

6. उपर्युक्त सुविधाओं के बदले में कम्पनी ने नवाब को उसकी सुरक्षा का आश्वासन दिया।

अलीनगर की सन्धि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए काफी लाभदायक थी। परन्तु यह सन्धि नवाब सिराजुद्दौला के लिए अपमानजनक थी। क्लाइव ने इस सन्धि के द्वारा कम्पनी के लिए बहुत सारे अधिकार प्राप्त कर लिये। इस सन्धि के द्वारा उसने फ्रांसीसियों और नवाब के संभावित गठबन्धन को रोक दिया, जिससे

बंगाल में कम्पनी की स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ हो गई। क्लाइव ने स्वयं कहा था कि "एक या दो दिन की देर भी फ्रांसीसी और नवाब के मिल जाने से कम्पनी की स्थिति को पूर्णतया नष्ट कर सकती थी।" वस्तुतः अलीनगर की सन्धि पर दोनों पक्षों ने परिस्थितियों से विवश होकर हस्ताक्षर किये थे। अतः दोनों में पुनः संघर्ष होना तो अवश्यम्भावी था। बाद की घटनाओं से यह काम और भी सरल हो गया।

प्लासी का युद्ध (1757 ई०)

कारण—प्लासी का युद्ध भारतीय इतिहास का मोड़ विन्दु माना जाता है और वह निर्णायक युद्धों में से एक माना जाता है। नवाब सिराजुद्दौला और कम्पनी के मध्य लड़े गये इस युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. सन्धि की शर्तों का पूरा न होना—परिस्थितियों से विवश होकर दोनों पक्षों ने सन्धि तो कर ली परन्तु शर्तों का पालन करने में किसी ने भी रुचि नहीं ली। नवाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को मुआवजा देने का वचन दिया था, परन्तु सन्धि के बाद उसने किसी प्रकार का मुआवजा नहीं दिया। रेम्जे म्योर का कथन है कि नवाब सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार न था; इस कारण युद्ध आवश्यक बन गया। इसी प्रकार का आरोप कम्पनी पर भी लगाया जा सकता है। क्योंकि कम्पनी ने नवाब से भी पहले युद्ध की तैयारी शुरू कर दी थी। अंग्रेजों का मानना था कि जब तक सिराजुद्दौला नवाब बना रहेगा कम्पनी के हितों को खतरा बना रहेगा।

2 अंग्रेजों द्वारा नवाब पर दोष लगाना—अंग्रेज लेखकों का मत है कि सिराजुद्दौला ने अपने कुछ निजी पत्रों में अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता न रखने का आश्वासन दिया था। कम्पनी ने इस प्रकार के आश्वासन को भी सन्धि का एक अंश समझ लिया। जब कि सच्चाई यह थी कि सन्धि के समय ही नवाब ने इस प्रकार की शर्त को मानने से इन्कार कर दिया था। संयोगवश इन्हीं दिनों बंगाल के फ्रांसीसियों ने नवाब के साथ सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयास किया जिससे क्लाइव को यह भय लगा कि कहीं अपमानित नवाब फ्रांसीसियों से मिलकर अंग्रेजों से अपना प्रतिशोध लेने की कोशिश न करे। इसलिए क्लाइव ने फ्राँसीसियों की बस्ती चन्द्रनगर पर आक्रमण करने के लिये नवाब से अनुमति माँगी। नवाब फ्राँसीसियों को अपना शत्रु बनाना नहीं चहता था, अतः उसने अंग्रेजों को गोलमाल जवाब भिजवा दिया। क्लाइव ने 14 मार्च 1757 को चन्द्रनगर पर अचानक आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों ने नवाब पर अलीनगर की शर्तों को तोड़ने का दोष भी लगा दिया जिसे नवाब ने स्वीकार नहीं किया। नवाब का कहना था कि बंगाल के फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया तब भला उन्हें शत्रु कैसे माना जाय? परन्तु अंग्रेज अपनी ही बात पर डटे रहे।

3. नवाब के विरुद्ध षड़यन्त्र—बहुत से विद्वानों का मानना है कि नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध कुछ प्रभावशाली मुस्लिम सरदार और धनवान हिन्दू कुचक्र रचने में लगे हुए थे और जब उन्होंने अंग्रेजों से इसमें सहयोग माँगा तो उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी। मुस्लिम सरदारों में मीर जाफर, मिर्जा अमीर बेग और हुसेनखां प्रमुख थे। ये सभी किसी न किसी रूप में नवाब द्वारा बेइज्जत किये जा चुके थे। मीर जाफर को तो नवाब ने पदच्युत ही कर दिया परन्तु बाद में उसे पुनः सेना में उच्च पद पर नियुक्त कर दिया गया। हिन्दू लोग सिराजुद्दौला की कट्टर धार्मिक नीति के कारण विरोधी बने हुए थे। जगत सेठ बन्धुओं—मेहताबराय और स्वरूपचन्द को भी नवाब ने अपमानित कर दिया था। नदिया का शक्तिशाली जमींदार महाराजा कृष्णचन्द्र भी नवाब की हिन्दू-विरोधी नीति से असंतुष्ट था। इसके अलावा प्रमुख हिन्दू व्यापारी थे जिनका अंग्रेज व्यापारियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और दोनों के हित एक समान थे।

परन्तु यदि हम उपलब्ध साक्ष्यों का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि इस षड़यन्त्र के निर्माण में अंग्रेजों ने पहल की थी। अलीनगर की सन्धि के बाद से ही मद्रास के अधिकारी अपनी सेना को वापस भिजवाने की मांग करने लगे थे। परन्तु क्लाइव का मानना था कि अभी बंगाल में काम पूरा नहीं हुआ है। अतः उसने मद्रास की सलेक्ट कमेटी (Select Commitee) को सम्पूर्ण स्थिति समझाते हुए मार्ग निर्देश की प्राथना की। मद्रास से क्लाइव को उत्तर भेजा गया कि बंगाल प्रान्त में ऐसी किसी भी शक्ति से सम्बन्ध स्थापित किया जाय जो नवाब से असंतुष्ट हो तथा नवाबी का दावा कर रही हो ताकि सिराजुद्दौला को हमेशा के लिए समाप्त किया जा सके। इससे स्पष्ट है कि नवाब के विरुद्ध षड़यन्त्र में अंग्रेजों ने पहल की थी।

अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त कर षड़यन्त्रकारियों ने मीरजाफर को नया नवाब बनाने का निर्णय लिया जिसे अंग्रेजों ने भी स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों ने मीरजाफर से अलग से एक गुप्त समझौता कर लिया जिसके अन्तर्गत नवाब बन जाने के बाद मीरजाफर ने कम्पनी को व्यापारिक, प्रादेशिक तथा आर्थिक सुविधाओं का आश्वासन दिया। रायदुर्लभ को मन्त्री पद का आश्वासन दिया गया। षड़यन्त्र की ये सभी शर्तें कलकत्ता के एक सिक्ख व्यापारी अमीचन्द की मध्यस्थता से तय हुई थी। अतः उसे नवाब के कोष का पांच प्रतिशत भाग देने का वायदा किया गया। जब सब कुछ तय हो गया तो अमीचन्द ने पाँच प्रतिशत के अलावा 30,000 पौंड की मांग की और मांग न मानने पर षड़यन्त्र का भंडाफोड़ करने की धमकी दी। इस पर क्लाइव ने भी धोखा देने की नीति अपनाई। उसने दो सन्धि पत्र तैयार करवाये। एक सफेद कागज पर जो सही था और दूसरा लाल कागज पर जो झूठा था और जिसमें अमीचन्द को तीस हजार पौंड देने की बात कही गई थी। वाटसन ने

झूठे सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। तब क्लाइव ने उसके जाली हस्ताक्षर बनाये और अमीचन्द को संतुष्ट कर दिया। चूँकि क्लाइव ने कम्पनी के हितों की सुरक्षा के लिये धोखाधड़ी की थी इसलिये अंग्रेज इतिहासकारों ने उसके इस कुकृत्य को भुला दिया। डॉडवेल जैसे विद्वान ने तो क्लाइव के कार्य को उचित ठहराया है।

अपने विरोधियों के इस षड्यन्त्र की सूचना नवाब को युद्ध के पूर्व ही मिल गई थी परन्तु नवाब ने षड्यन्त्रकारियों के विरुद्ध कोई सख्त कदम नहीं उठाया। उसने अपने चारों सेनानायकों—मीरजाफर, रायदुर्लभ, यारलतीफखां और मीर मुइनुद्दीनखाँ को बुलवा कर अपने प्रति वफादारी की शपथ लेने को कहा। उनके ऐसा करने मात्र से ही नवाब संतुष्ट हो गया जबकि वस्तुतः मीर मुइनुद्दीनखाँ के अलावा तीनों सेनानायक षड्यन्त्र में सक्रिय थे।

प्लासी का युद्ध

षड्यन्त्र पूरा होते ही क्लाइव ने युद्ध का बहाना ढूंढना आरम्भ किया। उसने नवाब को एक पत्र लिखा जिसमें उस पर अलीनगर की सन्धि को भंग करने का आरोप लगाया। उसका यह आरोप कितना झूठा तथा निराधार था इसकी पुष्टि इसी से हो जाती है कि नवाब का उत्तर आने के पहले ही क्लाइव सेना सहित राजधानी की तरफ कूच कर देता है। 19 जून 1757 को अंग्रेजों ने कटवा पर अधिकार कर लिया। इसकी सूचना मिलते ही नवाब भी सेना सहित आगे बढ़ा। दोनों पक्षों की सेनाएँ प्लासी के मैदान पर आमने-सामने आ डटी। नवाब की सेना में लगभग 50,000 सैनिक थे। क्लाइव के पास 800 यूरोपियन तथा 2200 भारतीय सैनिक थे। क्लाइव ने अपना डेरा आम के पेड़ों की कतारों की ओट में लगाया ताकि शत्रु के तोपखाने से राहत मिल सके। नवाब की विशाल सेना को देखकर क्लाइव साहस खो बैठा और उसने आक्रमण करने का साहस नहीं किया। परन्तु जब षड्यन्त्रकारी सेनानायकों ने उसे पुनः विश्वास दिलाया तब 23 जून, 1757 को क्लाइव ने धावा बोल दिया। नवाब के चार सेनानायकों में से तीन सेनानायक अपने-अपने सैनिक दस्तों के साथ चुपचाप युद्ध का नजारा देखते रहे। केवल मीर मुइनुद्दीन ने शत्रु का सामना किया। परन्तु थोड़ी देर बाद ही वह मारा गया। अदूरदर्शी नवाब अपने ही लोगों के विश्वासघात से घबरा गया और 2000 सैनिकों के साथ युद्ध मैदान से भाग खड़ा हुआ। उसके भागते ही नवाब के षड्यन्त्रकारी सेनानायकों ने अपने-अपने सैनिक दस्तों को भी लौट जाने के आदेश दे दिये। इस प्रकार, बिना विशेष प्रयास के ही क्लाइव ने युद्ध जीत लिया। नवाब जब मुर्शिदाबाद से पटना की ओर भाग रहा था तो उसे बन्दी बना लिया गया। 28 जून, 1757 को अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया। 2 जुलाई को मीरजाफर के पुत्र मीरन ने नवाब सिराजुद्दौला की हत्या कर दी।

युद्ध का महत्व—यद्यपि सैनिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध कोई बड़ा युद्ध नहीं था किन्तु इसके परिणाम बड़े महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। सैनिक दृष्टि से तो इसमें नवाब के केवल 500 तथा अंग्रेजों के 65 सैनिक मारे गये। नवाब की विशाल सेना की पराजय का मूल कारण उसके सेनानायकों का विश्वासघात था। क्लाइव ने जगत-सेठ बन्धुओं और मीरजाफर जैसे देशद्रोहियों की महत्वाकाँक्षाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसीलिए के० एम० पाणिक्कर ने लिखा है कि, "प्लासी एक ऐसा सौदा था जिसमें बंगाल के धनी लोगों और मीरजाफर ने नवाब को अंग्रेजों को बेच दिया।" प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल में एक नये युग की शुरूआत हुई जिसने न केवल बंगाल प्रान्त में ही क्रान्ति उत्पन्न की अपितु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्वरूप में भी क्राँतिकारी परिवर्तन कर दिया।

1. राजनीतिक महत्व—प्लासी के युद्ध से तात्कालिक शासन व्यवस्था का खोखलापन स्पष्ट हो गया। भारतीयों के आन्तरिक मतभेद प्रकट हो गये और यह भी स्पष्ट हो गया कि धनवान हिन्दू लोग बंगाल में मुस्लिम शासन को समाप्त करने की दिशा में किस सीमा तक विदेशियों से सांठ-गांठ कर सकते हैं। इससे अंग्रेजों का आत्मविश्वास बढ़ा और वे यह मानने लगे कि षड़यन्त्रों तथा कुचक्रों द्वारा भारतीयों को भारतीयों के द्वारा ही परास्त करके अपने साम्राज्य की स्थापना की जा सकती है। युद्ध के परिणामस्वरूप मीरजाफर बंगाल का नवाब अवश्य बन गया परन्तु उसकी शासनसत्ता कम्पनी के सैनिक सहयोग पर टिकी हुई थी। कम्पनी ने उसकी सहायता के लिए उसी के खर्चे पर 6000 सैनिकों की एक सेना तैनात करदी। इस प्रकार, मीरजाफर कम्पनी के हाथ का खिलौना बन गया और वास्तविक शासन सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ गयी। इससे पूर्व अंग्रेज केवल एक व्यापारिक कम्पनी के मालिक थे और उस कम्पनी पर नवाब का नियन्त्रण था। प्लासी ने नवाब के नियन्त्रण को समाप्त कर दिया और नवाब पर कम्पनी के नियन्त्रण को मजबूत बना दिया। उसकी असहायता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि चाहते हुए भी मीरजाफर अपने दीवान रायदुर्लभ और बिहार के नायक दीवान रामनारायण को किसी प्रकार की सजा न दे सका क्योंकि वे कम्पनी के वफादार व्यक्ति थे। कम्पनी की कृपा प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति प्रशासन में उच्च से उच्च पद प्राप्त कर सकता था। अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि बाद में मीरजाफर को पदच्युत करने में उन्हें किसी प्रकार का रक्तपात नहीं करना पड़ा। प्लासी के महत्व की चर्चा करते हुए इतिहासकार मेलीसन ने लिखा है कि, "इतना तात्कालिक, स्थायी और प्रभावशाली परिणामों वाला कोई युद्ध नहीं हुआ।" अल्फ्रेड लायल ने लिखा है कि, "प्लासी में क्लाइव की सफलता ने बंगाल में युद्ध तथा राजनीति का एक अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र अंग्रेजों के लिए खोल दिया।"

इस युद्ध ने व्यापारियों की आकांक्षाओं को जागृत कर दिया और वे भारत में साम्राज्य स्थापना का स्वप्न देखने लगे। दक्षिण भारत में निजाम तथा मराठों की उपस्थिति के कारण साम्राज्य स्थापना का काम सरल न था। परन्तु बंगाल इन शक्तियों से काफी दूर था और समुद्र के निकट था जिससे अंग्रेजों को अपनी जल सेना का उपयोग करने का भी पूरा अवसर मिल गया। बंगाल को केन्द्र बना कर वे सुगमता के साथ मुगलों की राजधानी दिल्ली का द्वार खटखटा सकते थे। यह युद्ध मुगल साम्राज्य के लिए भी घातक सिद्ध हुआ। एक व्यापारिक कम्पनी ने उसके एक सूबेदार को पदच्युत करके दूसरे व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त कर दिया। अर्थात यह स्पष्ट हो गया कि मुगल सम्राट केवल एक मूक द्रष्टा है और कोई भी शक्ति अपने बल पर सूबेदारों को हटा सकती है और नियुक्त कर सकती है।

इस युद्ध के परिणामस्वरूप बंगाल की राजनीति से अन्य यूरोपीय शक्तियों का प्रभाव क्षीण हो गया। फ्रांसीसी बंगाल की धरती पर फिर कभी पनप नहीं सके और डचों ने जब अंग्रेजों को चुनौती देने का साहस किया तो उन्हें अपने प्रयास में बुरी तरह से असफल होना पड़ा। इस प्रकार, बंगाल में अंग्रेजों की सर्वोच्चता कायम हो गयी।

2. **आर्थिक महत्व**—बंगाल भारत का सर्वाधिक समृद्ध प्रान्त था। 1757 से 1760 ई० के मध्य मीरजाफर ने लगभग 3 करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में अंग्रेजों को दिये। स्वयं क्लाइव को 30,000 पौंड प्राप्त हुए और बाद में 37,70,833 पौंड क्षतिपूर्ति के रूप में प्राप्त हुए। (कुछ के अनुसार 16 लाख रुपये और कुछ के अनुसार 2 से 3 लाख पौंड के बीच प्राप्त हुआ था।) प्रत्येक अंग्रेज पदाधिकारी और सैनिक को भी अच्छी खासी रकम प्राप्त हुई। अंग्रेजों को संतुष्ट करने के लिए मीरजाफर को अपने महल के सोने-चाँदी के बर्तन तक बेचने पड़े। वस्तुतः बंगाल प्रान्त के समृद्ध स्रोतों ने कम्पनी को कर्नाटक का तीसरा युद्ध जीतने में सहायता दी। इस युद्ध के बाद ही वह युग शुरू हुआ जिसमें अब व्यापार के साथ राज्य-विस्तार जुड़ गया। बंगाल में कम्पनी को 24 परगनों की जागीर प्राप्त हुई। प्लासी के युद्ध के पूर्व कम्पनी को भारत में माल खरीदने के लिए इंगलैण्ड से सोना और चांदी लानी पड़ती थी। अब उन्हें लाने की आवश्यकता न रही क्योंकि भारत में ही इतना अधिक धन मिलने लग गया था कि वह तमाम जरूरी सामान खरीद सकती थी। इतना ही नहीं अपितु बंगाल से प्राप्त धन को कम्पनी ने चीन के व्यापार में लगाना शुरू कर दिया। परन्तु इससे बंगाल का जो आर्थिक शोषण हुआ उसकी कल्पना करना आसान नहीं है।

प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी को मीरजाफर के अन्तर्गत तीनों सूबों–बंगाल, बिहार और उड़ीसा में व्यापार करने की छूट मिल गई। कम्पनी ने इसका लाभ उठाते हुए तीनों प्रान्तों के भीतरी भागों में भी अपनी अनेक फैक्टरियाँ तथा कोठियाँ

कायम की। कलकत्ता में कम्पनी ने अपनी स्वतन्त्र टकसाल कायम की जहाँ से 19 अगस्त 1757 के दिन ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पहला सिक्का जारी हुआ था।

3. नैतिक महत्व—अब हम नैतिक दृष्टि से प्लासी के युद्ध के औचित्य की बात को लें। क्या सिराजुद्दौला पर क्लाइव का आक्रमण उचित था ? क्लाइव और अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने अपने षड़यन्त्रों एवं जालसाजियों पर पर्दा डालने के लिए सिराजुद्दौला पर झूठे आरोप लगाये और उसके चरित्र को कलंकित करने का प्रयास किया था। जबकि अंग्रेज इतिहासकार मेलीसन ने लिखा है कि वास्तव में सिराजुद्दौला योग्य, ईमानदार एवं शान्तिप्रिय व्यक्ति था। अंग्रेजों ने आरम्भ से ही उसे धोखा दिया यद्यपि उसने अंग्रेजों को धोखा देने का प्रयास नहीं किया था। अतः क्लाइव का षड़यन्त्र एवं आक्रमण नैतिक दृष्टि से सर्वथा निन्दनीय था। इससे भी अधिक निन्दनीय व्यवहार मुस्लिम सरदारों–मीरजाफर, यारलुतफखां, हुसैनखां तथा हिन्दू साहूकारों और जमींदारों का रहा जिन्होंने थोड़े से प्रलोभन में आकर अपने शासक तथा राष्ट्र के साथ विश्वासघात किया और अपने ही देश को बेच डाला।

मीरजाफर और अंग्रेज

प्लासी के युद्ध के बाद 29 जून, 1757 ई० को क्लाइव ने मीरजाफर को नवाब घोषित किया और स्वयं अपनी सेना लेकर मुर्शिदाबाद की ओर गया। इस युग में बंगाल की जनता पूरी तरह से निष्क्रिय हो चुकी थी। राजसत्ता के परिवर्तन में उसकी किसी प्रकार की कोई रुचि नहीं थी। यही कारण था कि मामूली सी सेना के साथ कोई भी साहसी सेनानायक राज्यों के शासन में मनचाहा परिवर्तन कर सकता था। नया नवाब मीरजाफर एक कमजोर तथा अयोग्य व्यक्ति था। प्लासी में सिराजुद्दौला के विरुद्ध क्लाइव ने विजय प्राप्त की थी न कि मीरजाफर ने। क्लाइव ने अपने कार्यों से शीघ्र ही यह भी प्रगट कर दिया कि शासन की वास्तविक शक्ति उसके पास है और मीरजाफर नाम मात्र का नवाब है। क्लाइव ने जगत सेठ के माध्यम से बंगाल में हुए सत्ता परिवर्तन के लिए मुगल सम्राट की स्वीकृति भी मंगवा ली।

मीरजाफर के राज्याभिषेक के अवसर पर क्लाइव ने कहा था कि अब अंग्रेज वापस कलकत्ता चले जायेंगे और अपना ध्यान व्यापार की ओर केन्द्रित करेंगे और शासन का कार्य नवाब पूर्ववत चलाता रहेगा। परन्तु उसके भावी कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह नवाब तथा शासनतंत्र पर अपना नियंत्रण रखना चाहता था। इसीलिए उसने सभी महत्वपूर्ण पदों पर ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करवाया जो अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान हो। उदाहरणार्थ, षड़यन्त्रकारी राय दुर्लभ को मन्त्री पद पर नियुक्त करवाया। कहा जाता है कि क्लाइव ने रायदुर्लभ के साथ अलग से एक और गुप्त समझौता भी किया जिसमें रायदुर्लभ ने क्लाइव के दावों का समर्थन करने

का आश्वासन दिया। रायदुर्लभ नवाब के विरुद्ध निरन्तर षड़यन्त्र करता रहा और जब नवाब को इसकी जानकारी मिली तो उसने रायदुर्लभ को हटाने का फैसला किया। परन्तु रायदुर्लभ को क्लाइव का समर्थन प्राप्त था और नवाब असहाय था। अतः वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाया। दूसरा उदाहरण बिहार के नायब सूबेदार रामनारायण का है। क्लाइव ने उसके साथ भी समझौता कर रखा था और शासन चलाने के निदेश वह क्लाइव से सीधे प्राप्त करता था। उसने भी नवाब के आदेशों को कभी सम्मान नहीं दिया और नवाब उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सका। शासनतन्त्र पर नियन्त्रण स्थापित हो जाने के बाद क्लाइव ने भारतीय अधिकारियों को निदेश भिजवाये कि वे अपने-अपने क्षेत्रों से फ्रांसीसियों को पकड़ कर अंग्रेजों को सौंप दे। इन्हीं दिनों नवाब के दो जमींदारों ने विद्रोह कर दिया। क्लाइव ने नवाब को भी निदेश दिया कि वह तुरन्त विद्रोह को दबा दे और इसके लिए अपने 500 सैनिक भी दिये। इस सहायता के बदले में क्लाइव ने बंगाल में शोरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। केवल 15 प्रतिशत शोरा नवाब के लिए छोड़ा गया। शोरा का उपयोग बारूद बनाने में किया जाता था। अतः स्पष्ट है कि मीरजाफर नाम मात्र का शासक था।

अली गौहर का आक्रमण—शाहजादा अली गौहर मुगल सम्राट आलमगीर द्वितीय के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर भी बैठा था। इस समय वह अवध में भटक रहा था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की अव्यवस्था का हाल सुन कर उसने इन प्रान्तों में अपना भाग्य आजमाने का प्रयास किया। इसके लिए उसे अवध के नवाब से सैनिक सहायता भी मिल गई। 3 अप्रैल, 1759 को उसने पटना पर आक्रमण कर दिया। मीरजाफर के कुछ असंतुष्ट सरदार गुप्त रूप से शाहजादा से मिले हुए थे। पटना के नायब सूबेदार रामनारायण ने अली गौहर को मार भगाया। परन्तु क्लाइव जो उस समय अपनी सेना के साथ युद्ध स्थल के निकट ही था, ने विजय का सारा श्रेय स्वयं ले लिया। उसका मानना था कि शाहजादा ब्रिटिश सेना के भय से भाग खड़ा हुआ। इसके लिए मीरजाफर ने क्लाइव को व्यक्तिगत जागीर प्रदान की। 1760 ई० में अली गौहर ने पुनः बिहार पर आक्रमण किया परन्तु इस बार भी वह असफल रहा। परन्तु अंग्रेज मीरजाफर के रक्षक कहलाये जाने लगे।

डच आक्रमण—बंगाल में डचों का भी काफी व्यापार था। पटना, ढाका, पीपली, चिन्सुरा, कलीकापुर तथा कासिम बाजार के निकट उनकी फैक्टरियाँ थी। बंगाल प्रान्त के भीतरी भागों में भी उनकी कई शाखाएँ थी। बड़ा नगर तथा चिन्सुरा के प्रदेश तो उनके अधिकार में ही थे। जब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर आक्रमण किया था तब उसने डचों से सहायता मांगी थी परन्तु डचों ने नवाब को सहायता नहीं दी। इस अवसर पर अंग्रेजों ने भी डचों से सहयोग मांगा था परन्तु डचों ने उन्हें भी सहयोग नहीं दिया था। परन्तु फुल्टा द्वीप में शरण लेने वाले अंग्रेजों

को डचों ने अवश्य मदद पहुँचाई। परन्तु प्लासी के बाद जब बंगाल में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ गया तो डचों को अंग्रेजों से जलन होने लगी। जब मीरजाफर की सहायता से बंगाल में फ्रांसीसियों के प्रभाव को क्षीण कर दिया गया तो डचों को अपने भविष्य की चिन्ता लग गई। बहुत से अंग्रेज लेखकों ने नवाब मीरजाफर पर डचों से सांठ-गांठ करने का आरोप लगाया है जो सत्य प्रतीत नहीं होता। परन्तु अंग्रेजों को डचों को बाहर निकालने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता थी क्योंकि वे उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो सकते थे। अतः अंग्रेजों ने आवश्यक तैयारी के बाद डचों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। 25 नवम्बर, 1759 को वेदरा नामक स्थान पर दोनों पक्षों में युद्ध लड़ा गया जिसमें डच हार गये और उन्हें शान्ति सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। इसी समय मीरजाफर का पुत्र मीरन भी सेना सहित डचों को सजा देने आ पहुँचा। अन्त में क्लाइव की मध्यस्थता से सन्धि सम्पन्न हो गई जिसके अनुसार डचों ने भविष्य में युद्ध न करने तथा नई सैनिक भर्ती और क़िलेबन्दी न करने का आश्वासन दिया। उन्होंने अपनी फैक्टरियों की सुरक्षार्थ केवल 125 यूरोपियन सैनिक रखना स्वीकार किया।

वेदरा का युद्ध बंगाल में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना की दिशा में प्लासी के बाद दूसरा महत्वपूर्ण कदम था। क्लाइव के टोप की यह अतिरिक्त पंखुड़ी थी। इस विजय से बंगाल में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ गई। फ्रांसीसियों की भांति डचों की महत्वाकांक्षा भी पूर्ण रूप से कुचल दी गई। अब बंगाल में अंग्रेजों की सर्वोच्चता को गम्भीर चुनौती देने वाली कोई शक्ति नहीं थी।

प्रशासनिक व्यवस्था—यद्यपि क्लाइव की प्रतिष्ठा में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही थी परन्तु मीरजाफर की अयोग्यता, अदूरदर्शिता तथा क्रोधी स्वभाव के कारण प्रशासन-व्यवस्था बिगड़ती जा रही थी। मीरजाफर की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसे न तो अपने ऊपर भरोसा था और न वह अपने सहयोगियों पर विश्वास करता था। राजकोष पहले से ही रिक्त था। मराठा नवाब से निरन्तर चौथ वसूल कर रहे थे और क्लाइव ने भी इस समय मराठों से छेड़छाड़ करना उचित नहीं समझा था। अव्यवस्था के कारण राजस्व की पूरी वसूली भी नहीं हो पा रही थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसके अधिकारी भी नवाब से निरन्तर धन की माँग कर रहे थे। नवाब कम्पनी को निर्धारित किश्तें भी नहीं चुका पा रहा था जबकि अनिर्धारित मांगें बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थिति में नवाब अपने सैनिकों का वेतन भी नहीं चुका पाया। कम्पनी के दबाव पर नवाब को बर्दवान, नदिया तथा हुगली के क्षेत्रों से राजस्व वसूली का अधिकार तब तक के लिए कम्पनी को सौंपना पड़ा जब तक कि उसकी किश्तों का धन वसूल न हो जाय। ऐसी परिस्थिति में 25 फरवरी, 1760 ई० को क्लाइव हॉलवेल को कम्पनी के कार्यों का चार्ज देकर स्वयं स्वदेश लौट गया।

मीरजाफर को हटाया जाना—जुलाई, 1760 ई० में 28 वर्षीय युवक वेन्सीटार्ट फोर्ट विलियम को गवर्नर बनाकर कलकत्ता भेजा गया। कलकत्ता कौंसिल के 16 सदस्यों में से अनेक उससे वरिष्ठ सदस्य थे। अतः उन्हें वेन्सीटार्ट की नियुक्ति पसन्द न आई। कौंसिल के कुछ सदस्यों का डचों के व्यापार में भी साझा था। कुछ सदस्यों ने कपास, अफीम और हीरों का निजी व्यापार चालू कर रखा था। कहने का अभिप्राय यह है कि कलकत्ता कौंसिल के अधिकांश सदस्य धन लोलुप तथा भ्रष्ट थे। ऐसे लोगों के मध्य वेन्सीटार्ट ठीक ढंग से कार्य न कर पाया। स्थिति उस समय और भी विषम हो गई जबकि उसके तीन समर्थक सदस्यों को कौंसिल की सदस्यता से हटा दिया गया और उनके स्थान पर उसके विरोधियों को नियुक्त किया गया। वेन्सीटार्ट के प्रमुख विरोधी एलिस को कम्पनी की पटना स्थित फैक्टरी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। कम्पनी के पदाधिकारियों में जिस तेजी के साथ परिवर्तन किया जा रहा था उससे मीरजाफर के लिए कठिनाइयां उत्पन्न होने लग गई।

शाहजादा अलीगौहर का भय अभी भी बना हुआ था क्योंकि कुछ स्थानीय जमींदार और सरदार उसको गुप्त सहयोग दे रहे थे। मराठे भी चौथ वसूली के नाम पर निरंतर बंगाल में आते रहते थे। अंग्रेजों ने नवाब को इन सभी संकटों में बराबर सहायता दी परन्तु उन्हें हमेशा यह शिकायत बनी रही कि नवाब और उसके पुत्र मीरन की तरफ से उन्हें पूरा सहयोग व समर्थन नहीं मिल पा रहा है। जब मीरजाफर ने अंग्रेजों के समर्थक रायदुर्लभ को मन्त्री पद से हटा दिया तो उसका असंतोष और भी अधिक बढ़ गया। 3 जुलाई, 1760 ई० को किसी ने मीरन की हत्या कर दी जिससे अंग्रेजों को नवाब के नये नायब की नियुक्ति का अवसर मिल गया। उन्होंने किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करने का निश्चय किया जो उनके इशारे पर चले और उन्हें काफी भेंट-उपहार भी दे सके। ऐसा व्यक्ति मिल भी गया। वह था मीरजाफर का दामाद मीर कासिम।

मीर कासिम अत्यन्त ही धनी व्यक्ति था। उसने नायब बनते ही अंग्रेजों को हर प्रकार की सहायता का आश्वासन दिया। उससे प्राप्त बहुमूल्यवान उपहारों से अंग्रेज पदाधिकारी खुश हो गये और अब उन्होंने मीरजाफर को पदच्युत करके मीर कासिम को नया नवाब बनाने का षड़यन्त्र रचा ताकि उन्हें और धन की प्राप्ति हो सके। इस सम्बन्ध में जो घटनाएं घटित हुई उन्हें 1760 की रक्तहीन क्रान्ति कहते हैं। मीर जाफर को नवाब पद से हटाने के अनेक कारण थे—

1. कम्पनी के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को लगातार रिश्वत एवं उपहार देते रहने से मीरजाफर का खजाना खाली हो गया था। परिस्थिति यहां तक पहुंच गई कि मीरजाफर न तो कम्पनी को वार्षिक किश्त अदा कर पाया और न अपने सैनिकों को वेतन ही चुका पाया। दूसरी तरफ कम्पनी के सभी कर्मचारियों

को नवाब से भेंट-उपहार लेने की आदत सी हो गई थी। जब नवाब से उन्हें धन मिलना बन्द हो गया तो वे सभी नाराज हो गये और किसी दूसरे को नवाब बनाने की सोचने लगे जो उनकी भूख को शान्त कर सके।

2. मीरजाफर भी लालची अंग्रेजों से तंग आ चुका था और उसने अब अंग्रेजों के चुंगुल से मुक्त होने का प्रयास किया क्योंकि अंग्रेजों की कभी समाप्त न होने वाली धन की मांग तथा प्रशासन-व्यवस्था में उनके हस्तक्षेप से मीरजाफर काफी परेशान हो गया था।

3. अपने युवा पुत्र मीरन की हत्या से मीरजाफर को सदमा पहुंचा था जिससे वह शासन-प्रबन्ध की तरफ विशेष ध्यान न दे सका। उसकी इस उदासीनता के फलस्वरूप बंगाल की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती चली गई। व्यापार-वाणिज्य भी ठप्प हो गया और शान्ति एवं व्यवस्था भी लड़खड़ा गई।

4. अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास था कि मीरजाफर के स्थान पर जिसे भी नया नवाब बनाया जायेगा उससे उन्हें काफी धन मिलेगा और कम्पनी को भी और अधिक सुविधाएं उपलब्ध हो सकेंगी।

इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी धन की सख्त आवश्यकता थी। दक्षिण में फ्रांसीसियों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध के कारण उसका खजाना खाली हो चुका था और मद्रास के अधिकारी बंगाल में नियुक्त अधिकारियों से बराबर धन की मांग कर रहे थे। बिहार में नियुक्त अंग्रेजी सेना को वेतन नहीं चुकाया जा सका था और वहां के सैनिक बगावत की बात करने लगे थे। कम्पनी को इस आर्थिक संकट से उबारने वाला मीर कासिम ही दिखलाई पड़ा। क्योंकि उसके पास धन था और वह नवाब बनने की इच्छा भी रखता था। ऐसी स्थिति में 27 सितम्बर, 1760 ई. को वेन्सीटार्ट ने मीर कासिम के साथ एक समझौता कर लिया जिसमें मीर कासिम को नवाब बनाने की बात कही गई थी और इसके बदले में मीर कासिम ने निम्न आश्वासन दिये थे—(1) वह अंग्रेजों का घनिष्ठ मित्र बना रहेगा। (2) बंगाल की शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए ब्रिटिश सेना मीर कासिम को पूरा-पूरा सहयोग देगी। मीर कासिम ने अंग्रेजों की इस सेना के व्यय के लिए उन्हें बर्दवान, मिदनापुर और चिटगांव के प्रदेश देना स्वीकार किया। (3) सिलहट में उत्पादित सीमेंट का आधा भाग अंग्रेजों को तीन वर्ष तक खरीदने का अधिकार होगा। (4) मीरजाफर में कम्पनी की जो बकाया धन राशि है उसे चुकाने का आश्वासन दिया। (5) दक्षिण में कम्पनी द्वारा लड़े जा रहे युद्धों में मीर कासिम ने 5 लाख रुपये की मदद देने का वचन दिया, और (6) मीर कासिम कलकत्ता कौंसिल के सदस्यों को लगभग 4,52,000 पौंड उपहार में देगा। इसमें से 50,000 पौंड वेन्सीटार्ट को, 27,000 पौंड हॉलवेल को तथा 25,000 पौंड प्रत्येक सदस्य को देना तय हुआ था।

इस समझौते को बहुत ही गोपनीय रखा गया। मीरजाफर को इसकी भनक भी न पड़ी। अक्टूबर, 1760 ई० में वेन्सीटार्ट सेना सहित मुर्शिदावाद गया और गद्दी छोड़ने की बात कही। नवाब बहुत क्रोधित हुआ परन्तु चूंकि ब्रिटिश सेना उसके महल को घेरे हुए थी, अतः विवश होकर उसे अंग्रेजों की बात माननी पड़ी। उसने पर्याप्त निर्वाह भत्ता तथा सुरक्षा के आश्वासन पर मीर कासिम के पक्ष में गद्दी त्याग दी। इसके बाद वह कलकत्ता चला आया और वहीं रहने लगा। उधर मीर कासिम को नया नवाब घोषित कर दिया गया।

मीरजाफर को गद्दी से उतारने के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए कलकत्ता कौंसिल ने कहा, "नवाब मीरजाफर क्रोधी, क्रूर, लालची और विलासी प्रवृति का था तथा उसके निकट के व्यक्ति पूर्णतया दास, खुशामदी तथा उसकी बुराइयों की पूर्ति के साधन बने हुए हैं। अनेक ऐसे उदाहरण हैं कि उसने बिना किसी कारण के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों का खून बहाया है।" कलकत्ता कौंसिल के ये आरोप बेबुनियाद तथा तथ्य से परे हैं। सत्यता तो यह है कि अंग्रेजों ने उसे स्वतन्त्र रूप से शासन चलाने का अवसर ही नहीं दिया। 1765 ई० में क्लाइव ने स्वयं स्वीकार किया था कि नवाब पर लगाये गये आरोप असत्य थे। हॉलवेल ने नवाब पर जो अमानवीय क्रूरता तथा हत्याओं का आरोप लगाया है—उसमें लेशमात्र भी सत्य नहीं है। वस्तुतः मीरजाफर को हटाने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता थी और इसके लिए उस पर झूठा दोषारोपण किया गया था। कुछ इतिहासकारों ने इस समूचे काण्ड के लिए मीर कासिम को दोषी ठहराया है। परन्तु डा० नन्दलाल चटर्जी का मत है कि इसके लिए मीर कासिम को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा क्योंकि विश्वासघातक मीरजाफर को विश्वासघात का फल मिलना अनिवार्य था। अंग्रेजों को भी बाद में अपनी भूल का पता चला और समय आने पर उन्हें पुनः मीरजाफर को नवाब बनाना पड़ा।

मीर कासिम

मीर कासिम के प्रारम्भिक जीवन के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती। उसका जन्म निश्चय ही समृद्ध परिवार में हुआ होगा तभी मीरजाफर ने उसे दामाद चुना होगा। जब मीरजाफर बंगाल का नवाब बना तो मीर कासिम ने पूर्णिया और रंगपुर के फौजदार के रूप में अपनी प्रशासनिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया था। वह एक योग्य सेनानायक भी था। मीरन की मृत्यु के बाद उसकी महत्वाकांक्षा जाग उठी और वह बंगाल का नवाब बनने का स्वप्न देखने लगा और अन्त में वेन्सीटार्ट के साथ सांठ-गांठ करके वह अपने ससुर के स्थान पर बंगाल का नवाब बनने में सफल रहा।

नवाब बनते ही मीर कासिम को जिस पहली समस्या का सामना करना पड़ा, वह धन की समस्या थी। उसे न केवल अंग्रेजों को ही बहुत सा धन देना था

अपितु प्रशासन व्यवस्था को सुधारने तथा सेना का पुनर्गठन करने के लिए भी धन की आवश्यकता थी। इसके लिए उसे सभी प्रकार के प्रयास करने पड़े। जिस व्यक्ति के पास भी अधिक धन की जानकारी मिली उसे मीरजाफर का समर्थक ठहराकर उसके धन को जब्त करने का प्रयास किया गया। अधिकांश पुराने राजकीय अधिकारियों पर गबन और भ्रष्टाचार का आरोप लगा कर उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। राजस्व तथा हिसाब विभाग का पुनर्गठन किया गया तथा विश्वस्त व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। सरकारी खर्चे में कमी करने की दृष्टि से बहुत से कर्मचारियों को नौकरी से हटा दिया गया। जनता पर भी नये-नये कर लगाये गये। परिणामस्वरूप राज्य की आय में काफी सुधार आ गया। वास्तव में मीर कासिम योग्य शासक था और शासन की आवश्यकताओं का उसे अच्छा ज्ञान था।

मीर कासिम ने सेना की स्थिति को सुधारने की आवश्यकता को भी अनुभव किया ताकि वह बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक उपद्रवों का सामना करने में कारगर सिद्ध हो सके। बंगाल को अब भी शाह आलम द्वितीय के आक्रमण, मराठों की लूट खसोट तथा अवध के नवाब की विस्तारवादी नीति का भय बना हुआ था। वीरभोम के जमींदार तथा बिहार के उप-सूबेदार जैसे आन्तरिक शत्रुओं का दमन भी करना था। अंग्रेजों को उसकी कार्यवाहियों से सन्देह उत्पन्न न हो जाय इसलिए सबसे पहले वह अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया जो कलकत्ता से काफी दूर था। यहां रहकर वह कम्पनी के अधिकारियों के नियन्त्रण से मुक्त होकर अधिक स्वतन्त्रता के साथ काम कर सकता था। मुंगेर में उसने बारूद बनाने तथा अच्छी तोपें बनाने का कारखाना भी कायम किया। अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति पर प्रशिक्षित करने की दृष्टि से उसने फ्राँसीसी तथा अमेरिकन अफसरों को नियुक्त किया। इसके बाद मीर कासिम ने उन सभी विरोधी जमींदारों तथा अधिकारियों का दमन किया जो नवाब की अवज्ञा करते थे और ठीक प्रकार से कर नहीं चुकाते थे। बिहार के नायब राजा रामनारायण का ही उदाहरण लें। मीरजाफर के नवाब बनने के समय से वह नवाब के आदेशों की परवाह नहीं करता था और उसने कभी अपना हिसाब-किताब पेश नहीं किया। वह लगभग स्वतन्त्र राजा की भांति शासन करता आ रहा था क्योंकि उसे अंग्रेज अधिकारियों का संरक्षण प्राप्त था। इसी कारण से मीरजाफर उसके खिलाफ कोई कदम नहीं उठा पाया। परन्तु मीर कासिम ने मौका मिलते ही रामनारायण को पदच्युत करके उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया और उसे प्राण दण्ड की सजा दी। सूबे के सीमान्त जिलों के जमींदारों के विरुद्ध भी सख्त कदम उठाये गये क्योंकि प्लासी के युद्ध के बाद से उन लोगों ने कर चुकाना बन्द कर दिया था और मुगल सम्राट शाह आलम के साथ सांठ-गांठ किये हुए थे। मीर कासिम ने अवध के नवाब वजीर से एक

समझौता करके सीमावर्ती क्षेत्रों में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की। इस प्रकार, थोड़े से समय में ही मीर कासिम ने एक सुयोग्य एवं प्रभावशाली प्रशासक तथा संगठनकर्ता की हैसियत से अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया।

अंग्रेजों के साथ झगड़ा—मीर कासिम के नवाब बनने के समय से ही इस बात का सन्देह था कि क्या अंग्रेज मीर कासिम को प्रभावोत्पादक शासन व्यवस्था के लिए आवश्यक शक्ति प्राप्त करने देंगे। क्योंकि समय के साथ-साथ न केवल बंगाल में अपितु दिल्ली में भी अंग्रेज शक्तिशाली बनते जा रहे थे। 1760 ई० के अन्त में जब शाहजादा अलीगौहर ने बिहार पर आक्रमण किया था तो पटना में नियुक्त ब्रिटिश सेनाधिकारी जॉन कारनाक ने उसे खदेड़ दिया था। इस पराजय के बाद अलीगौहर ने अंग्रेजों से बातचीत शुरू कर दी और स्वयं को मुगल सम्राट घोषित करवाने तथा दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने में उनकी सहायता की माँग की। अंग्रेजों ने उसे पटना में आमन्त्रित किया और शाही सम्मान के साथ उसका स्वागत किया। इन्हीं दिनों अब्दाली उसे सम्राट मनोनीत करके वापस लौट गया। अब अंग्रेजों ने स्थिति का पूरा लाभ उठाने का प्रयास किया। उन्होंने मीर कासिम को शाह आलम को सम्राट मानने के लिए विवश किया तथा उससे 12 लाख रुपये नजराने के भी दिलवाये। अंग्रेजों ने शाह आलम के नाम से सिक्के भी ढलवाये। अंग्रेजों की इस नीति के कारण मीर कासिम की स्थिति और भी कमजोर हो गई। उसे यह भय हुआ कि कहीं उसकी स्वतन्त्रता भी न छीन ली जाय। इस घटना से मीर कासिम और अंग्रेजों के आपसी सम्बन्धों में तनाव आ गया।

प्लासी के बाद से बंगाल में कम्पनी के कर्मचारियों को व्यापार करने की और अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। वे लोग बिना सीमा शुल्क चुकाये धड़ल्ले से व्यापार करने लगे। प्रान्त के भीतरी भागों में भी अंग्रेज अधिकारियों ने अपने सैकड़ों "कारखाने" स्थापित कर लिये थे। इन कारखानों में मशीनें नहीं लगी हुई थी और न ही किसी वस्तु का उत्पादन होता था। ये तो एक प्रकार से उनके कार्यालय या शाखाएं थी जहां हर प्रकार की वस्तुओं को खरीदा और बेचा जाता था; जैसे कि नमक, सुपारी, घी, चावल, मांस, मछली, चीनी, तम्बाकू, अफीम आदि। इन कारखानों की देखभाल के लिए अंग्रेजों ने अपने 'गोमाश्ता' (प्रतिनिधि) नियुक्त कर रखे थे जो प्रायः भारतीय होते थे। अपने अंग्रेज मालिकों की देखादेखी इन गोमाश्ताओं ने भी बिना शुल्क चुकाये व्यापार करना शुरू कर दिया था। इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। एक तरफ तो नवाब की आय घट गई और दूसरी तरफ भारतीय व्यापारियों के लिए अपना कारोबार चलाना कठिन हो गया क्योंकि उन्हें सीमा शुल्क चुकाना पड़ता था, अतः वे अंग्रेज गोमाश्ताओं की तुलना में सस्ती दर पर सामान बेचने में असमर्थ थे। परिणामस्वरूप अंग्रेजों का व्यापार बढ़ता गया और भारतीयों का घटता गया।

मीरकासिम ने कम्पनी और उसके अधिकारियों के व्यापार पर अंकुश लगाने का निश्चय किया। उसने फोर्ट विलियम के गवर्नर वेन्सीटार्ट से जबरदस्त शिकायत की। वेन्सीटार्ट स्वयं मुंगेर गया और उसने मीरकासिम से व्यक्तिगत विचार-विमर्श किया। वह इस बात पर सहमत हो गया कि अब से कम्पनी अपने सामान पर 9 प्रतिशत शुल्क अदा करे और भारतीय व्यापारी 25 से 30 प्रतिशत शुल्क दे। परन्तु कलकत्ता कौंसिल ने वेन्सीटार्ट के प्रस्ताव को रद्द कर दिया। निराश मीरकासिम ने व्यापार पर लगाये गये शुल्क को ही समाप्त कर दिया अर्थात उसने भारतीय व्यापारियों को भी निःशुल्क व्यापार की इजाजत दे दी। मीरकासिम के इस कदम से अंग्रेज अधिकारी अत्यधिक नाराज हुए क्योंकि इससे उनका विशेषाधिकार समाप्त हो गया। वे अब भारतीयों के समान स्तर पर आ गये और अब उन्हें बराबरी के स्तर पर भारतीय व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी जिसमें वे बुरी तरह से पिटने लगे और मुनाफा के स्थान पर हानि उठाने लगे। उन्होंने नवाब को अपना आदेश वापिस लेने को कहा परन्तु नवाब मीरकासिम ने उनकी बात को ठुकरा दिया। इस व्यापारिक संघर्ष से पुनः यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगाल का वास्तविक शासक कौन है? ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा मीरकासिम।

इसके बाद मीरकासिम ने कम्पनी पर आरोप लगाया कि 1760 की सन्धि के अनुसार उसने अपनी सहायता के लिए जिस अंग्रेजी सेना को रखने तथा उसके व्यय के लिए तीन जिले प्रदान किये थे, वह सेना उसी के विरुद्ध काम में लाई जा रही है। अतः अंग्रेज उन जिलों को वापिस लौटा दे और पिछले वर्षों में उन्होंने इन जिलों से जो राजस्व वसूल किया है, वह भी लौटा दे। इससे दोनों पक्षों में और अधिक तनाव उत्पन्न हो गया।

इस बढ़ते हुए तनाव को पटना स्थित अंग्रेज फैक्टरी के प्रमुख एलिस ने और भी भड़का दिया। वह नवाब के अधिकारियों के साथ सहयोग करना तो दूर रहा उल्टे उनके कामों में रुकावटें डालने लगा। ऐसी ही स्थिति में कलकत्ता कौंसिल ने अपने दो सदस्यों—हे और अमायत को नवाब से बातचीत करने भेजा। नवाब ने अंग्रेजों के प्रस्तावों को ठुकरा दिया और हे को बन्दी बना लिया। इस पर एलिस ने पटना पर आक्रमण कर दिया। बाजार को लूटा गया तथा बहुत से व्यक्तियों को मार दिया गया। नवाब के आदमियों के साथ हुई हाथापाई में अमायत मारा गया। मीरकासिम ने सेना भेज कर पुनः पटना पर अधिकार किया। एलिस और उसके साथी अंग्रेजों को बन्दी बना लिया गया।

बक्सर का युद्ध (1764 ई०)—बंगाल की घटनाएँ जिस तेजी के साथ घटित हो रही थी उनके समाधान का एक ही मार्ग रह गया था और वह था युद्ध। कलकत्ता कौंसिल ने मीरकासिम को नवाब पद से हटाने का फैसला कर लिया। जून 1763 में मेजर एडम्स के नेतृत्व में अंग्रेज सेना मुंगेर की तरफ बढ़ी। 19 जुलाई 1763 ई० को कटवा के निकट मीरकासिम और अंग्रेजों में युद्ध लड़ा गया

जिसमें नवाब पराजित हुआ। इसके बाद तीन और युद्ध लड़े गये। उन सभी में मीरकासिम बुरी तरह से परास्त हुआ। नवाब पटना की तरफ भाग गया। पटना में उसने अंग्रेज बन्दियों और भारतीय बन्दियों जिनमें राजा रामनारायण, सेठ बन्धु, राजा राजवल्लभ आदि प्रमुख थे—को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद वह अवध भाग गया।

इस प्रकार, जुलाई 1763 ई० में बंगाल के नवाब की गद्दी पुनः खाली हो गई। कलकत्ता कौंसिल ने मीरजाफर के साथ नया समझौता करके उसे दूसरी बार नवाब बनाया। मीरजाफर ने अंग्रेजों की सभी मांगें स्वीकार कर ली। कम्पनी को जो कुछ हानि हुई थी उसे भी पूरा करने का वचन दिया।

परास्त मीरकासिम ने अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला से सहायता लेने का निश्चय किया। इन दिनों शुजाउद्दौला मुगल सम्राट शाहआलम के साथ इलाहाबाद में ठहरा हुआ था। शुजाउद्दौला और मीरकासिम के मध्य अच्छे सम्बन्ध न थे और अगस्त 1763 ई० में शुजाउद्दौला ने भगोड़े मीरकासिम के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने का प्रस्ताव भी रखा। परन्तु जब मीरकासिम इलाहाबाद पहुँचा तो शुजाउद्दौला का विचार बदल गया। क्योंकि इस समय मीरकासिम के पास दस करोड़ रुपये मूल्य के जवाहरात थे। शुजाउद्दौला इस सम्पति को हड़पना चाहता था। इसके अलावा मीरकासिम की ओट में वह बंगाल तथा बिहार में अपना प्रभाव बढ़ाने को भी उत्सुक था। परन्तु शुजाउद्दौला ने दुरंगी चाल चलते हुए अंग्रेजों से भी बातचीत जारी रखी। लगभग 6 माह का समय ऐसे ही गुजर गया। जब अंग्रेजों ने शुजाउद्दौला के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया तब उसने अंग्रेजों से युद्ध करने का निर्णय लिया। मुगल सम्राट शाहआलम भी उसके साथ हो गया। शाहआलम भी दुरंगी चाल चल रहा था। उसने गुप्त रूप से अंग्रेजों को लिख भेजा था कि वह विवश होकर ही नवाब वजीर का साथ दे रहा है।

उधर अंग्रेजों ने पहले से ही युद्ध की तैयारी कर रखी थी। अंग्रेज सेनानायक मुनरो लगभग 8000 सैनिकों के साथ बनारस के पूर्व में स्थित बक्सर नामक स्थान पर पहुँच गया। नवाब वजीर की सेना भी वहाँ जा पहुँची। युद्ध के पूर्व अंग्रेजों ने कूटनीति और घूसखोरी का सहारा लिया और शुजाउद्दौला के कुछ अधिकारियों को अपनी तरफ मिला लिया जिनमें असदखां, जैनउल अबीदीन, इतिहासकार गुलाम हुसैनखां, रोहतास, का गवर्नर साहूमल आदि प्रमुख थे। 23 अक्टूबर, 1764 ई० के दिन बक्सर में दोनों पक्षों के मध्य संघर्ष हुआ। तीन घंटे के युद्ध में अवध की सेना बुरी तरह से परास्त होकर मैदान से भाग खड़ी हुई। युद्ध में अंग्रेजी सेना के 825 सैनिक मारे गये जबकि शुजाउद्दौला के लगभग दो हजार सैनिक मारे गये। शुजाउद्दौला भी भाग निकला। अंग्रेजों ने उसका पीछा किया। जनवरी 1765 में बनारस के निकट

शुजाउद्दौला पुनः परास्त हुआ। अंग्रेजों ने चुनार तथा इलाहाबाद के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। शुजाउद्दौला ने मराठा सेनानायक मल्हारराव होल्कर से सहायता प्राप्त की परन्तु अप्रैल 1765 में कड़ा के युद्ध में अंग्रेजों ने उन दोनों को परास्त किया। अन्त में, शुजाउद्दौला ने अपने आपको अंग्रेजों के हवाले कर दिया। मीरकासिम भाग कर दिल्ली पहुँच गया जहाँ 1777 ई० में बहुत निर्धनता की स्थिति में उसकी मृत्यु हो गई।

बक्सर के युद्ध का महत्व—बक्सर का युद्ध भी भारतीय इतिहास का एक मोड़ बिन्दु था। इस युद्ध में अंग्रेजों की निर्णायक विजय हुई। एक दृष्टि से इसका महत्व प्लासी से भी अधिक है। इससे अंग्रेजों की प्रतिष्ठा और प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई। मुगल सम्राट शाहआलम और उसका वजीर नवाब शुजाउद्दौला दोनों परास्त होकर अंग्रेजों की दया पर निर्भर हो गये। प्लासी के बारे में तो कहा जाता है कि क्लाइव के षड़यन्त्र के कारण बिना लड़े ही अंग्रेजों को विजय प्राप्त हो गई। परन्तु बक्सर के मैदान पर अनुभवी सेनानायक शुजाउद्दौला जिसके पास अंग्रेजों की तुलना में पांच गुना सेना थी और एक श्रेष्ठ तोपखाना भी था, को परास्त होना पड़ा। इससे अंग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता प्रमाणित हो गई और भारतीय शासकों की सैनिक शक्ति का खोखलापन स्पष्ट हो गया। प्लासी के युद्ध में केवल एक नवाब के भाग्य का फैसला हुआ था और विजय के परिणामस्वरूप केवल बंगाल के लाभकारी स्रोतों पर कम्पनी का अधिकार हुआ था। परन्तु बक्सर के युद्ध में तीन प्रमुख व्यक्तियों—मुगल सम्राट शाहआलम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मीर कासिम के भाग्य का फैसला हो गया और विजय के फलस्वरूप सम्पूर्ण अवध सूबे पर भी अंग्रेजों का नियन्त्रण हो गया। अवध के नियन्त्रण से अंग्रेजों के लिए उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापना का कार्य सरल हो गया क्योंकि इसके बाद अवध के किसी नवाब ने अंग्रेजों का सामना करने का साहस नहीं किया। इस युद्ध का सम्पूर्ण भारत पर प्रभाव पड़ा। अब ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक अखिल भारतीय शक्ति बन गई। प्लासी में उसने बंगाल की सेना को परास्त किया था परन्तु बक्सर में उसने उत्तरी भारत की श्रेष्ठ सेना को परास्त किया और बाद में अवध तथा मराठों की संयुक्त सेना को परास्त किया। उसकी शानदार सैनिक सफलताओं से भारत की राजनीति में उसका सम्मान तथा भय बढ़ गया। अब उसका प्रभाव क्षेत्र बंगाल से दिल्ली तक विस्तृत हो गया। इसीलिए यह कहा जाता है कि बक्सर के युद्ध ने प्लासी के अधूरे कार्य को पूरा किया। ब्रूम ने ठीक ही लिखा है कि, "इस प्रकार बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध समाप्त हुआ जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जो जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण था।" अब बंगाल का नवाब कम्पनी के हाथों की कठपुतली था। अवध

का नवाब उस पर निर्भर करने वाला समर्थक मित्र और मुगल सम्राट उसका पेन्शनर था।

क्लाइव की दूसरी गवर्नरी (जून, 1765 से जनवरी 1767 तक)

बक्सर का युद्ध तो समाप्त हो गया परन्तु मुगल सम्राट और अवध के नवाब के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने का काम बाकी रह गया। इसके अलावा कम्पनी के आंतरिक मामलों में भी सुधार की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी क्योंकि अधिकारियों के बढ़ते हुए निजी व्यापार के कारण कम्पनी को पर्याप्त मुनाफा नहीं मिल पा रहा था। बक्सर की सफलता से भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना भी अब संभव दिखने लगी थी। इन सभी विषयों को ठीक ढंग से सुलझाने के लिए किसी योग्य, साहसी एवं अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी। अतः कम्पनी के संचालकों ने राबर्ट क्लाइव को दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बना कर भारत भेजा। क्लाइव के कलकत्ता पहुँचने के पूर्व ही मीरजाफर की मृत्यु हो चुकी थी और उसका लड़का तथा उत्तराधिकारी अल्पवयस्क था। अतः क्लाइव को इस समस्या का समाधान भी करना था। संक्षेप में, क्लाइव जब दुबारा भारत आया तो उसे अपना सम्पूर्ण समय राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने तथा कम्पनी के आंतरिक प्रशासन को सुधारने में लगाना पड़ा।

इलाहाबाद की सन्धि (1765 ई०)—1765 ई० में जब क्लाइव कलकत्ता पहुँचा उस समय पूरा मुगल साम्राज्य कम्पनी के चरणों में पड़ा हुआ था। क्लाइव के लिए किसी निर्णय पर पहुँचना आसान काम न था। बक्सर के तुरन्त बाद वन्सीटार्ट ने शाहआलम को अवध का सूबा देने का आश्वासन दिया था। उसने सोचा था कि यदि कम्पनी की सीमाओं के पास ही मुगल साम्राज्य की सीमाएँ रहेंगी तो कम्पनी के हित अधिक सुरक्षित रहेंगे। परन्तु क्लाइव को यह पसन्द न था। उसका मानना था कि यदि अवध कमजोर मुगल सम्राट को दिया गया तो मराठे अवध पर निरन्तर धावा मारते रहेंगे और कम्पनी को मराठों से उलझना पड़ेगा। कौंसिल के कुछ सदस्यों की राय थी कि आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लेना चाहिए। लेकिन अनुभवी राजनीतिज्ञ क्लाइव ने समझ लिया कि अभी ऐसा करना लाभप्रद नहीं होगा, क्योंकि कम्पनी के पास इतने साधन नहीं थे कि वह इतने बड़े भू-भाग की व्यवस्था कर सके। इससे कम्पनी का मराठों से झगड़ा उठ खड़ा होता और इस बात की भी आशंका थी कि कहीं बंगाल, बिहार और उड़ीसा भी उसके हाथ से न निकल जाय। एक सुझाव यह भी आया कि कम्पनी मुगल बादशाह को दिल्ली जाने के लिये तथा अपना भाग्य आजमाने को स्वतन्त्र छोड़ दे। परन्तु इस स्थिति में मराठे मुगल सम्राट को अपने नियन्त्रण में ले सकते थे। यह ठीक है कि मुगल बादशाह नाम मात्र का बादशाह था। उसके पास न अपनी सेना थी और न खजाना। परन्तु वह वैधानिक शासक था और कोई भी शक्ति उसको अपने वश में करके

वहुत फायदा उठा सकती थी। ऐसी स्थिति में क्लाइव ने काफी सूझ-बूझ और राजनीतिज्ञता का परिचय देते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया और मुगल बादशाह के साथ निम्न शर्तों पर इलाहाबाद की सन्धि की :—

(1) अवध के नवाव से कडा और इलाहाबाद के जिलों को लेकर मुगल बादशाह को सौंप दिये गये।

(2) मुगल बादशाह ने एक विशेष फरमान के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को दे दी। एक अन्य फरमान द्वारा मुगल बादशाह ने मीरजाफर के पुत्र नाजिमउद्दौला को इन प्रान्तों का नवाब स्वीकार कर लिया।

(3) ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुगल बादशाह को 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, इलाहाबाद की सन्धि से कम्पनी को वैधानिक रूप से बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर अधिकार प्राप्त हो गया। अब वह मुगल बादशाह के अधिकारी की हैसियत से शासन करने लगी और इन सूबों में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने का प्रयास करने लगी।

क्लाइव ने अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला के साथ पृथक सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार कडा और इलाहाबाद के जिलों के अलावा अवध का सम्पूर्ण राज्य शुजाउद्दौला को वापस सौंप दिया गया। परन्तु चुनार का दुर्ग अंग्रेजों के पास रहने दिया गया। नवाब वजीर ने कम्पनी को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में 50 लाख रुपये देने का वचन दिया। नवाब वजीर ने भविष्य में मीरकासिम तथा उसके समर्थकों को संरक्षण अथवा नौकरी न देने का आश्वासन दिया। अंग्रेजों की संरक्षकता में बनारस और गाजीपुर की जागीर राजा बलवन्तसिंह को पैतृक जागीर के रूप में दी गई। नवाब ने अवध की सीमा में कम्पनी को नि:शुल्क व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। इस अवसर पर क्लाइव ने अवध में कुछ फैक्टरियाँ स्थापित करने की इच्छा भी प्रकट की थी परन्तु शुजाउद्दौला ने इसे स्वीकार नहीं किया और क्लाइव ने ज्यादा जोर नहीं दिया। एक पृथक सन्धि के द्वारा कम्पनी ने अवध की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और अवध के नवाब ने कम्पनी की सैनिक सहायता का व्यय देना स्वीकार कर लिया।

बंगाल के नवाब के साथ भी नया समझौता करना जरूरी हो गया। इलाहाबाद की सन्धि से कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा से लगान वसूल करने और असैनिक न्याय प्रदान करने का अधिकार मिल गया था। निजामत अर्थात् शान्ति व्यवस्था और फौजदारी का न्याय नवाब के अधिकार में रहा। नये समझौते के अनुसार निजामत के कार्य के व्यय के लिए कम्पनी ने नवाब को 52,86,13,190 रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। इस प्रकार, बंगाल में दोहरे शासन की शुरूआत हुई जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

इलाहाबाद की सन्धि का मूल्यांकन—इलाहाबाद की सन्धि के सम्बन्ध में विद्वानों ने परस्पर-विरोधी मत अभिव्यक्त किये हैं। सर आयरकूट का मत है कि क्लाइव ने एक शानदार अवसर खो दिया। मृत अथवा निष्क्रिय शासकों को पुनः जीवनदान देना निरर्थक था। शुजाउद्दौला को पुनः सिंहासनारूढ़ कराने के स्थान पर उसे स्वयं अवध पर अधिकार कर लेना चाहिए था और मुगल बादशाह के नाम पर दिल्ली की तरफ बढ़ जाना था जहाँ वह अपनी सत्ता कायम कर सकता था। एक अन्य मत यह है कि क्लाइव ने शाह आलम के साथ बहुत ही कठोर व्यवहार किया। वेन्सीटार्ट ने उसे अवध का प्रान्त देने का वायदा किया था परन्तु क्लाइव ने वचन का पालन नहीं किया। इन आरोपों के विरुद्ध क्लाइव की दलील यह थी कि वेन्सीटार्ट ने मुगल बादशाह के साथ कोई लिखित समझौता नहीं किया था। इसके अलावा मुगल बादशाह पर ऐसा बोझ डालना अनुचित था जिसका भार वहन करने की उसमें क्षमता नहीं थी। क्लाइव का मानना था कि हमें सुरक्षा प्रकोष्ठ की नीति अपनाने की आवश्यकता थी अर्थात् कम्पनी के प्रभाववर्ती क्षेत्र चारों तरफ प्रान्तों से सुरक्षित रहने चाहिए। हमें शान्ति का पालन करना चाहिए क्योंकि इसी में हमारी समृद्धि निहित है। वस्तुतः इलाहाबाद की सन्धि क्लाइव की गहरी सूझ-बूझ का प्रमाण है। बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर कम्पनी ने अभी हाल ही में वैधानिक अधिकार प्राप्त किया था। कम्पनी किसी अन्य साहसिक योजना को हाथ में ले, उससे पहले उसे अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। कम्पनी के वित्तीय एवं सैनिक साधनों पर पहले से ही भारी दबाव बना हुआ था। चूंकि कम्पनी मुख्यतः एक व्यापारिक संस्था थी, अतः उसके लिए अभी महत्वाकांक्षी योजना को हाथ में लेना उचित नहीं था। बंगाल की सुरक्षा की समस्या अभी भी सिरदर्द बनी हुई थी और ऐसी स्थिति में नये सैनिक अभियानों से कम्पनी के व्यापार को भारी हानि पहुँच सकती थी। भारत एक विशाल देश है। एक विजय के बाद दूसरी विजय अनिवार्य हो जायेगी और इससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति गंभीर संकट में फंस सकती थी। इससे भारत के देशी शासकों में असंतोष उत्पन्न होने की संभावना भी थी और वे सभी यदि आपस में मिल बैठे तो कम्पनी के लिए अपना अस्तित्व बचाना भी कठिन हो सकता है। कम्पनी के पास इतने बड़े राज्य का शासन चलाने के लिए योग्य अधिकारियों और कर्मचारियों का भी अभाव था। इन सभी तथ्यों के आधार पर इलाहाबाद की सन्धि को काफी महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

बंगाल में दोहरा शासन

दोहरा शासन क्या था—मुगल शासन पद्धति के अन्तर्गत बंगाल सूबे का शासन दो भागों में बंटा हुआ था—(1) दीवानी शासन जिसके अन्तर्गत कर वसूली और सैनिक न्याय का कार्य सम्मिलित था; और (2) निजामत जिसके अन्तर्गत

शान्ति व्यवस्था, वाह्य आक्रमण से रक्षा और फौजदारी न्याय के कार्य सम्मिलित थे। जिन दिनों मुगलों की केन्द्रीय सत्ता सबल रही, बंगाल के सूबेदारों के पास निजामत के अधिकार ही थे जबकि दीवानी शासन के लिए मुगल बादशाह अपनी तरफ से पृथक दीवान की नियुक्ति करता था। जब बंगाल का सूबेदार केन्द्रीय सत्ता से स्वतन्त्र हो गया तो उसने निजामत और दीवानी–दोनों अधिकार ग्रहण कर लिए, फिर भी सैद्धांतिक तौर पर दीवानी के अधिकार वह अब भी मुगल बादशाह के नाम पर उपभोग करता था।

मीरजाफर की मृत्यु के बाद उसके छोटे से बच्चे नज्मुद्दौला को बंगाल का नवाब बनाया गया। कम्पनी ने शिशु नवाब पर एक नई सन्धि थोप दी जिसके अनुसार कम्पनी ने 50 लाख रुपया वार्षिक के बदले में निजामत के अधिकार प्राप्त कर लिये। अब नवाब को केवल राजस्व वसूली तथा अपनी मान मर्यादा के लिए आवश्यक सेना रखने की ही अनुमति दी गई। नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति एवं नियंत्रण का अधिकार भी कम्पनी ने अपने हाथ में ले लिया। नवाब द्वारा निजामत के अधिकार त्यागना वस्तुतः बंगाल में ब्रिटिश राज्य की स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था।

अगस्त 1765 ई० में कम्पनी को मुगल बादशाह की तरफ से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी भी प्राप्त हो गई। यद्यपि मुगल बादशाह स्वयं इस समय दूसरों पर निर्भर था परन्तु सैद्धान्तिक और वैधानिक दृष्टि से वह अब भी सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य का अधिकारी था। अतः उसके आदेश ने कम्पनी के कार्यों को वैधानिकता का जामा पहना दिया। वैसे भी बंगाल का नवाब कम्पनी के हाथ में कठपुतला बना हुआ था। इस प्रकार, कम्पनी का बंगाल में निजामत तथा दीवानी-दोनों अधिकार प्राप्त हो गये। शासन के इन दो भागों को जब दो अलग-अलग शक्तियों को सौंप दिया जाता है तो उसे दोहरा शासन कहा जाता है।

क्लाइव की व्यवस्था—कम्पनी को शासन सम्बन्धी अधिकार मिल गये परन्तु सरकारी कार्यों को सम्पादित करने योग्य न तो उसके पास साधन थे और न ही रुचि थी। वस्तुतः क्लाइव कम्पनी को प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से दूर रखना चाहता था। उसका मानना था कि कम्पनी के अधिकारी बंगाल की शासन व्यवस्था की पेचीदगियों को नहीं समझ पायेंगे। अतः उसने भारतीय अधिकारियों के माध्यम से दीवानी का काम चलाने का निश्चय किया। इसके लिए दो नायब दीवान नियुक्त किये गये। एक बंगाल के लिए और दूसरा बिहार के लिए। बंगाल में मुहम्मदरजाखां और बिहार में राजा शिताबराय को नियुक्त किया गया। इस प्रकार कम्पनी ने अपना उत्तरदायित्व भारतीय अधिकारियों पर डाल दिया। उसे केवल अधिक से अधिक आय प्राप्त करने से मतलब था। अधिक आय को जुटाना भारतीय अधिकारियों का कार्य था।

निजामत का कार्य नवाब के हाथों में ही रहने दिया गया और इसके लिए कम्पनी ने नवाब को एक निश्चित धन राशि देना शुरू कर दिया। परन्तु चूँकि सैनिक शक्ति कम्पनी के हाथ में थी अतः नवाब अपने कार्यों को निभाने के लिए कम्पनी पर निर्भर था। अर्थात् निजामत की सर्वोच्च शक्ति अब कम्पनी के पास थी परन्तु उत्तरदायित्व नवाब का था। चूँकि नवाब अल्पायु था इसलिए उसके कामों की देखभाल के लिए एक नायब-निजाम की नियुक्ति की गई और इस पद के लिए भी मुहम्मद रजाखां को चुना गया जो कि बंगाल का नायब-दीवान भी था। 1772 ई० तक रजाखां ही शासन के लिए उत्तरदायी हुआ।

क्लाइव की इस शासन-व्यवस्था को दोहरा शासन इसलिए कहते हैं कि सिद्धान्त में शासन का भार कम्पनी और नवाब में विभाजित था। व्यावहारिक रूप में कम्पनी ने सूबों की शासन-व्यवस्था को स्पष्टतया अपने हाथ में नहीं लिया। वास्तविक सत्ता के होते हुए भी कम्पनी ने दूर रह कर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया। इस प्रकार, सूबों में दो सत्ताओं की स्थापना हुई। एक भारतीय और दूसरी विदेशी। विदेशी सत्ता वास्तविक थी जबकि भारतीय सत्ता उसकी परछाई मात्र थी।

दोहरे शासन की समीक्षा—दोहरे शासन की अधिकांश लोगों ने कटु आलोचना की है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें कुछ भी अच्छाइयाँ न थी। जहाँ तक कम्पनी के हितों का सवाल है, दोहरे शासन से उसे कई फायदे थे। उदाहरणार्थ—(1) मौजूदा स्थिति में कम्पनी के कर्मचारियों को भारतीय शासन की समस्याओं का पर्याप्त अनुभव नहीं था और उनसे यह आशा करना कि वे रातोंरात में योग्य प्रशासक बन जायेंगे निरर्थक था। ऐसी स्थिति में कम्पनी ने शासन का पूर्ण उत्तरदायित्व न लेकर बुद्धिमानी का परिचय दिया। (2) इंगलैण्ड में कम्पनी को अभी भी मूलतः एक व्यापारिक कम्पनी समझा जाता था। यदि वह इस समय बंगाल में प्रादेशिक संप्रभुता स्वीकार कर लेती तो इससे कई प्रकार की कानूनी अड़चनें पैदा हो सकती थी। (3) भारत में कम्पनी के अन्य यूरोपीय प्रतिस्पर्द्धियों की शक्ति का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हो पाया था। यदि बंगाल में कम्पनी सीधे अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करती तो उनकी ईर्ष्या भड़क सकती थी। (4) इससे मराठे भी भड़क सकते थे। मराठों की संयुक्त शक्ति का सामना करने की शक्ति अभी कम्पनी के पास नहीं थी। (5) बंगाल की जनता को अन्धेरे में रखने के लिए भी अभी दोहरी व्यवस्था आवश्यक थी। इस प्रकार, यह व्यवस्था भारतीय जनता, कम्पनी के अन्य यूरोपीय शत्रुओं और इंगलैण्ड की सरकार की आंखों में धूल डालने का प्रयास था।

परन्तु लाभ की अपेक्षा दोषों की संख्या अधिक थी। जिनमें से कुछ इस प्रकार थे—

1. जिस प्रकार की शासन व्यवस्था कायम की गई थी उसमें कम्पनी के अधिकारियों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। चूंकि कम्पनी के कर्मचारियों को बहुत कम वेतन मिलता था अतः वे हर सम्भव तरीके से अधिक से अधिक धन कमाने की ताक में रहते थे। उनका निजी व्यापार अब चरम सीमा पर पहुंच गया और उन्होंने अपने 'दस्तकों' का इतना अधिक दुरुपयोग किया कि भारतीय व्यापारियों को अपना पैतृक धन्धा ही छोड़ने के लिए विवश हो जाना पड़ा। क्लाइव ने भी इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा था कि "कम्पनी के व्यापारी एक व्यापारी की भांति व्यापार न करके संप्रभु के समान व्यवहार करते थे और उन्होंने हजारों व्यापारियों के मुंह से रोटी छीन ली थी और जो भारतीय पहले व्यापार करते थे वे अब भीख माँगने लगे हैं।" कम्पनी के कर्मचारियों का जिस प्रकार से भाग्योदय होने लगा उससे प्रभावित होकर बड़े-बड़े लोग कम्पनी की सेवा में आने के लिए लालायित होने लग गये थे। भारत से धन कमाकर इंगलैण्ड जाने वाले कर्मचारी इस शान शौकत का जीवन बिताते थे कि इंगलैण्ड के मौजूदा सामन्ती समाज का अस्तित्व डगमगाने लग गया।

2. कम्पनी के कर्मचारियों को धनवान बनते देखकर कम्पनी के मालिकों में भी अधिक धन प्राप्त की इच्छा जागृत हुई और 1766 ई० में उन्होंने मांग की कि उनके डिविडेन्ड (लाभांश) को 6 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया जाय। 1767 में उनकी मांग हुई कि लाभांश को बढ़ाकर 12½ प्रतिशत कर दिया जाय। इस प्रकार की मनोवृति से बंगाल में आर्थिक शोषण का काम और भी व्यापक पैमाने पर जारी हो गया।

3. आर्थिक शोषण के मामले में इंगलैण्ड की सरकार भी पीछे नहीं रही। 1767 ई० में उसने भी कम्पनी से 4 लाख पौंड की माँग की, यदि कम्पनी अपने मौजूदा राजस्व साधनों और प्रदेशों को कायम रखना चाहती हो। इससे कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई और घाटे की पूर्ति के लिए भारतीय सूबों को ही चुना गया।

4. दोहरे शासन का सबसे बड़ा दोष यह था कि वास्तविक सत्ता ने अपना उत्तरदायित्व सम्भालने से इन्कार कर दिया और अपने कठपुतलों को अपना उत्तरदायित्व संभलवा दिया। ऐसी शासन व्यवस्था कभी सफल नहीं हो सकती थी जिसमें शासन का उत्तरदायित्व उठाने वालों के हाथ में वास्तविक सत्ता न हो। इससे चारों ओर अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। कम्पनी को केवल अपनी आय से मतलब था और जनता की देखभाल नवाब को सौंप दी गई। इससे जनता की हालत दिन प्रतिदिन बिगड़ती गई।

5. दोहरे शासन के अन्तर्गत बंगाल का व्यापार, उद्योग और कृषि का सर्वनाश हो गया। कम्पनी ने अपनी शोषण नीति के द्वारा बंगाल के रेशमी और

सूती वस्त्र उद्योग को चौपट कर दिया। कम्पनी के अधिकारी तथा उनके प्रतिनिधि भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा तैयार करने के लिए विवश करते थे और फिर अपनी इच्छानुसार काफी कम मूल्य चुकाते थे। आनाकानी करने वाले जुलाहों के अंगूठे काट दिये जाते थे। परिणामस्वरूप सैंकड़ों परिवार जो वस्त्र उद्योग में लगे हुए थे, बंगाल छोड़कर भाग गये। यही स्थिति अन्य उद्योगों के कारीगरों तथा मजदूरों की हुई। बंगाल के उद्योग-धन्धे चौपट हो गये। कृषि का भी यही हाल हुआ। भूमिकर वसूली का काम अधिक से अधिक लगान की बोली लगाने वाले ठेकेदारों को दिया जाने लगा। ये ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करने का जी-तोड़ प्रयास करते थे क्योंकि इन्हें अपने लिए भी मुनाफा कमाना होता था और फिर इस बात की कोई गारन्टी नहीं थी कि अगले वर्ष भी उन्हें मौजूदा क्षेत्रों से राजस्व वसूली का काम मिल ही जायेगा। अतः ठेकेदारों और किसानों में किसी प्रकार का कोई स्थायी सम्बन्ध विकसित नहीं हो पाया। डा० एम. एस. जैन ने आँकड़े देकर यह प्रमाणित किया है कि जहाँ दीवानी प्रदान किये जाने के पूर्व बंगाल-बिहार से भू राजस्व के नाम पर 80 लाख रुपयों की वसूली होती थी वहीं 1766–67 में 2,24,67,500 रुपये की वसूली की गई थी। स्पष्ट है कि इससे किसानों की कमर टूट गई। चूंकि कम्पनी और ठेकेदारों को भूमि की उन्नति अथवा कृषि सुधारों में किसी प्रकार की रुचि नहीं थी अतः कृषि और किसानों की स्थिति दयनीय हो गई। हजारों किसानों ने कृषि करना ही छोड़ दिया। फलस्वरूप खेती के योग्य भूमि भी बेकार हो गई और जंगल विकसित होने लग गये। 1770 ई० के आसपास सम्पूर्ण बंगाल भयंकर अकाल की चपेट में फंस गया और एक-तिहाई आबादी तथा इतना ही पशु धन नष्ट हो गया।

उपर्युक्त दोषों के परिणामस्वरूप कम्पनी के कर्मचारी तो धनवान होते गये परन्तु स्वयं कम्पनी की स्थिति शोचनीय हो गई। उसकी आय काफी घट गई और वह दिवालिये की स्थिति में पहुंच गई। इङ्गलैण्ड की संसद में बोलते हुए लार्ड कार्नवालिस ने कहा था—"मैं पूर्ण विश्वास के साथ इस मत का हूँ कि विश्व में कोई भी ऐसी सभ्य सरकार नहीं रही जो इतनी भ्रष्ट, विश्वासघाती और लोभी हो जितनी कि भारत में कम्पनी की सरकार थी।" मुर्शिदाबाद के अंग्रेज रेजीडेन्ट ने 1769 ई० में लिखा था कि "यह देश जो कि अत्यधिक निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासक के अन्तर्गत भी फलता-फूलता रहा था आज विनाश की ओर अग्रसर है।" यही कारण है कि 1772 ई० में जब वारेन हेस्टिंग्ज को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसे दोहरे शासन को समाप्त करने के स्पष्ट आदेश दिये गये थे।

क्लाइव के प्रशासनिक सुधार

क्लाइव जब दुबारा गवर्नर बनकर आया तो उसे राजनीतिक समझौतों के अलावा कम्पनी के आन्तरिक शासन प्रबन्ध की तरफ भी पर्याप्त ध्यान देना पड़ा और इस सम्बन्ध में उसने कई सुधार कार्यान्वित किये जिनका कम्पनी के कर्मचारियों ने जबरदस्त विरोध भी किया। परन्तु क्लाइव की दृढ़ता के कारण विरोधियों को झुकना पड़ा। उसके द्वारा किये गये प्रशासनिक सुधार इस प्रकार थे—

1. **असैनिक सेवाएं**—क्लाइव के समय में कम्पनी का शासन कलकत्ता कौंसिल के हाथों में था। गवर्नर सहित इसके 17 सदस्य थे। परन्तु बहुत से सदस्यों ने एजेन्सियों का काम स्वीकार कर रखा था और अपने काम के सिलसिले में वे पूरे बंगाल में बिखरे पड़े थे। उन्हें एक समय में एक स्थान पर एकत्रित करना आसान काम न था। लिहाजा कौंसिल का काम कलकत्ता में उपस्थित 7-8 सदस्य ही चलाते थे। कौंसिल के सदस्यों के नीचे कम्पनी के सामान्य अधिकारी तथा कर्मचारी थे जिन्हें कम्पनी के काम की अपेक्षा अपने निजी व्यापार की अधिक चिन्ता थी। वे अपने 'दस्तकों' को भारतीय व्यापारियों को बेचकर काफी धन कमा लेते थे। छोटे-मोटे कामों के लिए वे भारतीयों से भेंट और रिश्वत लेने के आदी बन चुके थे। उनकी धन लोलुपता ने उन्हें बेईमान, भ्रष्टाचारी तथा उत्तरदायित्वहीन बना दिया था। कम्पनी के पास योग्य पदाधिकारियों का भी अभाव था। 1766 ई० में स्वयं क्लाइव ने लिखा था कि सचिवालय का कार्य केवल तीन वर्ष का अनुभव प्राप्त एक युवक के जिम्मे था। एकाउन्टेन्ट का कार्य उससे भी निम्न श्रेणी के लिपिक के जिम्मे था। सैनिक स्टोर कीपर, नौसैनिक स्टोरकीपर, सार्वजनिक कार्य स्टोरकीपर जैसे महत्वपूर्ण पदों पर साधारण क्लर्क काम कर रहे थे। सेना का वेतन बाँटने वाले अधिकारी के पद पर भी एक साधारण क्लर्क काम कर रहा था जबकि उसके पास बीस लाख रुपया रहता था। इस प्रकार, प्रशासन व्यवस्था का ढाँचा ही बिगड़ गया था।

इस स्थिति को सुधारने के लिए क्लाइव ने बहुत से सुधार लागू किये। उसने कम्पनी के सभी सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों से प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करवाये कि वे भविष्य में किसी प्रकार की रिश्वत तथा भेंट-उपहार नहीं लेंगे और पूर्ण निष्ठा तथा इमानदारी के साथ काम करेंगे। दूसरा कदम बंगाल के अनुभवहीन नये कर्मचारियों को मद्रास भेजना तथा मद्रास से पुराने अनुभवी कर्मचारियों को बंगाल में बुलाना था। बंगाल के कर्मचारियों ने इसका विरोध किया परन्तु क्लाइव ने दृढ़ता के साथ उनके विरोध की उपेक्षा की। शासन में भ्रष्टाचार की वृद्धि का एक मूल कारण कम्पनी के कर्मचारियों के वेतनों का कम होना था। कर्मचारियों को वेतन के अलावा नियमित आय होती रहे इस दृष्टि से क्लाइव ने "व्यापारिक एकाधिपत्य" की योजना बनाई। इसके अन्तर्गत एक "व्यापार सभा"

कायम की गई और उसे तम्बाकू, सुपाड़ी और नमक के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। इससे प्राप्त मुनाफे को सभी सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों में बांटने की व्यवस्था की गई। परन्तु कम्पनी के मालिकों को क्लाइव की यह योजना पसन्द न आई और 1768 ई० में इस योजना को स्थगित कर दिया गया।

2. **सैनिक सेवाएं**—सैनिक विभाग में क्लाइव को सबसे अधिक जिस गम्भीर एवं नाजुक समस्या का सामना करना पड़ा, वह थी भत्ते की समस्या। भत्ता देने की प्रथा का सिलसिला कर्नाटक युद्धों से शुरु हुआ जबकि चांदा साहब और मुहम्मद अली ने क्रमशः अपनी सहायता को आये फ्रांसीसी और अंग्रेज सैनिकों को भत्ते दिये थे। बंगाल में भी नवाब के द्वारा ये भत्ते दिये गये थे। परन्तु अब भत्ते देने का भार कम्पनी पर आ पड़ा था और भत्ता वेतन का अंग बन गया था। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने क्लाइव को भत्ते समाप्त करने अथवा उनमें कमी करने के आदेश दिये। तदनुसार क्लाइव ने इस सम्बन्ध में निम्न नियम बनाये—(1) मुंगेर और पटना की सैनिक छावनियों में रहने वाले अधिकारियों को भविष्य में आधा भत्ता देना तय किया गया। (2) छावनी के बाहर परन्तु बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमा में काम पर भेजे जाने की स्थिति में पूरा भत्ता देना तय किया गया। पहली श्रेणी का भत्ता कम्पनी को देना पड़ता था परन्तु यह भत्ता नवाब को देना पड़ता था। (3) उपर्युक्त तीनों सूबों की सीमाओं के बाहर काम पर भेजे जाने की स्थिति में दुगुना भत्ता दिया जाना तय हुआ। यह भत्ता उस भारतीय शासक को देना होगा जिसकी सहायता के लिए अंग्रेज सेना को भेजा जायेगा।

अंग्रेज सैनिक अधिकारियों ने क्लाइव के इन नियमों का जबरदस्त विरोध किया और कम्पनी पर दबाव डालने के उद्देश्य से सबने मिलकर अपने त्याग पत्र दे दिये। क्लाइव ने भी दृढ़ता तथा साहस का परिचय दिया और सभी के त्याग-पत्र स्वीकार कर लिए और मद्रास से सैनिक अधिकारियों को बुलवाने की व्यवस्था कर ली। इस पर सैनिक अधिकारियों के हौंसले पस्त हो गये और अपने त्याग पत्र वापस ले लिये।

3. **अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों की भलाई**—वृद्धावस्था में सेवा-निवृत होने के बाद कम्पनी के कर्मचारियों को किसी प्रकार की पेन्शन अथवा आर्थिक सुविधा नहीं दी जाती थी जिससे अवकाश प्राप्त लोगों की आर्थिक कठिनाइयां काफी बढ़ जाती थी। इस कमी को दूर करने के लिए क्लाइव ने निजी तौर पर प्रयास किया। मीरजाफर ने मरते समय 5 लाख रुपया व्यक्तिगत रूप से क्लाइव को दिया था। क्लाइव ने अपने नाम से "लार्ड क्लाइव फण्ड" स्थापित किया और पांच लाख रुपया इस फण्ड को दे दिया। फण्ड का यह रुपया व्यापार में लगा दिया गया

और व्यापार से प्राप्त लाभ की धनराशि से अवकाश प्राप्त कर्मचारियों को पेन्शन देने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार, थोड़े से समय में क्लाइव ने सैनिक तथा असैनिक सेवाओं के सम्बन्ध में बहुत से सुधार किये परन्तु इन सुधारों का अपेक्षित परिणाम नहीं निकला। कम्पनी का शासन पहले की भांति ही रिश्वत और भ्रष्टाचारी के आधार पर चलता रहा और कर्मचारी निजी व्यापार तथा दस्तकों के दुरुपयोग से धन कमाते रहे और सूबों की जनता भारी करारोपण तथा आर्थिक शोषण की पीड़ा से कराहती रही।

क्लाइव का मूल्यांकन

1725 ई० में मार्केट ड्रायटन के समीप एक सामान्य परिवार में रावर्ट क्लाइव का जन्म हुआ। बचपन में उसे एक के बाद एक चार स्कूलों में पढ़ने को भेजा गया परन्तु पढ़ने-लिखने के मामले में वह विशेष प्रगति न कर सका। 17 वर्ष की आयु में उसे कम्पनी की सेवा में एक क्लर्क की हैसियत से भर्ती कर लिया गया और 1744 ई० के अन्तिम दिनों में वह इंगलैंड से मद्रास पहुंचा। आरम्भ में उसे क्लर्की का काम बिलकुल पसंद न आया और एक बार तो उसने आत्म हत्या करने का विचार भी किया। परन्तु कर्नाटक के युद्धों ने और विशेषकर अर्काट के घेरे ने उसके भाग्य की दिशा को मोड़ दिया। क्लर्क से वह सैनिक और फिर सेनानायक और गवर्नर बन गया। एक सामान्य नागरिक से वह एक मालदार व्यक्ति बन गया। इंगलैण्ड की सरकार ने उसकी सेवाओं के कारण उसे "लार्ड" के पद से विभूषित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्लाइव एक सहासी सैनिक, कुशल कूटनीतिज्ञ और कर्मठ एवं परिश्रमी व्यक्ति था। परन्तु यह भी सत्य है कि वह झूठा, धोखेबाज, रिश्वतखोर तथा षड्यन्त्रकारी था। उसे अपने देश के सम्मान से अत्यधिक प्रेम था और भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना में उसका महत्वपूर्ण योगदान रहा।

अंग्रेज इतिहासकारों ने क्लाइव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और कुछ ने तो अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी स्तुति की है। पिट ने उसे, "स्वर्ग में जन्मा सेना-नायक" कहा तो चेथम ने "ईश्वर द्वारा भेजा गया सेनापति" बताया। मैकाले ने लिखा है कि "हमारे टापू ने शायद ही ऐसे व्यक्ति को जन्म दिया हो जो युद्ध और विचार-विमर्श में उससे बढ़कर हो।"

वस्तुतः क्लाइव एक ऐसा अप्रशिक्षित सैनिक था जिसने बुद्धिमत्तापूर्ण सैनिक योजनाओं के स्थान पर अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति एवं दिलेरी से ऐसे कार्य सम्पादित किये जिनके आधार पर भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सका। 1751 ई० में उसके द्वारा अर्काट की विजय और उसकी सुरक्षा, दक्षिण भारत में डूप्ले की सभी योजनाओं को प्रभावहीन बना देना और कलकत्ता पर पुनः

अधिकार तथा प्लासी में सिराजुद्दौला को परास्त करना—ये सभी ऐसे कार्य थे जिनसे पता चलता है कि वह एक ऐसा सुयोग्य सेनानायक था जिसमें मौजूदा स्थिति को समझने की कुशाग्र बुद्धि थी और जो युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए षड़यन्त्र तथा शत्रु पक्ष के लोगों को अपनी तरफ मिलाने की कला में दक्ष था।

यदि अपने प्रथम गवर्नरी काल में उसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी तो दूसरे गवर्नरी काल में एक चतुर एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भांति उस नींव को मजबूत बनाया। उसने तत्काल दिखाई देने वाले प्रलोभनों में न फंसकर उचित अवसर की प्रतीक्षा करना अधिक ठीक समझा। मुगल बादशाह और अवध के नवाब वजीर के साथ किये गये समझौते इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में पूर्ण शासन सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद भी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न संभालना भी उसकी कूटनीतिक प्रतिभा का प्रमाण है। ईर्ष्यालु यूरोपियनों और भारतीयों की जलती निगाहों से बचने के लिए दोहरा शासन सर्वथा उचित था। बंगाल में उसने जो प्रशासनिक सुधार किये वे भी कम महत्व के न थे। कम्पनी के कर्मचारियों का विरोध और सैनिक अधिकारियों के सामूहिक त्याग-पत्र भी उसे अपने इरादे से न हटा सके। फिर भी, उसने कभी किसी से प्रतिशोध लेने का विचार नहीं किया।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि क्लाइव में दोषों का अभाव था। उसमें भी कई दोष विद्यमान थे। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति को प्राथमिकता देता था, साधनों के औचित्य को नहीं। उसमें नैतिकता का अभाव था। सिराजुद्दौला के विरुद्ध रचा गया षड़यन्त्र और जाली सन्धि पत्र तैयार करवाना तथा अमीचन्द को धोखा देना उसके निम्न नैतिक स्तर को स्पष्ट कर देते हैं। व्यक्तिगत रूप में वह अत्यधिक लोभी तथा धन का भूखा था। जब वह दूसरी बार गवर्नर बनाकर भेजा गया तो उसे भ्रष्टाचार को समाप्त करने के आदेश दिये गये थे और यद्यपि उसने इस दिशा में कुछ कदम उठाये भी परन्तु वह स्वयं अपने पर संयम न रख सका और अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए हमेशा सक्रिय रहा। कुछ विद्वानों के अनुसार बंगाल के विनाश के लिए क्लाइव उत्तरदायी था। उसी ने भारतीयों से कीमती भेंटें तथा घूंस लेने की प्रथा शुरू की थी। कुछ विद्वान उसे एक योग्य सेनानायक भी स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार, उसे एक योग्य शासक-प्रबन्धक भी नहीं माना जाता। के. एम. पाणिक्कर का तो मत है कि 1765 से 1772 तक कम्पनी द्वारा स्थापित बंगाल का राज्य एक "डाकू-राज्य" था। इसका दोष क्लाइव पर आता है। उसने जो हल निकाले वे स्थाई न होकर अस्थायी थे।

1767 ई० में क्लाइव वापस इंगलैण्ड लौट गया। कुछ समय बाद वह लोकसभा का सदस्य चुन लिया गया। संसद में जहां उसकी प्रशंसा की गई वहीं कुछ सदस्यों ने उसकी कटु निन्दा भी की और उस पर भ्रष्टाचार, झूठ आदि के

आरोप लगाये गये। क्लाइव ने इन आरोपों को स्वीकार कर लिया परन्तु यह भी स्पष्ट कर दिया कि उसने यह सब कुछ अपने देश की भलाई के लिए किया था। अन्त में संसद ने क्लाइव को सभी आरोपों से मुक्त कर दिया और उसकी सेवा की प्रशंसा की गई। परन्तु इससे क्लाइव को गहरा सदमा पहुंचा। वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठा और नवम्बर 1774 ई० में उसने उस्तरे से अपना गला काट कर आत्म हत्या कर ली। इस प्रकार, उसके जीवन का अन्त हुआ। उसकी उपलब्धियों की चर्चा करते हुए बर्क ने कहा था कि "उसने महान कार्यों की नींव डाली····· उसने उस गहरे पानी में प्रवेश किया जिसके तल का भी पता न था। उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक पुल का निर्माण किया जिस पर लंगड़े चल सकते थे और अन्धे भी अपना मार्ग खोज सकते थे।" वस्तुतः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के संस्थापक के रूप में क्लाइव की सेवाएँ महत्वपूर्ण थी।

अध्याय 5

आंग्ल–मराठा संघर्ष एवं मराठों का पतन

छत्रपति शिवाजी ने मराठा शक्ति को संगठित किया था, किन्तु शिवाजी की मृत्यु के वाद मराठा शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया। पानीपत के युद्ध में मराठा शक्ति पर भीषण प्रहार हुआ। किन्तु मराठों की शक्ति निर्मूल नष्ट नहीं हुई। सर जदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है कि, "पानीपत का युद्ध एक निर्णायक युद्ध था। मराठा सेना की मुकुट मणि वहीं गिर गयी।" किन्तु पेशवा माधवराव प्रथम ने मराठों में पुनः उत्साह व अनुशासन स्थापित किया और उसने पानीपत की पराजय की कालिमा को मिटा दिया। 18 नवम्वर, 1772 को पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु हो गयी। मराठों के लिये उसकी मृत्यु पानीपत से भी अधिक घातक सिद्ध हुई। उसकी मृत्यु के वाद मराठा शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी और मराठा दरवार षड़यंत्रों का अड्डा वन गया। मराठा सरदार अपनी-अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने में लग गये। फलस्वरूप अंग्रेजों से वे निरन्तर पराजित होने लगे और अंत में मराठा शक्ति का पतन हो गया। निःसन्देह पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु की वाद मराठों का सूर्य अस्तांचल की ओर चल पड़ा।

1772 में मराठा सरदार महादजी सिन्धिया ने दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, किन्तु पेशवा माधवराव की मृत्यु से मराठा राजनीति में एक नया मोड़ आया। अव मराठा सरदारों को एकता के सूत्र में वांधने की क्षमता किसी में नहीं थी। मराठा दरवार में सत्ता के लिये संघर्ष आरम्भ हो गया। मराठा सरदार स्वतन्त्र आचरण करने लगे और निजी स्वार्थों के वशीभूत होकर अपना कर्त्तव्य ही भूल वैठे। मराठों की इस फूट का अंग्रेजों ने लाभ उठाया। 1 72 में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर केवल दो शक्तियां—मराठा और अंग्रेज ही रह गये थे। अतः भारत में सर्वोच्चता प्राप्ति के लिये इन दोनों शक्तियों में संघर्ष अवश्यंभावी हो गया था।

अंग्रेजों की मराठों के प्रति नीति—रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा वम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सियों पर गवर्नर जनरल का जो नियंत्रण स्थापित किया था, वह स्पष्ट नहीं था। अतः इन दोनों प्रेसीडेन्सियों के अधिकारी स्वच्छन्द होकर कार्य करने लगे। दक्षिण व मध्य भारत की ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जिनसे उन्होंने झगड़ा मोल न ले रखा हो। इसके फलस्वरूप 1780 में स्थिति यहां तक पहुंच गई कि दक्षिण भारत में ब्रिटिश शासन की नींव हिल गई। दक्षिण भारत के सम्बन्ध में कम्पनी की नीति के प्रमुख तीन भाग थे :—

(1) अंग्रेज जानते थे कि दक्षिण में मुख्य रूप से तीन शक्तियां हैं—निजाम, मराठा और हैदरअली। यदि ये तीनों शक्तियां अंग्रेजों के विरुद्ध एक हो जाती है तो दक्षिण में अंग्रेजों का अस्तित्व समाप्त हो सकता है। अतः अंग्रेज चाहते थे कि ये तीनों शक्तियां आपस से लड़ती रहनी चाहिये।

(2) दक्षिण की इन तीनों शक्तियों में मराठा सर्वाधिक महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी है। अत मराठों को अपने घरेलू झगड़ों में फंसाये रखना चाहिये ताकि बंगाल व उत्तरी भारत में अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव में उन्हें हस्तक्षेप करने का अवसर न मिल सके।

(3) दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर धीरे धीरे अपने पैर फैलाने के लिये सालसेट, बसीन व गुजरात का कुछ भाग कम्पनी को अपने अधिकार में कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त नीतियों का अनुपालन करके ही अंग्रेजों ने दक्षिण भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित की थी।

आंग्ल–मराठा सम्बन्ध—मुगलों की शक्ति के पतन के वाद भारत में मराठा शक्ति उदित हो रही थी। अतः जो शक्ति भारत में प्रमुख स्थान प्राप्त कर रही थी, उसका अंग्रेजों से संघर्ष होना स्वाभाविक था। किन्तु 18 वीं शताब्दी के मध्य तक अंग्रेजों के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वे मराठों का सामना कर सके। अतः कम्पनी सदैव इस वात का ध्यान रखने लगी कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे मराठों के साथ संघर्ष करना पड़े। फिर भी कम्पनी अपनी उपर्युक्त नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करती रही। 1758 में अंग्रेजों व मराठों के बीच एक समझौता हुआ जिसकें अनुसार अंग्रेजों ने मराठों से दस गांव प्राप्त किये तथा मराठा क्षेत्र में कुछ व्यापारिक सुविधाएं भी प्राप्त की। 1759 में ब्रिटिश अधिकारी प्राइस (Price) व थामस मॉट्सन (Thomas Motsyn) पुनः पूना गये। इन दोनों का उद्देश्य मराठों से सालसेट व बसीन प्राप्त करना था। किन्तु इन्हें अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं हुई। फिर भी अंग्रेजों ने अपने प्रयत्नों में ढील नहीं आने दी। पानीपत में मराठों की पराजय ने उन्हें प्रोत्साहित किया तथा 1767 में थामस मॉट्सन को पुनः पूना भेजा गया। इस बार भी

सालसेट व वसीन के सम्वन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका। क्योंकि पेशवा माधवराव, मैसूर के शासक हैदरअली के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता चाहता था, किन्तु कम्पनी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। फिर भी मॉट्सन ने पेशवा को आश्वासन दिया कि कम्पनी मराठों से कभी युद्ध नहीं करेगी और यदि कोई तीसरी शक्ति मराठों से युद्ध करती है तो कम्पनी मराठों के विरुद्ध सहायता नहीं देगी।

1761 में पेशवा वालाजी वाजीराव की मृत्यु के बाद उसका अल्पवयस्क पुत्र माधवराव पेशवा की मनसव पर वैठा था। पेशवा अल्पवयस्क होने के कारण उसका चाचा रघुनाथराव, जो इतिहास में राघोवा के नाम से प्रसिद्ध है, पेशवा का संरक्षक नियुक्त हुआ। राघोवा अत्यन्त ही महत्वाकांक्षी था और वह स्वयं पेशवा वनना चाहता था। अतः पेशवा अल्पवयस्क होने के वावजूद राघोवा के संरक्षण में कार्य करना नहीं चाहता था और उसने स्वयं ने अनेक प्रशासकीय कार्य किये। 18 नवम्बर, 1772 को पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गयी। उसके कोई सन्तान नहीं थी, अतः उसका भाई नारायणराव पेशवा की मनसव पर वैठा। इधर राघोवा की महत्वाकांक्षा बढ़ती जा रही थी। अतः राघोवा ने अपनी पत्नी आनन्दीवाई के सहयोग से 13 अगस्त, 1773 को नारायणराव की हत्या करवादी और अपने आपको पेशवा घोषित कर दिया। किन्तु मराठों में एक ऐसा व्यक्ति भी था जिसके नेतृत्व में मराठा सरदारों ने राघोवा का विरोध किया। वह व्यक्ति था वालाजी जनार्दन जो नाना फडनवीस के नाम से प्रसिद्ध था। नाना फडनवीस के नेतृत्व में मराठों ने वाराभाई संसद का निर्माण किया और शासन प्रवन्ध अपने हाथ में ले लिया। किन्तु उनके सामने समस्या यह थी कि पेशवा किसे वनाया जाय। जिस समय नारायणराव की मृत्यु हुई थी, उस समय उसकी पत्नी गंगावाई गर्भवती थी। 18 अप्रेल, 1774 को उसने एक वालक को जन्म दिया, जिसका नाम माधवराव द्वितीय रखा गया। वाराभाई संसद ने माधवराव द्वितीय को पेशवा घोषित कर दिया तथा नाना फडनवीस को उसका संरक्षक नियुक्त किया। वाराभाई संसद ने राघोवा को गिरफ्तार करने का आदेश दे दिया। इस पर राघोवा ने दिसम्वर 1774 को थाना पर आक्रमण कर दिया, किन्तु वह पराजित होकर भाग खड़ा हुआ।

सूरत की सन्धि—राघोवा भागकर वम्वई गया और वम्वई कौंसिल के अध्यक्ष हॉर्नवाई से वातचीत की। तत्पश्चात कम्पनी की वम्वई शाखा और राघोवा के बीच 6 मार्च, 1775 को एक सन्धि हो गयी, जिसे सूरत की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि में मुख्य रूप से निम्न वातें तय की गई :—

(1) अंग्रेज राघोवा को पेशवा वनाने में मदद करेंगे।

(2) राघोवा कम्पनी की वम्वई शाखा को थाना, वसीन, सालसेट व जम्बूसर के प्रदेश देगा।

(3) राघोवा की सुरक्षा के लिये 2,500 अंग्रेज सैनिक पूना में रखे जायेंगे, जिसका खर्च $1\frac{1}{2}$ लाख रुपये वार्षिक के हिसाब से राघोवा कम्पनी को अदा करेगा।

(4) अपनी सुरक्षा के वदले राघोवा कम्पनी की वम्वई शाखा को छः लाख रुपये देगा।

(5) यदि राघोवा पूना से कोई शान्ति समझौता करेगा तो उसमें अंग्रेजों को भी सम्मिलित करेगा।

कम्पनी की वम्वई शाखा ने यह सन्धि विना गवर्नर जनरल को पूछे की थी तथा रेगुलेटिंग एक्ट के द्वारा कम्पनी की वम्वई शाखा इसके लिये अधिकृत नहीं थी। सन्धि के पश्चात हॉर्नवाई ने केवल पत्र लिखकर इसकी सूचना गवर्नर जनरल को भेज दी। इस सन्धि के कारण ही अंग्रेजों व मराठों के संघर्षों का सूत्रपात हुआ तथा मॉट्सन ने मराठों को जो आश्वासन दिया था, उसे इस सन्धि द्वारा तोड़ दिया गया। राघोवा ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण सम्पूर्ण मराठा जाति की प्रतिष्ठा का वलिदान कर दिया।

आंग्ल–मराठा संघर्ष—सूरत की सन्धि के वाद वम्वई सरकार ने राघोवा की सहायता हेतु एक सेना भेजी। अंग्रेजों की सेनाएं पूना की ओर वढ़ी। 18 मई, 1775 को अंग्रेजों व मराठों के वीच अरास नामक स्थान पर युद्ध हुआ, जिसमें मराठे पराजित हुए। अंग्रेजों ने सालसेट पर अधिकार कर लिया। किन्तु इसी समय वंगाल कौंसिल ने हस्तक्षेप किया क्योंकि वम्वई सरकार ने यह समझौता विना वंगाल कौंसिल की स्वीकृति से किया था। वंगाल कौंसिल ने सूरत की सन्धि को अस्वीकार कर युद्ध वन्द करने का आदेश दिया क्योंकि—(1) यह सन्धि राघोवा द्वारा हस्ताक्षरित है जिसे स्वयं उसके आदमियों ने उसे अस्वीकार कर दिया है और वह अव पेशवा नहीं है, (2) सूरत की सन्धि से कम्पनी को अनावश्यक युद्ध में भाग लेना पड़ा है, जिसे सफलतापूर्वक संचालित करने के लिये कम्पनी के पास साधन नहीं है, (3) मराठा शक्ति से अंग्रेजों को कोई क्षति नहीं हुई है, अतः उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई औचित्य नहीं है, और (4) यह रेगुलेटिंग एक्ट के विरुद्ध है।

यद्यपि वंगाल कौंसिल ने युद्ध वन्द करने का आदेश दे दिया था, फिर भी युद्ध वन्द नहीं हुआ। वारेन हेस्टिग्ज और उसकी कौंसिल में मतभेद चल रहा था। हेस्टिग्ज युद्ध वन्द करने के पक्ष में नहीं था, क्योंकि वम्बई सरकार ने सालसेट पर अधिकार कर लिया था और यहां से सेनाएं वापिस लौटाना, अंग्रेजों की प्रतिष्ठा पर आघात था। जब युद्ध वन्द नहीं किया गया तो वंगाल कौंसिल ने इसके लिये हेस्टिग्ज को दोषी ठहराया और कर्नल अप्टन (Upton) को मराठों से वातचीत करने पूना भेजा। अप्टन के पूना पहुंचने पर युद्ध वन्द हो गया। पूना में अप्टन और मराठों के वीच मतभेद उत्पन्न हो गये क्योंकि अप्टन राघोवा को सौंपने से

इन्कार कर दिया तथा सालसेट व वसीन पर अधिकार वनाये रखना चाहता था। अतः यह वार्ता असफल हुई और युद्ध पुनः चालू हो गया। मराठों ने वड़ी वीरता प्रदर्शित की किन्तु दुर्भाग्य से मराठों का विद्रोही सरदार सदाशिव भाऊ एक दूसरे मोर्चे पर मराठों के विरुद्ध आ धमका। सदाशिव भाऊ को पेशवा ने रतनगिरी के दुर्ग में वन्दी वना कर रखा था, किन्तु उसने अपने रक्षकों को रिश्वत देकर मुक्त हो गया और मराठों के विरुद्ध आ खड़ा हुआ। मराठा, दो मोर्चों पर युद्ध नहीं कर सके और उन्होंने अंग्रेजों से सन्धि करने हेतु प्रार्थना की। फलस्वरूप 1 मार्च 1776 को दोनों पक्षों में पुरन्दर की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार :—

(1) अंग्रेजों ने राघोवा के लिये जो रकम खर्च की है, उसके लिये मराठा, अंग्रेजों को 12 लाख रुपये देंगे।

(2) सूरत की सन्धि को रद्द कर दिया गया, किन्तु राघोवा मराठों को नहीं सौंपा गया, वल्कि मराठों ने राघोवा को 3 लाख 15 हजार रुपये वार्षिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया।

(3) राघोवा अव कोई सेना नहीं रखेगा तथा गुजरात में कोपरगांव में जाकर वस जायेगा।

(4) युद्ध में अंग्रेजों ने जो क्षेत्र प्राप्त किये हैं, वे अंग्रेजों के पास ही रहेंगे।

इस सन्धि पर मराठों की ओर से सुखराम वापू ने तथा अंग्रेजों की ओर से कर्नल अप्टन ने हस्ताक्षर किये। किन्तु वम्वई सरकार तथा वारेन हेस्टिंग्ज इस सन्धि को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। राघोवा भी कोपरगांव नहीं गया तथा वम्वई सरकार की शरण में रहा। यद्यपि मराठों ने वम्वई सरकार को इसके विरोध में कई पत्र लिखे, लेकिन उनका कोई परिणाम नहीं निकला। इसी वीच मराठों ने विद्रोही सदाशिवराव भाऊ को पकड़ लिया तथा उसकी हत्या करदी। अव मराठे अंग्रेजों से निपटने के लिये तैयार थे। स्थिति उस समय और भी अधिक जटिल वन गई जव 1778 में एक फ्रांसीसी राजदूत सैण्ट लुविन फ्रांस के सम्राट का पत्र लेकर मराठा दरवार में पहुंचा। मराठों ने उसका शानदार स्वागत किया, किन्तु जव अंग्रेज राजदूत मॉट्सन पूना पहुंचा तो उसका कोई विशेष स्वागत नहीं किया गया। सैण्ट लुविन एक वर्ष तक पूना में रहा। अतः यह अफवाह फैलने लगी कि मराठों व फ्रांसीसियों में सन्धि हो गयी है, जिसके अनुसार मराठों ने अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिये फ्रांसीसियों को 20 लाख रुपये तथा 10 जहाज दिये हैं। यह भी कहा गया कि जव फ्रांसीसी वम्वई पर आक्रमण करेंगे तव उन्हें 20 लाख रुपये और दिये जायेंगे। इधर मॉट्सन ने मराठा दरवार के एक मंत्री मोरोवा को अपनी ओर मिला कर नाना फडनवीस और सुखराम वापू में फूट डलवा दी। सुखराम वापू, जो पुरन्दर की सन्धि का हस्ताक्षरकर्ता था, विद्रोही हो गया और उसने गुप्त रूप

से बम्बई सरकार को लिखा कि यदि वे राघोवा को पेशवा बनाने में मदद करें तो वह भी मदद देने को तैयार है। बम्बई सरकार तो इसके लिये पहले से ही तैयार थी। अतः बम्बई सरकार ने कहा कि चूंकि पुरन्दर की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाला स्वयं हमारे निकट आ रहा है, इसलिये पुनः युद्ध चालू करने पर सन्धि का उल्लंघन नहीं माना जा सकता। बंगाल कौंसिल ने इसका विरोध किया, किन्तु वारेन हेस्टिग्ज ने बम्बई सरकार का समर्थन किया। यद्यपि मराठों ने स्पष्ट कर दिया कि फ्रांसीसियों के साथ उनकी कोई सन्धि नहीं हुई है तथा सैण्ट लुबिन को भी वापिस भेज दिया गया है और सन्धि के विरुद्ध यदि आक्रमण किया गया तो सारे परिणाम अंग्रेजों को भुगतने पड़ेंगे। किन्तु हेस्टिग्ज ने इसकी कोई परवाह नहीं की तथा मार्च 1778 में उसने बम्बई सरकार को युद्ध घोषित करने का अधिकार दे दिया।

बम्बई सरकार ने कर्नल एगटस के नेतृत्व में एक सेना भेजी किन्तु जब वह मराठों के हाथों पराजित हुआ तब उसके स्थान पर कर्नल काकबर्क की नियुक्ति की गई। मराठा सेना का नेतृत्व महादजी सिन्धिया व मल्हारराव होल्कर कर रहे थे। वे दोनों ही युद्ध विद्या में बड़े प्रवीण थे। मराठा सेना धीरे धीरे पीछे हटती गई और ब्रिटिश सेना आगे बढ़ती हुई पूना से 18 मील दूर तेलगांव के मैदान तक आ पहुंची। 9 जनवरी, 1779 को तेलगांव पहुंचते ही अंग्रेजों को मालुम हुआ कि मराठों ने उन्हें तीन ओर से घेर लिया है। अतः पीछे हटने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। अंग्रेजों ने अपने गोला बारूद में आग लगा कर पीछे हटना शुरू किया। इस पर मराठों ने आगे बढ़कर आक्रमण कर दिया। दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ, किन्तु अंग्रेज पराजित हुए। इस पराजय के साथ ही बम्बई सरकार को एक अपमानजनक समझौता करना पड़ा। 19 जनवरी, 1779 को दोनों में बड़गांव का समझौता हो गया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(1) अंग्रेज राघोवा को मराठों के हवाले कर देंगे।

(2) अब तक अंग्रेजों ने जिन मराठा प्रदेशों पर अधिकार किया है वे सभी मराठों को सौंप देंगे।

(3) जब तक अंग्रेज इन शर्तों को पूरा न करे तब तक दो अंग्रेज अधिकारी बतौर बन्धक, मराठों के पास कैद में रहेंगे।

बड़गांव का समझौता अंग्रेजों के लिये घोर अपमान था। स्वयं हेस्टिग्ज ने कहा कि, "जब मैं बड़गांव समझौते की धाराओं को पढ़ता हूँ तो मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है।" अतः हेस्टिग्ज ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया और उसने युद्ध की तैयारी करके मराठों के विरुद्ध दो सेनाएं भेजी। एक सेना का नेतृत्व कर्नल पोफम कर रहा था और दूसरी का नेतृत्व कर्नल गॉडर्ड कर रहा था। जब नाना फड़नवीस को अंग्रेजों के आक्रमण की सूचना मिली तो उसने नागपुर के

शासक भोंसले, हैदराबाद के निजाम तथा मैसूर के शासक हैदरअली को अपनी ओर मिलाया तथा अंग्रेजों पर आक्रमण की योजना तैयार की। किन्तु हेस्टिंग्ज ने कूटनीति से निजाम व भोंसले को मराठों से अलग कर दिया। कर्नल गॉडर्ड ने अहमदाबाद व बसीन पर अधिकार करके 1780 में बड़ौदा पहुंच गया। उसने बड़ौदा के शासक फतेसिंह गायकवाड़ से सन्धि की और पूना की ओर आगे बढ़ा, किन्तु पूना के निकट वह मराठों से पराजित हुआ। इधर उत्तर में कर्नल पोफम ग्वालियर की ओर बढ़ा तथा 3 अगस्त, 1780 को ग्वालियर के किले पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात सिप्री (Sipri) नामक स्थान पर महादजी सिन्धिया व पोफम के बीच भीषण युद्ध हुआ। 16 फरवरी, 1781 को महादजी पराजित हुआ। 13 अक्टूबर, 1781 को उसने अंग्रेजों से सन्धि करली। इस सन्धि में एक महत्व-पूर्ण धारा यह थी कि महादजी, मराठों व अंग्रेजों के बीच सन्धि करवा देगा तथा उस सन्धि का पालन करवाने हेतु स्वयं अपनी गारण्टी देगा।

इधर गुजरात में कर्नल गॉडर्ड व मराठों के बीच युद्ध चल रहा था। ब्रिटिश सेना के दबाव को कम करने के लिये नाना फडनवीस ने हैदरअली को कर्नाटक पर आक्रमण करने को कहा। इस पर हैदरअली ने कर्नाटक पर धावा बोल दिया। इसके बाद तो अंग्रेजों की निरन्तर पराजय होने लगी। ब्रिटिश सेना का मनोबल गिरने लगा। अतः अब हेस्टिंग्ज ने नाना फडनवीस से सम्पर्क स्थापित कर सन्धि की बातचीत करना ही उचित समझा। हेस्टिंग्ज ने एण्डरसन (Anderson) को मराठों से बातचीत करने भेजा। बातचीत के दौरान हेस्टिंग्ज ने एण्डरसन को तथा नाना फडनवीस को जो पत्र लिखे उनसे स्पष्ट होता है कि वह सन्धि के लिये अत्य-धिक व्यग्र हो रहा था। अतः 17 मई, 1782 को अंग्रेजों और मराठों के बीच साल्बाई की सन्धि हो गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी :—

(1) अंग्रेजों ने राघोबा का साथ छोडने का आश्वासन दिया तथा मराठों ने उसे 25,000 रुपये मासिक पेंशन देना स्वीकार कर लिया।

(2) सालसेट तथा भड़ौच को छोड़कर मराठा राज्य के अन्य सभी भूभागों से अंग्रेज अपना अधिकार त्याग देंगे।

(3) अंग्रेजों ने माधवराव द्वितीय को पेशवा तथा फतेहसिंह गायकवाड़ को बड़ौदा का शासक स्वीकार कर लिया। बड़ौदा के जिन भूभागों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था, उन्हें पुनः बड़ौदा के शासक को लौटा दिया।

(4) इस सन्धि की स्वीकृति के छः माह के अन्दर हैदरअली अंग्रेजों के जीते हुए प्रदेश लौटा देगा और यदि हैदरअली ने ये प्रदेश लौटा दिये तथा वह पेशवा, कर्नाटक के नवाब और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं होगा तो अंग्रेज भी उसके विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित नहीं होगा। यदि हैदरअली इस समझौते के अनुसार कार्य नहीं करेगा तो महादजी, हैदरअली के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ देगा।

साल्बाई की सन्धि पर हेस्टिंग्ज ने जून 1782 में हस्ताक्षर करके इसकी पुष्टि करदी। किन्तु महादजी व नाना फडनवीस में मतभेद उत्पन्न हो गये। क्योंकि नाना का सच्चा मित्र व अंग्रेजों का कट्टर शत्रु हैदरअली अभी भी अंग्रेजों से लड़ रहा था। अतः जब तक हैदरअली युद्ध मैदान में था, अंग्रेजों से सन्धि करना हैदरअली के साथ विश्वासघात था। जब 7 दिसम्बर, 1782 को हैदरअली की मृत्यु हो गयी तब नाना ने 20 दिसम्बर, 1782 को सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

सन्धि का महत्व—साल्बाई की सन्धि कुछ विशेष दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। अंग्रेजों ने मराठों से सन्धि करके मैसूर को मराठों से अलग कर दिया। मैसूर का शासक हैदरअली मराठों की सहायता से वंचित हो गया। हैदर-अली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू ने यद्यपि युद्ध जारी रखा, लेकिन उसे मराठों की सहायता प्राप्त न हो सकी। परिणामस्वरूप अंग्रेज मैसूर की शक्ति को सरलता से कुचल सके। मैसूर की शक्ति को कुचलने के बाद अंग्रेज पुनः मराठों की शक्ति को नष्ट करने की ओर आकर्षित हुए। यद्यपि इस युद्ध में मराठों को सफलता प्राप्त हुई थी, किन्तु इससे मराठा संघ की दुर्बलता प्रकट हो गयी थी। अंग्रेजों को इस बात का पता लग गया कि मराठा संघ के सदस्य पारस्परिक द्वेष से पीड़ित हैं, जिससे वे कभी एक होकर अंग्रेजों का सामना नहीं कर सकेंगे।

इतिहासकार स्मिथ के अनुसार साल्बाई की सन्धि भारत में अंग्रेजों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि इसने भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित कर दिया तथा इसके बाद 20 वर्षों तक अंग्रेजों व मराठों के बीच शान्ति बनी रही। स्मिथ ने इस सन्धि का महत्व आवश्यकता से अधिक बताया है। वास्तव में यह सन्धि अंग्रेजों की असफलता को सूचित करती है। अंग्रेजों ने इस सन्धि के पूर्व जो कुछ प्राप्त किया था, वह सालसेट को छोड़कर सब कुछ खो दिया। इस सन्धि ने पेशवा की स्थिति को सुदृढ़ बनाया तथा महादजी का महत्व इतना अधिक बढ़ गया कि वह मैसूर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगा। अंग्रेजों ने शाह आलम के मामले में हस्तक्षेप न करने का वादा किया। फलस्वरूप शाह आलम पर महादजी का प्रभाव अधिक बढ़ गया और शाह आलम ने महादजी को मुगल साम्राज्य का वकील-ए-मुत्लक नियुक्त किया। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा अंग्रेजों का प्रभुत्व नहीं बल्कि मराठों के प्रभुत्व में वृद्धि हुई। अंग्रेजों व मराठों के बीच 20 वर्षों तक शान्ति अवश्य रही, किन्तु इसका कारण साल्बाई की सन्धि नहीं थी, बल्कि अंग्रेज उत्तर भारत में दूसरी समस्याओं में उलझ गये थे जिससे वे मराठों की ओर ध्यान नहीं दे सके। इधर मराठा संघ में भी फूट पड़ गई थी। अतः मराठों के दृष्टिकोण से तो कोई शान्ति स्थापित नहीं हुई। मराठा संघ की दुर्बलताएं योग्य नेतृत्व के समय तो दबी रही, किन्तु संकट काल में अथवा योग्य नेतृत्व के अभाव में ये दुर्बलताएं प्रकट हो गई। इस युद्ध में मराठों के सैन्य संचालक के दोष

भी प्रकट हो गये । अतः मराठे किसी एक स्थान पर डटे रहकर अंग्रेजी फौजों को पराजित नहीं कर सके ।

वेलेजली और द्वितीय मराठा युद्ध

वारेन हेस्टिग्ज अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद 1785 में इंगलैंड चला गया । हेस्टिग्ज के बाद मेकफर्सन ने 1785-86 तक 21 महीने तक कार्यवाहक गवर्नर जनरल के रूप में कार्य किया । सितम्बर 1786 में कार्नवालिस गवर्नर जनरल बनकर भारत आया । 1784 में ब्रिटिश संसद ने पिट्ट इण्डिया एक्ट पारित कर दिया था जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत में कम्पनी देशी रियासतों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन करेगी । कार्नवालिस ने भारत में जहाँ तक संभव हो सका इस नीति का पालन किया । 1793 में वह वापिस इंगलैंड चला गया । 1793 में ही सर जॉन शोर को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया गया । उसने भी कार्नवालिस की नीति का अनुसरण किया । 1795 में हैदराबाद के निजाम व मराठों के बीच खरदा का युद्ध हुआ । इस अवसर पर निजाम ने अंग्रेजों से सहायता देने की प्रार्थना की, किन्तु सर जॉन शोर ने अहस्तक्षेप की नीति के कारण निजाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया । फलस्वरूप निजाम, मराठों से पराजित हुआ और उसे अपमानजनक सन्धि के लिये विवश होना पड़ा । 1798 में बंगाल में कम्पनी की सेना ने विद्रोह कर दिया । अतः 1798 में सर जॉन शोर को वापिस इंगलैंड बुला लिया गया और उसके स्थान पर लार्ड वेलेजली को गवर्नर जनरल बना कर भारत भेजा गया ।

प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध में मराठा शक्ति की अपार क्षति हुई थी, किन्तु मराठा शक्ति का अन्त नहीं हुआ था । सालबाई की सन्धि के बाद 20 वर्ष तक शान्ति रही । इस अवधि में मराठा अपने अन्य शत्रुओं से निपटते रहे । नाना फड़नवीस के नेतृत्व में उत्तरी व दक्षिणी भारत में मराठों का प्रभाव फैलने लगा । इस अवधि में महादजी सिन्धिया की शक्ति में वृद्धि हुई तथा पेशवा की शक्ति का ह्रास हुआ । पेशवा माधवराव द्वितीय के काल में नाना फड़नवीस मराठा संघ का सर्वेसर्वा बन गया था । 1796 में पेशवा माधवराव द्वितीय की मृत्यु हो गयी तथा बाजीराव द्वितीय पेशवा की मनसब पर बैठा ।

मराठों में आपसी संघर्ष—पेशवा बाजीराव द्वितीय सर्वथा अयोग्य था । अतः प्रत्येक मराठा सरदार स्वेच्छापूर्ण कार्य करने का प्रयत्न करने लगा । ऐसी स्थिति में 13 मार्च, 1800 को नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गयी । जब तक नाना जीवित रहा, उसने मराठों में एकता बनाये रखी । किन्तु उसकी मृत्यु के बाद मराठा सरदारों में आपसी संघर्ष प्रारम्भ हो गये । दो मराठा सरदारों—ग्वालियर का शासक दौलतराव सिन्धिया तथा इन्दौर का शासक जसवन्तराव होल्कर के बीच इस बात पर प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गयी कि पेशवा पर किसका प्रभाव रहे । पेशवा

बाजीराव द्वितीय निर्बल व्यक्ति था, अतः वह भी किसी शक्तिशाली मराठा सरदार का संरक्षण चाहता था। अन्त में वह दौलतराव सिन्धिया के संरक्षण में चला गया। पेशवा बाजीराव व सिन्धिया ने होल्कर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लिया। होल्कर के लिये यह स्थिति असहनीय थी। फलस्वरूप 1802 के प्रारम्भ में सिन्धिया व होल्कर के बीच युद्ध छिड़ गया। जब होल्कर मालवा में सिन्धिया की सेना के साथ युद्ध में व्यस्त था, पूना में पेशवा ने होल्कर के भाई विठ्ठुजी होल्कर को बन्दी बनाकर उसकी हत्या करवादी। अतः होल्कर अपने भाई का बदला लेने पूना की ओर चल पड़ा। पूना के पास होल्कर ने पेशवा और सिन्धिया की संयुक्त सेना को पराजित किया और एक विजेता की भांति पूना में प्रवेश किया। होल्कर ने राघोबा के दत्तक पुत्र अमृतराव के बेटे विनायकराव को पेशवा घोषित किया। पेशवा भयभीत होगया तथा भागकर बसीन (बम्बई के पास अंग्रेजों की बस्ती) चला गया। बसीन से उसने वेलेजली से प्रार्थना की कि वह उसे पुनः पेशवा बनाने में सहायता दे। वेलेजली भारत में कम्पनी की सर्वोपरि सत्ता स्थापित करना चाहता था। मैसूर की शक्ति नष्ट करने के बाद अब मराठे ही उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी रह गये थे। अतः वह मराठा राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर ढूंढ रहा था। पेशवा द्वारा प्रार्थना करने पर वेलेजली को अवसर मिल गया। वेलेजली ने पेशवा के समक्ष शर्त रखी कि यदि वह सहायक सन्धि स्वीकार करले तो वह उसे पुनः पेशवा बनाने में सहायता दे सकता है। पेशवा ने वेलेजली की शर्त को स्वीकार कर लिया और 31 दिसम्बर, 1802 को पेशवा और कम्पनी के बीच **बसीन की सन्धि** हो गयी, जिसकी मुख्य शर्तें निम्न थी :—

(1) पेशवा अपने राज्य में 6,000 अंग्रेज सैनिकों की एक सेना रखेगा तथा इस सेना के खर्च के लिये 26 लाख रुपये वार्षिक आय का भूभाग अंग्रेजों को देगा।

(2) पेशवा बिना अंग्रेजों की अनुमति के मराठा राज्य में किसी अन्य यूरोपियन को नियुक्ति नहीं देगा और न अपने राज्य में रहने की अनुमति देगा।

(3) पेशवा सूरत से अपना अधिकार त्याग देगा।

(4) पेशवा के जो निजाम और गायकवाड़ के साथ झगड़े हैं, उन झगड़ों के पंच निपटारे का कार्य कम्पनी को सौंप दिया जायेगा।

(5) भविष्य में किसी राज्य के साथ युद्ध, सन्धि अथवा पत्र व्यवहार बिना अंग्रेजों की अनुमति के नहीं करेगा।

बसीन की सन्धि का महत्व – बसीन की सन्धि भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण घटना है। इस सन्धि के द्वारा पेशवा ने मराठों के सम्मान एवं स्वतंत्रता को अंग्रेजों के हाथों बेच दिया था, जिससे मराठा शक्ति की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। किन्तु अंग्रेजों के लिये यह सन्धि अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध

हुई। सिड्नी ओवन ने लिखा है कि इस सन्धि के पश्चात सम्पूर्ण भारत में कम्पनी का राज्य स्थापित हो गया। अपने इस कथन के समर्थन में उसने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं—प्रथम तो यह है कि उस समय भारत में मराठा शक्ति सर्वोच्च थी तथा मराठा संघ के अध्यक्ष पेशवा ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली थी, अतः भारत में अंग्रेजों की सर्वोच्चता स्थापित हो गयी। दूसरा यह कि उस समय भारत में मुगलों का राज्य था। मुगल साम्राज्य का मुख्य वजीर मराठा संघ का नेता हुआ करता था। जब मुगल साम्राज्य के मुख्य वजीर ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली तो भारत में मुगल साम्राज्य के स्थान पर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

वास्तव में इस सन्धि का महत्व आवश्यकता से अधिक बताया गया है। इस सन्धि का सबसे बड़ा दोष यह था कि अब अंग्रेजों का मराठों से युद्ध प्रायः निश्चित हो गया, क्योंकि वेलेजली ने मराठों के आन्तरिक झगड़ों को तय करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था। इसका अर्थ था कि मराठों के झगड़ों में अंग्रेजों को उलझा देना। वेलेजली ने कहा था कि इससे शान्ति तथा व्यवस्था बनी रहेगी, किन्तु इसके परिणामस्वरूप सबसे व्यापक युद्ध हुआ। वेलेजली ने यह भी कहा था कि इससे फ्रांसीसियों के प्रभाव को रोका जा सकेगा, किन्तु इस सन्धि द्वारा ऐसा कोई कार्य नहीं किया गया कि फ्रांसीसियों की सैनिक सहायता को भारत पहुंचने से रोका जा सके। सिन्धिया की सेना में फ्रांसीसियों का प्रभाव तो पहले से ही घट रहा था। वेलेजली ने सन्धि का औचित्य बताते हुए कहा था कि अंग्रेजों को मराठों के आक्रमण का भय था, किन्तु जब मराठे स्वयं अपने पारस्परिक झगड़ों में उलझे हुए थे तब फिर अंग्रेजों पर आक्रमण करने का प्रश्न ही कहां उत्पन्न होता है। वस्तुतः वेलेजली भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार पर तुला हुआ था और वह मराठों को ऐसी सन्धि में उलझा देना चाहता था, जिससे कि ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार निर्बाध रूप से होता रहे। अतः बसीन की सन्धि ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिये अनुकूल परिस्थितियां पैदा करदी थी।

द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध—बसीन की सन्धि के बाद मई-जून 1803 में बाजीराव द्वितीय को अंग्रेजों के संरक्षण में पुनः पेशवा बना दिया गया। किन्तु बसीन की सन्धि से मराठा सरदारों के आत्म गौरव पर भारी आघात पहुंचा, क्योंकि पेशवा ने मराठों की इज्जत व स्वतन्त्रता बेच दी थी। मराठा सरदार इसे सहन करने को तैयार नहीं थे। मराठा सरदारों में चिंता और क्रोध की मिश्रित भावना उत्पन्न हुई। वे अपने नाम मात्र के अध्यक्ष पेशवा से तो विमुख रह सकते थे, किन्तु किसी दूसरे के द्वारा किये गये अपमान को सहन नहीं कर सकते थे। अतः मराठा सरदारों ने पारस्परिक वैमनस्य को भुलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक होने का प्रयत्न किया। सिन्धिया और भोंसले तो एक हो गये, किन्तु सिन्धिया व होल्कर की शत्रुता

अभी ताजी थी । अतः वह पूना छोड़कर मालवा चला गया । गायकवाड़ अंग्रेजों का मित्र था, अतः उसने भी इस अंग्रेज विरोधी संघ में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार केवल सिन्धिया व भोंसले ने अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक अभियान की तैयारी आरम्भ करदी। जब वेलेजली को इसकी सूचना मिली तो उसने 7 अगस्त, 1803 को मराठों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी और एक सेना अपने भाई आर्थर वेलेजली तथा दूसरी जनरल लेक के नेतृत्व में मराठों के विरुद्ध भेज दी।

आर्थर वेलेजली ने दक्षिण भारत की विजय यात्रा आरम्भ की। सर्वप्रथम उसने अहमदनगर पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात अजन्ता व एलौरा के पास असाई नामक स्थान पर सिन्धिया व भोंसले की संयुक्त सेना को पराजित किया। असीरगढ़ व अरगांव के युद्धों में मराठा पूर्ण रूप से पराजित हुए। अरगांव में पराजित होने के बाद 17 दिसम्बर, 1803 को भोंसले ने अंग्रेजों से देवगढ़ की सन्धि करली। इस सन्धि के अन्तर्गत भोंसले ने वेलेजली की सहायक सन्धि की सभी शर्तों को स्वीकार कर लिया। केवल एक शर्त, राज्य में कम्पनी की सेना रखने सम्बन्धी शर्त स्वीकार नहीं की और वेलेजली ने भी इस शर्त को स्वीकार करने के लिये जोर नहीं दिया। इस सन्धि के अनुसार कटक व वर्धा नदी के आसपास के क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिये गये।

इधर जनरल लेक ने उत्तरी भारत की विजय यात्रा आरम्भ की। उसने सर्वप्रथम अलीगढ़ पर अधिकार किया। तत्पश्चात दिल्ली पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। फिर जनरल लेक ने भरतपुर पर आक्रमण किया और भरतपुर के शासक से सहायक सन्धि की। भरतपुर से वह आगरा की ओर बढ़ा तथा आगरा पर अधिकार किया। अन्त में लासवाड़ी नामक स्थान पर सिन्धिया की सेना पूर्णतः पराजित हुई। अब सिन्धिया ने भी अंग्रेजों से सन्धि करना उचित समझा। फलस्वरूप 30 दिसम्बर, 1803 को सुर्जीअंजन गांव की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार सिन्धिया ने दिल्ली, आगरा, गंगा-यमुना का दोआब, बुन्देलखण्ड, भड़ौच, अहमदनगर का दुर्ग, गुजरात के कुछ जिले, जयपुर व जोधपुर अंग्रेजों के प्रभाव में दे दिये। उसने स्वीकार किया कि किसी यूरोपीय को अपने राज्य में नहीं रखेगा। उसने कम्पनी की सेना को भी अपने राज्य में रखना स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों ने सिन्धिया को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया।

सिन्धिया व भोंसले ने बसीन की सन्धि को भी स्वीकार कर लिया था। इन विजयों से वेलेजली खुशी से उछल पड़ा और घोषणा की कि, "युद्ध के प्रत्येक लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है और इससे सदैव शान्ति बनी रहेगी।" किन्तु वेलेजली का उक्त कथन ठीक न निकला, क्योंकि शान्ति शीघ्र ही संकट ग्रस्त हो गई।

होल्कर से युद्ध—मराठा राज्य का प्रमुख स्तम्भ होल्कर, जो अब तक इन घटनाओं के प्रति उदासीन था, सिन्धिया व भोंसले के आत्म समर्पण के बाद अंग्रेजों

से युद्ध करने का निर्णय लिया और अप्रेल 1804 में संघर्ष छेड़ दिया। उसने सर्व प्रथम राजपूताना में कम्पनी के मित्र राज्यों पर आक्रमण किया। यह अंग्रेजों के लिये चुनौती थी। अतः वेलेजली ने कर्नल मॉन्सन के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। कर्नल मॉन्सन राजपूताने के भीतर तक घुस गया। होल्कर ने कोटा के निकट मुकन्दरा दर्रे के युद्ध में मॉन्सन को पराजित किया तथा उसे आगरा की ओर लौटने के लिये विवश कर दिया। तत्पश्चात होल्कर ने भरतपुर पर आक्रमण करके वहाँ के शासक से सन्धि करली। यद्यपि भरतपुर के शासक ने अंग्रेजों से सन्धि करली थी, किन्तु इस समय उसने अंग्रेजों की सन्धि को ठुकरा दिया तथा होल्कर का समर्थन किया। यहां से होल्कर दिल्ली की ओर गया तथा दिल्ली को चारों ओर से घेर लिया। इस समय दिल्ली की रक्षा ऑक्टरलोनी कर रहा था। होल्कर ने लाख प्रयत्न किये लेकिन दिल्ली पर विजय प्राप्त न कर सका। दिल्ली पर होल्कर के दबाव को कम करने के लिये अंग्रेजों ने जनरल मूरे को होल्कर की राजधानी इन्दौर पर आक्रमण करने भेजा। मूरे ने इन्दौर पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। जब होल्कर को इन्दौर पतन की सूचना मिली तो वह दिल्ली का घेरा उठा कर इन्दौर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में डीग नामक स्थान पर ब्रिटिश सेना से उसका भीषण संग्राम हुआ, किन्तु यह युद्ध अनिर्णायक रहा। होल्कर को भारी क्षति उठानी पड़ी। तत्पश्चात फर्रुखाबाद में होल्कर पराजित हुआ और पंजाब की तरफ भाग गया। इस युद्ध में भी होल्कर की शक्ति को पूरी तरह से नहीं कुचला जा सका।

भरतपुर के शासक ने होल्कर का समर्थन किया था, अतः जनरल लेक ने भरतपुर के दुर्ग को घेर लिया। जनरल लेक ने दुर्ग पर अधिकार करने के लिये 9 जनवरी से 21 फरवरी, 1805 के बीच चार बार आक्रमण किये, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। अन्त में अप्रेल 1805 में उसे भरतपुर के राजा से शान्ति सन्धि करनी पड़ी। जनरल लेक की यह भयंकर भूल थी कि वह व्यर्थ ही भरतपुर में उलझा पड़ा रहा। यदि लगे हाथ होल्कर से निपट लिया जाता तो भरतपुर तो स्वतः ही बाद में अंग्रेजों की अधीनता में आ जाता। किन्तु उसकी मूर्खता से न तो होल्कर की शक्ति को ही नष्ट किया जा सका और न भरतपुर पर ही अधिकार हो सका। असफलता के कारण ब्रिटिश सरकार व बोर्ड आफ डायरेक्टर्स बड़े चिंतित हुए। इंगलैंड के प्रधान मंत्री पिट्ट ने भी वेलेजली की कटु आलोचना की। फलस्वरूप वेलेजली को त्यागपत्र देकर जाना पड़ा।

लार्ड हेस्टिग्ज व तृतीय मराठा युद्ध

अगस्त 1805 में वेलेजली भारत से चला गया। अतः उसके स्थान पर लार्ड कार्नवालिस को पुनः भारत भेजा गया। किन्तु यहां आने के कुछ ही महीनों बाद गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गयी। अतः जार्ज बार्लो को गवर्नर जनरल नियुक्त

किया गया। कार्नवालिस व जार्ज बार्लो, दोनों ने देशी राज्यों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया और मराठों के प्रति भी उदारता की नीति अपनाई। फलस्वरूप 22 नवम्बर, 1805 को सिन्धिया से एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार उसे ग्वालियर व गोहद के दुर्ग तथा उसका उत्तरी चम्बल का भूभाग लौटा दिया। कम्पनी ने राजपूत राज्यों को अपने संरक्षण में लेने का विचार त्याग दिया। फलस्वरूप राजपूत राज्यों पर पुनः मराठों का प्रभाव स्थापित हो गया। इसी प्रकार 7 जनवरी, 1806 को होल्कर के साथ भी सन्धि करके उसे उसके अधिकांश क्षेत्र लौटा दिये। तत्पश्चात 1807 में लार्ड मिण्टो गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। उसने भी अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। इन तीनों की नीतियों के फलस्वरूप मराठों ने अपनी शक्ति पुनः संगठित करली। इधर पिंडारी भी, जो आरम्भ में मराठों के सहयोगी थे, अपनी स्वयं की शक्ति बढ़ा रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में 1813 में लार्ड हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। लार्ड हेस्टिंग्ज मराठा शक्ति को पूरी तरह समाप्त कर राजपूत राज्यों पर ब्रिटिश संरक्षण स्थापित करना चाहता था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने सर्वप्रथम पिंडारियों की शक्ति को नष्ट करने की योजना बनायी, क्योंकि उसे भय था कि कहीं पिंडारी, मराठों का पक्ष लेकर युद्ध आरम्भ न करदे। अतः पिंडारियों से युद्ध करने से पूर्व 27 मई, 1816 में भोंसले के साथ तथा 5 नवम्बर, 1817 में सिन्धिया के साथ समझौता किया गया। इस समझौते में उन्होंने पिंडारियों को कुचलने के लिये अंग्रेजों को समर्थन देने का वादा किया तथा सिन्धिया ने चम्बल नदी से दक्षिण पश्चिम के राज्यों पर से अपना प्रभाव हटा लिया।

तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध—बसीन की सन्धि द्वारा यद्यपि पेशवा अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर चुका था, किन्तु वह अब इस अधीनता से मुक्त होना चाहता था। इसके लिये पेशवा ने सिन्धिया, होल्कर व भोंसले से गुप्त रूप से बातचीत भी आरम्भ करदी थी। पेशवा ने अपनी सैनिक शक्ति को भी सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इस समय पेशवा तथा गायकवाड़ के बीच कुछ सीमा सम्बन्धी झगड़ा चल रहा था। अतः इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिये गायकवाड़ का एक मंत्री गंगाधर शास्त्री अंग्रेजों के संरक्षण में पूना आया। पेशवा अंग्रेजों के विरुद्ध गायकवाड़ का सहयोग चाहता था, किन्तु गंगाधर शास्त्री अंग्रेजों का घनिष्ठ मित्र था, अतः उसने पेशवा से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, गंगाधर शास्त्री ने अपने पुत्र की सगाई, जो पेशवा की साली से तय हुई थी, उसे भी तोड़ दिया। ऐसी स्थिति में पेशवा के एक विश्वसनीय मंत्री त्रियम्बकजी ने धोखे से गंगाधर शास्त्री की हत्या करवादी। पूना दरबार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट एलफिन्सटन की त्रियम्बकजी से व्यक्तिगत शत्रुता थी, अतः रेजीडेन्ट ने पेशवा से मांग की कि त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर उसे अंग्रेजों के सुपर्द कर दिया जाय। पेशवा ने बड़ी

हेचकिचाहट के साथ 11 सितम्बर, 1815 को त्रियम्बकजी को अंग्रेजों के हवाले कर दिया। रेजीडेन्ट एलफिन्सटन ने त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर थाना भेज दिया। किन्तु एक वर्ष बाद त्रियम्बकजी थाना से भागने में सफल हो गया। इस पर एलफिन्सटन ने पेशवा पर आरोप लगाया कि उसने त्रियम्बकजी को भागने में सहायता दी है।

एलफिन्सटन ने पेशवा की शक्ति को सीमित करने के उद्देश्य से पेशवा पर एक नई सन्धि करने हेतु दबाव डाला और उसे धमकी दी कि यदि वह नई सन्धि करने पर सहमत नहीं होगा तो उसे पेशवा की मन्सब से हटा दिया जायेगा। अतः भयभीत होकर 13 जून 1817 को पेशवा ने अंग्रेजों से नई सन्धि (पूना की सन्धि) करली। इस सन्धि के अन्तर्गत पेशवा ने मराठा संघ के अध्यक्ष पद को त्याग दिया, सहायक सेना के खर्च के लिये 33 लाख रुपये वार्षिक आय के भूभाग अंग्रेजों को सौंपने पड़े और नर्वदा नदी के उत्तर में स्थित अपने राज्य के सभी भू-भाग व अहमदनगर का दुर्ग अंग्रेजों को सौंपने पड़े। पेशवा ने त्रियम्बकजी को बन्दी बनाकर अंग्रेजों को सौंपने का वादा किया और जब तक त्रियम्बकजी अंग्रेजों के सुपुर्द न कर दिया जाय उस समय तक त्रियम्बकजी के परिवार को अंग्रेजों के पास बन्धक के रूप में रखा जाय। पेशवा ने बिना अंग्रेजों की अनुमति के किसी अन्य राज्य से पत्र व्यवहार न करने का भी वादा किया।

यद्यपि सभी मराठा सरदार अंग्रेजों से अपमानजनक सन्धियां कर चुके थे किन्तु उन्होंने ये सन्धियां विवशता के कारण की थी और वे उनसे मुक्त होना चाहते थे। पेशवा भी पूना की सन्धि के अपमान की आग में जल रहा था। अतः जिस दिन सिन्धिया ने अंग्रेजों के साथ सन्धि की (5 नवम्बर 1817) उसी दिन पेशवा ने पूना में स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्सी पर आक्रमण कर दिया। एलफिन्सटन किसी प्रकार जान बचाकर भागा तथा पूना से चार मील दूर किर्की नामक स्थान पर ब्रिटिश सैनिक छावनी में शरण ली। पेशवा की सेना ने किर्की पर धावा बोल दिया, किन्तु पेशवा पराजित हुआ तथा वह सतारा की ओर भाग गया। नवम्बर 1817 में पूना पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

पेशवा द्वारा युद्ध आरम्भ कर दिये जाने पर अन्य मराठा सरदारों के लिये भी युद्ध करना अनिवार्य हो गया। नवम्बर 1817 में ही अप्पा साहब भोंसले ने नागपुर के पास सीताबल्दी नामक स्थान पर अंग्रेजों से युद्ध किया, किन्तु भोंसले पराजित हुआ। तत्पश्चात दिसम्बर 1817 में नागपुर के युद्ध में पुनः अप्पा साहब पराजित हुआ और भागकर पंजाब चला गया। पंजाब से भागकर वह शरण के लिये जोधपुर आया। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने, जो स्वयं अंग्रेजों का विरोधी था, अप्पा साहब को शरण दी तथा 1840 में अप्पा साहब की जोधपुर में ही मृत्यु हो गयी।

इसी प्रकार होल्कर की सेना व अंग्रेजों के बीच 21 दिसम्बर 1817 को महीदपुर के मैदान में भीषण युद्ध हुआ। युद्ध में होल्कर की सेना पराजित हुई तथा

जनवरी 1818 में दोनों के बीच मन्दसौर की सन्धि हो गयी। इस सन्धि से अनुसार होल्कर ने सहायक सन्धि स्वीकार करली, राजपूत राज्यों से अपने अधिकार त्याग दिये तथा बून्दी की पहाड़ियों व उसके उत्तर के सभी प्रदेश कम्पनी को हस्तांतरित कर दिये। इस प्रकार मराठा संघ का एक प्रमुख स्तम्भ होल्कर भी कम्पनी की अधीनता में आ गया।

अब अंग्रेजों ने पेशवा की ओर ध्यान दिया। अंग्रेजों ने पेशवा के विरुद्ध एक सेना भेजी। जनवरी 1818 में कोरगांव के युद्ध में तथा अन्त में फरवरी 1818 में अष्टी के युद्ध में पेशवा बुरी तरह पराजित हुआ। अतः मई 1818 में उसने अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने पेशवा के पद को समाप्त कर पेशवा को 8 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के पास विठुर भेज दिया। पेशवा का राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सतारा का छोटा सा राज्य शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को दे दिया गया। पेशवा के मंत्री त्रियम्बकजी को आजीवन कारावास की सजा देकर चुनार के किले में भेज दिया गया। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्ज ने मराठा संघ को ध्वस्त कर मराठा शक्ति को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की।

तृतीय मराठा युद्ध का महत्व—यह मराठों का अन्तिम राष्ट्रीय युद्ध था और इस युद्ध ने मराठा शक्ति का सूर्य सदा के लिये अस्त कर दिया। एक-एक करके सभी मराठा सरदारों ने अंग्रेजों के सामने घुटने टेक दिये और इस प्रकार मराठा संघ ध्वस्त हो गया। भारत में अंग्रेजों की एक मात्र प्रतिद्वन्द्वी शक्ति समाप्त हो गयी, जिससे अब अंग्रेजों की सर्वोच्चता को चुनौती देने वाला कोई नहीं रहा। यद्यपि इस युद्ध के बाद नाम मात्र का मराठा राज्य रहा और स्वयं अंग्रेजों ने शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को सतारा का राजा बनाया, किन्तु उसमें यह साहस न रहा कि वह अंग्रेजी सत्ता का विरोध कर सके। मराठों की इस पराजय के फलस्वरूप पेशवा, होल्कर, सिन्धिया और भोंसले अपने राज्यों के अधिकांश भूभाग खो बैठे। राजपूत राज्यों से मराठों का प्रभुत्व समाप्त हो गया और राजपूत राज्य मराठों के प्रभुत्व से निकल कर अंग्रेजों के प्रभुत्व में चले गये। रेम्जे म्यूर ने इस युद्ध के औचित्य को सिद्ध करते हुए लिखा है कि कम्पनी की ओर से यह कोई आक्रामक युद्ध नहीं था तथा जिन क्षेत्रों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने के साथ यह युद्ध समाप्त हुआ था, वह भविष्य में शान्ति बनाये रखने के लिये आवश्यक था। वेलेजली ने मराठा शक्ति पर प्रहार कर उसे क्षीण कर दिया था तथा लार्ड हेस्टिंगज ने मराठा शक्ति को धराशायी कर दिया। इसलिये कहा जाता है कि लार्ड हेस्टिंग्ज ने वेलेजली के कार्य को पूरा कर दिया। इस युद्ध के बाद कम्पनी भारत की सार्वभौम सत्ता बन गई। प्रिंसप ने ठीक ही लिखा है कि, "ब्रिटिश प्रभाव और सत्ता भारत में जादू की तरह फैल गई।"

महादजी सिन्धिया

पानीपत के युद्ध की पराजय से मराठा शक्ति को गहरा धक्का लगा था। किन्तु 1782 की साल्वाई की सन्धि तक मराठा सरदारों ने अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को काफी अंशों तक पुनः प्राप्त कर लिया था। इस सन्धि के बाद मराठों के सामने प्रमुख रूप से दो कार्य थे—प्रथम तो टीपू की बढ़ती हुई शक्ति पर नियन्त्रण स्थापित करना और दूसरा उत्तर भारत में, विशेषकर दिल्ली में मराठों की सत्ता को पुनः स्थापित करना। इन दोनों कार्यों को पूरा करने का दायित्व मराठा राज्य के तत्कालीन दो महान् राजनीतिज्ञों ने अपने ऊपर लिया। इन दोनों ने पेशवाई के लड़खड़ाते हुए पैरों को बल प्रदान किया तथा अन्धकार में पड़े हुए मराठा राज्य को नव-प्रकाश प्रदान किया। ये दोनों राजनीतिज्ञ थे—महादजी सिन्धिया और नाना फडनवीस।

पेशवा के शासन में स्थान पाने वाला सिन्धिया वंश का प्रथम व्यक्ति जनकोजी था। जनकोजी के पुत्र राणोजी को पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने एक जागीर प्रदान की थी और यहीं से सिन्धिया वंश का उत्थान आरम्भ हुआ। राणोजी के पांच पुत्र थे, जिनमें से जयप्पा तथा दत्ताजी उसके वैध पुत्र थे और अन्य तीन—तुकोजी, महादजी तथा जोतिबा उसके अवैध पुत्र थे। महादजी के चारों भाई रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। पानीपत के युद्ध में पराजित होने पर महादजी किसी तरह बचकर रणक्षेत्र से भागे। रास्ते में कुछ अफगान घुड़सवारों ने उन पर आक्रमण किया। इसमें यद्यपि महादजी के प्राण तो बच गये, किन्तु उनका एक पैर जीवन भर के लिये खराब हो गया। सिन्धिया वंश में अब महादजी के अतिरिक्त कोई नहीं बचा था, अतः वे सिन्धिया वंश की जागीर के उत्तराधिकारी बने।

महादजी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने पाश्चात्य ढंग से प्रशिक्षित सेना के महत्व को समझा। अतः उसने अपनी सेना का पुनर्गठन किया। महादजी ने फ्रांसीसी सेनानायक डी-बापन को अपनी सेना में नियुक्त किया जिसके निरीक्षण में सेना को पाश्चात्य ढंग से प्रशिक्षित किया गया। इस प्रकार महादजी ने शीघ्र ही एक सुदृढ़ सेना का गठन कर लिया। 1772 में महादजी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मुगल सम्राट शाह आलम को दिल्ली के तख्त पर पुनः आसीन किया गया। पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद पूना दरबार में जो संघर्ष आरम्भ हुआ, उसके कारण महादजी को दस वर्ष तक दक्षिण में रहना पड़ा। साल्वाई की सन्धि के बाद महादजी ने पुनः उत्तर भारत की ओर ध्यान दिया।

शाह आलम पर नियन्त्रण साल्वाई की सन्धि सम्पन्न करवाने का श्रेय महादजी को था। इस सन्धि के अवसर पर अंग्रेजों ने महादजी को आश्वासन दिया कि दिल्ली में महादजी को पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी तथा वे उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। अतः साल्वाई की सन्धि के बाद महादजी का महत्व अत्यधिक बढ़ गया। इस समय शाह आलम आर्थिक संकट में था तथा अपनी समस्याओं के समाधान का

दायित्व महादजी को सौंपना चाहता था। अतः महादजी अब दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली की ओर बढ़ते समय किसी प्रबल शत्रु को पीछे छोड़ना संकट को आमंत्रित करना था। अतः 27 जुलाई 1783 को महादजी ने ग्वालियर पर विजय प्राप्त की तथा 1784 में गोहद के राणा को पराजित कर गोहद पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात अक्टूबर 1784 में महादजी आगरा पहुंचा। इस समय मुगल बादशाह शाह आलम आगरा में था। नवम्बर 1784 में मुगल सम्राट ने महादजी को वकील-ए-मुतलक की उपाधि प्रदान की। किन्तु महादजी के विचार में यह सम्मान केवल पेशवा को ही दिया जा सकता था। अतः मुगल सम्राट ने बाद में यह उपाधि पेशवा को देकर महादजी को नायब वकील-ए-मुतलक नियुक्त किया तथा मुगल साम्राज्य की समस्त व्यवस्था का भार महादजी को सौंप दिया। महादजी ने मुगल दरबार के अनेक विरोधियों का दमन किया। किन्तु इसमें महादजी का समय और धन बहुत नष्ट हुआ तथा उस पर 80 लाख रुपये का ऋण चढ़ गया। महादजी को पूना से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली, क्योंकि नाना फडनवीस महादजी को संदेह की दृष्टि से देखता था। इधर अंग्रेज भी महादजी के बढ़ते हुए प्रभाव से सशंकित थे और उसके विरुद्ध षडयंत्र रच रहे थे। अतः महादजी को 1784–85 में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

राजपूतों से युद्ध—जयपुर में सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के बीच उत्तराधिकार संघर्ष हुआ था, जिसमें मराठों ने पहले ईश्वरीसिंह का और बाद में माधोसिंह का पक्ष लिया था। माधोसिंह द्वारा गद्दी ग्रहण करने पर उसने मराठों को चौथ देने का वादा किया था। किन्तु 1786 तक जयपुर ने न तो मुगल सम्राट को अपना वार्षिक कर अदा किया था और न मराठों को चौथ ही चुकायी। अतः वकील-ए-मुतलक नियुक्त होने के बाद महादजी ने जयपुर राज्य से दोहरी मांग की। जयपुर का शासक सवाई प्रतापसिंह मांग पूरी करने में असमर्थ था। अतः वह महादजी के विरोध की तैयारी करने लगा। इधर जोधपुर की सेना भी जयपुर की सहायतार्थ आ पहुंची। महादजी की स्थिति कमजोर जानकर अनेक मुगल सैनिक राजपूतों के साथ मिल गये। फिर भी महादजी ने साहसपूर्वक उनका सामना करने का निश्चय किया। 28 जुलाई 1787 को तुंगा के मैदान में एक युद्ध हुआ, जिसमें महादजी को विवश होकर पीछे हटना पड़ा। लेकिन तीन वर्ष बाद महादजी पुनः राजपूतों के विरुद्ध आ डटा। 20 जून 1790 को पाटन का युद्ध हुआ जिसमें महादजी विजयी रहा। जोधपुर की सेना भाग खड़ी हुई। महादजी सेना लेकर जोधपुर की ओर चल पड़ा। 10 सितम्बर 1790 को मेड़ता का युद्ध हुआ जिसमें जोधपुर की सेना पराजित हुई तथा जोधपुर के शासक विजयसिंह को महादजी के साथ सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार महादजी को 60 लाख रुपये, सांभर तथा अजमेर का परगना प्राप्त हुआ। इसी प्रकार फरवरी 1791

में जयपुर के साथ सन्धि हुई जिसमें चौथ के 17 लाख रुपये तथा मुगल सम्राट के वार्षिक कर की उचित रकम तय की गई।

तुंगा के युद्ध में महादजी के पीछे हटने से शाह आलम ने समझा कि महादजी का पतन हो गया है। अतः वह पठान नेता गुलाम कादिर के संरक्षण में चला गया और जुलाई 1888 में गुलाम कादिर ने शाह आलम को गद्दीच्युत कर अंधा कर दिया। किन्तु अक्टूबर 1788 में महादजी ने पुनः शाह आलम को गद्दी पर बैठा दिया। तुंगा के युद्ध के बाद महादजी ने नाना फडनवीस को सहायता के लिये लिखा। लेकिन नाना ने सोचा कि महादजी उत्तरी भारत में एक पृथक राज्य स्थापित करना चाहता है, अतः नाना ने उसे बहुत ही कम सहयोग दिया। नाना का यह विचार मिथ्या था। महादजी अपने आपको पेशवा का तुच्छ सेवक समझता था। 1792 में उत्तर भारत पर अपना प्रभाव स्थापित करने के बाद महादजी 12 वर्ष बाद पूना के लिये रवाना हुआ। वह नाना से अपने मतभेद दूर करना चाहता था। लेकिन नाना को संदेह हुआ कि महादजी पूना पर नियंत्रण और अधिकार करना चाहता है। अतः नाना ने लार्ड कार्नवालिस को सैनिक सहायता देने की प्रार्थना की, किन्तु कार्नवालिस ने उसकी मांग अस्वीकार करदी। 1792 से 1794 तक महादजी पूना में रहा किन्तु नाना ने सदैव यही प्रयत्न किया कि पूना में महादजी का महत्व न बढ़ने दिया जाय। महादजी ने नाना के संदेह को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु नाना का सन्देह दूर न हो सका। इसी बीच सिन्धिया व होल्कर में प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी थी। अतः सिन्धिया के सेनानायक डी-ब्रापन ने 1793 में होल्कर को लाखेरी के युद्ध में पराजित कर दिया। इससे पूना में सिन्धिया की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई। इसके कुछ ही दिनों बाद जून 1793 में महादजी बीमार हो गया तथा 12 फरवरी 1794 को मराठा साम्राज्य के इस आधार स्तम्भ की मृत्यु हो गयी।

महादजी का मूल्यांकन—महादजी सिन्धिया अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ एवं सैन्य संचालक था। उत्तरी भारत में मराठों के प्रभाव को स्थापित करने का श्रेय महादजी को ही है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त ही प्रभावशाली था तथा वह व्यवहारकुशल भी था। महादजी ही प्रथम व्यक्ति था जिसने पाश्चात्य युद्ध शैली के महत्व को समझकर अपनी सेना को भी पाश्चात्य ढंग से प्रशिक्षितकरवाया। दुर्भाग्य से नाना ने कभी महादजी पर विश्वास नहीं किया। नाना ने तो उसे हमेशा धोखेबाज़, स्वार्थी तथा अवसरवादी ही कहा। लेकिन महादजी सच्चा स्वामी भक्त था। उसके पास इतनी सैन्य शक्ति थी कि यदि वह चाहता तो पेशवा और नाना को पकड़ कर बन्द कर सकता था। किन्तु महादजी के मन में ऐसा विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ। यदि नाना ने महादजी को सहयोग दिया होता तो आज मराठों का इतिहास ही दूसरा होता। महादजी ने जब नाना फडनवीस को सहायता के लिये

लिखा तो उसने अपनी पिछली सेवाओं की याद दिलाई और लिखा कि, "हम सभी एक ही अधिपति की सेवा करते हैं। यदि आप व्यक्तिगत रूप से मेरे प्रति ईर्ष्या रखते हों तो आप अपने से पूछें कि मोरोवा के गुट के विरुद्ध आपकी किसने सहायता की थी, किसने आपके प्रतिद्वन्द्वी सखाराम वापू को वश में किया था, किसने सदाशिवराव भाऊ के विद्रोह को दवाया था, तेलगांव में अंग्रेजों को किसने पराजित किया था, अंग्रेजों से युद्ध में किसने सबसे अधिक भार वहन किया और लाभप्रद शान्ति हासिल की। उन सेवाओं को याद करें और अपने मन से संदेह को हटा दें।" महादजी के उक्त कथन से स्पष्ट है कि मराठा संघ को दी गई महादजी की सेवाएँ अतुलनीय थी। सर यदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है कि, "महादजी सिन्धिया अपने समय के उत्तर भारत के इतिहास में एक दैत्य के समान था।"

नाना फडनवीस

नाना का जन्म 12 फरवरी 1742 को एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था तथा जन्म का नाम वालाजी था। इनके पिता का नाम जनार्दन था, अतः महाराष्ट्र की परम्परा के अनुसार उसे वालाजी जनार्दन कह कर पुकारते थे। पेशवा माधवराव प्रथम ने नाना को फडनवीस (पेशवाई के आय-व्यय का हिसाव रखने वाला) पद पर नियुक्त किया। किसी भी प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये वित्तीय प्रवन्ध में कुशलता आवश्यक थी। अतः वित्तीय प्रवन्ध के लिये उत्तरदायी होने के कारण नाना का महत्व वढ़ता गया। नाना शरीर से दुर्वल था तथा सैन्य संचालन में अयोग्य था, अतः उसे सैनिक अभियानों में नहीं भेजा जाता था। पेशवा नारायण राव की हत्या के वाद पूना में राघोवा के विरुद्ध क्षोभ और क्रोध की अग्नि प्रज्वलित हो गयी थी। अतः नाना फडनवीस, सखाराम वापू, मोरोवा आदि नेताओं ने वाराभाई समिति का गठन किया। तत्पश्चात राघोवा को पेशवा पद से अलग करने की घोषणा की गई। नारायणराव की विधवा पत्नी गंगावाई को, जो उस समय गर्भवती थी, राज्य की अधिकारिणी वनाया गया। सखाराम वापू को प्रमुख कार्यभारी तथा नाना को उसका सहायक वनाया गया। नाना अत्यन्त ही दम्भी व्यक्ति था तथा समस्त सत्ता अपने हाथ में केन्द्रित करना चाहता था। अतः धीरे-धीरे उसने वाराभाई समिति के सभी सदस्यों को पदच्युत कर शासन की समस्त शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित करली। नाना की यह प्रवृति मराठा राज्य के लिये वड़ी घातक सिद्ध हुई, क्योंकि पेशवा धीरे-धीरे शक्तिहीन हो रहा था और नाना स्वयं सैन्य संचालन कर नहीं सकता था। नाना के समक्ष प्रमुख समस्या मराठा संघ की एकता वनाये रखते हुए राघोवा पर नियंत्रण रखना तथा अंग्रेजों के वढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था। नारायण राव के मृत्योपरान्त उत्पन्न पुत्र माधवराव द्वितीय को पेशवा घोषित करने के वाद उसके पालन पोषण तथा उसे शासन संचालन की शिक्षा देने का दायित्व भी नाना का था।

18 अप्रैल 1774 को गंगाबाई के पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम माधवराव द्वितीय रखा गया और उसे पेशवा घोषित कर दिया गया। इस अवसर पर राघोबा के पक्षपाती सरदारों ने कुछ समझौता करना चाहा, किन्तु नाना, राघोबा से कोई समझौता करना नहीं चाहता था, बल्कि उसने राघोबा के विरुद्ध एक सेना भेज दी। दिसम्बर 1774 में थाना के निकट राघोबा पराजित हुआ और सूरत की ओर भाग गया। सूरत में राघोबा ने अंग्रेजों से सन्धि करली, जिसके फलस्वरूप आंग्ल-मराठा युद्धों का सूत्रपात हुआ। नाना ने भी कूटनीति से निजाम और हैदरअली को अपनी ओर मिलाकर अंग्रेज विरोधी गुट बना लिया। किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज ने निजाम को इस गुट से अलग कर दिया। अंग्रेजों के साथ हुए इस पूरे संघर्ष काल में नाना, महादजी के साथ सहयोग करता रहा। किन्तु सालबाई की सन्धि के सम्बन्ध में नाना व महादजी में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। सालबाई की सन्धि की शर्तों को तय करने में महादजी को श्रेय दिया जाता था और इससे महादजी को एक स्वतन्त्र शासक की स्थिति प्राप्त होती थी। इससे नाना की अधिकार लालसा तथा महत्वाकांक्षा को भारी धक्का लगा। अतः अपनी मृत्यु पर्यन्त तक नाना इसी प्रयत्न में लगा रहा कि महादजी का प्रभाव न बढ़ने दिया जाय, यद्यपि उसकी यह नीति भी मराठा राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई।

मैसूर के प्रति नीति—अंग्रेजों के साथ हुए संघर्ष के समय नाना ने मैसूर के शासक हैदरअली का सहयोग लिया था। हैदरअली की मृत्यु के बाद महादजी टीपू के प्रति भी मैत्रीपूर्ण नीति चाहता था, किन्तु नाना ने टीपू की शक्ति को कुचलने में अंग्रेजों से सहयोग देने की नीति अपनाई। अतः टीपू ने अंग्रेजों के साथ मंगलोर की सन्धि करने के बाद मराठों पर आक्रमण कर नारगुंड व कित्तूर पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर नाना ने अंग्रेजों से सैनिक सहायता मांगी, किन्तु कार्नवालिस ने पिट्ट इण्डिया एक्ट का बहाना लेकर नाना को सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दिया। लेकिन जब कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध सैनिक अभियान करने से पूर्व मराठों से सहायता मांगी तब महादजी के मना करने के बावजूद नाना, अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया। नाना ने अंग्रेजों को सम्भवतः इसलिये सहायता दी थी कि उसे भविष्य में अंग्रेजों की प्रशिक्षित सेना की सहायता मिल जायेगी। टीपू को पराजित करने के बाद अंग्रेजों ने टीपू से जो सन्धि की, उसके अनुसार मराठों को कुछ क्षेत्र उपलब्ध हुए। किन्तु इसके परिणाम मराठों के लिये बड़े हानिकारक सिद्ध हुए। क्योंकि दक्षिण में अब शक्ति संतुलन बिगड़ चुका था और मराठों को भविष्य में अंग्रेजों से अकेले ही सामना करना पड़ा, जिससे मराठों का पतन अवश्यंभावी हो गया।

मराठा संघ और नाना फडनवीस—मराठा संघ के सरदारों में पारस्परिक द्वेष व फूट के कारण मराठा संघ के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः

नाना को चाहिये था कि सभी सरदारों से, विशेषकर महादजी के साथ सहयोग करे। लेकिन नाना ने ऐसा करने की वजाय प्रत्येक मराठा सरदार को संदेह की दृष्टि से देखा। 1792 में जब महादजी उत्तर भारत से पूना के लिये रवाना हुआ तो नाना को संदेह हुआ कि महादजी पूना पर नियंत्रण और अधिकार स्थापित करना चाहता है। अतः नाना ने कार्नवालिस से सैनिक सहायता की मांग की, लेकिन कार्नवालिस ने उसे सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दिया। महादजी 1792 से 1794 तक पूना में रहा लेकिन नाना ने कभी भी महादजी से मराठा संघ की समस्याओं की चर्चा नहीं की। नाना का एक मात्र उद्देश्य यही रहा कि पूना में महादजी का महत्व न बढ़ने दिया जाय।

नाना राघोवा के साथ भी कोई समझौता करना नहीं चाहता था। राघोवा का तो वह इतना विरोधी था कि 1795 में माधवराव द्वितीय की मृत्यु के वाद, मृत पेशवा की इच्छा के वावजूद राघोवा के पुत्र वाजीराव द्वितीय को पेशवा वनाने को तैयार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि 1762–63 में राघोवा ने नाना को फडनवीस के पद से हटवा दिया था। अतः स्पष्ट है कि नाना में प्रतिशोध की भावना प्रवल थी और वह अपने विरोधियों को कभी क्षमा नहीं करता था। नाना की इस नीति के कारण विभिन्न मराठा सरदार पेशवा के नियंत्रण से मुक्त होने की सोचने लगे, जिससे मराठा संघ की एकता को खतरा उत्पन्न हो गया।

पेशवा और नाना फडनवीस—माधवराव द्वितीय का पालन पोषण नाना की देखरेख में हुआ था, किन्तु नाना ने कभी भी इस वात का प्रयत्न नहीं किया कि पेशवा को सैनिक एवं प्रशासनिक शिक्षा दी जाय। अतः नाना ने उसे जीवन के वांछित अनुभवों का ज्ञान नहीं कराया, जिससे पेशवा अपने पद का उत्तरदायित्व ही नहीं संभाल सका। नाना को इस वात का भय रहता था कि यदि पेशवा अपने पद के उत्तरदायित्व को संभालने के योग्य वन गया तो शासन की सत्ता उसके हाथों से छिन जायेगी। पेशवा जब पांच वर्ष का था तव महादजी उत्तर भारत के अभियान पर चला गया था। 1792 में जब महादजी वापिस आया उस समय पेशवा 18 वर्ष का हो चुका था। जब महादजी पेशवा से मिला तो नाना के कठोर नियंत्रण में; ताकि पेशवा पर महादजी का प्रभाव स्थापित न हो जाय। पेशवा की समस्त दिन-चर्या ही नाना द्वारा नियंत्रित थी। ऐसी परिस्थितियों में पेशवा में मराठा संघ के नेतृत्व की योग्यता का विकास होना संभव ही न था। 1795 में मराठों ने निजाम को खरदा के युद्ध में पराजित किया था। इस अवसर पर पेशवा युद्ध स्थल में मौजूद था तथा उसने वाजीराव द्वितीय से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। जब नाना को अपने गुप्तचरों द्वारा इसकी सूचना दी गई तो नाना ने पेशवा को वुरी तरह फटकारा और उसे अपमानित किया। नाना के इस व्यवहार की, उसके जीवनी लेखक एवं प्रशंसक श्री हर्डीकर ने भी निन्दा की है। इसके वाद नाना ने

पेशवा के चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। अपना अपमान देखकर पेशवा को इतनी आत्मग्लानि हुई कि अक्टूबर 1795 में उसने छत से कूद कर आत्महत्या करली। इस घटना के लिये नाना को दोषमुक्त नहीं माना जा सकता।

पेशवा के उत्तराधिकार का प्रश्न—1795 में पेशवा माधवराव द्वितीय की निसंतान मृत्यु हो गयी थी। किन्तु अपनी मृत्यु से पूर्व वह बाबूराम फड़के के सामने बाजीराव द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा व्यक्त की थी। किन्तु नाना तो राघोबा के किसी पुत्र को पेशवा बनाने को तैयार ही नहीं था। नाना चाहता था कि बाजीराव के छोटे भाई चिमाजी को माधवराव की पत्नी के गोद दे दिया जाय और उसे पेशवा बना दिया जाय। किन्तु महादजी के उत्तराधिकारी दौलतराम सिन्धिया ने बाजीराव का पक्ष लिया। चिमाजी इस समय अल्पवयस्क था और उसे पेशवा बनाने से शासन सत्ता नाना के हाथ में ही रहती। नाना ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्मशास्त्र तथा सामाजिक नियमों को भी तिलांजली दे दी। चिमाजी, माधवराव के चाचा थे, अतः माधवराव की पत्नी यशोदाबाई के श्वसुर थे। इसलिये श्वसुर को गोद लिया जाना धर्मशास्त्र के विपरीत था। किन्तु नाना के सामने स्वार्थ सिद्धि ही श्रेष्ठ धर्मशास्त्र था। थोड़े दिनों बाद जब बाजी-राव ने नाना को आश्वासन दिया कि वह नाना को अपना मुख्यमन्त्री बना देगा तो नाना ने बाजीराव का पक्ष ग्रहण कर लिया। सिन्धिया इस कार्यवाही से क्रुद्ध हो उठा और उसने चिमाजी को पेशवा घोषित कर दिया।

नाना ने अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये उचित व अनुचित सभी साधनों का प्रयोग किया। नाना ने ऐसा षड़यंत्र रचा कि समस्त राज्य में उथल-पुथल मच गई। नाना ने बाजीराव को पेशवा बना दिया। नाना अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कितना वशीभूत था, यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उसने बाजीराव से अपने भावी गोद लिये जाने वाले पुत्र के लिये फडनवीस का पद और अधिकार मांगे, जबकि भावी गोद लिया जाने वाला व्यक्ति कौन था, वह स्वयं भी नहीं जानता था। वस्तुतः नाना ने अपने पद पर कार्य करते हुए नौ करोड़ रुपये की सम्पत्ति एकत्रित करली थी, जिसकी वह किसी तरह रक्षा करना चाहता था। पेशवा बनने के बाद बाजीराव ने अपने वचन को भंग करते हुए 1797 के अंत में नाना को बन्दी बना लिया, किन्तु 1798 में उसे छोड़ दिया। इस समय नाना का स्वास्थ्य ठीक नहीं था और धीरे धीरे उसका चलना फिरना भी बन्द हो गया। अन्त में 13 मार्च, 1800 को नाना की मृत्यु हो गयी।

अंग्रेजों के प्रति नीति—सालबाई की सन्धि के पूर्व नाना का रुख स्पष्टतः अंग्रेज विरोधी था। नाना ने निजाम और हैदरअली के साथ मिलकर अंग्रेज विरोधी गुट बनाया था। किन्तु सालबाई की सन्धि के बाद मराठा संघ में अपने प्रभाव को सर्वोपरि बनाये रखने के लिये अंग्रेजों से मैत्री चाहता था। महादजी, मराठों के

प्रभाव को उत्तर भारत में फैलाना चाहता था, जबकि नाना का कार्य क्षेत्र दक्षिण भारत तक सीमित था। नाना ने अंग्रेजों को टीपू के विरुद्ध सैनिक सहायता दी थी, जिसका परिणाम मराठों के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ और जब महादजी 13 वर्ष बाद पूना लौटकर आया तब महादजी की सैन्य शक्ति से आतंकित होकर कार्नवालिस से भी सहायता मांगी। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वह अंग्रेजों की सहायता से अपनी सत्ता सुरक्षित रखना चाहता था। 1798 में वह जब पुनः फडनवीस पद पर नियुक्त हुआ तब भी उसने इस बात का प्रयत्न किया कि अंग्रेज और निजाम उसके पद की सुरक्षा की गारंटी दे। इस प्रकार साल्बाई की सन्धि के बाद अपनी मृत्यु पर्यन्त यही प्रयत्न करता रहा कि वह अंग्रेजों का सहयोग व समर्थन प्राप्त करता रहे। 1798 में नाना की फडनवीस पद पर नियुक्ति पर स्वयं वेलेजली ने प्रसन्नता व्यक्त की थी। अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि नाना, महादजी की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था तथा अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के लिये उसने मराठा संघ के हितों को तिलांजली दे दी थी।

नाना का मूल्यांकन – 18 वीं शताब्दी में मराठों को अंग्रेजों व मैसूर राज्य से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा था। इसलिये मराठों का नेतृत्व ऐसे किसी व्यक्ति के पास होना चाहिये था जो सैन्य संचालक में दक्ष हो। दुर्भाग्यवश नाना को सैनिक ज्ञान बिल्कुल नहीं था। अपनी इस कमजोरी के बावजूद उसने कभी भी किसी कुशल सैन्य संचालक पर विश्वास नहीं किया। इससे मराठा राज्य में भयंकर उथल पुथल मच गई। पेशवा नारायणराव की मृत्यु से उत्पन्न संकट में नाना की महत्वपूर्ण भूमिका उभर कर सामने आई थी, किन्तु 1782 के बाद तो नाना में वैसी योग्यता के चिन्ह मात्र भी दिखाई नहीं दिये। वस्तुतः मराठा संघ के पतन के लिये नाना की नीतियां काफी अंशों तक उत्तरदायी थी। वह बढ़ते हुए अंग्रेजों के खतरे को समझ ही नहीं सका। उसने अंग्रेजों का साथ देकर टीपू की शक्ति को कुचल दिया, जिससे दक्षिण में शक्ति संतुलन बिगड़ गया। उसने पेशवा माधवराव द्वितीय पर कठोर नियंत्रण रखकर मराठा संघ को अत्यन्त दुर्बल अवस्था में लाकर छोड़ दिया। उसने महादजी को कभी महत्व नहीं दिया, जबकि महादजी मराठा संघ का सर्वाधिक योग्य सरदार था। वस्तुतः उसने मराठा राज्य में किसी नेता को उभरने हीं नहीं दिया।

फिर भी अपने व्यक्तित्व और नीति निपुणता के कारण वह अर्द्ध शताब्दी तक मराठा राज्य में छाया रहा। नाना के जीवनी–लेखक श्री हर्डीकर ने उसकी तुलना एक वट वृक्ष से की है जिसकी विशाल और सघन छाया में लोग विश्रान्ति, शान्ति और सुख प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो अपने आसपास किसी भी अन्य वृक्ष को पनपने नहीं देता। दुर्भाग्य से नाना का काल मराठा राज्य के पतन का काल था तथा पतन के लिये सभी आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण हो चुका था।

मराठा सरदार आदर्शहीन एवं सिद्धान्तहीन हो चुके थे तथा राज्य हित की भावना नष्ट हो चुकी थी। फलस्वरूप मराठा संघ की एकता नष्ट हो गयी। पारस्परिक संघर्ष इतना तीव्र हो गया कि राज्य की नींवें बिल्कुल खोखली हो गयी।

मराठों के पतन के कारण

कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि अंग्रेजों ने भारत का शासन मुगल सम्राट से नहीं, बल्कि मराठों से प्राप्त किया था। क्योंकि औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का तीव्र गति से पतन आरम्भ हो गया था। देश में राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो रही थी। मराठों ने इस शून्यता को भरने का प्रयास किया। जिस समय अंग्रेज अपने अस्तित्व के लिये फ्रांसीसियों से संघर्ष कर रहे थे, उस समय मराठा एक निर्णायक शक्ति के रूप में उभर चुके थे। मराठे भारत के प्रायः सभी भागों से चौथ व सरदेशमुखी वसूल कर रहे थे। किन्तु अंग्रेजों के प्रथम प्रहार से मराठा शक्ति लड़खड़ाने लगी और उसकी दुर्बलताएं स्पष्ट हो गयी। अतः वेलेजली व लार्ड हेस्टिंग्ज के आक्रमणों से मराठा संघ चूर-चूर हो गया। मराठों ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करली और इसके बाद अंग्रेजों का विरोध करने का उनमें साहस नहीं रहा। मराठा राज्य और पेशवा का पद समाप्त हो गया। मराठों के इस दुर्भाग्यपूर्ण पतन के निम्नलिखित कारण थे :—

1. आन्तरिक दुर्बलताएं :—मराठों में एकता का अभाव था। मराठा राज्य एक राज्य नहीं था बल्कि एक संघ राज्य था, जिसमें प्रत्येक शक्तिशाली सरदार अपने राज्य में स्वतन्त्र था। पानीपत के युद्ध के बाद मराठा संघ में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। पेशवा माधवराव प्रथम के समय तक नाम मात्र की एकता बनी रही। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद वह एकता समाप्त हो गयी। मराठा सरदारों पर पेशवा का नियंत्रण शिथिल हो गया। सिन्धिया, होल्कर, भोंसले और गायकवाड़ न केवल स्वतन्त्र शासकों की भांति व्यवहार कर रहे थे, बल्कि उनमें पारस्परिक संघर्ष भी आरम्भ हो गया। सिन्धिया और होल्कर की प्रतिद्वन्द्विता तो अन्त तक चलती रही। बड़ौदा का शासक गायकवाड़ बहुत पहले ही अंग्रेजों से मैत्री कर चुका था और इसलिये आंग्ल-मराठा युद्धों में वह तटस्थ रहा। भोंसले ने भी हृदय से कभी किसी से मिलकर कार्य नहीं किया। फलस्वरूप मराठा संघ छिन्न-भिन्न हो गया और अंग्रेजों को उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने तथा एक-एक करके उन्हें पराजित करने का अवसर मिल गया। पेशवा नारायणराव की मृत्यु के बाद पूना दरबार के आपसी झगड़ों का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने मराठों के साथ युद्ध करने प्रारम्भ कर दिये। मराठों के साथ अपने संघर्ष के दौरान अंग्रेजों ने मराठा सरदारों को अलग-अलग रखने की नीति अपनायी तथा एक-एक करके उन्होंने सभी सरदारों की शक्ति को नष्ट कर दिया। अतः मराठों में एकता का अभाव, मराठों के पारस्परिक संघर्ष और सशक्त केन्द्र का अभाव मराठों की सबसे बड़ी

कमजोरी थी। इन आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण मराठों का पतन अवश्यंभावी बन गया।

2. प्रशासकीय दोष—मराठों ने कभी अपने राज्य की प्रशासकीय व्यवस्था को सुसंगठित करने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने अपने नागरिकों की शिक्षा, रक्षा, विकास और नैतिक उन्नति के लिये कोई कार्य नहीं किया। मराठों का एक मात्र लक्ष्य मुगल सम्राट पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके विभिन्न प्रान्तों से केवल चौथ व सरदेशमुखी प्राप्त करना था। मराठा अपने इस लक्ष्य से कभी ऊपर नहीं उठ सके तथा उन्होंने शक्तिहीन मुगल साम्राज्य को बनाये रखने में ही अपनी सारी शक्ति लगादी। फलस्वरूप उन्होंने कभी अपने प्रशासन की ओर ध्यान ही नहीं दिया। राज्य के नागरिकों का नैतिक विकास न होने के कारण राज्य को ईमानदार कर्मचारी और पदाधिकारी नहीं मिल सके। प्रशासन में सर्वत्र भ्रष्टाचार फैल गया। मराठा प्रशासन का गम्भीर दोष यह था कि शासन संचालन में केवल सरदारों व मंत्रियों का ही सहयोग लिया गया और जन साधारण को कोई महत्व नहीं दिया गया। मराठा सरदार व मंत्री अपने स्वार्थों से ऊपर न उठ सके। अतः जिस समय उनका अंग्रेजों से संघर्ष हुआ उस समय तक मराठा अपने जातीय गुण खो चुके थे। कठोर जीवन, कर्मठता और संयम आदि गुण उनके जीवन से विदा हो चुके थे। सामन्त प्रथा तथा ऊंच-नीच की भावना से मराठा समाज में दरार उत्पन्न हो गयी और वे अपने आदर्शों से भटक गये। उत्तरी भारत से लूटमार में प्राप्त हुई सम्पत्ति ने उन्हें विलासप्रिय बना दिया। भोग विलासी जीवन से मराठा सरदारों का नैतिक पतन हो गया। इन परिस्थितियों में वे अपने साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सके और उनका पतन हो गया।

3. अयोग्य नेतृत्व—मराठा सरदारों में कूटनीतिक योग्यता का अभाव था। मुगल साम्राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि उन्हें व्यर्थ ही अहमदशाह अब्दाली से टक्कर लेनी पड़ी तथा राजपूत, जाट और सिक्ख जो मुगल सत्ता के क्षीण होने पर केन्द्रीय सत्ता से मुक्त होना चाहते थे, उनसे भी शत्रुता मोल लेनी पड़ी। मराठा सरदार इस बात की तो कल्पना ही नहीं कर सके कि उन्हें राजपूतों, सिक्खों और जाटों के सहयोग की आवश्यकता पड़ सकती है। अतः जब मराठों से संघर्ष हुआ तब वे अकेले पड़ गये। इसके अतिरिक्त 18 वीं शताब्दी के अन्त तक सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो चुकी थी। महादजी सिन्धिया की 1794 में, अहिल्याबाई होल्कर की 1795 में, तुकोजी होल्कर की 1797 में और नाना फडनवीस की 1800 में मृत्यु हो गयी थी। उनके पश्चात मराठों को दुर्बल पेशवा बाजीराव द्वितीय एवं स्वार्थी व महत्वाकांक्षी दौलतराव सिन्धिया व जसवन्तराव होल्कर का नेतृत्व प्राप्त हुआ। इनमें योग्यता और चरित्र दोनों की कमी थी। दूसरी ओर अंग्रेजों को एलफिन्सटन, मॉल्कम, वेलेजली तथा

लार्ड हेस्टिंग्ज जैसे योग्य राजनीतिज्ञों का नेतृत्व प्राप्त हुआ। फलस्वरूप मराठे कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों का मुकावला नहीं कर सके।

4. आर्थिक व्यवस्था के प्रति उदासीनता—मराठों ने अपने राज्य की आर्थिक व्यवस्था की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपने राज्य में कृषि, उद्योग और व्यापार को उन्नत करने का प्रयास ही नहीं किया। राज्य में उचित कर व्यवस्था के अभाव में राज्य को उचित आय प्राप्त नहीं हो रही थी। इसके अतिरिक्त उत्तरी भारत के जिन प्रदेशों पर उन्होंने अधिकार किया था, वहां भी उन्होंने आर्थिक ढांचे में सुधार करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने तो अपनी आय का मुख्य साधन लूटमार वना लिया था। अतः वे न तो अपनी प्रजा को सम्पन्न वना सके और न अपने राज्य की आर्थिक नींव दृढ़ कर सके। ऐसा राज्य जो केवल लूट के धन पर ही निर्भर हो, स्थायी नहीं हो सकता। आर्थिक दृष्टि से हीन मराठे, साधन सम्पन्न अंग्रेजों का मुकावला नहीं कर सके।

5. दुर्बल सैन्य व्यवस्था—कुछ विद्वानों का मत है कि यदि मराठे गुरिल्ला युद्ध पद्धति तथा घुड़सवार सेना तक अपने को सीमित रखते तो शायद अधिक सफल हो सकते थे। महादजी सिन्धिया को छोड़कर अन्य सभी मराठा सरदारों ने पुरानी पद्धति को ही अपनाये रखा। लेकिन गुरिल्ला पद्धति से वे अधिक सफल होते, इसमें संदेह है। क्योंकि यह पद्धति केवल प्रतिरक्षात्मक युद्ध में शत्रु को परेशान करने के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती थी। यदि इस पद्धति से समस्त भारत में मराठा राज्य फैल भी जाता तो भी वह सुरक्षित नहीं रह सकता था, विशेषकर जव किसी विदेशी सत्ता से संघर्ष करना हो। सरदेसाई ने लिखा है कि मराठों में वैज्ञानिक युद्ध पद्धति का अभाव था जिसके फलस्वरूप मराठा सेना में कुशलता की कमी आ गयी थी। एक अन्य इतिहासकार केलकर के अनुसार मराठों की असफलता का मुख्य कारण प्रशिक्षित सेना, आधुनिक तोपखाना व वारूद का अभाव था। वस्तुतः मराठों ने अपने सैनिक कौशल के विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि मराठा सेना की ऐसी धाक जम गई थी कि मराठा सेनाओं को देखते ही भारतीय राज्यों की सेनाएं हतोत्साहित हो जाती थी। अतः मराठों ने अपने सैनिक-कौशल के विकास की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की।

युद्ध में सफलता योग्य नेतृत्व एवं सैनिकों के मनोवल पर निर्भर करती है। 1707 तक मराठों के पास आधुनिकतम हथियारों का अभाव था, फिर भी वे अपने मनोवल से मुगलों से संघर्ष करते रहे। किन्तु धीरे-धीरे मराठों ने युद्ध को लूटमार का साधन वना दिया। इसलिये मराठा सेना में अधिकांश सैनिक केवल लूटमार के लिये ही भर्ती होने लगे, जिनमें मनोवल का अभाव होता था। डॉ. एस. एन. सेन ने लिखा है कि "यूरोपीय सैनिक प्रणाली अपनाने के कारण मराठों को विभिन्न जाति के सैनिक भरती करने पड़े जिससे उनकी सेना की राष्ट्रीय भावना

लुप्त हो गयी और उसमें वह शक्ति नहीं रही जो एक राष्ट्रीय सेना में होती है।" डॉ. सेन का यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि फ्रांसीसियों के अलावा किसी भी जाति के सैनिकों ने मराठों को धोखा नहीं दिया।

6. सामाजिक दुर्बलताएं—मराठों में सामन्त प्रणाली तथा जाति प्रथा के कारण सामाजिक दुर्बलताएं उत्पन्न हो गयी थी। सामन्त प्रणाली मराठा राज्य के विस्तार में सहायक हुई थी। पहले केवल छत्रपति (राजा) ही सामन्तों की नियुक्ति करता था, किन्तु आगे चलकर पेशवा भी अपने सामन्त नियुक्त करने लगा। इस प्रकार छत्रपति के सामन्तों के साथ पेशवा के भी सामन्त उत्पन्न हो गये। इन दोनों वर्गों के सामन्त कभी मिलकर कार्य नहीं कर सके। सर यदुनाथ सरकार ने मराठों के पतन के लिये जाति प्रथा को उत्तरदायी बताया है, जिनमें जाति भेद के कारण वैमनस्य था। किन्तु मराठा इतिहासकार खरे व केलकर इस कथन को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि जाति व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही थी और यदि इस जाति व्यवस्था से मराठों का उत्थान हो सकता है तो उनके पतन के लिये यह उत्तरदायी नहीं हो सकती। किन्तु उनका तर्क उचित नहीं है। मराठों में पारस्परिक वैमनस्य जागीरों व चौथ के कारण उत्पन्न हुआ था और इस वैमनस्य को बढ़ाने में जाति व्यवस्था ने योगदान दिया था। जब छत्रपति नाम मात्र का रह गया तब पेशवा के विरोधियों ने यह बात फैलादी कि नाना साहब पेशवा ब्राह्मण है, इसलिये ब्राह्मणों को प्रोत्साहन दे रहा है। इस प्रकार मराठों में सामन्त प्रणाली व जाति व्यवस्था ऐसी सामाजिक दुर्बलताएं थी, जिन्होंने मराठों के पतन में योगदान दिया था।

7. देशी शक्तियों से शत्रुता—मराठों ने अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये भारत की देशी शक्तियों के सहयोग की उपेक्षा की। राजपूतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके उन्हें अपना शत्रु बना लिया था। मुगल बादशाह की ओर से मराठों ने जाट राजा सूरजमल पर आक्रमण करके जाटों को भी नाराज कर दिया। सिक्ख राज्यों में लूटमार करके मराठों ने सिक्खों को भी अपना विरोधी बना लिया। मराठों की लूटमार से त्रस्त होकर राजपूत अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार करने को तैयार हो गये। यदि मराठे, राजपूत, सिक्ख और जाट मिलकर विदेशी शत्रु का सामना करते तो आज भारत का इतिहास ही कुछ दूसरा होता। किन्तु भारत का यह दुर्भाग्य था कि वे पारस्परिक वैमनस्य व शत्रुता के शिकार हो गये तथा देश की आजादी अंग्रेजों के हाथों खो बैठे।

8. मैसूर तथा हैदराबाद का पतन—दक्षिण भारत में प्रमुख तीन शक्तियां थी—मराठा, निजाम और मैसूर के शासक। ये तीनों शक्तियां ऐसी थी कि अंग्रेजों से लोहा ले सकती थी। यदि ये तीनों शक्तियां अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना लेती तो अंग्रेजों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता। किन्तु दुर्भाग्य से वे अंग्रेजों

की कूटनीति व आपसी फूट के शिकार हो गये। निजाम व मराठों की शत्रुता सर्वविदित थी। अतः निजाम ने मराठों के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने के लिये अंग्रेजों से सहायक सन्धि करली तथा अपने को अंग्रेजों की अधीनता में सौंप दिया। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से मैसूर को मराठों से अलग कर दिया। नाना फडनवीस ने तो मैसूर के शासक टीपू की शक्ति को कुचलने के लिये अंग्रेजों को सहयोग देने में भी संकोच नहीं किया। अतः अंग्रेजों ने मराठों के सहयोग से पहले मैसूर की शक्ति को नष्ट किया और फिर मराठों को भी कुचलने में सफल हो गये। अतः मैसूर व हैदराबाद के पतन के बाद मराठों का पतन भी अवश्यंभावी हो गया।

9. नाना फडनवीस की नीतियां—मराठों के पतन के लिये सभी आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण हो चुका था और नाना फडनवीस की नीतियों ने उन परिस्थितियों को और बल प्रदान कर दिया। चूंकि नाना का कार्यक्षेत्र केवल दक्षिण भारत था, अतः उसके लिये निजाम व टीपू ही मुख्य शत्रु थे। साल्बाई की सन्धि के बाद, महादजी की इच्छा के विरुद्ध उसने टीपू की शक्ति को कुचलने के लिये अंग्रेजों को सहयोग दिया। फलस्वरूप टीपू के पतन के बाद दक्षिण भारत में शक्ति संतुलन बिगड़ गया और अब केवल अंग्रेज ही मराठों के एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी रह गये। नाना अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के लिये किसी अन्य मराठा सरदार के महत्व को बढ़ने ही नहीं देना चाहता था। स्वयं नाना में सैनिक योग्यता नहीं थी और राज्य में कुशल सैन्य संचालक को वह संदेह की दृष्टि से देखता था। उसने तो सर्वाधिक योग्य सरदार महादजी सिन्धिया पर कभी विश्वास नहीं किया। नाना ने अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिये पेशवा माधवराव द्वितीय को न तो उचित प्रशिक्षण दिया और न उसे जीवन का कोई अनुभव होने दिया। अतः नाना फडनवीस की नीतियों ने मराठा संघ को अत्यन्त ही दुर्बल अवस्था में लाकर खड़ा कर दिया। पहले से ही निर्मित परिस्थितियों व नाना की नीतियों के कारण 18 वीं शताब्दी के अन्त में कोई भी कुशल राजनीतिज्ञ मराठों के पतन की कल्पना कर सकता था।

उपर्युक्त कारणों से मराठों का पतन अवश्यंभावी हो गया था। अंग्रेजों ने मराठा शक्ति पर तीन प्रहार किये। प्रथम प्रहार तो वे झेल गये, क्योंकि हैदरअली ने कर्नाटक पर आक्रमण करके उन्हें बचा लिया था। अंग्रेजों को केवल सालसेट देकर छुटकारा पा गये। अंग्रेजों के दूसरे प्रहार ने मराठों को बुरी तरह घायल कर दिया। तीसरे व अंतिम प्रहार ने तो मराठा संघ को ध्वस्त ही कर दिया और इस प्रकार मराठा शक्ति का सदा के लिये सूर्यास्त हो गया।

अध्याय 6

मैसूर राज्य का उत्थान एवं पतन

18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत में राजनैतिक घटना चक्र के चार केन्द्र विन्दु थे—अंग्रेज, मराठे, मैसूर तथा हैदरावाद का निजाम। मराठा परस्पर विरोधी दलों में वंटे हुए थे। हैदरावाद का निजाम मराठों के प्रभुत्व को कम करना चाहता था, किन्तु निजाम में इतनी शक्ति व योग्यता नहीं थी। वंगाल और कर्नाटक में आन्तरिक फूट के कारण अव्यवस्था फैली हुई थी। अतः जिस समय भारत की राजनीति अत्यन्त ही नाजुक दौर से गुजर रही थी, तव अंग्रेजों को चुनौती देने के लिये मैसूर में एक नई शक्ति का उत्थान हो रहा था। प्रारम्भ में मैसूर विजयनगर साम्राज्य का एक अंग था। 1565 ई. में जव विजयनगर साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, उस समय वाड्यार वंश ने मैसूर में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। 1704 ई. में मैसूर के राजा ने औरंगजेव की अधीनता स्वीकार करली। 1719 ई. में मुगल-मराठा सन्धि के फलस्वरूप मराठों को मैसूर से चौथ वसूल करने का अधिकार मिल गया। तत्पश्चात मैसूर से कर वसूल करने के सम्वन्ध में निजाम और मराठों के वीच झगड़े आरम्भ हो गये। 18 वीं शताब्दी के मध्य में मैसूर का शासक चिका कृष्णराज नाम मात्र का शासक था। शासन की समस्त शक्ति देवराज तथा नन्दराज नामक दो भाइयों के हाथ में थी। वाद में नन्दराज राज्य का सर्वेसर्वा वन गया। उस समय हैदरअली नामक एक योग्य व्यक्ति नन्दराज की सेना में नायक के पद पर आसीन था।

हैदरअली का उत्कर्ष—हैदरअली का जन्म 1722 में हुआ था। उसका पिता फतेह मोहम्मद एक छोटा जागीरदार था तथा मैसूर राज्य की सेना में सैनिक अधिकारी था। जिस समय हैदरअली छः वर्ष का था, उसका पिता एक लड़ाई में मारा गया। अतः फतेह मोहम्मद का परिवार अनाथ हो गया। हैदरअली का एक वड़ा भाई शाहवाज भी था। फतेह मोहम्मद का एक भतीजा हैदर साहिव मैसूर राज्य की सेना में था, अतः उसकी सहायता से शाहवाज को मैसूर की सेना में नौकरी

मिल गई। 1738 में हैदरअली भी मैसूर की सेना में भर्ती हो गया। हैदरअली बिलकुल निरक्षर था, किन्तु असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति था। उसकी युद्ध कुशलता से प्रभावित होकर नन्दराज ने उसे डिण्डुगल के किले का फौजदार नियुक्त कर दिया। चूंकि हैदर बिल्कुल निरक्षर था, अतः उसने खाण्डेराव नामक ब्राह्मण को अपना सलाहकार नियुक्त कर दिया। खाण्डेराव अत्यन्त ही षड़यंत्रकारी व्यक्ति था। उसने राजमाता को सलाह दी कि वह हैदरअली की सहायता से नन्दराज को पराजित कर सत्ता अपने हाथ में ले ले। राजमाता ने इस सलाह को स्वीकार कर लिया। अतः हैदरअली ने नन्दराज को परास्त कर दिया और सत्ता राजमाता को सौंपने की बजाय, सत्ता अपने हाथ में ले ली। जब खाण्डेराव ने इसका विरोध किया तो हैदरअली ने उसे भी कैद कर लिया।

डिण्डुगल का फौजदार बनने के बाद हैदरअली ने अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। हैदराबाद के निजाम आसफजां की मृत्यु के बाद मैसूर सरकार की सहायता से नासिरजंग हैदराबाद का निज़ाम बना था। 1750 में नासिरजंग की हत्या करदी गई। उस समय हैदरअली अपने सैनिकों सहित हैदराबाद में था। नासिरजंग की हत्या से राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। नासिरजंग के विरोधी उसका लगभग $\frac{3}{4}$ कोष लेकर भागने लगे। हैदरअली ने नासिरजंग के इन विरोधियों को परास्त कर सारा कोष उनसे छीन लिया। इस प्रकार शीघ्र ही उसके पास करोड़ों रुपये की धनराशि हो गयी। 1776 में जब मैसूर के राजा की मृत्यु हो गयी तब हैदर ने स्वयं को मैसूर का राजा घोषित कर दिया। इससे पहले हैदर ने शासन के समस्त कार्य एवं विजय मैसूर के राजा के नाम पर की थी और उसने कभी भी अपने आपको राजा नहीं कहा, यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वही शासक था।

हैदरअली के इस उत्कर्ष में उस समय की परिस्थितियों ने उसे भारी सहायता पहुंचाई थी। आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष से कर्नाटक की समृद्धि का नाश हो चुका था। पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की कमर टूट चुकी थी और हैदराबाद का निजाम निर्बल और लाचार बना हुआ था। अतः हैदरअली की बढ़ती हुई शक्ति पर रोक लगाने वाला कोई नहीं था। 1761 में हैदरअली ने मैसूर पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था। उसका उत्कर्ष केवल उसकी सैनिक और राजनीतिक योग्यता तथा व्यक्तिगत परिश्रम पर आधारित था। दक्षिण में फैली अव्यवस्था का लाभ उठाकर हैदरअली ने राज्य की सीमाओं का भी विस्तार कर लिया था।

हैदरअली और मराठे—1762 से 1778 तक हैदरअली इस बात के लिये असफल प्रयत्न करता रहा कि मराठों के विरुद्ध अपनी स्थिति दृढ़ करने में अंग्रेजों की सहायता प्राप्त करे। किन्तु हैदर की बढ़ती हुई शक्ति से न केवल अंग्रेज, बल्कि निजाम और मराठे भी चौकन्ने हो उठे थे। 1764 में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण

कर दिया। इस युद्ध में हैदर पराजित हुआ और मार्च 1765 में मराठों से सन्धि करनी पड़ी। तदनुसार गुंटी व सावनूर के जिले व 32 लाख रुपये मराठों को देने पड़े। इसके एक वर्ष बाद 1766 में अंग्रेज, मराठा व निजाम ने हैदर के विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ बना लिया। किन्तु इस त्रिगुट में पारस्परिक विश्वास नहीं था। मराठा व निजाम में पारस्परिक अविश्वास काफी समय से चला आ रहा था। मराठों को अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति से भय था। निजाम भी अंग्रेजों से उत्तरी सरकार के प्रदेश वापिस लेना चाहता था। हैदर अनपढ़ होते हुए भी चतुर था। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि से इस त्रिगुट को भंग कर दिया। उसने मराठों को 35 लाख रुपये देकर उन्हें वापिस लौटा दिया। इसमें से 18 लाख रुपये नकद दिये गये और शेष 17 लाख रुपयों के बदले कोलार का जिला दिया गया। हैदर ने निजाम के पास सन्देश भेजा कि वह उसे उत्तरी सरकार के प्रदेश दिलवाने में सहायता देने को तैयार है। जब निजाम ने देखा कि मराठा सेना लौट रही है तब उत्तरी सरकार प्राप्त करने की आशा में अंग्रेजों के विरुद्ध उसने 1767 में हैदर से सन्धि करली। इस प्रकार हैदर ने अपनी कूटनीति द्वारा त्रिगुट को भंग कर दिया। तत्पश्चात हैदर ने अंग्रेजों पर आक्रमण कर उन्हें पराजित कर दिया, जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा। मार्च 1769 में अंग्रेजों को हैदर से सन्धि करनी पड़ी, जिसमें उन्होंने हैदर को वचन दिया कि यदि कोई अन्य शक्ति हैदर पर आक्रमण करेगी तो वे उसे सहायता देंगे। अंग्रेजों से सहायता का आश्वासन प्राप्त कर हैदर ने मराठों को खिराज देना बन्द कर दिया तथा मराठों को दिये गये अपने प्रदेशों पर आक्रमण कर दिया। इस पर मराठों ने 1770-72 में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। हैदर ने अंग्रेजों से सहायता मांगी, किन्तु अंग्रेजों ने उसकी कोई सहायता नहीं की। फलस्वरूप हैदर को पराजित होकर मराठों से अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी।

अगस्त 1773 में पेशवा नारायण राव की मृत्यु के बाद मराठा संघ में गृह-कलह उत्पन्न हो गया। इस अव्यवस्था का लाभ उठाकर हैदर ने उन सभी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया जो उसे मराठों को देने पड़े थे। मराठे, हैदर को पराजित न कर सके। तत्पश्चात पेशवा के मंत्री नाना फड़नवीस ने 1780 में हैदर से समझौता किया, जिसमें हैदर ने वचन दिया कि अंग्रेजों को भारत से निकालने में वह मराठों की सहायता करेगा। इसके बदले में नाना फड़नवीस नें हैदर से वसूल की जाने वाली वार्षिक खिराज की राशि में भारी कमी करदी। तत्पश्चात हैदर ने अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों को सहायता दी थी, किन्तु युद्ध के दौरान ही हैदर की मृत्यु हो गयी थी।

हैदरअली व अंग्रेज—अंग्रेज इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि दक्षिण भारत की यदि तीनों शक्तियां एक हो जाती है तो दक्षिण में अंग्रेजों के अस्तित्व

को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये वे इन तीनों शक्तियों को अलग-अलग रखना चाहते थे। निजाम, मैसूर व मराठे अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु परस्पर संघर्ष में लीन रहते थे। अतः दक्षिण में अंग्रेजों की कूटनीति अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। किन्तु मैसूर की स्थिति ऐसी थी कि दक्षिण की अन्य शक्तियां उसके अस्तित्व को बनाये रखना चाहती थी। मराठों को खिराज, निजाम को मराठों के आक्रमण के विरुद्ध एक मित्र तथा अंग्रेजों को दक्षिण में शक्ति संतुलन बनाये रखने तथा मराठों को मद्रास से दूर रखने के लिये मैसूर की आवश्यकता थी। साथ ही ये शक्तियां मैसूर को इतना शक्तिशाली भी देखना नहीं चाहती थी कि वह उनके लिये खतरा बन जाय।

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध—हैदरअली व फ्रांसीसियों के बीच घनिष्ठ मैत्री थी, किन्तु यह मैत्री अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं थी। अंग्रेजों ने इस मैत्री को कर्नाटक के लिये खतरा बताया था। लेकिन हैदरअली की योग्यता, कूटनीतिज्ञता और सैनिक कुशलता अंग्रेजों की दृष्टि में उसका सबसे बड़ा दोष था। अंग्रेज स्वयं राज सत्ता प्राप्त करना चाहते थे, अतः उनका हैदर से संघर्ष होना अवश्यंभावी था। अंग्रेजों व हैदर के बीच हुए प्रथम संघर्ष के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(1) हैदर को अपनी शक्ति संगठित करने में फ्रांसीसियों से सहायता प्राप्त हुई थी। अतः जब यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हुआ तो भारत में भी अंग्रेजों व फ्रांसीसियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। फ्रांसीसियों की प्रार्थना पर हैदर ने उन्हें 4,000 घोड़े दिये। किन्तु इसी समय हैदर के विरोधियों ने मराठों से सहायता लेकर अचानक उस पर आक्रमण कर दिया। विवश होकर हैदर को बंगलोर की ओर भागना पड़ा (12 अगस्त, 1760)। मई 1761 तक हैदर अपनी स्थिति को दृढ़ कर सका, तब तक फ्रांसीसियों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। हैदर द्वारा फ्रांसीसियों को सहायता देना अंग्रेजों को क्रुद्ध करने का पर्याप्त कारण था।

(2) कर्नाटक का नवाब मोहम्मदअली अंग्रेजों का मित्र था। उसका बड़ा भाई महफुजखां, मोहम्मदअली का कट्टर शत्रु था। मैसूर व कर्नाटक के बीच सीमा विवाद चल रहा था। अतः हैदर ने महफुजखां का पक्ष लिया और उसे अपने यहां शरण दी। इतना ही नहीं हैदर ने चांदा साहब के पुत्र राजा साहिब की भी सहायता की। इससे अंग्रेजों का नाराज होना स्वाभाविक ही था। अतः अंग्रेजों ने वेलौर में सेना तैनात करदी। अंग्रेजों की इस कार्यवाही ने हैदर को उत्तेजित कर दिया।

(3) 1766 ई. के प्रारम्भ में हैदर ने मलाबार प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। मलाबार के शासक अंग्रेजों के मित्र थे। अतः उन्होंने अंग्रेजों से सहायता मांगी। यद्यपि उस समय अंग्रेज मलाबार के शासकों को सहायता देने के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं ले सके, किन्तु अंग्रेज, हैदर के प्रति सशंकित हो गये।

(4) हैदर को अंग्रेजों की शक्ति और साहस में असीम विश्वास था। हैदर ने परस्पर क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा के लिये अंग्रेजों से मैत्री सन्धि का प्रस्ताव किया। किन्तु अंग्रेजों को हैदर के प्रति विश्वास नहीं था, अतः उन्होंने सन्धि का प्रस्ताव ठुकरा दिया।

(5) इसी समय यह अफवाह फैल गयी कि हैदर निजाम से सांठगांठ कर कर्नाटक पर आक्रमण करने की सोच रहा है। अतः अंग्रेजों ने निजाम को अपने पक्ष में कर, 12 नवम्बर, 1766 को उससे सन्धि करली। पेशवा माधवराव, हैदर के विरुद्ध पहले ही निजाम से सन्धि कर चुका था तथा मराठों ने मैसूर में लूटमार आरम्भ करदी थी।

(6) इन विकट परिस्थितियों में हैदर हिम्मत हारने वाला नहीं था। वह जानता था कि इन तीनों शक्तियों की मैत्री-सन्धि पारस्परिक स्वार्थों से परिपूर्ण है और इसे आसानी से भंग किया जा सकता है। हैदर ने मराठों को 35 लाख रुपये देकर लौटा दिया तथा निजाम को उत्तरी सरकार दिलवाने का आश्वासन देकर अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार हैदर की कूटनीति से अंग्रेज अकेले पड़ गये तथा हैदर का पक्ष प्रबल हो गया।

मई 1767 में हैदर व निजाम की संयुक्त सेना ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तथा कर्नाटक के क्षेत्र को रौंद डाला। अंग्रेजों की समाचार सेवा अत्यन्त ही अकुशल थी, अतः उन्हें शत्रुओं की गतिविधियों की तब तक कोई सूचना नहीं मिली जब तक कि हैदर व निजाम ने कावेरीपट्टम को घेर नहीं लिया। इस समय मद्रास के सर्वोच्च सैनिक अधिकारी कर्नल स्मिथ के पास बहुत ही कम सेना थी, अतः वह त्रिनोमली की ओर बढ़ा ताकि त्रिचनापल्ली से उसे कर्नल वुड की सहायता प्राप्त हो सके। हैदर ने दोनों को संयुक्त होने से रोकने का असफल प्रयास किया। सितम्बर 1767 में कर्नल स्मिथ व कर्नल वुड की सेनाओं तथा हैदर व निजाम की संयुक्त सेना के बीच भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में हैदर व निजाम की संयुक्त सेना पराजित हुई। अतः निजाम ने हैदर का साथ छोड़ दिया तथा 22 मार्च, 1768 को अंग्रेजों से सन्धि करली। निजाम से सन्धि करने के बाद अंग्रेजों ने मलाबार तट पर हैदर के प्रदेशों पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। किन्तु हैदर के पुत्र टीपू ने मंगलोर पर आक्रमण कर 11 मई, 1768 को अंग्रेजों को वहां से खदेड़ दिया। कर्नल स्मिथ व कर्नल वुड ने हैदर के अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। हैदर ने स्मिथ के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा, किन्तु स्मिथ ने सन्धि की ऐसी कठोर शर्तें लिखकर भेजी कि हैदर उन्हें स्वीकार न कर सका।

अब हैदर अंग्रेजों पर टूट पड़ा। उसने अपने प्रदेशों को पुनः प्राप्त करना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों की निरन्तर पराजय देखकर मद्रास सरकार ने कर्नल स्मिथ को वापस बुला लिया तथा सेना की कमान कर्नल वुड को सौंप दी। हैदर ने

कर्नल वुड को भी पराजित किया। अतः मद्रास सरकार ने कर्नल वुड को वापस बुलाकर, कर्नल स्मिथ को पुनः भेजा। स्मिथ ने जनवरी 1769 में अपना कार्यभार ग्रहण किया, किन्तु स्मिथ के आने से पूर्व हैदर ने उन सभी स्थानों पर अधिकार कर लिया, जिन पर पहले अंग्रेज अधिकार कर चुके थे। हैदर ने स्मिथ को अनेक स्थानों पर पराजित किया। अन्त में आश्चर्यजनक सैनिक गतिविधियों से अचानक हैदर मद्रास और स्मिथ की सेना के बीच पहुंच गया। यह ऐसी स्थिति थी जहां से वह अपनी शर्तें आज्ञा पूर्वक लिखवा सकता था। मद्रास सरकार विवश थी, अतः हैदर की एक के बाद एक शर्तें स्वीकार करली गई। अंत में 4 अप्रेल, 1769 को मद्रास की सन्धि हो गयी। सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थी :—

(1) दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिये, किन्तु करूर और उसके आस-पास के प्रदेश हैदर के पास रहे।

(2) हैदर के जहाजों को जिन्हें बम्बई सरकार ने पकड़ लिया था, उसके बदले में कोलार का भण्डार हैदर को दिया गया।

मद्रास सरकार ने बड़ी अनिच्छा से इस सन्धि को स्वीकार किया था, क्योंकि वह युद्ध जारी रखने की स्थिति में नहीं थी। सन्धि की भाषा से स्पष्ट हो रहा था कि मानो अंग्रेजों ने हैदरअली से शान्ति स्थापित करने की याचना की हो। सैनिक दृष्टि से हैदर अंग्रेज सेनाध्यक्षों से अधिक योग्य था। वह अपनी घुड़सवार सेना से शत्रु को आश्चर्यचकित कर देता था। वास्तव में हैदरअली का व्यक्तिगत शौर्य, दृढ़ता और बुद्धिमानी प्रशंसनीय थी। हैदर की समस्त सैनिक गतिविधियां गोपनीय रहती थी तथा अंग्रेजों की समाचार सेवा अत्यन्त अकुशल थी, जिसने भी हैदर की सहायता की थी।

द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध—मद्रास की सन्धि के बाद हैदर को आशा थी कि अब इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति रहेगी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। 1769 के बाद हैदर और अंग्रेजों के बीच पुनः मतभेद आरम्भ हो गये तथा 1780 में पुनः युद्ध आरम्भ हो गया जो हैदर की मृत्यु तक चलता रहा। इस युद्ध के निम्न कारण थे :—

(1) मद्रास की सन्धि में दोनों ने एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया था, किन्तु 1770 में जब मराठों ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया तब अंग्रेजों ने हैदर की कोई सहायता नहीं की। फलस्वरूप हैदर को पराजित होकर मराठों से अपमानजनक सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। हैदर इससे बड़ा खिन्न हुआ और अब उसने अंग्रेजों से मित्रता की आशा छोड़ दी। अतः अपनी रक्षात्मक आवश्यकता के लिये हैदर किसी अन्य शक्ति से सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा।

(2) अमेरीका के स्वतन्त्रता संग्राम में फ्रांस ने इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। अतः भारत में भी दोनों में युद्ध आरम्भ हो गया। अंग्रेजों ने 19 मार्च, 1779 को माही पर अधिकार कर लिया। माही, मलाबार तट पर हैदर के

शासन के अन्तर्गत था, किन्तु इस पर फ्रांसीसियों का अधिकार था। माही के बन्दरगाह से हैदर को निरन्तर युद्ध सामग्री प्राप्त होती थी, किन्तु अब उस पर अंग्रेजों का नियंत्रण होने से इसमें बाधा उत्पन्न हो सकती थी। हैदर ने माही की रक्षा के लिये फ्रांसीसियों को मदद दी थी, किन्तु माही पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इससे भी हैदर अंग्रेजों से नाराज हो गया।

(3) निजाम के भाई बासालातजंग को गंटूर की जागीर प्राप्त थी। बासालातजंग व फ्रांसीसियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध थे, जिसे अंग्रेज नहीं चाहते थे। अतः अंग्रेजों ने बासालातजंग पर दबाव डाला कि वह गंटूर का प्रदेश उन्हें सौंप दे तथा अपनी सेनाओं से फ्रांसीसियों को हटा दे। बासालातजंग ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर अंग्रेजों से कहा कि वे अपनी सेना भेजकर गंटूर पर अधिकार कर लें तथा उसके दरबार में फ्रांसीसियों की जगह अपने सैनिक भेज दें। गंटूर का रास्ता हैदर व निजाम के राज्य से होकर जाता था। अतः अंग्रेजों ने बिना हैदर व निजाम की अनुमति के इस रास्ते से अपनी सेनाएं भेज दी, यद्यपि निजाम व हैदर ने इसका तीव्र विरोध किया। इससे न केवल हैदर व अंग्रेजों के बीच कटुता बढ़ी वरन् निजाम भी अंग्रेजों से नाराज हो गया।

(4) इसी दौरान अंग्रेजों ने राघोबा से सूरत की सन्धि (1775 ई०) करली, जिससे आंग्ल-मराठा युद्ध आरम्भ हो गया। मराठे अंग्रेजों के विरुद्ध हैदर की सहायता प्राप्त करना चाहते थे। अतः हैदर के लिये यह स्वर्ण अवसर था। हैदर ने 1780 में मराठों से एक समझौता कर लिया। तत्पश्चात निजाम को भी इस संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित होने को कहा गया। निजाम गंटूर के मामले को लेकर अंग्रेजों से क्रुद्ध था। अतः निजाम भी इस संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित हो गया।

इस प्रकार अंग्रेजों के विरुद्ध यह मोर्चा अत्यन्त ही शक्तिशाली दिखाई देने लगा था। किन्तु वारेन हेस्टिंग्ज ने कूटनीति से निजाम को इस मोर्चे से अलग कर दिया। उसने निजाम को गंटूर लौटा दिया तथा कुछ भेंट भी भेजी, जिससे वह इस मोर्चे से अलग हो गया, यद्यपि उसने हैदर के विरुद्ध अंग्रेजों के साथ मिलकर युद्ध में भाग नहीं लिया था।

युद्ध का प्रारम्भ—28 मई, 1780 को हैदर श्रीरंगपट्टम के बाहर निकला तथा बंगलौर में अपनी सेना एकत्रित करके अंग्रेजों के ठिकानों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। इसी समय अंग्रेज सेनानायक मुनरो ने अपने सहयोगी सेनानायक बैली तथा फ्लेचर को हैदर के विरुद्ध भेजा। 10 सितम्बर, 1780 को अरनी नामक स्थान पर भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में फ्लेचर मारा गया, बैली को घायल अवस्था में बन्दी बना लिया गया तथा चार घंटे की इस लड़ाई में समस्त अंग्रेज सेना ही समाप्त हो गयी। अक्टूबर 1780 में हैदर ने अर्काट जीत लिया। हैदर की इन

विजयों से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा अपने न्यूनतम विन्दु तक पहुंच गई। अतः वारेन हेस्टिंग्ज ने सर आयरकूट को आवश्यक सेना देकर भेजा। जून 1781 में सर आयरकूट ने हैदर को पोर्टनोवो स्थान पर पराजित किया, किन्तु अंग्रेजों को इस सफलता का लाभ नहीं मिला। आयरकूट के पास घोड़े नहीं थे तथा रसद का भी अभाव था। अतः आयरकूट मद्रास लौट गया तथा अपना त्याग पत्र दे दिया। किन्तु उसे समझा बुझा कर वापिस भेज दिया गया। 27 सितम्वर, 1781 को उसने शोलिंगर नामक स्थान पर हैदर को बुरी तरह पराजित किया। किन्तु 2 जून, 1782 को अरनी नामक स्थान पर जो युद्ध हुआ, वह निर्णायक नहीं रहा।

इसी वीच मराठों ने अंग्रेजों के साथ 17 मई, 1782 को सालवाई की सन्धि करली। अतः अव अंग्रेज हैदर के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली ढंग से लड़ सकते थे। किन्तु इसी वीच वर्षा ऋतु आरम्भ हो गयी तथा वर्षा ऋतु के वाद हैदर युद्ध का संचालन न कर सका। युद्ध अभी चालू ही था कि युद्ध के दौरान 7 दिसम्वर, 1782 को हैदर की मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात हैदर के पुत्र एवं उत्तराधिकारी ने युद्ध का संचालन किया। टीपू ने व्रिगेडियर मैथ्यूज को उसकी समस्त सेना सहित वंदी वना लिया। किन्तु 1783 में यूरोप में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों से सन्धि करली। फलस्वरूप अव फ्रांसीसियों ने टीपू को सहायता देनी वन्द करदी। अतः टीपू ने अंग्रेजों से मैत्री करना ही उचित समझा। इधर अंग्रेज भी विवश हो चुके थे और वे सैनिक अभियान में टीपू को हराना कठिन समझते थे। कम्पनी के संचालक मण्डल ने भी टीपू से सन्धि करने का निश्चित आदेश दे दिया था। अतः अव हेस्टिंग्ज के समक्ष टीपू से सन्धि करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं था। मार्च 1784 में दोनों के वीच मंगलोर की सन्धि हो गयी। सन्धि के अनुसार टीपू ने कर्नाटक खाली कर दिया तथा अंग्रेजों ने मैसूर के उन क्षेत्रों से अपना अधिकार त्याग दिया जो युद्ध काल में हस्तगत कर लिये गये थे। टीपू ने अंग्रेज युद्ध वन्दियों को मुक्त करने का वादा किया। अंग्रेजों ने मैसूर में व्यापारिक एकाधिकार की मांग की; किन्तु टीपू ने उनकी मांग को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित हुई। मंगलोर की सन्धि टीपू की कूटनीतिक सफलता थी।

हैदरअली का मूल्यांकन—आधुनिक भारत के इतिहास में हैदरअली का स्थान भारत के प्रमुख शासकों में है। वह एक साधारण नायक की स्थिति से उठकर मैसूर का सेनापति और अन्त में वहां का शासक वन गया। वह अशिक्षित होते हुए भी उच्च कोटि का कूटनीतिज्ञ था। वह ऐसी किसी भी शक्ति से मैत्री करने को तैयार था, जो उसे सैनिक सामग्री उपलब्ध करा सके। अतः 1778 तक वह इस वात के लिये प्रयत्नशील रहा कि उसे अंग्रेजों की सहायता उपलब्ध हो सके। जव अंग्रेजों ने उसे यह सुविधा प्रदान नहीं की तो उसने फ्रांसीसियों से सहायता प्राप्त

करने का प्रयत्न किया। यद्यपि 1769 में मद्रास की सन्धि में अंग्रेजों ने उसे सहायता देने का वचन दिया था, किन्तु अंग्रेजों ने इस वायदे को पूरा नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से हैदर की शक्ति बढ़ने का भय था। हैदर भी इतना कमजोर नहीं था कि अंग्रेजों से वचन प्राप्त करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता। अंग्रेजों की सहायता के बिना भी वह एक ऐसी सेना के गठन में सफल हुआ जो अंग्रेजों की सेना से समानता के स्तर पर टक्कर ले सकी। अनेक इतिहासकारों ने विशेषकर अंग्रेज इतिहासकारों ने उसे लुटेरा तथा दूसरों के राज्य का अपहरणकर्त्ता कहा है। किन्तु हैदर के बारे में यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वह जमाना ही ऐसा था जब राज्य और शक्ति इसी तरीके से प्राप्त किये जाते थे। जिन परिस्थितियों में उसने मैसूर राज्य का निर्माण किया वह उसकी योग्यता का प्रमाण था। सैनिक दृष्टि से हैदर अंग्रेज सेनानायकों से अधिक योग्य था। उसकी सैनिक शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग घुड़सवार सेना का था, जिसके फलस्वरूप वह सदैव गतिशील रहता था। वह मराठों के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं कर सका था, क्योंकि मराठा आंधी की तरह टूट पड़ते थे, और हैदर को केवल रक्षात्मक युद्ध के लिये विवश होना पड़ता था।

हैदर न केवल कुशल सेनानायक ही था बल्कि कुशल प्रशासक भी था। उसने अपने राज्य के विद्रोही जमींदारों को शक्ति से अपने अधीन किया तथा स्वामी भक्त जमींदारों को उदार नीति से अपने पक्ष में किया। राज्य में भू-राजस्व व्यवस्था प्राचीन पद्धति से प्रचलित रही। गांव में राजस्व वसूल करने वाला पटेल होता था तथा बड़े क्षेत्रों में यह कार्य आमिलदार करते थे। उसकी धार्मिक नीति भी बड़ी उदार थी। ब्राह्मणों व मंदिरों को पहले की भांति जागीरें मिलती रहती थी। अंग्रेज सेनानायक मुनरो ने उसके प्रशासन की नियमितता एवं कुशलता की बड़ी प्रशंसा की है। एक शासक, सैनिक और सेनापति की दृष्टि से वह पूर्णतया योग्य था।

टीपू सुलतान और आंग्ल-मैसूर युद्ध

टीपू का जन्म 1749 ई० में हुआ था। ऐसा माना जाता है कि एक मुसलमान फकीर टीपू मस्तान औलिया के आशीर्वाद से हैदरअली के यहां उसका जन्म हुआ था। अतः उसका नाम फतेहअली टीपू रखा गया, जो इतिहास में, अपनी वीरता के कारण टीपू सुल्तान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। टीपू शिक्षित था तथा अंग्रेजों व मराठों के प्रति उसका दृष्टिकोण अधिक कठोर था। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने टीपू के विषय में अनेक गलत तथ्यों को प्रस्तुत कर उसे धर्मान्ध व अत्याचारी शासक बताने का प्रयत्न किया है, किन्तु आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने टीपू के सम्बन्ध में बहुत सी भ्रांतियों को दूर कर दिया है।

टीपू के शासक बनने के समय दक्षिण की तात्कालिक राजनीतिक स्थिति अत्यन्त ही पेचीदी थी। मैसूर के विरोधी राज्य हैदरअली की मृत्यु के बाद कभी भी

प्रबल हो सकते थे। मराठे और निजाम दोनों ही मैसूर के कुछ क्षेत्रों पर अपना दावा कर रहे थे और अंग्रेजों को इस प्रकार हस्तक्षेप करने का अवसर मिल सकता था। ऐसी स्थिति में टीपू के समक्ष दो विकल्प थे—या तो वह कुछ समय शान्त रहता तथा अन्य राज्यों से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके अपनी क्षेत्रीय समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता अथवा विस्तारवादी नीति अपना कर अपने विरोधियों को ललकारता। टीपू स्वयं कुशल सेनानायक था, अतः उसने विस्तारवादी नीति को अपनाया।

मराठा-मैसूर युद्ध (1785-87)—मंगलोर की सन्धि से द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध समाप्त हो चुका था। वह अब मराठों व निजाम के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की स्थिति में था। अतः 1785 के आरम्भ में उसने नारगुंड व कित्तुर पर अधिकार कर लिया, जो मराठों के अधिकार में थे। नाना फडनवीस ने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयास किया। तत्पश्चात नाना ने निजाम से समझौता करके टीपू के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। मराठों ने बादामी व गजेन्द्रगढ़ के दुर्गों को जीत लिया। फिर भी टीपू की प्रशिक्षित पैदल सेना मराठों की घुड़सवार सेना की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई। इसी बीच अंग्रेजों ने मेलेट को अपना रेजीडेन्ट नियुक्त किया तथा कुछ सेना भी पूना की ओर रवाना करदी। टीपू ने समझा कि अंग्रेज भी उसके विरुद्ध मराठों से सहयोग करने को तैयार हो गये हैं, अतः 1787 में उसने मराठों से सन्धि करली, जिसमें दोनों पक्षों ने जीते हुए प्रदेश लौटा दिये तथा टीपू से लिया जाने वाला खिराज कम कर दिया। टीपू ने मराठा युद्ध बन्दियों को मुक्त कर दिया।

तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध

टीपू की महत्वाकांक्षा शान्त होने वाली नहीं थी। अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा तो उसे विरासत में मिली थी। वह विदेशी शक्तियों के सहयोग से अपनी शक्ति संगठित करना चाहता था। टर्की के सुल्तान से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिये 1786 ई० में उसने गुलामअलीखां के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल कस्तुन्तुनिया भेजा। इसी प्रतिनिधि मण्डल को कस्तुन्तुनिया से फ्रांस जाना था ताकि फ्रांसीसियों से भी सहायता प्राप्त की जा सके। 1787 ई० में टीपू ने एक दूसरा प्रतिनिधि मण्डल सीधा फ्रांस भेजा। किन्तु टीपू के ये दोनों मिशन असफल रहे, क्योंकि उस समय टर्की का सुल्तान रूस और आस्ट्रिया के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था तथा अंग्रेजों की मैत्री पर निर्भर था और फ्रांस की सरकार ने भी इंगलैंड को यह आश्वासन दे दिया था कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध कोई उत्तेजनात्मक कार्यवाही नहीं करेगी।

मराठा-मैसूर युद्ध में अगस्त 1786 में ब्रिटिश रेजीडेन्ट मेलेट ने मराठों को सैनिक सहायता का वचन दिया था, किन्तु सितम्बर 1786 में कार्नवालिस भारत

आया और वह बिना उचित तैयारी के अपनी सैनिक प्रतिष्ठा खतरे में डालने को तैयार नहीं हुआ। उसने अमेरीका के स्वतन्त्रता संग्राम में 1783 में यार्कटाउन में हथियार डाल दिये थे, उसी प्रकार यदि उसे भारत में भी हथियार डालने पड़े तो उसकी समस्त सैनिक प्रतिष्ठा समाप्त हो सकती थी। अतः कार्नवालिस ने 1784 के पिट्ट इण्डिया एक्ट का बहाना बनाकर तथा टीपू से मैत्री सन्धि (मंगलोर की सन्धि) की दुहाई देकर मराठों को सैनिक सहायता देने से इन्कार कर दिया। किन्तु कार्नवालिस टीपू से मैत्री नहीं चाहता था। उसने देखा कि दक्षिण में अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित करने का यह एक अच्छा अवसर था, क्योंकि मराठे और निजाम दोनों मैसूर की शक्ति को दबाना चाहते थे। अतः वह ऐसे अवसर की तलाश में था, जिससे कि उसे टीपू पर आक्रमण का उचित बहाना प्राप्त हो जाय।

कार्नवालिस और टीपू के संघर्ष के कारणों के सम्बन्ध में इतिहासकारों के दो मत हैं। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि कम्पनी ने भारत में अपनी साम्राज्य विस्तार की नीति के कारण टीपू से संघर्ष किया। इस कथन के समर्थन में उन्होंने तर्क दिया है कि चूंकि मंगलोर की सन्धि कम्पनी के लिये अपमानजनक थी, अतः कम्पनी, टीपू से बदला लेना चाहती थी तथा अमेरीका के स्वतन्त्रता संग्राम में अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिये अंग्रेज भारत में अपना साम्राज्य का विस्तार करना चाहते थे। किन्तु कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यद्यपि कार्नवालिस भारत में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण कर रहा था, किन्तु टीपू ने स्वयं ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करदी थी जिससे विवश होकर कार्नवालिस को टीपू से संघर्ष करना पड़ा। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने तर्क दिया है कि टीपू ने अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिये टर्की व फ्रांस में अपने प्रतिनिधि भेजे थे और इसलिये कार्नवालिस अहस्तक्षेप की नीति का परित्याग करने के लिये विवश हो गया था। किन्तु इस कथन में कोई सत्यता नहीं है, क्योंकि जो प्रतिनिधि टर्की भेजा गया था उसके द्वारा टीपू ने सुल्तान से प्रार्थना की थी कि टर्की में उसे कुछ फैक्ट्रियां स्थापित करने की अनुमति दी जाय तथा खलीफा द्वारा उसे मैसूर के शासक के रूप में मान्यता दी जाय, क्योंकि मुगल सम्राट हैदरअली को बलात् अधिकार करने वाला मानकर उसे शासक के रूप में मान्यता नहीं दी थी। फ्रांस ने भी अंग्रेजों को उत्तेजनात्मक कार्यवाही न करने का वचन दिया था, अतः टीपू ऐसी परिस्थितियों में फ्रांस से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता कैसे मांग सकता था।

टीपू ने अपनी शक्ति में वृद्धि कर अपने पड़ौसी राज्यों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। उसने हैदराबाद पर आक्रमण कर गंटूर पर अधिकार कर लिया। हैदराबाद के निजाम ने कम्पनी से टीपू के विरुद्ध सैनिक सहायता देने की प्रार्थना की। इस समय तक कार्नवालिस इस निर्णय पर पहुंच चुका था कि टीपू की शक्ति के विस्तार को रोकने के लिये अहस्तक्षेप की नीति का परित्याग करना

आवश्यक है। किन्तु पिट्ट इण्डिया एक्ट के कारण वह प्रत्यक्ष रूप से निजाम को सहयता नहीं दे सकता था। अतः कार्नवालिस ने इसके लिये एक मार्ग ढूंढ निकाला। उसने 7 जुलाई 1789 को निजाम से कहा कि कम्पनी उसे सैनिक सहायता देने को तैयार है किन्तु निजाम को यह आश्वासन देना होगा कि वह इस सेना का प्रयोग कम्पनी के मित्रों के विरुद्ध नहीं करेगा। कार्नवालिस ने निजाम को कम्पनी के मित्रों की एक सूची दी, जिसमें जानबूझ कर टीपू का नाम नहीं दिया। अतः अप्रत्यक्ष रूप से कार्नवालिस टीपू के विरुद्ध निजाम को सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया। यह बात दूसरी है कि कार्नवालिस को उस समय टीपू के विरुद्ध सैनिक सहायता नहीं देनी पड़ी। किन्तु कार्नवालिस की यह कार्यवाही पिट्ट इण्डिया एक्ट की भावना तथा भाषा का स्पष्ट उल्लंघन था, क्योंकि कार्नवालिस का यह प्रस्ताव एक आक्रामक समझौते के समान था।

टीपू द्वारा ट्रावनकोर पर आक्रमण—1773 ई. में हैदरअली ने कालीकट पर अपना नियंत्रण स्थापित किया था, जिससे कालीकट और ट्रावनकोर के बीच में स्थित कोचीन पर उसका आधिपत्य बढ़ गया। कोचीन के क्षेत्र में एक 40 मील लम्बी ट्रावनकोर लाइन्स थी, जो सामरिक महत्व की थी। ट्रावनकोर लाइन्स तक पहुंचने का मार्ग दो दुर्गों—क्रांगनूर व अइकोट से नियंत्रित था। ये दोनों दुर्ग डचों के नियंत्रण में थे। टीपू के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर ट्रावनकोर के शासक ने इन दोनों दुर्गों को डच गवर्नर से खरीद लिया। चूंकि टीपू स्वयं इन दुर्गों को खरीदना चाहता था, अतः क्रुद्ध होकर टीपू ने 29 दिसम्बर 1789 को ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया, जो कम्पनी का मित्र था। यही तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध का तात्कालिक कारण था तथा कार्नवालिस के लिये युद्ध का बहाना। यद्यपि कार्नवालिस ने 5 दिसम्बर 1789 को डूण्डास को लिखे पत्र में कहा था कि "ट्रावनकोर के राजा का बिना ब्रिटिश सरकार की सहमति के इन दुर्गों को खरीदना अनुचित था।" फिर भी कार्नवालिस ने टीपू की कार्यवाही को युद्ध का कारण मान लिया। टीपू ने इस लड़ाई को केवल सीमावर्ती झड़प बताया, किन्तु कार्नवालिस ने टीपू के कथन को स्वीकार नहीं किया।

टीपू के विरुद्ध युद्ध आरम्भ करने से पहले कार्नवालिस के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि यदि युद्ध के मध्य मराठा व निजाम टीपू के पक्ष में हो जाते हैं तो कम्पनी की सेना की स्थिति क्या होगी ? इस संभावना के कारण कार्नवालिस ने युद्ध आरम्भ करने से पूर्व मराठा व निजाम से सन्धि करने का निर्णय लिया। 1 जून 1790 को निजाम के साथ तथा 4 जुलाई 1790 को मराठों के साथ टीपू के विरुद्ध सन्धियां करली गई, जिसके अनुसार दोनों ने अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने का वचन दिया तथा अंग्रेजों ने युद्ध की उपलब्धियों को (टीपू के जिन भूभागों पर वे विजय प्राप्त करेंगे) तीनों में बांटने का आश्वासन दिया। इस प्रकार कार्नवालिस ने टीपू के

विरुद्ध त्रिगुट का निर्माण कर लिया। इस सम्बन्ध में इतिहासकार फॉरस का कहना है कि, "एक न्यायप्रिय शासक के विरुद्ध डाकुओं की यह एक साजिश थी।" कार्नवालिस ने मद्रास के गवर्नर हालैण्ड को बिना बताये टीपू के विरुद्ध ये सन्धियां की थीं। अतः जब हालैण्ड को इस बात का पता लगा तो उसने कार्नवालिस को लिखा कि वह जो कुछ टीपू से चाहता है, वह लिखकर भेज दे, टीपू उसे स्वीकार कर लेगा। हालैण्ड के इस व्यवहार से क्रुद्ध होकर कार्नवालिस ने हालैण्ड को पदच्युत कर बंगाल बुला लिया तथा उसके स्थान पर मीडोज नामक अंग्रेज अधिकारी की नियुक्ति करदी, जो कार्नवालिस की योजना को कार्यान्वित कर सकता था। टीपू ने मीडोज से भी बातचीत करके युद्ध रोकने का प्रयास किया। उस समय के पत्रों से पता चलता है कि टीपू उस समय युद्ध करना नहीं चाहता था, किन्तु कार्नवालिस टीपू की शक्ति को समाप्त करना चाहता था। इसलिये मीडोज ने टीपू की किसी भी बात को मानने से इन्कार कर दिया। अप्रैल 1790 में ट्रावनकोर पर आक्रमण का बहाना लेकर कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी।

युद्ध का प्रारम्भ--टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते समय कार्नवालिस को आशा थी कि युद्ध अधिक समय तक नहीं चलेगा, अतः उसने जनरल मेडो तथा कर्नल मीडोज के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। जब जनरल मेडो बारामहल की ओर बढ़ रहा था कि अचानक उसकी मृत्यु हो गयी। अतः उसके स्थान पर मेक्सवेल की नियुक्ति की गई। लेकिन कर्नल मीडोज व मेक्सवेल को टीपू के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस सम्बन्ध में स्वयं कार्नवालिस ने 12 नवम्बर 1790 को डूण्डास को लिखा था कि, "युद्ध की शीघ्र और सफल समाप्ति की मधुर आशा अब कुछ धुंधली हो गयी है। हम युद्ध खो चुके हैं और हमारे शत्रुओं ने प्रतिष्ठा प्राप्त करली है।" वस्तुतः कार्नवालिस ने टीपू को अपनी आशा से अधिक शक्तिशाली पाया। इसलिये उसे स्वयं को सेना का नेतृत्व संभालने के लिये विवश होना पड़ा और 1791 के आरम्भ में उसने मद्रास पहुंच कर टीपू के विरुद्ध सेना का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। कार्नवालिस वेलोर होता हुआ बंगलोर पहुंचा और 21 मार्च 1791 को उसने बंगलोर पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात कार्नवालिस मैसूर राज्य की राजधानी श्रीरंगपट्टम की ओर बढ़ा। इसी समय रास्ते में निजाम की 10,000 सेना कार्नवालिस की सेना से मिल गई। 13 मई 1791 को वह श्रीरंगपट्टम के पास पहुंच गया।

इतिहासकार बी. डी. बसु का कहना है कि इस समय तक भी टीपू कम्पनी से मित्रता करना चाहता था। टीपू ने कार्नवालिस के पास बातचीत के लिये अपना दूत भी भेजा, किन्तु कार्नवालिस ने टीपू के दूत से भेंट ही नहीं की। बसु ने यह भी लिखा है कि इस दूत के साथ टीपू ने उपहार स्वरूप कुछ फल भी भेजे थे, किन्तु कार्नवालिस ने उन्हें वापिस लौटा दिया। इस प्रकार बसु ने यह स्पष्ट करने का

प्रयास किया है कि इस समय तक टीपू अंग्रेजों से मैत्री करने का इच्छुक था। इसका कारण यह था कि टीपू के पिता हैदरअली ने यूरोपियन सैनिकों पर विश्वास करके उन्हें ऊंचे-ऊंचे पद दिये थे। टीपू ने भी अपने पिता की नीति का अनुसरण किया था। किन्तु इस समय यूरोपियन सेना टीपू को छोड़कर जा रही थी। फिर भी कार्नवालिस के श्रीरंगपट्टम के निकट पहुंचने पर टीपू ने अत्यन्त कुशल सैन्य संचालन का परिचय दिया। फलस्वरूप कार्नवालिस को कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। इधर वर्षा आरम्भ होने से अंग्रेजी सेना में बीमारी फैल गई तथा खाद्य सामग्री में भी कमी हो जाने से कार्नवालिस को विवश होकर 26 मई 1791 को लौटकर बंगलौर आना पड़ा। कार्नवालिस की इस असफलता के कारण इंगलैंड में उसकी नीति की कड़ी आलोचना की गई। युद्ध को आक्रामक, अनावश्यक एवं अनुचित कहा गया तथा मराठा व निजाम के साथ की गई सन्धियों को पिट्ट इण्डिया एक्ट के विपरीत बताया गया। इसी बीच मराठे भी अंग्रेजों की तरफ से युद्ध में सम्मिलित हो गये तथा 30 मार्च 1791 को उन्होंने धारवार पर अधिकार कर लिया।

बंगलौर लौट आने के बाद कार्नवालिस पुनः बारामहल की ओर बढ़ा। 19 अक्टूबर 1791 को उसने नन्दी दुर्ग पर अधिकार कर श्रीरंगपट्टम की ओर बढ़ा। कार्नवालिस के साथ निजाम व मराठों की भी सेना थी। 5 फरवरी 1792 को कार्नवालिस श्रीरंगपट्टम से छः मील दूर रह गया तथा यहां से उसने पुनः श्रीरंगपट्टम का घेरा डाला। इस बार भी टीपू ने अत्यन्त कुशल सैन्य संचालन का परिचय दिया, किन्तु अंग्रेज सेना का अत्यधिक दबाव देखकर टीपू ने कार्नवालिस के पास अपना दूत भेजा तथा सन्धि की बातचीत हुई। 23 मार्च 1792 को दोनों पक्षों के बीच **श्रीरंगपट्टम की सन्धि** हो गयी। इस सन्धि के अनुसार :—

(1) टीपू ने मैसूर राज्य का आधा भूभाग अंग्रेजों को समर्पित कर दिया। तदनुसार मलाबार, कुर्ग व बारामहल अंग्रेजों को प्राप्त हुए, कृष्णा नदी के आसपास का क्षेत्र निजाम को तथा कृष्णा व तुंगभद्रा के बीच का क्षेत्र मराठों को प्राप्त हुआ।

(2) टीपू ने हैदरअली के समय से पकड़े गये युद्ध बन्दियों को मुक्त करने का वचन दिया।

(3) टीपू ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में 30 लाख पौंड कम्पनी को देना स्वीकार किया।

(4) टीपू ने अपने दो पुत्रों—मोइजुद्दीन व अब्दुल खलीक को अंग्रेजों के पास जमानत के रूप में रखना स्वीकार कर लिया।

श्रीरंगपट्टम की सन्धि की इंगलैंड में कटु आलोचना की गई। सन्धि के आलोचकों का कहना था कि कार्नवालिस ने टीपू की शक्ति को पूर्णतया न कुचल कर भयंकर भूल की, जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर वेलेजली को पुनः टीपू से

युद्ध करना पड़ा। किन्तु कार्नवालिस ने अपने इस कार्य का औचित्य सिद्ध करने के लिये अकाट्य तर्क देकर आलोचकों का मुंह वन्द कर दिया।

युद्ध का महत्व—इस युद्ध के वाद मैसूर राज्य की आर्थिक सम्पन्नता व सुरक्षात्मक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। सामरिक महत्व के क्षेत्रों के निकल जाने से मैसूर की प्राकृतिक सुरक्षा व्यवस्था लगभग समाप्त हो गयी। 30 लाख पौंड की क्षतिपूर्ति तथा आधा राज्य दे देने से मैसूर की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। अव टीपू के लिये विशाल सेना का खर्च वहन करना असम्भव हो गया। अतः मैसूर की अंग्रेजों के विरुद्ध सफलता अब असम्भव हो गयी। प्रसिद्ध विद्वान हण्टर ने इस युद्ध को दो कारणों से महत्त्वपूर्ण वताया है—प्रथम तो यह कि इतिहास में पहली वार स्वयं गवर्नर जनरल ने युद्ध में सेना का नेतृत्व किया था तथा दूसरा यह कि दक्षिण की दो शक्तियों (मराठा व निजाम) ने दक्षिण की तीसरी शक्ति को समाप्त करने के लिये कम्पनी को सहयोग दिया था।

श्रीरंगपट्टम की सन्धि के फलस्वरूप कुछ समय के लिये शान्ति अवश्य हो गयी थी, किन्तु स्थायी शान्ति के आसार नजर नहीं आ रहे थे। यद्यपि टीपू ने परिस्थितिवश अंग्रेजों से सन्धि करली थी, किन्तु उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला धधक रही थी और वह अपने अपमान को धोने की पुनः तैयारी करने लगा। टीपू ने अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिये फ्रांसीसियों से व अफगानिस्तान के अमीर से गुप्त वार्ताएं आरम्भ करदी।

टीपू की असफलता के कारण—टीपू की असफलता के लिये स्वयं टीपू को उत्तरदायी माना जाता है, क्योंकि वह कुशल सैनिक होते हुए भी, वह कुशल कूटनीतिज्ञ नहीं था। उसकी असफलता के लिये निम्न कारण वताये जा सकते हैं—

(1) टीपू ने अपनी शक्ति के नशे में अपने पड़ौसी राज्यों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था, फलस्वरूप दक्षिण में मैसूर राज्य मित्रहीन रह गया। टीपू अकेला अंग्रेजों, मराठों व निजाम से लड़ता रहा। उन तीनों की तुलना में अकेले टीपू के साधन निश्चित रूप से कम थे, अतः पराजय निश्चित थी।

(2) टीपू ने अपने पड़ौसी राज्यों को नाराज कर भारत से वाहर की शक्तियों से सहायता की आशा लगा रखी थी। यह उसकी कूटनीतिक अयोग्यता प्रदर्शित करती है।

(3) कुछ सीमा तक सैनिक अकुशलता भी टीपू की असफलता का कारण सिद्ध हुई। उसने घुड़सवार सेना की अपेक्षा प्रशिक्षित पैदल सेना पर वल दिया। फलतः वह मध्य मैसूर में घिर गया। दुर्ग में घिर कर अंग्रेज, मराठा व निजाम की शक्ति का सामना नहीं किया जा सकता था।

(4) टीपू की सैन्य कूटनीति का एक दोष यह भी था कि उसने कार्नवालिस की असफलता का लाभ नहीं उठाया। 26 मई 1791 को जव कार्नवालिस को

विवश होकर बंगलौर लौटना पड़ा, उस समय यदि टीपू मद्रास व कर्नाटक पर आक्रमण कर देता तो अंग्रेजों को सफलता मिलना कठिन हो जाता। किन्तु टीपू ने ऐसा न करके अपनी सैन्य कूटनीतिक अयोग्यता भी प्रदर्शित करदी।

चतुर्थ आंग्ल–मैसूर युद्ध

श्रीरंगपट्टम की सन्धि के बाद टीपू शान्त नहीं हुआ। उसने अपनी राजधानी में सुदृढ़ किलेबन्दी की तथा अनेक नये दुर्गों का निर्माण करवाया, नये सैनिकों की भर्ती की तथा अपनी सेना को अनुशासित कर उसे पुनर्गठित किया, अधीनस्थ विद्रोही सरदारों को दण्डित किया तथा सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिये और अपने पुत्रों को अंग्रेजों के बन्धन से मुक्त करवाने के लिये प्रजा से बलपूर्वक धन वसूल किया। टीपू के इन प्रयत्नों के फलस्वरूप मैसूर राज्य ने पुनः अपनी वह सम्पन्नता प्राप्त करली, जो युद्ध के कारण नष्ट हो चुकी थी।

लार्ड कार्नवालिस के बाद 1793 में सर जॉन शोर को कम्पनी राज्य का गवर्नर जनरल बनाया गया। सर जॉन शोर ने तटस्थता और अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया। सर जॉन शोर के पश्चात मई 1798 में लार्ड वेलेजली गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। वेलेजली के आने के समय राजनीतिक दृष्टिकोण से कम्पनी का प्रभाव क्षीण हो चुका था। टीपू श्रीरंगपट्टम की सन्धि का बदला लेने की तैयारी कर रहा था। निजाम भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट था, क्योंकि सर जॉन शोर ने उसे मराठों के विरुद्ध सहायता नहीं दी थी, जिसके कारण उसे खरदा के युद्ध में पराजित होना पड़ा था। मराठे, यद्यपि कुछ समय के लिये अंग्रेजों से सन्धि करली थी, किन्तु वे दक्षिण में कम्पनी की प्रभुता नहीं चाहते थे। इन परिस्थितियों में वेलेजली के लिये अहस्तक्षेप की नीति का परित्याग कर साम्राज्य विस्तार की नीति का अनुसरण करना अनिवार्य हो गया। इसी नीति के अन्तर्गत वेलेजली ने सहायक प्रथा आरम्भ की थी। इस प्रथा द्वारा वह भारत में फ्रांसीसियों के प्रभाव को भी समाप्त करना चाहता था। वेलेजली ने मद्रास सरकार को टीपू के विरुद्ध सचेत रहने तथा युद्ध के लिये तैयार रहने का भी आदेश दे दिया। किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसे कौन से कारण थे जिनसे विवश होकर वेलेजली को टीपू के विरुद्ध युद्ध के लिये तैयार रहने के आदेश देने पड़े। वेलेजली व टीपू के बीच संघर्ष के मुख्य निम्न कारण थे—

(1) श्रीरंगपट्टम की सन्धि के बाद टीपू ने अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी शक्ति में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया था। टीपू यह जानता था कि जब तक वह अपने साधनों में सम्पन्नता प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह अंग्रेजों के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु अंग्रेज इस बात के लिये तैयार नहीं थे कि टीपू उनके विरुद्ध युद्ध के साधन जुटाये।

(2) टीपू ने मैसूर राज्य की सीमाओं को सुरक्षित करना आरम्भ कर दिया था। उसने अपने राज्य में अनेक सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया ताकि वह अंग्रेजों के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध कर सके। वह अपने इन दुर्गों में अपनी सेना का जमाव कर युद्ध की तैयारी करने लगा था। टीपू की इस कार्यवाही को अंग्रेज सहन करने को तैयार नहीं थे।

(3) टीपू ने अंग्रेजों के विरुद्ध विदेशी शक्तियों से सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। उसने अफगानिस्तान के शासक जमानशाह से पत्र व्यवहार किया तथा अपने राजदूत अफगानिस्तान, कस्तुन्तुनिया और फ्रांस भेजे। वेलेजली जिस जहाज से भारत आया था, उसी जहाज से टीपू का राजदूत भी फ्रांस से सहायता की बातचीत करके लौटा था। अतः टीपू की विदेशी शक्तियों से सांठ-गांठ वेलेजली के लिये असहनीय थी।

(4) वेलेजली का उद्देश्य भारत में फ्रांसीसियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना था। इस समय दक्षिण भारत की प्रमुख तीनों शक्तियों ने अपनी-अपनी सेनाओं को यूरोपियन प्रणाली से प्रशिक्षित करने के लिये अपनी अपनी सेना में फ्रांसीसी सैनिकों को नियुक्तियां दी थी। टीपू ने भी पेरिन नामक एक फ्रेन्च अधिकारी को अपनी सेना में नियुक्त किया था। वेलेजली इस फ्रेन्च अधिकारी के प्रभाव को समाप्त करना चाहता था।

(5) यूरोप में नेपोलियन की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। वह यूरोप को विजय करने के पश्चात एशिया की ओर बढ़ रहा था तथा मिस्र तक आ पहुंचा था। वेलेजली जानता था कि यदि इस समय टीपू की शक्ति को समाप्त नहीं किया गया तो टीपू नेपोलियन से सम्बन्ध स्थापित कर लेगा, जिससे भारत में अंग्रेजों के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो सकता है। अतः वेलेजली चाहता था कि इससे पूर्व कि टीपू नेपोलियन से सम्बन्ध स्थापित करे उसकी शक्ति को समाप्त कर दिया जाय।

(6) टीपू ने अपने राज्य में 99 फ्रांसीसी अधिकारियों का सार्वजनिक सम्मान किया। अतः वेलेजली ने अपने 12 अगस्त 1798 के आलेख (Document) में कहा कि, "टीपू के राज्य में फ्रांसीसी सैनिकों का सम्मान एक स्पष्ट, असंदिग्ध और निश्चित युद्ध की घोषणा के समान है।"

यद्यपि वेलेजली, टीपू द्वारा फ्रांसीसी सैनिकों का सम्मान, युद्ध का कारण मानता था, किन्तु वह उस समय टीपू पर आक्रमण करने को तैयार नहीं था, क्योंकि उसकी सैनिक तैयारी पूरी नहीं थी। अतः उसने कार्नवालिस की भांति मराठा और निज़ाम को साथ लेकर टीपू के विरुद्ध त्रिगुट बनाने का निर्णय लिया। निज़ाम तो 1798 में ही अंग्रेज़ों से सहायक सन्धि कर चुका था, किन्तु मराठों के साथ अभी तक कोई सन्धि नहीं हुई थी। अतः वेलेजली ने पेशवा के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि मराठा टीपू के विरुद्ध सहायता देते हैं तो मैसूर राज्य का कुछ भूभाग मराठों

दे दिया जायेगा। पेशवा ने वेलेजली के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात वेलेजली ने संचालक समिति से इस बात की अनुमति मांगी कि फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त करने के लिये टीपू से युद्ध किया जाय। संचालक समिति ने वेलेजली को युद्ध की अनुमति प्रदान करदी।

संचालक समिति से अनुमति प्राप्त होने के बाद 8 नवम्बर 1798 को वेलेजली ने टीपू को एक पत्र लिखा जिसमें उसने टीपू पर श्रीरंगपट्टम की सन्धि का उल्लंघन करने का आरोप लगाया। वेलेजली ने यह भी लिखा कि वह मेजर डोवटन को टीपू से बातचीत करने हेतु भेजना चाहता है ताकि दोनों पक्षों के बीच उत्पन्न गलतफहमी को दूर किया जा सके। टीपू ने इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। अतः वेलेजली ने टीपू को एक दूसरा पत्र लिखा, लेकिन टीपू ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया, वरन् वह अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की तैयारी करता रहा। अतः वेलेजली ने टीपू के विरुद्ध फरवरी 1799 में युद्ध की घोषणा करदी।

युद्ध का आरम्भ—युद्ध की घोषणा के साथ ही वेलेजली ने जनरल हेरिस के नेतृत्व में एक सेना, जिसमें निजाम की सेना भी सम्मिलित थी, 11 फरवरी 1799 को टीपू के विरुद्ध भेजदी तथा अपने भाई आर्थर वेलेजली को, हेरिस के सहायक के रूप में भेजा। इसके अतिरिक्त बम्बई से भी एक सेना जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में मैसूर की ओर रवाना हुई। कम्पनी की सेना ने टीपू को 5 मार्च 1799 को सिद्धेश्वर नामक स्थान पर तथा 27 मार्च 1799 को मल्लावली नामक स्थान पर पराजित किया। तत्पश्चात 7 अप्रेल 1799 को कम्पनी की सेना ने श्रीरंगपट्टम को घेर लिया। 14 अप्रेल को बम्बई की सेना जनरल हेरिस से मिल गई, जिससे टीपू की स्थिति और अधिक खराब हो गयी। अतः टीपू ने जनरल हेरिस के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। इस पर हेरिस ने सन्धि की मुख्य तीन शर्तें टीपू के पास भेजदी—

(1) टीपू अपना आधा भूक्षेत्र समर्पित करेगा।

(2) टीपू छः माह के भीतर 20 लाख पौंड अंग्रेजों को देगा।

(3) टीपू अपने दो बड़े पुत्रों तथा चार वरिष्ठ अधिकारियों को जमानत के रूप में अंग्रेजों के पास रखेगा।

टीपू इस बार पुनः श्रीरंगपट्टम की सन्धि की पुनरावृति करना नहीं चाहता था। अतः टीपू ने इन अपमानजनक शर्तों का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। अंग्रेजों ने पुनः आक्रमण कर किले की दीवार तोड़ दी और कुछ यूरोपियन सैनिक किले के दरवाजे में घुसे। इनमें से एक सैनिक ने टीपू की अत्यन्त सुन्दर रत्नजड़ित म्यान को छीनने का प्रयास किया। इस समय तक टीपू अनेक घावों से क्षत विक्षत हो चुका था, फिर भी टीपू ने उस सैनिक पर वार करके उसे घायल कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर उस सिपाही ने बन्दूक से एक गोली चलाई जो टीपू के सिर में लगी। अतः 4 मई 1799 को टीपू मारा गया। टीपू के मरते ही श्रीरंगपट्टम पर अंग्रेजों

का अधिकार हो गया और इसके साथ ही युद्ध भी समाप्त हो गया।

अंग्रेजों ने टीपू के राजमहल व समस्त नगर को लूटा तथा विभिन्न स्थानों पर आग लगा दी। यह लूट और आगजनी 5 मई को प्रातः आरम्भ हुई तथा 6 मई तक नगर के मकान जलते देखे गये। इस लूट में टीपू का पुस्तकालय भी, जिसमें 2,000 से भी अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ थे, नष्ट कर दिया गया। टीपू की राजधानी के पतन से प्रत्येक अंग्रेज को लाभ हुआ। आर्थर वेलेजली को 1,200 पौंड के जवाहरात तथा 7,000 पौंड रोकड़ प्राप्त हुए। जनरल हेरिस तथा उसके 6 अन्य अधिकारियों ने तो इतनी लूटमार की कि बाद में उनकी निन्दा तक की गई। इस लूट में से संचालक समिति ने वेलेजली को एक लाख पौंड स्वीकृत किये, किन्तु वेलेजली ने इसे लेने से इन्कार कर दिया। अतः संचालक समिति ने निर्णय लिया कि वेलेजली को 20 वर्षों तक 5,000 पौंड प्रतिवर्ष दिये जाते रहेंगे।

मैसूर का राजनीतिक निर्णय—यद्यपि सम्पूर्ण मैसूर राज्य पर कम्पनी का अधिकार हो गया था, किन्तु वेलेजली इसे अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाना चाहता था; क्योंकि ऐसा करने से राज्य को निजाम व मराठों में बांटना पड़ता, जिसके दूरगामी राजनीतिक परिणाम हो सकते थे। टीपू के पुत्रों को मैसूर की गद्दी पर बैठाना कूटनीतिक दृष्टि से उचित नहीं था। अतः वेलेजली ने श्रीरंगपट्टम, कनारा, कोयम्बटूर तथा धारापुरम् के प्रदेश कम्पनी के अधिकार में कर लिये। हैदराबाद की सीमा से जो मैसूर राज्य का भूभाग मिला हुआ था अर्थात गूंटी, गोरुमकोण्ड तथा चित्तलदुर्ग के प्रदेश निजाम को दिये। मराठों को भी उत्तर-पश्चिम में कुछ प्रदेश देने का प्रस्ताव था, किन्तु पेशवा ने इन प्रदेशों को लेने से इन्कार कर दिया। इस पर ये प्रदेश भी निजाम व अंग्रेजों ने आपस में बांट लिये। मैसूर का शेष भाग (मध्य मैसूर) मैसूर के प्राचीन हिन्दू राजवंश, जिनसे हैदरअली ने मैसूर राज्य हस्तगत किया था, के ही व्यक्ति चमराज के दो वर्षीय पुत्र कृष्णराज वाड़ियार तृतीय को दे दिया। वेलेजली ने उसके साथ सहायक सन्धि करली, जिसके अनुसार कृष्णराज ने कम्पनी को 21 लाख रुपया वार्षिक खिराज देने का निश्चय किया। मैसूर में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट नियुक्त किया गया। टीपू के दोनों पुत्रों को बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया गया।

वेलेजली की मैसूर नीति से कम्पनी को महत्वपूर्ण लाभ हुए। वेलेजली की व्यवस्था से मैसूर अब बहुत ही छोटा राज्य रह गया तथा अंग्रेजों के कट्टर शत्रु का अन्त हो गया। अब मैसूर के प्रशासन पर कम्पनी का प्रभाव हो गया। कुछ समय बाद निजाम ने मैसूर राज्य का अपना भाग भी अंग्रेजों को दे दिया, जिससे मैसूर ब्रिटिश राज्य से घिर गया। टीपू के पतन को इंगलैंड व भारत में बड़ा महत्व दिया गया। दोनों देशों के ईसाई गिरजाघरों में गये और वहां अंग्रेजी राज्य के सबसे बड़े शत्रु को नष्ट करने के उपलक्ष्य में ईश्वर को धन्यवाद दिया। इंगलैंड में इस

विजय को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि वेलेजली को मार्क्विस की उपाधि दी गई।

अंग्रेजों की मैसूर नीति का मूल्यांकन—अनेक इतिहासकारों ने अंग्रेजों की मैसूर नीति की आलोचना की है। टीपू की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के लिये कार्नवालिस ने ट्रावनकोर पर टीपू के आक्रमण का बहाना बनाया तथा टीपू पर आक्रमण कर दिया। किन्तु श्रीरंगपट्टम की सन्धि में ट्रावनकोर का नाम भी सम्मिलित नहीं किया गया। वेलेजली ने भी टीपू से युद्ध करने का जल्दी में निर्णय लिया, जिसके लिये कोई कारण विद्यमान नहीं था। भारत में अंग्रेजों को फ्रांसीसियों से भय था, लेकिन उनका यह भय केवल मानसिक था, वास्तविक नहीं। फिर अनेक भारतीय नरेशों ने अपनी सेना में फ्रांसीसियों को रखा था, लेकिन जिस प्रकार टीपू को दण्ड दिया गया, वैसा किसी नरेश को नहीं दिया गया। मैसूर के प्रति अपनी नीति का औचित्य सिद्ध करते हुए वेलेजली ने कहा था कि वह तो केवल अपने सिद्धान्तों पर लड़ रहा था न कि टीपू की बढ़ती हुई शक्ति के कारण। वेलेजली ने यह भी कहा कि टीपू के प्रति पर्याप्त सहनशीलता प्रदर्शित की गई थी और यही कारण था कि उसे तीसरे मैसूर युद्ध के बाद गद्दीच्युत नहीं किया गया। किन्तु टीपू ने निरन्तर अंग्रेजों के प्रति विरोधी भाव प्रदर्शित किया और उसका यह व्यवहार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था जिसे सहन नहीं किया जा सकता था। वेलेजली के इस कथन में कोई सत्यता नहीं है। वस्तुतः फ्रांसीसियों के प्रति अंग्रेजों का भय सर्वथा काल्पनिक था। मैसूर के पतन का एक मात्र कारण मैसूर की बढ़ती हुई शक्ति थी, जो अंग्रेजों के लिये असहनीय थी।

टीपू का मूल्यांकन—वस्तुतः टीपू स्वाधीनता का प्रेमी था तथा अंग्रेजों के प्रति घृणा उसे विरासत में मिली थी। यह सत्य है कि वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी था, किन्तु अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने की उसमें शक्ति भी थी। हैदरअली और टीपू की नीतियों में यही अन्तर था, कि हैदर ऐसी किसी भी शक्ति से मैत्री करने को तैयार रहता था जो उसे सैनिक सामग्री उपलब्ध करने में सहायक हो, किन्तु टीपू को तो अंग्रेज व मराठा विरोधी भावनाएँ विरासत में मिली थी। यद्यपि टीपू में उच्चकोटि की प्रतिभा थी, किन्तु वह अपने पिता के समान कूटनीतिज्ञ तथा राजनीतिक दांवपेचों का मर्मज्ञ नहीं था। इसलिये वह अपने विरुद्ध संगठित शत्रुओं के संघ को तोड़ने में असमर्थ रहा। वह दम्भी भी था और इसलिये अपने सेनानायकों के परामर्श की अवहेलना कर दिया करता था, जिसका कभी-कभी बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव होता था। उसने फ्रांसीसियों पर बहुत अधिक भरोसा किया तथा अंग्रेजों के विरुद्ध अपने पड़ोसी राजाओं से सहायता प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी वह अपने पिता के समान ही कुशल प्रशासक था। उसके राज्य में किसान बड़े सुखी थे तथा कृषि बड़ी उन्नत अवस्था में थी। उसके काल में व्यापार और

वाणिज्य भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वस्तुतः वह एक सुधारवादी शासक था, जिसने शासन के प्रत्येक विभाग में सुधार किये।

टीपू पर यह आरोप लगाया जाता है कि जो लोग उसके धर्म को नहीं मानते थे, उनके प्रति निर्दयी था। वोग्रंरिंग ने लिखा है कि 1784 में जब उसने कनारा एवं मलाबार में अपने क्षेत्र पुनः प्राप्त किये तब उसने इस्लाम के प्रति अत्यधिक उत्साह प्रदर्शित करते हुए तटवर्ती क्षेत्रों से लगभग 30,000 ईसाइयों को निकाल दिया था। वोग्रंरिंग ने यह भी लिखा है कि अपने हरम के लिये इन ईसाइयों से उनकी पुत्रियों की मांग की थी और जब उन ईसाइयों ने अपनी पुत्रियों के समर्पण से इन्कार कर दिया तब टीपू ने उन ईसाइयों के नाक, कान तथा ऊपर वाले होंठ कटवा दिये तथा उन्हें गधों पर उल्टा बिठाकर (पूंछ की ओर मुंह करके) शहर में घुमाया। वोग्रंरिंग ने लिखा है कि टीपू ने अपने इस कार्य का औचित्य देते हुए कहा था कि जब पुर्तगालियों ने पश्चिमी तट पर अधिकार किया था तब उन्होंने भी गैर-ईसाइयों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था। वोग्रंरिंग के इन दृष्टान्तों में कुछ सत्यता हो सकती है। किन्तु यह कहना कि टीपू गैर-मुसलमानों के प्रति पूर्णतः अमानवीय हो गया था, सत्य नहीं है। स्वयं वोग्रंरिंग ने लिखा है कि टीपू, मृत्यु से पहले जब उसे अपना पतन निश्चित दिखाई देने लगा तब उसने ब्राह्मणों के मंत्र उच्चारित किये व प्रार्थना की। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसके रूढ़िवादी इस्लाम में सहनशीलता को भी स्थान प्राप्त था। वास्तव में टीपू की सेवा में पूर्निया व कृष्णराव जैसे हिन्दू भी थे, जिन्होंने टीपू के शासन काल में अनेक उच्च व उत्तरदायी पद ग्रहण किये थे। यदि हम अंग्रेजों के इस कथन को सत्य भी मानलें कि वह ईसाइयों के प्रति निर्दयी था, तो फिर उसने फ्रांसीसियों के साथ मित्रता के सम्बन्ध कैसे स्थापित कर लिये ? हम यह अवश्य कह सकते हैं कि टीपू गैर-मुसलमानों के प्रति नहीं बल्कि अपने शत्रुओं के प्रति निर्दयी था। सत्य तो यह है कि किसी भी भारतीय नरेश का कुशल एवं शक्तिशाली होना ही अंग्रेजों की ईर्ष्या तथा पतन का कारण हो जाता था और यही टीपू के साथ हुआ।

यद्यपि टीपू अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सका, फिर भी वह उच्च कोटि का देशभक्त था। यदि वह कम महत्वाकांक्षी और कम शक्तिशाली होता, तो वह भी निजाम की तरह ब्रिटिश संरक्षता में अपनी सम्पन्नता एवं पद का उपभोग कर सकता था। किन्तु वह विदेशी सत्ता की संरक्षता में विश्वास नहीं करता था, इसलिये अपनी मातृभूमि के लिये उसने एक साधारण सैनिक की भांति लड़ते हुए मरना उचित समझा, न कि विदेशी सत्ता के समक्ष घुटने टेक कर अपनी स्वाधीनता का बलिदान करना। इतिहासकार पी. ई. राबर्ट्स ने टीपू को अपने समस्त विरोधियों में अत्यधिक महान् बताया है, जिसने तूफान युक्त समुद्र को चीर कर अपना मार्ग बना लिया था।

अध्याय 7

सिक्खों की राजनीतिक सत्ता का उदय और अस्त

पंजाब में राजनीतिक अस्थिरता और सिक्खों का उत्थान—मुगल शासकों के अत्याचारों का सामना करने के लिए सिक्खों को एकता के सूत्र में बांधने तथा उन्हें सैनिक शक्ति के रूप में संगठित करने का कार्य उनके दसवें तथा अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने किया। उन्होंने 'खालसा' की स्थापना की जिसका गठन प्रजातांत्रिक पद्धति पर किया गया था। अब गुरु का पद समाप्त कर दिया गया और 'ग्रंथ साहब' (सिक्ख धर्म का पवित्र ग्रन्थ) सिक्ख सम्प्रदाय के मार्ग दर्शक माने जाने लगे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद सिक्खों को पंजाब के मुगल सूबेदारों और बाद में अफगानिस्तान के शासकों से जबरदस्त संघर्ष करना पड़ा।

अठारहवीं सदी के मध्य में मुगलों की केन्द्रीय सत्ता काफी कमजोर हो चुकी थी और वह पंजाब के लोगों के जान-माल की हिफाजत करने में सर्वथा असमर्थ थी। इस समय पंजाब में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। नादिरशाह के आक्रमण से उत्पन्न अव्यवस्था का अन्त भी न हो पाया था कि अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण शुरू हो गये। धीरे-धीरे पंजाब, सरहिन्द, पेशावर, मुल्तान, काश्मीर और सिन्ध के प्रान्त मुगलों के हाथ से निकल गये और अफगान विजेताओं ने इन इलाकों पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु अफगानों का यह अधिकार स्थायी न रह सका और पंजाब तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में पुनः राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार की परिस्थिति ने सिक्खों को अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया।

नादिरशाह के आक्रमण के बाद सिक्खों में अपने जान-माल की सुरक्षा स्वयं करने का विचार उत्पन्न हुआ। 1745 ई० में उन्होंने अपने आपको 100-100 व्यक्तियों के छोटे-छोटे दलों में संगठित कर लिया। प्रत्येक दल का एक नेता होता था

और दल के सभी सदस्य नेता के आदेश का पालन करते थे। विभिन्न दल समानता तथा बन्धुत्व की भावना के आधार पर मिल-जुल कर कार्य करते थे। 1748 ई० में सभी दलों ने मिलकर "दल खालसा" का संगठन किया। दल खालसा में सम्मिलित सभी दलों को पुनः 11 जत्थों में विभाजित किया गया जो बाद में "मिसलों" के नाम से विख्यात हुए। दल खालसा में एकता कायम रखने की दृष्टि से एक समिति का गठन किया गया जिसमें सभी मिसलों के नेताओं को सम्मिलित किया गया। यह समिति दल खालसा के कार्यों का संचालन करती थी। सिक्खों की राजनीतिक सत्ता के उत्कर्ष में दल खालसा की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। दल खालसा ने अपने लोगों को विदेशी आक्रान्ताओं की लूट-खसोट तथा मुगल अधिकारियों के अत्याचारों से सुरक्षा देने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप पंजाब का किसान वर्ग तेजी के साथ सिक्ख सम्प्रदाय में सम्मिलित होता गया जिससे सिक्ख सम्प्रदाय की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

दल खालसा ने लोगों के जानमाल की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। इसके लिए नियमित आय की आवश्यकता अनुभव हुई और परिणामस्वरूप राखी प्रथा शुरू की गई। इस प्रथा के अन्तर्गत जिस गांव की सुरक्षा का दायित्व दल खालसा अपने ऊपर लेता था, उस गांव के लोगों को अपनी आय का 1/5 भाग दल खालसा को देना पड़ता था। इसे "जमादारी प्रथा" भी कहा जाता था। इस प्रथा की शुरूआत के साथ ही सिक्ख मिसलों के नेताओं के राजनीतिक अधिकारों का भी आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे उनकी सैनिक शक्ति भी सबल होती गई। 1763 से 1769 की अवधि में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर बार-बार आक्रमण किये परन्तु सिक्खों के प्रतिरोध के कारण हर आक्रमण के साथ उसकी सफलता में कमी आती गई। 1773 ई० में अब्दाली की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी कमजोर निकले जिसके परिणामस्वरूप भारतीय प्रदेशों में अफगान अपना प्रभाव अधिक समय तक कायम न रख सके। अफगानों की निर्बलता का स्थानीय शक्तियों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। पराक्रमी और योग्य सिक्ख नेताओं ने पंजाब के भिन्न-भिन्न भागों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये। धीरे-धीरे सम्पूर्ण पंजाब में 12 छोटे-छोटे सिक्ख राज्य स्थापित हो गये। इस समय सिक्खों के सामने दो महत्वपूर्ण समस्याएं थीं। वे अफगान आक्रमण से पंजाब को सुरक्षित रखना चाहते थे और पंजाब में मुगल सत्ता की पुनर्स्थापना भी उन्हें पसन्द न थी। पंजाब के स्थानीय मुगल अधिकारी भी मौजूदा स्थिति का लाभ उठाकर अपने लिए स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

इस प्रकार की स्थिति में सिक्खों को जो सफलता मिली उसका एक कारण उनका दृढ़ संकल्प तथा संकट के समय एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करना था। दूसरा कारण उनकी गतिशील घुड़सवार सेना थी। एक अन्य कारण सिक्खों द्वारा

छापामार युद्ध पद्धति का प्रयोग था और अन्तिम कारण दल खालसा के प्रति निष्ठा की भावना तथा अफगानों एवं मुगलों से प्रतिशोध लेने की इच्छा थी। उनकी मिसल व्यवस्था ने भी उनको एक लचीली संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत समान धर्म और समान राजनीतिक आवश्यकता से प्रोत्साहित कर एकता के सूत्र में बांधने का काम किया। परन्तु समय के साथ-साथ सिक्ख नेताओं में आपसी झगड़े भी उठ खड़े हुए और वे अब आपस में भी लड़ने लगे। परिणामस्वरूप वे एक शक्तिशाली संघ की स्थापना न कर सके और आगे चलकर रणजीतसिंह को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया।

महाराजा रणजीतसिंह

13 नवम्बर, 1780 ई० के दिन रणजीतसिंह का जन्म सुकरचकिया मिसल के नेता महासिंह के यहां हुआ था। उस समय में पंजाब में जो बारह मिसले थे उनमें सुकरचकिया मिसल का प्रभाव क्षेत्र काफी कम था। रणजीतसिंह अपने पिता महासिंह की इकलौती सन्तान था, अतः लाड़-प्यार के कारण उसकी बौद्धिक शिक्षा की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया और वह अनपढ़ ही रह गया। परन्तु घुड़-सवारी, अस्त्र-शस्त्र संचालन और युद्धकला में वह पारंगत हो गया। 1792 ई० में महासिंह का आकस्मिक देहान्त हो गया और बारह वर्ष की अल्पायु में ही रणजीत-सिंह सुकरचकिया मिसल का सरदार बन गया। थोड़े वर्षों तक उसकी माता राजकौर ने उसकी संरक्षिका के रूप में शासन किया। रणजीतसिंह की सास सदाकौर कन्हैया मिसल की मुखिया थी। वह एक चतुर तथा महत्वाकांक्षिणी महिला थी। उसने भी प्रारम्भिक दिनों में रणजीतसिंह की सरदारी को बनाये रखने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। उसके सुझाव पर सुकरचकिया तथा कन्हैया मिसलों की सेनाओं को संयुक्त कर दिया गया और बाद में रामगढ़िया मिसल पर आक्रमण किया गया। यह अभियान असफल रहा परन्तु इससे रणजीतसिंह के हृदय में विजय की लालसा जाग उठी और 17 वर्ष की आयु में वह अपनी माता तथा सास की संरक्षकता से मुक्त हो गया। उसने अहलूवालिया मिसल के फतहसिंह से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये और फिर अपनी सत्ता के विस्तार में जुट गया। एन. के. सिन्हा का मत है कि रणजीतसिंह का उत्कर्ष राजनीतिक मैत्री तथा विवाह सम्बन्धों की सहायता से हुआ। उनका कथन काफी सही है।

1793 ई० में जमानशाह अफगानिस्तान का शासक बना। उसने 1795, 1796 और 1798 ई. में पंजाब तथा आसपास के क्षेत्रों पर आक्रमण किये। उसका विचार भारत में अफगान राज्य का विस्तार करना था। 1798 ई० के अभियान में उसने लाहौर पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसी समय अफगानिस्तान में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और उसे तत्काल वापस लौटना पड़ा। वापसी में उसकी 12 तोपें झेलम नदी के दलदल में फंस गई। परन्तु जमानशाह के पास इतना समय

नहीं था कि वह तोपों को निकालने के लिए ठहरता। इस अवसर पर रणजीतसिंह ने तोपों को निकलवाकर उसके पास पहुंचाने का वायदा किया और अपने वायदे को पूरा भी किया। जमानशाह ने प्रसन्न होकर रणजीतसिंह को 'राजा' की उपाधि तथा लाहौर की सूबेदारी प्रदान की।

राज्य विस्तार—उन दिनों लाहौर पर भांगी मिसल का अधिकार था। रणजीतसिंह ने उन्हें परास्त करके लाहौर पर अपना अधिकार जमा लिया। भांगी सरदारों ने उसे अपदस्थ करने का अथक प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। लाहौर विजय से रणजीतसिंह का प्रभाव बढ़ गया। 1801 ई० में अफगानिस्तान में राज क्रान्ति हो गई। जमानशाह को उसके सौतेले भाई ने अपदस्थ कर दिया। मौके का फायदा उठाते हुए रणजीतसिंह ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और 'पंजाब के महाराजा' की पदवी ग्रहण की। यह इस बात का संकेत था कि रणजीतसिंह सिक्खों की कमजोर संघीय व्यवस्था को समाप्त करके एकतंत्रीय शासन की स्थापना का स्वप्न देख रहा है। उसने शीघ्र ही स्वप्न को साकार बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। सर्वप्रथम, जम्मू पर चढ़ाई की गई और वहां के राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। तत्पश्चात् अकलगढ़, कासूर, गुजरात, चिनत, झंग, कांगड़ा आदि पर भी अधिकार कर लिया गया। 1805 ई० में उसने सिक्खों के पवित्र स्थान अमृतसर पर भी अधिकार कर लिया। अब वह सभी सिक्ख सरदारों में प्रमुख सरदार हो गया और उसके नेतृत्व में पंजाब में एक नया शक्तिशाली सिक्ख राज्य संगठित हुआ।

रणजीतसिंह और मराठे—सर्वप्रथम महादजी सिन्धिया ने अपने प्रतिनिधि को रणजीतसिंह के पास अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने को भेजा था। परन्तु रणजीतसिंह ने अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए सहायता देने से इनकार कर दिया। 1805 ई० में अंग्रेजों से परास्त होने के बाद प्रसिद्ध मराठा सेनानायक जसवन्तराव होल्कर अपनी सेना सहित पंजाब में जा पहुंचा और अंग्रेजों के विरुद्ध रणजीतसिंह का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उधर अंग्रेजों ने प्रार्थना की कि वह मराठों को सहायता न दे अन्यथा उसे गम्भीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे। काफी सोच-विचार के बाद रणजीतसिंह ने मराठों को सहायता देने से इनकार कर दिया और उन्हें पंजाब से चले जाने को कहा। इस प्रकार, रणजीतसिंह ने समयानुकूल कदम उठाकर अपने आपको संकट से बचा लिया।

सतलज पार के राज्य—दल खालसा के अन्तर्गत जो 11 जत्थे (मिसलें) गठित किये गये थे उनका कार्यक्षेत्र सतलज नदी के उत्तर-पश्चिम की ओर था। 12 वीं मिसल फुलकलियां ने सतलज के पार अपना प्रभाव बढ़ाया। इस समय पटियाला, जिन्द, नाभा आदि राज्यों पर इसी मिसल के वंशजों का शासन था। रणजीतसिंह सभी सिक्ख राज्यों को मिलाकर एक प्रबल सिक्ख राष्ट्र का निर्माण

करना चाहता था और इसके लिए सतलज पार के राज्यों को जीतना जरूरी हो गया था। 1806 ई० में उसे अवसर भी प्राप्त हो गया। नामा और पटियाला में संघर्ष छिड़ गया। नामा के राजा ने रणजीतसिंह से सहायता की याचना की और रणजीतसिंह सेना सहित जा पहुँचा। उसने पटियाला के राजा को परास्त किया। पटियाला ने रणजीतसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली। नामा और जिन्द राज्यों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। 1807 ई० में रणजीतसिंह ने पुनः सतलज पार कर आक्रमण किया और अम्वाला, थानेश्वर, नारायणगढ़ और फिरोजपुर तक धावा मारा। इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी तटस्थता की नीति का पालन कर रही थी और अभी भी यमुना नदी तक ही अपनी सीमा निर्धारित किये हुए थी। परन्तु रणजीतसिंह के वढ़ते हुए प्रभाव से अंग्रेज चिन्तित हो उठे।

रणजीतसिंह और अंग्रेज—संयोगवश भारत में सिक्खों और अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति का उदय लगभग एक ही समय में हुआ था। अठारहवीं सदी के मध्य में भी अंग्रेज अधिकारी सिक्खों की शक्ति से अनभिज्ञ न थे। फ्रेंकलिन ने उस समय में लिखा था कि सिक्खों के पास 2,50,00 वहादुर सैनिक हैं परन्तु एकता के अभाव में वे अधिक खतरनाक प्रतीत नहीं होते। 1783 ई० में फोरेस्टर ने लिखा था कि किसी दिन कोई योग्य सिक्ख नेता सर्वोच्च शक्ति हस्तगत करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना में सफल हो जायेगा। 1784 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सुयोग्य गवर्नर वारेन हैस्टिंग्ज ने अपनी कम्पनी को चेतावनी देते हुए लिखा था कि सिक्खों को विना प्रतिरोध के शक्ति सम्पन्न होने से रोकना चाहिए।

रणजीतसिंह के उदय के वाद सिक्खों और अंग्रेजों का पहला प्रत्यक्ष सम्पर्क 1800 ई० में हुआ था। इस समय अंग्रेजों की नीति अंग्रेजों और रूस के मध्य रणजीतसिंह के राज्य को एक अंतःस्थ राज्य (वफर स्टेट) के रूप में स्थापित करना था क्योंकि इस समय रूस मध्यपूर्व की तरफ अपने कदम वढ़ा रहा था और इस वात की आंशका थी कि कहीं वह ईरान और अफगाननिस्तान से सम्वन्ध स्थापित करके भारत पर आक्रमण न कर दे। ऐसी स्थिति में अंग्रेज रूसियों से पंजाव अथवा पंजाव से भी आगे वढ़ कर लड़ना चाहते थे। अंग्रेजों को एक डर यह भी था कि भारतीय मुसलमान जो कि अंग्रेजों की सत्ता को समाप्त करने के इच्छुक थे, रूसियों तथा अफगानों के साथ मिलकर कम्पनी के लिए अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। परन्तु चूँकि अभी अंग्रेज भारत में अपनी शक्ति को मजवूत एवं संगठित नहीं कर पाये थे अतः वे अधिक सक्रिय नीति नहीं अपना पाये। परन्तु 1800 ई० में लार्ड वेलेजली के समय में कम्पनी की स्थिति सुधर चुकी थी। इससे कुछ समय पूर्व ही अफगान शासक जमानशाह ने पंजाव पर आक्रमण किया था, अतः कम्पनी के लिए उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की तरफ ध्यान देना आवश्यक हो गया। तदनुसार वेलेजली ने मुंशी युसुफ अली को वहुमूल्य भेंटों के साथ रणजीतसिंह के दरवार में भेजा और उससे यह अनुरोध किया गया कि वह जमान शाह को सहायता न दे। इस

समय तक रणजीतसिंह लाहौर पर अधिकार जमा चुका था और जमानशाह ने उसे राजा की उपाधि तथा लाहौर की सूबेदारी प्रदान कर दी थी। परन्तु जमानशाह के आक्रमण के भय का अन्त होते ही मुंशी युसुफअली को रणजीतसिंह के दरबार से वापस बुला लिया गया।

रणजीतसिंह के साथ अंग्रेजों के इस प्रथम सम्पर्क के अच्छे परिणाम निकले। जैसा कि बतलाया जा चुका है, रणजीतसिंह ने मराठा सरदारों—सिन्धिया तथा होल्कर को अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता देने से मना कर दिया था। इसका परिणाम भी अच्छा निकला और 1806 ई० में अंग्रेजों ने रणजीतसिंह के साथ मित्रता और सहयोग की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने यह आश्वासन दिया कि वे पंजाब से अपनी सेनाएँ हटा लेंगे और मराठों को पंजाब में उपद्रव नहीं करने देंगे। यह वचन भी दिया गया कि जब तक रणजीतसिंह अंग्रेजों के प्रति मैत्री भाव रखेगा तब तक वे रणजीतसिंह के राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे। इस सन्धि ने दोनों के मध्य नियमित सम्बन्ध स्थापित कर दिया और भावी सम्बन्धों को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। परन्तु जब रणजीतसिंह ने सतलज पार के राज्यों पर आक्रमण करके उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयास किया तो अंग्रेज चिन्तित हो उठे। उन्हें रणजीतसिंह की बढ़ती हुई शक्ति रुचिकर नहीं लगी और वे उसको नियंत्रित करने को उत्सुक हो उठे। संयोगवश, सतलज पार के सिक्ख राज्यों ने कम्पनी से रणजीतसिंह के विरुद्ध संरक्षण की मांग भी की। परन्तु इस समय यूरोप में घटित होने वाली घटनाओं ने कम्पनी को जल्दबाजी से रोक दिया।1807 ई० में नेपोलियन के हाथों पराजित होकर रूस ने नेपोलियन के साथ टिलसिट की सन्धि करली थी जो कि नेपोलियन की शक्ति का चरमोत्कर्ष थी। अंग्रेजों को यह भी आशंका थी कि नेपोलियन मध्य एशिया के मार्ग से उनके भारतीय राज्य पर आक्रमण कर सकता था। अतः कम्पनी के सामने नाजुक स्थिति थी। एक तरफ तो वह रणजीतसिंह को सतलज पार बढ़ने से रोकना चाहती थी और दूसरी तरफ उसे नाराज भी करना नहीं चाहती थी क्योंकि फ्रांसीसियों के संभावित आक्रमण के विरुद्ध उसे रणजीतसिंह के सहयोग की आवश्यकता थी। अतः चार्ल्स मेटकॉफ नामक सुयोग्य अधिकारी को सितम्बर 1808 ई० में रणजीतसिंह से बातचीत करने के लिए लाहौर भेजा गया। इसी समय अंग्रेजों ने एक प्रतिनिधिमंडल अफगानिस्तान के शासक के पास भी भेजा। इससे रणजीतसिंह दुविधा में पड़ गया। वह अंग्रेजों की नीति को ठीक से न समझ पाया क्योंकि अफगान सिक्खों के शत्रु थे। फिर अंग्रेज रणजीतसिंह को सतलज पार की तरफ बढ़ने से भी रोकना चाहते थे। ऐसी स्थिति में बातचीत लम्बी होती गई। अंग्रेजों ने अनुभव किया कि बिना शक्ति प्रदर्शन के रणजीतसिंह झुकने वाला नहीं है। अतः फरवरी, 1809 ई० में आक्टरलोनी के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना सतलज पार

की तरफ बढ़ी और सतलज पार के सिक्ख सरदारों को सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। रणजीतसिंह को स्पष्ट कर दिया गया कि अंग्रेज अपने प्रस्तावों को मनवाने के लिए सैनिक कार्यवाही भी कर सकते हैं। अप्रैल, 1809 ई० में दोनों के मध्य सन्धि हो गई जिसे **अमृतसर की सन्धि** कहा जाता है।

अमृतसर की सन्धि (1809 ई.)—इस सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थी—

1. दोनों पक्षों ने स्थायी रूप से मित्रता बनाये रखने का निश्चय किया।

2. पूर्व की ओर सतलज नदी को रणजीतसिंह के राज्य की सीमा निर्धारित किया गया। सतलज के उत्तर-पश्चिम के क्षेत्रों में रणजीतसिंह को खुली छूट दे दी गई और इन क्षेत्रों में अंग्रेजों ने हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। रणजीतसिंह ने सतलज पार के राज्यों पर ब्रिटिश संरक्षण को स्वीकार कर लिया और उन पर आक्रमण न करने का वचन दिया।

3. अंग्रेजों ने महाराजा रणजीतसिंह को स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर लिया।

4. कोई भी पक्ष सतलज के किनारे पर अधिक सेना नहीं रखेगा। परन्तु सतलज पार के 45 परगनों जो कि रणजीतसिंह के अधिकार में थे, में आन्तरिक शांति एवं व्यवस्था के लिए आवश्यक सेना रणजीतसिंह रख सकेगा।

5. किसी भी पक्ष द्वारा सन्धि की एक भी धारा का उल्लंघन करने पर सम्पूर्ण सन्धि समाप्त मानी जायेगी।

अमृतसर की सन्धि के सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किये है। प्रोफेसर एन. के. सिन्हा का मत है कि रणजीतसिंह को कूटनीतिक पराजय सहन करनी पड़ी और अपने गर्व को अपनी जेब में रख कर अपमान का घूंट निगलना पड़ा। मेटकॉफ का भी मानना है कि रणजीतसिंह साहसी कार्यों के लिए प्रसिद्ध नहीं था। जिन परिस्थितियों में उसे सन्धि करनी पड़ी उससे साफ पता चलता हैं कि उसने सैनिक दबाव में आकर सन्धि की थी। रणजीतसिंह का इरादा सतलज पार के सिक्ख राज्यों को नियन्त्रण में लाकर एक शक्तिशाली संगठित सिक्ख राज्य की स्थापना करना था। अमृतसर की सन्धि ने उसके इरादे पर पानी फेर दिया। अब वह सतलज पार नहीं बढ़ सकता था। इसके विपरीत कम्पनी के राज्य की सीमा सतलज नदी तक जा पहुँची और अब उसके लिए सिक्ख राज्य की गतिविधियों पर निगरानी रखना सरल हो गया। कुछ इतिहासकार अमृतसर की सन्धि को रणजीतसिंह की कूटनीतिक पराजय नहीं मानते बल्कि रणजीतसिंह की कूटनीतिक कुशलता बतलाते हैं जिसके द्वारा उसने पंजाब को अंग्रेजों के हाथों में जाने से बचा लिया। कनिंघम ने लिखा है कि अब रणजीतसिंह को उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राज्य विस्तार का अवसर मिल गया क्योंकि उसे अब अपने राज्य की दक्षिणी सीमा की सुरक्षा की चिन्ता न रही। उनका यह भी मानना है कि महान् ब्रिटिश शक्ति के साथ मैत्री कर लेने से रणजीतसिंह की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सत्य

जो भी हो, इतना निश्चित है कि रणजीतसिंह के सामने सन्धि करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प न था। रणजीतसिंह अपने नवोदित राज्य की सीमित शक्ति से भलीभांति परिचित था और इसलिए उसने शक्तिशाली अंग्रेजों को चुनौती देकर अपना सर्वनाश आमंत्रित करने की गलती नहीं की। वह अपने राज्य को संभावित खतरे से दूर रखना चाहता था और इसीलिए उसने टकराव के स्थान पर घुटने टेकने की नीति अपनाई। क्योंकि सतलज पार के सिक्ख सरदार पहले ही अंग्रेजों का दामन पकड़ चुके थे। अंग्रेजों के साथ लड़े जाने वाले युद्ध में अन्य सिक्ख सरदारों के सहयोग पर भी पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता था।

उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में राज्य विस्तार—अमृतसर की सन्धि के कारण जब रणजीतसिंह के राज्य का सतलज पार प्रसार अवरुद्ध हो गया तो उसने उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की ओर राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का फैसला किया। 1809 ई० में कांगडा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया गया। 1813 ई. में अफगानों के साथ उसका संघर्ष हुआ जिसमें उसे सफलता मिली और बाद में सिक्खों ने अटक पर अधिकार कर लिया। मुल्तान पर 1802 से ही रणजीतसिंह की नजरें गड़ी हुई थी परन्तु सफलता 1818 ई० में मिली। सिक्खों ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया और अफगानों को वहां से खदेड़ दिया। अब रणजीतसिंह ने काश्मीर की तरफ ध्यान दिया। अफगानों के आन्तरिक संघर्ष के कारण काश्मीर में उनकी शक्ति काफी कमजोर पड़ चुकी थी। 1819 ई० में रणजीतसिंह की सेना ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। काश्मीर का अफगान सूबेदार परास्त हुआ और काश्मीर पर रणजीतसिंह का अधिकार हो गया। काश्मीर-विजय रणजीतसिंह की महान् सफलता मानी जाती है। इससे उसके राज्य की सीमाएँ तिब्बत तथा चीन से जा टकराईं। 1821 ई० में सिन्ध-दोआब में स्थित मंकेरा राज्य पर आक्रमण किया गया और उसे जीत लिया गया। 1823 ई० में सिक्ख सेना ने पेशावार पर आक्रमण किया। इस बार अफगानों ने जम कर लोहा लिया परन्तु रणजीतसिंह विजयी हुआ। 1834 ई. में पेशावर का क्षेत्र सिक्ख राज्य में मिला लिया गया। परिणामस्वरूप रणजीतसिंह के राज्य की सीमा सुदूर उत्तर-पश्चिम तक पहुँच गई। इस बीच, सतलज के पश्चिम और उत्तर में स्थित विभिन्न छोटी-छोटी मिसलों को जीत कर उनके राज्यों को सिक्ख राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार, रणजीतसिंह ने अपनी सैन्य शक्ति तथा कूटनीति के माध्यम से एक विशाल एवं शक्तिशाली राज्य का संगठन करने में शानदार सफलता प्राप्त की। 27 जून, 1839 ई. को 59 वर्ष की कम आयु में ही उसकी मृत्यु हो गई।

1809 ई० के बाद अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध—अमृतसर की सन्धि से लेकर रणजीतसिंह की मृत्यु तक, रणजीतसिंह और अंग्रेजों के आपसी सम्बन्धों को दो हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है—पहला 1809 से 1831 ई. तक और दूसरा 1831 से 1839 ई. तक। प्रथम काल में दोनों पक्षों के बीच सद्भावना

बनी रही और विशेष कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। जब सतलज के पश्चिम में स्थिति सिक्ख राज्यों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध अंग्रेजों से संरक्षण की याचना की तो अंग्रेजों ने उन्हें संरक्षण देने से मना कर दिया। वे सन्धि का पालन करते रहे और रणजीतसिंह के राज्य विस्तार कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। इसका एक संभावित कारण शायद यह रहा हो कि इस समय अंग्रेज भी भारत के अन्य भागों में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने में लगे हुए थे। अतः उन्होंने पंजाब के मामलों में टांग अड़ाना उचित नहीं समझा। रणजीतसिंह ने भी अपनी तरफ से सन्धि की शर्तों का उल्लंघन करने का कभी प्रयास नहीं किया। जब 1816 में कम्पनी को नेपाल-युद्ध और 1824 में बर्मा-युद्ध में फंस जाना पड़ा तब रणजीतसिंह ने परिस्थितियों का लाभ उठाना उचित नहीं समझा यद्यपि नेपाल ने उससे सहायता की याचना की थी। इसी प्रकार, तृतीय मराठा युद्ध के अवसर पर भी उसने नागपुर के भोंसले और 1825 ई. में भरतपुर के जाटों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया। लेकिन अंग्रेजों ने 1826 ई. में रणजीतसिंह के विरुद्ध उठने वाले वहाबी-विरोध के समय सच्ची मैत्री का परिचय नहीं दिया। उत्तर-पश्चिम प्रान्त की वहाबी जाति के अफगानों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध "जिहाद" (धर्मयुद्ध) छेड़ दिया था और अंग्रेजों को इसकी पूर्व जानकारी भी मिल चुकी थी, फिर भी उन्होंने उनकी गतिविधियों को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वे चाहते थे कि पठान लोग रणजीतसिंह का विरोध करते रहें जिससे उसकी शक्ति कमजोर होती जाय।

1831 के बाद दोनों पक्षों के मध्य कुछ ऐसी समस्याएँ आईं जिसमें अंग्रेजों के दबाव तथा धमकी के सामने रणजीतसिंह को घुटने टेकने पड़े, अर्थात् अपने हितों को त्याग कर उसे मित्रता निभाने के लिए विवश होना पड़ा। पहली समस्या सिन्ध की थी। रणजीतसिंह अपने राज्य के दक्षिण में स्थित सिन्ध क्षेत्र को अपने अधिकार में लेने की आकांक्षा रखता था। सिन्ध के अमीर अफगानिस्तान के शासक को अपना नाममात्र का शासक मानते थे, अन्यथा वे स्वतन्त्र शासकों की भांति शासन कर रहे थे। उनके राज्य बहुत छोटे-छोटे थे और उनमें आपसी एकता का भी अभाव था। अतः वे रणजीतसिंह का सामना करने की स्थिति में नहीं थे। रणजीतसिंह का मानना था कि अमृतसर की सन्धि के द्वारा उसे केवल सतलज पार बढ़ने की मनाही थी। दक्षिण दिशा की ओर अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वह स्वतन्त्र था। फिर भी, उसने इस सम्बन्ध में अंग्रेजों की राय जान लेना आवश्यक समझा। यही उसकी भूल थी। क्योंकि अंग्रेज स्वयं सिन्ध पर अपना नियन्त्रण कायम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने बर्न्स नामक अधिकारी को रणजीतसिंह के लिए कुछ भेंट-उपहार देकर सिन्धु नदी के द्वारा भेजा था। उसके इस मिशन का वास्तविक ध्येय सिन्ध की भौगोलिक तथा राजनीतिक स्थिति की

पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना था। इसके बाद 1831 ई. में कम्पनी के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेन्टिक ने रूपर नामक स्थान पर महाराजा रणजीतसिंह से व्यक्तिगत मुलाकात की। इस मुलाकात के समय पुरानी मित्रता की दुहाई दी जाती रही और इसी समय अंग्रेज अधिकारी पोटिन्गर सिन्ध के अमीरों से सन्धि करने प्रयत्न में जुटा हुआ था। बेन्टिक ने रणजीतसिंह को अपना वास्तविक इरादा नहीं बताया। उसे केवल इतना कहा गया कि सिन्ध के अमीरों के साथ कम्पनी के व्यापारिक सम्बन्ध तय हो गये हैं। इसके बाद सिन्ध पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता ही गया। अंग्रेजों ने इस सम्बन्ध में दोहरी चाल चली। रणजीतसिंह को बार-बार चेतावनी दी जाती रही कि वह पंजाब की सीमा को लांघ कर सिन्ध की तरफ बढ़ने का प्रयत्न न करे और सिन्ध के अमीरों से कहा गया कि रणजीतसिंह उनके राज्यों पर आक्रमण करने ही वाला है और उसके आक्रमण से बचने का एक मात्र रास्ता है—कम्पनी के संरक्षण में आना। फलस्वरूप सिन्ध के अमीर कम्पनी के चंगुल में फंस गये और रणजीतसिंह के हाथ से अवसर निकल गया।

इसी समय के आस-पास रणजीतसिंह ने शिकारपुर पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया परन्तु अंग्रेजों ने उसे ऐसा करने से मना कर दिया। 1835 ई० में अंग्रेजों ने बलपूर्वक फीरोजपुर पर अधिकार कर लिया यद्यपि वे फीरोजपुर पर रणजीतसिंह के दावे को पहले स्वीकार कर चुके थे। अंग्रेजों के लिए फीरोजपुर सैनिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि यह रणजीतसिंह की राजधानी लाहौर से केवल 40 मील दूर था और यहां से लाहौर पर धावा मारना बहुत आसान था। अंग्रेजों के इस शत्रुतापूर्ण कार्य को भी रणजीतसिंह ने चुपचाप सहन कर लिया जिससे उसकी विवशता स्पष्ट हो जाती है।

आखिरी महत्वपूर्ण समस्या अफगानिस्तान की थी। 1809 ई. में अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक शाहशुजा को उसके भाई मोहम्मदशाह ने पदच्युत करके सिंहासन पर कब्जा कर लिया था। शाहशुजा भाग कर भारत चला आया और अंग्रेजों की शरण में रहने लगा। 1818 ई० में उसने काश्मीर के गवर्नर की सहायता से अफगानिस्तान का सिंहासन पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न मिली। पेशावर पर अपना अधिकार जमा लेने के बाद रणजीतसिंह ने शाहशुजा को अफगानिस्तान का सिंहासन पुनः दिलवाने में उसकी सहायता करने का प्रस्ताव रखा परन्तु अंग्रेजों की रुचि न देख कर शाहशुजा ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। 1832 ई० तक अफगानितान की परिस्थितियाँ पुनः शाहशुजा के अनुकूल परिवर्तित होने लगी। रणजीतसिंह ने पुनः शाहशुजा को सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। परन्तु अफगानिस्तान के तत्कालीन शासक दोस्त मुहम्मद ने शुजा को परास्त करके खदेड़ दिया। 1836–37 ई० में दोस्त मुहम्मद ने रूस से मैत्री बढ़ाना शुरू किया जिससे अंग्रेज

घबरा गये और उन्होंने शाहशुजा को अफगानिस्तान के सिंहासन पर बैठाने का फैसला किया। परन्तु इसके लिये रणजीतसिंह के सहयोग की आवश्यकता थी। फलस्वरूप 26 जून, 1838 को अंग्रेजों, शाहशुजा और रणजीतसिंह के बीच सन्धि हो गई। सन्धि के अनुसार शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बनाना तय हुआ। शाहशुजा ने सिन्ध तथा अफगानिस्तान में रणजीतसिंह द्वारा अधिकृत क्षेत्रों पर से अपना दावा छोड़ दिया। परन्तु बाद में अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को कहा कि शिकारपुर पर उसका अधिकार स्वीकार नहीं किया जायेगा और न ही जलालाबाद पर अधिकार जमाने की अनुमति दी जायेगी। इस पर रणजीतसिंह ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। तब अंग्रेजों ने उसे धमकी दी कि यदि वह हस्ताक्षर नहीं करेगा तो अंग्रेज अपनी तरफ से इस योजना को कार्यान्वित कर देंगे। विवश होकर रणजीतसिंह को विष का घूंट पीना पड़ा और बड़ी अनिच्छा से उसने सन्धि पर हस्ताक्षर किये। सत्य तो यह है कि अफगानिस्तान के प्रति किसी भी ब्रिटिश नीति से रणजीतसिंह को खुशी नहीं हो सकती थी क्योंकि वह स्वयं अफगानिस्तान को नियन्त्रित करना चाहता था। परन्तु दूसरी तरफ अंग्रेज भी ऐसा ही चाहते थे। उन्हें एक तरफ तो रूस का भय लगा रहता था और दूसरी तरफ वे सिक्खों के शत्रु अफगानों से मैत्री करके सिक्खों को भी अपने इशारों पर नचाना चाहते थे।

रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था

एकतन्त्रीय शासन—रणजीतसिंह के शासन का स्वरूप एकतन्त्रीय था। वह स्वयं सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र विन्दु था और शासन के समस्त अधिकार उसी के हाथ में थे। राज्य के प्रत्येक महत्वपूर्ण मामलों में उसका निर्णय अन्तिम होता था और राज्य के समस्त अधिकारियों का कर्तव्य था कि वे निष्ठापूर्वक उसके आदेशों का पालन करते हुए शासन कार्य चलायें। रणजीतसिंह अपने अधिकारियों के कार्य पर पूरी निगरानी रखता था। उसके शासनकाल में अधिकारियों को अनैतिक उपायों से धन-सम्पति जुटाने का अवसर नहीं दिया जाता था और प्रत्येक अधिकारी की मृत्यु होने पर उसकी धन-सम्पति को सरकार अपने कब्जे में ले लेती थी और मृत अधिकारी के परिवार को भरण-पोषण लायक धन दे दिया जाता था। राजकीय सेवाओं और विशेषकर उच्च पदों पर योग्यता को अधिक महत्व दिया जाता था और सिक्खों के अलावा अन्य लोगों को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। उसने कई डोगरों, मुसलमानों और यूरोपीय लोगों को भी उच्च पदों पर नियुक्त कर रखा था। डोगरे अधिकारियों में ध्यानसिंह, गुलाबसिंह, सुचेतसिंह नामक तीनों भाई और ध्यानसिंह का लड़का हीरासिंह मुख्य थे। इन डोगरे अधिकारियों के सम्बन्ध में डॉ. एम. एस. जैन ने लिखा है कि "ये सरदार अपने स्वार्थों से इतने अधिक प्रभावित थे कि पंजाब राज्य के विरुद्ध कार्य करने में भी संकोच नहीं करते थे। पंजाब से इन्हें कोई लगाव नहीं था और रणजीतसिंह की मृत्यु के

पश्चात पंजाब राज्य को समाप्त कराने में इनका योगदान अत्यधिक रहा।" मुस्लिम सरदारों में फकीर अजीजुद्दीन और नूरूद्दीन मुख्य थे। यूरोपियनों में वेन्चूरा और अलार्ड प्रमुख थे। इससे स्पष्ट है कि रणजीतसिंह ने "गुरुमत" अर्थात् सिक्खों की प्रजातांत्रिक पद्धति को महत्व नहीं दिया और निरंकुश शासन की स्थापना की।

परन्तु रणजीतसिंह का निरंकुश शासन मध्यकालीन शासकों की भांति स्वेच्छाचारी नहीं था। वह उदार प्रशासन था जिसमें राज्य के सभी समुदायों और वर्गों के कल्याण का ध्यान रखा जाता था। स्वयं रणजीतसिंह अपने को 'खालसा' का प्रतिनिधि मानता था। कनिंघम ने लिखा है कि उसने अपने प्रत्येक कार्य से यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि वह गुरु के लिए तथा सिक्ख समुदाय के हित के लिए कार्य कर रहा है। वह आज्ञा-पत्र जारी करते समय केवल 'सरकार' या 'सरकार खालसा' शब्दों का ही प्रयोग करता था। उसने अपने नाम के सिक्के भी नहीं ढलवाये। उसके सिक्कों पर 'नानक सहाय' या 'गोविंद सहाय' अंकित रहता था। उसने सिक्खों की भावनाओं का आदर करते हुए अपने लिए आडम्बरपूर्ण पदवियों का भी प्रयोग नहीं किया। उसने धार्मिक कट्टरता को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। वह स्थानीय प्रशासन तथा लोगों के निजी जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। प्रजा की शिकायतों को वह स्वयं सुनता था और उन शिकायतों की जांच-पड़ताल की जाती थी और संबंधित अपराधियों को कानून के अनुसार सजा दी जाती थी। अपराध सिद्ध होने पर संबंधित अधिकारियों के विरुद्ध भी सख्त कारवाई की जाती थी। इसीलिए उसके शासन में प्रजा सुखी एवं संतुष्ट थी।

मंत्री—शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने की दृष्टि से रणजीतसिंह ने अपनी सहायता के लिए पांच मंत्रियों को नियुक्त कर रखा था। ये सभी सुयोग्य एवं विश्वस्त व्यक्ति थे और रणजीतसिंह को प्रत्येक विषय पर सलाह देते रहते थे। पांचों में वज़ीर का पद सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। ध्यानसिंह महाराजा रणजीतसिंह का वजीर था। वह डोगरा सरदार था और राज्य में उसे विशिष्ट स्थान प्राप्त था। वजीर के बाद विदेश मंत्री का पद महत्वपूर्ण माना जाता था। फकीर अजीउद्दीन ने इस पद पर कार्य किया था। राज्य का प्रधान सेनापति सुरक्षा मंत्री भी होता था। वित्त मंत्री का पद भी महत्वपूर्ण था। वित्त-मंत्रियों में भवानीदास और दीनानाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। मंत्रियों के अलावा बारह प्रशासनिक विभाग भी कायम किये गये थे जो शासन के विभिन्न कार्यों की देखभाल करते थे।

सूबों की शासन-व्यवस्था—रणजीतसिंह का राज्य चार सूबों अथवा प्रान्तों में विभाजित था। इनके नाम थे—काश्मीर, मुल्तान, पेशावर और लाहौर। सूबे के सर्वोच्च अधिकारी को 'नाजिम' कहा जाता था। नाजिम पद पर महाराजा के विश्वस्त व्यक्ति की ही नियुक्ति की जाती थी। सूबे का दूसरा मुख्य अधिकारी

'कारदार' कहलाता था। कारदार सूबे के एक निश्चित भूमाग के शासन की निगरानी रखता था। सूबे परगनों में विभाजित थे और प्रत्येक परगना तालुकों में विभाजित थे। प्रत्येक तालुक में पचास से लेकर सौ तक मौजे (गांव) थे। स्थानीय शासन का कार्य पंचायतें करती थी। उन्नत यातायात के साधनों के अभाव में पंचायतों पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण बहुत कम था और स्थानीय लोगों को अपनी बुद्धि के अनुसार शासन कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता था।

वित्तीय प्रशासन—राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। ऐसा अनुमान है कि रणजीतसिंह के राज्य की वार्षिक आय लगभग तीन करोड़ रुपया थी जिसमें से लगभग दो करोड़ रुपया भूमि कर से प्राप्त होता था। भूमि कर की वसूली पर पूरा ध्यान दिया जाता था। 'कारदार' नामक अधिकारी फसल काटने के समय किसानों से भूमि कर वसूल करते थे। किसानों से उनकी भूमि की उर्वरता के आधार पर 33 प्रतिशत से 50 प्रतिशत भाग तक वसूल किया जाता था। राज्य के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कर की दर अलग-अलग थी। मुल्तान क्षेत्र में कर की दर सबसे कम थी। 1823 ई० तक बंटाई पद्धति के अनुसार भूमि कर वसूल किया जाता था परन्तु 1823 ई० से कन्कूत (कांकूत) पद्धति काम में लाई गई। इसके अन्तर्गत खेत में खड़ी फसल के आधार पर ही राज्य की मांग निर्धारित कर दी जाती थी। बाद में भूमि कर की वसूली का काम नीलामी के आधार पर ऊंची बोली बोलने वालों को दिया जाने लगा। भूमि कर वसूली के लिए 'कारदारों' की सहायता के लिए कानूनगो और पटवारी नियुक्त थे। इन लोगों को राज्य की ओर से वेतन के अतिरिक्त वसूल किये हुए लगान का पांच प्रतिशत भाग कमीशन के रूप में भी दिया जाता था। रणजीतसिंह ने किसानों की भलाई का हमेशा ध्यान रखा और निर्धारित दर से अधिक कर वसूल करने वाले अधिकारियों को सजा दी जाती थी।

भूमि कर के अतिरिक्त अन्य करों से भी राज्य को यथेष्ट आय प्राप्त होती थी। इनमें सीमा-शुल्क और आबकारी-कर मुख्य थे। राज्य के प्रमुख मार्गों पर सीमा-शुल्क चौकियां कायम थी जो राज्य में आने और बाहर जाने वाले सामान पर शुल्क वसूल करती थी। नमक-उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार था और नमक-कर से भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। जागीरों से भी राज्य की काफी आय होती थी।

न्याय-व्यवस्था—रणजीतसिंह की न्याय-व्यवस्था लिखित कानून पर आधारित नहीं थी। उसकी न्याय-व्यवस्था स्थानीय परम्परागत रीति-रिवाज तथा सामाजिक प्रथाओं पर आधारित थी। यही कारण है कि पूरे राज्य में एक समान न्याय-व्यवस्था नहीं थी। मुसलमानों के मामलों में इस्लामिक नियमों का पालन किया जाता था और उनके आपसी अभियोगों का निर्णय काजी किया करते थे। न्याय करने के लिए रणजीतसिंह ने अलग से अधिकारियों की नियुक्ति नहीं की थी। गांवों के झगड़ों का फैसला ग्राम-पंचायतें करती थी। प्रान्तों में नाजिम और कारदार न्याय

करते थे। जागीरी क्षेत्रों में जागीरदार न्याय करते थे। राजधानी लाहौर में राज्य की सर्वोच्च अदालत थी जिसे "अदालत-उल-ओला" कहा जाता था जिसमें राज्य के उच्चाधिकारी न्याय प्रदान करते थे। रणजीतसिंह स्वयं राज्य का प्रधान न्यायाधीश था और जटिल तथा महत्वपूर्ण मामलों की अपीलें वह व्यक्तिगत रूप से सुनता था तथा अन्तिम निर्णय देता था। राज्य का दंड-विधान काफी कठोर था। अपराधियों के हाथ-पैर आदि काट दिए जाते थे। आर्थिक जुर्माने भी किये जाते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि अधिक आर्थिक जुर्माना अदा करने पर अपराधी की सजा में कमी कर दी जाती थी।

सैनिक व्यवस्था—रणजीतसिंह एक महत्वाकांक्षी शासक था और वह सभी सिक्ख राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना करने का विचार रखता था। राज्य-विस्तार तथा राज्य की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी। अतः रणजीतसिंह ने आरम्भ से ही सैनिक व्यवस्था में गहरी रुचि ली और कुछ विद्वानों का मानना है कि प्रशासन के क्षेत्र में रणजीतसिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि एक नए सैन्य प्रशासन की स्थापना है। इस कथन में वजन भी है। क्योंकि रणजीतसिंह के पूर्व सिक्ख सेना में घुड़सवारों का महत्व अधिक था। पैदल सैनिकों को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। प्रशिक्षण तथा अनुशासन की गहरी कमी थी। अंग्रेजों की सफलताओं ने रणजीतसिंह को नए ढंग से सैनिक व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव कर दिया।

रणजीतसिंह की नई सैनिक व्यवस्था की एक मुख्य विशेपता प्रशिक्षित सेना का गठन है। उसकी सेना के दो भाग थे—फौज-ए-खास और फौज-ए-वेकवायद। फौज-ए-खास के तीन मुख्य अंग थे—घुड़सवार, पैदल और तोपखाना। रणजीतसिंह ने तीनों अंगों के प्रशिक्षण पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। क्योंकि वह जानता था कि सिक्ख राज्य की सुरक्षा तथा अंग्रेजों से निपटने के लिए प्रशिक्षित सेना का होना बहुत जरूरी है। सेना को प्रशिक्षण देने के लिए उसने एलार्ड और वेन्चुरा नामक दो फ्रांसीसी अधिकारियों को नियुक्त किया। एलार्ड ने घुड़सवार सेना को प्रशिक्षण दिया और वेन्चुरा ने पदाति सेना को। प्रशिक्षण के फलस्वरूप रणजीत की सेना अद्वितीय बन गई। वह प्राय: अंग्रेज अधिकारियों को अपनी सेना का निरीक्षण करने का अवसर देता रहता था ताकि अंग्रेज उससे टकराने की बात न सोचे। 1838 ई० में गवर्नर-जनरल लार्ड आकलैंड ने रणजीत की सेना का निरीक्षण करने के बाद उसे विश्व की योग्यतम सेना बतलाया था।

दूसरी विशेषता एक शक्तिशाली तोपखाने की स्थापना है। रणजीतसिंह के पूर्व सिक्खों ने तोपखाने पर अधिक ध्यान नहीं दिया। परन्तु रणजीतसिंह ने तोपखाने के महत्व को समझते हुए उसको उन्नत बनाने के हर सम्भव प्रयत्न किये। 1810 ई० में पहली बार "दारोगा-ए-तोपखाना" नामक पदाधिकारी नियुक्त किया

गया। 1827 में जनरल कोर्ट को तोपखाने का काम सौंपा गया। 1832 ई० में कर्नल गार्डनर को तोपखाने के पुनर्गठन का काम सौंपा गया। तोपखाने को तीन भागों में विभाजित किया गया—(1) तोपखाना-ए-जिंसी - इस भाग के अन्तर्गत मध्यम और भारी वजन की तोपें रखी गईं। (2) तोपखाना-ए-अस्पी—इसमें हल्की तोपों को रखा गया, और (3) जबूर-खाना। तोपों के निर्माण के लिए लाहौर में एक कारखाने की स्थापना की गई। अन्य प्रकार के शस्त्रों के निर्माण के लिए भी लाहौर में कारखाने कायम किये गये।

जिन सिक्ख घुड़सवारों को सैनिक प्रशिक्षण पसन्द न था उन्हें फौज-ए-बेकवायद में रखा गया। इसमें भी दो प्रकार के सैनिक होते थे—घुड़चढ़ा खास और मिसलदारों के अनुयायी। घुड़चढ़ों को अपने घोड़ों की व्यवस्था अपने आप करनी पड़ती थी। इसके लिए उन्हें राज्य से वेतन दिया जाता था। रणजीतसिंह ने बहुत से मिसलदारों को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। ये मिसलदार अपने अनुयायियों के साथ सैनिक सेवा प्रदान करते थे।

रणजीतसिंह की सैन्य व्यवस्था की तीसरी मुख्य विशेषता नियमित रूप से सैनिकों को नकद वेतन देना थी। सैनिकों की भर्ती के लिए राज्य की ओर से दबाव नहीं डाला जाता था। उसकी सेना में अधिकांशतः सिक्ख और जाट सैनिक थे लेकिन मुसलमानों और अन्य जातियों के लोग भी सम्मिलित थे। सैनिक भर्ती के समय रणजीतसिंह स्वयं उपस्थित रहता था। सेना में अनुशासन पर अधिक ध्यान दिया जाता था और अनुशासनहीनता के मामलों में सख्त सजा दी जाती थी।

रणजीतसिंह की सैन्य-व्यवस्था पूर्णतः दोषरहित न थी। एक बहुत बड़ा दोष तो यह था कि सैनिकों और अफसरों की उन्नति के लिए कोई निश्चित नियम न थे। दूसरा दोष—यूरोपीय सैनिकों एवं अधिकारियों को अधिक वेतन देना था। इससे सिक्खों में असंतोष उत्पन्न हो गया था।

रणजीतसिंह का मूल्यांकन—एक महान् सेनानायक, संगठनकर्ता और प्रशासक के रूप में रणजीतसिंह का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी शक्ति के उत्कर्ष के पूर्व संपूर्ण पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेश राजनीतिक अस्थिरता व अव्यवस्था से रोगग्रस्त था। सिक्खों की बारह मिसलें अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए आपस में संघर्षरत थीं और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त अफगानों के आपसी कलह से पीड़ित था। सिक्खों और अफगानों के आपसी युद्धों ने सामान्य जन-जीवन को ही अस्त-व्यस्त कर दिया था। ऐसी परिस्थितियों में एक छोटी सी मिसल का सरदार रणजीतसिंह सभी मिसलों को एकता के सूत्र में आबद्ध करके पंजाब में एक शक्तिशाली और विशाल सिक्ख राज्य की स्थापना के महान् कार्य में जुट गया और अन्त में वह अपने ध्येय में सफल रहा। इसी से उसकी सैनिक प्रतिभा और संगठनकर्ता की योग्यता स्पष्ट हो जाती है।

जिस अफगान शक्ति ने मुगल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके पंजाब तक के भू-भाग पर अपना शासन स्थापित कर लिया था, उनसे संघर्ष करना और उन्हें परास्त करके भारतीय क्षेत्रों से उनके प्रभाव का अन्त करना—यह सामान्य उपलब्धि न थी। यदि रणजीतसिंह अफगानों पर निर्णायक विजय प्राप्त करने में असफल रहा होता तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि काश्मीर, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब पर अफगानों का शासन हमेशा के लिए सुदृढ़ हो जाता। इससे अंग्रेजों की कठिनाई भी बढ़ जाती। रणजीतसिंह की उपलब्धियों का अंग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया। उन्हें अनायास ही एक विशाल संगठित क्षेत्र प्राप्त हो गया। इससे भी बढ़ कर महत्वपूर्ण बात यह है कि रणजीतसिंह की विजयों ने भारत की कमजोर समझी जाने वाली उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ बना दिया।

रणजीतसिंह ने गुरु गोविंदसिंह के अधूरे कार्य को पूरा किया। उसने सिक्खों में आत्मविश्वास पैदा किया। उन्हें संगठित करके उनका एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में रूपान्तर कर दिया। वैसे सिक्ख लोग आरम्भ से ही साहसी एवं पराक्रमी सैनिक रहे हैं और अस्त्र-शस्त्र चलाने में भी निपुण रहे हैं। परन्तु बिखरे हुए सिक्खों को संगठित करके सैनिक विजयों के द्वारा एक शक्तिशाली विशाल सिक्ख राज्य की स्थापना करना, रणजीतसिंह का ही काम था। इसके लिए रणजीतसिंह को सैनिक प्रशासन में महत्वपूर्ण सुधार लागू करने पड़े। उसने एलार्ड तथा वेन्चुरा जैसे योग्य एवं निष्ठावान यूरोपीय सेनानायकों को नियुक्त किया और सिक्ख सेना को पश्चिमी पद्धति से प्रशिक्षण दिलवाया। रणजीतसिंह की विशेषता इस बात में है कि उसने यूरोपीय सैनिक अधिकारियों को निष्ठावान बने रहने के लिए विवश कर दिया। अन्यथा अनेक भारतीय शासकों ने भी यूरोपियनों की सेवाएं प्राप्त की थीं परन्तु समय आने पर वे विश्वासपात्र सिद्ध न हुए। सेना को गोला-बारूद तथा तथा अस्त्र-शस्त्र के लिए अन्य शक्तियों पर निर्भर न रहना पड़े, इसके लिए उसने कई कारखाने स्थापित करवाये।

रणजीतसिंह ने उदार निरंकुश शासन की व्यवस्था की। उसे सिक्खों के 'गुरुमत' या प्रजातान्त्रिक पद्धति से विशेष लगाव न था। कम से कम राजनीतिक क्षेत्र में तो वह एकतंत्रीय शासन का समर्थक था। क्योंकि वह सिक्खों को एक राजनीतिक शक्ति बनाना चाहता था। उससे बहुत पहले यही काम महाराष्ट्र में शिवाजी ने किया था। अन्तर इतना ही रहा कि जहां शिवाजी ने एकता के सूत्र को और अधिक मजबूत बना दिया वहीं रणजीतसिंह ने बाद में उसे ढीला छोड़ दिया। परिणामस्वरूप जहां मराठा शक्ति शिवाजी के बाद भी मुगलों से सफलता-पूर्वक टक्कर ले सकी वहीं सिक्ख शक्ति रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद आसानी के साथ अंग्रेजों से परास्त हो गई और उसका विशाल राज्य अंग्रेजी साम्राज्य में समा गया।

रणजीतसिंह ने विना किसी भेदभाव के सभी लोगों को राज्य के उच्च पद प्रदान किये। परन्तु सिक्खों पर नियन्त्रण वनाये रखने के लिए उसने डोगरे-राजपूतों और यूरोपियनों को अधिक सुविधाएं प्रदान की। इसका एक बुरा परिणाम यह निकला कि उसके दरवार में दलवन्दी शुरू हो गई जो उसके जीवनकाल में शान्त रही परन्तु उसके वाद उभर कर सामने आ गई और सिक्ख राज्य के पतन का कारण वन गई। एक अन्य दोष, सेना को अधिक महत्व देना था। सैनिक अधिकारियों को अधिक महत्व देकर उसने असैनिक अधिकारियों का प्रभाव गौण वना दिया। इससे राज्य की राजनीति में उनका प्रभाव वढ़ गया। उनका वढ़ता हुआ प्रभाव अन्त में राज्य के पतन का कारण वना।

अंग्रेजों के प्रति रणजीतसिंह ने जो नीति अपनाई उसके औचित्य पर विद्वानों को काफी सन्देह रहा है। कुछ का मानना है कि जव तक रणजीतसिंह अपनी सत्ता का दृढ़ीकरण नहीं कर पाया था तव तक तो उसकी नीति ठीक मानी जा सकती है परन्तु उसके वाद उसे टकराव की नीति अपनानी चाहिए थी। उन लोगों का यह भी मानना है कि रणजीतसिंह अंग्रेजों की शक्ति से भयभीत था। डा० एन. के. सिन्हा ने तो यहाँ तक लिखा है कि रणजीतसिंह घोड़ा था और अंग्रेज घुड़सवार। जैसे घुड़सवार अपनी इच्छानुसार घोड़े को हाँक ले जाता है, वैसे ही अंग्रेज रणजीतसिंह से कार्य करवाते रहे। वस्तुतः रणजीतसिंह अंग्रेजों की नीति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाया या सही कदम उठाने से चूक गया।

फिर भी, इस वात में कोई सन्देह नहीं है कि रणजीतसिंह अपने समय का एक महान् नेता, सेनानायक और प्रशासक था। अनपढ़ होते हुए उसने अपने राज्य के सभी लोगों के कल्याण की तरफ ध्यान दिया और विना किसी भेद-भाव के सभी के लिए राजकीय सेवाओं का द्वार उन्मुक्त रखा। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह कट्टर सिक्ख था, परन्तु एक शासक के रूप में उसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। वैसे रणजीतसिंह को विलासमय जीवन पसन्द था, फिर भी उसने कभी प्रशासनिक कार्यों की अवहेलना नहीं की। पढ़ा-लिखा न होते हुए भी वह विद्वानों का भारी आदर-सत्कार करता था। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह अस्त-व्यस्त सिक्ख जाति को एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित राष्ट्रीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल रहा।

रणजीतसिंह के कमजोर उत्तराधिकारी

जून, 1839 ई० में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ ही सिक्ख राज्य के 'महाराजा' का मान-सम्मान और प्रभाव भी जाता रहा क्योंकि रणजीतसिंह के उत्तराधिकारियों में से कोई भी महाराजा पद के गौरव को वनाये रखने में समर्थ सिद्ध नहीं हुआ। रणजीतसिंह के सात पुत्र थे और उनमें से प्रत्येक अपने आपको महाराजा वनने का स्वप्न देखा करता था। रणजीतसिंह की मृत्यु के वाद उसके ज्येष्ठ पुत्र खड़कसिंह को महाराजा वनने में अधिक कठिनाइयों

का सामना नहीं करना पड़ा, यद्यपि उसके भाई शेरसिंह ने अंग्रेजों से सांठ-गांठ करके सिंहासन पर अधिकार जमाने का प्रयास अवश्य किया था। खड़कसिंह एक अयोग्य तथा विलासी व्यक्ति था। वह हर समय अफीम के नशे में खोया रहता था और उसने शासन सम्बन्धी कार्यों में कभी विशेष रुचि नहीं ली। परन्तु खड़कसिंह का युवा पुत्र नौनिहालसिंह योग्य एवं महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और उसने शीघ्र ही शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। वह सिक्ख राज्य में डोगरा सरदारों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करना चाहता था क्योंकि उसके हिसाब से वे शेरसिंह के समर्थक थे। इसी समय प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध समाप्त हो गया। अफगानिस्तान पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था और अब यह तय किया गया कि आधी सेना को अफगानिस्तान में ही रखा जाय और आधी को वापस भारत भेज दिया जाए। इस सम्बन्ध में अंग्रेजों ने खड़कसिंह से सहयोग की प्रार्थना की। खड़कसिंह न तो मना करने की स्थिति में था और न ही अंग्रेजी सेना को पंजाब से होकर जाने की अनुमति देने के पक्ष में था। अन्त में यह तय हुआ कि अंग्रेज सेना मुख्य मार्ग से न लौटकर डेरा इस्माइलखां के घुमावदार मार्ग से वापस लौटेगी। अंग्रेजों को इस प्रकार की सुविधा देने का एक मात्र प्रयोजन उनके साथ मैत्री भावना को बनाये रखना था क्योंकि खड़कसिंह उन्हें अपना शत्रु बनाना नहीं चाहता था।

चौदह महीनों के शासन के बाद नवम्बर, 1840 ई० में खड़कसिंह की मृत्यु हो गई और उसके दाह-संस्कार से वापस लौटते समय उसका लड़का नौनिहाल-सिंह एक दर्दनाक दुर्घटना में घायल होकर उसी रात मर गया। कुछ विद्वानों का मत है कि नौनिहालसिंह की मृत्यु डोगरा सरदार गुलाबसिंह के षड़यन्त्र का परिणाम थी। डोगरा नेता इस प्रकार के षड़यन्त्र रचने में समर्थ भी थे। परन्तु अन्य लेखकों ने इसे ईश्वरीय देन मानकर संतोष कर लिया है। खड़कसिंह और नौनिहालसिंह दोनों की आकस्मिक मृत्यु से सिक्ख राज्य की राजनीतिक गतिविधियां अचानक तेजी के साथ रंग बदलने लगी। डोगरा सरदारों ने रणजीतसिंह के पुत्र शेरसिंह का पक्ष लिया तो सिंघनवालिया सिक्ख सरदारों ने खड़कसिंह की विधवा चांदकौर को संरक्षिका बनाने का प्रयास किया। दोनों पक्षों ने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। इससे अंग्रेज प्रतिनिधियों को पंजाब की राजनीति में सक्रिय भाग लेने का अवसर उपलब्ध हो गया। उन्होंने शेरसिंह को अपना गुप्त समर्थन दिया। शेरसिंह ने सेना के एक भाग को अधिक वेतन का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया और उसकी सहायता से लाहौर पर अधिकार करके महाराजा बन गया। शेरसिंह ने सिंहासन प्राप्त करने के लिए सेना को प्रलोभनकारी राजनीति में घसीट कर सिक्ख राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

शेरसिंह एक अयोग्य शासक था। वह एक साहसी सैनिक भी न था। अतः वह सिक्ख राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को न संभाल सका। उधर अंग्रेजों ने

सिक्ख राज्य को कमजोर बनाने की तरफ विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया। उनके कहने पर सिंघनवालिया सरदारों को पुनः लाहौर दरबार में स्थान दिया गया। ये लोग डोगरा सरदारों के शत्रु थे। सितम्बर, 1843 ई० में सिंघनवालिया सरदारों ने महाराजा शेरसिंह और उसके पुत्र प्रतापसिंह की हत्या करवा दी। यह हत्या उस समय की गई जबकि महाराजा एक सैनिक दस्ते का निरीक्षण कर रहा था। उसी दिन डोगरा सरदार ध्यानसिंह जो कि राज्य का वजीर भी था, की हत्या कर दी गई। इन हत्याओं के साथ ही सिक्ख राज्य में हत्याओं का सिलसिला चल पड़ा। ध्यानसिंह के लड़के हीरासिंह ने सेना की सहायता से लाहौर पर अधिकार कर लिया और कई सिंघनवालिया सरदारों को मौत के घाट उतार दिया गया। हीरासिंह के प्रभाव एवं समर्थन से रणजीतसिंह के नौ वर्षीय पुत्र दलीपसिंह को महाराजा बनाया गया और रानी जिंदन (झिण्डन) को दलीपसिंह की संरक्षिका नियुक्त किया गया। कुछ दिनों तक रानी और हीरासिंह के सम्बन्ध अच्छे बने रहे। परन्तु रानी जिंदन का चरित्र सन्देहपूर्ण था और लोग उसके बारे में तरह-तरह की बातें फैला रहे थे। सरदार लालसिंह के साथ उसके प्रेम-व्यापार की चर्चा काफी फैल चुकी थी। थोड़े समय बाद रानी जिंदन और हीरासिंह में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। रानी और उसके समर्थक सरदारों ने हीरासिंह के प्रभाव को समाप्त करने का निश्चय किया और इसमें असफल रहने पर 21 दिसम्बर, 1844 ई० को हीरासिंह की हत्या करवा दी। इसके बाद शासन की बागडोर रानी के भाई और वजीर जवाहरसिंह तथा रानी के प्रेमी लालसिंह के हाथों में चली गई। परन्तु उन दोनों में इतनी योग्यता न थी कि वे राज्य की बिगड़ती हुई स्थिति को सुधार सके। ऐसी स्थिति में सिक्ख राज्य की शक्ति एवं समृद्धि को बनाये रखना बहुत ही कठिन हो गया, खासकर तब जबकि शक्तिशाली अंग्रेज उसे हथियाने को तैयार बैठे थे।

सरदारों का आपसी संघर्ष—सिक्ख राज्य की इस बिगड़ती हुई स्थिति के लिए राज्य के प्रमुख सरदारों का आपसी आत्मघातक संघर्ष और सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव, काफी अंश तक जिम्मेदार थे। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद राज्य में जम्मू के डोगरा राजपूत सरदारों और सिंघनवालिया सिक्ख सरदारों का महत्व बढ़ गया था। परन्तु ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी थे और एक-दूसरे के बढ़ते हुए प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे। डोगरा राजपूतों का नेतृत्व तीन भाइयों—ध्यानसिंह, सुचेतसिंह और गुलाबसिंह के हाथों में था। सतलज से लेकर काश्मीर तक का राज्य डोगरों के अधिकार में था जिससे वे काफी समृद्ध बन चुके थे और अपनी शक्तिशाली सेना संगठित कर ली थी। इनमें भी ध्यानसिंह काफी चतुर एवं पराक्रमी था और रणजीतसिंह ने उसे अपना वजीर नियुक्त किया था। अपनी मृत्यु के पूर्व रणजीतसिंह उसे अपने पुत्र खड़कसिंह का वजीर तथा प्रमुख सलाहकार

नियुक्त कर गया था। सिंघनवालिया सरदारों का नेतृत्व अजीतसिंह और अत्तरसिंह के हाथों में था। वे लोग अंग्रेजों से मिले हुए थे। उनके पास भी विस्तृत जागीरें थी परन्तु सेना में उनका विशेष प्रभाव न था। 1843 ई० में उन्होंने महाराजा शेरसिंह और उसके पुत्र प्रतापसिंह तथा वजीर ध्यानसिंह को मौत के घाट उतार कर शासन की वागडोर अपने हाथ में लेने का प्रयास किया परन्तु ध्यानसिंह के लड़के हीरासिंह ने उनकी योजना को विफल वना दिया और वह स्वयं वजीर वन गया। वजीर वनने के वाद हीरासिंह ने सिंघनवालिया सरदारों से अपने पिता की हत्या का वदला लिया। फलस्वरूप अजीतसिंह, लहनासिंह और लगभग 600 सिंघनवालिया समर्थकों को मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार, सरदारों के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य में हत्याओं का जो सिलसिला शुरू हुआ उसमें अनेक योग्य नेताओं को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। 1844 ई. में हीरासिंह की हत्या कर दी गई। अव सेना का पूर्ण नियन्त्रण कायम हो गया।

सिक्ख सेना का राजनीति में प्रवेश—महाराजा रणजीतसिंह के शासनकाल में सिक्ख सेना अपने शासक के प्रति निष्ठावान रही परन्तु उसके कमजोर उत्तराधिकारियों के शासनकाल में सिक्ख सेना प्रशासन पर हावी होती चली गई। शेरसिंह से लेकर दलीपसिंह तक सभी महाराजाओं, मंत्रियों और सरदारों ने अपनी स्थिति एवं सत्ता को वनाये रखने के लिए सेना का सहयोग प्राप्त करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया और इस सहयोग की ऊँची कीमत चुकाने का आश्वासन दिया। परिणाम यह निकला कि अव सेना का समर्थन उसी को मिलने लगा जो अधिक कीमत चुका सकता था या चुकाने का आश्वासन दे। 1841 ई० में जव सिक्खों को यह जानकारी मिली कि अंग्रेज सतलज पार करने की योजना वना रहे हैं तो महाराजा शेरसिंह घवरा गया और उसने सेना के प्रत्येक यूनिट से दो-दो प्रतिनिधियों को बुलाकर उनसे सलाह-मशवरा शुरू किया। यहीं से शासन पर सेना का प्रभाव वढ़ने लगा। अव स्वयं सेना ने अपनी एक पंचायत "खालसा-पंचायत" वना ली और उसी के द्वारा अपने निर्णय स्वयं करने लगी। इससे सेना पर महाराजा और उसके मंत्रियों का प्रभाव समाप्त हो गया। सेना ही शासन का प्रमुख स्तम्भ वन गई। दुर्भाग्यवश अधिकांश योग्य सेनानायकों—मुखमसिंह, दीवानचन्द, रामदयाल, हरीसिंह नलवा आदि का देहान्त महाराजा रणजीतसिंह के जीवन काल में ही हो गया था। अव जो सेनानायक वचे थे उनमें राज्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी का अभाव तो था ही, परन्तु युद्ध-कौशल एवं योग्यता का भी अभाव था। रानी जिंदन तथा उसके समर्थक सरदारों को सेना का प्रभाव पसन्द न आया और उन्होंने सेना की शक्ति को नष्ट करने का फैसला किया। परिणामस्वरूप उन्हें सतलज पार करने को उकसाया गया और प्रथम सिक्ख युद्ध की शुरुआत हुई।)

अंग्रेजों की नीति—महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु और प्रथम अफगान युद्ध की प्रारम्भिक सफलता के साथ ही अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन आ गया और वे पंजाब को अपने साम्राज्य में मिलाने का स्वप्न देखने लगे। जनवरी 1840 ई० में ही आकलैण्ड ने सिक्खों से लड़ने की इच्छा व्यक्त की थी। 1841 ई० में श्रीमती हेनरी लारेन्स ने अपने एक पत्र में लिखा था कि "इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगले जाड़ों के मौसम में बहुत समय से रुका हुआ पंजाब को जीतने का प्रश्न हल हो जायेगा।" परन्तु चूंकि अभी तक सिक्ख सरकार ने अंग्रेजों के प्रत्येक आदेश का पालन किया था, अतः अंग्रेजों के पास लड़ाई छेड़ने का कोई बहाना न था। अंग्रेज चाहते थे कि पंजाब में ऐसा वातावरण तैयार किया जाय जिससे उनके आक्रमण का औचित्य सिद्ध हो सके और इंगलैण्ड का लोकमत भी उससे अप्रसन्न न हो। तदनुसार उन्होंने गुलाबसिंह, लालसिंह, तेजसिंह जैसे स्वार्थी सरदारों से सांठ-गांठ करके कुचक्र रचने शुरू कर दिये।

1842 ई० में लार्ड एलनबरो के गवर्नर-जनरल बन कर आते ही ब्रिटिश सरकार ने पंजाब की तरफ विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया क्योंकि प्रथम अफगान युद्ध में बाद में अंग्रेजों को भारी अपमान तथा हानि उठानी पड़ी थी और पंजाब में भी अराजकता तथा अव्यवस्था फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा काफी कमजोर प्रतीत हो रही थी और इससे भारत में ब्रिटिश राज्य को बहुत बड़े खतरे की आशंका थी। यही कारण है कि मार्च, 1842 ई० में ड्यूक ऑफ वेलिंगटन ने एलनबरो को यह सुझाव दिया कि वह सतलज नदी पर सबसे कमजोर स्थल पर सेना एकत्र करे तथा फिरोजपुर और लुधियाना की सुरक्षा का पुख्ता इन्तजाम करे। तदनुसार एलनबरो ने सरहिंद पर 15,000 सैनिकों को तैनात करने के आदेश जारी कर दिये। इसके बाद एलनबरो सिक्ख सेना में असंतोष पैदा करने में लगा रहा और अपने अधिकारियों से विचार करता रहा कि पंजाब में व्याप्त अव्यवस्था का लाभ उठाने के लिए ब्रिटिश सरकार को किस प्रकार की नीति अपनानी चाहिए। इससे साफ जाहिर है कि सतलज के उस पार घटने वाली घटनाओं तथा उनसे उत्पन्न कठिनाइयों के प्रति ब्रिटिश सरकार पूर्ण रूप से सतर्क थी। सिक्खों से युद्ध निश्चित था परन्तु ब्रिटिश सरकार पूरी तैयारी के बाद युद्ध करने के पक्ष में थी। अतः सतलज क्षेत्र में सेना की संख्या में वृद्धि की जाती रही। 1845 ई० में सतलज सीमा पर 40,000 से अधिक अंग्रेजी सेना और 94 तोपें नियुक्त की जा चुकी थी। अब उन्हें बहाने की आवश्यकता थी जिसके आधार पर युद्ध शुरू किया जा सके क्योंकि उन्हें अब भी इंगलैण्ड के लोकमत का भय बना हुआ था।

प्रथम सिक्ख युद्ध (1845–46 ई०)

कारण—महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद सिक्ख राज्य के इतिहास

की निम्न विशेषताओं का हम पिछले पृष्ठों में अध्ययन कर चुके हैं–(1) रणजीतसिंह के शक्तिहीन उत्तराधिकारी, (2) राज्य के सरदारों का आपसी संघर्ष, (3) सिक्ख सेना का राजनीति में प्रभाव, और (4) सिक्ख राज्य के प्रति अंग्रेजों की परिवर्तित नीति। वस्तुतः ये ही तथ्य प्रथम सिक्ख युद्ध के मूल कारण भी थे। अंग्रेज इतिहासकारों ने केवल दो पर ज्यादा जोर दिया है—(1) 1840–45 की अवधि में पंजाब में व्याप्त अराजकता, और (2) राजनीति में सिक्ख सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रणजीतसिंह की मृत्यु के साथ ही केन्द्रीय शासन का प्रभाव क्षीण हो गया क्योंकि रणजीतसिंह ने जिस ढंग की शासन-व्यवस्था की थी उसे प्रभावकारी ढंग से चलाने के लिए शासक में व्यक्तिगत योग्यता होना आवश्यकता थी। संयोगवश रणजीतसिंह का कोई भी उत्तराधिकारी उस आवश्यक योग्यता को प्रमाणित न कर पाया। राजा की बात छोड़िये, राजा के किसी भी मंत्री, सेनानायक अथवा अधिकारी ने भी वैसी योग्यता का परिचय नहीं दिया जिससे कि उचित ढंग से शासन-व्यवस्था का संचालन किया जा सकता। इसके विपरीत राज्य के प्रमुख सरदारों तथा अधिकारियों ने अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए कुचक्र, षड़यन्त्र तथा हत्याओं का सहारा लिया जिससे राज्य में भय और आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया। इस प्रकार की परिस्थिति ने ही सिक्ख सेना को राजनीति पर हावी होने का अवसर प्रदान किया। जब राजनीतिज्ञों ने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए सेना को आर्थिक सुविधाएँ देकर उसका समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया तो सेना ने भी अपनी सहायता का मूल्य बढ़ा दिया और अब उसका समर्थन उस किसी भी नेता को प्राप्त हो सकता था जो कि उसे अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने का वायदा करे। ऐसी स्थिति में राजनीति एवं शासन पर सेना का अत्यधिक प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक ही था। परन्तु इससे राज्य की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई। जब सिक्ख राजनेता सेना के अनियंत्रित प्रभाव से दुःखी हो गये तो उन्होंने सेना की शक्ति को कमजोर बनाने का षड़यन्त्र रचा। इस षड़यन्त्र का ध्येय था सिक्ख सेना को अंग्रेजों से भिड़ा कर परास्त करवाना।

परन्तु यदि पंजाब की घटनाएँ इसी क्रम से घटित हुई होती तो सिक्ख सेना का पराभव नहीं होता। जिस तथ्य ने उसे असफल बनाया वह था अंग्रेजों की कूटनीति और सिक्ख नेताओं की अंग्रेजों से सांठ-गांठ। रणजीतसिंह की मृत्यु के तुरन्त बाद से ही अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन आ गया था और उन्होंने पंजाब को जीतने का मानस बना लिया था। इसके लिए उन्होंने तैयारी भी शुरू कर दी और धीरे-धीरे सतलज की सीमा पर सैनिकों और तोपों का भारी जमाव करना शुरू कर दिया। सिक्ख सेना से अंग्रेजों की यह कार्यवाही छिपी न रह सकी और उसे अंग्रेजों की नियत में सन्देह होने लग गया। जब ब्रिटिश सरकार ने सतलज के पूर्वी तट पर

लाहौर सरकार के अधिकृत क्षेत्रों को अपने अधिकार में ले लिया तो सिक्ख सेना में उत्तेजना फैल गई। सिक्ख सेना को भड़काने में लालसिंह एवं तेजसिंह जैसे नेताओं, सिक्ख तोपखाने का संचालक कैप्सटन गार्डनर जो कि गुप्त रूप से अंग्रेजों से मिला हुआ था और ब्रिटिश एजेन्ट ब्रोडफुट ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। फरवरी, 1845 ई० में जब सिन्धु नदी के द्वारा सैनिक नावों का एक शक्तिशाली बेड़ा फिरोजपुर पहुँच गया तो सिक्ख सेना का संयम जाता रहा।

युद्ध का आरम्भ—नवम्बर 1845 में अंग्रेजों ने लुधियाना के निकटवर्ती दो गाँवों पर अचानक अधिकार कर लिया। ये दोनों गाँव सिक्ख राज्य के अधिकार में थे। अंग्रेजों ने इन गांवों पर अधिकार करते समय यह तर्क दिया था कि इन गांवों में ब्रिटिश सरकार के अपराधी छिपे हुए हैं और उनको पकड़ने के लिए यह सैनिक कार्यवाही की गई है। इसके तुरन्त बाद गवर्नर-जनरल हार्डिंग भी सतलज की तरफ बढ़ने लगा। 7–8 दिसम्बर को हार्डिंग ने मेरठ, अम्बाला आदि स्थानों में तैनात अंग्रेजी सेना को फिरोजपुर पहुँचने के आदेश प्रसारित कर दिये। अंग्रेजी सेना की इन गतिविधियों ने सिक्ख सेना को उत्तेजित कर दिया। इस सन्दर्भ में कनिंघम ने लिखा है कि "यदि सिक्ख सेनाओं ने अंग्रेजों की सैनिक तैयारी न देखी होती तो वे लालसिंह और तेजसिंह जैसे नेताओं के बहकावे में न आती।" लालसिंह इस समय सिक्ख राज्य का वजीर और तेजसिंह सेनापति था। ये दोनों नेता अंग्रेजों की राय से काम कर रहे थे और दोनों ही सिक्ख सेना को परास्त करवाना चाहते थे ताकि बाद में अंग्रेजों की सहायता से वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा कर सके। 11–12 दिसम्बर को सिक्ख सेना ने सतलज नदी को पार किया और हार्डिंग ने तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सतलज को पार करके सिक्ख सेना अपने ही क्षेत्र में रही। उसने अंग्रेजों के संरक्षित क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया था। इससे अंग्रेज लेखकों की यह बात गलत सिद्ध हो जाती है कि सिक्खों ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया था इसलिए अंग्रेजों को युद्ध लड़ना पड़ा। कैम्पबैल ने लिखा है कि "इतिहास में यह लिखा हुआ है कि सिक्ख सेना ने हम पर आक्रमण करने के संकल्प के साथ ब्रिटिश क्षेत्र पर आक्रमण किया परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया। उन्होंने न तो हमारी सीमावर्ती छावनियों पर आक्रमण किया और न ही हमारे क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने केवल नदी पार करके अपनी ही सीमा में अपना अड्डा जमा लिया था।" गवर्नर जनरल हार्डिंग के एक मित्र राबर्ट एन. कस्ट ने अंग्रेजों की कार्यवाही को "पंजाब के स्वतन्त्र राज्य पर पहला आक्रमण" बतलाया था।

सिक्खों और अंग्रेजों के मध्य पहली टक्कर 18 दिसम्बर, 1845 के दिन फ़िरोजपुर के निकट मुदकी नामक स्थान पर हुई। इसमें सिक्ख सेना के अग्रिम दस्ते के 2,000 सैनिकों ने ही भाग लिया था। सिक्ख सेना को पीछे हटना पड़ा परन्तु

उन्होंने अंग्रेजों को काफी नुकसान पहुंचाया और अंग्रेजों को भी मालूम हो गया कि रणजीतसिंह जिस प्रशिक्षित सेना को छोड़ गया है उसे पराजित करना आसान काम नहीं है। 21 दिसम्बर को फिरोजशाह नामक स्थान पर दूसरा युद्ध लड़ा गया। सिक्खों ने अंग्रेजों के आक्रमण को विफल बना दिया। उनके तोपखाने ने अंग्रेजों के हौंसले पस्त कर दिये थे और अंग्रेजों को अपनी पराजय का पूरा विश्वास हो गया था परन्तु लालसिंह ने सिक्ख सेना को लाभ नहीं उठाने दिया। पीछे हटती हुई अंग्रेज सेना का पीछा करने के स्थान पर लालसिंह सेना सहित युद्ध मैदान से वापस लौट गया। इस प्रकार, जीता हुआ युद्ध पराजय में बदल गया। इस सन्दर्भ में मैलेसन ने लिखा है कि फिरोजशाह का युद्ध अंग्रेजों ने हारने के बाद जीता था। इस समय अंग्रेजों की स्थिति ठीक नहीं थी। उनका गोला-बारूद भी समाप्त हो गया था और यदि सिक्ख सेना को इसी समय युद्ध का आदेश दे दिया गया होता तो अंग्रेजों की पराजय निश्चित थी। परन्तु विश्वासघाती नेताओं ने उन्हें इतना समय दे दिया कि वे गोला-बारूद एकत्र करके अपनी स्थिति को मजबूत बना सके। फिर भी, 21 जनवरी, 1846 ई० को दोनों पक्षों के मध्य अलीवाल बुदवाल नामक स्थान पर जो युद्ध हुआ; उसमें अंग्रेजों की पराजय हुई। तेजसिंह ने अवसर का लाभ नहीं उठाया और सिक्ख सेना को पीछे हटा लिया। 10 फरवरी, 1846 ई० को सोबरोन नामक स्थान पर अन्तिम युद्ध लड़ा गया जिसमें सिक्ख सेना की पराजय हुई। इससे अंग्रेजी सेना का सम्मान भी बच गया। 13 फरवरी को अंग्रेजी सेना ने सतलज को पार किया और 20 फरवरी को लाहौर पर उसका कब्जा हो गया। सिक्खों को विवश होकर सन्धि करनी पड़ी।

लाहौर की सन्धि (1846)—9 मार्च, 1846 ई० को दोनों शक्तियों के मध्य लाहौर की सन्धि सम्पन्न हुई। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए महाराजा दलीपसिंह को गवर्नर-जनरल के खेमे में लाया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत मुख्य रूप से निम्न बातें तय की गई—

1. पंजाब के सिक्ख राज्य ने सतलज नदी के दक्षिणी प्रदेशों पर से अपना अधिकार त्याग दिया और ये प्रदेश कम्पनी के सुपुर्द कर दिये गये।

2. सतलज एवं व्यास नदी के बीच का जलन्धर दोआब तथा इसमें स्थित सभी किलों पर से महाराजा दलीपसिंह ने अपना अधिकार हटा लिया और इस पर कम्पनी का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

3. पंजाब राज्य पर $1\frac{1}{2}$ करोड़ रुपया युद्ध का हर्जाना थोप दिया गया। पंजाब राज्य ने 50 लाख रुपया चुकाने का आश्वासन दिया और 1 करोड़ के बदले में हजारा एवं काश्मीर के प्रदेश कम्पनी को सौंप दिये।

4. सिक्खों की सेना निश्चित कर दी गई। अब पंजाब राज्य के लिए 12,000 घुड़सवार और 20,000 पदाति सैनिक से अधिक सेना रखने पर प्रतिबन्ध

लगा दिया गया। युद्ध के दौरान सिक्खों ने कम्पनी की जो तोपें छीन ली थी, उन्हें वापिस लौटा दिया गया। पंजाब राज्य के तोपखाने को भी बहुत सीमित कर दिया गया।

5. दलीपसिंह को पंजाब का महाराजा, रानी जिंदन को उसका संरक्षक और लालसिंह को उसका वजीर स्वीकार किया गया।

6. पंजाब राज्य ने कम्पनी की पूर्व स्वीकृति के बिना किसी भी यूरोपियन अथवा अमेरिकन को अपनी सेवा में न रखने का वचन दिया।

7. कम्पनी की सेना को स्वतन्त्रतापूर्वक पंजाब के एक भाग से दूसरे भाग में आने जाने की स्वीकृति दी गई। पंजाब दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेन्ट नियुक्त करने की बात मान ली गई। सर हेनरी लारेन्स को इस पद पर नियुक्त किया गया। कम्पनी ने पंजाब के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

अक्टूबर, 1846 ई. में कम्पनी ने काश्मीर तथा उसके आस-पास के क्षेत्र को डोगरा सरदार गुलाबसिंह को एक करोड़ रुपये में बेच दिया। इस प्रकार, विश्वासघात गुलाबसिंह को उसकी सेवाओं के लिए पुरस्कृत किया गया और उसे एक विशाल प्रदेश का स्वतन्त्र शासक बना दिया गया। इससे वजीर लालसिंह को ईर्ष्या उत्पन्न हो गई और उसने काश्मीर के गवर्नर इमामुद्दीन को गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया। कम्पनी ने अपनी सेना भेजकर इमामुद्दीन के विद्रोह को कुचल दिया और जब जांच-पड़ताल के बाद पता चला कि इस विद्रोह को भड़काने में लालसिंह का हाथ था तो कम्पनी ने उसे वजीर पद से हटा दिया। इस घटना से सिक्ख सरदारों ने सोचा कि यदि अंग्रेज पंजाब से हट गये तो पंजाब में पुनः अराजकता पैदा हो जायेगी। अतः 15 दिसम्बर, 1846 को एक आम दरबार में सिक्खों ने यह तय किया कि महाराजा दलीपसिंह के वयस्क होने तक शासन-सत्ता के समस्त अधिकार अंग्रेज एजेन्ट को सौंप दिये जाय। तदनुसार कम्पनी से प्रार्थना की गई कि वह लाहौर की सन्धि में पर्याप्त संशोधन करे।

भैरोवाल की सन्धि—सिक्ख सरदारों के अनुरोध पर 30 दिसम्बर, 1846 को पंजाब राज्य तथा कम्पनी के मध्य नयी सन्धि सम्पन्न हुई जिसे 'भैरोवाल की सन्धि' कहा जाता है। कुछ विद्वान् इसे लाहौर की द्वितीय सन्धि के नाम से भी पुकारते हैं। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—

1. महाराजा दलीपसिंह के वयस्क होने तक पंजाब राज्य का शासन एक परिषद् को सौंपना तय किया गया। अंग्रेज रेजीडेन्ट को परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसे परिषद् के आठों सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दे दिया गया। रानी जिंदन को राज्य प्रशासन से बिल्कुल वंचित कर दिया गया।

2. कम्पनी की सेना को पंजाब में रखने का फैसला किया गया और इसके लिए पंजाब राज्य ने 22 लाख रुपया वार्षिक कम्पनी को देना तय किया।

परिणाम—सिक्खों के लिए प्रथम सिक्ख युद्ध के परिणाम बड़े घातक सिद्ध हुए। लाहौर की सन्धि के अनुसार सिक्ख राज्य की लगभग दो-तिहाई भूमि उसके अधिकार से निकल गई जिसके परिणामस्वरूप उसे अपनी आय का बहुत बड़ा साधन और आबादी का हिस्सा खो देना पड़ा। अंग्रेजों ने जम्मू एवं काश्मीर में एक पृथक डोगरा राज्य स्थापित करके रणजीतसिंह के विशाल राज्य को छिन्न-भिन्न करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। रणजीतसिंह द्वारा निर्मित विशाल सिक्ख सेना को अत्यधिक सीमित करके उसे कमजोर बना दिया गया। लाहौर दरबार में अंग्रेज रेजीडेन्ट की नियुक्ति ने पंजाब राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता को भी सीमित कर दिया। भेरोवाल की सन्धि ने इस राजनीतिक स्वतन्त्रता को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया। पंजाब की वास्तविक सत्ता अब अंग्रेजों के हाथ में आ गई। पंजाब अंग्रेजी सेना के नियन्त्रण में आ गया। पंजाब में कानून और व्यवस्था को बनाये रखने का दायित्व भी अब अंग्रेजी सेना ने ले लिया। संरक्षक-परिषद् की अध्यक्षता रानी जिंदन के हाथों से छीनकर ब्रिटिश रेजीडेन्ट सर हेंनरी लारेन्स को सौंप दी गई। वस्तुतः भेरोवाल की सन्धि से पंजाब का सैनिक और असैनिक शासन कम्पनी के हाथ में आ गया।

यदि कम्पनी चाहती तो सम्पूर्ण पंजाब को अपने साम्राज्य में मिला सकती थी परन्तु गवर्नर जनरल हार्डिंग इस समय पंजाब को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था। वह पंजाब को धीरे-धीरे अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाना चाहता था और तब तक के लिए पंजाब का शासन स्थानीय सरदारों एवं ब्रिटिश रेजीडेन्ट के माध्यम से चलाने के पक्ष में था।

द्वितीय सिक्ख युद्ध (1848–49)

जनवरी 1848 ई. में हार्डिंग के स्थान पर लार्ड डलहोजी नया गवर्नर-जनरल बन कर भारत आया। वह हार्डिंग की भांति "प्रयोगात्मक सहनशीलता" की नीति में विश्वास रखने वाला व्यक्ति नहीं था। इसके विपरीत वह एक कट्टर साम्राज्यवादी था और भारत में ब्रिटिश सत्ता का विस्तार तथा सुदृढ़ीकरण चाहता था। परिणाम-स्वरूप उसके आने के कुछ महीनों बाद ही द्वितीय सिक्ख युद्ध छिड़ गया और पंजाब को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। द्वितीय सिक्ख युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

कारण—(1) अधिकांश सिक्खों का विश्वास था कि प्रथम सिक्ख युद्ध में उनकी पराजय का मूल कारण उनकी कम संख्या अथवा कमज़ोरी न होकर उनके नेताओं लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह की गद्दारी थी। सिक्खों का मानना था कि यदि वे अब भी संयुक्त होकर अंग्रेजों से युद्ध करें तो उन्हें परास्त करना कठिन न था। सभी चाहते थे कि अंग्रेजों को परास्त करके रणजीतसिंह के सिक्ख राज्य

को पुनः स्वतन्त्रता तथा स्थिरता प्रदान की जाय। इसके लिए अंग्रेजों को युद्ध में परास्त करना आवश्यक था।

2. पंजाब में नियुक्त ब्रिटिश रेजीडेन्ट सर हेनरी लारेन्स ने पंजाब के आन्तरिक मामलों में काफी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। मुसलमानों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई जो सिक्खों की धार्मिक भावना को पसन्द न आई। सामाजिक क्षेत्र में किये जाने जाने वाले सुधार भी परम्परावादी सिक्ख समाज को पसन्द न आये। भू-राजस्व व्यवस्था तथा जमींदारी व्यवस्था में जब मामूली परिवर्तन किये गये तो सिक्खों का असंतोष और भी अधिक बढ़ गया और उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने का निश्चय किया।

3. काश्मीर विद्रोह के बाद वजीर लालसिंह को पदच्युत करके बनारस भेज दिया गया था परन्तु रानी जिंदन के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई थी। अब रानी पर अंग्रेज-विरोधी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगा कर शासन से पृथक कर दिया गया। उसे वार्षिक पेंशन देकर पंजाब के बाहर रहने पर विवश किया गया। इसे सिक्खों ने सम्पूर्ण जाति का अपमान समझा और अंग्रेजों के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाने की बात सोचने लगे।

4. भेरोवाल की सन्धि के बाद जो नई संरक्षण-परिषद् बनाई गई थी उसमें शासन के समस्त अधिकार ब्रिटिश रेजीडेन्ट के हाथों में आ गये थे और वह अपनी इच्छानुसार शासन चलाने लगा। परिषद् के आठ अन्य सदस्य कठपुतली मात्र थे। ब्रिटिश रेजीडेन्ट ने शासन के उच्च पदों पर अंग्रेज अधिकारियों को नियुक्त करना शुरू कर दिया। इससे राज्य प्रशासन में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा और सिक्खों का प्रभाव कमजोर हो गया।

5. लाहौर की सन्धि के अनुसार सिक्ख सेना में भारी कमी करने की शर्त रखी गई थी। ब्रिटिश रेजीडेन्ट हेनरी लारेन्स और उसके भाई जॉन लारेन्स ने सन्धि की शर्त को कार्यान्वित करते हुए हजारों सिक्ख सैनिकों की सेवाओं को समाप्त कर दिया। बचे हुए सैनिकों के वेतन में भी कमी कर दी गई जिससे सैनिकों में असंतोष व्याप्त हो गया और वे अंग्रेजों के विरुद्ध पुनः युद्ध की बात करने लगे।

6. दीवान मूलराज का अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह द्वितीय सिक्ख युद्ध का तात्कालिक कारण था। 1844 ई० में अपने पिता सावन्तमल की मृत्यु के बाद मूलराज मुल्तान का गवर्नर बना। लाहौर दरबार ने उससे उत्तराधिकार के रूप में 30 लाख रुपये की माँग की जिसके लिए मूलराज तैयार न हुआ। इस पर लाहौर दरबार ने दूसरा प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार जंग का जिला मुल्तान से पृथक करने तथा मूलराज से पहले वर्ष में 19 लाख के स्थान पर 25 लाख रुपया और बाद में 30 लाख रुपया प्रतिवर्ष लेने का निर्णय किया गया। परन्तु मूलराज

को यह प्रस्ताव भी पसन्द न आया और उसने सूबेदारी से त्याग पत्र दे दिया। डॉ. एम. एस. जैन ने लिखा है कि "अगस्त, 1846 ई० में मुल्तान के गवर्नर मूलराज ने अपने जिले का वार्षिक लगान 19 लाख 6 हजार रुपये देना तय किया। लेकिन 1847 ई. के जॉन लारेन्स के सुधारों के फलस्वरूप वह इतना लगान नहीं दे सकता था। इसलिए दिसम्बर, 1847 ई० में उसने लारेन्स से लगान घटाने तथा उसके निर्णयों को बदलने का आग्रह किया। लारेन्स के न मानने पर उसने गवर्नरी से त्याग पत्र दे दिया।" कारण जो भी रहा हो, मूलराज ने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया परन्तु जान लारेन्स ने उसे कुछ महीने और कार्य करने को कहा। मूलराज ने लारेन्स के प्रस्ताव को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि लारेन्स उसके त्यागपत्र को तब तक गोपनीय रखेगा अन्यथा लगान वसूली के काम में काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती थी। कुछ दिनों बाद लारेन्स के स्थान पर क्यूरी नया रेजीडेन्ट बन कर आया। उसने सार्वजनिक रूप से मूलराज के त्यागपत्र को स्वीकार कर लिया और उसके स्थान पर सरदार खानसिंह मान को नया गवर्नर नियुक्त किया। उसकी सहायता के लिए दो अंग्रेज अधिकारियों—एग्नियू और एन्डरसन को मुल्तान भेजा गया। 19 अप्रेल, 1848 को मूलराज ने शांतिपूर्वक मुल्तान का किला खानसिंह को सौंप दिया परन्तु उत्तेजित स्थानीय सैनिकों ने उसी दिन दोनों अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने इन हत्याओं में मूलराज का हाथ होने का आरोप लगाया है परन्तु स्वयं डलहौजी ने बाद में यह स्वीकार किया था कि इसमें मूलराज का हाथ नहीं था और न ही विद्रोह की योजना थी। मूलराज का विद्रोह अचानक ही आरम्भ हो गया था।

लाहौर दरबार ने मुलतान के विद्रोह को तुरन्त दबाने में अंग्रेजों को पूरा-पूरा सहयोग देने का आवश्वासन दिया परन्तु गवर्नर-जनरल डलहौजी ने जानबूझ कर इस विद्रोह को पंजाब के अन्य भागों में फैल जाने दिया ताकि बाद में उसे पंजाब हथियाने का बहाना मिल सके। डलहौजी ने अगस्त 1848 ई. में ही पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का निर्णय ले लिया था। अतः मुलतान के विद्रोह को समय पर नहीं दबाया गया और इसका प्रभाव पंजाब के दूसरे क्षेत्रों पर भी पड़ा। बन्नू, पेशावर और पंजाब के उत्तर-पश्चिमी भागों में भी विद्रोह फैल गया और सिक्ख लोग अंग्रेजों को पंजाब से बाहर निकालने के लिए उठ खड़े हुए।

विद्रोह के फैलने का एक कारण अंग्रेजों द्वारा मूलराज के विद्रोह में रानी जिंदन का हाथ होने का आरोप लगा कर उसे पंजाब के बाहर भिजवाना था। वस्तुतः इस समय दीवान मूलराज तथा विद्रोही सिक्ख सैनिकों की आशाएँ रानी को विद्रोह का केन्द्र बिन्दु बनाने में लगी हुई थी। अंग्रेजों ने विद्रोह को भड़काने के लिए ही रानी पर झूठा आरोप लगा कर उसे पंजाब से निर्वासित किया था।

दूसरा कारण हजारा के सूवेदार छतरसिंह (जो राजा शेरसिंह के पिता तथा महाराजा दलीपसिंह के होने वाले ससुर) का अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अपमानित किया जाना था। मजे की वात यह है कि इस समय राजा शेरसिंह को लाहौर दरवार की तरफ से मूलराज के विद्रोह को दवाने के लिए मुल्तान भेजा गया था। अंग्रेज चाहते थे कि शेरसिंह भी विद्रोही वन जाये ताकि उन्हें पंजाव पर आक्रमण करने का ठोस आधार मिल जाय। इसीलिए शेरसिंह के पिता छत्तरसिंह का अपमान किया गया। अपने पिता के असम्मान के कारण शेरसिंह को भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाना पड़ा। इस प्रकार डलहौजी की योजना सफल रही। पंजाव में चारों ओर अव्यवस्था तथा अशान्ति फैल चुकी थी और अव मौसम भी सैनिक कार्रवाई के अनुकूल हो गया था। ऐसी स्थिति में लार्ड डलहौजी ने घोषणा की कि "विना किसी सूचना अथवा विना किसी कारण के सिक्ख-राष्ट्र ने युद्ध को आमंत्रित किया है और उन्हें तीक्ष्ण रूप से युद्ध मिलेगा।" डलहौजी के कथन में लेशमात्र भी सच्चाई नहीं है। लाहौर दरवार तो अभी तक अंग्रेजों का वफादार वना हुआ था और वहाँ का शासन भी अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में था। अतः लाहौर दरवार द्वारा अंग्रेजों को चुनौती देने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अंग्रेज सेनापति लार्ड गफ को पंजाव पहुँचने तक यह जानकारी नहीं थी कि उसे लाहौर दरवार के समर्थन में अथवा विरुद्ध भेजा गया है। वस्तुतः डलहौजी ने पंजाव पर युद्ध थोप कर उसे हथियाने की योजना अपने कुछ विश्वस्त साथियों तक ही सीमित रख छोड़ी थी। इसीलिए पंजाव के विरुद्ध वाकायदा युद्ध घोपित नहीं किया गया और चुपके से उसे अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया।

घटनाएँ—शेरसिंह और मूलराज ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध सिक्ख सैनिकों को संगठित करना शुरू किया। अत्तारवाला सिक्ख सरदारों ने उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया। नवम्वर, 1848 ई. में लाहौर दरवार की तरफ से हजारा के विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजी सेना ने रावी नदी को पार किया। चिनाव नदी के तट पर रामनगर के स्थान पर दोनों पक्षों में पहला युद्ध लड़ा गया जिसमें अंग्रेजों को हानि उठानी पड़ी। यह युद्ध 22 नवम्बर को लड़ा गया था और डलहौजी ने इसे एक दुःखद घटना कहा था। 3 दिसम्वर को सादुलपुर के निकट दोनों पक्षों में अनिर्णायक युद्ध हुआ। 13 जनवरी, 1849 ई. को चिलियानवाला का भयंकर युद्ध लड़ा गया जिसमें दोनों पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ी। स्वयं डलहौजी ने लिखा था कि एक और ऐसी ही विजय हमें नष्ट कर देगी। इस वीच अंग्रेजों ने मुल्तान पर भी आक्रमण कर दिया था और 22 जनवरी 1849 को मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। दोनों पक्षों के मध्य अन्तिम युद्ध चिनाव नदी के तट पर गुजरात नामक स्थान पर 21 फरवरी 1849 ई. को लड़ा गया। इस निर्णायक युद्ध में सिक्खों की पराजय हुई और अंग्रेजी सेना ने 15 मील तक सिक्ख सैनिकों का पीछा

किया। 12 मार्च, 1849 ई. को शेरसिंह, छत्तरसिंह तथा अन्य सरदारों ने आत्मसमर्पण कर दिया और इसके साथ ही द्वितीय सिक्ख युद्ध बन्द हो गया।

पंजाब का विलय—29 मार्च, 1849 ई. को गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी की एक घोषणा के द्वारा पंजाब में सिक्ख राज्य समाप्त कर दिया गया और महाराजा दलीपसिंह के राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सिक्ख सेना के आत्मसमर्पण के तुरन्त बाद ही डलहौजी ने अपनी जिम्मेदारी पर यह काम किया था। क्योंकि उस समय इंगलैण्ड की सरकार पंजाब विलय के पक्ष में न थी। यही कारण है कि डलहौजी ने कम्पनी के डायरेक्टरों की आज्ञा की भी प्रतीक्षा न की। डलहौजी की घोषणा के पूर्व महाराजा दलीपसिंह ने एक आम दरबार में कोहिनूर हीरा और अपना राज्य अंग्रेजों को समर्पित कर दिया। दलीपसिंह को पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। कुछ वर्षों बाद वह इंगलैण्ड चला गया। उसकी माँ रानी जिंदन भी इंगलैंड चली गई। दलीपसिंह ने ईसाई धर्म भी स्वीकार लिया। इस प्रकार, रणजीतसिंह के शक्तिशाली सिक्ख राज्य का अन्त हो गया। अब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाएँ भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं तक जा पहुँची। अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान पर नियन्त्रण रखना सरल हो गया। सिक्खों की पराजय के साथ ही भारत में उन्हें चुनौती देने वाली शक्ति का भी अन्त हो गया। अब अंग्रेजों को किसी भारतीय शक्ति से किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं रहा।

पंजाब-विलय के सम्बन्ध में डलहौजी की नीति के बारे में इतिहासकार एक मत नहीं है। उसकी नीति का समर्थन करते हुए कुछ लेखकों ने लिखा है कि लार्ड हार्डिंग ने यद्यपि पंजाब का शासन अल्पवयस्क दलीपसिंह के हितों को ध्यान में रखते हुए किया था परन्तु इससे सिक्ख सरदारों के स्वार्थों की पूर्ति न हो पाई और उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध कुचक्र रचने शुरू कर दिये। इतिहासकार हण्टर का मानना है कि ऐसी परिस्थितियों में पंजाब को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के अलावा अन्य कोई विकल्प न था। मोहम्मद लतीफ ने भी लिखा है कि सिक्ख दरबार के साथ अपने सम्बन्धों के बारे में भारत की ब्रिटिश सरकार ने पूर्ण सदाशयता तथा भद्रता से काम किया था और शुरू से ही गवर्ननर जनरल की नीति अनाक्रमक तथा किसी भी प्रकार की लालसा अथवा महत्वाकांक्षा से रहित थी। डलहौजी के समर्थक लेखकों का कहना है कि सिक्खों ने लाहौर और भेरोवाल की सन्धि का उल्लंघन किया था। डलहौजी ने भी कहा था कि सिक्खों ने सन्धि को तोड़ कर अंग्रेजों पर युद्ध थोप दिया था। उसका यह भी कहना था कि सिक्खों ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट के आदेश की अवज्ञा कर मुल्तान में अंग्रेज अधिकारियों की हत्याएँ की तथा समस्त सिक्ख जाति ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। सरदार छत्तरसिंह और उसके पुत्र राजा शेरसिंह ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया और अंग्रेजों को पंजाब से बाहर

निकालने का संकल्प लिया। ऐसी स्थिति में डलहौजी के पास अन्य कोई विकल्प न था क्योंकि हार्डिंग द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था असफल सिद्ध हो चुकी थी।

किन्तु इतिहास का कोई विद्यार्थी सम्पूर्ण घटना चक्र के अध्ययन के बाद डलहौजी की इस कार्यवाही को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता। यह तर्क कि सिक्ख सरदारों ने लाहौर तथा भैरोवाल की सन्धि का उल्लंघन किया, आधारहीन प्रतीत होता है क्योंकि लाहौर दरबार की समस्त सत्ता अंग्रेज रेजीडेन्ट के हाथों में केन्द्रित थी। पंजाब राज्य का सैनिक एवं असैनिक नियन्त्रण भी अंग्रेजों के हाथ में था। संरक्षक परिषद् के आठ सदस्यों में से केवल एक ने विद्रोह में सक्रिय भाग लिया था और एक अन्य सदस्य के बारे में सन्देह मात्र था। शेष 6 सदस्यों ने अंग्रेजों के प्रति पूर्ण वफादारी दिखलाई थी। 1847 ई. में स्वयं अंग्रेज रेजीडेन्ट ने लिखा था कि कुल मिलाकर दरबार से मुझे उतना सहयोग मिल रहा है जितना कि मैं उचित रूप से अपेक्षा करता हूँ। इतना ही नहीं, अंग्रेज रेजीडेन्ट की इच्छानुसार संरक्षक-परिषद् ने सरदार छत्तरसिंह को विद्रोही घोषित किया, अंग्रेजों से शान्ति स्थापना के लिए सहायता मांगी, सेनापति गफ का स्वागत किया और विद्रोह दबाने के लिए अपने सैनिकों की सेवाएँ भी प्रदान की। अंग्रेज सेना लाहौर दरबार की सहायता के लिए गई थी और विद्रोह को दबाने के तुरन्त बाद लाहौर दरबार को ही समाप्त करना किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नही माना जा सकता। जब सिक्ख सेना ने विद्रोह को दबाने में भाग लिया था तो पंजाब में उठने वाले विद्रोह को सम्पूर्ण सिक्खों का विद्रोह कैसे माना जा सकता है? इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पंजाब को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का आधार न तो कोई नैतिक आधार था और न ही सिक्ख सेना का विद्रोह। यह तो डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था।

इतिहासकार ट्राटर के मतानुसार लार्ड डलहौजी की यह नीति किसी सिद्धांत अथवा न्याय पर आधारित नहीं थी। प्रशासनिक अध्यक्ष होने के नाते ब्रिटिश रेजीडेन्ट क्यूरी का कर्तव्य था कि मुलतान के विद्रोह को दबाएं। क्यूरी ऐसा चाहता भी था, परन्तु लार्ड डलहौजी ने उसे बुरी तरह से डांट कर किसी प्रकार का सक्रिय कदम न उठाने का आदेश दिया। वस्तुतः डलहौजी इस विद्रोह को पूरे पंजाब में फैल जाने देना चाहता था। थार्नबर्न ने लिखा है कि भारत सरकार पंजाब रूपी फोड़े के पकने की प्रतीक्षा में थी ताकि उसकी आसानी के साथ चीराफाड़ी की जा सके। ट्राटर का मानना है कि अंग्रेजों ने सिक्ख अधिकारियों को भड़का कर फिर पंजाब विलय के लिए बहाना ढूंढ लिया। पंजाब का विलय भारत सरकार की एक सुनियोजित पूर्व योजना थी। मेजर इवेन्स ने भी लिखा है कि पंजाब का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाना पवित्र विश्वास का निर्लज्ज हनन था। महाराजा दलीपसिंह

का इस विद्रोह में कोई हाथ नहीं था। डलहौजी ने उसके समस्त अधिकार और उसका राज्य छीन कर कोई न्यायसंगत काम नहीं किया था।

सिक्खों की असफलता के कारण—महाराजा रणजीतसिंह ने जिस सिक्ख सेना का निर्माण किया था, उसने कई शानदार युद्ध जीते थे और वह अपने अनुशासन तथा प्रशासन के लिए भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। परन्तु अंग्रेजों के साथ लड़े गये युद्धों में वह बुरी तरह से असफल रही। उसकी असफलता के लिए विद्वानों ने कई कारणों को उत्तरदायी माना है। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार सिक्ख सेना की पराजय का एक प्रमुख कारण पश्चिमी पद्धति के आधार पर किया गया सैनिक संगठन था। क्योंकि सिक्ख सेना इस पद्धति के अन्तर्गत पूर्ण दक्षता प्राप्त न कर पाई। उसकी घुड़सवार सेना तो काफी कमजोर रही। तोपखाने में भी भारी तोपों की प्रधानता रही और पदाति सिक्ख सैनिक बन्दूकों का दक्षता के साथ प्रयोग करना नहीं सीख पाये। इसलिए उनकी पराजय हुई। परन्तु डॉ. फोजासिंह इस मत को नहीं मानते और वे इसे भ्रांतिपूर्ण तर्क बतलाते हैं। उनके हिसाब से पद्धति में कोई दोष नहीं था। दोष नेतृत्व का था। जहां तक सिक्ख सैनिकों के रणकौशल और पराक्रम का सवाल है, वे किसी से पीछे नहीं रहे और अंग्रेजों को आसानी से जीतने का अवसर नहीं दिया। स्वयं अंग्रेज लेखकों का मानना है कि भारत को जीतने में अंग्रेजों को जितना संघर्ष सिक्खों से करना पड़ा उतना अन्य किसी भारतीय सेना से नहीं करना पड़ा। कई बार तो अंग्रेज विजय की आशा छोड़कर युद्ध मैदान छोड़ने की योजना बनाने लग जाते थे।

इससे स्पष्ट है कि सिक्खों की पराजय का कारण उनके रणकौशल अथवा साहस की कमजोरी न था। उनकी पराजय का मुख्य कारण उनके सेनानायकों तथा राजनेताओं की गद्दारी थी। प्रथम सिक्ख युद्ध में लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह जैसे नेता एवं सेनानायक अपने स्वार्थों में इतने अंधे हो चुके थे कि उन्हें अंग्रेजों से सांठ-गांठ करके अपनी ही सेना को बलि का बकरा बनाने में लेशमात्र भी संकोच नहीं हुआ। उनकी गद्दारी के कारण सिक्ख सेना युद्ध से प्रारम्भिक लाभ का कभी उपयोग न कर पाई। नेताओं के अतिरिक्त, स्वयं रानी जिंदन भी सिक्ख सेना को हरवाना चाहती थी। सिक्ख तोपखाने में नियुक्त कैप्सटन गार्डनर भी अंग्रेजों से मिला हुआ था। ऐसी परिस्थितियों में सिक्ख सेना के सफल होने का सवाल ही नहीं उठता।

डॉ. एम. एस. जैन के मतानुसार सिक्ख सेना की पराजय का एक मूल कारण सिक्ख राज्य की आर्थिक दुर्बलता थी। 1839–45 की अवधि में सिक्ख सेना का तेजी के विस्तार किया गया। इससे राज्य दीवालिया हो गया। बाद में, जब राजनेताओं ने सेना की सहायता से सत्ता हथियाना शुरू किया तो सेना के नेताओं को अपने विषय में भ्रान्ति पैदा हो गई और उन्होंने अपना समर्थन अधिक से अधिक मूल्य देने वाले को

वेचना शुरू कर दिया। इससे सिक्ख सेनाध्यक्षों का नैतिक पतन हो गया जो सिक्ख सेना की पराजय का कारण वना।

द्वितीय सिक्ख युद्ध में अंग्रेजों की स्थिति आरम्भ से ही अच्छी थी। प्रथम युद्ध के वाद सिक्ख सेना को काफी सीमित कर दिया गया था। लाहौर दरवार तथा उसके अधीन सिक्ख सेना भी अंग्रेजों के साथ थी। अंग्रेज सेना पंजाव के अन्दर ही तैनात थी। सैनिक संख्या तथा अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से भी सिक्खों की स्थिति काफी कमजोर थी। अंग्रेजों ने पूरी तैयारी के बाद अचानक सिक्खों के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया था।

कुछ इतिहासकारों ने सिक्ख-डोगरा वैमनस्य को भी पराजय का एक कारण वतलाया है परन्तु इस मत में अधिक वजन नहीं है। क्योंकि सिक्ख सेना ने सिंधनवालिया सरदारों के विरुद्ध डोगरों का साथ दिया था। परन्तु वाद में अंग्रेज अधिकारियों ने जातीय तथा धार्मिक मतभेदों को उभार कर पूरा-पूरा लाभ उठाया। लार्ड डलहौजी की सुनियोजित भेदनीति ने सिक्खों का सर्वनाश कर दिया। उसने बहुत ही गोपनीयता के साथ अपनी योजना तैयार की और इंगलैंड की सरकार अथवा कम्पनी के संचालकों से निश्चित आदेश प्राप्त किये विना ही अपने व्यक्तिगत दायित्व पर पंजाव को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया।

अध्याय 8

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति का प्रसार

प्रोफेसर सीले, अल्फ्रेड लायल, ली वार्नर और शेख अली जैसे विद्वानों की मान्यता है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना एवं उसका विस्तार एक सुनिश्चित योजना का परिणाम न होकर संयोग की बात थी। इसके विपरीत अन्य विद्वानों का मत है कि यह संयोग की बात न होकर एक सुनिश्चित योजना का परिणाम था। दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण कहे जा सकते हैं। वस्तुतः आरम्भिक काल में साम्राज्य की स्थापना परिस्थितियों के संयोग से हुई थी परन्तु बाद में जिस साम्राज्यवादी नीति का पालन किया गया वह एक निश्चित योजना का अंग थी। इसे ठीक से समझने के लिए हमें कम्पनी के इतिहास को पुनः दोहराना पड़ेगा।

व्यापार से जमींदारी—1600 ई० में ब्रिटेन के कुछ व्यापारियों ने मिलकर पूर्वीय देशों के साथ व्यापार करने के लिए जिस व्यापारिक कम्पनी की स्थापना की थी, वह आजकल की व्यापारिक कम्पनियों की भांति न थी। उस युग में किसी भी कम्पनी के लिए बिना सैनिक शक्ति के विदेशी व्यापार करना सम्भव न था। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी अपने जहाजों तथा माल की सुरक्षा के लिए आरम्भ से ही सैन्यबल जुटाना पड़ा। कम्पनी के पहले जहाज को भारत आते ही पुर्तगालियों से टक्कर लेनी पड़ी और पुर्तगालियों को परास्त कर अपनी सैनिक श्रेष्ठता प्रमाणित करने से ही उन्हें भारत के पश्चिमी क्षेत्र में अपनी बस्तियां स्थापित करने की अनुमति प्राप्त हो सकी थी। उन दिनों में इन बस्तियों को "फैक्टरी" अथवा 'कारखाना' कहा जाता था। परन्तु इन कारखानों में मशीनें लगी हुई नहीं थी और न ही किसी प्रकार का उत्पादन का काम होता था। ये तो एक प्रकार से बड़े गोदाम के समान थी जिसमें यूरोप से आने वाले सामान तथा यूरोप को भेजे जाने वाले माल को एकत्र किया जाता था। इन बस्तियों की रक्षा स्वयं कम्पनी को करनी पड़ती थी जिसके लिए उसे सैनिक रखने पड़ते थे। जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता गया, बस्तियों का आकार भी बढ़ता गया और बस्तियों के आकार बढ़ने के साथ-

साथ उनकी सुरक्षा के लिए सैनिकों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। इस प्रकार, कम्पनी की सेना का संगठन शुरू हुआ।

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सबसे पहले सूरत को केन्द्र बना कर अपना व्यापार शुरू किया था परन्तु उसे प्रादेशिक लाभ सर्वप्रथम दक्षिण भारत में प्राप्त हुआ जबकि 1639 ई० में वांडिवश के हिन्दू राजा ने कम्पनी को वर्तमान मद्रास नगर का क्षेत्र प्रदान किया था। इस क्षेत्र पर कम्पनी को किला बनवाने की भी स्वीकृति दी गई और कम्पनी ने यहां फोर्ट सेंट जार्ज नामक प्रसिद्ध किला बनवाया। 1669 ई० में कम्पनी को अपने बादशाह चार्ल्स द्वितीय से बम्बई का क्षेत्र भी मिल गया। 1690 ई. में कम्पनी ने वर्तमान कलकत्ता में अपने पैर जमाये। 1693 ई. में कम्पनी को मद्रास के पास के तीन गांवों की जमींदारी भी मिल गई। 1696 ई० में कम्पनी को 12,000 रु० वार्षिक भुगतान के बदले में तीन गांवों—सुतनती, कलीकत्ता और गोविन्दपुर की जमींदारी मिल गई। इसकी सुरक्षा के लिए कम्पनी ने फोर्ट विलियम नामक किला बनवाया। 1717 ई० के एक शाही फरमान द्वारा कम्पनी को बंगाल के 24 परगनों का अधिकार मिल गया। द्वितीय कर्नाटक युद्ध के समय कम्पनी को तंजौर के राजा से देवीकोटाई और उसके निकट का 36,000 रु० वार्षिक आय का भू-भाग प्राप्त हुआ। 1757 ई० में प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी को इतना प्रादेशिक लाभ हो गया कि उसकी आय से वह अपनी सेना का खर्चा चला सके। 24 परगनों का क्षेत्र भी कम्पनी को जमींदारी के रूप में मिल गया। 1760 ई० में जब मीरजाफर के स्थान पर मीरकासिम को नवाब बनाया गया तो कम्पनी को बर्दवान, चिटगांव और मिदनापुर के जिले भी प्राप्त हो गये। इस प्रकार, कम्पनी एक बहुत बड़े भू-भाग की जमींदार बन चुकी थी। अब वह स्वतन्त्र शासकों की समानता में आ गई।

दीवानी की प्राप्ति : प्रशासनिक दायित्व—प्लासी की सफलता ने कम्पनी के लिए भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया और व्यापार की दिशा को भी बदल दिया। इसके पूर्व कम्पनी भारत से जो सामान खरीदती थी उसके लिए लगभग 75 प्रतिशत सोना-चांदी उसे इंगलैंड से लाना पड़ता था। परन्तु कुछ वर्षों बाद ही कम्पनी भारत से सोना-चांदी इकट्ठा करके इंगलैण्ड भेजने लगी। कम्पनी के प्रत्येक अधिकारी और कर्मचारी ने अवैधानिक उपायों से अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और जब मीर कासिम ने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया तो संघर्ष शुरू हो गया। परिणामस्वरूप 1764 ई० में बक्सर का युद्ध लड़ा गया जिसमें कम्पनी ने मीरकासिम, मुग़ल बादशाह शाह-आलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला को परास्त किया। युद्ध के बाद मुगल सम्राट शाह आलम और अवध के नवाब के साथ इलाहाबाद की जो संधि की गई उससे कम्पनी के राजनीतिक लक्ष्यों का स्पष्ट पता चल जाता है। बक्सर के युद्ध

ने अचानक कम्पनी के सामने इतने रास्ते खोल दिये थे और शक्ति के बढ़ने की इतनी सम्भावनाएं प्रस्तुत करदी थी कि कम्पनी के अधिकारियों को सही निर्णय लेने में काफी समय लगा। संयोग से कम्पनी को क्लाइव जैसे कूटनीतिज्ञ की सेवाएं पुनः प्राप्त हो गई और उसने प्रलोभन तथा महत्वाकांक्षा से दूर रह कर व्यावहारिक मार्ग अपनाया। मुगल बादशाह को कडा और इलाहाबाद के जिले देकर अवध में ही बने रहने को विवश किया गया। अवध के नवाब को कडा और इलाहाबाद के जिलों के अलावा शेष सम्पूर्ण अवध वापस लौटा दिया गया और मुगल बादशाह से कम्पनी के लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की गई। इससे स्पष्ट है कि कम्पनी अभी प्रत्यक्ष रूप से कोई शासनिक दायित्व नहीं लेना चाहती थी परन्तु वास्तविक सत्ता भी अपने हाथ में रखना चाहती थी। इसीलिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा में नाममात्र के नवाब को कायम रखा गया। दूसरी बात यह कि कम्पनी अभी अपनी सीमाओं का विस्तार करने के पक्ष में नहीं थी। वह बंगाल, बिहार और उडीसा में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहती थी। तीसरी बात, वह अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए अपने पड़ोस के राज्यों को प्रतिरोधक राज्य बनाना चाहती थी। अवध के साथ यही किया गया। अवध के नवाब से यह वचन लिया गया कि आवश्यकता पड़ने पर वह कम्पनी को निःशुल्क सैनिक सहायता देगा परन्तु यदि उसे स्वयं कम्पनी की सैनिक सहायता की आवश्यकता हुई तो उसे कम्पनी की सेना का खर्चा देना होगा।

अवध के साथ व्यवहार—प्लासी और बक्सर की सफलताओं ने कम्पनी को भारत की एक सैनिक राजनैतिक शक्ति बना दिया और अब उसे दूसरे भारतीय राज्यों के प्रति अपनी नीति निर्धारित करनी थी। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि कम्पनी अपने सीमित साधनों के कारण अपनी सीमाओं का विस्तार करने की अपेक्षा सीमाओं की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील थी। क्लाइव के बाद वारेन हेस्टिंग्स पहले गवर्नर और 1774 ई० में गवर्नर जनरल बनाया गया। कम्पनी के संचालकों ने उसे स्पष्ट निर्देश दिये थे कि वह भारतीय राज्यों के आपसी संघर्षों से दूर रहे और अपना ध्यान कम्पनी की सीमाओं की सुरक्षा तक ही सीमित रखे। कम्पनी के संचालक व्यापार में अधिक रुचि रखते थे परन्तु कम्पनी के अधिकारी शक्ति और सत्ता का उपभोग करना चाहते थे क्योंकि इसी मार्ग के द्वारा वे अपने भाग्य का निर्माण कर सकते थे। परिस्थितियों के संयोग से भी नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था।

इलाहाबाद की सन्धि के समय उत्तरी भारत को मराठों से अधिक भय नहीं था। परन्तु 1771 ई० में मराठों ने दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया था और शाह आलम भी मराठों की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुका था। 1772 ई० में मराठों ने रुहेलखंड को रौंद डाला। अतः अंग्रेजों को अवध और

बंगाल की सुरक्षा की चिन्ता लग गई। क्योंकि 1768 ई० में अंग्रेजों ने अवध के साथ एक नवीन सन्धि करके उसकी सेना की संख्या 35,000 निश्चित करदी थी। अब 1773 ई० में अवध के साथ एक और सन्धि की गई जिसके अन्तर्गत कडा और इलाहाबाद के जिले 50 लाख रुपये के बदले में पुनः अवध को सौंप दिये गये और रुहेलखंड पर आक्रमण करने के लिए अंग्रेजों ने अवध को सैनिक सहायता देना मंजूर किया। 1775 ई० में अवध के नये नवाब आसफुद्दौला के साथ एक और नवीन सन्धि की गई जिससे बनारस और उसके आसपास के क्षेत्र पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। इसी सन्धि के अनुसार नये नवाब को अंग्रेजी सेना के व्यय के लिये और अधिक राशि देना स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार, अवध के मित्र राज्य को अपनी सुरक्षा के लिए कम्पनी पर आश्रित हो जाना पड़ा। परन्तु आसफुद्दौला अंग्रेजी सेना का व्यय नहीं चुका पाया और अवध पर कम्पनी का कर्जा बढ़ कर डेढ़ करोड़ रुपया हो गया। कम्पनी तथा नवाब के दबाव के कारण आसफुद्दौला की मां तथा दादी ने एक बार 26 लाख और दूसरी बार 30 लाख रुपया नवाब को दिया और नवाब तथा कम्पनी से यह वचन भी लिया कि अब भविष्य में बेगमों को परेशान नहीं किया जायेगा।

चेतसिंह और अवध की बेगमों के साथ अमानवीय व्यवहार—जैसा कि बतलाया जा चुका है कि कम्पनी के संचालकों को भारत में और अधिक प्रादेशिक लाभ की इच्छा न थी क्योंकि निरन्तर युद्धों के कारण उन्हें आर्थिक लाभ नहीं मिल पा रहा था। परन्तु भारत स्थित कम्पनी के अधिकारियों ने उनके आदेश का सही अर्थों में पालन नहीं किया और अपनी साम्राज्यवादी नीति को आगे बढ़ाते रहे। इस पर कम्पनी के संचालकों ने उन्हें स्पष्ट आदेश दिये कि भारत में स्थित कम्पनी की सेना का खर्चा भारतीय शासकों तथा कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों की आय से ही पूरा किया जाय। वारेन हेस्टिंग्स की साम्राज्यवादी नीति के कारण कम्पनी को हैदरअली तथा मराठों के साथ संघर्ष में उलझ जाना पड़ा जिससे उसके सामने गंभीर आर्थिक समस्या उत्पन्न हो गई। अपनी आर्थिक कठिनाइयों को हल करने के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस के राजा चेतसिंह और अवध की बेगमों के साथ जो अमानवीय व्यवहार किया वैसा अन्यायपूर्ण उदाहरण बहुत कम देखने-सुनने में मिलता है।

1775 ई० तक बनारस अवध का एक करद राज्य था। इसी वर्ष कम्पनी ने अवध के साथ सन्धि करके बनारस तथा उसके आस-पास के प्रदेश को अपने प्रभाव में ले लिया और बनारस के राजा चेतसिंह के साथ भी एक सन्धि सम्पन्न की। इसके अनुसार चेतसिंह ने कम्पनी को $22\frac{1}{2}$ लाख रुपया वार्षिक खिराज देना स्वीकार किया। किन्तु सन्धि करते समय कम्पनी ने चेतसिंह को यह आश्वासन भी दिया था कि भविष्य में उससे $22\frac{1}{2}$ लाख वार्षिक से अधिक नहीं मांगा जायेगा।

सन्धि के कुछ महीनों बाद ही वारेन हेस्टिंग्स और चेतसिंह के सम्बन्ध बिगड़ गये क्योंकि हेस्टिंग्स को यह सन्देह हुआ कि चेतसिंह गवर्नर-जनरल की कौंसिल के उन सदस्यों से मिला हुआ है जो गवर्नर-जनरल के विरोधी थे। अतः हेस्टिंग्स ने चेतसिंह को परेशान करने का निश्चय कर लिया और 1778 ई० में उसने चेतसिंह से 5 लाख रुपये की अतिरिक्त मांग की। यह मांग सन्धि की शर्तों के विरुद्ध थी फिर भी चेतसिंह ने यह धन चुका दिया। 1779 ई० में पुनः 5 लाख रुपये की मांग की गई। चेतसिंह ने रुपया दे दिया। 1780 ई० में फिर 5 लाख रुपये की मांग की गई। इस बार चेतसिंह ने अपना प्रतिनिधि भेज कर गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि उसे इस अतिरिक्त धन की मांग से माफ किया जाय। इसके लिए उसने वारेन हेस्टिंग्स को अलग से दो लाख रुपये भी दिये। हेस्टिंग्स ने उस समय तो वचन दे दिया कि वह राजा से अन्य कोई मांग नहीं करेगा परन्तु शीघ्र ही उसने चेतसिंह को कम्पनी की सहायता के लिए 2,000 घुड़सवार सैनिक भेजने को कहा। चेतसिंह ने 500 से अधिक सैनिक भेजने में अपनी असमर्थता प्रगट की।

हेस्टिंग्स तो चेतसिंह को सबक सिखाने के लिए किसी बहाने की प्रतीक्षा में ही था। चेतसिंह द्वारा 2,000 सैनिक भेजने से मना करते ही वारेन हेस्टिंग्स स्वयं बनारस की तरफ चल पड़ा। स्वयं हेस्टिंग्स ने लिखा है कि "मैंने उसके अपराध का लाभ उठाकर कम्पनी की कठिनाई को दूर करने का रास्ता ढूंढा और उसे ऐसा दण्ड देना तय किया जिसे मैं दे सकता था।" इससे स्पष्ट है कि हेस्टिंग्स चेतसिंह को दंडित करने के विचार से ही चला था। यही कारण है कि जब बक्सर के निकट चेतसिंह ने हेस्टिंग्स से व्यक्तिगत रूप से क्षमायाचना चाही तो हेस्टिंग्स ने उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया और बनारस की तरफ आगे बढ़ता ही गया। बनारस पहुंचते ही उसने राजा चेतसिंह को बन्दी बना लिया। राजा के बन्दी बनाये जाने की जानकारी मिलते ही राजा की सेना तथा प्रजा बिगड़ उठी और उन्होंने अंग्रेजी सेना पर धावा बोल दिया जिसमें लगभग दो सौ ब्रिटिश सैनिक मारे गये। स्वयं हेस्टिंग्स को भाग कर चुनार में शरण लेनी पड़ी। चेतसिंह भी अपनी धन-सम्पत्ति के साथ भाग कर ग्वालियर चला गया। हेस्टिंग्स ने अपनी सेना को एकत्र करके बनारस पर आक्रमण किया और विद्रोहियों को परास्त किया। चेतसिंह को अपराधी करार देकर राजा के पद से हटा दिया गया और उसके भतीजे को बनारस का राजा बनाया गया जिसने 40 लाख रुपये वार्षिक खिराज देने का वचन दिया।

चेतसिंह के प्रति हेस्टिंग्स की नीति को किसी भी आधार पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता, यद्यपि स्मिथ और फोरेस्ट जैसे इतिहासकारों ने उसे बचाने का प्रयास किया है। इन विद्वानों का मानना है कि हेस्टिंग्स ने परिस्थितियों की गंभीरता के कारण ऐसा कदम उठाया था। परन्तु उनकी दलीलों में कोई वजन नहीं है। खिराज के अलावा बार-बार अतिरिक्त धन की मांग करना, सन्धि की

धाराओं के विरुद्ध घुड़सवारों की मांग करना, असमर्थता प्रकट करने पर सैनिक अभियान करना और राजा को उसकी राजधानी में बन्दी बनाना—ये सभी काम अन्यायपूर्ण थे। क्योंकि चेतसिंह ने सन्धि के विरुद्ध ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया था जिसके लिए उसे अपराधी ठहराया जा सके। ए. एम. डेविस ने हेस्टिंग्स की इस कार्यवाही को "अत्यधिक मूर्खतापूर्ण" बताया है। इससे हेस्टिंग्स को धन की प्राप्ति भी न हो सकी और कम्पनी के काले कारनामों में एक अध्याय और जुड़ गया। परन्तु कम्पनी के लोलुप साम्राज्यवादी अधिकारियों को अनुचित तथा दुर्भाग्यपूर्ण कार्यवाहियों से रत्ती भर शर्म अनुभव नहीं होती थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार कम्पनी के अधिकारियों की मनमानी के कारण ही सम्भव हो पाया था। उनके मनमाने कार्यों में साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की प्रधानता थी।

वारेन हेस्टिंग्स को जब बनारस से अपेक्षित धन नहीं मिला तो उसने कम्पनी के मित्र राज्य अवध से धन प्राप्त करने का प्रयास किया। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि हेस्टिंग्स अवध की बेगमों से अब तक 56 लाख रुपया वसूल कर चुका था और 1775 ई० में बेगमों को यह वचन भी दिया गया था कि भविष्य में उनसे किसी प्रकार के धन की मांग नहीं की जायेगी। परन्तु जब बनारस से हेस्टिंग्स को कुछ नहीं मिला तो उसने 1781 ई० में लखनऊ स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट तथा नवाब को बेगमों से धन वसूल करने के आदेश भिजवाये। अपने आदेश के औचित्य को सिद्ध करने के लिए हेस्टिंग्स ने बेगमों पर चेतसिंह को सहायता देने का झूठा आरोप लगाया। नवाब को साथ लेकर ब्रिटिश रेजीडेन्ट फैजाबाद जा पहुँचा जहां बेगमें रहती थी। बेगमों के महल को चारों तरफ से घेर लिया गया। उनके निजी एवं विश्वस्त नौकरों को घोर यातनाएं देकर बेगमों के धन की जानकारी प्राप्त की गई। स्वयं बेगमों को यातनाएं दी गई और उनसे बलपूर्वक धन वसूल किया गया और इस धन से कम्पनी के बकाये कर्जे को चुकाया गया। बेगमों के प्रति किया गया अमानवीय व्यवहार साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक और ज्वलन्त उदाहरण है।

अवध पर पूर्ण प्रभुत्व की स्थापना—1765 ई० में अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने एक स्वतन्त्र शासक की हैसियत से कम्पनी के साथ बराबर की सन्धि की थी परन्तु ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया अवध का नवाब बराबर की स्थिति से नीचे गिरता गया और कम्पनी का प्रभुत्व बढ़ता गया। अवध के नवाब की सहायता के लिए अंग्रेजी सेना रखी गई और इस सेना का सारा खर्चा अवध राज्य पर थोप दिया गया। नवाब समय पर खर्चा चुका नहीं पाता था और कम्पनी को बकाया राशि की ओट में मनचाहा हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता रहा। अब कम्पनी अवध के सम्पूर्ण प्रशासन को अपने हाथ में लेने की योजना बनाने लगी।

1775 ई० में अवध के नवाब आसफुद्दौला और कम्पनी के बीच फैजाबाद की जो सन्धि सम्पन्न हुई थी उसके अनुसार कम्पनी ने अवध की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और इस दायित्व को पूरा करने के लिए एक ब्रिगेड अंग्रेजी सेना को अवध में तैनात किया गया। नवाब ने अपने राज्य की सुरक्षा के बदले में बनारस, गाजीपुर और चुनार के जिले हमेशा के लिए कम्पनी को सौंप दिये जिससे कम्पनी की आय काफी बढ़ गई। अवध में जो एक ब्रिगेड रखी गई थी उसका सारा खर्चा भी नवाब पर थोप दिया गया। 1777 ई० में कम्पनी ने एक अस्थायी ब्रिगेड और रख दी और इसका सारा खर्चा भी नवाब से वसूल किया जाने लगा। ऐसा अनुमान है कि सुरक्षा के नाम पर अवध से लगभग 74 लाख रुपया वार्षिक वसूल किया जाने लगा। अवध का राज्य इस आर्थिक बोझ का भार न उठा सका और उसकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। 1787 ई० में जब लार्ड कार्नवालिस गवर्नर जनरल बन कर भारत आया तो नवाब आसफुद्दौला ने उससे अस्थायी ब्रिगेड को हटा लेने की प्रार्थना की। कार्नवालिस ने अवध में तैनात ब्रिटिश सेना की संख्या में कमी करना स्वीकार नहीं किया परन्तु उसने सैनिक खर्च को घटाकर 50 लाख रुपया वार्षिक कर दिया। इससे नवाब को थोड़ी राहत मिली।

1794 ई० में गवर्नर-जनरल सर जान शोर ने नवाब आसफुद्दौला के सामने प्रस्ताव रखा कि अवध द्वारा कम्पनी को दिये जाने वाले खिराज को नियमित रूप से चुकाने के लिए नवाब गंगा-यमुना दोआब तथा गोरखपुर जिले का लगान और इलाहाबाद का दुर्ग कम्पनी को सौंप दे। शोर ने लखनऊ स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट को भी कहा कि वह नवाब के साथ इस मामले को आगे बढ़ाये। लेकिन नवाब के कुछ मंत्री इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। 1797 ई० में शोर स्वयं लखनऊ गया। उसने नवाब को अपने मंत्री बदलने के लिए विवश किया और नवाब को संतुष्ट करने के लिए मौजूदा ब्रिटिश रेजीडेन्ट चैरी को लखनऊ से हटा दिया। इस प्रकार, अवध के शासन में कम्पनी का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप आरम्भ हो गया और वह भी एक ऐसे गवर्नर जनरल के द्वारा जिसका नाम "अहस्तक्षेप की नीति" के साथ जुड़ा हुआ है।

सितम्बर 1797 ई० में आसफुद्दौला की मृत्यु हो गई। उसी दिन आसफुद्दौला की मां, प्रमुख अमीरों और ब्रिटिश रेजीडेन्ट ने मिलकर वजीरअली को नवाब घोषित कर दिया। वजीरअली नवाब आसफुद्दौला का दत्तक पुत्र था और उसका जन्म एक निम्न जाति में हुआ था। आसफुद्दौला की मृत्यु के बाद उसके भाई सादतअली ने अवध की नवाबी के लिए अपना दावा पेश किया। अवध राजघराने के बहुत से सदस्यों ने भी उसका समर्थन किया। सादतअली ने कम्पनी को यह विश्वास भी दिलाया कि वह कम्पनी के साथ मृत नवाब द्वारा किये गये सभी वायदों को पूरा करने को तैयार है। इसी समय कम्पनी के संचालकों ने जान शोर को लखनऊ में ब्रिटिश सेना की संख्या में वृद्धि करने तथा इलाहबाद दुर्ग को कम्पनी के

नियंत्रण में लेने के आदेश भिजवाये। अतः जॉन शोर को स्वयं लखनऊ जाना पड़ा। लखनऊ पहुँच कर उसने वजीरअली के जन्म और वंश के सम्बन्ध में जांच पड़ताल की और उसके आधार पर वजीरअली को एक फर्राश का पुत्र घोषित किया गया तथा उसे अवध की नवाबी से हटा दिया गया। उसके स्थान पर फरवरी 1798 ई. में सादतअली को अवध का नवाब बनाया गया। इस प्रकार, कम्पनी ने अपनी शक्ति के माध्यम से खुले तौर पर अवध के उत्तराधिकार के मामले में हस्तक्षेप किया। परन्तु इससे कम्पनी की तुलना में अवध के नवाब की स्थिति बहुत कमजोर हो गई।

अवध के नये नवाब सादातअली को फरवरी, 1798 ई० में कम्पनी के साथ एक नई सन्धि सम्पन्न करनी पड़ी जिसके अनुसार उसने कम्पनी को सैनिक खर्च के रूप में 75 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया और यह भी तय किया गया कि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर इस राशि में और भी वृद्धि की जा सकेगी। अवध की सुरक्षा का दायित्व अब कम्पनी ने संभाल लिया और नये नवाब को अपनी सेना में और कमी करने का वचन देना पड़ा। इसके अतिरिक्त, इलाहाबाद का किला भी कम्पनी को सौंप दिया गया और इलाहाबाद में अंग्रेजी सेना का रखा जाना तय किया गया। इस प्रकार, ज़ान शोर के हस्तक्षेप से अवध राज्य में कम्पनी की स्थिति काफी मजबूत हो गई परन्तु जन कल्याण अथवा प्रशासनिक सुधार की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया जिससे अवध राज्य की आर्थिक स्थिति शोचनीय होती गई और जनता पर करों का बोझा बढ़ता गया।

मई, 1798 ई. में लार्ड वेलेजली नया गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। वह पक्का साम्राज्यवादी था और उसकी नीति अवध के अधिकांश भू-भाग को कम्पनी के सीधे अधिकार में लेने की थी। इसके लिए वह अवध में अंग्रेजी सेना की संख्या में और अधिक वृद्धि करना चाहता था। सेना बढ़ाने के लिए पहले तो उसने अफगानिस्तान के जमानशाह के संभावित आक्रमण का बहाना लिया और इसी के साथ मैसूर के टीपू सुल्तान और जमानाशाह के गठबंधन से उत्पन्न संभावित खतरे को भी जोड़ दिया गया। परन्तु यह केवल बहाना मात्र ही था। वास्तविक सत्य दूसरा था। जमानशाह ने जनवरी, 1799 ई० के बाद कभी भारत पर आक्रमण करने का विचार नहीं किया और 1800 ई. में उसे सिंहासन से ही हटा दिया गया था। इस समय तक टीपू सुल्तान भी समाप्त हो चुका था। इसलिए अवध के नवाब पर जमानशाह-टीपू सुल्तान के संभावित आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने वेलेजली की बात को स्वीकार नहीं किया। वेलेजली को वास्तविक खतरा मराठों से था और मराठों के विरुद्ध अवध की सुरक्षा तथा मराठों पर प्रत्याक्रमण करने की दृष्टि से वह अवध के दोआब क्षेत्र को कम्पनी के अधिकार में लेना चाहता था। इसके अलावा वेलेजली अवध में अंग्रेजी सेना को बढ़ा कर अवध के भिन्न-भिन्न भागों में अंग्रेजी सेना को तैनात करना चाहता था। नवाब

सादात अली को अंग्रेजी सेना के बढ़ाये जाने में तो आपत्ति नहीं थी परन्तु बढ़ाई जाने वाली सेना का खर्च चुकाने में गंभीर आपत्ति थी। क्योंकि उसने पहले ही अंग्रेजी सेना के खर्चे के लिए 50 लाख के स्थान पर 75 लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया था। अब और खर्चा देना सम्भव न था। परन्तु लार्ड वेलेजली ने यह दलील दी कि चूंकि अवध की सुरक्षा का दायित्व कम्पनी का है अतः सेना को बढ़ाना या घटाना कम्पनी के अधिकार की बात है। वेलेजली ने नवाब को सुझाव दिया कि वह अपनी सेना को भंग करदे और इससे जो बचत हो उससे बढ़ाई जाने वाली अंग्रेजी सेना का अतिरिक्त खर्चा पूरा करे। नवाब ने प्रत्युत्तर में कहा कि इससे राज्य में असन्तोष फैल जायेगा, अवध की बची हुई सेना में अनुशासन नहीं रह पायेगा और उसकी स्वयं की इज्जत कम हो जायेगी। परन्तु वेलेजली नवाब के किसी भी अनुरोध को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसने अवध से अंग्रेजी संरक्षण को ही समाप्त करने की धमकी दी। अन्त में, नवाब के विरोध की चिन्ता न करते हुए वेलेजली ने अवध में और अंग्रेजी सेना भेज दी तथा नवाब को इस अतिरिक्त सेना का खर्च देने का आदेश दिया गया।

वेलेजली को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। अब उसने नवाब के सामने दो प्रस्ताव रखे। पहला, नवाब अपना सम्पूर्ण राज्य कम्पनी को सौंप दे और नाममात्र का शासक बना रहना स्वीकार करले और दूसरा सम्पूर्ण अंग्रेजी सेना का खर्चा चुकाने योग्य अवध का भू-भाग कम्पनी को सौंप दे। नवाब को दोनों प्रस्ताव स्वीकार्य न थे। परन्तु वेलेजली नवाब की विवशता का पूरा लाभ उठाना चाहता था। अन्त में उसने नवाब को सन्धि करने के लिए विवश कर ही दिया। 1801 ई. में नवाब ने जो सन्धि की उसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थी —

(1) नवाब ने गोरखपुर, इलाहाबाद, कानपुर, फर्रूखाबाद, इटावा, बरेली और मुरादाबाद के जिले जिनकी आय एक करोड़ रुपया वार्षिक थी, स्थायी रूप से कम्पनी को सौंप दिये।

(2) नवाब ने अवध की सेना के अधिकांश भाग को भंग करने का वचन दिया।

(3) कम्पनी को अवध के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी सेना तैनात करने का अधिकार मिल गया।

अवध के प्रति वेलेजली की दबाव एवं धमकी से युक्त अन्यायपूर्ण नीति की अधिकांश लेखकों ने कटु आलोचना की है। अवध कम्पनी का मित्र राज्य था और उसके सभी शासकों ने कम्पनी के विरुद्ध कभी कोई काम नहीं किया। फिर भी, उसके राज्य में सेना की संख्या बढ़ाते रहना और बढ़ाई जाने वाली सेना के लिए अतिरिक्त धन राशि की मांग करना और इसकी ओट में अवध के भू-भागों पर बलपूर्वक अधिकार करना, अवध के साथ की गई सन्धियों का खुला उल्लंघन था। इससे अवध का

लगभग आधा राज्य कम्पनी के अधिकार में चला गया और अवध की अपनी सेना लगभग समाप्त हो गई और अब अवध पूरी तरह से कम्पनी पर आश्रित हो गया। अवध के शेष भाग पर भी नवाब को कम्पनी की सलाहनुसार शासन चलाने के लिए विवश होना पड़ा।

साम्राज्यवादी नीति का स्वरूप—भारत के राजाओं तथा नवाबों के साथ आरम्भ में कम्पनी ने जिस नीति की शुरूआत की थी उसे ली वार्नर ने "रिंग फेंस" के नाम से पुकारा है। उसके मतानुसार 1765 ई. से 1813 ई. तक कम्पनी ने इसी नीति का पालन किया। रिंग फेंस नीति का मुख्य अभिप्राय अपने सीमित क्षेत्र को सुरक्षित रखना और इसी ध्येय से अपने सीमित क्षेत्र के आस-पास वाले भारतीय राज्यों से मैत्री करना है। वस्तुतः आरम्भ में कम्पनी भारत में अपना राज्य बढ़ाने में अधिक रुचि नहीं रखती थी और व्यापार पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया था। अपने पड़ौसी राज्यों को अपने प्रभाव में लाने के लिए कम्पनी ने जो मार्ग अपनाया वह साम्राज्यवादी नीति का ही अंश था। कम्पनी ने अपने पड़ौसी राज्यों को अन्य शक्तियों के आक्रमण का भय दिखाकर पहले तो उन्हें भयभीत बनाया और फिर अनुकूल शर्तों पर उन्हें अपनी सैनिक सहायता का आश्वासन देकर उन्हें अपने पर निर्भर बना दिया। इसके बाद कम्पनी ने पड़ौसी राज्यों की विदेश नीति पर नियंत्रण स्थापित किया और फिर उनके राज्यों में उनकी सुरक्षा के नाम पर अपनी सेनाएं रखनी शुरू की। इस प्रकार तैनात की जाने वाली अंग्रेजी सेनाओं का सारा खर्चा उन राज्यों पर थोपा जाने लगा जिससे उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई और उन राज्यों को विवश होकर अपनी सेना में भारी कमी करनी पड़ी। इसका परिणाम यह निकला कि ये राज्य अब पूरी तरह से कम्पनी पर आश्रित हो गये। इसके बाद कम्पनी ने उन राज्यों में अपनी सेना की संख्या में वृद्धि करना शुरू कर दिया और इसके लिए राज्यों से अतिरिक्त धन की मांग की गई। जब राज्य अतिरिक्त धन नहीं चुका पाये तो कम्पनी ने सैनिक खर्च के बदले में उन राज्यों के भू-भागों को स्थायी रूप से अपने अधिकार में लेना शुरू कर दिया और राज्यों के आंतरिक शासन प्रबन्ध पर भी अपना नियंत्रण बढ़ाना शुरू कर दिया। इसी नीति को मोटे तौर पर "सहायक सन्धि" प्रथा के नाम से पुकारा जाता है।

वेलेजली की सहायक सन्धि प्रथा—कम्पनी ने भारत के शासकों के साथ आरम्भ से ही जिस नीति को अपनाया वह सहायक संधि प्रथा ही थी परन्तु लार्ड वेलेजली का नाम इस नीति के साथ विशेष रूप से जुड़ा हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि वेलेजली ने इस नीति की न केवल स्पष्ट व्याख्या ही की अपितु इसे सक्रिय रूप से लागू भी किया। वेलेजली भारत में कम्पनी के राज्य विस्तार तथा कम्पनी को भारत की एक सर्वोच्च शक्ति बनाने का दृढ़ संकल्प लेकर आया था। इसकी प्राप्ति के लिए भारतीय राज्यों पर कम्पनी के आधिपत्य को स्पष्ट रूप

से स्थापित करना आवश्यक था। इसके लिए उसने सहायक सन्धि प्रथा को अपनाया तथा भारतीय राज्यों के साथ सहायक संधियाँ करके उन पर कम्पनी का प्रभाव बढ़ाया। प्रोफेसर जगन्नाथप्रसाद मिश्र ने सहायक संधि प्रथा की तुलना एक मकड़ी के जाले से की है। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार मकड़ी के जाले में फंसने के बाद कोई भी कीड़ा बाहर नहीं निकल पाता है, उसी प्रकार जो भारतीय राज्य सहायक संधि के जाल में एक बार फँसा वह कभी भी उससे बाहर नहीं निकल सका। जाले में बैठी हुई मकड़ी जैसे अपने जाल में फँसे शिकार को सुविधानुसार कभी भी दबोच सकती है उसी प्रकार कम्पनी ने भी जब आवश्यक समझा, भारतीय राज्य पर फंदा कड़ा कर दिया।" अवध के साथ कम्पनी के सम्बन्ध इस नीति को स्पष्ट कर देते हैं।

इतिहासकार अल्फ्रेड लायल के अनुसार 1765 से 1801 के मध्य चार चरणों में सहायक संधि व्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ। पहले चरण में कम्पनी अपने किसी भी मित्र भारतीय शासक को आवश्यकता होने पर सैनिक सहायता देती थी और उसके बदले में उससे एक निश्चित धन राशि प्राप्त कर लेती थी। ऐसी संधियां 1765 ई. में अवध के साथ और 1768 ई. में हैदराबाद निजाम के साथ की गई थी। दूसरे चरण में कम्पनी ने संधि करने वाले भारतीय शासक की सुरक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखने का आश्वासन दिया और इसके लिए वह उस भारतीय शासक से वार्षिक धन लेती थी। कम्पनी की इस सेना को मित्र राज्य की सीमा में नहीं रखा जाता था अपितु कम्पनी की राज्य सीमा में ही रखा जाता था। 1773 ई. में अवध के साथ की गई सन्धि इसी प्रकार की थी। तीसरी स्थिति में कम्पनी ने अपनी सेना को उस राज्य (जिसकी सुरक्षा का दायित्व उसने लिया हो) की सीमा में ही तैनात करना शुरू कर दिया। 1798 ई. में हैदराबाद के साथ इसी प्रकार की संधि की गई थी। चौथा और अन्तिम चरण वेलेजली के समय में उठाया गया जबकि संबंधित भारतीय राज्य से सैनिक खर्च के लिए निश्चित धन के स्थान पर उस राज्य की भूमि का एक निश्चित भाग स्थायी रूप से कम्पनी ने अपने अधिकार में लेना शुरू कर दिया।

परन्तु वेलेजली की सहायक संधि उपर्युक्त व्यवस्था से थोड़ी भिन्न थी। उसके पूर्व की गई सन्धियों के समय कम्पनी का उद्देश्य सीमित था। वह कम से कम खर्च में अपने अधिकृत क्षेत्रों की सुरक्षा का आसान उपाय खोज रही थी। इस लिए उसने संधि करने वाले भारतीय शासकों की स्वतन्त्रता तथा उनकी सत्ता को कम करने का प्रयास नहीं किया। लेकिन वेलेजली का उद्देश्य भारतीय शासकों पर कम्पनी के आधिपत्य को थोपना था और उनकी शासन व्यवस्था को भी कम्पनी के नियन्त्रण में लाना था।

सहायक संधि की शर्तें—वेलेजली ने जिन शासकों के साथ सहायक संधियां

की थी उन सभी की अधिकांश शर्तें एक जैसी ही है। पहली सामान्य शर्त शासक और कम्पनी के हित, नीति और प्रतिष्ठा के मामले में समानता का आश्वासन और एक-दूसरे की सीमाओं की सुरक्षा तथा मित्रों और आश्रितों की सुरक्षा के बारे में है। इससे प्रतीत होता है कि यह कम्पनी और संबंधित राज्य के बीच एक सुरक्षात्मक संधि थी।

दूसरी शर्त के अन्तर्गत भारतीय शासक को यह स्वीकार करना पड़ता था कि वह कम्पनी की पूर्व स्वीकृति लेकर अन्य राज्यों के साथ अपने वैदेशिक सम्बन्ध तय करेगा। अर्थात् कम्पनी को संधि करने वाले भारतीय राज्य की विदेश नीति का नियन्त्रण प्राप्त हो गया।

तीसरी शर्त के अनुसार कम्पनी ने संधि करने वाले भारतीय राज्य की बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

चौथी शर्त के अन्तर्गत संबंधित राज्य को कम्पनी के एक राजनीतिक प्रतिनिधि (जिसे रेजीडेन्ट और एजेन्ट कहा जाता था) को अपने यहां रखने की स्वीकृति देनी पड़ती थी। यह अंग्रेज अधिकारी सामान्यतः राजधानी के निकट ही रहता था और कम्पनी तथा संबंधित राज्य के मध्य सम्बन्ध उसी के द्वारा होते थे। अंग्रेज रेजीडेन्ट संबंधित राज्य की शासन व्यवस्था पर भी पूरा ध्यान रखते थे।

एक अन्य शर्त के द्वारा संबंधित भारतीय शासक को यह वचन देना पड़ता था कि वह कम्पनी की पूर्व अनुमति के बिना किसी भी यूरोपियन, अमरीकन अथवा कम्पनी के शत्रु राज्य के व्यक्ति को अपनी सेवा में नहीं रखेगा। अन्तिम शर्त में कम्पनी की तरफ से यह आश्वासन दिया गया कि वह सम्बन्धित शासक के आंतरिक शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी।

सहायक संधि प्रथा से लाभ और हानियाँ—वेलेजली ने कम्पनी का प्रभाव एवं प्रतिष्ठा बढ़ाने की दृष्टि से सहायक संधि प्रथा को कारगर ढंग से लागू किया था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस व्यवस्था से कम्पनी को लाभ पहुंचे। वस्तुतः इस व्यवस्था के लाभ और हानियां एक पक्षीय रहे। कम्पनी को लाभ ही लाभ मिला जबकि संधि करने वाले भारतीय राज्यों को हानि ही हानि उठानी पड़ी।

लाभ—(1) 19 वीं सदी के प्रथम दशक में कम्पनी को नेपोलियन के बढ़ते हुए प्रभाव से गंभीर खतरा लगने लगा था। उसे यह भय था कि कहीं नेपोलियन भारत पर आक्रमण न करदे। इस संभावित आक्रमण का सामना करने के लिए कम्पनी ने अपनी सैनिक शक्ति का बढ़ाने का फैसला किया। परन्तु इस सम्बन्ध में उसने बड़ी चतुराई से काम किया। उसकी सेना में वृद्धि भी हो जाय और उसे कुछ खर्च भी न करना पड़े—इसी ध्येय से सहायक संधि व्यवस्था लागू की गई। अतः सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि अब कम्पनी की सेना में आशातीत वृद्धि हो गई। कम्पनी ने सन्धि करने वाले राज्यों में उन्हीं के खर्च पर अपनी सेनाएँ रखनी

शुरू कर दी। स्वयं वेलेजली ने कहा था कि 22,000 सेना को कम्पनी की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव डाले बिना किसी भी भारतीय राज्य के विरुद्ध लड़ने के लिए भेजा जा सकता था। इतना ही नहीं, अपितु उस सेना का उपयोग उसी राज्य के विरुद्ध भी किया जा सकता था। इससे पूर्व कम्पनी की सेना अपनी ही सीमा में रहती थी और भारत जैसे विशाल देश में अंग्रेजी सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सहायक संधि व्यवस्था ने कम्पनी की इस कठिनाई को दूर कर दिया क्योंकि अब कम्पनी की सेनाएं संधि करने वाले राज्यों में भी तैनात थी जहां से आसानी से निकटवर्ती स्थानों की ओर बढ़ सकती थी।

(2) इसीलिए यह कहा जाता है कि सहायक संधि व्यवस्था से कम्पनी की सैनिक सीमाएें उसकी राजनीतिक सीमा से भी आगे बढ़ गई। 1800 ई. तक कम्पनी की राजनीतिक सीमा बिहार तक ही सीमित थी परन्तु उसकी सैनिक सीमा रूहेलखंड तथा अवध तक विस्तृत थी। अर्थात् युद्ध की स्थिति में कम्पनी का अपना राज्य काफी सुरक्षित रह जाता था।

(3) सहायक संधियों से कम्पनी को अपना साम्राज्य बढ़ाने का भी अवसर मिला। हैदराबाद के साथ सहायक संधि हो जाने के बाद कम्पनी के लिए मैसूर राज्य के बहुत बड़े भू-भाग पर अधिकार जमाना संभव हो गया। इसी प्रकार, अवध के साथ सम्पन्न संधि से उसे रूहेलखंड, आगरा तथा दिल्ली पर अधिकार जमाने में महत्वपूर्ण सहयोग मिला। जिन राज्यों के साथ संधियाँ की गई थी उनसे भी सैनिक व्यय के नाम पर विस्तृत भू-भाग स्थायी रूप से कम्पनी ने अपने अधिकार में ले लिये थे। इससे कम्पनी का राज्य बढ़ता गया।

(4) सहायक संधियों से संधि करने वाले राज्यों की विदेश नीति पर कम्पनी का नियंत्रण स्थापित हो गया। अब ये राज्य एक-दूसरे से सीधा सम्पर्क नहीं कर सकते थे। अतः कम्पनी के लिए इन भारतीय शासकों को एक-दूसरे से अलग करने का अवसर मिल गया और बाद में कम्पनी को एक-एक करके अपने सभी विरोधी भारतीय शासकों को समाप्त करने अथवा दबाने की सुविधा प्राप्त हो गई।

(5) कम्पनी को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब भारतीय राज्यों में फ्रांसीसियों के प्रभाव बढ़ने की आशंका समाप्त हो गई। अन्यथा इसके पूर्व कई शासकों ने अपनी सेनाओं को पाश्चात्य ढंग से प्रशिक्षित एवं संगठित करने के लिए फ्रांसीसी अधिकारियों को नियुक्त कर रखा था और उनकी सेनाओं की रणकुशलता भी बढ़ गई थी जिससे कम्पनी को हमेशा चिन्ता लगी रहती थी। सहायक संधियों के परिणामस्वरूप अब फ्रांसीसियों को भारतीय राज्यों में सेवा करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता था। इससे भारतीय राज्यों में फ्रांसीसी प्रभाव पूरी तरह से समाप्त हो गया।

हानियाँ—(1) सहायक संधि व्यवस्था से भारतीय राज्यों को सबसे बड़ी हानि आर्थिक दृष्टि से उठानी पड़ी। कम्पनी भारतीय राज्य में उसकी सहायता के लिए जो सेना रखती थी उसका खर्चा बहुत अधिक होता था। यह खर्चा कम्पनी के अधीन अंग्रेजी सेना के खर्चे से भी अधिक होता था। ड्यूक आफ वेलिंगटन ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा था कि राज्यों में नियुक्त सहायक सेना के अंग्रेज अधिकारियों एवं सैनिकों का खर्चा बहुत अधिक था। भारतीय राज्य इस खर्चे का बोझ नहीं उठा पाये और उन्हें अपनी सेना में कमी करनी पड़ी तथा जनता पर करों का बोझ बढ़ाना पड़ा।

(2) कम्पनी का वास्तविक उद्देश्य भारतीय राज्यों की सैनिक शक्ति को कम करना था। उसका मानना था कि फ्रांसीसियों की देखरेख में भारतीय राज्यों की सेनाएँ अनुशासित हो जायेगी और वे राज्यों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। परन्तु यदि राज्यों में अंग्रेज सेना रखी जायेगी तो एक तरफ तो राज्यों को अपनी सैनिक शक्ति कम करनी पड़ेगी और दूसरी तरफ कम्पनी के साथ होने वाले भावी संघर्ष में वह सेना राज्य के स्थान पर कम्पनी की सहायक सिद्ध होगी। वस्तुतः अंग्रेजी सेना को रखने से भारतीय राज्यों को सैनिक दृष्टि से कम्पनी पर निर्भर हो जाना पड़ा।

(3) जब भारतीय राज्य अंग्रेजी सेना का व्यय समय पर अदा नहीं कर पाये तो कम्पनी उनके सबसे अधिक उपजाऊ और सम्पन्न प्रदेशों को स्थायी रूप से अपने अधिकार में ले लेती थी। इससे एक तरफ तो राज्यों के अधिकार क्षेत्र में कमी होती गई और दूसरी तरफ उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। उनकी आय इतनी घट गई कि शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाना भी संभव न रहा। इससे राज्यों में कुशासन फैल गया और कम्पनी ने कुशासन की ओट में राज्यों के आंतरिक मामलों में मनमाने ढंग से हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। मजे की बात तो यह थी कि राज्यों को यह पूछने का भी अधिकार नहीं था कि इतना खर्चा क्यों और किस प्रकार किया जा रहा है। उन्हें तो कम्पनी द्वारा प्रस्तुत खर्चे का भुगतान करना ही पड़ता। खर्चा चाहे उचित रहा हो अथवा अनुचित।

(4) सहायक सन्धि व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय राज्यों को अपने यहां कम्पनी का रेजीडेन्ट नामक राजनीतिक अधिकारी रखने के लिए सहमत होना पड़ा था। ये रेजीडेन्ट राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की ओट में शासकों को निरन्तर सलाह देने लगे और धीरे-धीरे राज्यों के आंतरिक मामलों में भी हस्त-क्षेप करने लगे। परिणाम यह निकला कि भारतीय शासकों ने शासन कार्य में रुचि लेना बन्द कर दिया और उनके मंत्रियों ने अब रेजीडेन्ट के इशारों पर शासन चलाना शुरू कर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय शासकों को शासन कार्यों से दूर रखने में रेजीडेन्टों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

(5) सहायक संधि व्यवस्था ने भारतीय शासकों को आंतरिक विद्रोह अथवा बाह्य आक्रमण की चिन्ता से मुक्त कर दिया और अब उन्हें इस दिशा में कुछ भी करने की आवश्यकता न रही। रेजीडेन्टों के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण वे प्रशासनिक कार्यों के प्रति भी उदासीन हो गये। जब कुछ भी करने को न रहा तो भारतीय शासक आलस्य और विलासिता में डूबते गये और कम्पनी ने अपने हितों की दृष्टि से ऐसे विलासी एवं अकर्मण्य शासकों को अपना समर्थन जारी रखा। टामस मुनरो ने ठीक ही लिखा है कि, "इन राज्यों ने स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय चरित्र का त्याग करके अपनी सुरक्षा खरीदी थी।" भारतीय शासकों की विलासिता, अकर्मण्यता तथा अयोग्यता के कारण उनके राज्य धीरे-धीरे पिछड़ते गये।

(6) सहायक संधि व्यवस्था ने राज्य की जनता को एक विलासी, अकर्मण्य तथा अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पदच्युत करने के अधिकार से भी वंचित कर दिया क्योंकि अब कम्पनी उसकी समर्थक बन चुकी थी। इसी प्रकार इस संधि व्यवस्था ने स्थानीय लोगों को अपने ही राज्य के प्रशासन में भाग लेने से पूर्णतया वंचित कर दिया। परिणामस्वरूप शासकों का ही पतन नहीं हुआ अपितु भारतीय राज्यों की जनता का मनोबल भी गिर गया।

सहायक संधियाँ—वेलेजली ने अपने समय में जिन भारतीय राज्यों के साथ सहायक संधियां कीं, वे इस प्रकार हैं—(1) हैदराबाद (निजाम) राज्य के साथ 1798 और 1800 ई. की संधियां, (2) मैसूर राज्य के साथ 1799 की संधि, (3) अवध राज्य के साथ 1801 की संधि, (4) पेशवा के साथ दिसम्बर, 1802 की संधि, (5) बरार राज्य के साथ 1803 की संधि और (6) सिन्धिया के साथ 1803 ई. की संधि।

भारतीय शासकों ने कम्पनी के दबाव के कारण अथवा युद्ध में परास्त हो जाने से विवश होकर सहायक संधियों को स्वीकार किया था। उस समय वे इन संधियों के दूरगामी परिणामों का सही अनुमान न लगा सके और जब उन्हें वस्तु-स्थिति का ज्ञान हुआ तब तक काफी देर हो चुकी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेलेजली ने इन संधियों के माध्यम से कम्पनी के राज्य का विस्तार किया, उसके प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि की और शासकों की सैनिक शक्ति को समाप्त करके कम्पनी की सैनिक शक्ति को प्रतिष्ठित किया। यूरोप में नेपोलियन बोनापार्ट के पतन के बाद भारत में कम्पनी के अधिकारियों को इन संधियों की धाराओं का उल्लंघन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं रहा। लार्ड हेस्टिंग्स वेलेजली से भी आगे बढ़ गया और उसने कम्पनी की सत्ता को भारत में सर्वशक्तिशाली बनाने का निश्चय किया। उसने भारतीय शासकों को आवश्यकता के समय कम्पनी को अपनी पूर्ण सामर्थ्य-नुसार सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया। इससे भारतीय शासक मध्ययुगीन सामन्तों की श्रेणी में आ गये।

राजपूत राज्यों के साथ संधियां—अपनी शूरवीरता तथा रणकौशल के लिए विख्यात राजपूत राज्यों द्वारा बिना लड़े ही कम्पनी का संरक्षण स्वीकार कर लेना आधुनिक भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण आश्चर्यजनक घटना मानी जाती है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्यामलदास और डा. एम. एस. मेहता आदि विद्वानों की मान्यता है कि राजपूत राज्यों ने मराठों तथा पिंडारियों के आक्रमणों तथा लूट-खसोटों से उत्पन्न परिणामों से विवश होकर कम्पनी का संरक्षण स्वीकार किया था। मिल और विल्सन, मालकम, कर्नल टॉड आदि विद्वान भी उनके कथन की पुष्टि करते हैं। किन्तु इस प्रकार की मान्यता तथ्यों के विपरीत है।

मुगल सत्ता के संरक्षण काल में राजपूत शासक अपने सामन्तों पर निरंकुश नियंत्रण स्थापित करने में कामयाब रहे थे। क्योंकि मुगलकाल में राजपूत राज्यों की "कुल" पर आधारित संगठन व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और राजपद पर शासक का अधिकार मुगल सम्राट की कृपा पर निर्भर हो गया था। परन्तु मुगलों की केन्द्रीय शक्ति के पतन के पश्चात राजाओं को पुनः अपने सामन्तों के विरोध का सामना करना पड़ा। अतः उन्होंने मराठों का सैनिक सहयोग प्राप्त किया। मराठों ने अपनी सैनिक सेवाओं का अधिक से अधिक मूल्य वसूल करने का प्रयत्न किया। जब राजपूत शासक अपने वायदेनुसार मराठों को धन देने में असमर्थ रहे तो मराठों ने सैनिक बल पर धन वसूली का मार्ग अपनाया। राजपूत शासक मराठों की लूट-खसोट को रोकने में असमर्थ थे। इससे सभी राज्यों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। सामन्तों के आपसी संघर्ष तथा शासकों और सामन्तों के आपसी संघर्ष और शासकों के आपसी संघर्ष ने राज्यों में अव्यवस्था पैदा करदी। इससे छुटकारा पाने के लिए राजपूत शासक संरक्षण देने योग्य किसी भी शक्ति की आधीनता स्वीकार करने को तैयार थे।

मराठों और पिंडारियों की बात समझ में नहीं आती। द्वितीय मराठा युद्ध में सिन्धिया और होल्कर की शक्ति काफी कमजोर हो चुकी थी और 1805 से 1818 की अवधि में मराठों ने किसी भी राजपूत राज्य पर विजय अभियान नहीं किया था। पिंडारियों में से केवल अमीरखां का राजपूत राज्यों के साथ सम्पर्क रहा और उसने भी राजपूत राज्यों द्वारा कम्पनी का संरक्षण प्राप्त करने के पूर्व ही कम्पनी का संरक्षण प्राप्त कर लिया था। इसी प्रकार, आर्थिक तथ्य भी समझ में नहीं आता। राजपूत राज्य मराठों को खिराज का जितना रुपया अनियमित रूप से देते आये थे उससे भी अधिक खिराज और वह भी नियमित रूप से अब उन्हें कम्पनी को देना पड़ा। अर्थात् राजपूत राज्यों को आर्थिक दृष्टि से भी कोई लाभ नहीं हुआ था। सन्धियों में राजपूत राज्यों के उन प्रदेशों को, जिन्हें मराठों अथवा अमीरखां ने हस्तगत कर रखा था, वापस दिलवाने का भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि राजपूत राज्यों ने मराठों अथवा पिंडारियों के भय से प्रेरित होकर सन्धि

नहीं की थी। सन्धि करने का मूल कारण सामन्तों की बढ़ती हुई शक्ति और उसे नियंत्रित करने में शासकों की असफलता थी। बीकानेर के साथ सम्पन्न सन्धि की सातवीं धारा में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि, "अंग्रेज सरकार महाराजा के विरुद्ध विद्रोह करने वाले एवं उनकी सत्ता को न मानने वाले ठाकुरों तथा राज्य के अन्य पुरुषों को उनके अधीन करेगी।"

राजपूत राज्यों ने 1781 ई. से ही कम्पनी की मैत्री प्राप्त करने का प्रयास किया था परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने स्थिति को अनुकूल न देख कर राजपूत शासकों को सहायता देना उचित न समझा। लार्ड वेलेजली ने सर्वप्रथम 1803 ई. में भरतपुर के जाट राज्य तथा अलवर के राजपूत राज्य के साथ सन्धियां सम्पन्न की। इसके बाद उसने जयपुर और जोधपुर के साथ सन्धियां की। वेलेजली का मुख्य ध्येय इन राज्यों के साथ सन्धियां करके सिन्धिया के शक्ति-साधनों को कमजोर बनाना था। परन्तु थोड़े समय बाद जोधपुर और जयपुर के साथ की गई सन्धियों को भंग कर दिया गया। बाद में कम्पनी ने सिन्धिया तथा होल्कर के साथ जो सन्धियाँ की उनके अनुसार कम्पनी ने राजपूत राज्यों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया। लेकिन लार्ड हेस्टिंग्स को यह बात पसन्द न आई। वह भारत में कम्पनी राज्य की सीमाओं का विस्तार करके उसे भारत की सर्वोच्च सत्ता बनाना चाहता था। इसके लिए राजपूत राज्यों को भी कम्पनी के संरक्षण में लाना जरूरी था। एक अन्य ध्येय कम्पनी सरकार के वाणिज्यीय एवं वित्तीय हितों की वृद्धि करना भी था। लार्ड हेस्टिंग्स का मानना था कि राजपूत राज्यों के साधनों के उपयोग से कम्पनी की सुरक्षा को बल मिलेगा और पश्चिमी भारत पर कम्पनी के प्रभाव को स्थापित करने में सहायता मिलेगी। कम्पनी को अभी सिक्खों से निपटना था और सिन्ध पर भी प्रभुत्व जमाना बाकी था। इसके लिए राजपूत राज्यों पर कम्पनी के नियंत्रण स्थापित हो जाने से बहुत मदद मिलने की सम्भावना थी। इसलिए हेस्टिंग्स ने अपने प्रतिनिधियों को राजपूत राज्यों के साथ सन्धियाँ सम्पन्न करने के आदेश दे दिये। उसके प्रतिनिधियों को इस काम में आशा से भी अधिक सफलता मिली और 1818 ई. तक अधिकांश राज्यों ने कम्पनी का संरक्षण स्वीकार कर लिया। इस काम में चार्ल्स मेटकॉफ और कर्नल टाड ने विशेष भूमिका अदा की।

राजपूत राजाओं के साथ सम्पन्न संधियों के अन्तर्गत कम्पनी ने राजाओं का वंशानुगत राज्याधिकार स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश संरक्षण के बदले में राजपूत शासकों को अपनी बाह्य सत्ता अंग्रेजो को सौंपनी पड़ी और अपने आपसी विवादों को अंग्रेज सरकार की मध्यस्थता तथा निर्णय हेतु प्रस्तुत करने का वचन देना पड़ा। आवश्यकता के समय उन्हें अपने राज्यों के समस्त सैनिक साधन अंग्रेज सरकार के सुपुर्द करना स्वीकार करना पड़ा। बीकानेर, जैसलमेर और किशनगढ़ के अलावा

अन्य सभी राज्यों को वार्षिक खिराज देना स्वीकार करना पड़ा और सभी को अपने राज्यों में अंग्रेज रेजीडेन्ट रखना भी स्वीकार करना पड़ा। इतना मूल्य चुकाने के बाद राजपूत शासक अपने विद्रोही सामन्तों को अपनी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत ला पाये क्योंकि उन्हें अंग्रेजों की सहायता उपलब्ध हो गई थी और सामन्तों के लिए बाह्य सहायता प्राप्त करना संभव नहीं रहा।

कुर्ग राज्य पर अधिकार—कुर्ग का छोटा सा राज्य मैसूर की सीमा पर स्थित था। जिस समय अंग्रेजों ने टीपू सुल्तान पर आक्रमण किया था उस अवसर पर उन्होंने कुर्ग के साथ सन्धि करली थी। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने कुर्ग की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का वचन दिया था। टीपू के पतन के बाद अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नजर कुर्ग पर जा टिकी। क्योंकि कुर्ग की जलवायु बहुत अच्छी थी और यहां पर कॉफी की पैदावार भी ज्यादा होती थी। चूंकि कुर्ग के शासक कम्पनी के साथ सम्पन्न सन्धि का निष्ठापूर्वक पालन कर रहे थे अतः कुर्ग को हड़पने के लिए अन्य आधार तैयार किये गये। कुर्ग के राजा के विरुद्ध कुशासन तथा भ्रष्टाचार के बढ़े-चढ़े आरोप लगाये गये और 1834 ई० में लार्ड विलियम बैंटिक ने कुर्ग पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। कुर्ग की सेना और जनता ने बहादुरी के साथ अंग्रेजी सेना का मुकाबला किया परन्तु हार गई। राजा को पदच्युत कर दिया गया और कुर्ग को कम्पनी के राज्य में मिला लिया गया। कुर्ग को जिन आरोपों के आधार पर जीता गया वे बेबुनियाद थे। प्रजा में किसी प्रकार का असंतोष नहीं था।

मैसूर का विलय—टीपू के पतन के बाद मैसूर राज्य का अधिकांश भाग कम्पनी ने अपने राज्य में मिला लिया था परन्तु वेलेजली ने मैसूर के थोड़े से भाग को मैसूर के प्राचीन हिन्दू राजवंश के उत्तराधिकारी को दे दिया था। परन्तु बहुत से अंग्रेज अधिकारियों को आरम्भ से ही वेलेजली की यह उदारता पसन्द नहीं आई थी और वे इस भाग को भी कम्पनी के अधिकार में लाना चाहते थे। विलियम बैंटिक के समय में मैसूर के राजा कृष्ण उड़यार के विरुद्ध कई प्रकार के आरोप लगाये गये जिनमें अव्यवस्था और कुशासन मुख्य थे। एक आरोप यह भी था कि राजा कम्पनी का खिराज नियमित रूप से नहीं चुका पा रहा है। परन्तु वास्तविक बात यह थी कि मैसूर में बंगलौर की जलवायु बहुत ही अच्छी थी और कम्पनी के अधिकारी इस क्षेत्र को स्थायी रूप से अपने अधिकार में रखना चाहते थे। फलस्वरूप बैंटिक ने राजा को पदच्युत करके मैसूर को कम्पनी राज्य में मिला लिया और वहां का शासन एक अंग्रेज कमिश्नर को सौंप दिया गया।

सिन्ध विजय—अहमदशाह अब्दाली के समय में सिन्ध प्रदेश पर अफगानिस्तान का अधिकार हो गया था परन्तु अब्दाली के कमजोर उत्तराधिकारियों के शासनकाल में बलूची जाति की तालपुरा शाखा के एक शक्तिशाली अमीर फतेह-

अली खां ने सिन्ध प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया। 1800 ई. में फतेहअली की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारियों ने सिन्ध प्रदेश को आपस में बांट लिया। सिन्ध के ये शासक अमीर कहलाते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सिन्ध प्रदेश पर तीन अमीरों का शासन था—एक की राजधानी खैरपुर थी और इसके अधिकार में सिन्ध का उत्तरी भाग था, दूसरे की राजधानी हैदराबाद थी और इसके अधिकार में सिन्ध का दक्षिणी क्षेत्र था और तीसरे अमीर की राजधानी मीरपुर थी और सिन्ध का उत्तर-पूर्वी क्षेत्र उसके अधिकार में था। इन तीनों अमीरों में कभी एकता नहीं हो पाई जिससे सिन्ध सैनिक दृष्टि से कभी शक्तिशाली नहीं बन पाया। ऊपजाऊ भूमि की कमी के कारण सिन्ध का प्रदेश आर्थिक दृष्टि से भी निर्धन था और इस समूचे प्रदेश की जनसंख्या दस लाख के आसपास ही थी।

सिन्ध की भौगोलिक स्थिति काफी महत्वपूर्ण थी। उसके पश्चिम में अफगानिस्तान का राज्य था और सिन्ध के अमीरों को हमेशा अफगान आक्रमण का भय बना रहता था। अफगानिस्तान के शासक भी समय-समय पर सिन्ध पर अपने राजनीतिक अधिकार की बात दोहराते रहते थे। अफगानों से भी बड़ा खतरा पंजाब के सिक्ख महाराजा रणजीतसिंह से था जिसके राज्य की सीमाएं उत्तरी सिन्ध से आ मिली थी और जो सिन्ध विजय के स्वप्न देखने लगा था। सबसे गंभीर खतरा भारत में नवोदित कम्पनी सरकार से था जिसकी सीमाएं पूर्वी सिन्ध तक आ पहुँची थी।

18 वीं सदी से ही कम्पनी ने सिन्ध के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम कर लिये थे परन्तु उसने सिन्ध की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। 1809 ई. में कम्पनी ने सिन्ध के अमीरों के साथ एक सन्धि सम्पन्न की जिसके अनुसार अमीरों ने फ्रांसीसियों को अपने क्षेत्रों में नहीं बसने देने का आश्वासन दिया। यह सन्धि 1820 ई. में पुनः दुहरायी गयी। चूंकि इस समय तक कम्पनी का ध्यान भारत के अन्य क्षेत्रों पर टिका हुआ था अतः उसने सिन्ध की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु वह किसी अन्य शक्ति को सिन्ध पर अधिकार जमाने का अवसर भी नहीं देना चाहती थी। जब महाराजा रणजीतसिंह ने सिन्ध की तरफ ध्यान देना शुरू किया तो कम्पनी ने भी तुरन्त सिन्ध की तरफ ध्यान दिया। 1831 ई. में जब गवर्नर जनरल बैंटिक और महाराजा रणजीतसिंह की मुलाकात हुई तो रणजीतसिंह ने मिलकर सिन्ध पर अधिकार करने का संकेत दिया परन्तु अंग्रेज गवर्नर जनरल ने गोलमाल जवाब देकर मामले को टाल दिया क्योंकि वह स्वयं सिन्ध पर कम्पनी का अधिकार जमाने की योजना बना चुका था।

मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से कम्पनी के संचालक विचलित हो उठे। रूस की प्रगति को रोकने की दृष्टि से ही बाद में प्रथम अफगान युद्ध लड़ा गया था। चूंकि स्थल मार्ग से बोलन दर्रे से होकर भारत में आने का मार्ग सिन्ध

की सीमाओं में से होकर था, अतः अब सिन्ध का सामरिक और राजनीतिक महत्व बढ़ गया। इंगलैण्ड से भारत के गवर्नर जनरल को आदेश भेजा गया कि वह मध्य एशिया के राज्यों से सम्पर्क बढ़ाने के लिए उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करे। इसके लिए सिन्धु नदी के जलमार्ग का उपयोग करने की बात सोची गई और जलमार्ग की उपयोगिता की जांच-पड़ताल करने की दृष्टि से 1831 ई. में सर अलेक्जेण्डर बर्न्स को सिन्धु नदी के मार्ग से लाहौर भेजा गया। इसके लिए भी एक बहाना ढूंढ लिया गया। यह कहा गया है कि इंगलैण्ड के सम्राट ने महाराजा रणजीतसिंह को कुछ घोड़े उपहारस्वरूप भेजे हैं उन्हें जल मार्ग से लाहौर पहुँचाना है। सिन्ध के अमीरों ने अलेक्जेण्डर बर्न्स को यात्रा की अनुमति देने से मना कर दिया परन्तु रणजीतसिंह के दबाव के आगे उन्हें झुकना पड़ा और बर्न्स को यात्रा की अनुमति दे दी गई। अलेक्जेण्डर बर्न्स ने वापस आकर गवर्नर जनरल को रिपोर्ट दी कि सिन्धु नदी व्यापार की दृष्टि से पूर्ण रूप से उपयोगी है। इसके बाद गवर्नर जनरल ने कच्छ में स्थित अंग्रेज रेजीडेन्ट पोटिंगर को सिन्ध के अमीरों के साथ व्यापारिक सन्धि की बातचीत करने का काम सौंपा। शुरू में सिन्ध के अमीर इसके लिए तैयार नहीं हुए क्योंकि उन्हें आशंका थी कि अंग्रेज व्यापार का आधार लेकर सिन्ध जलमार्ग का उपयोग सैनिक कार्यों के लिए कर सकते हैं और फिर धीरे-धीरे अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने का प्रयास कर सकते हैं। परन्तु सिन्ध के अमीर ब्रिटिश सत्ता के दबाव का अधिक समय तक प्रतिरोध नहीं कर सके और अप्रेल, 1832 ई. में उन्होंने कम्पनी के साथ व्यापारिक सन्धि करली। सन्धि में यह बात स्पष्ट कर दी गई कि कोई भी व्यक्ति इन मार्गों पर सैनिक सामान नहीं लायेगा और कोई सैनिक नाव या जहाज सिन्ध नदी में नहीं आयेगा। यह भी तय किया गया कि कोई भी अंग्रेज व्यापारी स्थाई रूप से सिन्ध में नहीं रहेगा। इस अवसर पर रणजीतसिंह ने सिन्ध में बढ़ने का प्रयास किया तो उसे कूटनीतिक दबाव से रोक दिया गया। इसी प्रकार, अफगानिस्तान से भाग कर भारत आये हुए शाह शुजा को भी अमीरों से दूर ही रखा गया। क्योंकि अंग्रेज सिन्ध के मामले में किसी दूसरे के हस्तक्षेप को सहन करने के लिए तैयार न थे।

कुछ वर्षों बाद महाराजा रणजीतसिंह ने पुनः सिन्ध की तरफ बढ़ने का विचार किया। सिन्ध के अमीरों को सिक्खों की सैन्य शक्ति से काफी भय था। अंग्रेजों ने इस स्थिति का लाभ उठाया। उन्होंने अमीरों को रणजीतसिंह के आक्रमण का भय दिखला कर कम्पनी का संरक्षण स्वीकार कर लेने की सलाह दी। सिन्ध के अमीरों ने संरक्षण तो स्वीकार नहीं किया परन्तु 1838 ई. में उन्होंने कम्पनी के साथ एक नई संधि अवश्य करली। सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने अमीरों और रणजीतसिंह के आपसी सम्बन्धों को अच्छा बनाने में अपनी सहायता का वचन दिया। सिन्ध के अमीरों ने हैदराबाद में एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखना स्वीकार किया।

रेजीडेन्ट की सुरक्षा के लिए आवश्यक सैनिकों को रखना भी स्वीकार किया। इस प्रकार, सिन्ध के अमीरों के साथ कम्पनी का राजनीतिक सम्बन्ध शुरू हुआ जो अमीरों की स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हुआ। एक लेखक के अनुसार "यह अमीरों के महल में एक ऐसा बम रखना था जो गवर्नर-जनरल की इच्छा से कभी भी फूट सकता था।"

उपर्युक्त सन्धि से सिन्ध में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ गया परन्तु अंग्रेज पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हुए थे। 1838 ई. में अंग्रेजों ने शाह शुजा को पुनः अफगानिस्तान का शासक बनाने का निश्चय किया और इसके लिए अंग्रेजों, महाराजा रणजीतसिंह और शाह शुजा के मध्य त्रिदलीय संधि हुई और अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया गया जिससे प्रथम अफगान युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध ने सिन्ध के अमीरों को अत्यधिक प्रभावित किया। युद्ध में सहायता के नाम पर सिन्ध के अमीरों पर एक बहुत बड़ा आर्थिक बोझा लाद दिया गया। कम्पनी ने सिन्ध के अमीरों से कहा कि वे शाह शुजा को बकाया खिराज के बदले में 25 लाख रुपया दे। कम्पनी की यह मांग अन्यायपूर्ण थी क्योंकि सिन्ध के अमीरों ने शाह शुजा को कभी खिराज नहीं दिया था और शाह शुजा इस समय अफगानिस्तान का शासक भी नहीं था। इसके अलावा, 1834 ई. में शाह शुजा ने लिखित रूप से सिन्ध के अमीरों को इस कर से मुक्त कर दिया था। इस सम्बन्ध में अमीरों ने पुराने दस्तावेज प्रस्तुत करने चाहे परन्तु कम्पनी ने उनकी सभी दलीलों को ठुकरा दिया और उन्हें रुपया देना पड़ा। इसके बाद अमीरों से कहा गया कि मौजूदा स्थिति में 1832 ई. की सन्धि का पालन किया जाना सम्भव नहीं है और वे अंग्रेजी सेना को सिन्ध से होकर अफगानिस्तान जाने की स्वीकृति दे। फिर उन्हें सेना के आने-जाने में पूरा सहयोग देने को कहा गया। इसके बाद, कम्पनी ने सेना के आवागमन की दृष्टि से शिकारपुर, बक्कर और कराची पर बलात् अधिकार कर लिया। यह सब कुछ इसलिए करना पड़ा कि महाराजा रणजीतसिंह ने अंग्रेजी सेनाओं को पंजाब से आने-जाने की सुविधा नहीं दी थी और अंग्रेज इस समय रणजीतसिंह को अप्रसन्न करने की स्थिति में नहीं थे। अतः सिन्ध के अमीरों को दबाया गया।

इसके बाद खैरपुर, हैदराबाद और मीरपुर के अमीरों को एक-एक करके कम्पनी के साथ नयी सन्धियां करने को विवश किया गया जो सहायक सन्धि व्यवस्था की ही अंग थी। इन सन्धियों के अनुसार अमीरों ने कम्पनी की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर लिया, अपने विदेशी सम्बन्धों का नियंत्रण कम्पनी को सौंप दिया, अपने राज्यों में कम्पनी की सहायक सेना रखना स्वीकार किया और आवश्यकता पड़ने पर कम्पनी को सैनिक सहायता देना भी स्वीकार किया, ब्रिटिश सहायक सेना का खर्चा देना स्वीकार किया और बक्कर का किला तथा कराची का बन्दरगाह

स्थायी रूप से कम्पनी को दे दिया गया। इस प्रकार, इन सन्धियों से अमीर अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धो बैठे और सिन्ध पर अंग्रेजों का राजनीतिक तथा सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। सिन्ध का अंग्रेजी राज्य में विलय अब उपयुक्त अवसर की बात रह गया था।

प्रथम अफगान युद्ध में अंग्रेजों को बड़ी बदनामी उठानी पड़ी परन्तु इस युद्ध से उन्हें सिन्ध की सामरिक स्थिति का महत्व मालूम हो गया। वस्तुतः सिन्ध की विजय अफगान-युद्ध से सम्बन्धित ही नहीं बल्कि उसका परिणाम थी। नैपियर ने भी लिखा है कि "वह अफगानी-तूफान की पूंछ थी।" 1842 ई. में एलेनबरो नया गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। वह अफगन-युद्ध से प्राप्त बदनामी को मिटा कर उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर कम्पनी की प्रतिष्ठा को पुनः कायम करना चाहता था और इसके लिए सिन्ध को स्थायी रूप से कम्पनी के अधिकार में लेना जरूरी था। इस काम को पूरा करने के लिए उसने सितम्बर, 1842 ई. में एक सैनिक अधिकारी चार्ल्स नैपियर को नया रेजीडेन्ट बना कर सिन्ध भेजा। उसके जाने के पूर्व ही कम्पनी ने सिन्ध के अमीरों पर सन्धि की शर्तों की अवहेलना करने, ब्रिटिश अधिकारियों के साथ अभद्र व्यवहार करने, प्रथम अफगान युद्ध के समय कम्पनी को पूरा सहयोग न देने तथा कम्पनी के विरोधियों के साथ सांठ-गांठ करने के आरोप लगा दिये थे। अमीरों ने सभी संभव तरीकों से अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का प्रयास किया परन्तु गवर्नर-जनरल ने उनकी दलीलों को कभी स्वीकार नहीं किया। नैपियर ने सिन्ध पहुँचते ही अमीरों को एक नई सन्धि करने को कहा जिसमें निम्न शर्तें सम्मिलित की गई—(1) कराची बन्दरगाह, शिकारपुर तथा सिन्ध नदी पर स्थित सक्कर और बक्कर के किले तथा उसके आसपास की भूमि ब्रिटिश सहायक सेना के खर्चे के बदले में स्थायी रूप से कम्पनी को दे दिये जाय। (2) सिन्ध में सिक्के चलाने का अधिकार कम्पनी को दे दिया जाय और (3) सिन्ध नदी में आने वाले अंग्रेजी जहाजों को कोयला दिया जाय।

सिन्ध के अमीर बिना विशेष प्रतिरोध के अभी तक अंग्रेजों की सभी मांगों को पूरा करते आये थे परन्तु इन नई शर्तों से उनका संयम टूट गया। इसी समय एक और घटना घटित हो गई जिससे स्थिति बिगड़ गई। खैरपुर का अमीर अली रुस्तम काफी बूढ़ा हो चुका था। उसने अपने पुत्र मीर मोहम्मद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। अली रुस्तम के छोटे भाई अली मुराद ने उसके उत्तराधिकार का विरोध किया। इस प्रकार, उत्तराधिकार संघर्ष शुरू हो गया। नैपियर ने अली मुराद को अमीर बनाने का वायदा कर दिया और सेना सहित खैरपुर जा पहुँचा। नैपियर के हस्तक्षेप से सिन्ध के अमीर ही नहीं अपितु अधिकांश बलूची सरदार क्रोधित हो उठे और अंग्रेजों का सामना करने के लिए संगठित होने लगे। बलूची सैनिकों ने हैदराबाद में कम्पनी के प्रतिनिधि आउट्रम के निवास पर हमला

कर दिया। आउट्रम बच कर भाग गया परन्तु यही घटना युद्ध का कारण बन गई।

17 फरवरी, 1843 ई. को हैदराबाद के निकट म्यानी नामक स्थान पर बलूचियों और अंग्रेजों के मध्य पहला युद्ध लड़ा गया जिसमें बलूची परास्त हुए। हैदराबाद पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इसके बाद 24 मार्च, 1843 ई. को दाबों के युद्ध में नैपियर ने मीरपुर के अमीर शेरमुहम्मद को परास्त किया। इस पराजय के बाद अमीरों ने आत्मसमर्पण कर दिया। नैपियर ने गवर्नर-जनरल को सूचना भेजी कि मैंने सिन्ध ले लिया है। कुछ महीनों के बाद सम्पूर्ण सिन्ध को कम्पनी के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अमीरों के विरुद्ध नैपियर ने जिस साहस और योग्यता का परिचय दिया उसके लिए उसकी काफी प्रशंसा की गई।

अंग्रेजों द्वारा सिन्ध की विजय उनकी साम्राज्यवादी नीति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। प्रथम अफगान युद्ध से अंग्रेजों को सिन्ध के सामरिक महत्व का पता चला और उन्होंने सिन्ध को हथियाने का फैसला कर लिया। इसीलिए गवर्नर जनरल एलनबरो ने नैपियर जैसे महत्वाकांक्षी सैनिक अधिकारी को वहां भेजा जिसने बिना किसी औचित्य के सिन्ध के अमीरों पर युद्ध थोप दिया। इतिहासकार इन्स का मानना है कि, "अगर हमारे भारतीय इतिहास की घटनाओं में अफगान-दुर्घटना सबसे हानिकारक है तो सिन्ध की विजय सबसे अनैतिक।" नैपियर ने भी स्वीकार किया था कि "हमें सिन्ध को जीतने का कोई अधिकार नहीं है फिर भी हम ऐसा करेंगे और यह एक लाभदायक, उपयोगी और महत्वपूर्ण धूर्तता होगी।" कम्पनी के संचालकों ने भी इसे अपने सम्मान के विरुद्ध अन्यायपूर्ण घटना माना। ब्रिटिश संसद में भी इसके लिए एलनबरो की आलोचना की गई। इसे सिन्ध की "खुल्लमखुल्ला लूट" और "सबसे बुरा अपराध" कहा गया। परन्तु इसका प्रायश्चित करने का सुझाव नहीं दिया गया। सिन्ध का प्रदेश वापस अमीरों को नहीं दिया गया।

डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार की नीति

कम्पनी शासन के भारतीय इतिहास में 1848 से 1856 का समय काफी महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इस अवधि में लार्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल के पद पर रहा। डलहौजी पक्का साम्राज्यवादी था। उसने युद्धों, विजयों तथा अन्य संभावित तरीकों से भारतीय राज्यों पर अधिकार करके कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार किया और भारत में कम्पनी की "सर्वोपरि सत्ता" को स्थापित किया। डलहौजी की नीति की चर्चा करते हुए इतिहासकार इन्स ने लिखा है कि, "डलहौजी ने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि जिस प्रकार भी हो सके राज्य विस्तार को उचित सिद्ध करके पूरा किया जाये।" डलहौजी की यह नीति कई कारणों से प्रभावित थी। पहला मूल कारण 1848 ई. की राजनीतिक स्थिति थी। इस समय तक कम्पनी भारत की सर्वोच्च शक्ति बन चुकी थी और उसको किसी भी शक्ति से किसी

प्रकार का खतरा न था। भारतीय राज्यों की तो यह स्थिति बन चुकी थी कि दबाव अथवा धमकी मात्र से वे अंग्रेजों की मांग पूरी करने को तैयार रहते थे। डलहौजी ने धमकी देकर ही निजाम से 'बरार' का क्षेत्र हथिया लिया और बिना प्रतिरोध के अवध का विशाल राज्य निगल गया। ऐसी स्थिति में कोई अन्य व्यक्ति भी इसी प्रकार की नीति अपना सकता था। दूसरा मूल कारण यह था कि कम्पनी के सीधे शासन के अन्तर्गत जो भारतीय क्षेत्र थे वे भारतीय शासकों के अधीन क्षेत्रों की तुलना में बहुत कम थे। डलहौजी इस अनुपात को बदलना चाहता था। तीसरा कारण इंगलैण्ड के उदारवादियों की मांग थी। उन लोगों का कहना था कि भारत में शान्ति और व्यवस्था तथा कानून का शासन स्थापित करने के लिए देशी शासकों के मनमाने भ्रष्ट शासन को समाप्त करना बहुत जरूरी है। डलहौजी का भी मानना था कि भारतीय राज्यों का आंतरिक शासन ब्रिटिश क्षेत्रों के शासन की तुलना में बहुत ही गिरा हुआ है। इससे भारतीय जनता को किसी तरह का लाभ नहीं मिल पा रहा है। चौथा कारण कम्पनी की आय बढ़ाना था। डलहौजी मौजूदा शासन व्यवस्था में सुधारों को लागू करना चाहता था जिसके लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी। राज्य–विस्तार के द्वारा अतिरिक्त धन प्राप्त किया जा सकता था। अन्तिम कारण उसका स्वयं का व्यक्तिगत चरित्र एवं महत्वाकांक्षा थी। अपनी साम्राज्यवादी विस्तार नीति के द्वारा वह सुयश कमाना चाहता था। अपने आपको अपने देशवासियों की नजरों में प्रतिष्ठित करना चाहता था।

डलहौजी ने जिन साधनों से साम्राज्य का विस्तार किया वे इस प्रकार थे—(1) कुशासन का आरोप लगाकर, (2) राज्यों पर युद्ध थोप कर, (3) कम्पनी की बकाया राशि के नाम पर, और (4) गोद लेने की प्रथा को अमान्य करके।

कुशासन का आरोप : अवध का विलय—अवध के नवाबों ने आरम्भ से ही कम्पनी को संतुष्ट रखने का प्रयास किया था। जब 1801 ई. की सन्धि से अवध का बहुत बड़ा क्षेत्र कम्पनी ने अपने अधिकार में कर लिया तब भी किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं किया गया। कम्पनी को दी जाने वाली नियमित वार्षिक धनराशि के अलावा समय-समय पर अवध से अतिरिक्त आर्थिक सहायता की मांग की जाती रही और अवध उन मांगों को भी पूरा करता रहा। फिर भी, अवध के नवाब को समय-समय पर शासन-व्यवस्था को सुधारने की चेतावनी दी जाती रही जबकि सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था कम्पनी के अधिकारियों के सुझावानुसार ही चलती थी। 1831 ई. में विलियम बैंटिक ने भी शासन में सुधार करने को कहा और यह धमकी भी दी कि यदि सुधार नहीं किये गये तो कम्पनी अवध राज्य को अपने नियंत्रण में ले लेगी। 1837 ई. में नासिरुद्दौला अवध का नवाब बना। उसके साथ कम्पनी ने एक सन्धि की जिसके अनुसार नवाब को अपनी छोटी सी सेना भी भंग करनी पड़ी। इसके बाद कम्पनी का ध्यान अफगानिस्तान, सिन्ध और पंजाब की तरफ

लगा रहा और अवध को थोड़ी राहत मिल गई। 1847 ई. में गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंग ने भी अवध के नवाव को शासन व्यवस्था सुधारने अथवा अवध को कम्पनी राज्य में मिलाने की धमकी दी।

डलहौजी ने भारत आते ही अवध को हस्तगत करने का निश्चय कर लिया था। वह कलकत्ता से लाहौर तक के क्षेत्र को सीधे कम्पनी के शासन के अन्तर्गत लाना चाहता था और अवध को हस्तगत किये बिना यह सम्भव नहीं था। अतः अतः उसे अपनी योजना को पूरी करने के लिए आधार ढूंढने पड़े। इसके लिए कुशासन का आधार ही उपयुक्त समझा गया। परन्तु इस आधार को तैयार करने में भी उसे सात वर्ष का समय लग गया।

1847 ई. में वाजिद अलीशाह अवध का नया नवाव वना। उसे आरम्भ में ही शासन कार्यों में रुचि लेने तथा सुधार करने की चेतावनी दी गई। परन्तु वाजिद अली आमोद-प्रमोद एवं भोग-विलासिता में फंसा रहा। डलहौजी ने अवध में नियुक्त रेजीडेन्ट कर्नल स्लीमेन को राज्य का व्यापक दौरा करके एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। कहा जाता है कि डलहौजी ने स्लीमेन को पदोन्नति का प्रलोभन भी दिया था। अतः स्लीमेन की रिपोर्ट में अवध में व्याप्त अव्यवस्था का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया और वाजिदअली को इसके लिए दोषी ठहराया गया। परन्तु स्लीमेन ने अवध के विलय को अभी उपयुक्त नहीं वतलाया। इससे डलहौजी की योजना अधूरी रह गई। फिर भी, इस बार उसने नवाव को किसी प्रकार की चेतावनी नहीं दी। 1854 ई. में गवर्नर-जनरल ने जनरल ओटरम को अवध के रेजीडेन्ट पद पर नियुक्त किया और उसे भी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। ओटरम ने वैसी ही रिपोर्ट प्रस्तुत की जैसी कि डलहौजी को चाहिए थी। डलहौजी ने उसकी रिपोर्ट को तोड़-मरोड़ करके संचालक मंडल को एक जोरदार पत्र लिखा और अवध में कार्यवाही करने की अनुमति प्राप्त करली।

1856 ई. में गवर्नर जनरल ने अवध के नवाव पर यह आरोप लगाया कि उसने शासन कार्यों की उपेक्षा करके राज्य में कुशासन को वढ़ावा देकर 1801 ई. में सम्पन्न सन्धि की अवहेलना की है। अतः इस सन्धि को अव भंग कर दिया गया और वाजिद अली के सामने एक नयी सन्धि का प्रस्ताव रखा गया जिसमें नवाव से अवध का सम्पूर्ण प्रशासन कम्पनी को सौंप देने की मांग थी। इस प्रकार की मांग प्रस्तुत करके डलहौजी यह दिखाना चाहता था कि वह अवध को कम्पनी राज्य में मिलाना नहीं चाहता, केवल प्रशासन अपने हाथ में लेना चाहता है। वाजिद अली शाह को नयी सन्धि पसन्द नहीं आई क्योंकि वह नाममात्र का नवाव वने रहने को तैयार नहीं था। वह डलहौजी से मिलने कलकत्ता गया। परन्तु डलहौजी ने किसी प्रकार की उदारता नहीं दिखाई। उसने एक घोषणा जारी करके अवध को कम्पनी राज्य में सम्मिलित कर लिया। डलहौजी का मुख्य तर्क

यह था कि सर्वोपरि सत्ता की हैसियत से कम्पनी अवध में व्याप्त कुशासन को एक मूक दर्शक की भांति सहन नहीं कर सकती। इस प्रकार, भारत से जाने के पूर्व डलहौजी अपनी योजना को पूरा करने में कामयाब रहा।

राज्यों पर युद्ध थोप कर—डलहौजी ने युद्ध के माध्यम से जिन राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया उनकी चर्चा की जा चुकी है। उन राज्यों के नाम है—पंजाब और बर्मा। पिछले अध्याय में हम यह चर्चा कर आये हैं कि डलहौजी ने झूठे बहानों के आधार पर पंजाब पर युद्ध थोप दिया और युद्ध के बाद उसने पंजाब को कम्पनी राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसी प्रकार, डलहौजी को बर्मा युद्ध भड़काने के लिए उत्तरदायी माना जाता है। भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित एक कमजोर राज्य को हड़पने के लिए डलहौजी ने सशस्त्र बल का उपयोग किया और उस राज्य के समुद्र तटीय क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया। डलहौजी के अधूरे कार्य को उसके उत्तराधिकारियों ने पूरा कर दिया और समूचा बर्मा कम्पनी राज्य में मिला लिया गया।

बकाया राशि के नाम पर—बकाया राशि के नाम पर डलहौजी हैदराबाद (निजाम) से बरार का क्षेत्र लेने में सफल रहा। 1803 ई. की सन्धि से हैदराबाद के निजाम ने अपनी सहायता के लिए अपने राज्य में अंग्रेजी सेना रखना तथा उसका व्यय चुकाना स्वीकार किया था। सेना का व्यय लगभग चालीस लाख रुपया वार्षिक था। परन्तु निजाम नियमित रूप से पूरा धन अदा करने में असफल रहा और प्रतिवर्ष कुछ न कुछ राशि बाकी रह जाती। 1851 ई. तक बकाया राशि बढ़ते-बढ़ते 78 लाख रुपया हो गई। डलहौजी को इस प्रकार की अव्यवस्था पसन्द न थी। उसने निजाम को तत्काल कम्पनी की बकाया राशि का भुगतान करने का आदेश दिया। परन्तु निजाम बकाया राशि अदा करने में असमर्थ था। इसलिए थोड़े दिनों बाद डलहौजी ने निजाम के सामने प्रस्ताव रखा कि वह बकाया राशि के बदले में बरार का क्षेत्र कम्पनी को सौंप दे। निजाम अधिक समय तक गवर्नर जनरल की मांग का विरोध न कर पाया और 1853 ई. में उसने बरार का क्षेत्र कम्पनी को सौंप दिया। इस प्रकार, डलहौजी को बिना बल-प्रयोग के ही बरार को हथियाने में सफलता मिल गई।

गोद लेने की प्रथा को अमान्य करके—भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न आधारों के सहारे कम्पनी के राज्य का विस्तार किया था। डलहौजी ने साम्राज्य विस्तार का एक और सुदृढ़ आधार तैयार कर दिया। यह आधार था—भारतीय शासकों को गोद लेने अर्थात् दत्तक पुत्र बनाने से रोकना। उसका मानना था कि सामान्य नागरिक द्वारा गोद लिया गया पुत्र अपने पिता की व्यक्तिगत सम्पत्ति का मालिक बन सकता था परन्तु किसी शासक द्वारा गोद लिया गया पुत्र भारत की सर्वोपरि सत्ता की स्वीकृति के बिना उसके राज्य का

उत्तराधिकारी नहीं बन सकता। डलहौजी का यह भी मानना था कि ऐसे मामलों में सर्वोपरि सत्ता को गोद लिये गये लड़के के उत्तराधिकार को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का पूरा अधिकार है।

हिन्दू धर्म और परम्परा के अनुसार प्राचीन काल से ही प्रत्येक हिन्दू को अपनी पत्नी से कोई पुत्र न होने की स्थिति में किसी भी लड़के को गोद लेने का अधिकार रहा है और गोद लिया गया लड़का असली पुत्र की भांति ही अपने पिता का वैधानिक उत्तराधिकारी माना जाता था। यह एक सर्वमान्य प्रथा थी। मध्यकाल में भी मुस्लिम सुल्तानों, मुगल सम्राटों और मराठों ने इस प्रथा का सम्मान किया था और इस आधार पर अपने किसी भी अधीनस्थ राज्य को हड़पने का प्रयास नहीं किया था। इस प्रकार के मामलों में वे लोग दत्तक उत्तराधिकारी से थोड़ा अधिक नजराना अवश्य ले लेते थे परन्तु दत्तक पुत्र के वैधानिक अधिकार को कभी चुनौती नहीं दी गई। अतः डलहौजी द्वारा गोद लेने की प्रथा का निषेध करना किसी भी आधार पर न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी गोद लेने की प्रथा को स्वीकार करती रही थी। 1825 ई. में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषित किया था कि प्रत्येक सताधारी को हिन्दू कानून के अनुसार लड़का गोद लेने का अधिकार है और अंग्रेज सरकार इस अधिकार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। 1826 से 1848 की अवधि में पन्द्रह भारतीय शासकों को गोद लेने का अधिकार दिया गया अथवा उनके द्वारा गोद लिये गये लड़कों को उनका वैधानिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि 1831 ई. के बाद कम्पनी सरकार की नीति में थोड़ा परिवर्तन आ गया था। आरम्भ में यह कहा जाने लगा कि अधीनस्थ शासकों को गोद लेने से पूर्व कम्पनी सरकार की स्वीकृति ले लेनी चाहिए। फिर यह मत प्रतिपादित किया जाने लगा कि कम्पनी को परिस्थितियों के आधार पर भारतीय शासक की गोद लेने की प्रार्थना को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है। 1834 ई. में कम्पनी के संचालक-मंडल ने भी इस विषय पर नीति तय करते हुए लिखा था कि यह साधारण नियम नहीं होना चाहिए। यह मान्यता हमारी विशेष कृपा के रूप में ही होनी चाहिए, सामान्य परिस्थितियों में नहीं। परन्तु चूंकि 1848 ई. तक किसी महत्वपूर्ण देशी राज्य में गोद लेने का मामला नहीं उठा अतः संचालक-मंडल की नीति पर कम्पनी के अधिकारियों का विशेष ध्यान नहीं गया।

1848 ई. तक गोद लेने के सम्बन्ध में कम्पनी सरकार की नीति अधिक स्पष्ट नहीं रही। अनेक अवसरों पर कम्पनी ने भारतीय शासकों द्वारा गोद लिये गये लड़कों के उत्तराधिकार को पूर्णतया स्वीकार कर लिया जबकि कुछ अवसरों पर उसने गोद लेने के अधिकार का विरोध भी किया। कुछ अवसर ऐसे भी आये जबकि शासक किसी बच्चे को गोद लेने के पहले ही मर गया और उसकी मृत्यु के

वाद उसकी विधवा ने किसी को गोद लिया और कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को भी मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरणार्थ, 1827 ई. में दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था और अपनी मृत्यु के पूर्व वह किसी बच्चे को गोद नहीं ले पाया। उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा बैजाबाई ने जानकोजी को गोद लिया और कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान की। 1843 ई. में जानकोजी की भी मृत्यु हो गई। उसके भी कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के बाद दौलतराव की विधवा ने जयाजीराव को गोद लिया और इस बार भी कम्पनी ने उसके उत्तराधिकार को मान्यता प्रदान की। परन्तु दूसरी तरफ कुछ ऐसे उदाहरण भी देखने को मिलते हैं जबकि कम्पनी सरकार ने गोद लेने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। उदाहरणार्थ, 1835 ई. में झांसी के राजा रामचन्द्र की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नहीं था और मरने से पूर्व उसने एक लड़के को गोद ले लिया परन्तु इसके लिए उसने कम्पनी सरकार से स्वीकृति नहीं ली। उसकी मृत्यु के बाद दत्तक पुत्र के उत्तराधिकार को नहीं माना गया और मृतक राजा के चाचा रघुनाथराव के उत्तराधिकार को मान्यता दी गई। 1841 ई. में जब कोलाबा के शासक राघोजी ने कम्पनी सरकार से बच्चा गोद लेने की स्वीकृति मांगी तो उसे मना कर दिया गया और उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिया गया। इसी प्रकार मांडवी के छोटे से राज्य को भी अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि डलहौजी के पूर्व गोद लेने के अधिकार के बारे में कम्पनी सरकार किसी सुनिश्चित नीति का निर्माण नहीं कर पाई थी।

डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा के बारे में अधिक उग्र नीति का सहारा लिया फिर भी उसने प्रत्येक देशी राज्य के सम्बन्ध में एक समान नीति नहीं अपनाई थी। उसकी नीति को अवसरवादी कहा जा सकता है क्योंकि उसने जिन आधारों को तैयार किये थे वे अस्पष्ट थे और उनके बारे में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार कम्पनी सरकार में निहित थे। उसका मुख्य आधार स्वयं उसी के द्वारा देशी राज्यों का किया गया वर्गीकरण था। उसने समस्त भारतीय हिन्दू राज्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया—(1) स्वतन्त्र, (2) आश्रित, और (3) अधीन। स्वतन्त्र राज्यों की श्रेणी में उन देशी राज्यों को रखा गया जो भारत में कम्पनी की सत्ता की स्थापना के समय अस्तित्व में थे और जिन्हें आंतरिक प्रभुसत्ता प्राप्त थी तथा जिनके साथ सन्धियां करते समय कम्पनी ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया था। आश्रित श्रेणी के अन्तर्गत उन राज्यों को रखा गया जो आरम्भ से ही किसी न किसी सत्ता के अधीन थे और जो कम्पनी के साथ सन्धि करने के पूर्व मुगल सम्राट अथवा पेशवा को खिराज देते थे। उदाहरणार्थ, जैसे झांसी का राज्य पेशवा के अधीन था। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत उन राज्यों को

रखा गया जिनका निर्माण ही कम्पनी ने किया था अथवा कम्पनी की सनद के द्वारा जिन्हें पुनः संगठित किया गया था। जब इङ्गलैण्ड में डलहौजी की गोद निषेध नीति की आलोचना होने लगी तो उसने यह स्पष्टीकरण दिया कि उसका इरादा सभी राज्यों पर इस नीति को लागू करने का नहीं है। पहली श्रेणी के स्वतन्त्र शासकों को गोद लेने का अधिकार है और गवर्नर जनरल उनके इस अधिकार को मान्यता प्रदान करता रहेगा तथा उनके राज्यों को कम्पनी के राज्य में नहीं मिलाया जायेगा। परन्तु दूसरी और तीसरी श्रेणी के राज्यों पर यह नीति लागू की जायेगी और ऐसे राज्यों के शासकों को गोद लेने का अधिकार नहीं दिया जायेगा और उनके राज्य कम्पनी राज्य में सम्मिलित कर लिये जायेंगे।

वस्तुतः डलहौजी का यह वर्गीकरण वहुत ही अस्पष्ट तथा पेचीदा था और किस राज्य को किस श्रेणी में रखा जाय, इसका निर्णय गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था। यह सारी व्यवस्था भारत के देशी राज्यों को हड़पने के लिए एक वहाना मात्र था। उदाहरण के लिए राजस्थान के करौली राज्य को हड़पने के लिए डलहौजी ने उसे दूसरी श्रेणी में रखा परन्तु कम्पनी के संचालक-मंडल ने उसे पहली श्रेणी के अन्तर्गत माना जिससे करौली राज्य वच गया। इससे स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण डलहौजी ने अपनी हड़प नीति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए ही वनाया था। इस नीति के अन्तर्गत जिन राज्यों को कम्पनी के राज्य में सम्मिलित किया गया वे इस प्रकार थे—1848 ई. में सतारा, 1849 ई. में जैतपुर और संवलपुर, 1850 ई. में वाघट, 1852 ई. में मध्य भारत का उदयपुर, 1854 ई. में झांसी और नागपुर।

सतारा—गवर्नर-जनरल का पद संभालने के कुछ दिनों वाद ही डलहौजी को सतारा की समस्या से निपटना पड़ा। पेशवा के पतन के वाद लार्ड हेस्टिंग्स ने सतारा का छोटासा राज्य शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह को दे दिया था। 1839 ई. में कम्पनी सरकार ने प्रतापसिंह को अपदस्थ करके उसके भाई अप्पा साहव को सतारा का शासक वना दिया। 1848 ई. में अप्पा साहव की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था परन्तु अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व उसने वेंकटराव नामक लड़के को गोद ले लिया। जव डलहौजी के सामने वेंकटराव के उत्तराधिकार को मान्यता देने का मामला रखा गया तो डलहौजी ने उसके उत्तराधिकार को अमान्य करते हुए सतारा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

1818 ई. में सतारा के साथ अंग्रेजों ने जो संधि की थी उसमें सतारा के शासक की "स्वतन्त्र सार्वभौमिकता" और इस स्थिति को निरंतर वनाये रखना स्वीकार किया गया था। इस दृष्टि से सतारा प्रथम श्रेणी का राज्य था। परन्तु डलहौजी ने उसे एक आश्रित राज्य मान कर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। डलहौजी के इस कदम को न्याय संगत नहीं माना जा सकता और इंगलैण्ड में भी

उसके इस कार्य की काफी निन्दा की गई। परन्तु डलहौजी कम्पनी की आय में वृद्धि करना चाहता था। इससे कम्पनी की सुरक्षा-व्यवस्था भी मजबूत हो सकती थी और बम्बई से कलकत्ता के मध्य का राजमार्ग भी खोला जा सकता था। सेना के आवागमन की व्यवस्था की दृष्टि से भी सतारा का क्षेत्र उपयोगी था। इन्हीं से प्रेरित होकर डलहौजी ने सतारा को हस्तगत किया था।

जैतपुर और संबलपुर—बुन्देलखण्ड क्षेत्र में जैतपुर एक छोटा सा राज्य था। उसका कुल क्षेत्रफल 165 वर्गमील ही था। यहां के तत्कालीन शासक ने जब गवर्नर जनरल से गोद लेने के लिए अनुमति प्रदान किये जाने की प्रार्थना की तो डलहौजी ने उसे स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया और शासक की मृत्यु के बाद 1849 ई. में जैतपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। संबलपुर का छोटा सा राज्य बंगाल की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर था। यहां के शासक नारायणसिंह के कोई पुत्र न था और न ही उसने किसी बच्चे को गोद लिया था। 1849 ई. में नारायणसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी ने स्वयं शासन चलाने की स्वीकृति मांगी। परन्तु डलहौजी ने उसके अधिकार को मान्यता नहीं दी और संबलपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

बाघट—बाघट पंजाब की सीमा में एक छोटा सा पहाड़ी राज्य था। 1849 ई. में बाघट के शासक विजयसिंह की मृत्यु हो गई। उसके भी कोई पुत्र न था और न ही उसने किसी को गोद लिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई उम्मेदसिंह ने अपना उत्तराधिकार प्रस्तुत किया परन्तु डलहौजी ने उसके उत्तराधिकार को अमान्य करते हुए बाघट को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। डलहौजी के उत्तराधिकारी केनिंग ने डलहौजी के निर्णय को रद्द करके बाघट का राज्य उम्मेदसिंह के पुत्र को सौंप दिया।

उदयपुर—मध्यप्रदेश की सीमा में उदयपुर का राज्य स्थित था। इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग 2000 वर्गमील था। यहां के शासक के निःसंतान मरने पर डलहौजी ने इस राज्य को भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। परन्तु केनिंग ने यहां भी डलहौजी के निर्णय को बदल कर यह राज्य वापस लौटा दिया।

झांसी—झांसी का राज्य बुन्देलखण्ड के मध्य में स्थित था और सामरिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। 1818 ई. की संधि के द्वारा झांसी ने कम्पनी का संरक्षण प्राप्त किया था और उस संधि में झांसी के राजा रामचन्द्रराव के वंशानुगत अधिकार (अर्थात उसके परिवार के पीढ़ी दर पीढ़ी का अधिकार) स्वीकार किया गया था। 1835 ई. में रामचन्द्रराव की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था और मरने के पहले उसने जिस बच्चे को गोद लिया था उसका उत्तराधिकार कम्पनी सरकार ने मान्य न करके रामचन्द्रराव के चाचा रघुनाथराव को झांसी का राजा बनाया। 1838 ई. में उसकी भी मृत्यु हो गई और इस बार भी दत्तक पुत्र के

स्थान पर रघुनाथराव के भाई गंगाधरराव को झांसी का राजा बनाया गया। संयोग की बात है कि 1853 ई. में गंगाधरराव की भी मृत्यु हो गई और उसके भी कोई पुत्र न था। गंगाधरराव ने आनन्दराव नामक बच्चे को गोद ले लिया था और झांसी के अंग्रेज रेजीडेन्ट को बुलाकर उससे अनुरोध भी किया कि वह बच्चे के उत्तराधिकार की स्वीकृति के लिए गवर्नर-जनरल को पत्र लिखे। परन्तु डलहौजी तो झांसी हड़पने को तैयार बैठा था। उसने झांसी को एक आश्रित राज्य बतलाया और इस आधार पर उसने झांसी के राजा द्वारा किसी बच्चे को गोद लेने के अधिकार को मान्य नहीं किया। फरवरी 1854 ई. में उसने झांसी को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। झांसी के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। 1818 से 1838 के मध्य दो बार शासक द्वारा गोद लेने के अधिकार को अमान्य किया गया फिर भी झांसी को कम्पनी राज्य में न मिलाकर राजवंश के ही निकटतम दावेदार को झांसी का राज्य सौंप दिया गया। डलहौजी भी ऐसा कर सकता था। परन्तु उसने अब तक की नीति को त्याग कर विलय की नीति अपनाई जो उसकी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का प्रतीक थी।

नागपुर—गोद प्रथा के सम्बन्ध में डलहौजी को जिन राज्यों से निपटना पड़ा उनमें नागपुर का राज्य सबसे अधिक समृद्ध और सबसे बड़ा था। यह राज्य 80,000 वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ था और इसकी आय लगभग 40 लाख रुपया वार्षिक थी। नागपुर पर अधिकार हो जाने से कम्पनी अपने बिखरे हुए क्षेत्र को संगठित कर सकती थी और हैदराबाद से लेकर मध्य भारत तक के क्षेत्र को एक इकाई में संगठित किया जा सकता था। इससे बम्बई से कलकत्ता के मध्य का सम्पूर्ण क्षेत्र कम्पनी के सीधे नियंत्रण में आ जाता जिससे व्यापार की वृद्धि की संभावना थी। इन्हीं सब संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए डलहौजी ने नागपुर को हड़पने का फैसला कर रखा था।

1818 ई. में कम्पनी सरकार ने नागपुर के प्रसिद्ध भोंसले राज्य को अपने संरक्षण में लिया था और सन्धि के अनुसार भोंसले राजवंश के एक बच्चे को नागपुर का शासक स्वीकार किया गया। इस बच्चे का नाम रखा गया रघुजी भोंसला तृतीय। 1830 ई. में जब रघुजी तृतीय वयस्क हो गया तो उसने अपने राज्य का शासन सूत्र संभाल लिया। 1853 ई. में रघुजी तृतीय की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नहीं था। रघुजी ने नागपुर स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट से किसी बच्चे को गोद लेने के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल से अनुमति मंगाने को कहा था परन्तु रेजीडेन्ट रघुजी की बात को टालता रहा। इस प्रकार रघुजी अपने जीवनकाल में किसी को गोद न ले सका और डलहौजी ने किसी अन्य दावेदार के उत्तराधिकार को स्वीकार न करके नागपुर को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया। परन्तु यहां एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है। नागपुर एक पुराना और स्वतन्त्र राज्य था। परन्तु डलहौजी ने इसे

भी आश्रित राज्य ठहराकर अपने पक्ष को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया था। नागपुर को हस्तगत करने के सम्बन्ध में डलहौजी ने यह तर्क भी दिया था कि इस राज्य के विलीनीकरण से राज्य के निवासियों के हितों की अच्छी तरह से सुरक्षा हो सकेगी। परन्तु हुआ इसके ठीक विपरीत। अंग्रेज अपने अधिकृत क्षेत्रों में देशी शासकों की तुलना में अच्छा प्रशासन लागू करने में असफल रहे जिससे चारों तरफ असंतोष फैल गया।

डलहौजी की गोद निषेध नीति सही थी या गलत—यह विवाद का विषय रहा है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी नीति को न्यायोचित नहीं माना जा सकता। वस्तुत: जब तक कम्पनी भारत की शक्तियों में से एक शक्ति रही तब तक उसने बार-बार भारतीय शासकों को यह आश्वासन दिया कि वह उनकी प्रथाओं और परम्पराओं का सम्मान करेगी और इस स्थिति में वह गोद लेने के अधिकार को मान्यता भी देती रही। परन्तु डलहौजी के आगमन तक कम्पनी भारत की सर्वोपरि शक्ति बन चुकी थी। अब उसको चुनौती देने की शक्ति किसी भी भारतीय शक्ति अथवा शासक में नहीं रह गई थी। इस प्रकार की बदली हुई स्थिति में डलहौजी ने साम्राज्य विस्तार के निमित्त गोद लेने के परम्परागत अधिकार को अमान्य कर दिया। उसकी इस नीति से कम्पनी का साम्राज्य बढ़ा। कम्पनी की आय बढ़ी। इंगलैण्ड के व्यापारियों को कच्चे माल की मंडियां सुलभ हो गई। यह सब कुछ हुआ। परन्तु इसके साथ ही भारतीय समाज के सभी वर्गों में असंतोष भी पैदा हुआ और इस असंतोष ने 1857 की सशस्त्र क्रान्ति को आहूत करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस दृष्टि से डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति कम्पनी शासन के लिए आत्मघातक सिद्ध हुई और अगले कुछ ही वर्षों में भारत में कम्पनी शासन का ही अन्त हो गया।

———

अध्याय 9

ब्रिटिश प्रशासन का पुनर्गठन

(1772–1856)

बंगाल में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद कम्पनी के साम्राज्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई तथा 1856 ई० तक ब्रिटिश साम्राज्य अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया। बढ़ते हुए साम्राज्य में प्रशासनिक पुनर्गठन आवश्यक था। अतः कम्पनी सरकार ज्यौं-ज्यौं अपना साम्राज्य विस्तार करती रही, त्यौं-त्यौं अपने क्षेत्रों में प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्गठन भी करती रही। साम्राज्य विस्तार और पुनर्गठन की इस प्रक्रिया में कम्पनी सरकार ने भारत में कुछ ऐसे गवर्नर जनरल भी भेजे जिन्होंने कम्पनी राज्य का विस्तार कर कम्पनी के प्रभाव में वृद्धि की और कुछ ऐसे गवर्नर जनरल भी भेजती रही, जिन्होंने विस्तृत साम्राज्य को संगठित करने में अपनी रुचि दिखाई। अतः 1772 से 1856 के बीच विभिन्न गवर्नर जनरलों द्वारा किये गये प्रशासनिक कार्यों का वर्णन करना समीचीन होगा।

वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा प्रशासन का पुनर्गठन (1772–1785)

वारेन हेस्टिंग्ज 1750 ई० में कम्पनी का कर्मचारी बनकर कलकत्ता आया था। अपनी योग्यता एवं लगन के कारण निरन्तर उन्नति करता गया और 1772 ई. में उसे बंगाल का गवर्नर नियुक्त कर दिया गया। अतः वारेन हेस्टिंग्ज बंगाल की परिस्थितियों से भलीभांति परिचित था। किन्तु उस समय कम्पनी के सम्मुख अनेक समस्याएं उपस्थित थी। क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन के बुरे परिणाम स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारियों तथा भारतीय नायब दीवानों ने अत्याचार द्वारा अपनी जेवें गर्म करना तथा जनता का तीव्र शोषण करना आरम्भ कर दिया था। कम्पनी के संचालकों को भी विश्वास हो गया था कि कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा राजस्व का एक बहुत बड़ा भाग वे अपने निजी अधिकार में रख लेते हैं। अतः 1771 में संचालक समिति ने बंगाल कौंसिल के अध्यक्ष को आदेश दिया था कि—

(1) कम्पनी स्वयं दीवानी का कार्य करे तथा राजस्व वसूली का कार्य कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा किया जाय।

(2) नायब दीवान तथा उनके अधीन कार्य करने वाले समस्त कर्मचारियों को पदच्युत कर दिया जाय।

(3) दोनों नायब दीवानों को बन्दी बना कर उन पर मुकदमा चलाया जाय ताकि नायब दीवानों द्वारा किये गये धन का अपहरण व घूसखोरी का पता लगाया जा सके।

उपर्युक्त आदेश के कारण वारेन हेस्टिग्ज ने अपना पद ग्रहण करते ही, क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया। दोनों नायब दीवानों—रजाखां और शितबराय को पदच्युत कर उन पर मुकदमा चलाया गया। इन दोनों के विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिये कम्पनी के पास कोई ठोस सबूत नहीं थे, केवल दीवानी का कार्य अपने हाथ में लेने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये, केवल संदेह के आधार पर ये मुकदमे चलाये गये थे। यह मुकदमा दो वर्ष तक चलता रहा और अन्त में उन्हें निर्दोष घोषित कर दिया गया। इन मुकदमों से इतना लाभ अवश्य हुआ कि दोनों नायब दीवानों की प्रतिष्ठा पूरी तरह से समाप्त हो गयी तथा कम्पनी के प्रभाव को बढ़ाने का अवसर उपलब्ध हो गया।

नन्दकुमार, जो एक कुलीन ब्राह्मण था और जिसका बंगाल प्रशासन में काफी प्रभाव था, और वारेन हेस्टिग्ज में काफी वैमनस्य हो गया था। नन्दकुमार और हेस्टिग्ज विरोधी कौंसिल के सदस्यों में गाढी मैत्री थी। नन्द कुमार ने कौंसिल के इन सदस्यों से मिलकर वारेन हेस्टिग्ज पर आरोप लगाया कि उसने मीर जाफर की विधवा मुन्नी बेगम से अनुचित धन प्राप्त किया है। इससे हेस्टिग्ज को आशंका हुई कि शायद नन्दकुमार, जो कभी उसका घनिष्ठ मित्र रह चुका था, उसकी विभिन्न नीतियों का रहस्य खोल देगा। अतः बंगाल कौंसिल में नन्दकुमार के आरोप पत्र पर विचार ही चल रहा था, कि मोहन प्रसाद नामक एक व्यक्ति ने नन्दकुमार के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा दायर कर उस पर जाली पट्टे जारी करने का आरोप लगाया। इस मुकदमे में नन्दकुमार को मृत्यु दण्ड दे दिया गया। कहा जाता है कि मोहन प्रसाद के मुकदमे में वारेन हेस्टिग्ज का हाथ था।

दीवानी के प्रबन्ध के साथ-साथ दीवानी न्याय प्रबन्ध का उत्तरदायित्व भी कम्पनी पर आ गया था। द्वैध शासन के कारण पुरानी न्याय प्रणाली पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी। कम्पनी के कर्मचारियों ने सामान्य नागरिकों तथा शिल्पियों पर भीषण अत्याचार करना आरम्भ कर दिया था। स्वयं संचालक समिति ने 10 अप्रेल 1771 में अपने कर्मचारियों के इन अत्याचारों को स्वीकार किया था। अतः संचालकों ने बंगाल में अपने अधिकारियों को न्याय व्यवस्था में सुधार करने का आदेश दिया था।

भारत में कम्पनी के कर्मचारियों का लक्ष्य अधिकाधिक धन कमाकर इंगलैंड लौट जाना होता था। अतः भारतीयों के लिये कम्पनी में नौकरी प्राप्त करना संभव नहीं था। कम्पनी में ऐसे किसी पद पर जहाँ प्रशासकीय एवं व्यापारिक गोपनीयता की आवश्यकता होती थी, उन पदों पर भारतीयों को बहुत कम नियुक्त किया जाता था। कम्पनी के कर्मचारियों को निजी व्यापार की छूट भी प्राप्त थी और कुछ निश्चित कार्यों पर उन्हें कमीशन भी दिया जाता था। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों को भेंट व उपहार भी मिलते रहते थे। इस प्रकार एक ओर तो कम्पनी को दीवानी का उचित प्रबन्ध करना था तो दूसरी ओर अपने कर्मचारियों के निजी व्यापार एवं घूसखोरी पर प्रतिबन्ध लगाना था। अतः वारेन हेस्टिग्ज के प्रशासनिक परिवर्तनों का उद्देश्य कम्पनी को इन कार्यों के योग्य बनाना था।

रेगुलेटिंग एक्ट और कम्पनी पर नियन्त्रण

इंगलैंड में कम्पनी का प्रबन्ध संचालक समिति (Court of Directors) द्वारा किया जाता था। इन संचालकों का चुनाव, कम्पनी के उन हिस्सेदारों द्वारा किया जाता था जिनके पास कम से कम 500 पौंड के हिस्से होते थे। इंगलैंड की संसद कम्पनी के मामलों में प्रायः हस्तक्षेप नहीं करती थी। 1765 ई० में दीवानी का अधिकार प्राप्त करने के बाद कम्पनी के कर्मचारी भारत से धनी बनकर इंगलैंड लौटने लगे तथा वहां की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। अतः इंगलैंड में यह आम भावना थी कि कम्पनी आर्थिक दृष्टि से मजबूत है।

वस्तुतः कम्पनी की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही चिन्ताजनक थी। उसकी आर्थिक नींवें खोखली हो चुकी थी। स्थिति यहां तक पहुंच गई थी कि यदि कम्पनी के लिये जल्द से जल्द धन न जुटाया गया तो कम्पनी के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो सकता था। कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ने के निम्न कारण थे—

(1) कम्पनी ने भारत में लगातार युद्ध किये थे तथा इन युद्धों में अत्यधिक मात्रा में धन खर्च हुआ था, किन्तु इन युद्धों के फलस्वरूप उसे कोई विशेष आर्थिक लाभ नहीं हुआ था।

(2) यद्यपि कम्पनी ने बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी का अधिकार तो प्राप्त कर लिया था, किन्तु इस दीवानी से कम्पनी को जो राजस्व प्राप्त होना चाहिये था, वह प्राप्त नहीं हो रहा था।

(3) कम्पनी के कर्मचारी अपने निजी व्यापार में लगे हुए थे। इस निजी व्यापार के कारण वे कम्पनी के व्यापार की उपेक्षा कर रहे थे। अतः कम्पनी को व्यापार से भी कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा था।

(4) जब कम्पनी के साधारण कर्मचारी भारत से धनी बनकर इंगलैंड लौटने लगे तब कम्पनी के प्रोपराइटर्स (हिस्सेदार) ने कम्पनी के लाभांश को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। 1766 में यह लाभांश 6 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर

दिया। 1767 में इसे $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत करना चाहा, किन्तु संसद के हस्तक्षेप के कारण 10 प्रतिशत ही रहा। 1772 में इसे $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया।

(5) कम्पनी के कर्मचारी अत्यधिक धनी वनकर इंगलैंड लौटते थे तथा वहां की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। अतः संसद के कुछ सदस्यों का विचार था कि कम्पनी आर्थिक दृष्टि से मजबूत है, इसलिये कम्पनी को क्राउन के अधीन कर दिया जाय। इस विचारधारा के प्रवल होने के कारण कम्पनी ने अपनी राजनीतिक उपलब्धियों को सुरक्षित रखने के लिये राज्य को 1 फरवरी, 1767 से 4 लाख पौंड वार्षिक देना स्वीकार किया। पहले यह समझौता दो वर्ष के लिये हुआ था, किन्तु 1769 में यह समझौता अगले पांच वर्षों के लिये बढ़ा दिया गया था।

कम्पनी की बिगड़ती हुई स्थिति के कारण कम्पनी के लिये धन की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। कम्पनी को इतनी विशाल राशि केवल इंगलैंड की सरकार ही दे सकती थी। किन्तु कम्पनी के संचालकों को इस वात की आशंका थी कि सरकार से ऋण मांगने पर कहीं कम्पनी को क्राउन के अधीन न कर दिया जाय तथा इंगलैंड के शेयर वाजार में शेयरों का मूल्य एकदम न गिर जाय। फिर भी संचालकों ने इंगलैंड की सरकार के पास 14 लाख पौंड ऋण देने का आवेदन पत्र भेजा। इस आवेदन पत्र के सम्वन्ध में इंगलैंड के विद्वानों एवं विचारकों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कुछ लोगों का कहना था कि अब कम्पनी को क्राउन के अधीन कर दिया जाय, कुछ लोगों का कहना था कि सरकार कम्पनी को ऋण तो दे, किन्तु इसे क्राउन के अधीन न किया जाय और कुछ लोगों का कहना था कि कम्पनी को न तो ऋण दिया जाय और न ही क्राउन के अधीन किया जाय अर्थात कम्पनी अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं करे।

कम्पनी के आवेदन पत्र पर विचार करने हेतु सरकार ने यह मामला दो समितियों—सीक्रेट समिति तथा सलेक्ट समिति को सौंपा। इन समितियों के सुझावों के आधार पर सरकार ने दो विधेयक तैयार किये। प्रथम विधेयक में कम्पनी को 14 लाख पौंड ऋण देने की व्यवस्था की गई तथा दूसरे विधेयक में कम्पनी पर कुछ सरकारी नियन्त्रण रखने के लिये कम्पनी की संचालक समिति तथा भारत में प्रशासन व्यवस्था सम्वन्धी परिवर्तन करने की व्यवस्था की गई। दूसरे विधेयक को रेगुलेटिंग एक्ट कहा जाता है, जिसे इंगलैंड की संसद ने 1773 ई० में पास किया तथा 1774 ई० में लागू किया गया।

एक्ट के उद्देश्य—इस एक्ट के निम्न उद्देश्य वताये गये थे—

(1) कम्पनी पर क्राउन का कुछ नियन्त्रण व अधिकार स्थापित करना।

(2) कम्पनी की संचालक समिति के गठन के सम्वन्ध में कुछ परिवर्तन करना।

(3) कम्पनी के राजनीतिक अस्तित्व को स्वीकार करके उसके व्यापारिक ढांचे को राजनीतिक कार्यों के संचालन के योग्य बनाना।

धाराएँ—इस एक्ट में संचालक समिति से सम्बन्धित तथा प्रशासन से सम्बन्धित मुख्य रूप से निम्न धाराएँ रखी गई—

(1) कम्पनी के संचालकों के चुनाव में वही व्यक्ति मत देने का अधिकारी होगा, जिसके पास कम्पनी के 1,000 पौंड के शेयर होंगे। इससे पहले मताधिकार उन व्यक्तियों को था, जिसके पास कम्पनी के 500 पौंड मूल्य के शेयर थे।

(2) संचालकों का कार्यकाल एक वर्ष के स्थान पर 4 वर्ष होगा और कुल सदस्यों को ¼ भाग (6 सदस्य) प्रतिवर्ष चुने जायेंगे। एक ही सदस्य के दुबारा चुने जाने के पूर्व एक वर्ष का अवकाश आवश्यक होगा।

(3) जिन व्यक्तियों के पास 3, 6 व 10 हजार पौंड मूल्य के शेयर थे, उन्हें कमशः 2, 3 और 4 मत देने का अधिकार दिया गया।

(4) इस एक्ट के द्वारा भारत में कम्पनी के लिये एक गवर्नर जनरल ऑफ बंगाल की नियुक्ति की गई तथा उसकी सहायता के लिये चार सदस्यों की एक कौंसिल का निर्माण किया गया। गवर्नर जनरल आफ बंगाल के लिये वारेन हेस्टिंग्ज के नाम का उल्लेख किया गया तथा कौंसिल के चार सदस्यों के लिये बारवेल, फ्रान्सिस, क्लेवरिंग व मॉन्सन के नामों का उल्लेख किया गया। समिति के सदस्यों का कार्य-काल 5 वर्ष रखा गया तथा यह भी कहा गया कि कौंसिल के निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे।

(5) बम्बई व मद्रास प्रान्त के गवर्नर और कम्पनी की शाखाओं को गवर्नर जनरल के अधीन कर दिया गया। इन दोनों गवर्नरों को अपनी विदेश नीति (देशी राजाओं से युद्ध करने अथवा सन्धि करने में) में बंगाल कौंसिल के निर्देशन में कार्य करने को कहा गया। किन्तु असाधारण स्थिति में ये दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकते थे तथा संचालक समिति से सीधे आदेश प्राप्त कर सकते थे।

(6) बंगाल में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश नियुक्त किये गये। बंगाल, बिहार व उड़ीसा की समस्त अंग्रेज प्रजा पूरी तरह से इस न्यायालय के अधीन होगी। मुख्य न्यायाधीश के पद के लिये सर एलिग इम्पे के नाम का उल्लेख किया गया।

(7) गवर्नर जनरल एवं उसकी कौंसिल को नियम बनाने तथा अध्यादेश प्रसारित करने का अधिकार दिया गया, किन्तु इन्हें लागू करने से पूर्व इनका सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पंजीकरण एवं प्रकाशित किया जाना आवश्यक था।

(8) कम्पनी के संचालकों व भारत में स्थित कम्पनी के बीच जो भी पत्र व्यवहार होगा, उसकी एक प्रति इंगलैंड की सरकार के पास भेजी जायेगी।

(9) कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा चलाया जाने वाला निजी व्यापार पूरी तरह से वर्जित कर दिया गया तथा ऐसा करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया।

रेगुलेटिंग एक्ट के दोष—इस एक्ट में अनेक दोष थे, जिससे आगे चलकर गृह सरकार एवं भारतीय प्रशासन में भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। ये दोष कुछ तो मौलिक थे और कुछ व्यवहारिक। मुख्य रूप से इस एक्ट की आलोचना निम्न दोषों के आधार पर की जाती है—

(1) अधिक पूंजी वाले हिस्सेदारों को मतदान का अधिकार देने से लगभग 1246 हिस्सेदारों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया। बड़े हिस्सेदारों को एक से अधिक मत का अधिकार देकर भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन दिया गया।

(2) कम्पनी के मामलों पर संसद का नियन्त्रण भी पर्याप्त नहीं था। कम्पनी को अपने कार्यों की रिपोर्ट इंगलैंड की सरकार को भेजनी पड़ती थी किन्तु इंगलैंड में ऐसा कोई सरकारी प्रबन्ध नहीं किया गया जिससे कि इन रिपोर्टों की जांच हो सके तथा कम्पनी के कर्मचारियों की कार्यवाही पर नजर रखी जा सके।

(3) इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल को भी पर्याप्त शक्ति नहीं दी गई। उसे कौंसिल के बहुमत को मानना पड़ता था। कौंसिल के चार सदस्यों में से तीन सदस्य उस पर हावी हो जाते थे तथा उसे ऐसे कई कार्य करने को बाध्य होना पड़ता था, जिसका वह कौंसिल में विरोध कर चुका होता था। स्वयं वारेन हेस्टिंग्ज ने कहा था, "सही रूप में मेरी स्थिति कष्टप्रद व अपमानकारी है, अधिनियम द्वारा जो शक्तियां मुझे प्रदान की गई हैं, उन्हीं शक्तियों से मुझे वंचित भी कर दिया गया है। मेरे पद को जो सम्मान मिलना चाहिये, उसकी उपेक्षा की गई है तथा जिन कार्यों का मैं अनुमोदन नहीं करता, फिर भी उनका उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।" ऐसी स्थिति का कारण यह था कि वारेन हेस्टिंग्ज की कौंसिल में केवल बारवेल को छोड़कर अन्य तीन सदस्य उसके विरोधी थे।

(4) गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल को बम्बई व मद्रास प्रेसीडेन्सियों पर पर्याप्त नियन्त्रण नहीं दिया गया। असाधारण परिस्थितियों में वे बिना बंगाल सरकार की स्वीकृति के भी कार्य करने में स्वतन्त्र थे तथा संचालकों से सीधे आदेश प्राप्त करने का अधिकार था। इस उपबन्ध से कालान्तर में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(5) सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना से एक नई कठिनाई उत्पन्न हो गयी थी, क्योंकि उसकी शक्तियों की व्याख्या ठीक ढंग से नहीं की गई। सर्वोच्च न्यायालय व बंगाल कौंसिल में सर्वोच्च कौन था, इसकी कोई व्याख्या नहीं की गई। फलतः दोनों में झगड़ा छिड़ गया। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को भी निश्चित नहीं किया गया, जिससे प्रान्तीय न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय के बीच विवाद उत्पन्न हो गये।

(6) इस अधिनियम में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन से कानून (भारतीय या अंग्रेजी) से न्याय किया जायेगा—वादी के अथवा प्रतिवादी के कानून से न्याय होगा। चूंकि-सर्वोच्च न्यायालय के जज भारतीय कानूनों एवं रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ थे, अतः उन्होंने ब्रिटिश कानूनों के आधार पर न्याय किया, जिससे भारतीयों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

एक्ट के-गुण—यद्यपि रेगुलेटिंग एक्ट में अनेक दोष विद्यमान थे, तथापि यह सर्वथा गुणों से मुक्त भी नहीं था। इस एक्ट के गुणों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

(1) यह प्रथम अवसर था जबकि भारत में ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्रों पर कम्पनी के स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर लिखित संविधान तैयार किया गया। सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि भविष्य में बनाये जाने वाले सभी संवैधानिक नियमों के लिये इस अधिनियम ने ढांचा तैयार कर दिया।

(2) संचालकों के कार्यकाल में वृद्धि करने से उन्हें अधिक सुरक्षा प्राप्त हो गयी तथा अब वे अपनी नीतियों को ठीक ढंग से कार्यान्वित कर सकते थे।

(3) इस अधिनियम द्वारा कम्पनी पर संसद के नियन्त्रण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। इस अधिनियम की आधारशिला पर ही धीरे-धीरे नियन्त्रण कठोर किया गया और 1858 ई० में तो कम्पनी की सत्ता ही समाप्त कर दी गई। अतः इस अधिनियम के परिणाम बड़े दूरगामी व स्थायी सिद्ध हुए।

(4) आरम्भ में यह कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, किन्तु अब वह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में कार्य करने लगी थी। कम्पनी को प्रदत्त चार्टर (व्यापार करने का अधिकार पत्र) में ऐसे कार्यों को मान्यता नहीं दी गई थी। इस अधिनियम द्वारा कम्पनी ने जो वास्तविक स्थिति ग्रहण की थी, उसे मान्यता प्रदान कर दी गई।

(5) इस अधिनियम द्वारा प्रथम बार एक यूरोपीय सरकार ने यूरोप के बाहर प्राप्त भू क्षेत्र के शासन का दायित्व ग्रहण किया। वस्तुतः भारत में कम्पनी के क्षेत्रों पर, ब्रिटिश ताज द्वारा बिना सीधा दायित्व ग्रहण किये, अच्छी सरकार स्थापित करने हेतु यह एक साहसिक कदम था।

(6) कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा भ्रष्टाचार, निजी व्यापार तथा उपहार स्वीकार करने पर, ब्रिटिश संसद द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध भी कम महत्वपूर्ण बात नहीं थी।

(7) इस अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासनिक ढांचे का केन्द्रीयकरण करने की दिशा में प्रथम प्रयास किया गया। यद्यपि मद्रास व बम्बई की प्रेसीडेन्सियों पर केन्द्र का नियन्त्रण अपर्याप्त था, फिर भी भारत में कम्पनी की विभिन्न शाखाओं पर एक सर्वोच्च सत्ता अवश्य स्थापित कर दी गई थी।

यद्यपि रेगुलेटिंग एक्ट गुण व दोषों से युक्त था, फिर भी उन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, जिसमें उसका निर्माण हुआ, सर्वथा सराहनीय था। सप्रे ने ठीक ही लिखा है कि, "यह अधिनियम संसद द्वारा कम्पनी के कार्यों में प्रथम हस्तक्षेप था, अतः उसकी नम्रतापूर्वक आलोचना की जानी चाहिये।" यह एक्ट कम्पनी की व्यवस्था सुधारने का प्रथम प्रयास था और इस दृष्टि से कुछ दोष रह जाने स्वाभाविक थे। इस एक्ट द्वारा कम्पनी के राजनीतिक लक्ष्य व अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया। अतः यह अधिनियम कम्पनी के संवैधानिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पिट्स इण्डिया एक्ट 1784—1774 से 1783 के बीच विभिन्न घटनाओं ने रेगुलेटिंग एक्ट के दोषों को स्पष्ट कर दिया था। मद्रास व बम्बई की प्रेसीडेन्सियों पर बंगाल सरकार का पर्याप्त नियन्त्रण न होने के कारण कम्पनी को अनावश्यक युद्धों में उलझना पड़ा था। इन युद्धों के कारण कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी बिगड़ती जा रही थी तथा कम्पनी के अधिकारियों द्वारा अनुचित रूप से धन कमाने पर भी कोई प्रभावी नियन्त्रण स्थापित नहीं हुआ था। सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित दोषों को 1781 के एक अधिनियम द्वारा दूर कर दिया गया तथा उसका क्षेत्राधिकार स्पष्ट कर दिया गया। किन्तु प्रशासन सम्बन्धी दोष अभी भी विद्यमान थे। 1781–82 में इंगलैण्ड की संसद ने वारेन हेस्टिंग्ज को वापिस बुलाना चाहा, किन्तु कम्पनी के हिस्सेदारों की सभा ने इसका सफलतापूर्वक विरोध किया। इससे कम्पनी पर संसद का अपर्याप्त नियन्त्रण भी स्पष्ट हो गया। अतः रेगुलेटिंग एक्ट में संशोधन करने की आवश्यकता महसूस की गई। इस सम्बन्ध में डूण्डास का 'भारत बिल' तथा फाक्स का ईस्ट इण्डिया बिल अस्वीकृत हो चुके थे। अतः प्रधान मन्त्री यंगर पिट्ट ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जो 1784 में पारित कर दिया गया। यह अधिनियम पिट्स इण्डिया एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस एक्ट द्वारा कम्पनी के शासन में निम्न व्यवस्थाएं की गई—

(1) कम्पनी शासन पर प्रभावी नियन्त्रण रखने के लिये इंगलैण्ड में छः कमिश्नरों का एक बोर्ड गठित किया गया, जिसे बोर्ड आफ कंट्रोल कहा गया। इस बोर्ड में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तथा वित्त मन्त्री के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य रखे गये, जिनकी नियुक्ति ब्रिटिश ताज द्वारा होती थी। सदस्यों के वेतन आदि का खर्चा भारत के राजस्व से वसूल करने का निर्णय लिया गया।

(2) संचालकों द्वारा भेजे जाने वाले प्रस्तावित आदेश तथा अन्य पत्र भारत भेजने से पूर्व बोर्ड आफ कंट्रोल द्वारा अनुमोदित होने चाहिये। बोर्ड किसी भी आदेश या पत्र के प्रारूप में संशोधन कर सकता था अथवा उस प्रारूप के स्थान पर नया प्रारूप तैयार कर सकता था। बोर्ड द्वारा संशोधित अथवा नया तैयार किया हुआ प्रारूप ही संचालकों को भारत भेजना पड़ता था। संचालकों द्वारा

प्रस्तावित आदेश या पत्र बोर्ड द्वारा अस्वीकार भी किये जा सकते थे। बोर्ड को संचालकों की अनुमति के बिना भी आदेश या पत्र भेजने का अधिकार था।

(3) संचालकों में से तीन सदस्यों की गुप्त समिति गठित की गई, जिसे बोर्ड ऑफ कंट्रोल द्वारा गुप्त मामले प्रेषित किये जाते थे, जो अन्य संचालकों को नहीं बताये जाते थे।

(4) भारत में गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या तीन कर दी गई जिनमें एक भारत में ब्रिटिश सेना का मुख्य सेनापति होता था। गवर्नर जनरल को निर्णायक मत देने का अधिकार दिया गया। अब गवर्नर जनरल केवल एक सदस्य को अपने पक्ष में करके जैसा चाहे कर सकता था।

(5) गवर्नर जनरल की कौंसिल के समान ही बम्बई व मद्रास प्रेसीडेन्सियों के लिए भी तीन सदस्यों की कौंसिल बनाई गई। मद्रास तथा बम्बई की सरकारों को पूर्ण रूप से बंगाल सरकार के अधीन कर दिया गया। यदि इन्हें कोई आदेश सीधे संचालकों से प्राप्त हों, जो बंगाल सरकार के आदेशों के विपरीत हों तब भी वे आदेश पहले बंगाल सरकार को भेजने होंगे तथा फिर बंगाल सरकार के आदेशानुसार ही कार्य करना होगा।

(6) गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों की नियुक्ति संचालक करते थे, किन्तु उन्हें वापस बुलाने का अधिकार ब्रिटिश ताज को सौंपा गया। किन्तु गवर्नर जनरल की नियुक्ति के लिये संचालकों को ताज की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक था।

(7) प्रथम बार कम्पनी के भारतीय प्रदेशों को अंग्रेजी राज्य के प्रदेश कहा गया। गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल, बोर्ड ऑफ कंट्रोल की बिना अनुमति के अथवा कम से कम गुप्त समिति की पूर्वानुमति के भारत में किसी शक्ति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं कर सकेगी। इस एक्ट में यह घोषणा की गई थी कि "भारत में राज्य विस्तार और विजय की योजनाओं को चलाना, ब्रिटिश राष्ट्र की नीति, मान और इच्छा के विरुद्ध है।"

(8) बम्बई व मद्रास प्रेसीडेन्सियां पूर्णतया गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल के अधीन होगी। बंगाल अथवा इंगलैण्ड के अधिकारियों की आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर प्रेसीडेन्सी के गवर्नर को निलम्बित किया जा सकता था।

एक्ट का महत्व—यद्यपि इस एक्ट ने कम्पनी के मूलभूत संविधान में कोई परिवर्तन नहीं किया गया, फिर भी इस एक्ट का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि इसके द्वारा पहली बार कम्पनी के भारतीय प्रदेशों को अंग्रेजी राज्य का अंग माना गया और उन पर नियन्त्रण रखने के लिए बोर्ड आफ कंट्रोल की स्थापना की गई। गुप्त समिति का गठन करके कम्पनी के कार्यों में कार्यकुशलता उत्पन्न की गई। इस एक्ट द्वारा गवर्नर जनरल का बम्बई व मद्रास सरकारों पर नियन्त्रण निश्चित एवं वास्तविक बन गया तथा कम्पनी के समस्त सैनिक व असैनिक मामलों पर

ब्रिटिश संसद का अन्तिम नियन्त्रण स्थापित हो गया। अब ब्रिटिश संसद अपने बोर्ड ऑफ कंट्रोल के माध्यम से कम्पनी के मामलों का संचालन, निगरानी व नियन्त्रण करने लगी। इस प्रकार रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा ब्रिटिश संसद का जो अनिश्चित नियन्त्रण स्थापित किया गया उसे अब वास्तविक एवं निश्चित बना दिया गया। इतना ही नहीं, इस एक्ट द्वारा कम्पनी की विदेश नीति को भी एक नई दिशा दी गई। भारतीय राज्यों में हस्तक्षेप न करने की नीति से भारतीय राजनीति में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। बाद में वेलेजली ने अहस्तक्षेप की धारा 34 का भिन्न अर्थ लगाते हुए इस नीति में परिवर्तन किया था और साम्राज्य-वादी नीति का आश्रय लिया था।

इस एक्ट द्वारा कम्पनी के सभी पदों पर नियुक्ति का अधिकार संचालकों के पास छोड़ दिया गया। फलस्वरूप संचालक सरकार की नीतियों को सहर्ष स्वीकार कर लेते थे। अब कम्पनी के कार्यों को दो भागों में बांट दिया गया। राजनीतिक व शासन सम्बन्धी कार्यों पर नियन्त्रण के लिए बोर्ड आफ कंट्रोल की स्थापना की गई तथा व्यापारिक कार्यों पर नियन्त्रण संचालकों पर छोड़ दिया गया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के छः सदस्यों में से एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तथा दूसरा वित्त मन्त्री होता था। अतः बोर्ड ऑफ कंट्रोल का वास्तविक कार्य सरकार के इन दो सदस्यों द्वारा ही किया जाता था, अन्य चार सदस्य बोर्ड के कार्यों में बहुत ही कम रुचि लेते थे। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल संचालकों द्वारा नियुक्त किसी भी कर्मचारी को वापस बुला सकता था। इसका परिणाम यह निकला कि संचालक अब ऐसे किसी व्यक्ति को नियुक्त नहीं करते थे, जिसे बोर्ड ऑफ कंट्रोल नहीं चाहता था। बोर्ड ऑफ कंट्रोल का सदैव यही प्रयत्न रहता था कि भारत में उसी व्यक्ति को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया जाय, जिसे वह चाहता हो। अतः स्वाभाविक ही था कि भारत में गवर्नर जनरल संचालकों के आदेशों की अपेक्षा बोर्ड ऑफ कंट्रोल के आदेशों को अधिक महत्व देते थे। इस प्रकार कम्पनी की नीतियों का संचालन पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार के अधीन हो गया। अल्बर्ट ने ठीक ही लिखा है कि पिट्ट ने कम्पनी के संविधान में भारी परिवर्तन किये बिना ही भारत की ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित कर दिया।

इस एक्ट द्वारा लन्दन में जो दोहरी सरकार स्थापित की गई उसमें अनेक दोष थे। कम्पनी पर शासन करने का दायित्व दो संस्थाओं–संचालक मण्डल तथा बोर्ड ऑफ कंट्रोल पर छोड़ दिया गया जिससे अनेक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गयी। कई बार इन संस्थाओं में मतभेद होने के कारण अनेक प्रस्ताव इन संस्थाओं के बीच निर्णय के लिये लटके रह जाते थे तथा भारत सरकार को सामान्य निर्देश भेजने में भी महीने लग जाते थे। चूंकि इन दोनों संस्थाओं की शक्तियों को अनिश्चित छोड़ दिया गया था, अतः किसी मामले में किसी की जिम्मेवारी निश्चित

करना कठिन था। फलस्वरूप इस पद्धति से गैर जिम्मेवारी की भावना उत्पन्न हो गयी। इस एक्ट में सबसे बड़ा दोष यह था कि बोर्ड ऑफ कंट्रोल राजनैतिक व सैनिक मामलों में नीति निर्धारित करता था और निर्णय भी लेता था, किन्तु उन्हें लागू करने का दायित्व संचालकों पर छोड़ दिया गया था। अतः जिन निर्णयों को संचालक नहीं चाहते थे, उन्हें लागू करने में अनेक बहाने बनाकर अनावश्यक देरी कर देते थे। यह दोहरी प्रणाली 1858 में समाप्त की गई थी।

वस्तुतः इस अधिनियम के बनाने वालों के सामने अनेक कठिनाइयां थी। एक तरफ कम्पनी, कम से कम अधिकार ब्रिटिश सरकार को सौंपना चाहती थी तो दूसरी ओर ब्रिटिश संसद भारतीय शासन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहती थी। इसलिए पिट्ट ने दोहरा नियन्त्रण स्थापित करके इस समस्या का समाधान किया तथा अनेक विरोधी हितों में तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया गया। स्वयं पिट्ट ने कहा था कि, "भारत जैसे दूरवर्ती और विशाल देश के प्रदेशों की सरकार के लिये वह (पिट्ट) और जो कोई भी, कोई योजना बनायेगा, वह अपर्याप्त रहनी स्वाभाविक है।"

प्रशासन सम्बन्धी सुधार—वारेन हेस्टिग्ज ने अपने कार्यकाल में अनेक राजनैतिक एवं प्रशासनिक परिवर्तन किये जिसके बड़े दूरगामी परिणाम हुए। संचालकों के आदेशानुसार उसने क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन को समाप्त कर दिया तथा दोनों नायाब दीवानों को पदच्युत कर उन पर मुकदमे चलाये। अन्त में दोनों को मुक्त कर दिया। किन्तु हेस्टिग्ज ने कम्पनी के कर्मचारियों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया कि गैर कानूनी कार्य करने पर वह कम्पनी के कर्मचारियों को कठोर दण्ड दे सकता है और जो व्यक्ति राजस्व के उत्तरदायित्व को ईमानदारी से नहीं निभायेगा उसे कानून के अन्तर्गत कठोर दण्ड दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त कम्पनी बंगाल के नवाब को जो 36 लाख रुपये वार्षिक देती थी, इस राशि को घटाकर 16 लाख रुपये कर दिया गया, क्योंकि अब कम्पनी ने स्वयं प्रशासन का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया था। नवाब के पारिवारिक मामलों का पुनर्गठन करने के लिये उसने मीर जाफर के उत्तराधिकारी मुबारक-उद-दौला, जो इस समय अल्पवयस्क था के संरक्षण के लिये मीर जाफर की विधवा पत्नी मुन्नी बेगम को संरक्षिका नियुक्त किया तथा नन्दकुमार के पुत्र गुरदास को परिवार का नियंत्रक नियुक्त किया। अब चूंकि प्रशासन का दायित्व कम्पनी ने ग्रहण कर लिया था, अतः राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र मुर्शिदाबाद से कलकत्ता स्थानान्तरित हो गया था। इसलिए हेस्टिग्ज ने राजकोष को मुर्शिदाबाद से कलकत्ता स्थानान्तरित कर दिया ताकि वित्तीय प्रबन्ध में भी सुविधा रहे। इसके अतिरिक्त हेस्टिग्ज ने मुगल सम्राट को दी जाने वाली 25 लाख रुपये की राशि पूर्णतः बन्द कर दी और उससे कड़ा और इलाहाबाद के जिले भी वापिस ले लिये, क्योंकि मुगल सम्राट मराठों के प्रभाव में जा चुका था। उसने कड़ा और इलाहाबाद के जिले एक अन्य सन्धि द्वारा अवध

के नवाब को दे दिये और इसके बदले में उससे 50 लाख रुपये प्राप्त किये। इस प्रकार हेस्टिंग्ज ने राजकीय खर्च में कटौती कर आय भी प्राप्त कर ली।

व्यापार सम्बन्धी सुधार—भारत में कम्पनी का मुख्य कार्य व्यापार करना था, किन्तु कम्पनी के कर्मचारियों ने अपने निजी व्यापार के कारण, कम्पनी के व्यापार में रुचि लेना बन्द कर दिया था। अब कम्पनी को अपने राजनीतिक दायित्व पूरे करने के लिए सैनिक कार्य भी करने पड़ते थे। फलतः व्यापारिक दृष्टिकोण से कम्पनी की स्थिति खराब हो रही थी। दस्तक (कर रहित व्यापार का अधिकार पत्र) का दुरुपयोग अभी भी प्रचलित था। अतः हेस्टिंग्ज ने दस्तक पत्र जारी करने की पद्धति को तुरन्त बन्द करने के आदेश दे दिये तथा कर्मचारियों के निजी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस आदेश का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अब व्यापार भारतीय व्यापारियों के नाम से होने लगा, जबकि वास्तव में व्यापार अंग्रेज अधिकारी ही करते थे। 1776 के बाद संचालकों ने स्वयं अपने कर्मचारियों को निजी व्यापार की छूट दे दी थी।

इसके अतिरिक्त हेस्टिंग्ज के आने से पूर्व भिन्न-भिन्न जमींदारों ने अपनी स्वयं की चुंगी चौकियाँ स्थापित कर ली थी। इन भिन्न-भिन्न चुंगी चौकियों पर, चुंगी वसूल करने से वस्तु की कीमत में भारी असन्तुलन उत्पन्न हो जाता था। अतः हेस्टिंग्ज ने समस्त चुंगी चौकियों को समाप्त कर केवल पाँच चुंगी चौकियां—कलकत्ता, हुगली, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में स्थापित की। हेस्टिंग्ज ने यह भी आदेश दिया कि सभी माल पर, चाहे वह यूरोपियन व्यापारी हो या कोई अन्य, सभी से 2½ प्रतिशत की दर से चुंगी वसूल की जायेगी, किन्तु सुपारी, नमक व तम्बाकू पर लगने वाली चुंगी में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इन सुधारों से व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला तथा आय के स्रोतों में वृद्धि हुई।

लगान व्यवस्था में सुधार—वारेन हेस्टिंग्ज के आते ही कम्पनी ने प्रत्यक्ष रूप से बंगाल की दीवानी का दायित्व ग्रहण कर लिया था। अतः लगान व्यवस्था को नियमित करना आवश्यक था। हेस्टिंग्ज ने एक भ्रमण समिति नियुक्त की। जिसमें स्वयं गवर्नर तथा कम्पनी के कुछ वरिष्ठ अधिकारी थे। इस समिति ने विभिन्न जिलों का दौरा करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर पांच वर्षीय बन्दोबस्त लागू किया गया। भूमि पांच वर्ष के लिए उन व्यक्तियों को दी जाने लगी जो अधिकतम लगान देने का वादा करते थे। सामान्य परिस्थिति में इस कार्य के लिये जमींदारों को प्राथमिकता दी जाती थी। जमींदार अपने किसानों को उनकी भूमि का पट्टा देता था जिसमें किसान द्वारा दिया जाने वाला लगान दर्ज होता था। जिले में लगान वसूल करने का काम कलेक्टर को सौंपा गया तथा उसकी सहायता के लिए भारतीय दीवान नियुक्त किये गये। लगान वसूली तथा दीवानी न्याय एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्येक जिले में दीवानी अदालतें

स्थापित की गई। लगान व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने के लिये मुर्शिदाबाद व पटना में एक एक भूराजस्व नियन्त्रण परिषद स्थापित की गई। समस्त भूराजस्व प्रशासन का केन्द्रीयकरण करने हेतु गवर्नर तथा उसकी कौंसिल को राजस्व मण्डल के नाम से पुकारा जाने लगा। राजस्व मण्डल को सहायता देने हेतु एक भारतीय अधिकारी की नियुक्ति की गई जो 'रायरायन' कहलाता था।

उपर्युक्त व्यवस्था अत्यन्त ही दोषपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि भूमि की इतनी अधिक बोली लगाई जाने लगी जो वास्तव में भूराजस्व की कीमत से अधिक होती थी तथा यह अधिक रकम किसानों से वसूल की जाती थी, जिससे किसानों पर अत्याचार बढ़ गये व किसानों की हालत खराब होती गई। अतः नवम्बर 1773 में एक नई योजना स्वीकार की गई, जो दो भागों में थी। प्रथम भाग की योजना अस्थायी थी, जिसे तुरन्त लागू करना था तथा दूसरे भाग की योजना भविष्य में लागू करनी थी। प्रथम भाग की योजना 1774 में लागू कर दी गई। समस्त बंगाल प्रेसीडेन्सी को छः डिविजनों में बांटा गया—कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, पटना, वर्दवान, दीनाजपुर, और ढाका। प्रत्येक डिविजन के लिये एक एक प्रान्तीय परिषद स्थापित की गई और उनकी सहायता के लिये एक एक दीवान नियुक्त किया गया। कलेक्टरों को वापिस बुला लिया गया तथा उनके स्थान पर भारतीय राजस्व अधिकारी नियुक्त किये गये, जिन्हें 'नायब' कहा जाता था। भूराजस्व निर्धारण के तरीके के प्रश्न को लेकर कौंसिल में मतभेद उत्पन्न हो गया, अतः संचालकों ने आदेश दिया कि कौंसिल द्वारा अन्तिम निर्णय लेने तक एक वर्षीय प्रणाली लागू कर दी जाय।

1781 में हेस्टिंग्ज ने अपनी योजना का दूसरा भाग लागू किया। प्रान्तीय परिषदें समाप्त कर दी गई तथा जिलों का राजस्व प्रशासन भारतीय नायबों के पास ही रखा। केन्द्र में नई राजस्व समिति स्थापित की गई, जिसकी सहायता के लिए भारतीय दीवान रखा गया। राजस्व समिति के सदस्यों को निश्चित वेतन के स्थान पर, प्राप्त होने वाले भूराजस्व का दो प्रतिशत देना तय किया गया, किन्तु समिति के अध्यक्ष को अधिक वेतन दिया गया। गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल इस राजस्व समिति से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखती थी ताकि उन्हें समय-समय पर निर्देश दे सके।

हेस्टिंग्ज की यह लगान व्यवस्था पूर्णतया सन्तोषजनक साबित नहीं हुई। अधिक बोली लगाने वाले व्यवसायी ही राजस्व वसूल करने का ठेका प्राप्त करते थे, जिससे किसानों के कष्टों में वृद्धि हो गयी। केन्द्र की राजस्व समिति को भी दीवान की दया पर छोड़ दिया गया था। फिर भी राजस्व मण्डल की स्थापना तथा कलेक्टर के पद का सृजन करना राजस्व के क्षेत्र में हेस्टिंग्ज के महत्वपूर्ण

कार्य थे। यदि हेस्टिग्ज के समक्ष अन्य समस्याएं न आती तो संभव है वह अधिक अच्छे सुधार कर सकता था।

न्याय सम्बन्धी सुधार—हेस्टिग्ज के आने के समय बंगाल में दो प्रकार की न्याय प्रणाली प्रचलित थी–प्रथम तो मुगल कालीन प्रणाली तथा दूसरी कलकत्ता में कम्पनी का न्यायालय (Mayor's Court)। अभी तक न्याय का कार्य मुख्यतः स्थानीय जमींदार किया करते थे तथा न्यायालय द्वारा लगाये गए जुर्माने को वे अपनी निजी आय समझते थे। अतः जमींदारों के न्यायालय पूर्णतः भ्रष्ट थे। कम्पनी के कर्मचारियों के हस्तक्षेप से स्थिति और भी अधिक खराब हो गयी थी। अतः हेस्टिग्ज ने 1772 में न्याय प्रशासन में परिवर्तन किये। प्रत्येक जिले में एक दीवानी अदालत और एक निजामत (फौजदारी) अदालत की स्थापना की गई। दीवानी अदालत का कार्य सम्पत्ति, विवाह, जाति-प्रथा ऋण, लगान, उत्तराधिकार से सम्बन्धित मुकदमों की सुनवाई करना था। जिले का अंग्रेज कलेक्टर दीवानी अदालत का अध्यक्ष होता था। निजामत अदालत में चोरी, हत्या, जालसाजी तथा जबरन सम्पत्ति छीनने से सम्बन्धित मुकदमे सुने जाते थे। इस अदालत का संचालक काजी या मुफ्ती होता था तथा कानून के प्रश्नों पर सलाह देने के लिए दो मौलवियों की नियुक्ति की गई। इन जिला अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील, कलकत्ता में स्थापित सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत में की जाती थी। कलकत्ता कौंसिल का अध्यक्ष (गवर्नर बाद में गवर्नर जनरल) सदर दीवानी अदालत का अध्यक्ष होता था तथा कौंसिल के दो वरिष्ठ सदस्य अदालत के सदस्य होते थे। सदर निजामत अदालत का अध्यक्ष दरोगा या सदर काजी होता था, जो बंगाल के नवाब द्वारा नियुक्त किया जाता था। किन्तु इस अदालत पर नियन्त्रण रखने का अधिकार कलकत्ता कौंसिल को दिया गया था। दरोगा को कानूनी परामर्श देने के लिये तीन मौलवियों को नियुक्त किया जाता था। निजामत अदालतों को मृत्यु दण्ड देने का अधिकार नहीं था। इस विषय में अन्तिम शक्ति गवर्नर तथा उसकी कौंसिल के पास थी। मुकदमों का निर्णय हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों व मुसलमानों की कुरान के आधार पर होते थे।

कलकत्ता में यूरोपियनों के लिये मेयर की अदालत थी। मेयर के अन्याय के सम्बन्ध में अनेक शिकायतें संचालकों तक पहुंच चुकी थी। इसके दोषों को दूर करने के लिये रेगुलेटिंग एक्ट द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। दीवानी मामलों में इसके निर्णय के विरुद्ध अपील इंगलैण्ड के सम्राट के समक्ष की जा सकती थी।

आरक्षी व्यवस्था—जिस समय वारेन हेस्टिग्ज ने भारत में गवर्नर का पद ग्रहण किया, बंगाल में पूर्ण अराजकता छायी हुई थी। जनता की जान-माल की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। इस समय कुछ बेईमान लोग संन्यासियों का वेश

धारण करके जनता को लूट रहे थे तथा जनता पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार कर रहे थे। अतः बंगाल में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने हेतु हेस्टिंग्ज ने आरक्षी विभाग का पुनर्गठन किया। उसने प्रत्येक जिले में एक स्वतन्त्र पुलिस अधिकारी की नियुक्ति की तथा चोरों व डाकुओं की गिरफ्तारी हेतु कठोर आदेश प्रसारित किये। फलस्वरूप चोरों और डाकुओं को गिरफ्तार कर गांवों में ही उन्हें फांसी दी जाने लगी। इससे चोरों व डाकुओं पर काफी सीमा तक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया गया तथा ढोंगी सन्यासियों का भी अन्त कर दिया गया। हेस्टिंग्ज़ की इस कार्यवाही से बंगाल में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित की गई।

बंगाल में वारेन हेस्टिंग्ज़ का काल परिवर्तनों का काल था जिसमें कम्पनी अपना रास्ता खोज रही थी। प्रशासन के पुनर्गठन हेतु एक प्रयोग के बाद दूसरा प्रयोग किया गया, इसलिए हेस्टिंग्ज को प्रयोगवादी गवर्नर भी कहा जाता है, जैसाकि डाडवेल ने लिखा है कि, "वारेन हेस्टिंग्ज एक प्रयोगवादी गवर्नर था तथा उसने कोई स्थायी कानून लागू नहीं किया, वह भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर प्रयोग करता रहा जिसमें उसे सफलता नहीं मिली।" यही कारण था कि अभी भी कम्पनी की सेवाओं में भ्रष्टाचार व्याप्त था। इसके लिए संचालक मंडल भी कम उत्तरदायी नहीं था। स्वयं हेस्टिंग्ज ने भी इतनी अधिक अनियमितताएँ की थी कि जब इंगलैंड में उसके विरुद्ध महाभियोग चलाया गया तो उसका स्वयं का वकील उन अभियोगों की प्रतिरक्षा में उत्तर देने में कठिनाई अनुभव करने लगा।

फिर भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि हेस्टिंग्ज ने कम्पनी शासन का पुनर्गठन कर, वह व्यवस्था स्थापित की जो परवर्ती शासकों के लिये एक आदर्श सिद्ध हुई। हण्टर महोदय ने लिखा है कि, "वारेन हेस्टिंग्ज ने उस नागरिक शासन प्रणाली की नींव डाली जिस पर कार्नवालिस ने एक विशाल भवन का निर्माण किया।" वास्तव में हेस्टिंग्ज ने अपने अल्प समय में जो कुछ कार्य पूर्ण किया, उसके लिए यह कहा जाता है कि उसने सब कुछ पूर्ण कर लिया था।

सुधारों का काल और लार्ड कार्नवालिस

फरवरी 1785 में वारेन हेस्टिंग्ज के स्वदेश लौटने के बाद लगभग डेढ़ वर्षों तक मेकफर्सन ने गवर्नर जनरल के पद पर कार्य किया। सितम्बर 1786 में लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया गया। जब वह भारत आया, उस समय कम्पनी की शासन व्यवस्था में अनेक दोष विद्यमान थे। इस स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए स्वयं कार्नवालिस ने कहा था, "इस अवसर पर मेरे लिए पिछले संचालकों के आचरण पर दृष्टि डालना अनिवार्य हो जाता है। वे लोग जानते थे कि कम्पनी के प्रशासन में भयंकर बुराइयाँ मोजूद हैं, फिर भी उनका दमन करने के बदले वे इसी बात पर झगड़ते रहे कि लूट के माल का उपयोग उनके मित्र करें

या हेस्टिग्ज के।" अतः कार्नवालिस ने हेस्टिग्ज के कार्यों को ध्यान में रखते हुए कम्पनी की आवश्यकता के अनुसार निर्णय लिये। वस्तुतः कार्नवालिस को उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा, जिनमें वारेन हेस्टिग्ज को जूझना पड़ा। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विलियन पिट तथा वोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष डूण्डास, दोनों से उसकी अच्छी मित्रता थी। अतः वह स्वेच्छा से निर्णय लेने में कभी नहीं हिचका। कार्नवालिस के सुधारों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—(1) प्रशासकीय सुधार, (2) व्यापारिक सुधार, (3) न्याय सम्बन्धी सुधार और (4) भूमि का स्थायी वन्दोवस्त।

(1) प्रशासकीय सुधार—कार्नवालिस ने ब्रिटिश शासन प्रणाली को ही भारत में लागू करने के उद्देश्य से विभिन्न सुधार किये थे, क्योंकि वह इसे भारतीय व्यवस्था से श्रेष्ठ मानता था। कार्नवालिस के समय से ही यह परम्परा स्थापित हो गई थी कि हर संभव उपाय से भारतीय प्रणाली की तुलना में ब्रिटिश प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध की जाये। अतः कार्नवालिस जिस प्रणाली को लागू करना चाहता था, उसके लिये यूरोपियन लोगों पर ही विश्वास किया जा सकता था। इसलिए उसने यह नियम वना दिया कि कम्पनी शासन के सभी उच्च पदों पर केवल यूरोपियनों को ही नियुक्त किया जाय अर्थात जिस पद का वेतन 500 पौंड वार्षिक या इससे अधिक होगा उस पर मात्र यूरोपियनों को ही नियुक्त किया जायेगा। कार्नवालिस की दृष्टि में कोई भी भारतीय शासन को समुचित ढंग से चलाने के योग्य नहीं था। इस प्रकार भारतीयों की योग्यता पर अविश्वास करके कार्नवालिस ने भारतीयों के लिये उच्च पदों के द्वार विल्कुल वन्द कर दिये। इसके साथ ही उसने यूरोपियन लोगों को भी उनकी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर नियुक्त किया न कि संचालकों के सिफारिशी पत्रों के आधार पर।

कार्नवालिस के भारत आने के समय कम्पनी के अधिकारियों का वेतन कम था, किन्तु उनकी आय के साधन असीमित थे। प्रायः सभी अधिकारी अपने निजी व्यापार में व्यस्त थे। वनारस के रेजीडेन्ट का वेतन एक हज़ार रुपया प्रतिमाह था, किन्तु वह अपने अधिकार और प्रभाव का उपयोग करके लगभग तीस हजार रुपया प्रतिमाह कमा रहा था। अतः कार्नवालिस ने अयोग्य अधिकारियों का स्थानान्तरण किया तथा भ्रष्ट अधिकारियों को पदच्युत कर दिया। उसने कम्पनी के अधिकारियों को स्पष्ट निर्देश भेजे कि कोई भी अधिकारी निजी व्यापार नहीं करेगा तथा अन्य साधनों से अपनी आय वढ़ाने का कोई कार्य नहीं करेगा। इन निर्देशों की अवज्ञा करने पर उन्हें तत्काल पदच्युत कर दिया जायेगा। कार्नवालिस ने यह भी अनुभव किया कि अधिकारियों का वेतन वहुत कम है और इसीलिए वे निजी व्यापार में व्यस्त रहते हैं। अतः उसने कम्पनी के अधिकारियों के वेतन में वृद्धि कर दी।

वारेन हेस्टिग्ज के समय पहली बार ज़िलों में कम्पनी के अधिकारी नियुक्त किये गये थे, किन्तु इन अधिकारियों को बनाये रखने के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं अपनाई गई थी। कार्नवालिस के भारत आने से पूर्व संचालकों ने यह निर्णय लिया था कि कलेक्टर का पद स्थाई रूप से बनाये रखा जाय। उस समय से केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रत्येक ज़िले में इस अधिकारी की नियुक्ति करने की प्रथा चल पड़ी थी। कार्नवालिस ने बंगाल में 35 जिलों को घटाकर 23 ज़िले कर दिये। इन ज़िलों में एक ब्रिटिश कलेक्टर तथा उसके दो अंग्रेज सहायक नियुक्त किये जाने लगे। राजस्व जमा कराना कलेक्टर का मुख्य कार्य था। ज़िले में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखना, पुलिस व जेल की निगरानी रखना, नशीली वस्तुओं के विक्रय के नियम बनाना आदि का उत्तरदायी भी कलेक्टर के ऊपर था।

कलकत्ता में कानून व व्यवस्था की स्थिति ठीक नहीं थी। कलकत्ता से कुछ दूरी पर स्थित गावों में गुण्डों व बदमाशों ने अड्डे बना रखे थे। लोगों का सायंकाल के बाद सड़क पर निकलना खतरे से खाली नहीं था। अतः कलकत्ता में पुलिस प्रशासन की देखरेख के लिये नये संचालक की नियुक्ति की गई। जिलों में पुलिस प्रशासन का दायित्व जमीदारों पर था। कार्नवालिस ने जमींदारों को पुलिस प्रशासन से मुक्त कर दिया तथा ज़िले के ब्रिटिश मजिस्ट्रेट को पुलिस की निगरानी रखने का दायित्व सौंपा गया। ब्रिटिश मजिस्ट्रेट एक पुलिस अधिक्षक की नियुक्ति करने लगा, जो व्यक्तिगत रूप से पुलिस की देखरेख करता था। जिले में प्रति बीस मील के अन्तर पर एक पुलिस थाना स्थापित किया गया तथा थाने में दरोगा नामक कर्मचारी की नियुक्ति की गई। दरोगा को अपने क्षेत्र में विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये।

(2) व्यापारिक सुधार— ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुख्य रूप से एक व्यापारिक संस्था थी, लेकिन व्यापार से कम्पनी को कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा था जबकि कम्पनी के अधिकारियों को निजी व्यापार से पर्याप्त लाभ रहा था। इसका कारण यह था कि कम्पनी की व्यापारिक प्रणाली दोषपूर्ण थी। कम्पनी द्वारा स्थापित व्यापार बोर्ड तथा ठेकेदारों के बीच की कड़ी में कुछ गड़बड़ दिखाई दे रही थी। ठेकेदार वस्तुओं का मूल्य तो अधिक ले रहे थे, किन्तु माल का स्तर घटिया दे रहे थे। बोर्ड के सदस्य ठेकेदारों से लाभ कमा कर कम्पनी के हितों को तिलांजली दे रहे थे। अतः कार्नवालिस ने व्यापार बोर्ड का पुनर्गठन किया। बोर्ड के सदस्यों की संख्या 12 से घटाकर 5 करदी गई और यह निश्चित कर दिया गया कि बोर्ड, सर्वोच्च कौंसिल के अधीन कार्य करेगा। प्रत्येक ऐसे व्यापारिक केन्द्र पर जहां कम्पनी का व्यापार होता था, वहाँ एक-एक रेजीडेन्ट की नियुक्ति की गई, जिसका मुख्य कार्य यह देखना था कि कम्पनी का व्यापार उचित ढंग से हो रहा है या नहीं। ठेकेदारों से माल खरीदने की व्यवस्था समाप्त कर दी गई तथा

रेजीडेन्ट उत्पादन करने वालों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर माल खरीदने लगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत कार्नवालिस ने अपने कर्मचारियों को एजेन्सी हाउस प्रणाली अपनाने को कहा। इस प्रणाली के अनुसार विभिन्न कर्मचारी तथा स्वतन्त्र व्यापारी मिलकर एक एजेन्सी हाउस बना लेते थे तथा कम्पनी को माल बेचने में यह एक प्रकार से एजेन्ट का कार्य करते थे। इससे कर्मचारियों को लाभ भी प्राप्त होता रहता था और औपचारिक रूप से उनका निजी व्यापार भी बन्द हो गया। ये एजेन्सी हाउस मुख्य रूप से नील और अफीम का व्यापार करते थे।

जुलाहों से माल खरीदने के सम्बन्ध में यह नियम बना दिया गया कि कम्पनी जितना माल खरीदना चाहेगी, उसका पूरा मूल्य पेशगी के तौर पर दिया जायेगा तथा जुलाहे उतना ही माल देने हेतु बाध्य होंगे जितना रुपया उन्होंने पेशगी लिया है। रेजीडेन्ट के कार्यों के सम्बन्ध में भी नियम बनाये गये तथा यह व्यवस्था कर दी गई कि रेजीडेन्ट वस्तुओं को खरीदते समय उत्पादन करने वालों अथवा व्यापारियों को परेशान न करें।

(3) **न्याय सम्बन्धी सुधार**—न्याय के क्षेत्र में कार्नवालिस ने वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को आगे बढ़ाया। उसने सर जॉन विलियम, जो कानूनी विशेषज्ञ था, की सहायता से न्यायिक सुधार किये। कार्नवालिस के पूर्व दीवानी न्यायाधीश केवल न्यायिक कार्य करते थे, उन्हें लगान वसूली से कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः 1786 में कलकत्ता कौंसिल की सलाह से संचालक मण्डल ने आदेश दिया कि मजिस्ट्रेट, कलेक्टर और जज के कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा किये जाय। अतः जून, 1787 में कार्नवालिस ने इन तीनों पदों को एक साथ मिला दिया। किन्तु 1793 में भूमि का स्थायी बन्दोबस्त करने के बाद भूराजस्व वसूल करने के कार्य को न्याय से अलग कर दिया। कार्नवालिस ने दीवानी व फौजदारी अदालतों को श्रेणीबद्ध किया। दीवानी तथा फौजदारी अदालतों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया।

(1) **छोटी अदालतें**—यह कानून की सबसे छोटी इकाई थी। इसका अध्यक्ष स्थानीय अमीन या मुंसिफ होता था। इसलिये इन अदालतों को मुंसिफ अदालत भी कहा जाता था। इन अदालतों का कार्य ऋण लेने व देने से उत्पन्न होने वाले झगड़ों को निपटाना था। इन अदालतों को 50 रुपये तक के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया।

(2) **जिला दीवानी अदालतें**—न्याय की यह दूसरी इकाई थी। यह मुंसिफ अदालत से ऊपर की अदालत थी। प्रत्येक जिले व मुख्य शहरों में यह अदालतें स्थापित की गई। इन अदालतों में एक यूरोपीय जज नियुक्त किया जाने लगा तथा उसकी सहायता के लिये स्थानीय हिन्दू व मुसलमान परामर्शदाता नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक प्रकार के दीवानी मुकदमे की सुनवाई इस अदालत में होती थी तथा

मुंसिफ अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील भी इस अदालत में की जा सकती थी। यूरोपियन लोग इसके न्यायिक क्षेत्र से बाहर थे अर्थात उनके मुकदमे इस न्यायालय में नहीं सुने जाते थे।

(3) **प्रान्तीय दीवानी अदालतें**—कार्नवालिस ने अनुभव किया कि बहुत से लोग जिला अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपील करने के लिये कलकत्ता नहीं आ सकते थे। अतः उसने जिला अदालतों के ऊपर चार प्रान्तीय अदालतें स्थापित की। ये अदालतें कलकत्ता, ढाका, पटना और मुर्शिदाबाद में स्थापित की गई। प्रत्येक प्रान्तीय अपील अदालत में तीन अंग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। प्रत्येक जज को कानूनी सलाह देने के लिए काजी, मुफ्ती और पंडित नियुक्त किये जाते थे। एक हजार रुपयों तक के मुकदमों के लिए प्रान्तीय न्यायालयों को अन्तिम निर्णय देने का अधिकार था। इससे अधिक राशि के मुकदमों की अपील सदर दीवानी अदालत में की जा सकती थी।

(4) **सदर दीवानी अदालत**—यह न्याय की सबसे अन्तिम इकाई थी तथा इसका मुख्यालय कलकत्ता में था। इस अदालत का अध्यक्ष स्वयं गवर्नर जनरल होता था तथा गवर्नर जनरल की कौंसिल के सभी सदस्य इस अदालत के सदस्य होते थे। इस अदालत का मुख्य कार्य प्रान्तीय दीवानी अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनना था। इस अदालत को कानूनी परामर्श देने के लिए एक प्रधान काजी, दो मुफ्ती तथा दो पंडित नियुक्त किये जाते थे। यद्यपि यह अन्तिम न्यायालय था, किन्तु जो मामले पांच हजार पौंड इससे अधिक के होते थे, उनके लिए लन्दन में प्रिवी कौंसिल को अपील की जा सकती थी।—इस अदालत की बैठक सप्ताह में तीन बार होती थी।

दीवानी अदालतों की तरह फौजदारी अदालतों को भी नया स्वरूप प्रदान किया गया। फौजदारी मामलों में कम्पनी ने पूरा उत्तरदायित्व नहीं संभाला था। अतः फौजदारी अदालतों में भारतीय न्यायाधीशों की नियुक्ति होती थी। चूंकि उनकी नौकरी की निश्चितता नहीं होती थी, अतः वे अपने पदों का अनुचित लाभ उठा लेते थे। इसके अतिरिक्त एक ही अपराध के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग दण्ड विधान प्रचलित था, क्योंकि इन अदालतों में निर्णय मुस्लिम कानून के अनुसार होते थे। कार्नवालिस ने फौजदारी अदालतों को भी चार श्रेणियों में विभाजित किया—

(1) **दरोगा अदालतें**—यह फ़ौजदारी मामलों की सबसे छोटी इकाई होती थी। इन अदालतों का अध्यक्ष दरोगा या थानेदार होता था। इन अदालतों में छोटे मोटे मारपीट के झगड़े निर्णय हेतु आते थे। दरोगा प्रायः भारतीय होता था।

(2) **जिला निजामत अदालतें**—यह दरोगा अदालत से ऊपर वाली अदालतें थी। इन अदालतों में एक अंग्रेज न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था तथा उसे कानूनी

परामर्श देने के लिए एक स्थानीय व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। ये अदालतें जिले में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने सम्बन्धी मुकदमों की सुनवाई करती थी तथा दरोगा अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनती थी।

(3) **प्रान्तीय निजामत अदालतें**—ये अदालतें जिला निजामत अदालतों के ऊपर वाली अदालतें थी। ये भी चार स्थानों पर स्थापित की गई—कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में। प्रत्येक प्रान्तीय निजामत अदालत में दो-दो अंग्रेज न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे तथा उन्हें कानूनी परामर्श देने के लिए प्रत्येक अदालत में तीन-तीन स्थायी परामर्शदाता नियुक्त किये जाते थे। ये अदालतें, जिला निजामत अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनने का कार्य करती थी। साधारण मामलों में ये अदालतें अन्तिम निर्णय दे सकती थी तथा अपराधी को सजा दे सकती थी। किन्तु किसी व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देने से पूर्व इसे सदर निजामत अदालत से स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। अपराधों की छानबीन के लिए ये अपने प्रान्त में दौरा करती थी, तत्पश्चात अपना निर्णय देती थी।

(4) **सदर निजामत अदालत**—फौजदारी मामलों के लिये यह अन्तिम न्यायालय था। इसका मुख्यालय भी कलकत्ता में था। इसका अध्यक्ष भी स्वयं गवर्नर जनरल होता था तथा उसकी कौंसिल के सदस्य इस अदालत के सदस्य होते थे। यह अदालत प्रान्तीय अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनती थी और इसका निर्णय अन्तिम होता था। इस अदालत की बैठक सप्ताह में एक बार अवश्य होती थी।

कार्नवालिस कोड़—कार्नवालिस ने जो प्रशासकीय, न्यायिक, पुलिस, राजस्व आदि के सम्बन्ध में सुधार किये, उन्हें कार्यान्वित करने के लिए उसने नियमों की एक संहिता भी तैयार करवाई, उसे कार्नवालिस कोड कहा जाता है। इस संहिता में प्रत्येक की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में नियमों को संग्रहित किया गया, जिसे नई व्यवस्था के बारे में पूरी नियमावली की जानकारी सभी को उपलब्ध हो सके। कार्नवालिस कोड की मुख्य दो विशेषताएँ थी—प्रथम तो निज़ामत अदालतों में अंग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है तथा दूसरी न्याय व्यवस्था को प्रशासन से अलग करना। कार्नवालिस के आने के पूर्व जिले में कलेक्टर, राजस्व प्रशासन का मुख्य अधिकारी था तथा जिले का प्रधान न्यायाधीश भी वही था। इस प्रकार समस्त शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित थी। एक ओर वह राजस्व का निर्धारण करता था और उसे वसूल करता था, वहीं दूसरी ओर उसी के राजस्व निर्धारण व वसूली के निर्णयों के विरुद्ध न्यायाधीश के रूप में मुकदमों की सुनवाई भी करता था, जो नितान्त अनुचित था। कार्नवालिस कोड द्वारा कलेक्टर को केवल राजस्व निर्धारण व उसकी वसूली का कार्य सौंपा गया और न्यायिक कार्य दूसरे अधिकारी को सौंप दिये गये। वस्तुतः कार्नवालिस ने

ब्रिटेन में प्रचलित शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को बंगाल में लागू किया था। कार्नवालिस कोड लागू होने से पूर्व फौजदारी मामलों में मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं की गवाही को स्वीकार नहीं किया जाता था, किन्तु कार्नवालिस कोड में यह स्पष्ट नियम बना दिया गया कि गवाही देने के लिये धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायेगा। कार्नवालिस कोड में अंग भंग, सूली पर चढ़ाना आदि अमानुषिक दण्ड समाप्त कर दिये गये तथा कठोर कारावास की सजा देने की व्यवस्था की गई। वकीलों को लाइसेन्स देने की व्यवस्था की गई, जिससे सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त व्यक्ति ही वकालात का व्यवसाय कर सकता था। वकीलों की फीस भी निश्चित कर दी गई। यदि कोई वकील निर्धारित फीस से अधिक फीस लेता था तो उसे वकालात के लिये अयोग्य घोषित किया जा सकता था। कार्नवालिस कोड में यह भी व्यवस्था की गई कि यदि कम्पनी के अधिकारी अनुचित अथवा गैर कानूनी कार्य करे तो उन पर भी मुकदमा चलाया जा सकता था, किन्तु ऐसे मामलों में जांच पडताल केवल वे ही अंग्रेज जज कर सकते थे, जो सरकार से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में आर्थिक लाभ प्राप्त न करते हों।

न्यायिक सुधारों का मूल्यांकन—कार्नवालिस ने न्याय व्यवस्था को एक निश्चित दिशा प्रदान की। न्याय व्यवस्था को प्रशासन से अलग करना अपने आप में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था, जो आज भी भारत में प्रचलित है। कलेक्टर के पास न्याय एवं प्रशासन दोनों होने से वह अपने न्यायिक कार्य को गौण समझता था जिससे न्याय के कार्य में रुकावट आती थी। फिर जो व्यक्ति प्रशासनिक निर्णय लेता था उन निर्णयों के विरुद्ध मुकदमा उसी व्यक्ति द्वारा सुनना नैतिक दृष्टि से भी उचित नहीं था। किसान या जमींदार उसकी निश्पक्षता पर कैसे विश्वास कर सकते थे ? अतः न्याय को प्रशासन से अलग करना अनिवार्य था। कार्नवालिस कोड ने तो कार्नवालिस को आधुनिक भारतीय न्याय व्यवस्था का निर्माता बना दिया। सेटनकार ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "कार्नवालिस कोड ने मालगुजारी, पुलिस, दीवानी और फौजदारी न्याय अथवा दूसरे कार्यों के लिये नियम निश्चित कर दिये, अधिकारियों के अधिकारों को निश्चित कर दिया और छोटे न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने के लिये एक नियमित प्रणाली को जन्म दिया और भारत की सिविल सर्विसेज को वह स्वरूप प्रदान किया जो आज तक चला आ रहा है।"

कार्नवालिस के इन सुधारों द्वारा जो परिवर्तन किये गये वे सिद्धान्तः अच्छे दिखाई देते है, किन्तु इनमें अनेक व्यावहारिक दोष विद्यमान थे। भारतीय न्यायाधीशों के स्थान पर अंग्रेज न्यायाधीशों को नियुक्त करना इस व्यवस्था का मुख्य दोष था। इसके द्वारा अंग्रेजी दण्ड विधान स्थापित कर दिया गया। अतः जो लोग न्याय करते थे वे यहां के निवासियों के रीति-रीवाजों एवं परम्पराओं से अनभिज्ञ थे। ऐसा न्याय प्रशासन यहां के निवासियों के लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता था। कार्नवालिस

द्वारा किये गये परिवर्तनों का एक मात्र उद्देश्य यह था कि भारतीयों के स्थान पर अंग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति करके कम्पनी की सर्वोच्चता स्पष्ट करदी जाय। इतिहासकार मिल ने स्वीकार किया था कि अंग्रेजी न्यायालयों से अपराधों की संख्या बढ़ी हैं तथा लोगों में भय व आतंक फैल गया है।

(4) **भूमि का स्थायी बन्दोबस्त**—वारेन हेस्टिंग्ज ने भूराजस्व प्रणाली के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये थे, लेकिन उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। जब कार्नवालिस भारत आया उस समय एक वर्षीय बन्दोबस्त लागू था अर्थात सर्वाधिक बोली लगाने वाले को भूमि एक वर्ष के लिये ठेके पर दे दी जाती थी। ठेकेदार कृषकों से अधिक से अधिक वसूल करना चाहता था। संचालकों ने कार्नवालिस को जमींदारों के साथ उदार दरों पर समझौता करने का आदेश दिया था ताकि जमींदारों से समय पर तथा नियमित रूप से भूराजस्व प्राप्त होता रहे। इस आदेश में रैय्यत की बिल्कुल ही उपेक्षा की गई।

कार्नवालिस ने आते ही देखा कि जो भूराजस्व व्यवस्था चल रही थी उसमें अनेक दोष विद्यमान थे, जिससे किसानों व जमींदारों दोनों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। स्वयं कार्नवालिस ने कहा था, "जब मैं भारत पहुँचा उस समय मैंने कृषि व व्यापार को गिरते देखा। उस समय खेतीहर और जमींदार निर्धनता के गर्त में डूबे जा रहे थे और महाजन ही समाज के सबसे अधिक सम्पन्न अंग थे।" 1784 में पिट्स इण्डिया एक्ट पारित हो चुका था, जिसमें भूमि का स्थायी बन्दोबस्त करने को कहा गया था तथा जमींदारों के पक्ष में सहानुभूति व्यक्त की गई थी। किन्तु अभी तक इस दिशा में कोई कार्यवाही नहीं हुई थी। कार्नवालिस के भारत आने के समय तक राजस्व मंडल का अध्यक्ष सर जॉन शोर राजस्व सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुका था। मुख्य शिरस्तेदार जेम्स ग्राण्ट राजस्व सम्बन्धी मामलों का सैद्धान्तिक ज्ञाता हो गया था। कार्नवालिस को इन अनुभवी अधिकारियों का सहयोग प्राप्त था। अतः कार्नवालिस ने इन अधिकारियों के सहयोग से प्रारम्भिक सुधार किये। उसने जिलों की संख्या 35 से घटाकर 23 कर दी तथा कलेक्टरों को राजस्व सम्बन्धी अधिकारों के साथ दीवानी न्याय का अधिकार भी दे दिया। कुछ समय बाद फौजदारी न्याय की शक्ति भी उसे हस्तांतरित कर दी।

इन प्रारम्भिक परिवर्तनों के बाद आवश्यक सूचनाएँ एकत्र की गई तथा राजस्व की प्रणाली पर विचारविमर्श आरम्भ हुआ। जेम्स ग्राण्ट का विचार था कि स्थायी व्यवस्था के स्थान पर कोई दीर्घ अवधि (Long term) की व्यवस्था की जाय तथा राज्य को भूमि का स्वामी माना जाय। किन्तु सर जॉन शोर का विचार था कि जमींदारों को भूमि का वास्तविक स्वामी माना जाय, किन्तु वह कोई स्थायी प्रबन्ध के पक्ष में नहीं था। कार्नवालिस सर जॉन शोर के विचारों से सहमत था। वह स्वयं इंगलैंड में भूस्वामी था और वह जमींदारों का एक वर्ग तैयार करना

चाहता था, जो राज्य का सुदृढ़ आधार बन सके। वह संचालकों से विस्तृत निर्देश लेकर आया था तथा पिट्स इण्डिया एक्ट में भी स्थाई बन्दोबस्त की बात कही गई थी, इससे वह बहुत उत्साहित हुआ। 1790 ई० में उसने जमींदारों के साथ दस वर्षीय समझौता कर लिया तथा अपनी घोषणा में कहा कि इस व्यवस्था को स्थाई भी किया जा सकता है। संचालकों ने इस दस वर्षीय समझौते का अनुमोदन करते हुए कहा कि यदि यह समझौता सफल रहता है तो इसे स्थाई कर दिया जाय। तीन वर्ष बाद बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष डूण्डास ने इस व्यवस्था को स्थायी करने का अनुरोध किया, किन्तु सर जॉन शोर स्थायी समझौते के पक्ष में नहीं था। अतः डूण्डास ने प्रधान मन्त्री पिट के साथ विचारविमर्श करके पिट को स्थायी प्रबन्ध करने के लिये राजी कर लिया। तत्पश्चात पिट ने भी इसे स्थायी करने का आदेश दे दिया। तदनुसार 22 मार्च 1793 को कार्नवालिस ने इस प्रबन्ध को स्थायी करने की घोषणा कर दी।

1793 के स्थायी प्रबन्ध में निम्न व्यवस्थाएँ की गई—

(1) जमींदारों को भूमि का वास्तविक स्वामी मान लिया गया। किन्तु यह भी कहा गया कि यदि जमींदार नियमित रूप से लगान नहीं चुकायेंगे तो, उसकी भूमि का कोई भाग, उस भूराजस्व की वसूली के लिये, राज्य बेच सकेगा।

(2) चूँकि राज्य, भूस्वामित्व के अधिकार से मुक्त हो गया है, अतः जमींदारों से किसी अन्य कर का दावा नहीं किया जायेगा जैसे उत्तराधिकार शुल्क आदि।

(3) जमींदारों से जो भूराजस्व की दर निश्चित की गई वह 1765 की दर से दुगनी थी, क्योंकि कम्पनी का कहना था कि इस स्थायी प्रबन्ध के बाद यदि उत्पादन बढ़ता है और राज्य की समृद्धि होती है तो भी राज्य को इस दर में वृद्धि करने का अधिकार नहीं होगा। न्यायालय से स्वीकृति प्राप्त किये बिना इस दर में वृद्धि नहीं की जा सकेगी।

(4) जमींदारों से समस्त न्यायिक अधिकार छीन लिये गये।

(5) जमींदारों तथा उनकी रैय्यत के बीच सम्बन्धों के बारे में जमींदारों को स्वतन्त्र कर दिया गया, किन्तु जमींदारों से कहा गया कि वे अपनी रैय्यत को पट्टे जारी करेंगे, जिसमें जमींदारों एवं रैय्यत के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख होगा। यदि कोई जमींदार, रैय्यत को दिये गये पट्टे का उल्लंघन करेगा तो उसकी रैय्यत को उसके विरुद्ध न्यायालय में जाने का अधिकार होगा।

कार्नवालिस के इस स्थायी बन्दोबस्त के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि कार्नवालिस, संचालकों के हाथों की कठपुतली मात्र था। किन्तु यह कथन अनुचित प्रतीत होता है। स्थायी बन्दोबस्त लागू करते समय कार्नवालिस ने अपने स्वतन्त्र एवं मुक्त विचारों का परिचय दिया था। यह तो भाग्य की बात थी कि कार्नवालिस और

संचालकों के विचारों में समानता थी। इस सम्बन्ध में इतिहासकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि कार्नवालिस, संचालकों के हाथों की कठपुतली नहीं था तो फिर उसने जमींदारों से ही समझौता क्यों किया, जबकि भूमि पर रैय्यत का पुश्तैनी अधिकार चला आ रहा था। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि कार्नवालिस स्वयं एक बड़ा जमींदार था तथा जमींदार वर्ग के प्रति उसकी प्रारम्भ से ही सहानुभूति थी। इसके अतिरिक्त वह भू-प्रबन्ध की अस्थिरता को दूर करना चाहता था, क्योंकि प्रतिवर्ष राजस्व की दर निर्धारित करने में समय और धन का अपव्यय होता था।

स्थायी भू-प्रबन्ध की विशेषताएँ—कार्नवालिस ने जो स्थायी बन्दोबस्त किया, उसकी कुछ विशेषताएँ थी। कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की घोषणा में स्पष्ट कह दिया कि 1793 में निर्धारित भूराजस्व की दर में कभी परिवर्तन नहीं किया जायेगा तथा सरकार की मांग स्थायी तौर पर यही रहेगी। भूमि की उपज का उपभोग करने वाले तीन पक्ष होते थे—सरकार, जमींदार और किसान। कार्नवालिस ने सरकार के लिये राजस्व निर्धारित करके तथा जमींदारों के अधिकारों की घोषणा करके, सरकार और जमींदारों के हितों की तो रक्षा की, किन्तु किसानों की हितों की पूर्ण रूप से उपेक्षा की। उन्हें जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। कार्नवालिस ने जमींदारों के साथ समझौता करके जमींदारों का एक नया वर्ग सरकार के पक्ष में खड़ा कर दिया। कार्नवालिस ने उन सभी लोगों को जमींदार मान लिया जो 1793 में भूस्वामी थे। इस प्रबन्ध द्वारा कार्नवालिस ने भूमि को सम्पत्ति मान कर उसके स्वामी को बेचने, दान देने अथवा अन्य किसी तरीके से दूसरे को हस्तान्तरित करने का अधिकार प्रदान कर दिया और ऐसा करते समय सरकार से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक नहीं था। 1793 के पहले जमींदारों को लगान वसूल करने का अधिकार अवश्य था, किन्तु भूमि को सम्पत्ति नहीं माना गया था और इसलिये कोई भी जमींदार भूमि को न बेच सकता था, न दान दे सकता था और न हस्तान्तरित कर सकता था।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण और दोष—बंगाल के इस स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वानों ने इसे श्रेष्ठ व्यवस्था बताया है तो कुछ विद्वानों ने इसकी जमकर आलोचना की है। जे० सी० मार्शमेन के अनुसार, "यह साहस, निर्भीक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था" लोगों के हृदय में पहली बार अपनी धरती के प्रति अटल अधिकार और अविचल लगाव के भाव पैदा किये। फलस्वरूप आबादी बढ़ी, खेती-बाड़ी का विकास हुआ तथा लोगों के स्वभाव तथा सुविधाओं में एक क्रमिक प्रगति स्पष्टतः दिखाई देने लगी।" आर० सी० दत्त ने भी लिखा है कि, "यदि किसी राष्ट्र की समृद्धि और प्रसन्नता को ज्ञान तथा सफलता का मापदण्ड समझा जाय तो लार्ड कार्नवालिस का स्थायी प्रबन्ध

सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण और सफल कार्य कहा जायेगा, जो भारत की ब्रिटिश सरकार ने किया था।" इसके विपरीत टी० आर० होम्स ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि, "स्थायी बन्दोबस्त एक भयंकर भूल थी... छोटे किसानों को इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। जमींदार भी बार-बार लगान चुकाने में असफल रहे जिससे उनकी जागीर सरकार के लाभ के लिये बेच दी गई।" इसी प्रकार बेवरिज ने भी लिखा है कि, "जमींदारों के साथ समझौता करके एक भयंकर भूल तथा अन्याय-संगत बात की गई।" इन समालोचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रणाली अनेक गुण व दोषों से युक्त थी। अतः इस व्यवस्था के गुण और दोषों पर विचार करना समीचीन होगा।

बन्दोबस्त के गुण—

(1) इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप राज्य की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई, क्योंकि जो भूराजस्व की दर निश्चित की गई थी, वह 1765 की प्रचलित दर से लगभग दुगुनी थी।

(2) इस व्यवस्था से पूर्व बार-बार भूराजस्व निर्धारण में सरकार को समय और धन की हानि उठानी पड़ रही थी। किन्तु अब स्थायी व्यवस्था होने से समय और धन की काफी बचत हो गयी।

(3) इससे कम्पनी की वार्षिक आय निश्चित हो गई, जिससे अब कम्पनी को यह जानकारी हो गयी कि कितनी वार्षिक आय किस समय प्राप्त होगी। इसके आधार पर अब आर्थिक योजनाओं के निर्माण का कार्य सरल हो गया।

(4) स्थायी व्यवस्था लागू होने से अब कम्पनी के अधिकांश अधिकारी राजस्व के मामले से मुक्त हो गये, जिससे उनकी सेवायें प्रशासन के दूसरे कार्यों में उपलब्ध होने लगी तथा कम्पनी अन्य प्रशासनिक सुधारों के बारे में गम्भीरता से सोचने लगी।

(5) जमींदारों को अब समाज में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त हो गयी। उनके साथ समझौता करके अंग्रेजों ने एक ऐसे वर्ग का सृजन किया जिस पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर रहा जा सकता था। इस प्रकार समाज में एक स्वामीभक्त वर्ग का निर्माण हो गया जो संकट के समय अंग्रेजों का पक्ष ग्रहण कर सकता था। सेटनकार ने लिखा है, "स्थायी प्रबन्ध ने एक ऐसे धनी तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को उत्पन्न किया जो सिपाही विद्रोह के समय सरकार का प्रधान स्तम्भ बन गया।"

(6) भूराजस्व की दर निश्चित हो जाने से भूमि के विकास के लिए पूंजी लगाने तथा उत्पादन में वृद्धि की आशा की जा सकती थी, क्योंकि अब तो फसल हो या न हो, वार्षिक भूराजस्व तो चुकाना ही था। अतः बंगाल में अधिक से

अधिक भूमि को खेती योग्य बनाया गया। जंगलों को काट कर नये खेत बनाये गये जिससे नये गांव बसने लगे।

(7) कृषि उत्पादन में वृद्धि होने से सम्पन्नता में वृद्धि होना स्वाभाविक था। भूराजस्व हमेशा के लिए निश्चित हो जाने से इस सम्पन्नता का राज्य को कोई लाभ नहीं था, किन्तु इससे राज्य को परोक्ष लाभ मिलने की आशा थी, क्योंकि कृषि उत्पादन का विकास होने से व्यापार एवं लोगों के जीवन स्तर में में सम्पन्नता आना स्वाभाविक था तथा राज्य मनोरंजन कर, व्यापार पर कर और अन्य आर्थिक गतिविधियों पर कर लगाकर लाभान्वित हो सकता था।

(8) इस व्यवस्था से पूर्व जमींदारों को उत्तराधिकार शुल्क देना पड़ता था, जिससे जमींदारों के निजी जीवन में राज्य का हस्तक्षेप रहता था, किन्तु अब उत्तराधिकार शुल्क समाप्त हो जाने से राज्य के हस्तक्षेप का भय समाप्त हो गया।

(9) इस व्यवस्था के लागू होने से पूरे बंगाल में एकरूपता आ गई। जमींदारों से न्यायिक शक्तियां छीन लेने से दोहरा लाभ हुआ। प्रथम तो, अब जमींदार कृषि पर अधिक ध्यान दे सकते थे और दूसरा न्यायिक शक्तियाँ ऐसे लोगों को हस्तान्तरित हो जाने से, जो इस कार्य में प्रशिक्षित थे, न्यायिक कार्य में कार्य-कुशलता की आशा की जा सकती थी।

(10) इस व्यवस्था के समर्थकों का कहना है कि यदि इसमें जमींदारों का पक्ष लिया तो भी रैय्यत के हितों की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की गई। क्योंकि जमीदारों को उन्हें पट्टे देने थे और यदि वे रैय्यत के अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं तो रैय्यत को न्यायालय में जाने का अधिकार था तथा वे अपनी सुरक्षा के लिये न्यायालय में संघर्ष कर सकते थे।

बन्दोबस्त के दोष—

(1) हमारे देश में किसान ही भूमि का मालिक समझा जाता था और वह अपनी सुरक्षा के लिए राजा को कर देता था। स्थायी प्रबन्ध के अन्तर्गत जमींदारों के साथ समझौता करके किसानों से भूमि का स्वामित्व छीन लिया गया और उन्हें जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। मेटकॉफ ने लिखा है, "हमने एक स्वामी वर्ग तैयार कर देश की समस्त सम्पत्ति को नष्ट कर दिया और दूसरों की सम्पत्ति उस स्वामी वर्ग के अधीन कर दी।"

(2) स्थायी बन्दोबस्त में भूराजस्व की दर बहुत ऊंची निर्धारित की गई। जो जमींदार इस दर से लगान नहीं चुका सके उनकी भूमि छीन कर राज्य द्वारा बेच दी गई। इस प्रकार अनेकों को उनके वंशानुगत व्यवसाय से बेदखल कर दिया गया। जो व्यक्ति कभी जमींदारी का सुख भोग रहा था उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी।

(3) आरम्भ में कठिन परिश्रम करके जो राज्य की मांग के सामने टिक गये, वे बाद में धीरे-धीरे धनवान हो गये तथा अपने गांवों को छोड़कर शहरों में बड़ी शान-शौकत से रहने लगे। इससे एक परजीवी वर्ग (वह प्राणी जो दूसरे प्राणी से पोषण पाता है) की उत्पत्ति हुई, जो भूमि धारण तो करता था, किन्तु उसकी देखभाल नहीं करता। ऐसे जमींदारों ने रैय्यत से भूराजस्व वसूल करने के लिये अपने एजेन्ट नियुक्त किये जो गांवों में उप-भूस्वामी बन गये। ये एजेन्ट किसानों से अधिक से अधिक वसूल करने के लिये कानूनी व गैर कानूनी सभी तरह से किसानों का शोषण करने लगे, जिससे किसानों की स्थिति दयनीय होती गई।

(4) जमींदारों द्वारा हर स्थान पर अपनी रैय्यत को पट्टे जारी नहीं किये और जहां पट्टे जारी किये उनका उनका पूरी तरह से पालन नहीं किया गया। यद्यपि रैय्यत को जमींदारों के विरुद्ध न्यायालय में जाने का अधिकार था, किन्तु ऐसा करने के लिये उसे साधन उपलब्ध नहीं कराये गये। जमींदारों के पास सभी तरह के साधन उपलब्ध होने से वह स्वेच्छा से जैसा चाहे कर सकता था।

(5) भूराजस्व स्थायी तौर पर निश्चित कर देने से राज्य को होने वाली आय भी निश्चित हो गई। भूमि की पैदावार यदि दस गुना भी बढ़ जाय तो भी इसका लाभ राज्य को नहीं मिल सकता था। इस व्यवस्था से राज्य के भावी लाभ पर प्रतिबन्ध लग गया। सेटनकार ने लिखा है कि, "स्थायी बन्दोबस्त से कुछ जमींदारों के हित प्राप्त किये गये, किसानों के हितों को स्थगित कर दिया गया और राज्य के हितों का हमेशा के लिए बलिदान कर दिया गया।

(6) इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि रैय्यत जो भूमि की वास्तविक मालिक थी, उसे अपने ही घर में बेघरबार कर किरायेदार बना दिया गया। इससे पूर्व ऐसा न्याय तो कभी नहीं सुना गया। जमींदार राजस्व वसूल करने आये थे और भूमि के वास्तविक स्वामी बन गये।

(7) यह व्यवस्था हमारी राष्ट्रीयता के लिए घातक सिद्ध हुई। जमींदार वर्ग सदैव ब्रिटिश सत्ता का स्वामीभक्त रहा। अतः जब हमारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए तब इस वर्ग ने ब्रिटिश सरकार से सहयोग करके जनता की राष्ट्रीय भावनाओं का दमन किया।

(8) बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त का दुष्प्रभाव भारत के अन्य ब्रिटिश प्रान्तों पर भी पड़ा। कम्पनी बंगाल में तो भूराजस्व बढ़ा नहीं सकती थी, अतः उसने इस क्षति की पूर्ति अपने अन्य प्रान्तों में लगान की दर ऊंची करके की। इसलिये अन्य प्रान्त के लोगों को भी अपार कष्ट उठाने पड़े।

यद्यपि स्थायी बन्दोबस्त में अनेक दोष विद्यमान थे, फिर भी यह व्यवस्था अब तक किये गये प्रबन्धों से अच्छी थी। यदि कार्नवालिस 1790 का दसवर्षीय समझौता चालू रहने देता और इसके दोषों को देखकर उन्हें दूर कर देता तो वह

श्रेष्ठ व्यवस्था लागू कर सकता था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कार्नवालिस स्थायी बन्दोबस्त के प्रति इतना उतावला था कि अपनी योजना के परिणामों पर विचार करने की बात सोच ही नहीं सका। अतः यह कहा जा सकता है कि कार्नवालिस की श्रेष्ठ योजना ने, धैर्य के अभाव में अपने श्रेष्ठता के स्थान को छोड़ दिया। कार्नवालिस के बाद आने वाले गवर्नर-जनरलों ने इसके दोषों की ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि उन्हें तो अपने निश्चित भूराजस्व से मतलब था और जब यह नियमित रूप से नहीं मिलता था तो जमींदारों को बेदखल कर उसकी जमीन बेचकर अपनी रकम वसूल कर लेते थे।

कार्नवालिस ने प्रशासन में जो सुधार किये उनको देखते हुए उसे एक सफल गवर्नर जनरल कहा जा सकता है। वह उच्च आदर्श का व्यक्ति था तथा उसका नैतिक स्तर इतना ऊंचा था कि कम्पनी का शासन उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। वह योग्यता का सम्मान करता था। अतः उसने कम्पनी की सेवाओं में योग्यता के आधार पर नियुक्ति करने की परम्परा आरम्भ की। उसके न्याय सम्बन्धी सुधार तथा भूमि का स्थायी बन्दोबस्त उसकी कीर्ति के स्तम्भ कहे जा सकते हैं। वस्तुतः भारत में परिस्थितियां उसके अनुकूल थी, जिसके कारण उसे सफलता मिलती गई। उसे भारत में नियुक्त करने से पूर्व दो विशेषाधिकार प्रदान किये गये थे। उसे गवर्नर जनरल के अतिरिक्त कम्पनी की सेवाओं का प्रधान सेनापति भी नियुक्त किया गया। उसे यह भी अधिकार दिया गया कि असाधारण परिस्थितियों में वह कौंसिल के बहुमत के निर्णय को भी ठुकरा सकता था। इससे उसकी स्थिति काफी दृढ़ हो गई। फिर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री पिट तथा बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष डूण्डास से उसकी घनिष्ठ मित्रता थी। इन परिस्थितियों ने उसकी सफलता में योगदान दिया। भारतीयों की योग्यता पर अविश्वास करना कार्नवालिस की शासन नीति का सर्वाधिक निन्दनीय पहलू था।

प्रशासनिक स्थिरता का काल (1793–1813)

लार्ड कार्नवालिस के बाद तथा विलियम बैंटिक के पूर्व भारत में छः व्यक्तियों ने गवर्नर जनरल के पद पर कार्य किया। कार्नवालिस के बाद सर जॉन शोर (1739–1798) और लार्ड वेलेजली (1798–1805) ने इस पद पर कार्य किया, किन्तु प्रशासनिक दृष्टि से उनका शासन काल महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। लार्ड वेलेजली घोर साम्राज्यवादी था, अतः संचालकों ने उसकी नीति का अनुमोदन नहीं किया और उसे वापस इंगलैण्ड बुला लिया और पुनः लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त करके भारत भेजा। किन्तु यहाँ आने के कुछ ही महीनों बाद 5 अक्टूबर 1805 को उसकी मृत्यु हो गयी। अतः संचालकों ने सर जार्ज बार्लो (1805-1807) और तत्पश्चात् लार्ड मिन्टो (1807-1813) को गवर्नर जनरल बना कर भारत भेजा, जिन्होंने अहस्तक्षेप की नीति का पालन

करते हुए प्रशासन में भी यथास्थिति बनाये रखी। लार्ड मिन्टो के शासन काल में ब्रिटिश संसद ने 1813 का चार्टर एक्ट पारित किया, जिसके अनुसार—

(1) कम्पनी को आगामी 20 वर्ष के लिए भारत में व्यापार करने का आज्ञा पत्र प्रदान कर दिया गया।

(2) कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर समस्त ब्रिटिश प्रजा के लिये भारत का व्यापार खोल दिया गया, किन्तु ऐसे लोगों को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती थी।

(3) बोर्ड ऑफ कंट्रोल की शक्तियों में वृद्धि कर दी गई। कम्पनी की अन्तिम राजसत्ता ब्रिटिश ताज के पास रखी गई, किन्तु भारतीय प्रदेशों के राजस्व का प्रबन्ध कम्पनी के पास ही रखा गया।

(4) कलकत्ता में एक बिशप तथा उसके अधीन काम करने के लिये तीन पादरी नियुक्त किये गये, जिन्हें ईसाई धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई।

(5) कम्पनी को कहा गया कि वह भारत में ब्रिटिश क्षेत्रों के निवासियों में विज्ञान और साहित्य के प्रचार के लिए तथा पढ़े लिखे भारतीयों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपये अलग से निर्धारित करे।

इस एक्ट का महत्व इस बात में था कि इस एक्ट द्वारा ब्रिटेन के निजी व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की स्वतन्त्रता देने से व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा नेपोलियन द्वारा प्रतिपादित महाद्वीपीय प्रणाली का प्रभावकारी ढंग से मुकाबला किया जा सका। किन्तु इससे भारतीयों का तीव्र शोषण आरम्भ हो गया। भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड जाने लगा तथा तैयार माल भारतीय बाजारों में आने लगा। इससे भारतीय उद्योग डगमगाये, फिर गिरे और अन्त में समाप्त हो गये।

लार्ड हेस्टिंग्ज द्वारा प्रशासनिक संशोधन (1813-1823)

लार्ड मिन्टो के काल की समाप्ति के बाद लार्ड हेस्टिंग्ज को 1813 ई० में गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया। साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से लार्ड हेस्टिंग्ज ने वेलेजली के कार्यों को पूरा किया तथा भारत में कम्पनी की सर्वोच्चता स्थापित की। किन्तु वह केवल साम्राज्य निर्माता ही नहीं था, वरन् एक कुशल प्रशासक भी था। यद्यपि उसका अधिकांश समय युद्धों में ही व्यतीत हुआ और प्रशासन की ओर ध्यान देने का उसे पूर्ण अवसर नहीं मिला, फिर भी उसने कार्नवालिस द्वारा स्थापित व्यवस्था में समयोचित संशोधन कर उसे सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। न्याय, शिक्षा और भूमि के क्षेत्रों में उसने महत्वपूर्ण संशोधन किये।

(1) **न्याय के क्षेत्र में संशोधन**—कार्नवालिस के न्यायिक सुधार न्याय प्रणाली को सरल बनाने में सफल नहीं हुए। दीवानी अदालतों में पहले की भांति अब भी मुकदमे वर्षों तक तय नहीं होते थे। एक मुकदमे के निर्णय में एक व्यक्ति की समस्त उम्र ही बीत जाती थी। फलस्वरूप मुकदमे के वादी एवं प्रतिवादी पक्ष बहुधा कानून अपने हाथ में ले लेते थे। अतः कार्नवालिस के जाने के बाद यह प्रयत्न किया गया कि लोगों को उपलब्ध न्याय की सुविधा में कमी कर दी जाय। इसलिए 1795 में मुकदमा दायर करते समय धन जमा करने की प्रणाली पुनः आरम्भ की गई तथा स्टाम्प पेपर्स का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया। 1 97 में अपील की सुविधायें भी कम कर दी गई। यद्यपि न्याय को दुर्लभ एवं मंहगा बना दिया गया फिर भी मुकदमों की संख्या में कोई अन्तर नहीं आया। अपराधों की संख्या भी बढ़ती गई तथा लोगों के जान-माल की सुरक्षा का भय ज्यों का त्यों बना रहा। अतः जान-माल की सुरक्षा के लिये 1807 में जमींदारों को पुनः दायित्व सौंपना पड़ा।

लार्ड हेस्टिग्ज ने प्रचलित व्यवस्था में संशोधन किया। 1814 में प्रत्येक थाने में एक मुंसिफ की नियुक्ति की गई, जो 64 रुपये तक के मामले निपटा सकता था। प्रत्येक जिले में एक सदर अमीन की नियुक्ति की गई, जो 150 रुपये तक के मामलों की सुनवाई कर सकता था। सदर अमीन के निर्णय के विरुद्ध अपील दीवानी अदालत में तथा यहां से अपील प्रान्तीय अपील न्यायालय में की जा सकती थी। किन्तु जो मुकदमे सीधे दीवानी अदालत में दायर होते थे, उनकी अपील सदर दीवानी अदालत में की जा सकती थी। कार्य की अधिकता को कम करने तथा कार्य प्रणाली को सरल बनाने की दृष्टि से कुछ मामलों में अपील करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और कुछ मामलों में केवल एक बार अपील करने की सुविधा दी गई। 1821 में मुंसिफ को 150 रुपये तक के मामले तथा सदर अमीन को 500 रुपये तक के मामले सुनने का अधिकार दे दिया गया।

दीवानी अदालतों के रजिस्ट्रार को 50 रुपये तक के मामले तथा विशेष परिस्थितियों में दीवानी अदालतों द्वारा प्रेषित 500 रुपये तक के मामलों की सुनवाई करने का अधिकार दिया गया। यहां से अपील सीधी प्रान्तीय न्यायालय में की जा सकती थी। 500 रुपये से ऊपर के मामले जिला दीवानी अदालतों में तथा 5,000 रुपये से ऊपर के मामले सीधे प्रान्तीय न्यायालय में दायर किये जा सकते थे। सदर दीवानी अदालत कोई मुकदमा जिला दीवानी अदालत से प्रान्तीय अपील न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकती थी।

लार्ड हेस्टिग्ज ने कलेक्टर और मजिस्ट्रेट के पद को पुनः मिला दिया, जिसे कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त के बाद पृथक् कर दिया था। कार्नवालिस कोड में भी महत्वपूर्ण संशोधन किये गये। मद्रास व बम्बई में भारतीय जजों के वेतन में

वृद्धि की गई ताकि वे ईमानदारी से कार्य कर सकें। यद्यपि बोर्ड ऑफ कंट्रोल ने भारत में पुनः प्राचीन संस्थाओं को स्थापित करने तथा पंचायतों को पुनर्जीवित करने की सिफारिश की थी, किन्तु इनको कार्यान्वित नहीं किया गया।

(2) **शिक्षा के क्षेत्र में संशोधन**—भारत में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता स्थापित हुई उस समय हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं द्वारा संचालित अनेक पाठशालाएं तथा मस्जिदों द्वारा संचालित मकतब विद्यमान थे, जो बच्चों को शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते थे। प्रारम्भ में कम्पनी ने शिक्षा की तात्कालिक प्रणाली में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्ज के समय 1772 में मुसलमानों को कम्पनी की सेवा के लिये प्रशिक्षण देने के लिये कलकत्ता में एक मदरसा स्थापित किया। 1785 में ऐतिहासिक शोध को प्रोत्साहन देने के लिए सर विलियम जॉन ने बंगाल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित की। 1791 में बनारस में ब्रिटिश रेजीडेन्ट डंकन ने एक संस्कृत कालेज स्थापित किया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी को निर्देश दिया गया कि भारत में ब्रिटिश क्षेत्र के निवासियों में विज्ञान और साहित्य के प्रचार के लिये प्रतिवर्ष एक लाख रुपये निर्धारित किये जायं। इस प्रावधान के बावजूद भारत सरकार शिक्षा के विकास की कोई निश्चित योजना नहीं बना सकी। फिर भी इस दौरान अंग्रेजी शिक्षा के विकास की थोड़ी बहुत प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी।

लार्ड हेस्टिंग्ज के समय शिक्षा के विकास में कुछ तेजी आई। राजा राममोहनराय ने हिन्दुओं को पाश्चात्य भाषा और विचारों से परिचित करवाने के लिए एक संस्था स्थापित की। 1819 में एक हिन्दू कालेज स्थापित किया गया। 1818 में कलकत्ता में अंग्रेजी शिक्षा देने के लिये कलकत्ता विशप द्वारा एक संस्था स्थापित की गई। बम्बई का गवर्नर एलफिन्सटन स्वयं एक बड़ा शिक्षा शास्त्री था। उसने बम्बई व पूना में अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए एक-एक स्कूल स्थापित किया। लार्ड हेस्टिंग्ज ने भारतीयों की शिक्षा के लिये कलकत्ता के पास वर्नाक्यूलर स्कूल स्थापित किये। लार्ड हेस्टिंग्ज के काल में इन शैक्षणिक गतिविधियों के कारण अंग्रेजी भाषा व शिक्षा लोकप्रिय होने लगी।

भारत में समाचार पत्रों का उद्भव 1780 से माना जाता है, जबकि 'बंगाल गजट' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ, किंतु वारेन हेस्टिंग्ज, कार्नवालिस और सर जॉन शोर ने समाचार पत्रों पर कठोर नियन्त्रण रखा। वेलेजली के समय पहली बार प्रेस कानून बनाये गये। 1799 में वेलेजली ने इस सम्बन्ध में पांच नियम प्रसारित किये, जिसके द्वारा समाचार पत्रों पर कठोर सेन्सरशिप लागू कर दी गई। किन्तु लार्ड हेस्टिंग्ज समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। उसने प्रेस पर लगे सभी नियंत्रण हटा दिये। फलस्वरूप उसके काल में अनेक भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ, जिनमें

'समाचार दर्पण' तथा 'संवाद कौमुदी' उल्लेखनीय हैं। किन्तु लार्ड हेस्टिग्ज के जाने के तुरन्त बाद उसके उत्तराधिकारी लार्ड एडम्स ने प्रेस पर पुनः नियन्त्रण स्थापित कर दिया।

(3) **भू-प्रबन्ध के क्षेत्र में संशोधन**—लार्ड हेस्टिग्ज रैय्यत को जमींदारों के शोषण से मुक्त कराना चाहता था और इसके लिये वह सतत् प्रयत्न करता रहा। आगरा तथा मद्रास में कोई समुचित प्रबन्ध अभी तक नहीं हुआ था। अतः हेस्टिग्ज ने आगरा में 'महालवाड़ी प्रथा' लागू की, जिसके अनुसार गांव के प्रधान के साथ समझौता किया गया। गांव का प्रधान किसानों से लगान वसूल करके कम्पनी के कोष में जमा करा देता था। पंजाब में इस प्रकार की व्यवस्था से कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई।

लार्ड हेस्टिग्ज के आने के पूर्व मद्रास में भी 'महालवाड़ी प्रथा' तीन वर्ष के लिये लागू की गई थी। किन्तु वहां यह प्रथा सफल नहीं हुई क्योंकि गांव का प्रधान दूसरे किसानों का दायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं होता था। अतः लार्ड हेस्टिग्ज ने मद्रास में 'रैय्यतवाड़ी प्रथा' लागू की, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक किसान के साथ व्यक्तिगत रूप से समझौता किया गया और किसान अपना लगान सीधा कम्पनी के कोष में जमा करा देता था। बम्बई में भी किसानों की भूमि की पैमाइश करवाई गई तथा भूमि से सम्बन्धित किसानों के अधिकार और कर्तव्य निश्चित किये।

बंगाल में कार्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त द्वारा किसानों के हितों की रक्षा नहीं हो रही थी। अतः लार्ड हेस्टिग्ज ने 1822 में बंगाल टेनेन्सी एक्ट पारित किया, जिसके द्वारा किसानों को बेदखल करने तथा लगान वृद्धि करने के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया गया।

इस प्रकार लार्ड हेस्टिग्ज ने प्रशासनिक दोषों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। वह भारत में जिन उद्देश्यों को लेकर आया था उसमें उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की।

लार्ड हेस्टिग्ज के जाने के बाद जॉन एडम्स ने सात महीने तक गवर्नर जनरल के पद पर कार्य किया। तत्पश्चात लार्ड एम्हर्स्ट (1823–1828) गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। लार्ड एम्हर्स्ट का शासन काल प्रशासनिक दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय नहीं रहा, क्योंकि प्रथम तो बर्मा युद्ध के कारण उसे प्रशासन की ओर ध्यान देने का पूर्ण अवसर नहीं मिल पाया और दूसरा यह कि भारत में सदैव यह अफवाह फैलती रही कि एम्हर्स्ट को वापिस इंगलैण्ड बुलाया जा रहा है, जिससे उसके मस्तिष्क में अनिश्चितता बनी रहती थी। फिर भी उसने मेर व भील जैसी उपद्रवी जातियों पर नियन्त्रण स्थापित किया तथा शिक्षा के विकास के लिये दिल्ली व आगरा में एक एक कालेज स्थापित किया। 1823 में उसने शिक्षा के विकास

तथा 1813 के चार्टर द्वारा स्वीकृत राशि के उचित उपयोग के सम्बन्ध में सुझाव देने हेतु एक समिति नियुक्त की, किन्तु बर्मा-युद्ध आरम्भ हो जाने से समिति के कार्य में व्यवधान उत्पन्न हो गया तथा लार्ड बैंटिक के काल में इस पर अन्तिम निर्णय हो सका।

व्यापक सुधारों का युग (1828-1835)

लार्ड एम्हर्स्ट के चले जाने के बाद लार्ड विलियम बैंटिक को गवर्नर जनरल नियुक्त किया। जुलाई, 1828 में वह भारत आया। 1803 से 1806 तक वह मद्रास का गवर्नर रह चुका था, किन्तु इस काल में उसे कोई विशेष प्रसिद्धि प्राप्त नहीं हुई। किन्तु गवर्नर जनरल के रूप में उसने ऐसी ख्याति अर्जित की, कि आज भी आधुनिक भारत के इतिहास में उसका नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। बैंटिक ने जिस अवधि में भारत पर शासन किया वह यूरोप में उदारवाद का युग था। ब्रिटिश संसद पर भी उदारवाद का प्रभुत्व था और इसीलिये 1832 का सुधार अधिनियम पारित हुआ था। बैंटिक स्वयं उदार चरित्र का व्यक्ति था। बैंटिक के आने तक भारत में अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो चुकी थी। इन सभी परिस्थितियों ने मिलकर भारत के आन्तरिक प्रशासन में एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी। भाग्यवश भारत में ब्रिटिश उच्च अधिकारियों की एक ऐसी टोली विद्यमान थी जो बैंटिक के उदारवादी दृष्टिकोण की समर्थक थी। इन्हीं अनुकूल परिस्थितियों से प्रोत्साहित होकर बैंटिक ने जो सुधार किये उसके दूरगामी परिणाम हुए। बैंटिक के काल से ही भारत में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई थी।

(1) आर्थिक सुधार

जिस समय बैंटिक ने भारत में अपना कार्यभार ग्रहण किया, उस समय कम्पनी की आर्थिक नींवें खोखली हो चुकी थी। अत बैंटिक का सर्वप्रथम ध्यान आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की ओर गया। बैंटिक ने आर्थिक व्यवस्था ठीक करने के लिए निम्न उपाय किये—

(क) **सैनिक भत्ते को घटाना**—बैंटिक ने सैनिक व असैनिक खर्च में कमी करने के उपायों पर विचार करने के लिए दो समितियां नियुक्त की। इन समितियों की रिपोर्ट्स के आधार पर बैंटिक ने सैनिकों के भत्ते में कमी करने का निश्चय किया। भत्ता एक निश्चित धनराशि थी जो सैनिकों को पद के आधार पर वेतन के अलावा दी जाती थी। आरम्भ में यह भत्ता युद्ध में भाग लेने पर ही मिलता था, लेकिन अब तो युद्ध अथवा शांति किसी भी स्थिति में भत्ता प्राप्त करना एक प्रकार से अधिकार हो गया था। बैंटिक ने एक आदेश जारी किया जिसमें कहा गया कि कलकत्ता के 400 मील के भीतर रहने वाले सैनिकों को केवल आधा भत्ता दिया जायेगा। बैंटिक के इस आदेश का सैनिकों ने कड़ा विरोध किया, किन्तु बैंटिक अपने निर्णय पर डटा रहा और अन्त में सफल हुआ। इससे कम्पनी को प्रतिवर्ष दो लाख

रुपये की बचत होने लगी। वैंटिक ने सैनिकों की संख्या में भी कमी करके 21,000 पौंड बचत के रूप में प्राप्त की।

(ख) **अफीम के व्यापार में सुधार**—जिस समय वैंटिक ने कार्यभार ग्रहण किया उस समय बंगाल सूबे में बनारस तथा बिहार में उत्पादित अफीम पर कम्पनी का एकाधिकार था। कम्पनी अफीम उत्पादकों को निश्चित मूल्य देकर अफीम खरीद लेती थी और उसे चीन तथा पूर्वी टापुओं में भेजकर भारी मुनाफा कमा रही थी। किन्तु मालवा में उत्पादित अफीम से कम्पनी को कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा था। क्योंकि बम्बई में अफीम के आयात पर प्रतिबन्ध होने से मालवा से अफीम कराची के रास्ते से पुर्तगाली बन्दरगाह दमन व दीव भेजी जाती थी और वहां से पुर्तगाली जहाज़ उस अफीम को पूर्वी टापुओं तक पहुंचा कर भारी मुनाफा कमाते थे। सिन्ध के अमीर भी इस पर सीमा शुल्क वसूल कर लाभ कमा रहे थे। अतः वैंटिक ने इस अफीम को मालवा से सीधा बम्बई लाने की आज्ञा दे दी तथा प्रत्येक अफीम के व्यापारी को कम्पनी से लाइसेन्स लेना अनिवार्य कर दिया। इससे एक ओर तो लाइसेन्स जारी करने से कम्पनी को आय होने लगी तथा दूसरी ओर बम्बई-बन्दरगाह पर अफीम लाने पर कम्पनी को सीमा शुल्क प्राप्त होने लगा। वैंटिक के इस सम्बन्ध के पूर्व अफ़ीम के व्यापार से कम्पनी को लगभग 1 लाख 66 हजार रुपये प्रतिवर्ष प्राप्त होते थे, किन्तु इस नई व्यवस्था से कम्पनी की आय 12 लाख रुपये प्रतिवर्ष हो गयी।

(ग) **कर मुक्त भूमि का अपहरण**—भारत में प्राचीन काल से ही यह परम्परा रही है कि शासक धार्मिक स्थानों के लिए भूमि दान में देता था। ऐसी भूमि से कोई कर नहीं लिया जाता था तथा उसे 'माफी की भूमि' कहा जाता था। मुस्लिम शासकों के काल में भी यह परम्परा यथावत चलती रही। फलस्वरूप उपजाऊ भूमि के अधिकांश भाग से कोई लगान प्राप्त नहीं हो रहा था। जिस समय कम्पनी ने बंगाल में दीवानी का अधिकार ग्रहण किया था, ऐसी कर मुक्त भूमि को स्वीकार किया था। कुछ समय बाद पता चला कि बहुत सी भूमि पर जबरन कब्जा करके उसे माफी की भूमि बताया जा रहा था, किन्तु कर मुक्त भूमि का ठोस प्रमाण उनके पास नहीं था। अतः एक 1793 में तथा दूसरा 1819 में नियम पारित कर कलेक्टरों को ऐसी भूमि की जांच करने का अधिकार दिया गया और यदि कोई कर मुक्त भूमि का प्रमाण न दे सके उसे जब्त करने का आदेश दिया गया। इन नियमों के अनुसार यद्यपि कुछ भूमि जब्त कर ली गई थी, किन्तु यह कार्य संतोषजनक ढंग से नहीं हो रहा था। अतः वैंटिक ने 1828 में तीसरा नियम पारित कर कलेक्टरों को इस कार्य को गंभीर रूप से सम्पन्न करने का आदेश दिया गया। वैंटिक ने विशेष कमिश्नरों की नियुक्त की जो कलेक्टरों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनते थे। जिन मालिकों ने यह तर्क दिया कि भूमि अत्यन्त प्राचीन समय में अनुदान में दी गई थी

और अब वे दस्तावेज खो चुके हैं, ऐसे तर्क स्वीकार नहीं किये गये और अधिकांश भूमि जब्त कर ली गई। ऐसा करने से सरकारी कोष को 30 लाख रुपये वार्षिक की आय होने लगी। किन्तु इस कार्यवाही से लोगों में असंतोष फैलने लगा और 1857 में यह असंतोष विप्लव का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया।

(घ) **भू-राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था**—कम्पनी ने कुछ अवध के क्षेत्रों को लेकर तथा कुछ सिन्धिया से क्षेत्र लेकर उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त का निर्माण किया था, किन्तु यहां पर कुशल भू-राजस्व व्यवस्था स्थापित नहीं हो पायी थी। लार्ड वेलेजली ने यहां पर पांचवर्षीय बन्दोबस्त लागू किया था, किन्तु उसका अच्छा परिणाम नहीं निकला था। बैंटिक ने इलाहाबाद के राजस्व मंडल के सदस्यों से वातचीत कर भूमि का सर्वेक्षण एवं पैमाइश करवाई तथा भूमि से सम्बन्धित रेकार्ड तैयार करवाया। तत्पश्चात उसने भूराजस्व व्यवस्था की अवधि 30 वर्ष निश्चित करदी और यह 30 वर्षीय समझौता या तो रैय्यत के साथ या जमींदारों के साथ या ग्राम समुदाय के साथ किया गया। बैंटिक ने यह भी नियम पारित किया कि राज्य की मांग बहुत अधिक न बढाई जाय तथा नई व्यवस्था करते समय लगान केवल सामान्य रीति से ही बढ़ाया जाय। इस नई व्यवस्था को लागू करने के लिए बैंटिक ने अनेक विशेष अधिकारियों को नियुक्त किया, जिन्होंने प्रत्येक जिले में पैमाइश करवा कर लगान निश्चित किया। इस नये प्रबन्ध से राज्य और रैय्यत दोनों को लाभ हुआ। इससे एक ओर राज्य के राजस्व में वृद्धि हुई और दूसरी ओर लम्बी अवधि तक राज्य की मांग के बारे में निश्चितता होने से किसान अपनी भूमि का विकास कर अपनी आय में वृद्धि कर सकते थे। इस नई व्यवस्था से भूमि से सम्बन्धित रेकार्ड पहली बार प्रकाश में आये तथा अनेक अस्पष्टताएँ दूर कर दी गई।

बैंटिक के इन आर्थिक सुधारों से कम्पनी को पुनः आर्थिक दृढ़ता प्राप्त हुई। बैंटिक के आर्थिक सुधारों का ही परिणाम था कि 1833 के चार्टर एक्ट के बाद कम्पनी का अस्तित्व बना रहा, अन्यथा इंगलैण्ड में तो यह मांग प्रबल हो रही थी कि कम्पनी को ब्रिटिश ताज के अधीन कर दिया जाय। अतः बैंटिक ने अपने आर्थिक सुधारों से कम्पनी के अस्तित्व की रक्षा की।

(2) प्रशासनिक सुधार

1833 के चार्टर एक्ट में स्पष्ट घोषणा की गई थी की कम्पनी की सेवा में भारतीयों को भी बिना भेदभाव के नौकरी दी जायेगी। अतः चार्ल्स मेटकॉफ ने बैंटिक से सिफारिश की कि सभी विभागों में भारतीयों को नियुक्त करना चाहिये। इससे पूर्व भारतीयों पर विश्वास नहीं किया जाता था तथा जिस पद का वेतन 500 पौंड वार्षिक से अधिक होता था, उस पर भारतीयों की नियुक्ति नहीं की जाती थी। किन्तु यूरोपियनों को नौकरी देना कम्पनी के लिए खर्चीला सिद्ध हो रहा था। इस

समय भारतीयों में वेरोजगारी थी तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण कम्पनी में क्लर्क आदि पदों के लिये भारतीय उपलव्ध हो सकते थे जो कम वेतन में भी काम करने को तैयार हो जाते थे। अतः वैंटिक ने भारतीयों को प्रशासन में नियुक्तियाँ देना आरम्भ कर दिया, जिससे कम्पनी को कम वेतन पर कर्मचारी उपलव्ध होने लगे। फलस्वरूप कम्पनी के खर्च में कमी आ गयी और दूसरी ओर भारतीय भी सन्तुष्ट हो गये। वैंटिक ने न्यायिक सेवा की तीन श्रेणियाँ स्थापित कर उनमें भारतीयों को नियुक्त किया। इनमें सबसे ऊँचा पद 'सदर अमीन' का था, जिसका वेतन 750 रुपये मासिक था।

वैंटिक ने जहाँ भी संभव हो सका असैनिक कर्मचारियों में भी कमी की, क्योंकि उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों ने युद्धों के कारण अत्यधिक कर्मचारियों की भर्ती करली थी। अनावश्यक कर्मचारियों की छंटनी करने से तथा प्रशासन में भारतीयों की नियुक्ति करने से कम्पनी के वार्षिक व्यय में करीब डेढ़ करोड़ रुपये की कमी हो गयी और वजट संतुलित हो गया।

(3) न्याय प्रणाली में सुधार

लार्ड कार्नवालिस के समय वंगाल, बिहार और उड़ीसा को चार डिविजनों में विभाजित कर प्रत्येक डिविजन में एक अदालत स्थापित की गई थी, जिसमें दो-दो जज होते थे। इसके अलावा चार प्रान्तीय अपील न्यायालय भी थे। इस व्यवस्था में अनेक दोप थे। प्रथम तो यह कि कम्पनी ने भारत में विशाल क्षेत्र प्राप्त कर लिया था तथा न्याय प्रशासन का मुख्यावास कलकत्ता में था। कलकत्ता अधिक दूर होने के कारण न्याय प्रशासन ठीक से नहीं चल रहा था। दूसरा यह कि डिविजनल न्यायालयों व प्रान्तीय अपील न्यायालयों में अकुशलता एवं अनियमितताएँ व्याप्त थी। फलस्वरूप इन न्यायालयों में मुकदमों के ढेर लगे हुए थे। अतः तथाकथित अभियुक्त विना मुकदमे के महीनों जेल में बन्द पड़े रहते थे, जो पुलिस के अत्याचारों से भी पीड़ित रहते थे। तीसरा यह कि न्याय व्यवस्था खर्चीली थी तथा न्याय ने अनावश्यक देरी व परेशानी ज्यों की त्यों विद्यमान थीं। चौथा यह कि भारतीयों को न्यायालय के उच्च पदों व उत्तरदायित्वों से अलग रखा जाता था। पांचवां यह कि न्यायालय की भाषा फारसी थी तथा मुकदमा दर्ज करने वाले को अपनी भाषा में वात कहने का अधिकार नहीं था।

1829 में वैंटिक ने एक कानून पारित कर मजिस्ट्रेटों को दो वर्ष की सश्रम कारावास की सजा देने का अधिकार दे दिया और इसके विरुद्ध अपील आयुक्त न्यायालय में की जा सकती थी। 1831 में एक कानून पारित कर कलेक्टरों को लगान सम्बन्धी मामले निपटाने का अधिकार दे दिया। इसकी अपील सिविल न्यायालय में की जा सकती थी, अर्थात यह अपील का मुकदमा स्वयं कलेक्टर के

विरुद्ध होता था। इसी वर्ष बैंटिग ने जिला एवं सत्र न्यायालय स्थापित किया। 1831 के ही एक नियम द्वारा प्रतिष्ठित भारतीयों को सदर अमीन के पद पर नियुक्त किया गया, जो जिला व शहरी न्यायालय के विरुद्ध अपीलें सुन सकते थे। न्यायिक क्षेत्र में किसी भारतीय को दिया जाने वाला यह सदर अमीन का पद सर्वोच्च था। किन्तु किसी यूरोपियन अथवा अमेरिकन से सम्बन्धित मुकदमे मुन्सिफ या सदर अमीन की अदालत में नहीं सुने जा सकते थे। 1832 में इलाहाबाद में सदर दीवानी अदालत तथा सदर निजामत अदालत स्थापित की गई और बंगाल में जूरी प्रणाली आरम्भ की गई ताकि यूरोपियन जजों को सहायता देने के लिये जूरी के रूप में भारतीयों की मदद प्राप्त की जा सके। 1832 के एक नियम में यह भी कहा गया कि कोई यूरोपियन जज किसी मामले के प्रतिष्ठित भारतीयों की पंचायत के पास भेज सकेंगे और वह पंचायत मामले की जांच कर अपनी रिपोर्ट जजों के पास भेजेंगे। जजों को यह भी अधिकार दिया गया कि वे भारतीय सहायक नियुक्त कर सकते हैं, जो प्रत्येक मामले में अपनी अलग राय देंगे।

भारत के न्यायिक इतिहास में बैंटिक के ये सुधार एक युगान्तकारी घटना थी। न्यायिक सेवाओं में भारतीयों को सम्मिलित करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम था, इससे सेवाओं के भारतीयकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। जूरी प्रणाली का विकास बैंटिक की महान सफलता थी।

(4) शिक्षा सम्बन्धी सुधार

बैंटिक के सुधारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उसकी नई शिक्षा नीति थी। बैंटिक के आगमन के पूर्व कम्पनी की सरकार ने शिक्षा के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति निर्धारित नहीं की थी। 1813 के चार्टर एक्ट में, भारत में ब्रिटिश क्षेत्र के निवासियों में विज्ञान और साहित्य के प्रसार हेतु प्रतिवर्ष एक लाख रुपया निर्धारित रखने को कहा गया था, फिर भी भारत सरकार ने अगले 20 वर्षों तक शिक्षा के विकास की कोई निश्चित योजना नहीं बनायी तथा प्रतिवर्ष इस कार्य हेतु जो एक लाख रुपया निर्धारित किया जाता था, वह एकत्रित होने लगा। लार्ड एम्हर्स्ट के काल में 1823 में इस विषय पर सुझाव देने के लिये एक समिति नियुक्त की गई, किन्तु इसके तुरन्त बाद प्रथम बर्मा युद्ध प्रारम्भ हो जाने से इस दिशा में कोई कार्य नहीं हो सका। अतः बैंटिक के लिये इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक हो गया तथा शिक्षा की कोई ऐसी योजना पर निर्णय करना था जिस पर शिक्षा के लिये निर्धारित रकम खर्च की जा सके।

बैंटिक के समय तक इस बात को लेकर गम्भीर विवाद उत्पन्न हो गया था कि सरकार की ओर से किस प्रकार की शिक्षा का विकास किया जाय। 1823 में नियुक्त समिति में दो प्रकार की विचारधारा उत्पन्न हो गयी। एक विचारधारा के

जनक थे एच० एच० विल्सन तथा दूसरी के सूत्रधार थे सर चार्ल्स ट्रेवेलियन। विल्सन का कहना था कि भारत में प्राच्य शिक्षा प्रणाली अपनायी जाय; हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फारसी और उर्दू भाषाओं का प्रसार किया जाय तथा प्राच्य शिक्षा प्रणाली की स्कूलों में वृद्धि की जाय। जबकि ट्रेवेलियन का कहना था कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार किया जाय। प्राच्य शिक्षा के समर्थकों का कहना था कि 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा शिक्षा के लिये एक लाख रुपये निर्धारित करने के पीछे मूल भावना यह थी कि भारत में प्राच्य शिक्षा का विकास किया जाय, इसलिये यह राशि दूसरे प्रकार की शिक्षा पर खर्च नहीं की जा सकती। उनका यह भी कहना था कि प्राच्य लोगों के लिये प्राच्य शिक्षा ही उपयुक्त है और इसी शिक्षा से उनमें अच्छे गुणों का विकास किया जा सकता है। इन सभी तर्कों के पीछे छिपा हुआ तर्क यह भी था कि भारतीयों को अंग्रेजी विचारों से अनभिज्ञ रखने से वे सदैव अंग्रेजों के प्रति नम्र रहेंगे। दूसरी ओर ट्रेवेलियन भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर जोर दे रहा था। उसका कहना था कि 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा निर्धारित राशि केवल पाश्चात्य शिक्षा के विकास पर ही खर्च की जा सकती है, अतः इस राशि को भारत में स्कूल खोलने, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की स्थापना पर खर्च की जाय तथा उनके माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा और विज्ञान का प्रसार किया जाय।

1835 में बैंटिक ने लार्ड मेकाले को शिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया। 3 फरवरी 1835 को मेकाले ने भारतीय शिक्षा प्रणाली पर अपना एक ऐतिहासिक लेख प्रकाशित किया, जिसमें पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया गया। मेकाले का कहना था कि 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा निर्धारित राशि केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च की जा सकती है। मेकाले ने भारतीय धर्म और भारतीय शिक्षा का उपहास उड़ाया और कहा कि भारतीय धर्म ऐसा है—'ईश्वर में कैसे विलीन हो,' भारतीय धर्म में यह भी कहा गया है कि गधे को छूने से अपवित्र हो जाता है और बकरे का मांस खाने पर प्रायश्चित करना पड़ता है। अतः ऐसी धार्मिक पुस्तकों पर धन खर्च करना उचित नहीं। मेकाले ने यह भी कहा कि भारत के इतिहास की पुस्तकों में केवल शासकों की अतिरंजित गाथाएं मिलती है। भारत के भौगोलिक ग्रन्थों में लिखा है कि भारत एक सोने की चिड़िया है और यहां घी-दूध की नदियां बहती है। मेकाले ने कहा ये सभी ग्रन्थ मिथ्या है, अतः भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होना चाहिये। मेकाले ने स्पष्ट लिखा कि, "हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये जो हमारे और शासितों के बीच वार्तालाप का माध्यम बन सके, जो रक्त और रंग से तो भारतीय हो लेकिन बुद्धि और विचारों में भारतीय न हो।" मेकाले ने प्राच्य शिक्षा के पक्षधरों के इस तर्क का खण्डन किया कि अंग्रेजी शिक्षा से अनभिज्ञ रहने पर भारतीय, अंग्रेजों के प्रति नम्र रहेंगे। उसने कहा कि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देने से यदि वे भविष्य में यूरोपियन संस्थाओं (संसद,

मंत्री परिषद मताधिकार आदि) की मांग करते हैं तो वह दिन ब्रिटिश इतिहास का गौरवपूर्ण दिन होगा।

मेकाले भारतीय साहित्य से सर्वथा अनभिज्ञ था, क्योंकि उसका जन्म और पालन-पोषण अंग्रेजी समाज में हुआ था। उसे भारत की प्राचीन गौरवमय शिक्षा का कोई ज्ञान नहीं था, अन्यथा वह यह नहीं कहता कि भारत में ऐसा कुछ नहीं है जिस पर गर्व किया जा सके।

बैंटिक मेकाले के विचारों से प्रभावित था। अत: 7 मार्च 1835 को बैंटिक ने अपनी कौंसिल से एक प्रस्ताव पारित करवाया जिसमें निर्धारित राशि अंग्रेजी साहित्य एवं विज्ञान पर खर्च करने को कहा गया। इस प्रस्ताव के आधार पर बैंटिक ने आदेश जारी किया कि भारत में राजकीय भाषा अंग्रेजी होगी और न्याय का आधार अंग्रेजी भाषा होगी, अत: भारत में अंग्रेजी भाषा का ही प्रसार किया जायेगा। बैंटिक के इस निर्णय से भारत से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरम्भ हुआ। मार्च 1835 में कलकत्ता में एक मेडिकल कॉलेज की नींव रखी गई। यद्यपि बैंटिक ने स्पष्ट घोषणा की थी कि नई नीति के अन्तर्गत भारतीय छात्रों के धार्मिक विचारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा, फिर भी भारतीय छात्रों को ईसाई धर्म व ईसाई विचारों की शिक्षा दी गई।

बैंटिक की नई शिक्षा नीति से भारत में पाश्चात्य ज्ञान और क्रान्तिकारी विचारों का प्रवेश हुआ। बुद्धिजीवियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने लोगों में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विचारों का प्रचार किया और इसे प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से अब पूरे भारत के लिये समान भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। समान भाषा और समान विचारों से भारतीयों में राजनीतिक एकता उत्पन्न हुई और यही एक मात्र अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की भारतीयों को महत्वपूर्ण देन है। किन्तु इस शिक्षा प्रणाली के दोष, उसके गुणों की अपेक्षा अधिक थे। अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों के जीवन में पाश्चात्य व्यक्तिवाद का बीजारोपण हुआ, जिससे भारत के प्राचीन गौरव की विशेषताएं समाप्त होने लगी। भारतीयों के व्यवहार एवं रहन सहन में परिवर्तन आ गया। खान-पान, कपड़े आदि पहनने में पाश्चात्य ढंग आ जाने से ब्रिटिश माल की खपत के लिये भारत में बाजार तैयार हो गया, जिससे भारत का आर्थिक शोषण पहले से अधिक होने लगा।

(5) सामाजिक सुधार

इस समय तक भारतीय समाज में अनेक कुरीतियों का सामावेश हो चुका था। समाज में पवित्र धार्मिक क्रियाओं पर पाखण्ड का आवरण छा गया था। फलस्वरूप भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन हुए, जिनके जनक राजा राममोहनराय थे। वस्तुतः इन सुधारकों को अंग्रेजों से प्रेरणा मिली थी। यद्यपि

अंग्रेजों की नीति भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करने की नहीं थी, किन्तु तात्कालिक परिस्थितियों एवं सुधारकों के प्रोत्साहन के कारण उन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का निश्चय किया। बैंटिक ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये अनेक ठोस कदम उठाये।

(क) **सती प्रथा का निषेध**—सती प्रथा का यह अर्थ लिया जाता था कि जो स्त्री अपने पति से अत्यधिक अनुरक्त होती थी वह अपने पति की मृत्यु के समय उसके साथ चिता में जिन्दा जल जाया करती थी। अपने पति के साथ चिता पर जिन्दा जल जाना सतीत्व का चिन्ह समझा जाता था। भारत में यह प्रथा कब से प्रचलित हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु प्राचीन काल से ही पवित्र नारी का यह एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। आरम्भ में यह एक स्वैच्छिक कार्य था तथा स्त्रियां अपनी इच्छा से अपने पति के साथ जलने के लिये तत्पर रहती थी। किन्तु कालान्तर में यह पवित्र कर्त्तव्य विकृत हो गया और अब सामाजिक दबाव के कारण महिलाओं को पति की चिता में जलने पर बाध्य किया जाने लगा। भारत में इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने का अनेक शासकों ने प्रयत्न किया था। मुगल काल में अकबर ने, पुर्तगाली गवर्नर अल्बुकर्क ने तथा मराठों ने इस प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। बंगाल में ब्रिटिश शासन स्थापित होने के बाद प्रायः सभी गवर्नर जनरल सती प्रथा के विरुद्ध थे, किन्तु इसे रोकने के लिये कोई ठोस कदम नहीं उठाया, क्योंकि उन्हें जनता के विरोध का भय था। गवर्नर जनरलों के विरोध के फलस्वरूप लार्ड हेस्टिंग्ज के समय तक यह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी कि जब कभी कोई स्त्री सती होती थी, उस समय पुलिस वहां पहुँच जाती थी और केवल यह देखती थी कि कहीं उस स्त्री को जबरदस्ती तो सती नहीं किया जा रहा है।

बैंटिक अन्य गवर्नर जनरलों की तुलना में अधिक सुधारवादी था और इसीलिये भारत आने के तुरन्त पश्चात उसने सती प्रथा के उन्मूलन के लिये सक्रिय ढंग से काम करना आरम्भ किया। कम्पनी ने अभी तक भारतीयों के सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया था। अतः बैंटिक जानता था कि उसका यह कदम भारतीयों के सामाजिक जीवन में प्रथम हस्तक्षेप होगा। इसीलिये बैंटिक इस बात का अध्ययन करना चाहता था कि सती प्रथा का निषेध करने पर अलग-अलग क्षेत्रों में क्या प्रतिक्रिया होगी। बैंटिक ने 49 अधिकारियों को गोपनीय पत्र लिखकर यह पूछा कि सती प्रथा को रोकने के लिये सरकारी आदेश जारी करने पर जनता की तथा भारतीय सैनिकों की क्या प्रतिक्रिया होगी। इन अधिकारियों के विचारों से बैंटिक ने अनुमान लगाया कि इस प्रथा को रोकने पर किसी प्रकार के व्यापक विरोध की संभावना नहीं है। कुछ प्रगतिशील व्यक्तियों, जैसे राजा राममोहन राय तथा द्वारिकानाथ टैगोर ने सती प्रथा के विरोध में जनमत तैयार किया।

इस अनुकूल वातावरण में बैंटिक ने 4 दिसम्बर 1829 को एक अधिनियम पारित कर दिया, जिसमें कहा गया कि सती प्रथा मानव भावना विरोधी घृणित प्रथा है तथा विधवाओं द्वारा आत्मदाह करना अथवा उसे आत्मदाह करने में मदद करना दण्डनीय अपराध है। इस अधिनियम द्वारा सती होने को नर हत्या का अपराध घोषित कर दिया गया तथा किसी महिला को सती होने के लिये सहायता करने वाले पर फौजदारी न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सकता था। बैंटिक के इस आदेश का कुछ कट्टर हिन्दुओं ने तीव्र विरोध किया तथा उन्होंने लंदन में प्रिवि कौंसिल में इस अधिनियम को चुनौती दी। उन्होंने ब्रिटिश सम्राट को भी एक याचिका प्रस्तुत की कि अंग्रेज हिन्दुओं के सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रहे हैं। किन्तु राजा राममोहन राय तथा द्वारिकानाथ टैगोर ने सरकारी कार्यवाही का समर्थन करते हुए पत्र लिखे जिससे उन कट्टर हिन्दुओं का पक्ष कमजोर हो गया तथा उनका मनोबल गिर गया।

इस प्रकार सती प्रथा रोकने के लिये बैंटिक का प्रयास पूर्णतः सफल रहा। बंगाल में सती प्रथा पूर्णतः बन्द हो गयी। कम्पनी सरकार ने प्रथम वार सामाजिक कुरीति को समाप्त करने हेतु प्रत्यक्ष कार्यवाही की थी, जो निसन्देह सराहनीय है। आरम्भ में यह कानून केवल बंगाल के लिये था, किन्तु 1830 में यह मद्रास तथा वम्बई प्रेसीडेन्सियों में भी लागू कर दिया गया। कानून का समर्थन प्राप्त होने पर भारत में यह प्रथा धीरे धीरे समाप्त होने लगी। वूल्जले हेग ने लिखा है कि, "सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों में कम्पनी सरकार द्वारा किया गया यह एक साहसिक हस्तक्षेप था।"

(ख) ठगों का दमन—बैंटिक ने अपने सामाजिक सुधारों के अन्तर्गत दूसरा महत्वपूर्ण सुधार ठगों का दमन करने का किया। ठग प्रायः लुटेरों एवं हत्यारों का अखिल भारतीय संघ था। मुगल साम्राज्य के पतन के वाद जब देश के मार्ग असुरक्षित हो गये थे तब इन ठगों को अधिक प्रोत्साहन मिला। इतना ही नहीं छोटे-छोटे शासक, जमींदार तथा अधिकारियों ने गुप्त रूप से इन ठगों को संरक्षण भी प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इन ठगों के दल में न तो कोई हिन्दू होता था और न कोई मुसलमान। सभी ठग केवल काली देवी के उपासक होते थे तथा इस वात में विश्वास करते थे कि काली देवी ने उन्हें ठगी करने तथा हत्या करने का अधिकार प्रदान किया है और इन कार्यों से काली देवी प्रसन्न होती है। अलग-अलग कार्यों के लिये अलग-अलग ठग हुआ करते थे। कोई धोखा देने में, कोई कब्र खोदने में, कोई अपने शिकार को फंसाने में, और कोई गला घोंट कर हत्या करने में निपुण होता था। इन कार्यों के लिये दल में आने के वाद प्रशिक्षण लेना पड़ता था। जो ठग अपने कार्य में प्रशिक्षण प्राप्त कर लेता था, वह अपने गले में कपड़ा वांधे रखता

था। इनमें आपस में कभी फूट नहीं पड़ती थी तथा लूट के माल के बंटवारे की सर्वमान्य पद्धति प्रचलित थी।

कम्पनी सरकार ने इन अपराधों का दमन करने का प्रयत्न किया, किन्तु ठगों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही अत्यन्त ही मन्द तथा उत्साहजनक नहीं थी। अतः अब बैंटिक ने इस विषय पर गम्भीरता से सोचना आरम्भ किया। 1829 में उसने नर्वदा क्षेत्र में तैनात अपने एजेन्ट को निर्देश दिया कि जहां भी उसे अपराध का पता लगे, उसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाय। कप्तान स्लीमन को उसकी सहायता के लिये नियुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देश में सरकारी अधिकारियों को निर्देश भेजे गये कि ठगी के मामलों की पूरी रिपोर्ट सरकार को भेजी जाय। ज्यों-ज्यों ठगों के विरुद्ध कार्यवाही की जाने लगी त्यों-त्यों ठगों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त होने लगी। अनेक जिला मजिस्ट्रेटों तथा अन्य अधिकारियों ने इस कार्य में अपनी कठिनाइयां व्यक्त की। उन्होंने बताया कि स्थानीय अधिकारियों व जमींदारों का संरक्षण होने के कारण वे अपराधियों का पता नहीं लगा पाते। एक अन्य कठिनाई यह भी थी कि ठग अपना अधिकांश समय कोई सम्मानजनक व्यवसाय करने में व्यतीत करते हैं और केवल कभी-कभी वे अपराध करने को प्रवृत होते हैं। जब वे अपराध करने को उद्यत होते हैं तो वे अपने निवास के 30 मील के भीतर कभी अपराध नहीं करते। यात्री को लूटने के साथ ही वे उसकी गला घोंट कर हत्या कर देते थे तथा मृत व्यक्ति को जमीन में दफना दिया जाता था ताकि हत्या का कोई चिन्ह भी दिखाई न दे। कम्पनी के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि कानून के अनुसार किसी व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने से पहले कोई ठोस सबूत चाहिये। केवल सन्देह, चाहे वह कितना ही ठोस क्यों न हो, के आधार पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती थी।

उपर्युक्त कठिनाइयों का समाधान करने के लिए बैंटिक ने 1830 में एक नियम पारित किया, जिसके अनुसार चाहे किसी व्यक्ति ने अपराध न भी किया हो लेकिन यदि वह लुटेरों के साथ पाया जाता है तो उसे बन्दी बनाया जा सकता था। तत्पश्चात् बैंटिक ने कप्तान स्लीमन को ठगों का दमन करने का कार्य सौंपा तथा उसकी सहायता के लिए अन्य सैनिक अधिकारी नियुक्त किये। स्लीमन ने बड़ी चतुराई से एक के बाद एक दूसरे गिरोह को पकड़ा और सजाएं दी। 1829 से 1835 के बीच लगभग दो हजार ठगों को या तो मृत्यु दण्ड दिया गया या आजीवन कारावास की सजा सुनाई गई अथवा जबलपुर के सुधार गृह में भेज दिया गया। इस प्रकार दीर्घकाल से चले आ रहे अपराध को बैंटिक ने समाप्त कर दिया। ठग समाज के लिये अभिशाप थे तथा उनके भय से लोग यात्रा करने में हिचकिचाते थे। उनका दमन हो जाने से लोगों ने चैन की सांस ली।

(ग) बाल हत्या पर रोक लगाने का प्रयास—बाल हत्या भी समाज में अत्यन्त ही क्रूर एवं भयावह कृत्य था। यह प्रथा उत्तर भारत, मध्य भारत तथा राजस्थान में अधिक प्रचलित थी। पूर्वी भारत में गंगा मैया की कृपा प्राप्त करने हेतु छोटे-छोटे बालकों को गंगा मैया के अर्पित कर दिया जाता था। राजपूत अपने परिवार में लड़की पैदा होना अभिशाप समझते थे। इसका कारण यह था कि लड़की के विवाह के समय उस परिवार को अपमानजनक समस्या का सामना न करना पड़े। अतः राजपूतों में लड़की को पैदा होते ही प्रायः अफीम देकर उसकी हत्या कर दी जाती थी।

बैंटिक इस सामाजिक बुराई को समाप्त करना तो चाहता था, किन्तु इसके लिए कानून पारित करना उचित नहीं समझा। अतः बैंटिक ने विलकिंसन तथा विलोबी को इस कार्य के लिये नियुक्त किया। हत्या करने वाले परिवार का पता लगाने के लिए यह तरीका अपनाया गया कि ब्रिटिश अधिकारियों को अपने-अपने क्षेत्र में जनगणना करने की आज्ञा दी गई। जनगणना के आंकड़ों से पता लगा कि कुछ परिवारों में कम उम्र के लड़कों के अनुपात में लड़कियों की संख्या कम थी। अब ऐसे परिवारों पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी। ऐसे परिवारों के मुखियों को स्थानीय अधिकारियों ने आदेश दिये कि यदि उनके परिवार में हत्या की कोई घटना हुई तो उनकी सम्पत्ति अथवा जागीर जब्त कर ली जायेगी। कुछ रियासतों के शासकों को स्वयं बैंटिक ने पत्र लिखे जिसमें कहा गया कि उनकी रियासत में यदि ऐसी कोई घटना हुई तो उन पर जुर्माना लगाया जा सकता है। बैंटिक के आदेश का बड़ी कठोरता से पालन होने लगा। गर्भवती महिलाओं पर कड़ी निगरानी रखी जाती थी। इस प्रकार विलकिंसन व विलोबी के अथक प्रयासों से बाल हत्या के भयावह कृत्य को रोकने का प्रयास आरम्भ हुआ। जिन परिवारों में हत्या की जाती थी, उनका तुरन्त पता लगाकर उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी, और वहां के शासक पर जुर्माना लगाया जाता था। फलस्वरूप कुछ ही दशकों में में ऐसी अमानवीय घटनाओं में कमी आ गई और धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गयी।

(घ) दास प्रथा का अन्त—भारत में प्राचीन काल से ही दास प्रथा प्रचलित थी तथा दासों का क्रय-विक्रय एक प्रमुख व्यवसाय बना हुआ था। दास मालिक अपने दासों पर अमानवीय अत्याचार करते थे। दासों का विवाह आदि में भी लेन-देन होता था। लड़की की शादी के अवसर पर अनेक दासियां दहेज के रूप में दी जाती थी और वर पक्ष वाले उन दासियों का मनचाहा प्रयोग करते थे। बंगाल और बिहार में जब कभी अकाल पड़ता था तो गरीब किसान मुट्ठी भर चावल के बदले अपने लड़के लड़कियों को अमीरों के हाथों बेच देते थे। ये अमीर इन लड़के व लड़कियों को अपनी खरीदी हुई वस्तु समझकर उनके साथ बड़ा ही अमानुषिक

व्यवहार करते थे। कम्पनी सरकार भी गरीब भारतीयों को नौकरी देने के लालच में पूर्वी द्वीपों में भेज देती थी, जहां उनसे कम पैसे देकर अधिक काम लिया जाता था और उन भारतीयों को दासों के समान जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

वैंटिक इस सामाजिक बुराई का भी अन्त करना चाहता था। अतः 1832 में उसने एक नियम पारित किया जिसके अनुसार भारत से किसी व्यक्ति को काम कराने हेतु भारत से बाहर नहीं भेजा जा सकता था। इस कानून के अनुसार मानव क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा मानव क्रय-विक्रय अपराध घोषित कर दिया। इस कानून के अनुसार साहूकारों द्वारा कर्ज के बदले कर्जदारों से मजदूरी कराना भी गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। लड़की की शादी पर कुंवारी दासियों को दहेज में देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। वैंटिक इस कानून से भारत में दास प्रथा काफी अंशों तक समाप्त हो गयी।

(ङ) **उत्तराधिकार नियम में परिवर्तन**—भारत में हिन्दू धर्म के अनुसार जो व्यक्ति अपना धर्म परिवर्तन कर लेता था वह अपनी पैतृक सम्पत्ति के अधिकार से वंचित हो जाता था। हिन्दू समाज अंग्रेजों को अछूत समझता था। यदि कभी कोई ठाकुर या जागीरदार किसी कार्य से अंग्रेज अधिकारियों से मिलकर आता तो वह घर जाने से पूर्व स्नान कर अपने आपको पवित्र करता था, मानो वह किसी की शवयात्रा में सम्मिलित होकर आया हो। 1833 के चार्टर एक्ट में जाति एवं रंग भेद का विरोध किया गया था। वैंटिक इस एक्ट को भारत में पूरी तरह से लागू करना चाहता था। वैंटिक भारत में ईसाई धर्म के प्रसार का भी पक्षपाती था, किन्तु हिन्दू धर्म के लोग ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित होते हुए भी ईसाई धर्म ग्रहण करने से डरते थे, क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें पैतृक सम्पत्ति के अधिकार से वंचित होना पड़ता था। वैंटिक ने इस नियम में परिवर्तन कर एक विशेष नियम पारित किया जिसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति पैतृक धर्म छोड़कर अन्य धर्म ग्रहण करेगा उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित नहीं होना पड़ेगा।

इस नियम से ईसाई धर्म के प्रसार को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वास्तव में यह नियम भारतीयों को ईसाइत की ओर आकर्षित करने के लिए बनाया गया था तथा हिन्दुओं के धार्मिक नियमों पर अंग्रेजों का प्रथम आक्रमण था।

(6) प्रेस की स्वतन्त्रता

इतिहासकार डॉडवेल ने लिखा है कि भारत में समाचार पत्रों का उद्भव पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम था। किसी भी देश में समाचार पत्र लोकमत तैयार करने का प्रबल साधन होता है और समाचार पत्रों के माध्यम से ही सरकार जनमत का ज्ञान प्राप्त करती है। भारत में कम्पनी की सत्ता स्थापित होने के बाद कम्पनी सरकार ने भारतीय समाचार पत्रों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध

लगाना आरम्भ कर दिया था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने अवश्य समाचार पत्रों की स्वतंत्रता स्वीकार कर उन पर लगे प्रतिबन्धों को हटा दिया था। किन्तु लार्ड हेस्टिंग्ज के जाते ही समाचार पत्रों पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिये गये। 1823 में भारतीय समाचार पत्रों के लिये लाइसेन्स पद्धति प्रारम्भ की गई और यह नियम बना दिया कि बिना लाइसेन्स के समाचार पत्र निकालने पर 400 रुपये जुर्माना अथवा छः महीने के कारावास की सजा अथवा दोनों सजाएं एक साथ दी जा सकती है।

बैंटिक उदारवादी था तथा प्रेस की स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। उसने तो एक बार कहा था कि, "मेरी सम्मति में कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर प्रेस अपना विचार व्यक्त न कर सकें।" अतः 1835 में उसने प्रेस पर लगे सभी प्रतिबन्ध हटा दिये तथा प्रेस को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। बैंटिक का विचार था कि सरकार को प्रेस से डरना नहीं चाहिये बल्कि प्रेस के माध्यम से सरकार की आलोचनाओं को सहर्ष स्वीकार कर सरकारी तन्त्र को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। मेटकॉफ ने बैंटिक की इस नीति का जोरदार शब्दों में समर्थन किया और बैंटिक को समाचार पत्रों का मुक्तिदाता कहा। किन्तु कम्पनी के संचालकों को उसकी यह नीति पसन्द न आयी और उन्होंने मेटकॉफ की पदोन्नति रोक दी। अतः मेटकॉफ को त्यागपत्र देकर वापिस इंगलैण्ड जाना पड़ा। भारतीयों ने मेटकॉफ की स्मृति में कलकत्ता में 'मेटकॉफ सभा भवन' का निर्माण कराया। बैंटिक द्वारा दी गई प्रेस की स्वतन्त्रता 1857 तक चलती रही। बैंटिक की उदार नीति के कारण भारतीय समाचार पत्रों में वृद्धि हुई तथा अनेक पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ।

इस प्रकार बैंटिक के शासन काल में जो महत्वपूर्ण सुधार हुए उन्हीं के कारण बैंटिक के शासन काल को 'महान सुधारों का युग' कहा जा सकता है। वस्तुतः बैंटिक ने भारतीय समाज को कीचड़ से निकाल कर स्वस्थ वातावरण में पहुंचा दिया। मैकाले ने लिखा है कि, "बैंटिक इस बात को कभी नहीं भूला था कि सरकार का लक्ष्य शासितों की प्रसन्नता है। यह वही बैंटिक है जिसने कठोर प्रथाओं को दूर किया, जिसने लज्जाजनक भेदों को मिटाया, जिसने लोकमत की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की और जिसको सदैव यह ध्यान रहता था कि भारत के बौद्धिक व नैतिक चरित्र को ऊंचा उठाया जाय।" वास्तव में बैंटिक एक सुधारवादी व्यक्ति था, किन्तु उसके सुधारों में ब्रिटिश हितों का सदैव ध्यान रखा गया।

1833 का चार्टर एक्ट—बैंटिक के शासन काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 1833 का चार्टर एक्ट पारित होना थी। 1813 के चार्टर एक्ट ने कम्पनी के चार्टर एक्ट को अगले 20 वर्षों तक के लिये नवीनीकरण किया था और अब वह अवधि समाप्त हो रही थी। अतः ब्रिटिश संसद ने 1833 का चार्टर एक्ट पारित कर दिया। इस चार्टर द्वारा भारत के शासन में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये—

(1) कम्पनी की अवधि अगले 20 वर्षों तक के लिये बढ़ा दी गई। किन्तु कम्पनी के पास अब कोई व्यापारिक कार्य नहीं रहेंगे बल्कि केवल राजनीतिक कार्य रहेंगे। भारत के ब्रिटिश क्षेत्र कम्पनी के पास ब्रिटिश ताज, उसके उत्तराधिकारी एवं वंशजों की अमानत के रूप रहेंगे और कम्पनी इन क्षेत्रों की मात्र ट्रस्टी रहेगी। इसके बदले में कम्पनी को अगले 40 वर्षों तक भारतीय राजस्व में से $10\frac{1}{2}$ प्रतिशत लाभांश देना निश्चित किया गया।

(2) इस एक्ट से पहले इंगलैण्ड से भारत आने वालों के लिए अनेक रुकावटें थी, किन्तु इस एक्ट के द्वारा वे रुकावटें समाप्त कर दी गई।

(3) बंगाल के गवर्नर जनरल को अब भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया, क्योंकि अब पंजाब को छोड़कर लगभग शेष भारत अंग्रेजों के अधीन हो चुका था।

(4) कानून बनाने की समस्त शक्ति गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल को दे दी गई और इन कानूनों को देश के सभी न्यायालयों द्वारा लागू करना अनिवार्य कर दिया। किन्तु वह चार्टर एक्ट के उपबन्धों में परिवर्तन नहीं कर सकता था, ब्रिटिश ताज के आदेशों में परिवर्तन नहीं कर सकता था, ब्रिटिश संसद के कानूनों के विरुद्ध कानून नहीं बना सकता था और न संचालकों के आदेशों के विरुद्ध कोई कानून बना सकता था। गवर्नर जनरल की इस विधायी शक्तियों के परिपालन हेतु उसकी कार्यकारिणी में एक नये कानून सदस्य को सम्मिलित किया गया।

(5) प्रशासनिक मामलों में केन्द्रीयकरण लागू किया गया। गवर्नर जनरल को भारत के सभी प्रदेशों की सरकारों के सैनिक, असैनिक तथा राजस्व सम्बन्धी मामलों में आदेश, निगरानी और नियन्त्रण करने के अधिकार दिये गये।

(6) वित्तीय मामलों में भी केन्द्रीयकरण लागू किया गया। प्रेसीडेन्सी सरकारों को कर लगाने तथा खर्च करने की शक्ति से वंचित कर दिया गया। अब केन्द्रीय सरकार की आज्ञा के अनुसार ही प्रान्तीय सरकारें टेक्स लगा सकती थी, इकट्ठा कर सकती थी और खर्च कर सकती थी। यदि प्रान्तीय सरकारों का कोई सदस्य गवर्नर जनरल की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो उसे तुरन्त निलम्बित किया जा सकता था तथा पद से भी हटा सकता था। इस प्रकार प्रान्तीय सरकारों को केन्द्र के बिल्कुल अधीन कर दिया गया।

(7) भारत की ईसाई जनता के लाभ के लिये मद्रास, कलकत्ता व बम्बई में बिशपों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। भारत सरकार को दास प्रथा समाप्त करने तथा दासों के सुधार के लिये अच्छे नियम बनाने के लिये तुरन्त कार्यवाही करने को कहा गया।

(8) भारतीयों के विरुद्ध धर्म, वंश, जाति और रंग के आधार पर भेदभाव समाप्त कर दिये गये।

इस एक्ट ने कम्पनी के स्वरूप में पूर्णतः परिवर्तन कर दिया और अब कम्पनी का स्वरूप व्यापारिक न रहकर, राजनीतिक एवं प्रशासनिक रह गया। इस एक्ट में केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त भी कम महत्वपूर्ण नहीं था, जिसके फलस्वरूप स्थानीय समस्याएँ, राष्ट्रीय समस्याओं में परिवर्तित हो गयी। इसी के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रवाद का उत्थान हुआ तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इस एक्ट के वाद मेकाले को कानून सदस्य के रूप में कार्यकारिणी में नियुक्त किया गया, जिसने सारे भारत के लिए फौजदारी एवं दीवानी कानूनों की संहिता तैयार की। केन्द्रीय-करण के इस ठोस दृष्टिकोण ने राष्ट्रीय एकीकरण में महान योगदान दिया।

प्रशासन का आधुनिकीकरण (1836–1848)

लार्ड विलियम बैंटिक के काल के वाद 1836 में लार्ड ऑकलैंड (1836–1842) को भारत का गवर्नर जनरल वनाकर भेजा गया। आकलैंड ने भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ की। अब तक की न्याय प्रणाली के अनुसार कोई यूरोपियन देश के किसी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील, सदर अदालत की वजाय सीधी सर्वोच्च न्यायालय में कर सकता था। किन्तु आकलैंड के समय इस विषय पर विचार किया गया कि यदि सदर अदालत लाखों भारतीयों को न्याय प्रदान कर सकती है तो फिर यूरोपियनों को उसके क्षेत्राधिकार से वाहर रखना उचित नहीं है। अतः कानून सदस्य मेकाले ने एक कानून पारित कर यूरोपियनों को भी सदर अदालत के क्षेत्राधिकार में दे दिया गया। यद्यपि भारत में अंग्रेज जाति ने इसका तीव्र विरोध किया, इसे 'काले कानून' की संज्ञा दी और यह मामला ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमन में ले जाया गया, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

आकलैंड ने भारतीय शिक्षार्थियों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी स्कूलों में अनेक छात्रवृत्तियां प्रतिस्थापित की। उसने वर्नाक्यूलर भाषाओं को शिक्षा देने का माध्यम वनाया तथा वम्बई व मद्रास में मेडीकल कॉलेज स्थापित किये। 1837–38 में दिल्ली से इलाहावाद के बीच दोआव में भीषण अकाल पड़ा तव उसने अपने स्वयं के पैसों से सहायता कार्य आरम्भ करवाया तथा भविष्य में पड़ने वाले अकालों से सुरक्षा पाने हेतु योजनाओं का निर्माण करवाया, किन्तु प्रथम अफगान युद्ध के कारण सारा कार्यक्रम ही रद्द करना पड़ा। भारत में कुछ मन्दिरों का प्रवन्ध, जो अंग्रेज अधिकारियों के पास था, पुनः भारतीयों को सौंप दिया गया। आकलैण्ड ने तीर्थ यात्रा कर भी समाप्त कर दिया।

भारत के अनेक भागों में मानव वलिदान की प्रथा प्रचलित थी। प्राकृतिक प्रकोपों से सुरक्षा पाने के लिए तथा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए यह मानव वलि-दान किया जाता था। 1830 में वस्तर के राजा ने अपने भगवान को प्रसन्न करने के लिए 25 व्यक्तियों का वलिदान किया था। पूना में प्रतिवर्ष एक व्यक्ति का वलिदान करने की प्रथा थी। सतारा का राजा जब भी प्रतापगढ़ की यात्रा करता

था, वहां एक वृद्ध महिला का बलिदान किया जाता था। यद्यपि यह भयावह अपराध 1830 में ही कम्पनी के ध्यान में आ गया था किन्तु 1836 के पूर्व कोई कदम नहीं उठाया गया। आकलैण्ड ने कप्तान केम्पबेल को उड़ीसा भेजा, जिसने वहां के लोगों को समझा बुझाकर और डरा धमका कर इस प्रथा को त्यागने हेतु राजी कर लिया।

लार्ड आकलैंड की अफगान नीति असफल होने के कारण उसे वापिस बुला लिया तथा 1842 में लार्ड एलनबरो (1842-44) को गवर्नर जनरल नियुक्त कर भारत भेजा। किन्तु एलनबरो ने सिन्ध के प्रति जो आक्रामक नीति अपनायी, उससे रुष्ट होकर संचालकों ने उसे भी वापिस बुला लिया तथा 1844 में विस्काउण्ट हार्डिग (1844-48) को गवर्नर जनरल नियुक्त किया। हार्डिग ने सर्वप्रथम देशी राज्यों व ब्रिटिश क्षेत्रों के बीच माल ले जाने व लाने पर जो पारवाहन शुल्क (Transit duties) लगता था उसे समाप्त कर दिया। आसाम में चाय उत्पादकों को प्रोत्साहित किया गया। बैंटिक द्वारा सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया गया था, जिससे केवल ब्रिटिश क्षेत्रों में यह प्रथा समाप्त हुई थी, किन्तु हार्डिग के प्रयत्नों से अधिकांश देशी राज्यों में भी सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया। उसने प्राचीन ऐतिहासिक स्मारकों की सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया तथा आगरे के किले व ताजमहल की मरम्मत करवायी। कम्पनी की सेना में महत्वपूर्ण सुधार करके उसे आधुनिकतम बनाया गया। उसने यह भी आदेश दिया कि भविष्य में उन्हीं व्यक्तियों को सरकारी सेवा में लिया जायेगा, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की हो। हार्डिग ने स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहन दिया, अनेक चुंगी कर समाप्त कर दिये तथा नमक कर में कमी कर दी। प्रथम सिक्ख युद्ध के बाद उसने अपने सैनिकों को 12 महिनों का भत्ता दिया तथा घायल सैनिकों की पेंशन 4 रुपये प्रतिमाह से बढ़ाकर 7 रुपये कर दी। घायल सैनिकों के लिए अस्पतालों में मुफ्त भोजन की व्यवस्था की गई।

लार्ड डलहौजी और भारत का आधुनिकीकरण (1848-1856)

लार्ड हार्डिग ने स्वेच्छा से अपना पद त्याग कर वापिस इंगलैंड चला गया और 1848 में लार्ड डलहौजी को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। 1848 से 1856 के बीच का काल आधुनिक भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण काल माना जाता है। क्योंकि इस समय लार्ड डलहौजी ने शासन किया जो बहुत ही सक्रिय प्रशासक था। भारत में डलहौजी की उपलब्धियां दो प्रकार की थीं—प्रथम तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को चरम बिन्दु तक पहुँचाना और दूसरी, उसके प्रशासनिक सुधार। इतिहासकारों ने उसकी साम्राज्य विस्तार की नीति पर इतना अधिक बल दिया है कि उसके प्रशासनिक कार्यों की समुचित समीक्षा ही नहीं हो पायी है।

यद्यपि डलहौजी घोर साम्राज्यवादी था, फिर भी उसने भारत में विभिन्न सुधारों की ओर ध्यान दिया। 19 वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में यूरोप में

वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति हुई थी। रेलवे की स्थापना हुई तथा तार सेवा आरम्भ हुई। ब्रिटेन में रेलों की व्यापारिक सफलता से प्रभावित होकर अनेक ब्रिटिश कम्पनियाँ भारत में भी रेल लाइनें बनाने पर विचार करने लगी। उस समय कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी संतोषजनक थी, इसलिये डलहौजी के लिए विभिन्न योजनाओं में धन लगाना आसान हो गया था। उस समय तक लोगों के मन में यह प्रश्न भी उत्पन्न हो चुका था कि कम्पनी के शासन से साधारण जनता को क्या लाभ हुआ है। अतः डलहौजी भारत में जनोपयोगी कार्य सम्पादित करना चाहता था। डलहौजी ने जिस दृढ़ निश्चय से साम्राज्य का विस्तार किया, उसी दृढ़ निश्चय से प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण जनोपयोगी सुधार किये। इसीलिए डलहौजी को 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा जाता है।

प्रशासनिक सुधार

लार्ड डलहौजी ने प्रशासन के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण सुधार यह किया कि उसने जिन राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया था, वहां तात्कालिक कानून व नियम लागू करने की बजाय वे राज्य प्रशासन की 'अविनियम प्रणाली' (Non-regulation System) के अन्तर्गत रखे। इस प्रणाली के अनुसार उस क्षेत्र के स्थानीय कानूनों एवं रीति रिवाजों को मान्यता दी गई, जब तब कि वे ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के विरुद्ध न हो। इस प्रणाली का प्रधान लक्ष्य यह था कि शक्ति के सभी सूत्रों को गवर्नर जनरल के हाथ में रखना। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए डलहौजी ने ब्रिटिश भारत को अनेक जिलों में विभाजित किया। तदनुसार बंगाल व बिहार में 23 जिले, बम्बई में 13 जिले, मद्रास में 26 जिले और सिन्ध में 3 जिले बनाये गये। प्रत्येक क्षेत्र का प्रशासन एक कमिश्नर के अधीन रखा गया, जो सीधा गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी होता था। कमिश्नर का मुख्य कार्य लगान वसूल करना तथा शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना था। इस प्रणाली के अन्तर्गत फौजदारी न्याय का प्रशासन अपरिपक्व था। जिला अधिकारियों को ही शासकीय, पुलिस व न्यायिक अधिकार दे दिये गये। जन साधारण की सुविधा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। केवल पंजाब में इस प्रणाली के अच्छे परिणाम निकले, शेष स्थानों पर इसके परिणाम अत्यन्त ही कष्टदायी सिद्ध हुए।

1853 के चार्टर एक्ट द्वारा बंगाल के लिये भी एक लेफ्टिनेंट गवर्नर की व्यवस्था की गई। इसके पहले गवर्नर जनरल ही बंगाल का गवर्नर होता था। अब गवर्नर जनरल को इस भार से मुक्ति मिल गयी। अब डलहौजी के अधीन पांच लेफ्टिनेंट गवर्नर थे—बंगाल, बम्बई, मद्रास, पंजाब व आन्ध्र में। डलहौजी ने मध्य भारत को भी सूबा बनाया तथा वहां रेजीडेन्ट की व्यवस्था की। ऐसी ही व्यवस्था राजपूताने में भी की गई।

सैनिक सुधार

डलहौजी के समय में अनेक राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने

से सेना तथा प्रशासन का दवाव उत्तर-पश्चिम की ओर वढ़ रहा था। पंजाव का अंग्रेजी राज्य में विलय हो जाने के वाद कम्पनी की सीमाएं अफगानिस्तान से मिल गई थी और रूस के नजदीक पहुँच गई थी। अतः सैनिक प्रशासन में अव परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया था। डलहौजी ने वंगाल के तोपखाने का केन्द्र कलकत्ता से हटाकर मेरठ कर दिया। धीरे धीरे सेना का स्थायी केन्द्र शिमला में वना दिया गया तथा सेना का प्रधान कार्यालय भी वहीं स्थापित कर दिया। अव शिमला भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी वन गई, जहां गवर्नर जनरल अपनी परिपद् सहित रहने लगा।

डलहौजी वड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि देशी राज्यों को हड़पने तथा शासकों की उपाधियां व पेंशन समाप्त कर देने से भारतीय सैनिकों में निश्चित रूप से असंतोप उत्पन्न होगा। अतः उसने भारतीय सैनिकों की कमी करने, उन्हें असंगठित करने तथा अलग-अलग स्थानों पर भेजने की नीति अपनाई ताकि वे ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संगठित न हो सके। डलहौजी ने गृह सरकार को अधिक अंग्रेज सैनिक भेजने का प्रस्ताव भेजा, किन्तु उस समय इंगलैंड व रूस के वीच युद्ध की संभावना थी, अतः डलहौजी के प्रस्ताव पर कार्यवाही नहीं हो सकी। डलहौजी ने पंजाव में एक अनियमित सेना का गठन किया तथा एक गोरखा रेजीमेन्ट स्थापित की। पंजाव की यह सेना तथा गोरखा रेजीमेन्ट 1857 के विप्लव के अवसर पर अंग्रेजों के लिये वड़ी सहायक सिद्ध हुई।

रेल तथा तार व्यवस्था

यद्यपि विश्व में प्रथम रेल मार्ग 1830 में खुल गया था, किन्तु डलहौजी के पूर्व किसी भी गवर्नर जनरल ने भारत में रेल निर्माण की योजनाओं में विशेप रुचि नहीं दिखाई थी। लार्ड डलहौजी ने राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर भारत में रेल व तार व्यवस्था का श्रीगणेश किया। उसने भारत में रेल निर्माण का कार्य ब्रिटिश कम्पनियों को सौंप दिया। तदनुसार रेल निर्माण का पहला ठेका 1849 में दिया गया। भारत में सवसे पहली रेल लाइन लार्ड डलहौजी के राज्य काल में 1853 में वम्बई व थाना के वीच वनाई गई। 1854 में कलकत्ता से रानीगंज तक दूसरी रेल लाइन का निर्माण हुआ तथा मद्रास में भी रेल लाइन वनाने का काम शुरू हुआ। 1856 तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में रेलों का प्रचार हो गया। डलहौजी ने अपने प्रसिद्ध रेलवे मिनट्स में रेल लाइन वनाने की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की, जो भविष्य में भारतीय रेलों के विस्तार का आधार वनी। भारत में रेल निर्माण का कार्य करने के लिए अनेक ब्रिटिश कम्पनियां स्थापित हुई। इससे रेल निर्माण के लिए राजकोप पर नाम मात्र का भी वोझ नहीं पड़ा और ब्रिटिश पूंजीपतियों को लाभ कमाने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। ये ब्रिटिश कम्पनियां सरकार के निरीक्षण में कार्य करती थी तथा भारत सरकार ब्रिटिश

पूंजीपतियों को उनकी पूंजी पर ब्याज तथा पांच प्रतिशत लाभ की गारण्टी देती थी।

डलहौजी ने भारत में तार व्यवस्था स्थापित करके संचार साधन में क्रांति उत्पन्न कर दी। डलहौजी ने ग्रोशंगनेसी को विद्युत का सुपरिन्टेन्डेंट नियुक्त किया तथा उसके प्रयत्नों से डलहौजी के शासन काल में ही चार हजार मील लम्बी तार सेवा आरम्भ हो गयी। फलस्वरूप बम्बई को मद्रास व कलकत्ता को पेशावर के साथ जोड़ दिया गया। धीरे धीरे देश के प्रमुख शहर तार सेवा द्वारा एक दूसरे से जुड़ गये।

रेल तथा तार व्यवस्था स्थापित होने के बाद अब सरकार एक केन्द्र से सम्पूर्ण देश पर शासन कर सकती थी। आवश्यकता पड़ने पर अविलम्ब सेनाएं एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकती थी तथा प्रत्येक क्षेत्र में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना तार सेवा द्वारा कलकत्ता पहुंचायी जा सकती थी। 1857 के विप्लव के समय डलहौजी द्वारा स्थापित रेल तथा तार व्यवस्था अंग्रेजों के लिये वरदान सिद्ध हुई।

डाक व्यवस्था में सुधार

डलहौजी के आने के पूर्व भारत में डाक सेवा की जो प्रणाली प्रचलित थी वह अत्यन्त ही भ्रष्ट, विलम्बकारी तथा खर्चीली थी। सभी स्थानों पर डाक दर समान नहीं थी। पत्र प्राप्त करने वाले से रोकड़ पैसा वसूल किया जाता था, जो हमेशा अधिक होता था। पत्र भेजने वाले से कुछ नहीं लिया जाता था। डलहौजी ने अपने पद का कार्यभार संभालते ही डाक व्यवस्था में सुधार करने का निश्चय किया और इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिये एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1850 में एक डाक विभाग की स्थापना की गई जिसका मुख्य अधिकारी डायरेक्टर जनरल होता था तथा उसकी सहायता के लिये प्रत्येक प्रान्त में एक-एक पोस्टमास्टर जनरल नियुक्त किये गये। पूरे देश में 753 डाकघर खोले गये तथा भविष्य में भी इनकी स्थापना का क्रम जारी रहा। डाक सेवा के लिये समस्त भारत में 1/2 तोले तक का पत्र दो पैसे में भेजा जा सकता था और विदेशों में पत्र भेजने के लिये डाक दर चार आने निर्धारित की गई। इस प्रकार भारत में पहली बार दो पैसे व चार आने के डाक टिकट जारी किये गये, जिससे अब नकद भुगतान की आवश्यकता नहीं रही। डलहौजी की इस डाक व्यवस्था से सरकार को भी आय होने लगी तथा जनता भी लाभान्वित हुई।

सार्वजनिक निर्माण विभाग का संगठन

डलहौजी के आगमन से पूर्व सार्वजनिक निर्माण कार्य एक सैनिक बोर्ड के अधीन था। किन्तु इस बोर्ड के पास सैनिक कार्यों की अधिकता के कारण वह सार्वजनिक कार्यों को ठीक ढंग से नहीं कर पा रहा था। डलहौजी अलग अलग

कार्यों के लिये अलग अलग जिम्मेदारी सौंपने के पक्ष में था। अतः उसने एक अलग से सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना की। यह विभाग प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में स्थापित किया गया, जिसका मुख्य अधिकारी चीफ इन्जीनियर होता था तथा उसके अधीन शासकीय अधिकारी होते थे। ये सभी अधिकारी अंग्रेज थे और इन सेवाओं के लिये भारतीयों को प्रशिक्षण देने के लिये रुड़की व अन्य प्रेसीडेन्सियों में इन्जिनियरिंग कॉलेज स्थापित किये। सार्वजनिक निर्माण विभाग ने पुलों, सड़कों, नहरें आदि बनाने का काम हाथ में लिया। प्रसिद्ध ग्रान्ड ट्रंक रोड़ के विस्तार का कार्य डलहौजी के शासन काल में आरम्भ हुआ। प्रसिद्ध गंग नहर के निर्माण की योजना को कार्यरूप दिया गया। इसके अतिरिक्त कृष्णा डेल्टा योजना, पोलार योजना और पंजाब की नहर योजनाएं इसी समय पूरी की गई। नहरों के निर्माण से किसानों को अत्यधिक लाभ हुआ।

व्यापारिक सुधार

डलहौजी खुले व्यापार की नीति का समर्थक था। अतः उसने भारत के सभी बन्दरगाह सबके लिए खोल दिये। कराची, बम्बई एवं कलकत्ता के बन्दरगाहों में सुधार किया गया। अंग्रेज व्यापारियों की सुविधा के लिए अदन व माल्टा में भी बन्दरगाह बनवाये। रेल, नहर एवं सड़कों के निर्माण से भी व्यापार में उन्नति हुई। ब्रिटिश माल के लिए भारतीय बाजार खोल दिये गये। भारत से कच्चे माल का निर्यात बढ़ गया। 1848 में भारत से 15 लाख पौंड का कच्चा माल निर्यात होता था वह 1856 में 35 लाख पौंड का होने लग गया। इसी प्रकार ब्रिटेन से तैयार माल के आयात में भी वृद्धि हुई। 1848 में ब्रिटेन से लगभग सवा करोड़ पौंड का माल आयात होता था, जो 1856 में लगभग ढाई करोड़ पौंड का आयात होने लगा। इसके फलस्वरूप भारतीय व्यापार नष्ट हो गये, क्योंकि ब्रिटेन से तैयार माल भारतीय बाजारों में सस्ता बिकता था और भारत में उत्पादित माल मंहगा होने से पड़ा रह जाता था। इस प्रकार डलहौजी ने बड़ी चालाकी से भारत का आर्थिक शोषण तीव्र कर दिया। डलहौजी के व्यापारिक सुधार ऐसे दरवाजे थे जिनसे आर्थिक गुलामी की बेड़ियों ने प्रवेश किया और भारत को जकड़ लिया।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार

लार्ड विलियम बैंटिक के काल में शिक्षा के क्षेत्र में महान परिवर्तन आया था। बैंटिक के काल से भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। लार्ड ऑकलैंड के समय यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा काफी लोकप्रिय हो गयी थी तथा भारतीय शिक्षा प्रायः लुप्त हो रही थी, फिर भी बंगाल एशियाटिक सोसायटी को कम्पनी की ओर से 500 रुपये प्रतिमाह का अनुदान स्वीकृत हुआ। प्रान्तों के ब्रिटिश अधिकारियों ने भी पाश्चात्य शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आगरा में थाम्पसन ने एक विचित्र प्रयोग किया जिसे 'हलका बन्दी' कहते हैं। इसके अन्तर्गत

उसने भूराजस्व पर एक प्रतिशत [illegible] पर प्रत्येक गांव में एक प्राथमिक स्कूल, प्रत्येक [illegible] प्रत्येक जिले में एक हाई स्कूल खोला। इसके [illegible] भी अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गये, जिनसे भारत में [illegible] विकास हुआ।

बैंटिक के काल में शिक्षा की ठोस नींव रखी गई, जिस पर 1854 में [illegible] शिक्षा का भव्य प्रासाद खड़ा किया गया। डलहौजी के काल में शिक्षा के [illegible] में एक युगान्तकारी परिवर्तन आया। ब्रिटिश संसद ने भारत में शिक्षा की [illegible] के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर बोर्ड [illegible] कंट्रोल के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक शिक्षा योजना तैयार की तथा 1854 में भारत सरकार को प्रेषित की जो इतिहास में '1854 का वुड डिस्पेच' कहलाता है। वस्तुतः इस शिक्षा योजना ने भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली का शिलान्यास किया। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थी—

(1) भारतीयों के शैक्षणिक हितों का ध्यान रखने का दायित्व अब ब्रिटिश सरकार का होगा।

(2) शिक्षा नीति और शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य भारतीयों को यूरोपीय कला, विज्ञान और दर्शन से परिचित करवाना होगा ताकि ऐसी शिक्षा से विश्वासपात्र व्यक्ति उपलब्ध हों सके, जो कम्पनी के अधीन विभिन्न पदों पर कार्य कर सकें।

(3) सभी स्तरों पर शिक्षा देने का माध्यम अंग्रेजी ही न रखा जाय। ऐसा तभी किया जाय जबकि इसका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करलें। भारतीय भाषाओं के अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया जाय।

(4) निजी शैक्षणिक संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के लिये अनुदान प्रणाली आरम्भ की जाय।

(5) प्रारम्भिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

(6) योग्य छात्रों की सहायता हेतु छात्रवृत्ति प्रदान करने की विस्तृत योजना तैयार की जाय।

(7) छात्रों को कानून, आयुर्विज्ञान, कृषि तथा शिक्षण पद्धति की शिक्षा देने के लिये व्यवसायिक संस्थाएं (Professional Institution) स्थापित की जांय।

(8) स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये स्त्रियों को विशेष सुविधाएं दी जांय।

(9) वर्तमान सरकारी शिक्षण संस्थाओं को न केवल चालू रखा जाय, बल्कि उनमें वृद्धि भी की जाय तथा मिडिल स्कूलों की स्थापना पर विशेष ध्यान दिया जाय।

(10) प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा निदेशक के अधीन एक शिक्षा विभाग की स्थापना की जाय। निदेशक की सहायता के लिये निरीक्षण अधिकारी नियुक्त किये जाय, जो अपने अपने क्षेत्र में शैक्षणिक कार्य की समय समय पर रिपोर्ट भेजते रहें।

(11) शैक्षणिक उपाधियों (Academic degrees) द्वारा उच्च शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये भारत में विश्वविद्यालय खोले जांय, जो कॉलेजों को मान्यता प्रदान करने वाली तथा परीक्षा लेने वाली संस्थाओं के रूप में हों। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक कुलपति और एक उप-कुलपति हो तथा उसका संगठन लन्दन विश्वविद्यालय के आधार पर किया जाय। प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक सीनेट हो जिसका कार्य परीक्षाओं की व्यवस्था के लिये नियम बनाना और प्राच्य भाषा, कानून, सिविल इन्जिनियरिंग आदि विभागों के अध्यक्षों पर नियन्त्रण रखना हो। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में सबसे पहले विश्वविद्यालय खोलने को कहा गया।

(12) विश्वविद्यालयों के अधीन तथा विश्वविद्यालयों द्वारा नियन्त्रित कॉलेज (Affiliated) खोले जांय तथा सरकार द्वारा नियुक्त निरीक्षकों द्वारा समय समय पर उनका निरीक्षण किया जाय। ये कॉलेज इण्टरमीजियेट से डिग्री स्तर तक की शिक्षा प्रदान करें।

(13) कॉलेजों से नीचे हाई स्कूल, मिडिल स्कूल तथा एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों की स्थापना तथा उनका विस्तार किया जाय। इन संस्थाओं में नीची कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं हो।

मार्शमेन ने वुड्स डिस्पेच को भारतीय शिक्षा का मेग्नाकार्टा कहा है। इसके द्वारा भारत सरकार का अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं के सुधार तथा उनके शिक्षण की ओर ध्यान दिलाया गया। इस योजना द्वारा ब्रिटिश सरकार ने पहली बार भारतीय लोगों में शिक्षा के प्रसार का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इस योजना ने समस्त शैक्षणिक तंत्र की निश्चित रूपरेखा तैयार कर दी। अनुदान प्रणाली एक महान् कदम था जिसने निजी संस्थाओं को इस क्षेत्र में कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किया। स्वदेशी स्कूलों के प्रोत्साहन का प्रावधान अत्यन्त ही प्रशंसनीय था। इस योजना द्वारा पहली बार स्त्री शिक्षा तथा व्यवसायिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया।

डलहौजी ने वुड की शिक्षा योजना को बड़े कारगर ढंग से लागू किया। उसने मद्रास, कलकत्ता व बम्बई में विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना बनायी और उसी योजना के अनुसार 1857 में ये विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। कानून एवं इन्जिनियरिंग की शिक्षा की व्यवस्था की गई। उसने स्त्री शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया। कलकत्ता में एक महिला विद्यालय खोलकर स्त्री शिक्षा के आन्दोलन को शक्तिशाली बना दिया। वस्तुतः वुड्स डिस्पेच की सफलता का श्रेय डलहौजी को ही है।

1853 का चार्टर एक्ट—1833 के चार्टर की अवधि पूरी हो जाने पर ब्रिटिश संसद ने पुनः एक नया चार्टर पारित किया। इस चार्टर एक्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) गवर्नर जनरल की परिषद के कानून सदस्य को साधारण सदस्य बना दिया गया। कानून बनाने के कार्य के लिये इसमें छः सदस्य और जोड़ दिये गये। बंगाल का मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय का एक और जज तथा बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त की सरकारों के प्रतिनिधि सदस्य बने। इस प्रकार कानून बनाने के लिये कुल 12 सदस्य हो गये।

(2) कानून सम्बन्धी प्रस्तावों के लिये गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। कौंसिल में कानून बनाने की प्रक्रिया ब्रिटिश संसद की भांति रखी गई। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी कौंसिल के किसी विधेयक को रद्द कर सकती थी।

(3) बंगाल के लिये अलग गवर्नर नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। किन्तु 1912 तक बंगाल के लिये अलग गवर्नर नियुक्त नहीं किया गया।

(4) पहले के चार्टरों में संसद ने कम्पनी को 20 वर्ष तक के लिये भारत पर शासन करने की आज्ञा दी थी, किन्तु इस चार्टर में कहा गया कि जब तक संसद कम्पनी को और कोई आदेश न दे, तब तक इसको शासन करने का अधिकार होगा।

भारत में संसदीय पद्धति का प्रारम्भ इसी एक्ट द्वारा हुआ था, जबकि इस एक्ट के निर्माता इस बात के विरुद्ध थे। इस एक्ट में संचालकों की शक्ति कम करदी गई, क्योंकि अब उनकी संख्या 24 से घटाकर 18 करदी और इनमें से 6 संचालकों की नामजदगी ब्रिटिश ताज द्वारा होती थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 1772 से 1856 के मध्य कम्पनी, ज्यौं-ज्यौं अपने साम्राज्य का विस्तार करती रही, उन क्षेत्रों के प्रशासन का पुनर्गठन भी करती रही। प्रशासनिक पुनर्गठन और प्रशासनिक सुधारों की यह शृंखला लार्ड डलहौजी तक चलती रही। इस समस्त प्रक्रिया में ब्रिटिश हित सर्वोपरि होता था तथा कम्पनी शासन को दृढ़ता प्रदान करना प्रमुख लक्ष्य होता था। अतः स्वाभाविक था कि ब्रिटिश हितों की पूर्ति हेतु भारतीयों का शोषण दिन प्रति दिन तीव्र होता गया तथा कम्पनी शासन को दृढ़ता प्राप्त होने से भारतीयों की दासता की बेड़ियां भी दृढ़ होती गईं। फलस्वरूप भारतीयों में अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध असंतोष फैलने लगा, जिसकी अभिव्यक्ति 1857 के विप्लव में दिखाई दी।

अध्याय 10

1857 की सशस्त्र क्रान्ति

1857 में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह, आधुनिक भारत के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना छल, कपट, नीचता एवं शोषण से हुई थी। एक सभ्य-समृद्ध देश को सात समुद्र पार से आये मुट्ठी भर बनियों ने पराजित कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। 1857 तक भारत में विशाल अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित हो गया था। ऊपरी तौर पर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भारतीयों ने अंग्रेजी शासन को धैर्य से स्वीकार कर लिया हो, किन्तु प्रशान्त वातावरण के नीचे एक भयानक ज्वालामुखी धधक रहा था, जो डलहौजी के जाने के एक वर्ष के भीतर ही फूट पड़ा। वस्तुतः अंग्रेजों की नीतियों एवं कार्यों से भारतीयों में असन्तोष और अविश्वास उत्पन्न हो गया था। अतः भारतीय जनता अंग्रेजी शासन से न तो सन्तुष्ट थी और न अंग्रेजी राज्य को स्वीकार किया था। क्योंकि उसने अपने ही घर में अपना अपमान और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण होते देख लिया था।

अंग्रेजों के लिये विशाल साम्राज्य प्राप्त करना तो आसान था किन्तु उस साम्राज्य का उचित संगठन करना कठिन था। अतः समय समय पर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुए। 10 जुलाई 1806 को वेलोर में स्थित कम्पनी की सेना के देशी सैनिकों ने विद्रोह किया। 30 अक्टूबर 1824 को कलकत्ता के निकट बैरकपुर की छावनी में विद्रोह हुआ। 1831-33 में कील में विद्रोह हुआ, 1848 में कांगड़ा-जसवार और दातापुर के राजाओं ने विद्रोह किया और 1855-56 में संथाल में विद्रोह हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर इन सारे विद्रोहों का दमन कर दिया, किन्तु इन विद्रोहों ने 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। 1857 का विद्रोह अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सबसे व्यापक एवं भयंकर विद्रोह था।

1857 के विद्रोह के कारणों पर विचार करने से पूर्व इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि अधिकांश अंग्रेज लेखकों ने मात्र सैनिकों के असंतोष

को विप्लव का कारण बताया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय सैनिकों में तीव्र असंतोष था और जोश में आकर उन्होंने अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के विरुद्ध हथियार उठाये थे। किन्तु उनका यह कथन भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। इस विप्लव का कारण केवल सैनिकों का असंतोष ही नहीं था, वल्कि इसके राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक कारण भी थे। अंग्रेजों की नीतियों के फलस्वरूप भारत में प्रचलित संस्थाएं एवं परम्पराएं समाप्त हो रही थी तथा ब्रिटिश प्रशासन और जनसाधारण के बीच सहानुभूति भी प्रायः समाप्त हो रही थी। अतः यह कहना कि विप्लव के कोई दूरगामी कारण नहीं थे, गलत होगा। विविध स्रोतों से जन असन्तोष प्रबल होता जा रहा था और अन्त में वे विविध स्रोत एक ही धारा में प्रवाहित हो चले। 1857 का विप्लव उनका सामुहिक परिणाम था। इस विप्लव के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(1) राजनीतिक कारण

विप्लव के अधिकांश राजनीतिक कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति से उत्पन्न हुए थे। डलहौजी के गोद निषेध सिद्धान्त से भारतीय जनता निराश और उत्तेजित हो उठी थी। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत विभिन्न भारतीय नरेशों व राजवंशों को समाप्त कर दिया गया। कुछ राज्यों पर कुशासन का आरोप लगाकर उनका अपहरण कर लिया गया। अवध अंग्रेजों का सर्वाधिक घनिष्ठ मित्र राज्य था, किन्तु 13 फरवरी 1856 को उसका भी अपहरण कर लिया गया। इससे भारतीय नरेश तो नाराज हुए ही, लेकिन अंग्रेजों के अनन्य भक्त भी अपने अस्तित्व के प्रति संदेह प्रकट करने लगे। नरेशों व राजवंशों की समाप्ति का प्रभाव उन पर आश्रित सामन्तों, सैनिकों, शिल्पियों तथा अन्य वर्गो पर भी पड़ा। कर्नाटक व तंजोर के शासकों की उपाधियां व पेंशन बंद करके अंग्रेजों ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करदी कि यदि भारतीय अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह न करते तो उन्हें मनुष्यत्व से गिरा हुआ कहा जाता। झांसी के अपहरण से यह स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के समक्ष शासकों के हित सुरक्षित नहीं रह सकते।

मुगल सम्राट के साथ किये गये दुर्व्यवहार से भी जनता क्रुद्ध हो उठी। मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय दयालु व भावुक व्यक्ति था। देशी शासकों व भारतीय जनता के मन में अब भी मुगल सम्राट के प्रति श्रद्धा थी। अंग्रेजों ने उसकी प्रतिष्ठा पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। मुगल सम्राट को नजर देना व सम्मान प्रदर्शित करना बन्द कर दिया तथा सिक्कों से बादशाह का नाम हटा दिया। इस पर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने मुगल सम्राट के उत्तराधिकार के प्रश्न को खड़ा करके सम्राट और साम्राज्ञी की इच्छा के विरुद्ध, उसके आठ जीवित पुत्रों में सबसे निकम्मे पुत्र मिर्जा कोयास को युवराज घोषित कर दिया। मिर्जा कोयास को अपमानजनक सन्धि के लिये बाध्य किया, जिसके अनुसार वह

दिल्ली का लाल किला खाली कर देगा, स्वयं को बादशाह नहीं कहेगा तथा एक लाख रुपये के स्थान पर 15 हजार रुपये मासिक पेंशन स्वीकार करेगा। मुगल सम्राट के साथ किये गये इस व्यवहार से देश में असंतोष और विद्वेष का वातावरण उत्पन्न हो गया। इसी का परिणाम था कि विप्लवकारियों ने मुगल सम्राट को अपना नेता मान लिया और मुगल दरबार क्रान्ति का केन्द्र बन गया।

भारतीयों की दृष्टि में अंग्रेज सैनिक दृष्टि से अजेय समझे जाते थे। किन्तु प्रथम अफगान युद्ध में अंग्रेजों की शक्ति पर घातक प्रहार हुआ। इस घटना से भारतीयों के मन में यह बात जम गई कि यदि अफगान अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अंग्रेजों से टक्कर ले सकते हैं तो भारतीय क्यों नहीं ले सकते। इससे भारतीयों में आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया। इसी समय यह अफवाह फैली कि रूस क्रीमिया युद्ध का बदला लेने के लिये भारत पर आक्रमण कर रहा है। इससे भारतीय और अधिक प्रोत्साहित हुए, क्योंकि उनका विचार था कि जब अंग्रेज, रूस के साथ युद्ध में उलझे हुए होंगे तब उनके विरुद्ध विद्रोह करने पर सफलता मिल सकती है। इन परिस्थितियों में भारतीय उत्साहित तो हो ही रहे थे कि किसी ज्योतिष ने भविष्यवाणी की कि भारत में अंग्रेजों का राज्य सौ वर्ष बाद समाप्त हो जायेगा। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई थी और अब 1857 में सौ वर्ष पूरे हो चुके थे। इससे क्रान्ति का उचित वातावरण तैयार हो गया।

(2) प्रशासनिक कारण

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अंग्रेजों की नीतियों के कारण भारत की प्राचीन प्रचलित संस्थाएं समाप्त हो गई तथा प्रशासन जन साधारण से अलग हट गया। अंग्रेजों ने आरम्भ से ही प्रशासन में भेदभावपूर्ण नीति अपनायी। लार्ड कार्नवालिस ने सदैव भारतीयों को अविश्वास की दृष्टि से देखा और उसने भारतीयों को उच्च पदों से वंचित कर दिया। यद्यपि 1833 के चार्टर एक्ट में जाति एवं रंगभेद नीति समाप्त कर कम्पनी की सेवा में भारतीयों को लेने की घोषणा की गई थी, किन्तु इस एक्ट की यह धारा कभी कार्यान्वित ही नहीं की गई। न्यायिक क्षेत्र में भी अंग्रेज भारतीयों से श्रेष्ठ समझे जाते थे तथा भारतीय जजों की अदालतों में उनके विरुद्ध कोई मुकदमा दायर नहीं हो सकता था। कार्नवलिस द्वारा किये गये न्यायिक परिवर्तनों के पीछे मूल भावना यह थी कि भारतीयों के स्थान पर अंग्रेज न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाय। अंग्रेजों ने जो विधि प्रणाली लागू की वह भारतीयों के लिये बिल्कुल नई थी, जिसे वे ठीक से समझ नहीं पाते थे। इस न्याय प्रणाली में अत्यधिक धन व समय नष्ट होता था और फिर भी अनिश्चितता बनी रहती थी। भूराजस्व प्रणाली को नियमित करने के नाम पर जमींदारों के पट्टों की छानबीन करवाई गई तथा अनेक लोगों की

जमीनें छीन ली। बम्बई के इमाम कमीशन ने लगभग 20 हजार जागीर भूमि का अपहरण किया। बैंटिक ने तो माफी की भूमि तक छीन ली। इस प्रकार कुलीन वर्ग को अपनी सम्पत्ति व आमदनी से हाथ धोना पड़ा। इससे कुलीन वर्ग क्रुद्ध हो गया। किसानों की दशा सुधारने के नाम पर स्थायी बन्दोबस्त, रैय्यतवाड़ी व महलवाड़ी प्रणाली लागू की गई और प्रत्येक बार किसानों से पहले की अपेक्षा दुगुना या इससे भी अधिक लगान लिया गया।

भारत में कम्पनी की सर्वोच्चता स्थापित होने के साथ ही प्रशासन में एक शक्तिशाली ब्रिटिश अधिकारी वर्ग का विकास हुआ। यह अधिकारी वर्ग अपने आपको भारतीय कर्मचारियों से पूरी तरह अलग रखता था और हर प्रकार से उन्हें अपमानित करता था। भारतीय कर्मचारियों के साथ उनका व्यवहार कुत्तों से भी बदतर था। इतना ही नहीं, वे अंग्रेजों को भारतीयों से मिलने जुलने तक नहीं देते थे। अंग्रेजों की इस प्रजाति भेदभाव की नीति से भारतीय क्रोधित हो उठे और उनका यह क्रोध 1857 के विप्लव के रूप में व्यक्त हुआ।

(3) सामाजिक कारण

अंग्रेजों द्वारा भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने के प्रयासों का भारतीय सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य शिक्षा से तो सामाजिक जीवन ही अस्त-व्यस्त हो गया। पाश्चात्य शिक्षा से तो भारतीयों के जीवन में पाश्चात्य व्यक्तिवाद (Western self-assertive attitude) का बीजारोपण हुआ, जिससे भारतीय सामाजिक जीवन की विशेषताएं ही समाप्त हो गयी। भारत में प्राचीन काल से लोगों में आभार प्रदर्शन, कर्त्तव्य तथा पारस्परिक सहयोग की भावना थी, किन्तु पाश्चात्य शिक्षा ने उसे नष्ट कर दिया। भारतीयों के खान-पान में, कपड़े आदि पहनने में तथा उनकी आदतों में पाश्चात्य ढंग आ गया, जिससे भारतीय सामाजिक जीवन के मूल तत्व ही नष्ट हो गये। कुलीन वर्ग की सम्पत्ति और जागीरें छीनकर उनकी सामाजिक मर्यादा पर प्रहार किया तथा समाज सुधार के नाम पर भारतीयों के सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर उन्हें क्रोधित कर दिया। सती प्रथा, बाल हत्या, नर बलि आदि को बन्द करने का प्रयत्न किया गया। डलहौजी ने विधवा विवाह को कानूनी आधार प्रदान कर दिया। यद्यपि देश में समाज को सुधारने की नितान्त आवश्यकता थी तथा जो सुधार किये गये वे भारतीयों के हित में थे, किन्तु रूढ़िवादी भारतीयों के लिये अपने परम्परागत सामाजिक नियमों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप असहनीय था। भारतीयों का विचार था कि अंग्रेज सामाजिक नियमों में हस्तक्षेप कर भारतीय सभ्यता को नष्ट करना चाहते हैं। रेल, तार आदि के वैज्ञानिक प्रयोगों को भी अशिक्षित जनता नहीं समझ सकी और उसने अपनी सभ्यता और धर्म पर प्रहार समझा।

सामाजिक दृष्टि से अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति व्यवहार नितान्त अपमानजनक था। भारतीय रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी में सफर नहीं कर सकते थे और अंग्रेजों के साथ किसी सामाजिक उत्सव में भाग नहीं ले सकते थे। अंग्रेजों द्वारा संचालित होटलों व क्लबों की तख्तियों पर लिखा होता था, "कुत्तों और भारतीयों के लिये प्रवेश वर्जित।" अंग्रेजों की मनोवृति का अनुमान आगरा के मजिस्ट्रेट के इस आदेश से लगाया जा सकता है, "किसी भी कोटि के भारतीय के लिये कठोर सजाओं की व्यवस्था करके उसे विवश किया जाना चाहिये कि वह सड़क पर चलने वाले प्रत्येक अंग्रेज को सलाम करे और यदि भारतीय घोड़े पर चढ़ा हो या किसी गाड़ी में हो तो उसे उतर कर आदर प्रदर्शित करते हुए उस समय तक खड़ा रहना चाहिये जब तक उक्त अंग्रेज चला नहीं जाता।" यह केवल एक दो उदाहरण हैं और इसी प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि अंग्रेज भारतीयों को बराबरी का दर्जा भी देने को तैयार नहीं थे।

अंग्रेजों ने सुधारों के नाम पर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार भी किया। उन्होंने यूरोपीय चिकित्सा विज्ञान को प्रोत्साहन दिया, जो भारतीय चिकित्सा विज्ञान के पूर्णतया विरुद्ध था। रेल व तार व्यवस्था को जादू व शैतान का कार्य समझा गया। स्कूल, अस्पताल, दफ्तर और सेना पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के प्रचार के केन्द्र थे। इनसे भारतीय साहित्य व संस्कृति की बड़ी दुर्दशा हुई। भारतीयों को यह विश्वास होने लगा कि अंग्रेज भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट कर उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। अतः भारतीयों के मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी और इस घृणा ने 1857 में विद्रोह का रूप धारण कर लिया।

(4) धार्मिक कारण

भारत में ईसाई धर्म का प्रसार सर्वप्रथम पुर्तगालियों ने किया। तत्पचात अंग्रेजों ने भारत को ईसाइत के रंग से रंगने का प्रयास किया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश सरकार ने ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान करदी थी। ब्रिटिश संसद में बोलते हुए मेंगुल्स ने घोषणा की थी कि, "परमात्मा ने भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को प्रदान किया है ताकि ईसाई धर्म पताका भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक लहरा सके। प्रत्येक व्यक्ति को अविलम्ब ही देश में समस्त भारतीयों को ईसाई धर्म में परिणित करने के महान कार्य को सभी प्रकार से सम्पन्न करने में अपनी शक्ति लगा देनी चाहिये।" अंग्रेजों की इस नीति के अन्तर्गत भारत में ईसाई धर्म प्रचारकों को सभी प्रकार की सुविधा प्रदान की।

ईसाई धर्म प्रचारक बड़े उद्दण्डी थे। वे खुले रूप से हिन्दू व इस्लाम धर्म की निन्दा करते थे। हिन्दुओं के अवतारों तथा पैगम्बरों को गालियां देते थे और उन्हें कुकर्मी कहकर उनकी निन्दा करते थे। सैनिक क्षेत्र में ईसाई धर्म का प्रचार विशेष

रूप से किया गया। इस कार्य के लिये 'पादरी लेफ्टिनेंट' तथा 'मिशनरी कर्नल' नियुक्त किये जाते थे। इनका काम सेना में भारतीयों को ईसाई बनाना मात्र था। भारतीय सिपाहियों द्वारा धर्म परिवर्तन करने पर पदोन्नति दी जाती थी। सरकारी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य थी। मिशनरी स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। फलस्वरूप मिशनरी स्कूलों में पढ़े भारतीय विद्यार्थी भारतीय धर्म की खुली आलोचना करते थे। इससे भारतीयों में यह विश्वास फैलने लगा कि मिशनरी स्कूल भारतीयों को ईसाई बनाने के साधन हैं। यह सब भारतीयों के लिये असहनीय था। उनके मन में अंग्रेजों के प्रति शंका और घृणा पैदा हो गयी।

बेरोजगारों, अकाल पीड़ितों, कैदियों, विधवाओं तथा अनाथ बच्चों को तो बलपूर्वक ईसाई बना लिया जाता था और अन्य लोगों को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिये जाते थे। बैंटिक ने तो यह नियम बना दिया कि धर्म परिवर्तन करने पर पैतृक सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। इससे लोग स्वेच्छा से ईसाई बनने लगे। लार्ड कैनिंग ने तो धर्म प्रचार के लिये लाखों रुपये दिये। हिन्दू धर्म के अनुसार परलोक में शान्ति प्राप्त करने हेतु, स्वयं के दाह संस्कार हेतु तथा वंश को चलाये रखने हेतु निसन्तान व्यक्ति के लिये पुत्र गोद लेना अनिवार्य था। किन्तु डलहौजी ने इस पर भी रोक लगा दी। इससे लोगों का क्रोधित होना तो स्वाभाविक ही था। जिन भारतीयों को कारावास की सजा होती थी, वे जेल में अपने साथ जल-पात्र ले जाते थे, क्योंकि वे किसी के छुए हुए जल को अपवित्र समझते थे। लेकिन सरकार ने जेल में जलपात्र ले जाने पर रोक लगा दी। इससे हिन्दुओं को यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज उन्हें अपना छुआ हुआ पानी पिलाकर जबरदस्ती ईसाई बना रहे हैं। इसी संदेह के वातावरण में चरबी वाले कारतूत की घटना हुई जिससे विद्रोहाग्नि प्रज्ज्वलित हो गयी।

(5) आर्थिक कारण

अंग्रेजों ने जितना भारतीयों का राजनीतिक शोषण किया उससे भी बढ़कर आर्थिक शोषण किया। बंगाल में दीवानी का अधिकार प्राप्त करने के बाद भारतीयों का आर्थिक शोषण व कुटीर उद्योगों का विनाश आरम्भ हो गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटेन के निजी व्यापारियों को भारत में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हो जाने से तो यह आर्थिक शोषण और तीव्र हो उठा। मुक्त व्यापार नीति से इंगलैंड का निर्मित माल अधिकाधिक मात्रा में भारत के बाजारों में आने लगा। फलस्वरूप भारतीय उद्योग प्रायः नष्ट हो गये। अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार, वाणिज्य और कुटीर उद्योग अपने नियंत्रण में ले लिये, अतः भारतीयों में निर्धनता बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। भारत का अत्यधिक धन इंगलैंड जाने लगा।

किसानों के कल्याण के नाम पर भूव्यवस्था के सम्बंध में अब तक अनेक प्रयोग किये गये, किन्तु प्रत्येक भूव्यवस्था में ब्रिटिश हितों का अधिक ध्यान रखा जाता

था। स्थायी बन्दोबस्त तथा रैय्यतवाड़ी बन्दोबस्त का भी किसानों पर हानिकारक प्रभाव पड़ा, क्योंकि किसानों से अधिक लगान वसूल करने की प्रवृत्ति का अन्त नहीं हुआ था। बैंटिक के काल में तो कर मुक्त भूमि का भी अपहरण कर लिया गया, फलस्वरूप अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को अपनी जीविकोपार्जन हेतु दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। डलहौजी के समय तो इस नीति का बड़ी कठोरता से पालन किया गया। इससे पुराना जमींदार वर्ग समाप्त हो गया। उद्योग और व्यापार नष्ट होने से कारीगर बेकार हो गये, अतः वे कृषि पर निर्भर होने का प्रयास करने लगे, किन्तु भूमि सीमित थी, इसलिये कृषि से भी उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ। भूमि सम्बंधी व्यवस्था व भूमि का अपहरण करने से किसान एवं खेतीहर मजदूर बेकार हो गये, उद्योगों व व्यापार का विनाश होने से अनेक कारीगर बेकार हो गये और देशी राज्यों का अंग्रेजी राज्य में विलय कर देने से अनेक सैनिक बेकार हो गये। इस प्रकार ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत लाखों लोगों को अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा। फलस्वरूप अंग्रेजों से सैनिक व असैनिक दोनों रुष्ट हो गये। इन बेरोजगारों ने घूम-घूम कर अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार किया तथा विद्रोह के लिये प्रोत्साहित किया।

(6) सैनिक कारण

अंग्रेजों ने भारतीय सेना की सहायता से ही भारत में अपनी सर्वोच्चता स्थापित की थी। इसलिये कम्पनी ने बड़ी संख्या में भारतीय सैनिकों को अपनी सेवा में रख लिया था। वेलेजली की सहायक प्रथा के फलस्वरूप कम्पनी की सेना में भारतीय सैनिकों की असाधारण वृद्धि हुई थी। 1856 में डलहौजी के जाने के समय कम्पनी की सेना में 2,38,000 देशी और 45,322 अंग्रेज सैनिक थे। भारतीय सैनिकों की विशालता ने उन्हें निर्भीक एवं साहसी बना दिया था। इसके अतिरिक्त जो थोड़े बहुत अंग्रेज सैनिक थे उनका विभिन्न क्षेत्रों में वितरण ठीक नहीं था। अनेक क्षेत्र ऐसे थे जहां केवल देशी सैनिक ही थे और अंग्रेज सैनिक थे भी तो उनकी संख्या नगण्य सी थी। अधिकांश अंग्रेज सैनिक अधिकारियों को सीमान्त प्रदेशों एवं नये राज्यों में, जो हाल ही में ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये गये थे, प्रशासनिक एवं सैनिक पदों पर भेज दिये गये थे। इससे कम्पनी की सेना में कुशल सैनिक अधिकारियों की कमी हो गयी थी। कम्पनी की इस दुर्बलता से भारतीय सैनिक परिचित थे।

सेना में वेतन, भत्ते एवं पदोन्नति के सम्बंध में भारतीय सैनिकों के साथ भेदभावपूर्ण नीति अपनायी जाती थी। एक साधारण भारतीय सैनिक का वेतन सात या आठ रुपये मासिक होता था और इस वेतन में से ही उन्हें खाने का खर्च व वर्दी के पैसे देने पड़ते थे। इसलिये वेतन के दिन उन्हें एक या डेढ़ रुपया वेतन मिलता था। इसी प्रकार सेना में एक भारतीय सूबेदार का वेतन 35 रुपये मासिक

था जबकि अंग्रेज सूबेदार को 195 रुपये मासिक मिलता था। जैसा कि ऊपर बताया गया है, सम्पूर्ण कम्पनी की सेना में अंग्रेजसैनिकों की संख्या भारतीय सैनिकों की संख्या के लगभग 1/5 भाग से कुछ अधिक थी, लेकिन सैनिक खर्च का आधे से अधिक भाग अंग्रेज सैनिकों पर खर्च किया जाता था। भारतीय सैनिकों के लिये पदोन्नति के अवसर भी नहीं के बराबर थे। यदि वरिष्ठता के आधार पर कभी भारतीय सैनिक के लिये पदोन्नति का अवसर आता भी, तो उसे इनाम देकर सेना से अलग कर दिया जाता था। वस्तुत: अंग्रेजों को भारतीयों पर विश्वास ही नहीं था और वे समझते थे कि उच्च पद केवल अंग्रेजों के लिये सुरक्षित है। अंग्रेजों की इस नीति से भारतीय सैनिकों का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था और इसीलिये 1806 से 1856 के बीच भारतीय सैनिकों ने अनेक विद्रोह किए। किन्तु इन विद्रोहों का निर्ममतापूर्वक दमन कर दिया गया। विद्रोही सैनिकों को भीषण यातनाएं दी गई और यहां तक कि भारतीय सैनिकों को गोली से उड़ा दिया गया। अंग्रेज अधिकारी भारतीय सैनिकों को पशु तुल्य समझते थे। इन कारणों से भारतीयों का क्रोध भड़क उठा।

कम्पनी की सेना में अधिकांश सैनिक उच्च जाति के ब्राह्मण, राजपूत, जाट व पठान आदि थे। वे न केवल अनपढ़ थे वल्कि रूढ़िवादी भी थे तथा धर्म के नाम पर अपने अधिकारी के आदेशों की अवहेलना करना साधारण वात थी। अंग्रेजों ने सेना में पाश्चात्य नियम लागू करते हुए सैनिकों को माला पहिनने व तिलक लगाने की मनाही कर दी। मुसलमान सैनिक दाढ़ी नहीं रख सकते थे। ये नियम भारतीयों के धर्म व परम्परा के विरुद्ध थे। भारतीय सैनिक विदेश जाना धर्म के विरुद्ध समझते थे, अत: भारतीय सैनिकों ने विदेश जाने से इन्कार कर दिया। इस पर लार्ड केनिंग ने सामान्य सेना भर्ती अधिनियम पारित किया, जिसके अनुसार भविष्य में भावी सैनिकों को सेवा के लिये कहीं भी भेजा जा सकता था और उन्हें यह वात लिखित रूप में देनी पड़ती थी। एक अन्य घोषणा में कहा गया कि विदेशों में सेवा के लिये अयोग्य समझे गये सैनिकों को अवकाश प्राप्त करने पर पेन्शन नहीं मिलेगी। इन नियमों से भारतीय सैनिकों में यह भावना दृढ़ हो गयी कि अंग्रेज उनके धर्म व रीति-रिवाजों पर प्रहार कर उन्हें ईसाई बना रहे हैं। इस पर सेवा में अंग्रेज अधिकारियों के प्रति अविश्वास फैलने लगा। जो सैनिक अपदस्थ किये गये उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने में सहयोग दिया। फलस्वरूप विद्रोह की भूमिका तैयार हो गयी। ऐसे वातावरण में चरवी वाले कारतूसों ने चिन्गारी का का काम किया और असंतोष रूपी बारूद के ढेर में विस्फोट हो गया।

(7) तात्कालिक कारण

भारतीयों में यह विश्वास होता जा रहा था कि अंग्रेज, भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों व संस्कारों को नष्ट करना चाहते हैं। ठीक ऐसे वातावरण में चरवी

वाले कारतूस की घटना हुई। ब्रिटेन में एक एनफील्ड राइफल का आविष्कार हुआ। इस राइफल में एक विशेष प्रकार का कारतूस प्रयोग में लाया जाता था, जिसको चिकना करने हेतु गाय व सूअर की चरबी का प्रयोग होता था। इस कारतूस को राइफल में डालने से पूर्व उसकी टोपी को मुंह से काटना पड़ता था। 1 जनवरी 1857 को इस राइफल का प्रयोग भारत में आरम्भ किया गया। तत्पश्चात दमदम शस्त्रागार में एक दिन एक खलासी ने एक ब्राह्मण सैनिक के लोटे से पानी पीना चाहा, लेकिन उस ब्राह्मण से इसे अपने धर्म के विरुद्ध मान कर इन्कार कर दिया। इस पर उस खलासी ने व्यंग्य किया कि उसका धर्म तो नये कारतूसों के प्रयोग से समाप्त हो जायेगा, क्योंकि उस पर गाय और सूअर की चरबी लगी हुई है। खलासी के इस व्यंग्य से सत्य खुल गया और सैनिक भड़क उठे। बैरकपुर में बंगाल सेना की कुछ कम्पनियां फरवरी 1857 में बरहामपुर पहुंची और 26 फरवरी 1857 को बरहामपुर के सैनिकों ने इन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। बाद में यद्यपि सैनिकों ने आज्ञा का पालन कर लिया लेकिन केनिंग ने उस सैनिक टुकड़ी को भंग कर दिया। इससे अन्य सैनिक टुकड़ी में असन्तोष फैल गया। 29 मार्च 1857 को मंगल पाण्डे नामक एक सैनिक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया तथा अंग्रेज अधिकारियों पर गोली चला दी। इससे एक अंग्रेज अधिकारी मारा गया तथा दो घायल हो गये। मंगल पाण्डे को बन्दी बनाकर उसे मौत की सजा दे दी गई। इस प्रकार अप्रेल 1857 में इन दोनों सेनाओं के सिपाहियों ने अवध में अपने घर पहुंच कर चरबी वाले कारतूसों की बात फैला दी। 2 मई 1857 को लखनऊ की अवध रेजीमेंट ने भी इन कारतूसों के प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप अवध रेजीमेंट को भंग कर दिया गया।

चरबी वाले कारतूसों की खबर मेरठ भी पहुंच गई। वहां का अंग्रेज सैनिक अधिकारी कारमाइकेल स्मिथ अत्यन्त ही अहंमी था। अत: 24 अप्रेल 1857 को वहां, घुड़सवारों की एक सैनिक टुकड़ी ने जब इन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया तो इन्कार करने वालों को 5 वर्ष के कारावास की सजा सुना दी तथा 9 मई को उन्हें अपराधियों के कपड़े पहनाकर बेड़ियां लगा दी। इतना ही नहीं कारमाइकेल ने अन्य सैनिकों को अपने साथियों के इस अपमान का बदला लेने के लिये चुनौती दे दी। फिर क्या था, दूसरे दिन 10 मई 1857 को सायं 5 बजे के लगभग मेरठ की एक पैदल सैनिक टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया और बाद में यह विद्रोह घुड़सवारों की टुकड़ी में भी फैल गया। कारमाइकेल को अपनी जान बचाकर भागना पड़ा और उसने अन्य अधिकारियों के बंगलों में शरण ली। विद्रोही जेल में घुसे और कैदियों को मुक्त कर दिया। बन्दी सैनिकों की बेड़ियां काटकर उन्हें अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये और जहां कहीं अंग्रेज मिले, उन्हें मौत के घाट उतार दिया। तत्पश्चात विद्रोही सैनिक दिल्ली की ओर चल पड़े।

विप्लव की घटनाएं एवं प्रसार

11 मई 1857 को मेरठ के विद्रोही सैनिक दिल्ली पहुंचे। यहां पर उन्होंने अनेक अंग्रेज अधिकारियों को मार डाला तथा दिल्ली पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों ने मुगल सम्राट बहादुरशाह को क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। पहले तो बहादुरशाह ने नेतृत्व स्वीकार करने में संकोच दिखाया, किन्तु विद्रोहियों का अत्यधिक दबाव देखकर अन्त में विवश होकर क्रान्ति का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया। दिल्ली की इन घटनाओं का समाचार अन्य नगरों में भी पहुंच गया और कुछ ही दिनों में उत्तरी भारत के अधिकांश भाग में विद्रोह फैल गया। नाना साहब ने कानपुर पर अपना अधिकार स्थापित कर अपने आपको वहां का पेशवा घोषित कर दिया। बुन्देलखण्ड में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने तथा मध्य भारत में तांत्या टोपे नामक मराठा ब्राह्मण ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कुंवरसिंह ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। इसी प्रकार उत्तर भारत में कानपुर, आगरा, अलीगढ़, बरेली, मथुरा आदि विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बन गये। अवध राज्य के सभी क्षेत्र इस विद्रोह में सम्मिलित हो गये।

राजस्थान में 28 मई 1857 को नसीराबाद की सैनिक छावनी में तथा 3 जून 1857 को रात्रि के 11 बजे नीमच के सैनिकों ने विद्रोह कर छावनी में आग लगा दी। राजस्थान में कोटा व आउवा विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बने। 21 अगस्त 1857 को एरिनपुरा स्थित जोधपुर लीजियन की एक सैनिक टुकड़ी ने, जो अभ्यास हेतु आबू गई हुई थी, विद्रोह कर दिया। तत्पश्चात यह सैनिक टुकड़ी आबू की पहाड़ी से नीचे उतरी और एरिनपुरा में लूटमार कर मारवाड़ के रास्ते से दिल्ली की ओर रवाना हुई। रास्ते में पाली के निकट आउवा के ठाकुर खुशालसिंह ने उन्हें अपनी सेवा में ले लिया और आउवा ले गया। आउवा में मारवाड़ और मेवाड़ के कुछ जागीरदार अथवा उनकी सेनाएं सम्मिलित हो गयी। जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह ने इनके विरुद्ध एक सेना भेजी, किन्तु 8 सितम्बर 1857 को राजकीय सेना पराजित हुई। इस पर राजस्थान का ए. जी. जी. जार्ज लारेन्स स्वयं सेना लेकर गया, किन्तु उसे भी पराजय का सामना करना पड़ा। अन्त में जनवरी 1858 में कर्नल होम्स ने आउवा में विद्रोहियों का दमन किया। मेवाड़ में यद्यपि कोई प्रत्यक्ष विद्रोह नहीं हुआ, किन्तु मेवाड़ के कुछ जागीरदारों ने विद्रोहियों को रसद आदि देकर अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की।

पंजाब, बंगाल और दक्षिणी भारत के अधिकांश भागों में कोई विद्रोह नहीं हुआ। भारत के अधिकांश नरेशों ने अंग्रेजों की सहायता की।

अवध में विद्रोह—अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के कारण वहां अंग्रेजों के विरुद्ध व्यापक असंतोष था। 3 मई 1857 को लखनऊ में सैनिकों ने

विद्रोह कर दिया, लेकिन उसका दमन कर दिया गया। तत्पश्चात 30 मई 1858 को पुनः विद्रोह हुआ जो अवध राज्य के विभिन्न भागों में फैल गया। अवध का नवाब वाजिदअलीशाह कलकत्ता में अंग्रेजों का बन्दी था, अतः विद्रोहियों ने उसके अल्पव्यस्क पुत्र बिरजीस कद्र को नवाब घोषित कर दिया तथा प्रशासन संचालन का काम बेगम हजरत महल को सौंप दिया गया। अवध के ताल्लुकेदारों व जमींदारों ने विद्रोह कर दिया। 20 जून 1857 को अंग्रेजी सेना विद्रोहियों से परास्त हुई तथा अधिकांश ताल्लुकेदारों व जमींदारों ने अपनी अपनी जागीरों व जमींदारी पर अधिकार कर लिया। 4 जुलाई 1857 को एक भीषण विस्फोट में अवध के कमिश्नर हेनरी लारेन्स की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात अंग्रेजों की सहायता के लिये आउटरम तथा हेवलाक अपनी सेनाओं के साथ आये। प्रधान सेनापति कैम्पवेल तथा नेपाल से गोरखा सेना भी वहां आ पहुंची। अन्त में 31 मार्च 1858 को अंग्रेज पुनः लखनऊ पर अधिकार करने में सफल रहे। यद्यपि इसके बाद भी ताल्लुकेदार छिपे रूप से अंग्रेजों की हत्या करते रहे, किन्तु मई 1858 में बरेली पर अंग्रेजों का प्रभुत्व हो जाने पर अवध के क्रान्तिकारियों ने भी हथियार डाल दिये तथा विद्रोह का पूर्णरूप से दमन कर दिया गया।

झांसी में क्रान्ति—1854 में झांसी को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। अतः झांसी में भी अंग्रेजों के विरुद्ध व्यापक असंतोष था। 5 जून 1857 को झांसी की सेना ने भी विद्रोह कर दिया तथा अंग्रेज अधिकारियों को दुर्ग में घेर कर 8 जून को उनकी हत्या कर दी। आरम्भ में रानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोहियों का समर्थन नहीं किया तथा सागर डिविजन के कमिश्नर को पत्र लिखकर अपनी स्थिति भी स्पष्ट की। अर्संकाइन ने भी रानी लक्ष्मीबाई को झांसी के प्रशासन का उत्तरदायित्व सौंपा, फिर भी अंग्रेजों ने झांसी की घटनाओं के लिये रानी लक्ष्मीबाई को दोषी ठहराया। जब ओर्छा तथा दतिया के शासकों ने झांसी पर आक्रमण किया, तब भी रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करना चाहती थी, किन्तु अंग्रेजों ने उसे संदेह की दृष्टि से देखा। विवश होकर रानी ने झांसी के विद्रोहियों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। रानी का दमन करने के लिये ह्यू रोज सेना लेकर बुन्देलखण्ड की ओर आया। रानी ने स्वयं सेना का संचालन किया और उसकी वीरता को देखकर अंग्रेजों ने भी दांतों तले अंगुलियां दबा ली। ग्वालियर से तांत्या टोपे भी रानी की सहायता के लिये आ पहुंचा। किन्तु कुछ देशद्रोहियों ने किले के फाटक खोल दिये, जिससे शत्रु सेना को अन्दर आने का मार्ग मिल गया। अतः रानी लक्ष्मीबाई 4 अप्रेल 1858 को रात के अन्धेरे में नगर से बाहर चली गई और बड़ी बहादुरी से लड़ती हुई कालपी पहुंची। ह्यू रोज भी रानी का पीछा करते हुए कालपी आ पहुंचा और वहां घमासान युद्ध हुआ। मई 1858 में कालपी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। वहां से रानी ग्वालियर पहुंची तथा ग्वालियर के दुर्ग पर

अधिकार कर लिया। ह्यूरोज रानी का पीछा करता हुआ ग्वालियर भी आ पहुंचा। इस युद्ध में रानी का रणकौशल दर्शनीय था। किन्तु शत्रु सेना ने रानी को घेर लिया, अतः रानी ने यहां से भी भागने का प्रयास किया, किन्तु उसका घोड़ा सामने पड़े हुए नाले को पार न कर सका और वहीं गिर गया। रानी स्वयं इतनी घायल हो चुकी थी कि उसका बचना असंभव हो गया। इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई ने एक शहीद की भांति मृत्यु का वरण किया। रानी लक्ष्मीबाई की वीरता तथा देश प्रेम आज भी भारतीयों के लिये प्रेरणा स्रोत बना हुआ है।

कानपुर की क्रान्ति—1818 में पेशवा बाजीराव द्वितीय द्वारा अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण के बाद उसे कानपुर के निकट बिठुर भेज दिया था तथा उसके लिये 8 लाख रुपये वार्षिक पेंशन देना तय किया गया। बाजीराव के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसने नाना धुन्धुपन्त को, जिसे नाना साहब कहकर पुकारा जाता था, गोद लिया। 28 जनवरी 1851 को बाजीराव की मृत्यु हो गयी और उस समय अंग्रेजों में 62 हजार रुपये पेंशन के बाकी थे। किन्तु डलहौजी ने बकाया राशि देने से तथा भविष्य में पेंशन देने से इन्कार कर दिया। अतः नाना अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन बन गया।

मेरठ में हुए विद्रोह की सूचना जब कानपुर पहुंची तो अंग्रेजों ने खजाने तथा बारूद के भण्डार की सुरक्षा का दायित्व नाना साहब के सिपाहियों को सौंप दिया। किन्तु 4 जून को कानपुर में विद्रोह हो गया। 6 जून 1857 को नाना ने विद्रोहियों का नेतृत्व ग्रहण किया और कानपुर की ओर आया। अंग्रेजों ने अपनी सुरक्षा के लिये एक अस्थायी शिविर बना लिया, किन्तु 25 जून को इस शिविर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया। 27 जून को अंग्रेज किश्तियों में बैठकर इलाहाबाद की ओर जाने लगे, किन्तु विद्रोहियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। कानपुर पर अधिकार हो जाने के बाद बिठुर में नाना ने अपने आपको पेशवा घोषित कर दिया। किन्तु इलाहाबाद से अंग्रेजी सेना आ पहुंची जिसने 16 जुलाई 1857 को कानपुर पर पुनः अधिकार कर लिया। इसी दिन कानपुर में एक बीबीघर नामक मकान में कुछ अंग्रेज स्त्रियों व बच्चों की हत्या कर दी गई। अब अंग्रेजों ने कानपुर की साधारण जनता पर जो अत्याचार किये वे दिल दहलाने वाले थे। अंग्रेज अधिकारी जनरल नील ने दीवानी के एक मुसलमान अधिकारी को बीबीघर में फर्श पर लगे खून को जीभ से साफ करने का आदेश दिया और उसके द्वारा आज्ञा पालन करने पर भी उसे मृत्यु दण्ड दे दिया गया। जनरल नील ने मृत ब्राह्मणों को जमीन में दफनवा दिया तथा मुसलमानों को चिता में जलवा दिया। 19 जुलाई 1857 को बिठुर पर आक्रमण किया और नाना के महल में आग लगा दी। बिठुर में भयंकर लूटमार की गई तथा धन-सम्पत्ति के लोभ में एक महल की एक एक ईंट उखड़वा दी। अंग्रेजों को बिठुर की लूट में इतना अधिक सोना-चांदी प्राप्त हुआ कि उसे ले जा

नहीं सकते थे। जनवरी 1858 के बाद नाना के बारे में कोई पता नहीं चला। बाद में पता चला वह नेपाल चला गया है, लेकिन उसके बाद उसकी कोई निश्चित जानकारी नहीं मिल सकी।

बिहार में क्रान्ति—बिहार में विद्रोह का संचालन जगदीशपुर (शाहाबाद जिले में) के जमींदार कुंवरसिंह ने किया, जिसकी उस समय आयु 70 वर्ष की थी। कुंवरसिंह की जमींदारी काफी बड़ी थी, लेकिन अंग्रेजों की नीति के फलस्वरूप कुंवरसिंह दिवालियेपन की स्थिति में पहुंच गया था। बिहार में सर्वप्रथम विद्रोह जुलाई 1857 में दानापुर में हुआ। विद्रोहियों ने आरा पर अधिकार कर कुंवरसिंह को बुलवा लिया तथा इस संघर्ष का नेतृत्व कुंवरसिंह को सौंप दिया। अगस्त 1857 में कुंवरसिंह लखनऊ की ओर चल पड़ा। रास्ते में आजमगढ़ जिले में अंग्रेजी सेना से उसकी मुठभेड़ हो गयी। कुंवरसिंह ने अंग्रेजी सेना को खदेड़ कर मार्च 1858 में आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। यह उसकी सबसे बड़ी सफलता थी और इससे उसका हौंसला दूना हो गया। अब कुंवरसिंह बनारस की ओर बढ़ा। 6 अप्रेल 1858 को लार्ड मार्क ने अपने तोपखाने सहित कुंवरसिंह से मुकाबला किया, किन्तु कुंवरसिंह के युद्ध कौशल के सामने मार्क को भी अपनी जान बचाकर भागना पड़ा। 22 अप्रेल 1858 को कुंवरसिंह ने अपनी जागीर जगदीशपुर पर अधिकार कर लिया। किन्तु जगदीशपुर में पहुंचे 24 घण्टे भी न हुए थे कि आरा से ली-ग्रैण्ड एक सेना लेकर जगदीशपुर आ पहुंचा। अतः कुंवरसिंह बिना आराम किये जगदीशपुर से बाहर निकल कर ली-ग्रैण्ड पर हमला कर उसे पराजित कर दिया। 23 अप्रेल से वह फिर अपनी जागीर पर शासन करने लगा। तीन दिन बाद कुंवरसिंह की मृत्यु हो गयी और उस समय जगदीशपुर पर आजादी का ध्वज लहरा रहा था। वह अंग्रेजों के विरुद्ध लगभग एक वर्ष तक संघर्ष करता रहा और अंग्रेजों को अनेक बार परास्त किया। उसके सफल विद्रोह से अंग्रेज इतने खीझ उठे थे कि उसकी मृत्यु के बाद मेजर आयर ने जगदीशपुर के महल और मंदिरों को नष्ट करके अपने दिल की भड़ास निकाली। कुंवरसिंह एक मात्र ऐसा बागी शासक था जो आजादी के झण्डे के नीचे ही अपनी मौत से मरा।

अंग्रेजों द्वारा विप्लव का दमन

विप्लव की व्यापकता का अनुमान अंग्रेज अधिकारी नहीं लगा सके। अतः विद्रोह आरम्भ होने के बाद भी दो दिन तक अंग्रेजी सेना ने कोई कार्यवाही नहीं की। विप्लव का दमन सर्वप्रथम दिल्ली से प्रारम्भ हुआ। हेनरी बरनार्ड को सेना देकर दिल्ली की ओर भेजा गया। मुगल सम्राट बहादुरशाह की सेना ने आक्रमण कर अंग्रेजी सेना को पीछे हटा दिया, किन्तु उसे छिन्न-भिन्न न कर सकी। दिल्ली में भारतीय सैनिकों में कुशल युद्ध संचालकों का अभाव था। अतः वे पंजाब से आने वाली सहायता को रोकने में असमर्थ रहे। इसके विपरीत अंग्रेज़ी पलटनें पूर्ण

सनिक अनुशासन और अनुभवी सेनापति की कमान में थी। अगस्त-सितम्बर में पंजाब से बड़ी बड़ी तोपें दिल्ली पहुंच गई। 14 सितम्बर 1857 को कश्मीरी गेट को बारूद से उड़ा दिया गया तथा छः दिनों के भयंकर युद्ध के पश्चात 20 सितम्बर तक दिल्ली के विभिन्न स्थानों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। 21 सितम्बर को बहादुरशाह, उसकी बेगम जीनत महल और उसके पुत्र को बन्दी बना लिया तथा उन्हें भारत से निर्वासित करके रंगून भेज दिया, जहां बेबसी में दिन काटते हुए 1862 में अन्तिम मुगल बादशाह की मृत्यु हो गयी। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद अंग्रेजों ने निर्दोष व्यक्तियों का कत्लेआम कर खून की नदियां बहा दी। यद्यपि विद्रोहियों ने भी अंग्रेजों की हत्याएं की थी किन्तु ये हत्याएं विप्लव के काल में हुई थी, लेकिन अंग्रेजों ने रक्तपात विद्रोह की समाप्ति के बाद किया। अंग्रेजों ने केवल विद्रोही सैनिकों का ही नहीं बल्कि साधारण नागरिकों का भी रक्तपात किया। दिल्ली की लूट और विनाश का अनुमान 'टाइम्स' पत्र के संवाददाता के इस कथन से लगाया जा सकता है, "शाहजहां के शहर में नादिरशाह के कत्लेआम के दिन के बाद ऐसा दृश्य नहीं देखा गया था।" नवम्बर 1857 के अंत तक दिल्ली में रक्तपात चलता रहा।

जुलाई 1857 में अंग्रेजों ने कानपुर पर अधिकार कर लिया, किन्तु तांत्या टोपे ने संघर्ष जारी रखा। अंग्रेजों ने उसे पकड़ने में सारी शक्ति लगा दी। 1859 के अन्त तक वह अंग्रेजों से जूझता रहा, लेकिन अन्त में देशद्रोही मानसिंह ने अलवर के जंगलों में तांत्या टोपे को रात में सोते हुए पकड़वा दिया। कहा जाता है कि तांत्या टोपे को फांसी दे दी गई, किन्तु अनेक इतिहासकारों का कहना है कि जिस व्यक्ति को फांसी दी गई थी, वह तांत्या टोपे नहीं था। मार्च 1858 तक अंग्रेजों ने लखनऊ पर भी अधिकार कर लिया था तथा जून 1858 तक अधिकांश क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने पुनः अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। जनरल नील ने तथा जनरल हेवलाक ने, जिस रास्ते से भी वे गुजरे, निरीह पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का कत्लेआम करवाया। झांसी और लखनऊ में भी साधारण नागरिकों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया। रस्सियों से लटकवा कर गोली से उड़ा देना सामान्य बात थी। जिन-जिन रास्तों से अंग्रेजी सेना गुजरती थी, वहां लाशों के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता था।

जनरल नील ने इलाहाबाद और बनारस पहुच कर गांव के गांव जला दिये और किसानों की खड़ी फसलें बर्बाद करदी। जून 1857 में बनारस और इलाहाबाद के क्षेत्रों में मार्शल ला लागू कर दिया तथा बिना मुकदमा चलाये लोगों को मृत्यु दण्ड दे दिया गया। बाजार में खड़े इमली व नीम के वृक्षों पर सहस्रों व्यक्तियों को लटका कर फांसी दे दी गई। इतिहासकार जॉन के ने लिखा है कि तीन महीनों तक आठ गाड़ियां सुबह से शाम तक शवों को चौराहों व बाजारों से हटाकर ले जाने में व्यस्त रहीं। किसी भी व्यक्ति को भागकर जाने नहीं दिया गया, क्योंकि

प्रत्येक व्यक्ति उन्हें विद्रोही दिखाई दे रहा था। अंग्रेजों ने अपने निर्मम अत्याचारों से आतंक स्थापित कर दिया। संभवतः वे भारतीयों को बता देना चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करना सरल नहीं है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि ये अत्याचार उन अंग्रेज प्रशासकों द्वारा किये गये जो अपने आपको सभ्य, प्रगतिशील और शिक्षित कहते थे। लेकिन उनकी अमानवीयता और बर्बरता को देखते हुए उन्हें सभ्य नहीं, जंगली जाति ही कहना उपयुक्त होगा।

विप्लव का स्वरूप

1857 के विप्लव का स्वरूप क्या था, इस प्रश्न पर विद्वान एक मत नहीं हैं। 1857-58 में कुछ अंग्रेजों की यह मान्यता थी कि विप्लव जनसाधारण द्वारा असंतोष अभिव्यक्ति का एक उदाहरण था, किन्तु अधिकांश ब्रिटिश लेखकों ने इसे मात्र सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी है। ईसाई मिशनरी तथा आध्यात्मिक विचारधारा के लोग इसे ईश्वर द्वारा भेजी गई विपत्ति समझते थे, क्योंकि कम्पनी प्रशासन ने भारतीय प्रजा को ईसाई नहीं बनाया। कुछ अंग्रेज लेखकों ने इसे हिन्दू-मुसलमानों का, ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने का षड़यंत्र भी बताया है। इन विचारों के ठीक विपरीत 1909 में विनायक दामोदर सावरकर ने इसे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा। अतः इस विप्लव के स्वरूप के बारे में आज भी मतभेद विद्यमान है।

(1) सैनिक विद्रोह—सर जॉन सीले के मतानुसार 1857 की क्रान्ति पूर्णतः अराष्ट्रीय तथा स्वार्थी सैनिकों का विद्रोह था जिसका न कोई देशी नेतृत्व था और न जनता का सहयोग। सर जॉन लारेन्स ने भी इसे केवल सैनिक विद्रोह बताया है और इसका प्रमुख कारण चरबी वाले कारतूस बताया है। पी. ई. राबर्ट्स भी इसे विशुद्ध सैनिक विद्रोह मानते हैं। वी. ए. स्मिथ ने भी लिखा है कि, "यह एक शुद्ध रूप से सैनिक विद्रोह था, जो संयुक्त रूप से भारतीय सैनिकों की अनुशासनहीनता और अंग्रेज सैनिक अधिकारियों की मूर्खता का परिणाम था।" इस प्रकार लगभग सभी विदेशी इतिहासकार इसे एक सैनिक विद्रोह मानते हैं।

1957 में स्वतन्त्र भारत में 1857 की क्रान्ति की पहली शताब्दी मनाई गई और इस अवसर पर सरकार की ओर से तथा अन्य शोधकर्त्ताओं द्वारा इस विप्लव पर पुनः विचार किया गया। सुरेन्द्रनाथ सेन ने अपनी पुस्तक '1857' में लिखा, "आन्दोलन एक सैनिक विद्रोह की भांति आरम्भ हुआ किन्तु केवल सेना तक सीमित नहीं रहा। सेना ने भी पूरी तरह विद्रोह में भाग नहीं लिया।" उन्होंने यह भी लिखा है कि इस विप्लव को मात्र सैनिक विप्लव कहना गलत होगा। शशीभूषण चौधरी ने भी इसे सामान्य जनता का विद्रोह बताया। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने इसे सैनिक विप्लव बताया, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि कुछ क्षेत्रों में जनसाधारण ने इसका समर्थन किया था। नाथूराम खड्गावत ने राजस्थान में हुए विप्लव पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए बताया कि यहां दीर्घकाल से अंग्रेज

विरोधी भावना पनप रही थी तथा विप्लव में साधारण जनता ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था।

अतः यह तथ्य तो अब सर्वमान्य है कि 1857 का विप्लव यद्यपि सैनिक विप्लव के रूप में फूट पड़ा था, किन्तु यह पूर्ण रूप से सेना से ही सम्बंधित नहीं रहा। किन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यदि यह सैनिक विप्लव नहीं था, तो इससे अधिक क्या था ? इस पर भी विद्वानों में काफी मतभेद हैं। डॉ. ताराचन्द ने लिखा है कि अशक्त वर्गों का अपनी खोयी हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करने का अंतिम प्रयास था। यह वर्ग ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्ति पाना चाहता था, क्योंकि अंग्रेजों की नीतियों से इस वर्ग के लोगों के हितों को हानि पहुँच रही थी। विप्लव की घटनाओं से पता चलता है कि अवध में इस विप्लव को जनसाधारण का पूर्ण समर्थन प्राप्त था और विहार के भी कुछ हिस्सों में यही स्थिति थी। उस समय ग्रामीण जनता में भी यह भावना फैल गयी कि सेना का लक्ष्य केवल अपनी स्थिति सुधारना ही नहीं था, बल्कि भारत को अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त कराना था। ऐसी स्थिति में इसे केवल सैनिक विप्लव का स्वरूप प्रदान करना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

(2) मुस्लिम सत्ता की पुनः स्थापना का प्रयास—सर जेम्स आउटरम का मत है कि यह मुसलमानों के षड़यंत्र का परिणाम था, जो हिन्दुओं की शक्ति के वल पर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। स्मिथ ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि, "यह हिन्दू शिकायतों की आड़ में मुस्लिम षड़यंत्र था।" इस दृष्टिकोण से यह विप्लव भारतीय मुसलमानों का षड़यंत्र था, जो अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंक कर पुनः मुगल सम्राट बहादुरशाह के नेतृत्व में मुस्लिम सत्ता स्थापित करना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने मुगल सम्राट को क्रान्ति का नेता बनाया था। विद्रोह के काफी समय बाद बेगम जीनत महल ने भी देशी शासकों को पत्र लिखे जिसमें मुगल सम्राट की अधीनता में अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने की बात कही गई थी। अतः जेम्स आउटरम व स्मिथ के कथनों में कुछ सच्चाई अवश्य प्रतीत होती है।

किन्तु इन कथनों में पूर्ण सत्यता नहीं है। 1857 की क्रान्ति में देश के केवल 1/3 मुसलमानों ने भाग लिया था। इसके अतिरिक्त नाना साहब, झांसी की रानी, कुंवरसिंह और अवध के ताल्लुकेदारों ने क्रान्ति का वास्तविक संचालन किया था। अतः इसे मात्र मुस्लिम षड़यंत्र नहीं कहा जा सकता, वरन् यह हिन्दू-मुसलमानों का अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त संघर्ष था।

(3) सामन्तवादी प्रतिक्रिया—इतिहासकार मेलीसन ने इसे जागीरदारों द्वारा अपने शासकों के विरुद्ध सामन्ती प्रतिक्रिया कहा है। अंग्रेजों की देशी रियासतों के प्रति नीति के फलस्वरूप अनेक सामन्त अपनी जागीरों से हाथ धो बैठे थे। इन लोगों में अंग्रेजों के प्रति घृणा व क्रोध फूट पड़ना स्वाभाविक था। दूसरी ओर

अंग्रेजों ने देशी शासकों से मिलकर सामन्तों के विशेषाधिकारों पर प्रहार किया तथा उनकी प्रतिष्ठा को गिराया। ऐसे सामन्तों ने भी विप्लवकारियों का साथ देकर विप्लव को फैलाने में योगदान दिया।

किन्तु देश के मुट्ठी भर सामन्तों द्वारा संघर्ष में भाग लेने से पूरे विप्लव को सामन्ती संघर्ष अथवा सामन्तवादी प्रतिक्रिया का रूप नहीं दिया जा सकता। संघर्ष में सामन्तों ने कम भाग लिया था, जबकि अन्य लोगों की संख्या अधिक थी। अतः इसे सामन्तवादी प्रतिक्रिया कदापि नहीं माना जा सकता।

(4) **प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम**—सर्वप्रथम श्री सावरकर ने इस विप्लव को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये आयोजित युद्ध कहा। पट्टाभिसीतारमैया के अनुसार भी 1857 का महान आन्दोलन भारत का पहला स्वतंत्रता संग्राम था। अशोक मेहता ने भी अपनी पुस्तक 'द ग्रेट रिवोल्ट' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह एक राष्ट्रीय विद्रोह था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है कि यह केवल सैनिक विद्रोह नहीं था, यद्यपि इसका विस्फोट सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था, क्योंकि यह विद्रोह शीघ्र ही जन-विद्रोह के रूप में परिणित हो गया था। बैंजेमिन डिजरैली ने भी ब्रिटिश संसद में इसे एक राष्ट्रीय विद्रोह कहा था। सुरेन्द्र नाथ सेन लिखते हैं कि, "जो युद्ध धर्म के नाम पर प्रारम्भ हुआ था वह स्वातन्त्र्य युद्ध में जाकर समाप्त हुआ, क्योंकि इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे और वे पुनः पुरातन शासन व्यवस्था स्थापित करने के इच्छुक थे जिनका प्रतिनिधित्व दिल्ली का बादशाह करता था।"

जिन विद्वानों ने इसे स्वतन्त्रता संग्राम माना है उन्होंने अपने मत के समर्थन में तर्क दिया है कि इस संग्राम में हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर समान रूप से भाग लिया और इन्हें जनसाधारण की सहानुभूति प्राप्त थी। कुछ क्षेत्रों में तो जनता ने सक्रिय भाग लिया था। अतः इसे केवल सैनिक विप्लव या सामन्तवादी प्रतिक्रिया अथवा मुस्लिम षड़यंत्र नहीं कहा जा सकता। सैनिकों ने विद्रोह आरम्भ अवश्य किया था और अन्त तक वे ही लड़ते रहे, किन्तु उनके साथ लाखों अन्य लोगों ने भी भाग लिया। इस कथन को प्रमाणित करने के लिये कहा जाता है कि विप्लव काल में मरने वालों में जनसाधारण की संख्या अधिक थी। सामन्तों या सैनिकों ने तो केवल अपने स्वार्थो से प्रेरित होकर विद्रोह में भाग लिया था, जबकि जनसाधारण का तो एक ही स्वार्थ था–विदेशियों को भारत से खदेड़ना। अनेक स्थानों पर तो जनता ने ही सैनिकों को विद्रोह के लिये प्रोत्साहित किया तथा जिन लोगों ने या नरेशों ने अंगेजों का पक्ष लिया उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया। जब जनरल ब्लॉक को अपनी सेना के साथ एक नदी पार करनी थी तो किसी नाविक ने उसे नाव नहीं दी। कानपुर में अंगेजों के लिये मजदूरों ने काम करना बन्द कर दिया। विद्रोह आरम्भ होने के बाद जब उदयपुर

का पोलीटिकल एजेन्ट कर्नल शॉवर्स महाराणा से मिलने उनके महल की ओर जा रहा था तब आम जनता ने उसे कर्कश स्वरों से धिक्कारा। जोधपुर में कर्नल मेसन की हत्या करदी गई तथा जब जोधपुर के किले में स्थित वारूद के भण्डार में एक रात अचानक विस्फोट हो गया तो लोगों ने इसे देवी प्रकोप बताया, क्योंकि जोधपुर के महाराजा ने अंग्रेजों का साथ दिया था। कोटा के महाराव को विद्रोहियों ने महल में तब तक घेरे रखा, जब तक कि उसने विद्रोहियों को सहयोग देने का वादा नहीं कर लिया। कुछ नरेशों ने तो केवल जनमत के दबाव में आकर, अंगेजों के प्रति स्वामी भक्ति प्रदर्शित करते हुए भी, विद्रोहियों को शरण दी। विप्लव काल में जो साम्प्रदायिक एकता स्थापित हुई वह भी विप्लव को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करती है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि विप्लव का स्वरूप राष्ट्रीय था। किन्तु यह भी सत्य है कि आज के मापदण्ड के अनुसार उस समय तक राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ था। डॉ. आर. सी. मजूमदार का कहना है कि इस विप्लव को राष्ट्रीय युद्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि नागरिकों का विद्रोह अत्यन्त ही सीमित क्षेत्र में था। देश का अधिकांश भाग तो इसमें सम्मिलित ही नहीं हुआ था तथा अधिकांश देशी नरेशों ने विप्लव को दबाने में अंगेजों का साथ दिया था। सिक्ख और गोरख सेना ने तो अंग्रेजों की भरपूर सहायता की थी। शिक्षित भारतीयों ने भी इस विप्लव में भाग नहीं लिया। विप्लव काल में हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जबकि भारतीयों ने अपना स्वयं का जीवन खतरे में डालकर अंग्रेज स्त्रियों, पुरुषों व बच्चों की रक्षा की थी। इन्हीं तथ्यों का हवाला देते हुए डॉ. मजूमदार लिखते हैं कि यह विद्रोह न तो राष्ट्रीय था और न स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम था।

विद्रोह के स्वरूप की समीक्षा—उपर्युक्त मत-मतान्तरों से स्पष्ट है कि विद्रोह के स्वरूप के सम्बंध में विभिन्न परस्पर विरोधी मत हैं। अतः किसी एक मत को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना अनुचित होगा। विद्रोह का सही स्वरूप समझने के लिये हमें विश्व की अन्य क्रान्तियों के सम्बंध में कुछ महत्वपूर्ण बातें समझनी होगी। किसी भी क्रान्ति का स्वरूप केवल उस क्रान्ति के आरम्भ करने वालों के लक्ष्यों से निर्धारित नहीं हो सकता बल्कि उस क्रान्ति ने अपनी छाप क्या छोड़ी, इससे क्रान्ति का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। 1688 में इंगलैंड में हुई क्रान्ति को गौरवपूर्ण कहा जाता है। वास्तव में उसमें गौरवपूर्ण कुछ भी नहीं था बल्कि क्रान्ति के बाद इंगलैंड में स्थापित प्रजातंत्र अधिक महत्वपूर्ण था। 1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति का आरम्भ सामन्ती वर्ग द्वारा राजा की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाने के फलस्वरूप हुआ था; किन्तु इतिहास में इस क्रान्ति को राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र का जनक मानते हैं। अतः 1857 के विप्लव का स्वरूप निर्धारित करते

समय हमें यह देखना होगा कि इस संघर्ष में भाग लेने वालों का दृष्टिकोण क्या था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अंग्रेजों को काफिर और फिरंगी कहते थे और उन्हें भारत से निकालना चाहते थे। सारे भारत में अंग्रेज विरोधी भावनाएं स्पष्ट थी। सभी विद्रोहियों का तथा जनसाधारण का एक ही लक्ष्य था कि अंग्रेजों को भारत से निकालना। इससे बढ़कर स्वतन्त्रता संघर्ष के लिये और लक्ष्य हो भी क्या सकता है। डॉ. मजूमदार एक स्थान पर स्वीकार करते हैं कि कुछ स्थानों पर जनता ने इसमें भाग लिया था। यदि कुछ स्थानों पर जनता ने भाग लिया था तो अन्य स्थानों पर जनता का नैतिक समर्थन प्राप्त था। मध्य भारत का विद्रोही नेता तांत्या टोपे जहां भी गया, जनता ने उसका हार्दिक स्वागत किया तथा उसे रसद आदि प्रदान की। यह जनता का नैतिक समर्थन नहीं तो और क्या था? इसके विपरीत अंग्रेज अधिकारी जहां भी गये, जनता ने उन्हें धिक्कारा व गालियां दी। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों के विरुद्ध सर्वव्यापी रोष था। इसके अतिरिक्त साहित्य समाज का दर्पण होता है। यदि हम तात्कालिक साहित्य पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का साहित्य भी अंग्रेज विरोधी भावना प्रदर्शित करता है। जिन लोगों ने विप्लव में भाग लिया अथवा विप्लवकारियों को शरण एवं सहायता दी, उनकी प्रशंसा में गीतों की रचना की गई। जिन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया उन्हें कायर कहा गया। जनता की इन भावनाओं को राष्ट्रीय न कहा जाय तो और क्या कहा जा सकता है? जहां तक विद्रोह में सक्रिय भाग लेने का प्रश्न है, महात्मा गांधी के स्वतन्त्रता आन्दोलन में क्या भारत की समस्त 40 करोड़ जनता ने भाग लिया था? क्या उस समय भी कोई अंग्रेज भक्त नहीं था? ये सभी बातें तो हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी मिलती है। किन्तु मूल बात तो यह है कि किसी संघर्ष में जन-भावना क्या थी? 1857 के संघर्ष में निसन्देह जनभावना अंग्रेजों के विरुद्ध थी। अतः डॉ. मजूमदार का यह कथन है कि सामान्य जनता का दृष्टिकोण अंग्रेजों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था, सत्य प्रतीत नहीं होता। डॉ. ताराचन्द ने स्वीकार किया है कि विद्रोहियों को संगठित करने वाला एक मात्र तत्व विदेशी शासन को समाप्त करने की भावना थी। डॉ. सेन ने भी लिखा है कि जो संघर्ष धर्म की रक्षा के लिये आरम्भ हुआ था उसका अन्त स्वतंत्रता संघर्ष के रूप में हुआ। अतः इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 1857 का विप्लव विदेशी शासन को समाप्त करने के लिये हुआ था।

कुछ इतिहासकारों ने इस विद्रोह को महत्वहीन सिद्ध करने के लिये मत प्रकट किया है कि यह विद्रोह बहुत ही कम क्षेत्र में फैला। किन्तु तथ्य यह है कि बंगाल, पंजाब व दक्षिणी भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर भारत के सभी प्रमुख स्थानों पर विद्रोह हुआ था और इतना व्यापक विद्रोह पहले कभी नहीं हुआ था। यदि सम्पूर्ण भारत में यह विद्रोह नहीं फैला तो इसका मुख्य कारण देश की

भौगोलिक विशालता तथा यातायात की सुविधाओं का न होना था। किन्तु इससे विप्लव के राष्ट्रीय स्वरूप को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

विप्लव की असफलता के कारण

अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिये 1857 में जो संघर्ष हुआ, उसकी असफलता तो पूर्व निश्चित थी। इसकी असफलता के लिये पांच प्रमुख कारण बताये जाते हैं—(1) मेरठ का विद्रोह (2) सिक्खों व गोरखों की गद्दारी (3) दक्षिण भारत की उदासीनता (4) नरेशों का असहयोग (5) योग्य नेता का अभाव। पी. ई. राबर्ट्स ने दो और अन्य कारण बताये हैं—केन्द्रीभूत विद्रोह तथा केनिंग की उदारता। डॉडवेल ने इसमें एक कारण और जोड़ा है—संगठन का अभाव। समग्र रूप से इस विप्लव की असफलता के निम्न कारण थे—

(1) मेरठ का विद्रोह—विद्रोह की पूर्व योजनानुसार 31 मई 1857 का दिन सम्पूर्ण भारत में एक साथ विद्रोह करने हेतु तय किया गया था, किन्तु दुर्भाग्य से 29 मार्च 1857 को ही मंगल पाण्डे ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। यह समाचार तत्काल मेरठ पहुंचा और 10 मई 1857 को मेरठ में भी विद्रोह हो गया। वास्तव में निश्चित समय से पूर्व विद्रोह करके विद्रोह की योजना का तार तोड़ दिया गया। इस प्रकार अपरिपक्व अवस्था में विद्रोह आरम्भ करने से असफलता तो निश्चित ही थी। जैसा कि मेलीसन ने लिखा है, "यदि पूर्व निश्चय के अनुसार 31 मई 1857 को एक साथ सभी स्थानों पर स्वाधीनता का व्यापक और महान् संग्राम प्रारम्भ हुआ होता तो कम्पनी के अंग्रेज शासकों के लिये भारत को फिर से विजय कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव न होता।"

(2) सिक्खों व गोरखों की गद्दारी—राजपूत, सिक्ख व गोरखे अपनी वीरता के लिये विश्वविख्यात थे। कुछ इने-गिने स्थानों को छोड़कर राजपूतों ने विद्रोह के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की। सिक्खों ने भी ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन करना ही उचित समझा। सिक्ख, बंगाल सेना से, जिसने पंजाब विलय के समय अंग्रेजों को साथ दिया था, प्रतिशोध लेना चाहते थे अथवा वे मुगल सम्राट का, जिसने गुरु तेग बहादुर को मरवाया था, समर्थन करने को तैयार नहीं थे। अतः वे अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे। सिक्खों ने दिल्ली और लखनऊ जीतकर क्रान्ति की कमर ही तोड़ दी। यदि पटियाला, नाभा व भिन्द ने ठीक समय पर अंग्रेजों की मदद नहीं की होती तो क्रान्ति का स्वरूप ही कुछ और होता। इसी प्रकार गोरखों ने अपने सेनापति जंग बहादुर की अधीनता में अवध पर आक्रमण कर अंग्रेजों की मदद की तथा भारतीयों से गद्दारी कर क्रान्ति को असफल बना दिया।

(3) योग्य नेताओं का अभाव—विद्रोह को ठीक तरह से संचालित करने वाला कोई योग्य नेता नहीं था। यद्यपि विद्रोहियों ने बूढ़े बहादुरशाह को अपना नेता मान लिया था, लेकिन बूढ़े बहादुरशाह से सफल सैन्य संचालन एवं नेतृत्व की

आशा करना दुराशा मात्र थी। प्रमुख नेता नाना साहब चतुर अवश्य था, किन्तु वह सैन्य संचालन में निपुण नहीं था। तांत्या टोपे का चरित्र उच्च था, किन्तु उसमें सैनिक योग्यता नहीं थी। सर्वाधिक योग्य नेताओं में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई तथा जगदीशपुर का जमींदार कुंवरसिंह थे। रानी लक्ष्मीबाई वीर होते हुए भी अनुभवहीन थी तथा उसका कार्यक्षेत्र सीमित था। कुंवरसिंह भी वीर था लेकिन पूर्णतया वृद्ध था तथा सभी उसे नेता मानने को तैयार न थे। फिर केवल व्यक्तिगत साहस ही युद्ध में सफलता दिलवाने के लिये पर्याप्त नहीं होता। नाना साहब, लक्ष्मी बाई, कुंवरसिंह और बहादुरशाह मिलकर कार्य नहीं कर सके। इस प्रकार विद्रोह का कोई ऐसा योग्य नेता नहीं था, जो योग्यतानुसार सबको संगठित कर संघर्ष को सफलता के द्वार तक पहुंचा सके।

(4) **नरेशों का असहयोग**—प्रायः सभी भारतीय नरेशों ने विद्रोह का दमन करने में अंग्रेजों का साथ दिया। सिन्धिया के मंत्री दिनकरराव तथा निजाम के मंत्री सालारजंग ने अपने अपने राज्य में क्रान्ति को फैलने नहीं दिया। राजपूताना के नरेशों ने भी अंग्रेजों की भरपूर सहायता की। विद्रोह काल में स्वयं केनिंग ने कहा था कि, "यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाय तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना पड़ जाय।" इसी प्रकार मैसूर का राजा, पंजाब में सिक्ख सरदार, मराठे और पूर्वी बंगाल आदि के शासक भी शान्त रहे। यदि ये सभी मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध व्यूह रचना करते तो अंग्रेजों को अपनी जान के लाले पड़ जाते। इसके अलावा जिन नरेशों ने तथा सामन्तों ने क्रान्तिकारी रुख अपनाया वे भी अलग अलग अपने क्षेत्रों में अंग्रेजों से लड़ते रहे। फलस्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें एक एक करके अलग अलग परास्त कर दिया।

(5) **दक्षिण भारत की उदासीनता**—यह विद्रोह सीमित, स्थानीय और असंगठित माना जाता है। नर्मदा का दक्षिणी भाग पूर्णतः शान्त रहा तथा सिन्ध और राजपूताना में कोई विशेष संघर्ष नहीं हुआ। यदि उत्तर भारत के साथ साथ दक्षिण भारत भी विद्रोह में कूद पड़ता तो इतने विशाल क्षेत्र में फैले विद्रोह को दबाना असम्भव हो जाता। विद्रोह के प्रमुख केन्द्र बिहार, अवध, रुहेलखण्ड, चम्बल तथा नर्मदा के मध्य की भूमि एवं दिल्ली ही थे। अतः अंग्रेजों ने दक्षिण से सेनाएं बुला ली तथा विद्रोही क्षेत्रों पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करली। अंग्रेजों को बहुत ही सीमित क्षेत्र में विद्रोह का सामना करना पड़ा। इस प्रकार दक्षिण भारत की उदासीनता अंग्रेजों के लिये वरदान सिद्ध हुई। इसीलिये अंग्रेज, निजाम और सिन्धिया का नाम कृतज्ञता से लेते रहे।

(6) **नागरिकों का असहयोग**—वस्तुतः मोटे तौर पर यह विद्रोह कुछ नरेशों, जागीरदारों एवं सैनिकों तक ही सीमित था। जनता की सक्रियता नगण्य थी। भारत की अधिकांश जनता कृषक थी और यहां कोई भी विद्रोह इस वर्ग की

उपेक्षा करके सफल नहीं हो सकता था। किन्तु विद्रोहियों ने किसानों का सहयोग प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। इस प्रकार यह क्रान्ति जन-क्रान्ति नहीं बन सकी। जो लोग संघर्ष कर रहे थे वे अंग्रेजों द्वारा सताये गये थे तथा अपने स्वार्थों से वशीभूत होकर लड़ रहे थे। ऐसी स्थिति में विद्रोहियों के लिये अंग्रेजों के साथ दीर्घ काल तक संघर्ष करना असम्भव था। विद्रोही मुख्यतः पुरानी व्यवस्था के समर्थक थे तथा सामन्तवादी अधिकारों की रक्षा करने के उद्देश्य से लड़ रहे थे। इसलिये किसानों को अपनी ओर मिलाने की कोई चेष्टा नहीं की। अतः उनका असफल होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त विप्लवकारियों ने लूट-पाट मचाकर तथा जन साधारण को कष्ट देकर उनकी सहानुभूति भी खो दी। जेलों को तोड़ने से पेशेवर चोर और लुटेरे कैदी बाहर निकल आये, जिससे चारों ओर अराजकता फैल गई। अतः अधिकांश जनता विद्रोहियों से नाराज हो गयी और जो लोग संघर्ष कर रहे थे उनमें अंग्रेजों को परास्त करने की क्षमता नहीं थी।

इस क्रान्ति को शिक्षित लोगों का सहयोग भी प्राप्त नहीं हुआ, जबकि उनका सहयोग अनिवार्य था। इस विप्लव के दो पहलू थे—एक ओर तो इससे स्पष्ट हो रहा था कि भारत के ऊपरी शान्त वातावरण के तले जन विद्रोह की कितनी विराट शक्तियां जन्म ले रही हैं। लेकिन दूसरी ओर इस विद्रोह पर दकियानूसी और सामन्तवादी शक्तियों की छाप थी। विद्रोह के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप के कारण इसे शिक्षित और जागरूक वर्ग का समर्थन नहीं मिल सका। इसके विपरीत अंग्रेज राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये लड़ रहे थे। अतः विद्रोहियों का असफल होना स्वाभाविक था।

(7) **केन्द्रीय संगठन का अभाव**—यद्यपि विद्रोह आरम्भ होने से पूर्व कुछ संगठन अथवा योजना अवश्य थी किन्तु विद्रोह आरम्भ हो जाने के बाद योजना का क्रमबद्ध रूप दिखाई नहीं देता और न ही कोई केन्द्रीय संगठन योजना के संचालन के लिये उत्तरदायी था। विद्रोही सेनाओं के दिल्ली पहुंचने तक तो किसी पूर्व निश्चित योजना का स्वरूप दिखाई देता है, किन्तु बाद में वह समाप्त सा दिखाई देता है। सम्पूर्ण विद्रोह तो केन्द्रीभूत था अर्थात विद्रोह मध्य उत्तर भारत के आस-पास क्षेत्रों तक सीमित था, किन्तु कोई केन्द्रीय संगठन भी होना चाहिये था, जो अंग्रेजों की गतिविधियों को ध्यान में रखकर सभी क्षेत्रों के विद्रोहों में समन्वय स्थापित कर सके। जैसे झांसी और बुन्देलखण्ड में विद्रोह उस समय आरम्भ हुआ जब दिल्ली और कानपुर में अंग्रेजों को सफलता प्राप्त हो चुकी थी। विद्रोह न तो देशव्यापी था, न जन-विद्रोह था और न विद्रोह के संचालन के लिये केन्द्रीय संगठन था। ऐसे विद्रोह को असफल करना अंग्रेज जैसे कूटनीतिज्ञों के लिये असम्भव कार्य न बन सका।

(8) **लार्ड केनिंग की उदारता**—तात्कालिक गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग की उदारता भी विद्रोहियों को शान्त करने में सफल हुई। यद्यपि कुछ अंग्रेजों ने केनिंग की उदार नीति की बड़ी आलोचना की थी तथा क्रान्ति का दमन करने में अपनी पाशविक प्रवृति का परिचय देते रहे, किन्तु केनिंग ने स्पष्ट घोषणा की कि जो हथियार डाल देगा उसके साथ न्याय होगा तथा हिंसा करने वालों को छोड़कर सभी को माफ कर दिया जायेगा। उसने यह भी कहा कि बिना जांच के किसी को दण्ड नहीं दिया जायेगा। इस घोषणा का व्यापक प्रभाव पड़ा, मानो जलते हुए अंगारों पर पानी डाल दिया हो। केनिंग की इस उदार नीति से धीरे धीरे व्यवस्था स्थापित होने लगी। पी. ई. रार्बट्स ने लिखा है कि, "उसकी नम्रता न केवल नैतिक रूप से विस्मयकारी थी, वरन् राजनैतिक रूप से औचित्यपूर्ण थी।"

(9) **ठोस लक्ष्य का अभाव**—विप्लवकारियों में जहां नेतृत्व का अभाव था, वहां ठोस लक्ष्य का भी अभाव था। भारतीय सैनिकों ने चरबी वाले कारतूसों से तथा अपनी असुविधाओं के कारण विद्रोह किया था और वह भी पूर्व निश्चित समय से पहले। मुसलमान जहां मुगल सम्राट के प्राचीन गौरव को पुनर्जीवित करना चाहते थे, वहां हिन्दू नाना साहब और रानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में हिन्दू सर्वोच्चता की पुनः स्थापना चाहते थे। फलस्वरूप हिन्दू-मुसललानों में साम्य नहीं था। सिक्खों ने तो अपने परम्परागत शत्रु मुसलमानों से जमकर बदला लिया। सम्पूर्ण विद्रोह काल में अंग्रेज विरोधी भावना के अतिरिक्त कोई सामान्य उद्देश्य या आदर्श नहीं था। अंग्रेजी शासन को समाप्त करने का अर्थ उन्होंने कुछ अंग्रेज अधिकारियों को समाप्त कर देना समझा। वे यह नहीं समझ सके कि कुछ अंग्रेजों को समाप्त कर देने से ही अंग्रेजी सत्ता समाप्त नहीं हो सकती। फलस्वरूप कुछ अंग्रेजों की हत्या करने में उन्होंने समस्त अंग्रेजों को भारत से खदेड़ने का लक्ष्य ही भुला दिया। यह तथ्य ही उनकी असफलता के लिये उत्तरदायी था।

(10) **अंग्रेजों की अनुकूल परिस्थितियां**—यदि 1857 का विप्लव कुछ समय पूर्व हुआ होता तो अंग्रेजों को भारत से भागना पड़ता। किन्तु जिस समय विद्रोह आरम्भ हुआ तब तक परिस्थितियां अंग्रेजों के अनुकूल हो गयी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं भी अब समाप्त हो चुकी थी। क्रीमिया युद्ध समाप्त हो चुका था, भारत के देशी नरेश, सामन्त तथा बुद्धिजीवी अंग्रेजों का समर्थन कर रहे थे। डलहौजी के सुधारों के परिणामस्वरूप सेना के पास रसद आदि भेजने हेतु यातायात का अच्छा प्रबन्ध हो चुका था और सैनिक समाचार भेजने हेतु संचार व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। इन परिस्थितियों में अंग्रेजों के लिये विद्रोह का दमन करना संभव हो गया।

(11) **सीमित साधन**—विद्रोहियों के पास साधन अंग्रेजों की अपेक्षा अत्यन्त ही सीमित थे। विद्रोहियों के पास त्याग और बलिदान की भावना वाले

सैनिक थे, किन्तु उनका रणकौशल अंग्रेजों जैसा नहीं था । अंग्रेजों के पास यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित सैनिक थे, जो रणनीति एवं कूटनीति में दक्ष थे, जबकि विद्रोही केवल मरना जानते थे, लड़ना नहीं। उन्हें तो आर्थिक असुविधाओं का भी सामना करना पड़ा, क्योंकि क्रान्तिकारियों को प्रारम्भ में तो कुछ सेठों ने सहायता दी तथा सरकारी खजाना लूटकर उन्होंने अपना काम चलाया, किन्तु आगे चलकर विद्रोहियों को धन, रसद और हथियारों की कमी का सामना करना पड़ा। इसके विपरीत अंग्रेजों की सहायता के लिये अधिकांश भारतीय नरेश और पंजाब, बंगाल, मद्रास, बम्बई आदि का राजस्व उपलब्ध था । इंगलैंड के उद्योगों से पर्याप्त सैन्य सामग्री भी उपलब्ध हो रही थी। अंग्रेजों के पास कुशल और योग्य सेनापति थे जो हर दृष्टि से क्रान्तिकारियों से बढ़ चढ़ कर थे। इस प्रकार सीमित साधनों के कारण क्रान्ति अधिक समय तक नहीं चलायी जा सकी और अंग्रेजों ने क्रान्ति का शीघ्र दमन कर दिया ।

विप्लव के परिणाम

यद्यपि 1857 का विप्लव असफल रहा, किन्तु इसके परिणाम अभूतपूर्व, व्यापक और स्थायी सिद्ध हुए। इतिहासकार ग्रिफिन ने लिखा है, "भारत में सन् 1857 की क्रान्ति से अधिक महत्वपूर्ण घटना कभी नहीं घटी।" रशब्रुक विलियम के अनुसार, "एक रक्त की नदी ने, कम से कम उत्तरी भारत में तो जातियों को अलग अलग कर दिया तथा उस पर पुल बांधना एक कठिन कार्य ही था।" डॉ. मजूमदार ने भी लिखा है कि, "सन् 1857 का महान विस्फोट भारतीय शासन के स्वरूप और देश के भावी विकास में मौलिक परिवर्तन लाया।" अतः इन कथनों के आधार पर क्रान्ति के परिणामों पर विचार करना समीचीन होगा ।

(1) **कम्पनी शासन का अन्त**—1600 ई. में भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई थी तथा अब तक हर बार 20 वर्ष बाद चार्टर एक्ट्स द्वारा उसकी अवधि में बढ़ोतरी होती रही थी । किन्तु विद्रोह का महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि 2 अगस्त 1858 को ब्रिटिश संसद ने एक अधिनियम पारित कर भारत में कम्पनी शासन का अन्त कर दिया तथा ब्रिटिश भारत का प्रशासन ब्रिटिश ताज ने ग्रहण कर लिया। पिट्स इण्डिया एक्ट द्वारा जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल स्थापित किया गया था, उसे तथा बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स समाप्त कर दिये गये। इनके स्थान पर भारत मंत्री या भारत सचिव उसकी सहायता के लिये 15 सदस्यों की एक इण्डिया कौंसिल बनायी गई। कम्पनी द्वारा भारत में किये गये सभी समझौतों को मान्यता प्रदान की गई। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को ब्रिटिश भारत में गवर्नर जनरल के नाम से पुकारने तथा देशी राज्यों से सम्बंध स्थापित करते समय उसे वायसराय के नाम से पुकारने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार विद्रोह के फलस्वरूप जो परिवर्तन किये गये उससे नये युग का सूत्रपात हुआ ।

(2) **महारानी का घोषणा पत्र**—विद्रोह के कारण जन साधारण में एक अनिश्चितता उत्पन्न हो गयी थी तथा विद्रोह से पूर्व कम्पनी ने भारतीय जनता के प्रति कोई निश्चित नीति एवं सिद्धान्तों को नहीं अपनाया था। अतः विप्लव के बाद जनता के प्रति निश्चित नीति एवं सिद्धान्तों की घोषणा के लिये इलाहाबाद में बड़ी धूमधाम से एक दरबार का आयोजन किया गया, जिसमें लार्ड केनिंग ने महारानी के घोषणा पत्र को पढ़कर सुनाया (1 नवम्बर 1858)। इस घोषणा पत्र की प्रमुख बातें निम्न थीं:—

(1) भारत में जितना अंग्रेजों का राज्य है उसके विस्तार की अब कोई इच्छा नहीं है। भविष्य में राज्य विस्तार नहीं किया जायेगा।

(2) देशी नरेशों व नवाबों के साथ जो सन्धियां, समझौते और प्रबन्ध हुए हैं, उनका ब्रिटिश सरकार सदैव आदर करेगी तथा उनके अधिकारों की रक्षा करेगी।

(3) धार्मिक सहिष्णुता एवं स्वतन्त्रता की नीति का अवलम्बन किया जायेगा।

(4) भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार किया जायेगा तथा उनके कल्याण के लिये कार्य किये जायेंगे।

(5) प्राचीन रीति-रिवाजों, सम्पत्ति आदि का संरक्षण किया जायेगा।

(6) सभी भारतीयों को निष्पक्ष रूप से कानून का संरक्षण प्रदान किया जायेगा।

(7) बिना किसी पक्षपात के शिक्षा, सच्चरित्रता और योग्यतानुसार सरकारी नौकरियां प्रदान की जायेगी।

(8) उन सभी विद्रोहियों को क्षमादान मिलेगा जिन्होंने किसी अंग्रेज की हत्या नहीं की है।

महारानी की इस घोषणा को भारतीय स्वतन्त्रता का मेग्नाकार्टा कहा गया, यद्यपि इस घोषणा की बहुत सी बातों को कभी लागू नहीं किया गया। किन्तु यह घोषणा 1919 तक भारतीय शासन की आधारशिला बनी रही। इस घोषणा ने भारत के देशी नरेशों के संदेह को दूर कर दिया तथा भारतीय नरेशों को सनदें देकर उनके गोद लेने के अधिकार की पुनः स्थापना की गई। सर जॉन स्टीफन ने लिखा है, "विक्टोरिया का घोषणा पत्र केवल दरबार में सुनाये जाने के लिये था। यह कोई सन्धि नहीं थी, जिसके अनुसार कार्य करने के लिये अंग्रेजों पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व हो। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस उद्देश्य से यह घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया था, उसकी पूर्ति अवश्य हुई। भारत की भोलीभाली जनता पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

(3) **सेना का पुनर्गठन**—1857 के विप्लव का विस्फोट सैनिक विप्लव के रूप में हुआ था, अतः सेना का पुनर्गठन आवश्यक था। अंग्रेजों को अब भारतीय सेना पर बिल्कुल विश्वास नहीं रहा, अतः अंग्रेज सैनिकों की इतनी विशाल सेना रखने का निर्णय लिया गया कि भविष्य में होने वाले विद्रोहों का दमन कर सके। तोपखाना पूर्णतया यूरोपियन सैनिकों के हाथ में रखा गया। भारतीय सैनिकों की संख्या आधी कर दी गई तथा भारतीय सैनिकों के पुनर्गठन में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता आदि के तत्वों को ध्यान में रखा गया। भारतीयों को गोरखे, पठान, डोगरे, राजपूत, सिक्ख, मराठे आदि में बांट दिया गया। इन सैनिकों को अपने स्थानीय क्षेत्रों से हटाकर दूर दूर क्षेत्रों में भेज दिया गया ताकि स्थानीय लोगों के सहयोग से वे पुनः विद्रोह न कर सकें। भारतीय सैनिकों को घटिया किस्म के हथियार दिये गये। भारतीय सैनिकों का पुनर्गठन इस प्रकार किया गया कि उनमें राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न न हो सके। सैनिकों की भर्ती के लिये एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज सैनिकों की संख्या 1859 में 45,322 से बढ़कर 1862 में 91,897 हो गयी। इसके अतिरिक्त भारतीय खर्चे पर इंगलैंड में 16,427 सैनिक रखे गये जो संकट के समय काम आ सके।

(4) **साम्प्रदायिकता एवं घृणा की उत्पत्ति**—1857 के संघर्ष में हिन्दू मुसलमानों ने संयुक्त रूप से भाग लिया था, किन्तु मुसलमानों ने हिन्दुओं से अधिक उत्साह दिखाया। अतः अब अंग्रेजों ने हिन्दुओं का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया, जिससे हिन्दू और मुसलमानों में दरार उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का पालन जारी रखा जिससे दोनों जातियों में वैमनस्य पैदा हो गया और दोनों की एकता मात्र स्वप्न रह गई। यह वैमनस्यता हमारे भावी राष्ट्रीय आन्दोलन में बाधक सिद्ध हुई जिसका अंतिम परिणाम देश का विभाजन हुआ। आगे चलकर तो अंग्रेजों ने हिन्दुओं को अनुसूचित जातियों से भी पृथक कर दिया। अंग्रेजों की इस नीति के कारण भारतीय-भारतीय के बीच खाई उत्पन्न गई।

विप्लव के बाद अंग्रेजों व भारतीयों के सम्बंध भी कटु हो गये और इस कटुता को अन्त तक नहीं मिटाया जा सका। दोनों के बीच कभी सौहार्द्र पूर्ण सम्बंध स्थापित न हो सके। फलस्वरूप शासक और शासितों के बीच खाई बनी रही। इस घृणा और अविश्वास का देश की राजनीति एवं शासन पर कुप्रभाव पड़ा।

(5) **प्रशासन के निम्न पदों पर भारतीय और उसके कुप्रभाव**—महारानी की घोषणा में यह आश्वासन दिया गया था कि बिना किसी पक्षपात के शिक्षा, सच्चरित्रता एवं योग्यतानुसार सरकारी नौकरियों में भारतीयों को स्थान

दिया जायेगा। किन्तु इसका पालन कभी नहीं किया गया। कोई भी भारतीय सैनिक रॉयल कमीशन के सामने जाने के लिये उपयुक्त नहीं समझा जाता था और यदि वह वायसराय का कमीशन प्राप्त भी कर लेता तो उसे एक नये अंग्रेज रंगरूट के मुकाबले अधिक योग्य नहीं समझा जाता था। अब प्रशासन में क्लर्कों तथा सहायकों के निम्न पदों पर लिया जाने लगा। ये सरकारी कर्मचारी ब्रिटिश अधिकारियों तथा जनता के बीच एक प्रकार से बिचौलिये थे और ये चापलूस थे। अंग्रेज यही चाहते थे कि ये लोग उनकी चापलूसी करे ताकि वे उनके आज्ञाकारी बने रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे सरकारी कर्मचारियों की सेवा वास्तविक सैन्य शक्ति से अधिक प्रबल सिद्ध हुई। इस वर्ग ने अंग्रेजों के प्रति पूर्ण वफादारी रखी, जो देश के लिये बड़ी विश्वासघाती सिद्ध हुई।

(6) **आर्थिक प्रभाव**—आर्थिक दृष्टि से भी विप्लव के कुप्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अंग्रेजों ने अब केवल ब्रिटिश पूंजीपतियों को भारत में पूंजी लगाने हेतु प्रोत्साहित किया तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान की गई। अब चाय, कपास, जूट, कॉफी, तम्बाकू आदि के व्यापार को बहुत बढ़ावा दिया गया, जो अंग्रेजों के नियंत्रण में थे। भारतीय उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। नई ईस्ट इण्डिया कॉटन कम्पनी स्थापित की गई जो भारत से रूई ले जाकर इंगलैण्ड से कपड़ा बनवा कर भारत भेजती थी। फलस्वरूप भारतीय उद्योगों की स्थिति दयनीय हो गयी और भारत का जमकर शोषण हुआ। यातायात के साधनों का विकास भी अंग्रेजों के लिये लाभप्रद रहा। इसके अतिरिक्त कम्पनी भारत सरकार पर 3 करोड़ 60 लाख पौंड का कर्ज छोड़ गई थी, जिसकी पूर्ति भारत सरकार अब भारतीयों का शोषण करके ही कर रही थी। अंग्रेजों के इस आर्थिक शोषण से देश निरन्तर गरीब होता गया।

(7) **भारतीयों को लाभ**—यद्यपि विद्रोह पूरी तरह से असफल रहा तथा इसके अनेक दुष्परिणाम भी निकले, किन्तु इस विद्रोह के कारण भारतीयों को अनेक लाभ भी हुए। विद्रोह के पश्चात सर्वप्रथम ब्रिटिश सरकार ने देश की आन्तरिक दशा ठीक करने का प्रयत्न किया तथा लोगों की भौतिक उन्नति के प्रयास आरम्भ हुए। भारतीय इतिहास में विप्लव के बाद से ही संवैधानिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसका सूत्रपात 1858 के अधिनियम से हुआ था। अधानिक विकास की प्रक्रिया का सूत्रपात होने से देश में प्रजातान्त्रिक शासन का बीजारोपण हुआ, जिसमें भारतीयों के हितों को ध्यान में रखकर शासन करने हेतु अधिनियम पारित किये गये। धीरे धीरे भारतीयों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलने लगा। शासन में भाग लेने से अब उनमें एक नयी चेतना आने लगी। यद्यपि 1857 में विदेशी शासन को समाप्त करने के प्रयास का दमन कर

दिया गया था, किन्तु इससे भारतीयों के मन में राष्ट्रीय भावना अत्यधिक तीव्र हो उठी, और इसी राष्ट्रीय भावना ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन किया तथा 1947 में विदेशी सत्ता की इतिश्री करदी।

1857 का विप्लव भारतीय इतिहास की प्रेरणादायक घटना है, जिसने प्रथम प्रहार में ही ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला दिया था। भविष्य में भी यह विप्लव भारतीयों को प्रेरणा देता रहा और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों के काल में 1857 के शहीदों को बड़े गौरव से याद किया गया। वस्तुतः अनेक इतिहासकार विद्रोह के द्वारा मध्य युग का अन्त तथा आधुनिक युग का प्रारम्भ मानते हैं।

अध्याय 11

केनिंग से कर्जन प्रशासनिक परिवर्तन और साम्राज्य का चरमोत्कर्ष

विप्लव की समाप्ति के बाद भारत में जो सैनिक एवं प्रशासनिक परिवर्तन किये गये उससे स्पष्ट हो जाता है कि 1857 के विप्लव का ब्रिटिश नीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा था। सैनिक पुनर्गठन के अन्तर्गत विभिन्न जाति के सैनिकों को अलग-अलग रेजीमेंटों में गठित करना तथा प्रशासकीय क्षेत्र में भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करना, परिवर्तित ब्रिटिश नीति के कुछ उदाहरण हैं। भारत का शिक्षित वर्ग निम्न पदों पर नियुक्ति से सन्तुष्ट नहीं था, बल्कि अपनी योग्यता के आधार पर प्रतियोगी परीक्षा के माध्यम से उच्च पद प्राप्त करने का इच्छुक था। विप्लव का सर्वाधिक प्रभाव भारतीयों व अंग्रेजों के पारस्परिक सम्बन्धों पर पड़ा था। अंग्रेज अपने आपको शत्रु क्षेत्र में शत्रुओं से घिरे हुए समझते थे। अतः ब्रिटिश प्रशासकों एवं राजनीतिज्ञों में दो विचारधाराएं प्रचलित हुई। प्रथम तो यह कि भारत में ब्रिटिश नीति एक सैनिक विजेता की भांति होनी चाहिये। भारतीयों के प्रति उदार नीति का अर्थ सरकार की दुर्बलता होगा। अतः प्रशासन पर अंग्रेजों का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। इस नीति को प्रतिक्रियावादी नीति कहा जाता था। दूसरी विचारधारा के अनुसार शिक्षित एवं योग्य भारतीयों को प्रशासन संचालन में भाग लेने का अवसर देना चाहिये, क्योंकि ऐसा न करने से ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व को पुनः खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस नीति को उदारवादी नीति कहा गया। पहली विचारधारा के लोग भारत में प्रजातीय भेद नीति के समर्थक थे, किन्तु दूसरी विचारधारा के लोग प्रजातीय भेद नीति को समाप्त करना चाहते थे। विप्लव के बाद ये दोनों विचारधाराएं अंग्रेजों की प्रशासनिक नीति को प्रभावित करती रही। 1858 से 1905 के मध्य 11 गवर्नर जनरल भारत आये और सभी किसी न किसी विचारधारा से अवश्य प्रभावित थे। किन्तु लार्ड रिपन और लार्ड कर्जन

इन दोनों विचारधाराओं का ज्वलंत प्रतिनिधित्व करते थे। अतः इस काल की ब्रिटिश नीति पर विचार करना समीचीन होगा।

प्रशासनिक परिवर्तन (1858–1880)

1773 में रेगुलेटिंग एक्ट पारित होने के समय से ही इंगलैंड में यह मांग प्रबल होती जा रही थी कि कम्पनी को क्राउन के अधीन कर दिया जाए। इसलिये 1773 के बाद विभिन्न अधिनियमों द्वारा कम्पनी पर क्राउन का नियन्त्रण बढ़ता गया। कम्पनी पर क्राउन के इस बढ़ते हुए नियन्त्रण से भी राजनीतिज्ञ सन्तुष्ट नहीं हुए और वे अब भारत का प्रशासन सीधा क्राउन के हाथों सौंपने की मांग करने लगे। क्योंकि उनका विचार था कि एक व्यापारिक कम्पनी द्वारा इतने विशाल साम्राज्य का प्रशासन चलाना समयानुकूल नहीं था। किन्तु कम्पनी के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए कम्पनी के संचालकों का कहना था कि कम्पनी की प्रशासनिक नीतियों पर क्राउन का पूरा नियन्त्रण है तथा कम्पनी द्वारा कार्यान्वित की गई नीतियों को क्राऊन ने पूर्व स्वीकृति दी थी। अतः कम्पनी के अस्तित्व को समाप्त करने का कोई औचित्य नहीं है। चूंकि कम्पनी की समस्त नीतियों पर क्राउन की पूर्व स्वीकृति ली गई थी, अतः 1857 के विप्लव का उत्तरदायित्व कम्पनी पर नहीं थोपा जा सकता था। फिर भी 1857 का विप्लव कम्पनी के अस्तित्व को समाप्त करने का कारण मान लिया गया। कम्पनी के अस्तित्व को समाप्त करते समय ब्रिटिश सरकार ने भारत की प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन करने पर बल दिया था। अतः 1857 के विप्लव के बाद प्रशासन में आमूलचूल परिवर्तन किये गये।

(1) **सैनिक प्रशासन**—विप्लव के पूर्व भारत में अंग्रेजी सेना के दो भाग थे। एक तो कम्पनी रेजीमेंट कहलाती थी, जिसमें सभी सैनिक भारतीय थे, किन्तु अफसर अंग्रेज थे। दूसरी क्वीन रेजीमेंट कहलाती थी, जिसमें सभी सैनिक व अफसर अंग्रेज थे। क्वीन रेजीमेंट के सैनिकों को वेतन व अन्य सुविधाएं कम्पनी रेजीमेंट से अधिक प्राप्त थी। लार्ड केनिंग (1857–1862) ने विप्लव का सफलतापूर्वक दमन किया था और अब वह सैनिक प्रशासन को इस प्रकार पुनर्गठित करना चाहता था जिससे भविष्य में पुनः खतरा उत्पन्न न हो सके। अतः केनिंग ने सेना के इस विभाजन को समाप्त कर दिया। यद्यपि क्वीन रेजीमेंट के सैनिकों ने इसका प्रबल विरोध किया, किन्तु केनिंग ने आदेश दे दिया कि जो भारत में नये संगठन में रहने के इच्छुक नहीं हैं वे वापिस इंगलैण्ड जा सकते हैं। केनिंग ने सेना के विभाजन को समाप्त कर सेना को तो एक कर दिया किन्तु सम्पूर्ण सेना को दस्तों में इस प्रकार व्यवस्थित किया कि कुछ सैनिक दस्ते पूर्ण रूप से अंग्रेज सैनिकों के रखे और कुछ पूर्ण रूप से भारतीय सैनिकों के रखे। भारतीय सैनिकों के दस्तों को भी इस प्रकार व्यवस्थित किये कि राजपूतों, सिक्खों, गोरखों, मराठों आदि के दस्ते अलग-अलग कर दिये अर्थात भारतीय

सैनिकों का दस्तों में गठन जातिगत आधार पर किया गया। अंग्रेज सैनिक दस्तों का वेतन, अधिकार, सुविधाएं पेन्शन आदि भारतीय सैनिक दस्तों से अधिक देना तय किया। केनिंग द्वारा किया गया यह पुनर्गठन पूर्णतः प्रतिक्रियावादी था। क्योंकि जो भेद इस पुनर्गठन के पूर्व एक अंग्रेज और दूसरे अंग्रेज के मध्य था, उसे तो समाप्त कर दिया, किन्तु भारतीयों और अंग्रेजों के बीच एक गहरी खाई तैयार करदी थी।

केनिंग के बाद लार्ड एलगिन (1862–63) केवल 18 महीने गवर्नर जनरल के पद पर कार्य कर सका। तत्पश्चात सर जॉन लारेन्स (1864-69) ने भी प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण करते हुए सेना का पुनर्गठन करना चाहा। वह भारतीय सैनिकों को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। अतः वह भारतीयों को पुराने तथा अंग्रेजों को आधुनिकतम हथियार देने के पक्ष में था। लारेन्स शक्ति के केन्द्रीयकरण में विश्वास रखता था, अतः उसने पुलिस को भी सेना का अंग मानकर उसे केन्द्रित करने का प्रयास किया। लारेन्स ने सैनिक प्रशासन सम्बन्धी अपने ये सिफारिशें लन्दन में स्थित भारत सचिव के पास भेजी, किन्तु भारत सचिव ने उसकी इस प्रतिक्रियावादी नीति का विरोध किया। अतः उसे सफलता नहीं मिली और केनिंग द्वारा स्थापित सैनिक प्रशासनिक व्यवस्था ही चलती रही।

(2) **प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण** 1833 के चार्टर द्वारा प्रशासनिक मामलों में केन्द्रीयकरण लागू किया गया था। गवर्नर जनरल को भारत के सभी प्रदेशों की सरकारों के सैनिक, असैनिक तथा राजस्व सम्बन्धी मामलों में आदेश, निगरानी और नियन्त्रण करने के अधिकार दिये गये। प्रान्तीय सरकार का कोई सदस्य गवर्नर जनरल की आज्ञा का उल्लंघन करने पर उसे निलम्बित किया जा सकता था तथा पद से हटाया जा सकता था। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा के अनुसार ही प्रान्तीय सरकारें टैक्स लगा सकती थी, इकट्ठा कर सकती थी और खर्च कर सकती थी। कानून बनाने की समस्त शक्ति केवल गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल को दी गई। किन्तु इस केन्द्रीयकरण की पद्धति के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई, क्योंकि भारत जैसे विशाल देश में केन्द्र के लिए प्रान्तीय प्रशासन की समस्याओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन था। वित्तीय मामलों में तो केन्द्र और प्रान्तों के मध्य टकराव पैदा हुआ। फलस्वरूप 1857 के विप्लव के बाद स्थानीय स्वायतता की मांग प्रबल हुई।

लार्ड डलहौजी के काल में 1853 का चार्टर एक्ट पारित हुआ जिसमें विधेयक सम्बन्धी कार्य करने के लिये गवर्नर जनरल की कौंसिल का विस्तार किया गया तथा लार्ड डलहौजी ने इस कौंसिल का संचालन संसदीय प्रणाली के आधार पर किया। फलस्वरूप कौंसिल में 6 गैर सरकारी सदस्य विरोधी दल की भांति सरकार

की कटु आलोचना किया करते थे। इस प्रणाली के कारण केनिग को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा।

1858 में कम्पनी शासन समाप्त करने के बाद उपर्युक्त व्यवस्था में परिवर्तन करने हेतु 1861 में इण्डियन कौंसिल्स एक्ट पारित किया गया, जिसमें प्रान्तों को कानून बनाने के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्रता दे दी गई। गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल के सदस्यों में कार्य विभाजित करने का अधिकार दे दिया गया। इस एक्ट के पूर्व समस्त प्रशासन एक कीली पर घूमता था, किन्तु अब शासन को अलग-अलग विभागों में बांटा गया तथा कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को अलग-अलग विभागों का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। कौंसिल के सदस्यों को अपने-अपने विभागों से सम्बन्धित मामलों में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार दिया गया। केवल नीति सम्बन्धी मामले ही गवर्नर जनरल के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे।

किन्तु इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी की निरंकुशता में वृद्धि कर 1853 में स्थापित संसदीय प्रणाली समाप्त कर दी गई। एक प्रतिक्रियावादी कार्य यह भी किया गया कि गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल की अनुमति के बिना ही अध्यादेश प्रसारित करने का अधिकार दे दिया गया। किन्तु प्रशासन के इस विकेन्द्रीयकरण से इतना लाभ अवश्य हुआ कि कुछ भारतीयों को ब्रिटिश प्रशासन से सम्बद्ध कर दिया गया, लेकिन उन्हें कार्यकारिणी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था।

(3) **भूमि व्यवस्था में परिवर्तन**—विप्लव का दमन करने के बाद केनिंग की यह निश्चित धारणा थी कि यदि भारतीय समाज के सभी वर्गों पर अविश्वास किया गया तो भारत में ब्रिटिश साम्राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः केनिंग ने भारतीय कुलीन वर्ग, राजाओं, जमींदारों व ताल्लुकेदारों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। भारतीय राजाओं का समर्थन प्राप्त करने के लिये उसने आगरा तथा लाहौर में दरबार आयोजित कर उन राजाओं को पुरस्कार दिये जिन्होंने विप्लव काल में अंग्रेजों का समर्थन किया था। ताल्लुकेदारों का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसने अवध के ताल्लुकेदारों को अपने-अपने तालुके में मुकदमे तय करने का अधिकार दे दिया। उनके बंगाल के जमींदारों को भी छोटे-छोटे मुकदमे सुनने का अधिकार दे दिया। इसी प्रकार पंजाब, मध्य प्रदेश तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में भी यही नीति लागू की गई।

केनिंग की इस नीति से भारतीय उच्च वर्ग का तो उसे समर्थन मिल गया, किन्तु बहुसंख्यक वर्ग किसानों का शोषण आरम्भ हो गया। इंगलैण्ड में भारत सचिव चाहता था कि भूमि व्यवस्था में किसानों के परम्परागत अधिकार सुरक्षित रखे जायं। किन्तु भारत में जमींदारों के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना अत्यन्त ही

कठिन था, क्योंकि भारत में कहीं पर जमींदार समर्थक तो कहीं पर किसान समर्थक विचारधारा मौजूद थी। ऐसी परिस्थितियों में 1859 में बंगाल का लगान एक्ट (Ban al Rent Act स्वीकृत किया गया, जिसके अन्तर्गत सभी किसानों को जो निरन्तर 12 वर्ष से किसी भूमि पर अधिकार किये हुए थे, उन्हें उस भूमि का अधिकारी स्वीकार कर लिया गया तथा किसानों द्वारा अपने जमीदारों को दिया जाने वाला लगान भी निश्चित कर दिया। इस निश्चित लगान में तब तक वृद्धि नहीं की जा सकती थी, जब तक कि कोई कानूनी अदालत इस बारे में जांच करके लगान वृद्धि की अनुमति न दे दे। जिन किसानों के पास 1793 से भूमि थी, उसका किराया किसी भी स्थिति में नहीं बढ़ाया जा सकता था।

यद्यपि इस एक्ट का उद्देश्य किसानों को लगान वृद्धि से बचाना था, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने जिस प्रकार इस एक्ट की व्याख्या की उससे एक्ट का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो गया। यद्यपि 1865 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को बहुमत से बदल दिया था, किन्तु जमींदारों ने इस एक्ट का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप किसानों में असंतोष बढ़ने लगा। अतः 1879 में एक किराया आयोग (Rent Commission) नियुक्त किया गया और इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर आगे चलकर 1885 में पुनः एक एक्ट स्वीकृत किया जिसमें 12 वर्षीय अधिकार की बड़ी उदार व्याख्या की गई। फिर भी मुकदमेबाजी का खर्च तथा अन्य परेशानियों के कारण किसान, जमींदार की लगान वृद्धि की मांग से सहमत हो ही जाता था।

केनिंग ने अवध के ताल्लुकेदारों का समर्थन प्राप्त करने के प्रयत्न में किसानों के हितों की उपेक्षा की थी। अतः वहां पर किसानों की समस्या और भी जटिल थी। 1860 के बाद रैय्यत से वसूल किये जाने वाले लगान में निरन्तर वृद्धि होती गई थी जिससे मुकदमेबाजी भी बढ़ गई थी। सर जॉन लारेन्स किसानों के हितों का समर्थक था। अतः उसने 1864 में डेवीज की अध्यक्षता में एक जांच आयोग नियुक्त किया। डेवीज और लारेन्स दोनों किसानों के हित में कोई नियम बनाना चाहते थे। किन्तु अवध का चीफ कमिश्नर विंगफील्ड ताल्लुकेदारों का समर्थक था। अतः 1866 में विंगफील्ड के चले जाने के बाद नये चीफ कमिश्नर जॉन स्ट्रेची के सहयोग से 1866 में अवध लगान अधिनियम (Oudh Rent Act) पास किया, जिसके अनुसार जो किसान 30 वर्षों से किसी भूमि पर अधिकार किये हुए था उसे भूमि पर अधिकार प्रदान कर दिया। ताल्लुकेदारों ने भी ऐसे किसानों से 12½ प्रतिशत लगान कम लेना स्वीकार कर लिया। इस एक्ट से केवल एक प्रतिशत किसानों को लाभ हुआ, शेष सभी किसानों को ताल्लुकेदारों की दया पर छोड़ दिया गया। अतः इस एक्ट द्वारा भी केवल ताल्लुकेदारों के हितों का ही पोषण हुआ। फलतः किसानों के असंतोष में वृद्धि होती गई। इस बढ़ते हुए असंतोष को दूर करने के लिये 1886

में एक अन्य अधिनियम पारित किया गया, लेकिन इससे भी किसानों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि ताल्लुकेदारों के अधिकारों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया गया था।

पंजाब में भूमि व्यवस्था संतोषजनक थी। किन्तु केनिंग की जमींदारों से समर्थन प्राप्त करने की नीति का प्रभाव पंजाब पर भी पड़ा। अवध में किसानों को अधिकार प्राप्त नहीं थे, अतः उन्हें अधिकार दिलवाने के प्रयत्न किये गये। किन्तु पंजाब में किसानों को अधिकार उपलब्ध थे, उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। अतः 1868 में पंजाब लगान एक्ट पारित किया गया, जिसमें कहा गया कि भूमि पर अधिकार प्राप्त किसानों को मुआवजा देकर उन्हें भूमि से बेदखल किया जा सकता था। जमींदारों को जो अधिकार पहले उपलब्ध नहीं था, वह अब प्रदान कर दिया गया।

(4) **वित्तीय प्रशासन**—1857 के विप्लव के कारण प्रशासनिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी तथा सरकार की वित्तीय स्थिति भी खराब हो गयी थी। फिर कम्पनी शासन समाप्त करने के साथ-साथ कम्पनी के ऋणों को चुकाने का दायित्व भी भारत सरकार को सौंपने का निर्णय लिया गया था। इससे सरकार की वित्तीय कठिनाइयां अत्यधिक बढ़ गई थी। अतः केनिंग के लिये आय के नये साधन ढूंढना आवश्यक था। केनिंग ने आयात कर, जो 3½ प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक वसूल किया जाता था, बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया। यद्यपि ब्रिटेन के उत्पादक वर्ग ने इसका कड़ा विरोध किया था। 1859–60 में व्यापार पर लाइसेंस कर तथा आय कर भी लगाये गये। आयकर 200 रुपये और 500 रुपये की आय पर 2 प्रतिशत तथा 500 रुपये से ऊपर 4 प्रतिशत लगाया गया। किन्तु इस आय-कर से अंग्रेज व्यापारी अधिक प्रभावित हुए। इंगलैण्ड के व्यापारियों ने आयात कर समाप्त करने की माँग की, किन्तु भारत सरकार ने आयात कर समाप्त करने की बजाय लाइसेन्स कर समाप्त कर दिया। सर जान लारेन्स के आने के पूर्व 1862 में आयकर भी समाप्त कर दिया गया था। लारेन्स आयकर को पुनः लागू करना चाहता था, किन्तु उसकी कौंसिल का बहुमत इसके पक्ष में नहीं था। अतः उसने सर्टिफिकेट टैक्स लगाया, जो अप्रत्यक्ष रूप से आयकर के समान ही था। 1869-70 में उसने लाइसेन्स कर तथा सर्टिफिकेट टैक्स के स्थान पर आयकर पुनः लगा दिया। लारेन्स के समय बंगाल, बम्बई व मद्रास में नमक कर की दर असमान थी। लारेन्स ने नमक कर की दर को समान स्तर पर लाने का सुझाव दिया, किन्तु उसकी कौंसिल के सदस्यों ने विरोध किया। अतः यह मामला भारत सचिव के पास भेजा। भारत सचिव ने मध्यम मार्ग निकाला। फलस्वरूप बंगाल में नमक कर की दर कम करदी तथा बम्बई व मद्रास में नमक कर की दर को बढ़ा दिया। 1864 में आयात कर

घटाकर 7½ प्रतिशत कर दिया तथा तम्बाकू पर लगे आयात कर को 20 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर दिया। 1866 में आय के साधनों में वृद्धि करने के लिये लारेन्स ने स्टाम्प कर लगाया, जिसके अनुसार प्रत्येक मुकदमे पर, जो न्यायालय में पेश किया जायेगा उस पर एक रुपये का स्टाम्प लगाया जायेगा। एक हजार रुपये के मुकदमे पर 10 प्रतिशत के हिसाब से स्टाम्प लगाये जायेंगे।

1833 के चार्टर एक्ट द्वारा वित्त का भी केन्द्रीयकरण कर दिया गया था अर्थात भारत में समस्त ब्रिटिश क्षेत्रों के वित्तीय संचालन का अधिकार गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल को सौंप दिया गया था। फलस्वरूप अब प्रान्तीय सरकारें गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना न तो कोई कर लगा सकती थी और न किसी प्रकार का व्यय कर सकती थी। प्रान्तों से प्राप्त राजस्व केन्द्रीय कोष में जमा होता था तथा प्रति वर्ष गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल द्वारा प्रान्तों को अनुदान स्वीकृत किया जाता था। प्रान्त द्वारा जितना धन मांगा जाता था, केन्द्र उससे कम की स्वीकृति देता था तथा प्रान्त द्वारा तुरन्त स्वीकृति चाहने पर भी समय पर स्वीकृति नहीं दी जाती थी। प्रान्तों में अब यह भावना आ गयी थी कि स्थानीय आवश्यकताओं के लिये अधिक अनुमानित व्यय का ब्यौरा यदि केन्द्र को भेजा जायेगा तो केन्द्र से अधिक अनुदान प्राप्त किया जा सकेगा। किन्तु जितना धन वे प्राप्त करते थे वह उनकी आवश्यकता से अधिक होता था। अतः आवश्यकतानुसार खर्च के बाद बचा हुआ धन भी हमेशा व्यर्थ के कार्यों में खर्च कर दिया जाता था। इससे मितव्ययता में कमी आ गयी थी।

केन्द्र सरकार अधिक राजस्व चाहती थी और प्रान्तीय सरकारें केन्द्र के वित्तीय नियंत्रण से मुक्त होना चाहती थी। अतः 1860 के बाद वित्त के विकेन्द्रीयकरण के प्रश्न पर विचार आरम्भ हुआ। अन्त में दिसम्बर 1870 में लार्ड मेयो (1869–71) ने रिचर्ड टेम्पल तथा स्ट्रेची की सहायता से वित्त का विकेन्द्रीयकरण कर दिया। इसके अनुसार कुछ विशेष विभागों के प्रशासन एवं राजस्व का दायित्व प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया। प्रान्तीय सरकारों को उस राजस्व मे से विभिन्न मदों पर व्यय करने की स्वतन्त्रता दे दी गई। यदि किसी वर्ष किसी प्रान्त के पास, धन खर्च करने के बाद कुछ धनराशि बच जायेगी तो वह केन्द्र को लौटायी नहीं जायेगी, बल्कि उसे अगले वर्ष खर्च करने का अधिकार प्रान्तीय सरकार का होगा। प्रान्तों को दी गई इस स्वायत्तता पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये। जैसे किसी भी स्तर के अधिकारियों व कर्मचारियों के पदों का सृजन एवं समाप्ति, वेतन वृद्धि तथा 250 रुपये मासिक से अधिक वेतन के किसी अधिकारी की नियुक्ति करने से पूर्व केन्द्र सरकार से अनुमति लेना आवश्यक था।

लार्ड मेयो के इस विकेन्द्रीयकरण का प्रमुख दोष यह था कि प्रान्तों को आय के कुछ साधन नहीं सौंपे गये थे। अतः लार्ड लिटन (1876–80) ने भूमिकर,

चुंगी, स्टाम्प, कानून व न्याय आदि से होने वाली आय प्रान्तों को सुपुर्द करदी। इन साधनों से होने वाली आय निश्चित करदी तथा निश्चित आय से अधिक धन प्राप्त होने पर उस अधिक धनराशि का आधा भाग केन्द्र को हस्तांतरित करना पड़ता था। इसके साथ ही यदि किसी प्रान्त को घाटा होता है तो घाटे की राशि का आधा भाग उन्हें केन्द्र से दिया जायेगा। किन्तु लिटन के इन सुधारों से भी विकेन्द्रीयकरण पूर्ण नहीं हुआ। अब भी केन्द्र के पास अधिक अधिकार थे। अतः वित्त के विकेन्द्रीयकरण के क्षेत्र में जो कमियां रह गई थी उन्हें आगे चलकर लार्ड रिपन ने काफी सीमा तक दूर किया।

(5) **भारतीय नागरिक सेवा**—1833 के चार्टर एक्ट की धारा 87 में कहा गया था कि, "उक्त राज्य क्षेत्र का कोई भी देशवासी और उसमें निवास करने वाली सम्राट की जन्मतः प्रजा का सदस्य केवल अपने धर्म, जन्म स्थान, वंश, रंग या इनमें से किसी के कारण, कम्पनी के अधीन कोई स्थान, पद या नियोजन धारण करने के अयोग्य न होगा।" इस धारा से यह स्पष्ट था कि, "अब से योग्यता ही पात्रता का मापदंड होगी।" वस्तुतः इस धारा का पालन कभी नहीं किया गया। बोर्ड ऑफ कंट्रोल की मौन सहमति से संचालकों ने चुपचाप चालाकी से ब्रिटिश संसद को धोखा देकर 1853 तक सभी नियुक्तियों पर अपना संरक्षण बनाये रखा। फलस्वरूप कम्पनी के अधिकारियों के, इंगलैंड के प्रतिष्ठित एवं सम्मानित अधिकारियों के तथा पादरियों के पुत्रों को ही नियुक्तियां दी गई। 1854 में मेकाले समिति ने कुछ सिफारिशें की जिनके अनुसार प्रतियोगिता परीक्षाओं के परिणाम के आधार पर ही सेवा में प्रवेश मिल सकता था। अतः 1855 में प्रतियोगिता परीक्षा आरम्भ हुई तथा 1858 में जब भारत का शासन सम्राट के अधीन हो गया, तब यह प्रतियोगिता प्रणाली 1858 के अधिनियम में सम्मिलित करली गई। इस अधिनियम के अनुसार भारत सचिव को सेवाओं में भर्ती करने का अधिकार प्राप्त हुआ। प्रतियोगिता परीक्षा लंदन में होती थी तथा सेवाओं में भर्ती की अधिकतम आयु 23 वर्ष थी। केनिंग ने यह अधिकतम आयु घटाकर 22 वर्ष करदी। 1861 में इंडियन सिविल सर्विस एक्ट पास कर सेवाओं का भारतीयकरण करने का प्रयास किया गया, किन्तु इससे भारतीयों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। 1864 में भर्ती की अधिकतम आयु पुनः घटाकर 21 वर्ष करदी तथा लार्ड लिटन ने 1876 में भर्ती के लिये अधिकतम आयु 19 वर्ष तथा निम्नतम आयु 17 वर्ष करदी।

अधिकतम आयु घटाने का परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक रूप से भारतीयों के लिये सेवाओं में प्रवेश करना प्रायः असंभव हो गया क्योंकि भारत जैसे देश में, जहां अंग्रेजी शिक्षा प्रचलित हुए केवल 40 वर्ष हुए थे, 19 वर्ष की आयु तक स्नातक की डिग्री प्राप्त करना ही कठिन था और डिग्री प्राप्त भी करली जाती

तो लंदन जाकर प्रतियोगिता परीक्षा में सम्मिलित होना साधारण भारतीय के लिये असंभव था। अतः आयु सीमा घटाने में ब्रिटिश सरकार की बेइमानी स्पष्ट दिखाई दे रही थी। वस्तुतः 19 वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में आयु सीमा घटाने से सम्बन्धित विषय, उस समय के समाचार पत्रों के चर्चा के विषय बन गये। ब्रिटिश सरकार की इस नीति के विरुद्ध शिक्षित वर्ग बड़ी सरलता से संगठित हो गया।

19 वीं शताब्दी में प्रशासन में दो प्रकार की सेवाएं थी। प्रथम संविदाबद्ध (Covenanted) तथा दूसरी असंविदाबद्ध (Uncovenanted)। संविदाबद्ध सेवाओं के कर्मचारियों को एक संविदा (Covenant) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे कि वे पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी से कार्य करेंगे। संविदाबद्ध सेवाओं की भर्ती लंदन में होती थी। इन सेवाओं में केवल अंग्रेज ही होते थे। असंविदाबद्ध सेवाओं की भर्ती भारत में की जाती थी और उन्हें किसी संविदा पर हस्ताक्षर नहीं करने पड़ते थे। ये सेवाएं अस्थाई थी तथा 90 प्रतिशत पदों का वेतन 300 पौंड वार्षिक से भी कम होता था। सेवाओं में भारतीयों की अधिक भर्ती हेतु मांग प्रबल होती जा रही थी, अतः 1870 के एक अधिनियम द्वारा एक तीसरे प्रकार की सेवा का सृजन किया गया जिसे सांविधिक सिविल सेवा (Statutory Civil Services) कहा जाता था। इन सेवाओं में केवल भारतीयों को ही नियुक्त किया जाता था। इसका उद्देश्य कुलीन परिवार और सामाजिक प्रतिष्ठा वाले उन युवकों को सरकारी सेवा की ओर आकृष्ट करना था, जिनके लिये असंविदाबद्ध सेवा में नियुक्ति पर्याप्त आकर्षक सिद्ध नहीं हुई थी। सिविल सेवा के भारतीयकरण के इतिहास में इन सेवाओं का सृजन एक महत्वपूर्ण चरण था। फिर भी भारतीयों में यह कदम लोकप्रिय नहीं हुआ। विभिन्न प्रान्तों में असंविदाबद्ध तथा सांविधिक सेवाओं में भर्ती के लिये न तो समान योग्यताएं निर्धारित थी और न भर्ती करने की समान पद्धति। अतः इन सेवाओं के सम्बन्ध में आगे चलकर लार्ड रिपन के शासन काल में कुछ व्यवस्था स्थापित की गई।

(6) **प्रजातीय विभेद नीति**—अधिकांश अंग्रेज लेखकों एवं इतिहासकारों ने ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए भारत में ब्रिटिश प्रशासन की प्रमुख उपलब्धि 'विधि संगत न्याय' बताया है। किन्तु ब्रिटिश प्रशासन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों ने प्रजातीय विभेद नीति को न्याय प्रशासन में ही अधिक लागू की। किसी भी भारतीय जज को अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं था। अंग्रेजों से सम्बन्धित मुकदमे सुनने का अधिकार मात्र अंग्रेजों को ही था। न्यायालयों में न्याय भी अन्यायपूर्ण था जिनकी व्याख्याएं तात्कालिक समाचार पत्रों में मिलती है। भारतीयों पर अंग्रेजों द्वारा भीषण अत्याचार करने पर भी उन्हें किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था और यदि कभी विवशतावश दण्ड देना भी पड़ता तो केवल हलका सा जुर्माना करके उन्हें मुक्त कर

दिया जाता था। 1876 में एक अंग्रेज वकील ने अपने कोचवान की इतनी निर्ममता से पिटाई की कि वह मर गया, फिर भी उस पर केवल 30 रुपये जुर्माना करके उसे छोड़ दिया गया। अंग्रेजों के लिये यह एक सामान्य घटना थी, किन्तु भारतीय समाचार पत्रों ने इसे बड़ी तीखी आलोचना के साथ छापा। लार्ड लिटन ने अपने पद का कार्यभार ग्रहण करते ही उस वकील को दण्ड दिया। लेकिन लिटन के इस कार्य की अंग्रेजों ने तीखी आलोचना की। अतः लिटन को विवश होकर उस वकील को दिये गये दण्ड को रद्द करना पड़ा। फलस्वरूप प्रजातीय विभेद की नीति ज्यौं की त्यौं जारी रही। लार्ड लिटन द्वारा स्थापित सांविधिक सिविल सेवा, प्रजातीय विभेद नीति का ही एक दूसरा रूप था।

(7) **राजकीय उपाधि व शाही दरबार**—1876 में इंगलैंड में डिज़रैली सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा महारानी विक्टोरिया को 'केसरे-हिन्द' की उपाधि से विभूषित किया, जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीयों के हृदय में महारानी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना था। 1877 में इस उपाधि की विधिवत् घोषणा करने के लिये लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक शानदार शाही दरबार आयोजित किया, जिसमें सभी भारतीय नरेशों को आमंत्रित किया। भारतीय नरेशों के दरबार में लिटन ने महारानी विक्टोरिया के केसरे हिन्द की उपाधि की घोषणा की। लिटन ने यह दरबार उस समय आयोजित किया था जबकि बंगाल में चक्रवात तथा अकाल का प्रकोप छाया हुआ था। लिटन ने लाखों रुपये केवल शाही दरबार पर प्रदर्शन करने के लिये खर्च कर दिये जबकि लाखों भारतीय भूख से तड़प-तड़प कर मौत की भेंट चढ़ रहे थे। भारतीय समाचार पत्रों में इस शाही दरबार की तीव्र आलोचना की गई। किन्तु लिटन का कहना था कि इस शाही दरबार से भारतीय नरेश इंगलैंड की महारानी के भक्त तथा इंगलैंड की सैन्य शक्ति के उपासक बन गये हैं। इस पर एक समाचार पत्र ने टिप्पणी करते हुए लिखा, "जब रोम जल रहा था तो नीरो सारंगी बजा रहा था।" वास्तव में लिटन का उद्देश्य भारत के अभिजात वर्ग का समर्थन तथा सामान्य जनता एवं नए शिक्षित वर्ग को कुचलने का प्रयत्न था। क्योंकि दिल्ली दरबार में सामान्य जनता व नए शिक्षित वर्ग को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था।

(8) **शस्त्र अधिनियम**—1878 के पूर्व भारतीयों को निजी सम्पत्ति तथा कृषि की सुरक्षा के लिये शस्त्र रखने की सुविधा प्राप्त थी। भारत के अधिकांश प्रान्तों में डकैतियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही थी तथा जंगली जानवरों से न केवल कृषि की हानि हो रही थी बल्कि जनहानि भी अत्यधिक हो रही थी। इन परिस्थितियों में शस्त्र रखना नितान्त आवश्यक था। किन्तु 14 मार्च, 1878 को केन्द्रीय कौंसिल ने एक शस्त्र अधिनियम पास करके बिना लाइसेन्स शस्त्र रखने पर रोक लगादी और सभी प्रकार के शस्त्रों के आयात पर भारी कर लगा दिया।

जनवरी, 1879 में लिटन ने एक आदेश प्रसारित कर समस्त यूरोपियनों, जमींदारों, राजकीय उपाधि प्राप्त व्यक्तियों तथा नगरपालिका के स्वामी भक्त सदस्यों को इस एक्ट से मुक्त कर दिया। इस आदेश द्वारा लिटन ने न केवल प्रजातीय विभेद की नीति को बढ़ावा दिया बल्कि भारतीय-भारतीय के बीच में विभेद पैदा कर दिया। वास्तव में ब्रिटिश सरकार को भारतीयों पर भरोसा नहीं था, अतः इस अधिनियम द्वारा तथा लिटन के आदेश द्वारा सामान्य जनता को निशस्त्र कर दिया गया। भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों ने सरकार की इस नीति की बड़ी आलोचना की।

(9) **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट**—लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति की भारतीय समाचार पत्रों ने तीव्र आलोचना की थी। लिटन इन आचोलनाओं को राजद्रोह मानता था। भारतीय भाषाओं के समाचार पत्र अंग्रेज समर्थक राजाओं और जमींदारों की भी तीखी आलोचना करते थे। लिटन इन आलोचनाओं से यह समझता था कि इन समाचार पत्रों के सम्पादक राजाओं व जमींदारों को डरा धमका कर धन ऐंठना चाहते हैं। अतः वह भारतीय भाषाओं पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता था। यद्यपि अंग्रेजी भाषा के समाचार पत्रों में भी सरकार की आलोचना होती थी, किन्तु लिटन इन आलोचनाओं को इतनी आपत्तिजनक नहीं मानता था। अतः 14 मार्च, 1878 को लिटन ने वर्नाक्यूलर प्रेस विधेयक अपनी कौंसिल के समक्ष पेश किया। कौंसिल के अधिकांश सदस्य इस विधेयक के विरुद्ध थे, क्योंकि उनका विचार था कि इस विधेयक के पारित करने से सरकार की प्रजातीय विभेद की नीति अधिक स्पष्ट हो जायेगी। किन्तु लिटन का कहना था कि इस बिल का उद्देश्य समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले राजद्रोहात्मक लेखों को रोकना है। अतः कौंसिल ने उस विधेयक को उसी दिन पास कर दिया। इस एक्ट के अनुसार भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के सम्पादकों के लिये यह अनिवार्य कर दिया कि वे अपने क्षेत्र के मजिस्ट्रेट अथवा कलेक्टर को लिखित आश्वासन दे कि वे अपने पत्रों में ऐसी कोई चीज प्रकाशित नहीं करेंगे जिससे जनता में सरकार के विरुद्ध आक्रोश फैलने अथवा साम्प्रदायिक द्वेष फैलने की आशंका हो। सम्पादकों को यह भी कहा गया कि कोई समाचार, प्रकाशन के पूर्व उसका प्रूफ सरकारी अधिकारी से स्वीकृत कराले। इस एक्ट का उल्लंघन करने वाले संपादकों को दंड देने का अधिकार न्यायाधीशों के स्थान पर कार्यकारिणी को दे दिया गया।

लिटन की इस प्रतिक्रियावादी नीति का जनता ने तीव्र विरोध किया। कौंसिल के तीन सदस्यों ने विधेयक पर अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहा, "कुछ मूर्ख पत्रकारों के कारण ऐसा दमनकारी विधान सभी पर लागू करना उचित नहीं है और फिर अंग्रेजी समाचार पत्रों व भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के साथ भेदभाव रखना प्रबल जन विरोध का कारण बन सकता है।" इंगलैंड की

संसद में तथा भारत सचिव की कौंसिल ने भी इस एक्ट की बड़ी आलोचना की। इतिहासकार पी. ई. राबर्ट्स ने इस एक्ट को लागू करने का कारण यह बताया है कि, "भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्रों का तात्कालिक स्वर लार्ड लिटन को कुछ राजद्रोहात्मक प्रतीत हुआ, इसलिये उसने असाधारण सहिष्णुता में कटौती करना आवश्यक समझा।" लार्ड लिटन अपनी प्रतिक्रियावादी एवं प्रजातीय विभेद की नीति द्वारा यद्यपि प्रेस को नियंत्रित करना चाहता था, किन्तु इससे भारतीय अपने राजनीतिक अस्तित्व के बारे में सजग हो उठे तथा भारत में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल होने लगी।

(10) **अफगानिस्तान के प्रति नीति**—अंग्रेजों की अफगान नीति के निर्धारण में इंगलैंड में दो विचारधाराएं प्रमुख हो गयी थी। एक वर्ग इस विचारधारा का था—रूस सम्भवतः अफगानिस्तान के मार्ग से भारत पर आक्रमण करेगा, जिन्हें वहां 'रसो फोबिया' (Russia-Phobia) कहा जाने लगा अर्थात स्वप्न में भी उन्हें यह भय रहता था कि भारत पर रूस का आक्रमण हो रहा है। इसके विपरीत दूसरा वर्ग इस विचारधारा का था कि भारत पर रूस का आक्रमण किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता, क्योंकि सेंट पीटर्सबर्ग द्वारा इस प्रकार के युद्ध का संचालन करना संभव नहीं है। अतः भारत आने वाले गवर्नर जनरल जिस विचारधारा से प्रभावित होता था उसी के अनुसार अपनी विदेश नीति का संचालन करता था। इन विचारधाराओं के फलस्वरूप अफगानिस्तान के प्रति दो प्रकार की नीतियां निश्चित हुई—एक अग्रगामी नीति तथा दूसरी अकर्मण्यता की नीति। अग्रगामी नीति के समर्थकों का दृढ़ विश्वास था कि रूस निश्चित रूप से भारत पर आक्रमण करेगा, अतः रूस का मुकाबला अफगानिस्तान या फारस की सीमाओं पर करना चाहिये। यह तभी संभव है जबकि अफगानिस्तान का शासक अंग्रेजों के प्रभाव में रहे तथा उसकी इच्छानुसार कार्य करे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो ब्रिटिश सरकार को अफगानिस्तान के मामले में सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिये। यदि अफगानिस्तान की ओर से इसका विरोध किया जाय तो उसके साथ युद्ध भी किया जा सकता है।

दूसरी अकर्मण्यता की नीति थी, जिसके समर्थकों का विचार था कि रूस का भय निराधार है। रूस भारत से बहुत दूर है और इसलिये भारत पर उसके आक्रमण की कोई संभावना नहीं है। अतः अफगानिस्तान में हस्तक्षेप न कर अफगानिस्तान के शासक के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जाय। उसे न तो किसी सन्धि पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया जाय और न अफगानिस्तान की राजधानी में अंग्रेज प्रतिनिधि (Resident) रखने हेतु दबाव डाला जाय। इस नीति का प्रारम्भ प्रथम अफगान युद्ध के बाद होता है। प्रथम अफगान युद्ध में अंग्रेजों को भीषण पराजय और घोर अपमान का सामना करना पड़ा। अतः अंग्रेजों ने अग्रगामी नीति का परित्याग कर अकर्मण्यता की नीति को अपनाया।

अंग्रेजों ने जब तक इस नीति का अवलम्बन किया, अफगानिस्तान से उनका कोई संघर्ष नहीं हुआ। किन्तु आगे चलकर जब लार्ड लिटन ने (1878-80) पुनः अफगानिस्तान के प्रति अग्रगामी नीति अपनायी, तब द्वितीय अफगान युद्ध हुआ और उसमें भी अंग्रेजों की प्रतिष्ठा गिरी।

प्रथम अफगान युद्ध के बाद अंग्रेजों व अफगानिस्तान के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गये। डलहौजी ने मार्च 1855 में अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मोहम्मद से एक सन्धि की, जिसके अनुसार अंग्रेजों ने अमीर की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया तथा अफगानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप न करने का वादा किया। अमीर ने भी अंग्रेजों के मित्रों को अपना मित्र तथा उनके शत्रुओं को अपना शत्रु स्वीकार कर लिया। 1857 के विप्लव के समय अमीर ने कोई अंग्रेज विरोधी कार्य नहीं किया। विप्लव के पश्चात लार्ड केनिंग प्रशासन के पुनर्गठन में लगा रहा। लार्ड एलगिन ने भी अफगानिस्तान के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया। उसका कहना था कि पड़ोसी राज्यों के मामले में केवल उसी समय हस्तक्षेप करना चाहिये जबकि ब्रिटिश स्वार्थों के लिये ऐसा करना आवश्यक हो।

लार्ड एलगिन के पश्चात सर जॉन लारेन्स ने अफगानिस्तान के प्रति एक ऐसी नीति का निर्माण किया, जो भविष्य में अगले कई वर्षों तक सफलतापूर्वक चलती रही। लारेन्स किसी भी विचारधारा से प्रभावित नहीं था, अतः उसने जिस नीति का निर्माण किया उसे 'कुशल क्रियाहीनता की नीति' (Policy of Masterly Inactivity) कहा गया। लारेन्स का विचार था कि अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न किया जाय, किन्तु अफगानिस्तान में घटित होने वाली घटनाओं पर सतर्क दृष्टि रखी जाय। रूसी भय के बारे में लारेन्स का मत था कि राजनैतिक माध्यम से रूस को यह बता दिया जाय कि उसका अमुक स्थान से आगे बढ़ने का अर्थ होगा अंग्रेजों के साथ युद्ध। लारेन्स का यह भी मत था कि भारत में पर्याप्त मात्रा में अंग्रेजी सेना तैयार रखी जाय ताकि अवसर पड़ने पर अफगानों से भी निपटा जा सके। इस प्रकार लारेन्स की नीति के निम्न आधार थे –

(1) अफगानिस्तान के शासक की सत्ता को बिना किसी हस्तक्षेप के सुदृढ़ करना।

(2) अफगानिस्तान के अमीर द्वारा मनोनीत राजकुमार को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार करना।

(3) उत्तराधिकार युद्ध में किसी राजकुमार के सफल होने पर, उसे अपनी स्थिति दृढ़ बनाने में सहायता देना।

(4) अमीर के पास ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखने हेतु दबाव नहीं डालना।

(5) विदेशी आक्रमण के समय आक्रमणकारी देश के विरुद्ध एक मित्र शक्ति के रूप में अफगानिस्तान में प्रवेश करना।

लारेन्स को अपनी नीति का अनुसरण करने का अवसर 1863 में अमीर दोस्त मोहम्मद की मृत्यु के बाद मिला। दोस्त मोहम्मद ने अपने पुत्र शेरअली को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था, किन्तु दोस्त मोहम्मद की मृत्यु के बाद उसके 16 पुत्रों में उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ गया। इस संघर्ष में शेरअली विजयी रहा, अतः लारेन्स ने शेरअली को अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया। मई, 1865 में शेरअली व उसके भाई अमीन के बीच पुनः युद्ध छिड़ गया, जिसमें यद्यपि शेरअली विजयी रहा, किन्तु उसका पुत्र मुहम्मद अली मारा गया। पुत्र शोक के कारण शेरअली पागल सा हो गया। अतः स्थिति का लाभ उठाते हुए, उसके दूसरे भाई आजिम ने शासन भार संभाल लिया। तत्पश्चात आजिम ने पत्र लिखकर लारेन्स को उसे अमीर के रूप में मान्यता देने की प्रार्थना की। इस पत्र के उत्तर में लारेन्स ने जो लिखा उससे लारेंस की 'दक्ष निष्क्रियता' अर्थात 'कुशल क्रिया-हीनता' की नीति की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। लारेन्स ने आजिम को लिखा कि वह आजिम को अमीर के रूप में मान्यता नहीं दे सकता, क्योंकि वह शेरअली को अमीर के रूप में मान्यता दे चुका है और न शेरअली को सहायता दे सकता है, क्योंकि वह अपना शासन खो चुका है। यदि शेरअली शासन ग्रहण करने में असफल रहा तो आजिम को उस प्रदेश के अमीर के रूप में मान्यता दे दी जायेगी, जो उसके अधीन होगा।

कुछ समय पश्चात शेरअली ने पागलपन से छुटकारा प्राप्त कर अपना राज्य पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु 10 मई, 1866 के युद्ध में वह पराजित हुआ। शेरअली के विरोधियों ने उसके भाई अफजलखां को अमीर घोषित कर दिया। लारेन्स ने उसे अमीर के रूप में मान्यता दे दी। शेरअली ने अफजलखां के विरुद्ध लारेन्स से सहायता मांगी, किन्तु लारेंस ने सहायता देने से इन्कार करते हुए लिखा कि हमारे सम्बन्ध सदैव शासक के साथ रहते हैं और जहां तक शासक का प्रश्न है, वह हमारा मित्र है, क्योंकि उसकी कार्यवाही हमारे विरुद्ध नहीं है। तत्पश्चात शेरअली अपने स्वयं के साधनों से जनवरी, 1869 तक अपने सभी विरोधियों का दमन कर काबुल पर अधिकार कर लिया। इस पर लारेन्स ने उसे बधाई सन्देश देते हुए उसे 60,000 पौंड व अच्छी किस्म के हथियार भेजे।

लारेन्स की यह नीति कुशलतापूर्ण थी, किन्तु उसे सर्वथा अकर्मण्यता की नीति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लारेन्स ने भारत सचिव को लिखे एक पत्र में लिखा था कि गृह युद्ध में किसी भी पक्ष की सहायता करना उसी समय तक ठीक है जब तक कि कोई पक्ष रूस अथवा ईरान से सहायता नहीं लेता, किन्तु यदि किसी पक्ष ने रूस अथवा ईरान की सहायता प्राप्त की तो अंग्रेज भी दूसरे पक्ष की सहायता करने हेतु बाध्य होंगे। लारेन्स ने अपनी इस नीति को 'खुले विकल्प' की संज्ञा दी थी। बाद में अफजलखां के पुत्र के प्रतिद्वन्द्वियों ने जब रूस व ईरान से सहायता

प्राप्त करने का प्रयत्न किया तो लारेन्स अफगान अमीर को निश्चित सहायता देने को भी तैयार हो गया। उसने शेरअली के साथ भेंट करने का भी सुझाव दिया किन्तु लारेन्स के समय यह भेंट न हो सकी।

लारेन्स के उत्तराधिकारी लार्ड मेयो ने मार्च 1869 में अम्बाला में शेरअली से भेंट की तथा उसे 60,000 पौंड का उपहार भी दिया, किन्तु जब शेरअली ने निश्चित सन्धि करने, वार्षिक धनराशि से सहायता देने, आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सामग्री व सैन्य सहायता देने तथा अपने पुत्र याकूबखां के स्थान पर अपने छोटे पुत्र अब्दुल्ला को अपने उत्तराधिकारी रूप में स्वीकार करने के प्रस्ताव रखे तो मेयो ने इन प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया, केवल नैतिक समर्थन का पत्र, कुछ आर्थिक तथा सैनिक सहायता अवश्य दी।

लार्ड मेयो के बाद लार्ड नार्थब्रुक (1872–76) गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। इस समय मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से भयभीत होकर शेरअली ने जुलाई 1873 में अपना राजदूत गवर्नर जनरल के पास भेजा तथा रूस के सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध सहायता की मांग की, किन्तु नार्थब्रुक ने इस सम्बन्ध में कोई आश्वासन नहीं दिया, केवल अफगानिस्तान और ईरान के सीमा सम्बन्धी विवाद में मध्यस्थता करना स्वीकार किया। इस मध्यस्थता में इंगलैंड ने ईरान का पक्ष लिया, जिससे अमीर क्रुद्ध हो उठा और उसने रूस से मैत्री करने का प्रयत्न किया। इसी बीच 1874 में इंगलैंड में शासन परिवर्तन हुआ तथा डिजरैली प्रधान मन्त्री बना तथा सेलिसबरी नया भारत सचिव बना। सेलिसबरी ने नार्थब्रुक को अफगानिस्तान में ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने की सलाह दी तथा काबुल में एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखने के लिये कहा। नार्थब्रुक ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया। सेलिसबरी से नीति सम्बन्धी मतभेद हो जाने के कारण नार्थब्रुक ने त्याग पत्र दे दिया और सेलिसबरी से स्पष्ट कह दिया कि अमीर को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी कार्य के लिये बाध्य करने का परिणाम एक अनावश्यक युद्ध होगा।

इंगलैंड के प्रधान मन्त्री डिजरैली तथा भारत सचिव सेलिसबरी ने लार्ड लिटन (1876–80) को भारत का नया गवर्नर जनरल नियुक्त किया और उसे निश्चित निर्देश दिये कि वह अफगानिस्तान के साथ 'निश्चित व क्रियात्मक' सन्धि करे तथा अमीर द्वारा 1873 में प्रस्तुत की गई शर्तें स्वीकार करले, जिसके बदले में अमीर को हेरात में ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखना होगा। इस प्रकार इंगलैंड की सरकार ने नई नीति के लक्ष्य निर्धारित कर दिये, किन्तु उसे पूरा करने की स्वतन्त्रता लिटन को दे दी गई। लिटन के सामने इस लक्ष्य प्राप्ति के लिये अनेक विकल्प थे, जैसे (1) शेरअली के साथ स्थायी समझौता करके रूस के संभावित प्रभाव स्थापित करने की आशंका सदैव के लिये समाप्त करदी जाय, (2) यदि शेरअली इसके लिये तैयार न हो तो शेरअली के स्थान पर नये अमीर को गद्दी पर बैठा दिया जाय, जो

अंग्रेजों की इच्छानुसार कार्य कर सके, (3) यदि ये दोनों कार्य संभव न हो तो अफगानिस्तान के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया जाय।

लिटन ने शेरअली को सूचित किया कि एक अंग्रेज दूत अफगानिस्तान भेजा जा रहा है। शेरअली ने काबुल में इस दूत को प्रवेश देने से इन्कार कर दिया। शेरअली का कहना था कि वह अंग्रेज दूत की सुरक्षा का आश्वासन नहीं दे सकता और यदि उसने अंग्रेज दूत को आने की अनुमति दी तो वह रूस के दूत को भी मना नहीं कर सकेगा। लिटन ने अमीर के इस उत्तर को ब्रिटिश हितों के लिये अपमानजनक समझा। अतः लिटन ने लुइसपेली नामक अपने प्रतिनिधि को बातचीत के लिये पेशावर भेजा। जनवरी 1877 में शेरअली के प्रतिनिधि नूर मोहम्मद तथा लुइसपेली के बीच वार्ता हुई, किन्तु काबुल में ब्रिटिश रेजीडेन्ट रखने पर सहमति नहीं हो सकी। इस पर लिटन ने काबुल में स्थित ब्रिटिश सरकार के मुसलमान एजेन्ट अतामोहम्मद को लिखा कि वह शेरअली को सूचित करदे कि अफगानिस्तान, रूस व ब्रिटिश साम्राज्य के मध्य दो लोहे के बर्तनों के बीच मिट्टी की हण्डिया के समान है। यदि शेरअली हमारा मित्र रहता है तो ब्रिटिश सैन्य शक्ति लोह चक्र के समान उसके चारों ओर फैलादी जायेगी और यदि वह हमारा शत्रु बना तो वह शक्ति उसे सरकण्डे के समान भंग कर देगी। इससे स्पष्ट था कि लिटन युद्ध की ओर बढ़ रहा था। सेलिसबरी ने लिटन को युद्ध की ओर बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया और लिखा कि "इंगलैंड, अफगानिस्तान में केवल कूटनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, युद्ध नहीं।" अप्रेल 1878 में सेलिसबरी के स्थान पर क्रेनब्रुक भारत सचिव बना, जो लिटन पर प्रभावशाली नियंत्रण न रख सका। इधर यूरोपीय घटनाओं ने भी लिटन को स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने का अवसर दे दिया।

1877–78 में रूस-तुर्की युद्ध के बाद सेनस्टीफेनो की सन्धि हुई, किन्तु बर्लिन कांग्रेस में इसे संशोधित कर दिया गया, जिससे रूस व इंगलैंड के सम्बन्धों में तनाव आ गया। इस तनावपूर्ण स्थिति में एक भारतीय टुकड़ी स्वेज नहर के रास्ते से माल्टा पहुंचा दी गई। इसके प्रत्युत्तर में रूस ने अपने प्रतिनिधि स्टोलेटाफ को काबुल की तरफ रवाना कर दिया ताकि इंगलैंड पर राजनीतिक दबाव डालकर यूरोप में सुविधा प्राप्त कर सके। शेरअली ने इसका विरोध किया, इस पर रूस ने अमीर को धमकी दी कि यदि रूसी प्रतिनिधि को अफगानिस्तान में प्रविष्ट नहीं होने दिया गया तो रूस की सरकार अमीर के भतीजे अब्दुल रहमान को, जो उस समय ताशकन्द में था, उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा कर देगी। अतः शेरअली रूसी दूत का अधिक विरोध नहीं कर सका। 22 जुलाई 1878 को रूसी दूत काबुल पहुंच गया। लिटन के लिये यह समाचार असह्य था। उसने अगस्त 1878 में अपना एक प्रतिनिधि काबुल भेजने की घोषणा करदी। भयभीत होकर अमीर ने रूसी प्रतिनिधि को काबुल छोड़ने का आदेश दे दिया। किन्तु लिटन ने इस पर कोई ध्यान

नहीं दिया तथा 20 सितम्बर 1878 को अंग्रेजी दूत को काबुल पहुंचने का आदेश दे दिया। अंग्रेजी दूत को खैबर दर्रे के पास अली मस्जिद पर रोक दिया गया और उसे बड़ी नम्रता से प्रार्थना की कि जब तक काबुल से आदेश नहीं मिल जाता, वह आगे बढ़ने का प्रयत्न न करे। इस पर ब्रिटिश प्रतिनिधि पेशावर लौट आया। लिटन ने इस घटना को इंगलैंड का भारी अपमान समझा।

लार्ड लिटन ने इस घटना को तोड़ मरोड़ कर ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखा तथा अफगानिस्तान से युद्ध करने की अनुमति मांगी। तत्पश्चात ब्रिटिश सरकार के निर्देशानुसार 2 नवम्बर 1878 को उसने शेरअली को चेतावनी देते हुए लिखा कि वह 20 नवम्बर 1878 तक अंग्रेजी दूत के अपमान के लिये क्षमा मांगे तथा काबुल में एक स्थायी राजदूत रखना स्वीकार करे अन्यथा अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया जायेगा। यद्यपि अमीर ने इसका प्रत्युत्तर 14 नवम्बर को ही भेज दिया था, किन्तु लिटन को यह उत्तर 30 नवम्बर को मिला जिसमें अमीर ने क्षमा तो नहीं मांगी, किन्तु अंग्रेज राजदूत को रखना स्वीकार कर लिया था। इधर निश्चित तिथि तक उत्तर न मिलने पर 21 नवम्बर को लिटन ने तीन अंग्रेज सेनाओं को अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया।

ब्रिटिश सेना ने कन्धार, खैबर और कुर्रम दर्रों से होकर अफगानिस्तान में प्रवेश किया। किसी भी मोर्चे पर कोई विशेष टक्कर नहीं हुई। शेरअली भागकर तुर्कीस्तान चला गया, जहां उसकी 21 फरवरी 1879 को मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र याकूब खां ने 26 मई 1879 को भारत सरकार से गंडमक की सन्धि करली। इस सन्धि के अनुसार—

(1) अमीर ने खैबर व मिशनी दर्रों पर अंग्रेजी नियंत्रण तथा कुर्रम, पिशिन व सिबि के जिलों पर ब्रिटिश प्रशासन स्वीकार कर लिया।

(2) अमीर ने अपने विदेशी सम्बन्धों का संचालन गवर्नर जनरल के परामर्श से करना स्वीकार किया।

(3) अमीर ने काबुल में एक ब्रिटिश रेजीडेन्ट तथा अन्य स्थानों पर ब्रिटिश प्रतिनिधियों को रखना स्वीकार कर लिया।

(4) भारत सरकार ने अमीर को 6 लाख रुपये वार्षिक सहायता तथा विदेशी आक्रमण के समय सहायता देने का वायदा किया।

गंडमक की सन्धि को लिटन की भारी सफलता समझा गया। विजयोन्माद में गर्वित होते हुए लिटन ने घोषणा की कि हमने शेरअली की जो पिटाई की है, उससे अफगान हमारा सम्मान करना आरम्भ कर देंगे। डिजरैली, सेलिसबरी व क्रेनब्रुक ने लिटन को बधाई सन्देश भेजे, लुई केवेगनरी को राजदूत बनाकर काबुल भेजा गया, जो 24 जुलाई 1879 को काबुल पहुंच गया। किन्तु अंग्रेजों की अनभिज्ञता यह नहीं देख सकी कि अफगान किसी विदेशी को अपनी धरती पर दो क्षण

भी नहीं ठहरने देते तथा विदेशी संरक्षण में रहने वाले किसी शासक को भी स्वीकार नहीं करते। अत: 3 सितम्बर 1879 को अफगानों ने विद्रोह कर दिया तथा अंग्रेज राजदूत व उसके अंगरक्षकों को मौत के घाट उतार दिया। अंग्रेज सेना ने पुनः अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। कई स्थानों पर अंग्रेज सेना को पराजित करना पड़ा, किन्तु अन्त में अंग्रेज सफल हुए। फिर भी अफगानों ने मारकाट जारी रखी। याकूब खां ने भागकर अंग्रेजों के शिविर में शरण ली।

अंग्रेजों के नियंत्रण में अफगानिस्तान का छोटा सा भू-भाग था, जबकि अधिकांश भूभाग पर विद्रोहियों का नियंत्रण था। ऐसी परिस्थिति में लार्ड लिटन ने पश्चिमी अफगानिस्तान को शेष राष्ट्रों से अलग करने का निश्चय किया। इसी समय शेरअली का भतीजा अब्दुल रहमान अफगानिस्तान की सीमा पर आ खड़ा हुआ। यद्यपि रूस ने उसे अंग्रेजों की परेशानी बढ़ाने के लिये भेजा था, किन्तु अंग्रेजों ने उसका स्वागत किया तथा उसे पश्चिमी अफगानिस्तान की ओर भेजा और उसे कहा गया कि यदि वह सफल हो जाता है तो उसे शासक स्वीकार कर लिया जायेगा। उधर इंगलैंड में अफगानिस्तान में अंग्रेज नीति के प्रश्न को लेकर चुनाव हुए, जिसमें डिजरैली के दल को भारी असफलता मिली तथा ग्लेडस्टोन नया प्रधान मंत्री बना। अत: लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन को गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया। रिपन ने 1880 में अब्दुल रहमान से सन्धि कर उसे अफगानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों ने गंडमक की सन्धि द्वारा प्राप्त लाभों को भी छोड़ दिया, किन्तु वार्षिक आर्थिक सहायता का आश्वासन नहीं दिया। केवल 20 लाख रुपये तथा कुछ सैनिक सामग्री उसे सहायता के रूप में दी गई। 1833 में उसे 12 लाख रुपये वार्षिक सहायता के रूप में दिये तथा विदेशी आक्रमण के समय उसे सैनिक सहायता का आश्वासन दिया। अब्दुल रहमान अंग्रेजों की सैन्य शक्ति से परिचित था, अत: उसने इस सहायता को स्वीकार कर लिया।

लार्ड लिटन की अफगान नीति की कटु आलोचना की जाती है। इंगलैंड की सरकार अफगानिस्तान पर रूस के आक्रमण को संभव नहीं मानती थी। अत: डिजरैली व सेलिसबरी अफगानिस्तान से युद्ध करना नहीं चाहते थे, वे तो केवल अफगानिस्तान पर कूटनीतिक प्रभुत्व चाहते थे। किन्तु लिटन ने कूटनीतिक प्रभुत्व को एक अंग्रेज रेजीडेन्ट की नियुक्ति के साथ जुड़ा हुआ मान लिया और जानबूझ कर अफगानों के साथ युद्ध किया, जिसका कोई औचित्य नजर नहीं आ रहा था। उसने एक स्वतन्त्र शासक की स्वतन्त्र सत्ता को समाप्त कर दिया। इंगलैंड की सरकार ने उसे साम्राज्यवादी नीति का संचालन करने तो अवश्य भेजा था लेकिन नीति के संचालन में वह डिजरैली व सेलिसबरी से भी अधिक उग्र सिद्ध हुआ। इतिहासकार डॉडवेल ने लिखा है, "लिटन की नीति गंभीरतापूर्वक सोच कर निश्चित की गई थी, किन्तु उसमें एक त्रुटि रह गई थी कि काबुल में स्थायी ब्रिटिश राजदूत की मांग उचित नहीं थी, इसका परिणाम निश्चित रूप से विनाश था।" किन्तु

कुछ इतिहासकारों ने अफगान युद्ध के औचित्य बताते हुए लिखा है कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप एक शत्रु अमीर के स्थान पर मित्र अमीर को गद्दी पर बैठाया गया, जिससे रूस की महत्वाकांक्षा पर प्रतिबन्ध लग गया।

उदारवाद का प्रतीक : लार्ड रिपन (1880–1884)

भारत में लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति की अत्यधिक आलोचना हुई थी तथा अफगान युद्ध ने तो उसकी आलोचना को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था। लिटन की अफगान नीति इंगलैंड के चुनावों का एक मुद्दा बन गयी थी। फलस्वरूप इंगलैंड में डिजरैली के अनुदार दल की भारी पराजय हुई तथा उदार दल की सरकार बनी और ग्लेडस्टोन प्रधान मन्त्री बना। ग्लेडस्टोन के लिये यह आवश्यक हो गया था कि भारत में अब ऐसे व्यक्ति को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया जाय जो उदार व शान्तिप्रिय हो, भारत के जनमत की सहानुभूति प्राप्त कर सके तथा भारत में ब्रिटिश प्रशासन के प्रति लोगों में विश्वास पैदा कर सके। अतः ग्लेडस्टोन ने लार्ड रिपन को, जो अवर भारत सचिव के पद पर कार्य कर चुका था, भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया। रिपन ने 8 जून 1880 को अपने पद का कार्यभार संभाल लिया। भारत में नियुक्त हुए गवर्नर जनरलों में रिपन जितना लोकप्रिय हुआ उससे अधिक न तो इससे पूर्व और न बाद में किसी गवर्नर जनरल ने लोकप्रियता प्राप्त की। यद्यपि लार्ड विलियम बैंटिक तथा लार्ड माउण्ट बैटन भी भारत में लोकप्रिय हुए थे किन्तु कोई भी रिपन के स्तर तक नहीं पहुंच सका।

रिपन की नियुक्ति से अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन अनिवार्य दिखाई दे रहा था। रिपन ने केवल भारतीय नरेशों, जमींदारों व ताल्लुकेदारों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया बल्कि नये शिक्षित वर्ग को भी ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति निष्ठावान बनाने का प्रयत्न किया। रिपन इस बात को जानता था कि भारत में नया शिक्षित वर्ग शीघ्र ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाला है और इसलिये साम्राज्य की सुरक्षा के लिये इस वर्ग की अब उपेक्षा नहीं की जा सकती। रिपन की दृढ मान्यता थी कि इस वर्ग को प्रशासन से संबद्ध करके ही साम्राज्य को दृढ़ किया जा सकेगा। नया शिक्षित वर्ग भी अंग्रेजों से सहयोग करने को तैयार था, क्योंकि यह वर्ग अंग्रेजों की न्यायप्रियता एवं निश्पक्षता में विश्वास करता था। रिपन ने इस वर्ग को साम्राज्य की ओर आकर्षित किया और इसके लिये उसने जो प्रमुख कार्य किये उन कार्यों में वह पूर्णतः सफल रहा।

स्थानीय स्वशासन की स्थापना

इंगलैंड के इतिहास में रिपन को स्थानीय स्वशासन का पिता कहा गया है। किन्तु ब्रिटिश इतिहासकारों का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योंकि भारत में स्थानीय स्वशासन का सदैव महत्व रहा है। भारत के प्राचीन एवं मध्ययुगीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रत्येक युग और प्रत्येक शासनकाल में यहां

स्थानीय संस्थाएं रही हैं। भारत में अंग्रेजों के आने के समय यहां स्थानीय संस्थाओं का अस्तित्व था, किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता स्थापित होने के बाद इनकी स्थिति दयनीय हो गयी थी। ब्रिटिश ताज द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद इनके विकास की ओर पुनः ध्यान दिया गया और लार्ड मेयो ने इस कार्य में अपना सहयोग दिया था। रिपन के आने के पूर्व सभी प्रान्तों में स्थानीय समस्याओं को हल करने के लिये स्थानीय संस्थाएं थी। इन संस्थाओं में सरकारी और गैर सरकारी सदस्य होते थे। इन संस्थाओं को कुछ वित्तीय अधिकार प्राप्त थे, किन्तु अधिकांश खर्च की अनुमति सरकार से लेनी पड़ती थी। इन संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों की भी व्यवस्था थी, किन्तु इससे भारतीयों को न तो प्रशासनिक अनुभव प्राप्त हो रहा था और न उन्हें राजनीतिक शिक्षा ही मिल रही थी। इन संस्थाओं में सरकारी सदस्यों की संख्या यद्यपि कम होती थी, फिर भी वे अत्यधिक प्रभावशाली होते थे। अतः रिपन ने इन संस्थाओं में नई जान फूंकने का प्रयत्न किया।

डॉ. एस. गोपाल ने लिखा है कि, "रिपन का स्थानीय स्वशासन की स्थापना एवं विकास में जो लक्ष्य थे वे वास्तव में उसकी आदर्शवादिता व उदारता के प्रतीक थे'। वह 'चाहता था कि इसके द्वारा भारतीयों को राजनैतिक शिक्षा दी जाय।" अतः स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में रिपन के लक्ष्य आदर्शवादी थे। रिपन ने स्वयं गृह सरकार को लिखा था, "मैं चाहता हूं कि भारतीय समाज में मेघावी एवं प्रभावशाली मनुष्यों को क्रमिक प्रशिक्षण दिया जाय, जिससे वे अपने स्थानीय मामलों की व्यवस्था में अत्यन्त रुचि तथा सक्रिय भाग लें।" रिपन ने इस आदर्शयुक्त उद्देश्यों को लेकर 1881 में घोषणा की कि अब समय आ गया है, जबकि लार्ड मेयो द्वारा चलाये गये स्थानीय स्वशासन को पूर्णता प्रदान की जाय। उसने प्रान्तीय सरकारों से स्थानीय प्रशासन को स्वायत्तता प्रदान करने हेतु सुझाव मांगे। 18 मई 1882 को उसने एक प्रस्ताव पास कर अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा कि वह स्थानीय प्रशासन में स्वायत्तता केवल प्रशासनिक सुविधा के लिये नहीं, बल्कि राजनीतिक अनुभव और सार्वजनिक शिक्षा के लिये चाहता था। वह जानता था कि आरम्भ में इसमें गलतियां हो सकती हैं, किन्तु कालान्तर में शिक्षित वर्ग इस योग्य बन सकेगा कि प्रशासन का उत्तरदायित्व अच्छी तरह निभा सके तथा शासन में अधिक से अधिक उत्तरदायित्व की भावना बढ़ सके। इस प्रकार रिपन एक स्वस्थ परम्परा स्थापित करना चाहता था।

1882 में रिपन ने एक सरकारी प्रस्ताव में स्थानीय स्वशासन की स्थापना का सुझाव रखा। अपने इस सुझाव में रिपन ने इस बात पर बल दिया कि स्थानीय लोगों में कई योग्य व्यक्ति प्रशासन के कार्यों से दूर है, अतः उन्हें प्रशासन में लाने हेतु स्थानीय स्वशासन की स्थापना आवश्यक है। उसने यह चेतावनी भी दी कि यदि नौकरशाही अथवा सरकारी हस्तक्षेप होता रहा तो इन संस्थाओं के सफल होने

की आशंका बनी रहेगी। रिपन के इस प्रस्ताव में निम्नलिखित सुझाव दिये गये—

(1) जिला अधिकारी की सहायता से जो स्थानीय बोर्ड, सड़क और अस्पतालों आदि के लिये स्थापित किये गये हैं, उन्हें समाप्त कर दिया जाय तथा उनके स्थान पर ग्रामीण बोर्ड स्थापित किये जाय।

(2) स्थानीय ग्रामीण बोर्डों का कार्य तथा हितों की देखरेख के लिये एक अस्थायी जिला मण्डल की व्यवस्था हो, जो समय समय पर प्रतिनिधि मण्डलों के रूप में कार्य करे।

(3) इन स्थानीय संस्थाओं में मनोनीत सरकारी सदस्यों की संख्या एक तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिये तथा शेष सदस्यों को यथा सम्भव निर्वाचन प्रणाली के आधार पर चुना जाय। इन सदस्यों में बहुमत का निर्णय मान्य होगा।

(4) इन संस्थाओं द्वारा लिये गये निर्णयों पर सरकार पुनः विचार कर सकेगी। यदि किसी संस्था का कोई अधिकारी बार बार अनुचित कार्य करता है और इस कारण उस अधिकारी को हटाना हो तो केवल केन्द्रीय सरकार की अनुमति से ही ऐसा किया जा सकेगा।

(5) प्रत्येक बोर्ड का कार्य क्षेत्र निर्धारित कर उसे निश्चित अधिकार व वित्तीय साधन प्रदान किये गये।

(6) इन बोर्डों का अध्यक्ष सदैव गैर सरकारी व्यक्ति ही होना चाहिये।

यद्यपि रिपन के इस प्रस्ताव से स्थानीय स्वशासन की स्थापना करदी गई, किन्तु इनसे रिपन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हुई। डॉडवेल ने लिखा है कि स्थानीय स्वशासन की वास्तविक कार्य पद्धति द्वारा रिपन की आशाएं पूर्ण न हो सकी। इसके अतिरिक्त बड़ा साहब (गवर्नर जनरल) का हस्तक्षेप जारी रहा, क्योंकि बड़ा साहब अपने अपने अधिकारों में कमी करना नहीं चाहता था और जनरल इतना प्रबल नहीं था कि उसका विरोध कर सके। विभिन्न स्रोतों से होने वाली आय भी सरकारी विभागों द्वारा एकत्रित की जाती थी।

फिर भी रिपन का यह कार्य सराहनीय था। सभी प्रान्तीय सरकारों ने इसका स्वागत किया। किन्तु इण्डिया कौंसिल के सदस्यों ने इसकी तीव्र आलोचना की। भारत सचिव का समर्थन प्राप्त होने के कारण रिपन इस प्रस्ताव को कार्यान्वित कर सका। भारत की समस्त नौकरशाही तथा जिला अधिकारी रिपन की इस नीति का अनुसरण करते रहे। रिपन के इस कार्य का सर्वाधिक स्वागत भारत के नये शिक्षित वर्ग ने किया। डॉ. एस. गोपाल ने लिखा है कि भारतीयों ने अपने नेतृत्व के लिये रिपन की ओर देखना आरम्भ कर दिया। रिपन के

रचनात्मक कार्यों में स्थानीय स्वशासन की स्थापना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसने भारतीयों में उसकी लोकप्रियता का बीजारोपण किया।

वित्तीय विकेन्द्रीकरण—लार्ड मेयो ने वित्तीय ढांचे का तकनीकी दृष्टि से अध्ययन कर वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीति को जन्म दिया था। लार्ड रिपन ने इस नीति का विकास कर उसे स्थायित्व प्रदान किया। रिपन ने स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक क्षेत्र में स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया। अपने वित्त सचिव मेजर वेरिंग की सहायता से रिपन ने 1882 में एक प्रस्ताव द्वारा आय के स्रोतों को तीन भागों में विभाजित किया—

(1) **इम्पीरियल**—इसके अन्तर्गत नमक, आबकारी, तटकर और अफीम रखे गये।

(2) **प्रान्तीय**—इसके अन्तर्गत शिक्षा व जन कल्याण सम्बंधी कार्य रखे गये।

(3) **विभक्त मद**—इसके अन्तर्गत भू-लगान, वन तथा स्टाम्प आदि रखे गये।

इस प्रस्ताव द्वारा स्थायी अनुदान की प्रथा को स्थगित रखा गया। भू-लगान का एक निश्चित प्रतिशत प्रान्तीय सरकारों के लिये निश्चित कर दिया। यह भी तय किया गया कि केन्द्र के समक्ष संकट आने पर प्रान्तीय सरकारें सहायता देंगी तथा प्रान्तों में अकाल आदि के समय केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को सहायता देगी। इस व्यवस्था को पांच वर्ष के लिये स्थायी कर दिया। यह व्यवस्था 1902 तक चलती रही।

रिपन ने आयकर में भी कमी करदी, जिससे उसका वित्त सचिव से मतभेद हो गया और उसने त्याग पत्र देने का निर्णय ले लिया। किन्तु भारत सचिव के हस्तक्षेप से समझौता हो गया। जन सुविधा की दृष्टि से उसने नमक कर में भी कमी करदी। रिपन के आने से पहले लार्ड मेयो ने कृषि विभाग की स्थापना की थी, किन्तु लार्ड लिटन ने उसे समाप्त कर दिया था। रिपन ने उसके महत्व को समझते हुए कृषि विभाग की पुनः स्थापना करदी। किसानों की जमींदारों से रक्षा करने के उद्देश्य से उसने 'बंगाल लगान अधिनियम' तैयार किया, किन्तु गृह सरकार जमींदारों के हितों की समर्थक थी, अतः यह अधिनियम अपने मूल रूप में पारित न हो सका।

शिक्षा सम्बन्धी सुधार—शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक 1854 के वुड्स डिस्पेच की नीति के आधार पर ही कार्य हो रहा था। किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में शिक्षा के क्षेत्र में समयानुकूल परिर्तवन अनिवार्य था। लार्ड मेयो ने यद्यपि शिक्षा की ओर ध्यान दिया था, किन्तु उसे अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। रिपन ने शिक्षा में सुधार की आवश्यकता अनुभव कर एक शिक्षा आयोग गठित करने का निर्णय लिया तथा श्री आनन्दमोहन बोस को इस आयोग का अध्यक्ष

बनाना चाहा। किन्तु श्री बोस ने रिपन को सुझाव दिया कि इस आयोग का अध्यक्ष किसी अंग्रेज को बनाया जाय ताकि इसके सुझावों पर ब्रिटिश सरकार अधिक तत्परता से ध्यान दे सके। अतः रिपन ने सर विलियम हण्टर को शिक्षा आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया। इस आयोग में अध्यक्ष सहित 21 सदस्य थे, जिनमें 8 भारतीय थे। इस आयोग को 1854 के वुड्स डिस्पेच के कार्यों का मूल्यांकन कर अपने सुझाव देने को कहा गया। हण्टर आयोग ने विभिन्न प्रान्तों का दौरा करके 1883 में अपनी विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिये गये थे :—

(1) प्राथमिक शिक्षा का विकास स्थानीय संस्थाओं द्वारा किया जाय तथा उसका संचालन भी स्थानीय संस्थाओं पर छोड़ दिया जाय। सरकार केवल निरीक्षण एवं नियंत्रण का अधिकार रखे।

(2) माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध निजी संस्थाओं को सौंप दिया जाय। सरकार केवल अनुदान देकर उन्हें प्रोत्साहित करती रहे तथा अप्रत्यक्ष रूप से उन संस्थाओं पर नियंत्रण रखे।

(3) आयोग ने व्यवसायिक व व्यापारिक शिक्षा लागू करने का सुझाव देते हुए कहा कि हाई स्कूल में दो प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। एक प्रवेश परीक्षा के लिये तथा दूसरी व्यापारिक व अन्य व्यवसायों के लिये।

(4) उच्च शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्ध से सरकार धीरे धीरे अपने हाथ हटा ले तथा सरकार द्वारा कॉलेजों के लिये सामान्य वित्तीय सहायता तथा विशेष अनुदान निर्धारित कर देना चाहिये। स्कूल व कॉलेजों में फीस का स्तर निम्न रखा जाय तथा अधिक से अधिक भारतीयों को स्कूलों व कॉलेजों में नौकरी दी जाय।

(5) विभिन्न विश्वविद्यालयों में कई प्रकार के पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाय। नैतिक शिक्षा की पुस्तक तैयार की जाय जिसमें धर्म के आवश्यक व मौलिक तत्वों का उल्लेख हो और उसे सरकारी तथा गैर सरकारी स्कूलों में अनिवार्य कर दिया जाय ताकि विद्यार्थियों में अधिकार और कर्त्तव्य की भावना उत्पन्न हो सके।

(6) शारीरिक शिक्षा को सामान्य शिक्षा से अलग न रखा जाय तथा इसके लिये विशेष छात्रवृत्ति का प्रबन्ध किया जाय।

(7) मुस्लिम समाज शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। अतः उन्हें शिक्षा के लिये प्रोत्साहित किया जाय और उनके लिये विशेष सुविधाएं व आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया जाय।

लार्ड रिपन ने शिक्षा आयोग की इन सभी बातों को स्वीकार कर उन्हें लागू कर दिया। रिपन ने अनेक भारतीयों को निरीक्षण के क्षेत्र में नियुक्त किया। 1882 में उसने पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना की। रिपन के कार्यों के फलस्वरूप उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई तथा मिशनरी शिक्षण संस्थाओं की अपेक्षा निजी भारतीय प्रबन्धकों की शिक्षण संस्थाएं अधिक हो

गयी। किन्तु प्राथमिक शिक्षा पर सरकारी व्यय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। अंग्रेजों ने एंग्लो-इंडियन, उच्च मध्यम वर्ग, जमींदार तथा कुलीन वर्गो की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया। किन्तु चूंकि इन वर्गों को नौकरियों की आवश्यकता नहीं थी, अतः शिक्षण संस्थाएं कुलीन वर्गों के आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सकी। केवल मध्यम वर्ग ही शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ, क्योंकि शिक्षा को उसने नौकरी प्राप्त करने का साधन समझा। इसलिये 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों में हिन्दुओं की संख्या अधिक थी।

वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट की समाप्ति—लार्ड लिटन ने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर नियंत्रण रखने के लिये वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित किया था, जिसकी न केवल भारत में, बल्कि इंगलैंड में भी कटु आलोचना की गई थी। ग्लेड-स्टोन इसका कटु आलोचक था। अतः सत्ता ग्रहण करने बाद ग्लेडस्टोन ने रिपन को आदेश दिया कि वह इस एक्ट पर पुनः दृष्टि डाले। रिपन इस एक्ट को समाप्त करना चाहता था। किन्तु लिटन के समर्थकों का कहना था कि इस एक्ट के अन्तर्गत एक को छोड़कर किसी भी समाचार पत्र पर मुकदमा नहीं चलाया गया है, इसलिये यह एक्ट अत्यधिक कठोर नहीं है। इसी आधार पर रिपन का कहना था कि यह एक्ट अनावश्यक है। अतः 1882 में रिपन ने इस एक्ट को समाप्त कर दिया तथा सभी समाचार पत्रों को समान अधिकार प्रदान कर दिये। भारतीय जन समूह ने रिपन के इस कार्य का स्वागत किया तथा भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों में रिपन अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। इस कार्य से रिपन नये शिक्षित मध्यम वर्ग का समर्थन प्राप्त कर सका।

प्रतिक्रियावादी कार्यों की समाप्ति का प्रयत्न—लार्ड लिटन ने शस्त्र अधि-नियम पारित किया था जो सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी था। रिपन चाहता था कि किसानों व निर्धन व्यक्तियों को जिन्हें जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करनी पड़ती है, उन्हें बिना लाइसेन्स के शस्त्र रखने की अनुमति दे दी जाय और लाइसेन्स प्राप्त कर सभी अधिकारियों को शस्त्र रखने का अधिकार दे दिया जाय। रिपन ने 1882 में इस सम्बंध में एक प्रस्ताव पारित कर भारत सचिव की स्वीकृति के लिये भेजा, किन्तु इण्डिया कौंसिल में बहुमत इस प्रस्ताव के विरोध में होने के कारण शस्त्र अधिनियम में कोई संशोधन नहीं हो सका।

भारतीय सिविल सेवाओं में भारतीयों का प्रवेश व्यवहारिक रूप से वन्द था, क्योंकि उनके लिये प्रतियोगी परीक्षा लंदन में होती थी। अतः भारतीयों की भर्ती के लिये 1870 में सांविधि सेवाओं की स्थापना की गई थी। लेकिन इन सेवाओं में भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कुलीन वर्ग के लोगों को ही स्थान प्राप्त होते थे, क्योंकि इन सेवाओं के लिये योग्यता निर्धारित नहीं की गई थी। रिपन इस व्यवस्था में सुधार करने का इच्छुक था। अतः उसने भारतीय सिविल सेवाओं में

प्रवेश के लिये अधिकतम आयु बढ़ाने तथा सांविधि सेवाओं में योग्यता के आधार पर भारतीयों की नियुक्ति करने का सुझाव भारत सचिव के पास भेजा । किन्तु भारत सचिव की अस्वीकृति के कारण रिपन अपने इन प्रयासों में भी असफल रहा ।

इल्बर्ट बिल विवाद—रिपन उदारवाद का प्रतीक था । अतः 1882 में उसने भारत सचिव के निर्देशानुसार रुड़की इन्जिनियरिंग कालेज में पढ़े हुए भारतीयों को ही सरकारी सेवा में लेने की व्यवस्था की, कलकत्ता उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के समान वेतन देना निश्चित किया तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश गार्थ के अवकाश पर जाने पर भारतीय न्यायाधीश रमेशचन्द्र मित्तर को मुख्य न्यायधीश बना दिया । रिपन के इन कार्यों से भारत में रहने वाले अंग्रेजों में असंतोष उत्पन्न होने लगा । इस असंतोष का विस्फोट इल्बर्ट बिल ने कर दिया ।

रिपन के भारत आगमन तक अनेक भारतीय, प्रशासनिक एवं न्यायिक सेवाओं में आ चुके थे । अब तक भारतीय दंड संहिता के अन्तर्गत यूरोपियनों के मुकदमे केवल जस्टिस ऑफ पीस अथवा उच्च न्यायालय के यूरोपियन न्यायाधीश ही कर सकते थे । प्रेसीडेन्सी नगरों (बम्बई, कलकत्ता, मद्रास) को छोड़कर किसी भी भारतीय न्यायाधीश को यूरोपियनों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं था । रिपन इस भेदभाव को उचित नहीं समझता था । अतः रिपन ने यह मामला विभिन्न प्रान्तीय सरकारों तथा अपनी कौंसिल के सदस्यों के पास उनकी सम्मति के लिये भेजा । किसी ओर से इसका विरोध नहीं हुआ । तत्पश्चात रिपन ने अपना प्रस्ताव भारत सचिव के पास भेजा और वहां भी इसका कोई विशेष विरोध नहीं हुआ । अतः रिपन ने अपनी कौंसिल के कानून सदस्य सर सी. पी. इल्बर्ट को इस विषय में एक विधेयक प्रस्तुत करने को कहा । इस बिल को उसके निर्माता के नाम से इल्बर्ट बिल कहा जाता है । इस बिल के अनुसार भारतीय सिविल सेवाओं तथा सांविधि सेवाओं के सदस्यों, सहायक कमिश्नरों और छावनी के मजिस्ट्रेटों को जस्टिस ऑफ पीस बनने का अधिकार दिया गया । सत्र न्यायाधीशों एवं जिला न्यायाधीशों को पदेन (Ex-officio) जस्टिस ऑफ पीस बना दिया गया तथा सहायक सत्र न्यायाधीशों को तीन वर्ष कार्य करने के पश्चात यूरोपियनों के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया गया । इस बिल का मूल उद्देश्य भारतीय न्यायाधीशों पर लगे प्रजातीय प्रतिबन्धों को हटाना था । वस्तुतः इस बिल के पारित होने के बाद अगले 10 वर्षों में सम्पूर्ण भारत में केवल 9 न्यायाधीशों को यूरोपियनों के मुकदमे सुनने का अधिकार प्राप्त हो सकता था ।

फरवरी 1882 में यह बिल भारतीय धारा सभा में प्रस्तुत किया गया । किन्तु इस समय तक आंग्ल समाज में इस बिल की आलोचना आरम्भ हो गयी थी । अब तो अंग्रेजो ने इसका संगठित विरोध करना आरम्भ कर दिया । भारत स्थित अंग्रेजों

ने ब्रिटिश सरकार तथा समाचार पत्रों को लिखा कि भारत में यूरोपियन स्त्रियों की दशा शोचनीय होती जा रही है। एक अंग्रेज ने अपने जाति बन्धुओं को सम्बोधित करते हुए कहा, "क्या वे ऐसे देश में रहना पसंद करेंगे जहां उनकी पत्नी को अपनी आया (नौकरानी) को एक थप्पड़ मार देने के जुर्म में तीन दिन के कारावास की सजा दी जा सकती है।" रिपन का उसके ही देशवासियों ने हर प्रकार से बहिष्कार किया तथा 'यूरोपियन एवं एंग्लो-इंडियन प्रतिरक्षा संघ' का गठन कर लिया। रिपन जब शिमला से कलकत्ता आया तो उसका खुले रूप से अपमान किया गया। रिपन को ऐसी भयंकर स्थिति उत्पन्न होने आशा नहीं थी। उसकी तो व्यक्तिगत मान्यता थी कि इस बिल द्वारा अपमान या अनादर का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह तो समानता का प्रतीक होगा। फिर भी अंग्रेजों ने इसका बड़ा व्यापक एवं संगठित विरोध किया, जिसे 'सफेद विद्रोह' (White Mutiny) की संज्ञा दी जाती है। रिपन ने इस बिल से सम्बंधित कागज इंगलैंड की सरकार के पास भेजे और इंगलैंड की सरकार नें रिपन का पूर्ण समर्थन किया। किन्तु कलकत्ता में अंग्रेजों का आन्दोलन अत्यधिक भड़क चुका था। आन्दोलनकारियों ने यह भी षड़यंत्र किया कि रिपन का अपहरण करके उसे बलपूर्वक जहाज में बिठा कर लंदन भेज दिया जाय। इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए डॉ. एस. गोपाल ने लिखा है, "कलकत्ता शीघ्र ही एक ऐसा स्थान बन जायेगा, जहां अब वायसराय सुरक्षित निवास नहीं कर सकेगा।" इस 'सफेद विद्रोह' के विरुद्ध यद्यपि रिपन दृढ़ नीति का अवलम्बन करना चाहता था, किन्तु उसकी कौंसिल के ही कुछ सदस्य आन्दोलनकारियों के साथ समझौता करने की सोचने लगे। अतः विवश होकर रिपन को समझौता करना पड़ा तथा बिल को संशोधित किया गया, जिसके अनुसार यूरोपियन अपराधी पर अभियोग की सुनवाई सत्र न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट कर सकता था चाहे वह भारतीय हो या यूरोपियन, किन्तु अपराधी को यह अधिकार होगा मुकदमे की सुनवाई में जूरी की मांग कर सके, जिसमें आधे सदस्य यूरोपीय अथवा अमेरिकी नागरिक हो। यह मांग केवल यूरोपियन अपराधी ही कर सकते थे। अतः उनकी स्थिति भारतीयों की अपेक्षा अच्छी रही। रिपन को प्रजातीय विभेद के समर्थकों के सामने झुकना पड़ा तथा अंग्रेजों के विशेषाधिकार पूर्व की भांति सुरक्षित रहे। यद्यपि रिपन इल्बर्ट बिल को मूल रूप में पारित नहीं करा सका, फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय उसके प्रति आभारी रहे, क्योंकि उन्होंने रिपन के विरोधियों की गतिविधियों को बड़े ध्यान से देखा और उन्होंने संगठित होने का सबक सीख लिया। इसी के परिणामस्वरूप समय समय पर भारतीयों ने संगठित होकर प्रजातीय विभेद के विरुद्ध कई आन्दोलनों का संचालन किया और 1855 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो सकी।

आर्थिक सुधार—आर्थिक सुधारों में रिपन ने पूर्व प्रचलित नीति को जारी रखते हुए ब्रिटिश हितों का समर्थन किया। उसने इंगलैंड में बने हुए कपड़े पर

भारत में लगे आयात कर को बिल्कुल समाप्त कर दिया तथा भारत को मुक्त व्यापार नीति का क्षेत्र बना दिया। चूंकि इसी समय रिपन ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को समाप्त करके भारतीयों की सद्भावना प्राप्त करली थी, अतः आयात कर समाप्ति का भारत में कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। वस्तुतः भारत में ऐसे लोग थे ही नहीं जो यह समझ सके कि इस आयात कर को समाप्त कर देने से भारत के आर्थिक हितों को मेनचेस्टर के हितों के लिये त्याग दिया है। इस बात को स्वयं रिपन ने भी स्वीकार किया था। रिपन ने नमक कर में भी कमी कर दी, जिसकी प्रतिक्रिया रिपन के पक्ष में रही।

1879 में लार्ड लिटन ने रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग गठित किया था, जिसकी रिपोर्ट रिपन के आने के बाद 1880 में प्रस्तुत की गई। अकाल आयोग ने सुझाव दिया कि अकाल सहायता का उत्तरदायित्व स्वयं सरकार स्वीकार करे तथा प्रत्येक वर्ष के बजट में कुछ रकम अलग से निर्धारित की जाय जो अकाल राहत कार्यों में काम आ सके। अकाल के बुरे प्रभावों को रोकने के लिये अकालग्रस्त क्षेत्रों के कुछ भीतरी भागों में रेल्वे लाइन बनायी जाय। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर रिपन ने रेल लाइनों का विस्तार तेजी से करना चाहा, किन्तु भारत सचिव के कहने पर वह केवल निजी क्षेत्रों में रेल लाइनों का निर्माण कर सका, जिससे सुरक्षात्मक-रेलों का विकास बहुत ही कम हुआ। आयोग की सिफारिशों के आधार पर एक स्थायी कोष की स्थापना की गई, जिसका उपयोग नहरें, यातायात के साधन, सिंचाई की व्यवस्था आदि के लिये किया जाता था। 1885 में अकाल संहिता का भी संकलन किया गया।

लार्ड लिटन ने एक फैक्ट्री विधेयक तैयार किया था, जिसका उद्देश्य लंकाशायर के मिल मालिकों को खुश करना था। लिटन के समय यह विधेयक पारित न हो सका। रिपन को इसे पास करवाने में बंगाल के उप-गवर्नर एडन के तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। अतः विधेयक में कुछ संशोधन करके पारित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार 7 वर्ष से कम आयु के लड़कों को काम पर नहीं लगाया जा सकता था और 12 वर्ष से कम आयु के लड़कों से दिन में 9 घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। फैक्ट्रियों का निरीक्षण करने के लिये फैक्ट्री निरीक्षकों की नियुक्ति की जा सकती थी तथा नियमों का उल्लंघन करने वालों पर 200 रुपये तक जुर्माना किया जा सकता था। किन्तु चाय, कॉफी, नील की खेती और कारखानों को, जो अंग्रेजों के नियंत्रण में थे, इस अधिनियम से मुक्त रखा गया।

ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना— भारत के देशी राज्यों पर अंग्रेजी नियंत्रण को 'ब्रिटिश सर्वोच्चता' शब्द से व्यक्त किया जाता था, किन्तु अब तक इस शब्द की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई थी। रिपन ने इसकी कुछ व्याख्या मैसूर के शासक को

उसका राज्य प्रशासन लौटाते समय की। रिपन के आने के पूर्व इंगलैंड की सरकार ने मैसूर के शासक को उसका राज्य लौटाने का निर्णय ले लिया था। अतः रिपन ने भारत आकर 25 मार्च 1881 को मैसूर का राज्य वापस कर दिया तथा राज्य हस्तांतरण पत्र की शर्तें स्वयं रिपन ने निश्चित की। इस हस्तांतरण पत्र के अनुसार पूर्व की समस्त सन्धियों को समाप्त कर दिया गया तथा मैसूर से वसूल किये जाने वाले वार्षिक खिराज की राशि बढ़ा दी गई। मैसूर राज्य के किसी उत्तराधिकारी को तब तक वैध नहीं माना जायेगा जब तक ब्रिटिश सरकार उसे मैसूर के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता न दे दे। मैसूर का शासक अपने राज्य की भू-लगान व्यवस्था, प्रसाशन व न्याय प्रणाली में भी भारत सरकार की अनुमति से ही परिवर्तन कर सकेगा। इसी प्रकार दिसम्बर 1881 में बड़ौदा का राज्य भी गायकवाड़ को लौटाते समय इसी तरह का हस्तांतरण पत्र तैयार किया। इन्दौर के शासक होल्कर ने ईसाई मिशनरियों को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया था। रिपन ने धार्मिक स्वतन्त्रता का तर्क प्रस्तुत कर होल्कर को अपनी नीति में परिवर्तन करने को बाध्य किया। हैदराबाद में सर सालारजंग की मृत्यु के बाद रिपन ने अपनी इच्छानुसार सालारजंग के पुत्र लायकअली को नियुक्त करवाया। इसी प्रकार कश्मीर में भी ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित किया गया। वस्तुतः 1858 के बाद ब्रिटिश सर्वोच्चता की जो स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई थी, उसे रिपन ने काफी अंशों तक स्पष्ट करदी तथा देशी राज्यों से सम्बंध स्थापित करने में ब्रिटिश सर्वोच्चता को अधिक प्रभावशाली बना दिया।

रिपन का मूल्यांकन—लार्ड रिपन द्वारा भारत में किये गये सुधार वास्तव में सराहनीय थे। रिपन के जीवनी लेखक ने लिखा है कि लार्ड डलहौजी से लेकर लार्ड कर्जन तक आये वायसरायों में रिपन के कार्य अधिक रचनात्मक थे। रिपन के उत्तराधिकारी लार्ड डफरिन ने भारत सचिव को लिखा था कि, "रिपन की लोक-*प्रियता के समक्ष वह (लार्ड डफरिन) अस्तित्वहीन है, भारतीयों के हृदय में रिपन* के प्रति अधिक श्रद्धा है।" वास्तव में रिपन के सुधारों से भारतीयों में राजनैतिक शिक्षा एवं चेतना का संचार हुआ। उसने भारतीयों को उनके उत्तरदायित्व से परिचित करा दिया था। 1884 में रिपन ने अपना पद त्याग दिया। भारत से वापस जाने से पूर्व बम्बई नगरपालिका ने उसे अभिनन्दन पत्र भेंट किया। अमृतसर में उसे गुलाब के फूलों की इतनी मालाएं पहनायी कि उसका दम घुटने लगा। कलकत्ता में उसकी विदाई के दिन खूब रोशनी की गई। कलकत्ता में राजा साहिब राय, जो भारत में आये लगभग सभी वायसरायों को जानता था, ने बताया कि, "हमारी स्त्रियां रिपन को अपने आभूषण भेंट स्वरूप देना चाहती हैं, क्योंकि उनकी रिपन के प्रति अत्यधिक श्रद्धा है।" भारतीयों ने रिपन के रूप में पहला ऐसा गवर्नर जनरल देखा, जो उनके प्रति सहानुभूति रखता था। इसलिये रिपन की विदाई

पर भारतीय परम्परा के सबसे उच्च शकुन नारियल आदि भेंट किये तथा मन्दिर के पुजारियों ने उसके ललाट पर कुमकुम एवं चावल के तिलक लगाये।

यद्यपि भारत सचिव व इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री के समक्ष वह अपनी बात दृढ़तापूर्वक नहीं रख सकता था, फिर भी वह एक साहसी व्यक्ति था। स्थानीय स्वशासन की योजना के सम्बंध में उसने स्पष्ट कहा था कि उसका लक्ष्य भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा देना है। ऐसी बात न पहले और न बाद में किसी भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ने, न भारत में और न ब्रिटेन में कही थी। भारतीयों के हितों की रक्षा करने में वह इतना लीन हो गया कि इल्बर्ट बिल के कारण उसे अपने देशवासियों से ही झगड़ा मोल लेना पड़ा। यद्यपि उसने यह झगड़ा जानबूझ कर मोल नहीं लिया था, लेकिन जब झगड़ा छिड़ गया तो वह अपने मोर्चे पर डटा रहा, यद्यपि बाद में उसकी कौंसिल के सदस्यों की ढिलमिल नीति के कारण उसे झुकना पड़ा। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट की समाप्ति, रिपन की टोपी की अतिरिक्त पंखुडियां कही जा सकती हैं। स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में उसके योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता। वास्तव में रिपन आधुनिक भारतीय इतिहास का एक चमकदार रत्न है। भारत में जितने वायसराय उसके पूर्व तथा उसके बाद आये, उनमें दूसरा रिपन मिलना असम्भव है।

कुछ इतिहासकारों ने रिपन पर आरोप लगाया है कि वह भाषण अधिक देता था, कार्य कम करता था। गृह सरकार का पूर्ण समर्थन प्राप्त करके भी वह उतनी सफलता प्राप्त नहीं कर सका, जितनी वह इस समर्थन से प्राप्त कर सकता था। वह कमजोर व्यक्तित्व वाला व्यक्ति था तथा दूसरे व्यक्तियों की योग्यता पहचानने की क्षमता उसमें कम थी। वास्तव में ये सारे आरोप द्वेष भावना से परिपूर्ण मालूम होते हैं। उसने अपने चार वर्ष के कार्यकाल में जो कुछ किया उसे कम कहना अन्यायपूर्ण होगा। गृह सरकार का समर्थन प्राप्त होने के कारण ही उसे इतनी सफलताएं मिली थी और जहां गृह सरकार का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ उसे अपने प्रयासों में सफलता नहीं मिली। अतः जितना समर्थन मिला उतनी सफलताएं प्राप्त हुई थी। यदि वह कमजोर व्यक्तित्व का व्यक्ति होता तो क्या भारत में शिक्षा के विकास को नई दिशा दी जा सकती थी? क्या सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट समाप्त हो सकता था? क्या वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीति का विकास सम्भव था? कदापि नहीं। कमजोर व्यक्तित्व वाला ऐसे साहसिक कदम नहीं उठा सकता था। यदि दूसरे व्यक्तियों की योग्यता को पहचानने की क्षमता नहीं होती तो मेजर बेरिंग जैसे वित्त विशेषज्ञ तथा विलियम हण्टर जैसे शिक्षा शास्त्री की सेवाएं उपलब्ध नहीं हो सकती थी। डॉ. एस. गोयल ने ठीक ही लिखा है कि, "ग्लेडस्टोन की भांति विभिन्न जातियों में मेल-मिलाप कराने वाले महान व्यक्तियों में से रिपन भी एक था।"

साम्राज्यवाद का स्वरूप
(1884–1899)

लार्ड रिपन द्वारा पद त्याग करने पर दिसम्बर 1884 में लार्ड डफरिन ने गवर्नर जनरल का पद ग्रहण किया। डफरिन के शासन काल में अफगानिस्तान से सम्बंध तथा बर्मा का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय महत्वपूर्ण घटनाएं थी।

अफगानिस्तान के अमीर अब्दुल रहमान ने अपनी सत्ता काफी सुदृढ़ करली थी। रूस ने इसमें गतिरोध उत्पन्न करने के लिये अफगानिस्तान की सीमा से 150 मील दूर स्थित मर्व नामक स्थान पर अधिकार कर लिया, जिससे युद्ध भड़कने की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किन्तु इंगलैण्ड व रूस के बीच हुई वार्ता के फलस्वरूप एक सीमांकन आयोग नियुक्त कर दिया गया। इसी बीच पंजदेह का मामला उठ खड़ा हुआ। पंजदेह अमीर का क्षेत्र माना जाता था तथा वहां अफगान सैनिक रहते थे। 1885 में रूस ने अफगान सैनिकों को मार भगाया, जिससे पुनः युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस समय अब्दुल रहमान रावलपिंडी में लार्ड डफरिन से बातचीत कर रहा था। बातचीत के बाद युद्ध टालने की दृष्टि से अब्दुल रहमान ने घोषणा की कि पंजदेह के स्वामित्व के सम्बंध में वह पूरी तरह आश्वस्त नहीं है। यदि उसे 85 मील दूर पश्चिम में जुल्फिकार मिल जाता है तो वह सन्तुष्ट हो जायेगा। इस घोषणा के बाद सीमांकन आयोग ने सीमा निर्धारण का कार्य आरम्भ किया तथा 1887 में सीमा निर्धारण के अन्तिम निर्णय पर हस्ताक्षर हो गये। फलस्वरूप अमीर के साथ श्रेष्ठ सम्बंध स्थापित हुए। किन्तु ये सम्बंध लार्ड लैन्सडाउन (1888–94) के साथ न रह सकें। क्योंकि लैन्सडाउन ने अमीर को उसके आन्तरिक प्रसाशन के सम्बंध में परामर्श देना तथा प्रजा से व्यवहार के सम्बंध में उपदेश देना आरम्भ कर दिया था। फलस्वरूप दोनों के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया और ब्रिटिश सीमा व अफगान सीमा के मध्य कबाइली क्षेत्र में, जिस पर अमीर का नियंत्रण था, उपद्रव आरम्भ हो गये। कबाइलियों ने ब्रिटिश मार्गों पर लूटमार करना आरम्भ कर दिया। किन्तु लैन्सडाउन के भारत छोड़ने से पहले संतोषजनक समझौता हो गया, फिर भी सम्बंधों में कटुता बनी रही।

1826 के प्रथम बर्मा युद्ध में अराकान व तनासरीन तथा 1852 के द्वितीय बर्मा युद्ध में पेगू प्रान्त ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये गये थे। उत्तरी बर्मा अब भी स्वतन्त्र था तथा यहां का शासक थीबा अत्यन्त ही अत्याचारी था। वह अपने देश में ब्रिटिश व्यापारियों को कोई सुविधा देने को तैयार नहीं था। उसने ब्रिटिश व्यापारियों पर भारी जुर्माना किया तथा ब्रिटिश कम्पनी के अधिकारियों को बन्दी बनाने की आज्ञा दे दी। इसके विपरीत उसने फ्रांसीसियों को व्यापारिक सुविधाएं दी। 1883 में एक बर्मी प्रतिनिधिमंडल पेरिस गया तथा 1885 में एक फ्रांसीसी राजदूत मांडले आया। अंग्रेज इस बात को सहन करने के लिये तैयार न थे कि ऊपरी बर्मा पर फ्रांसीसियों का प्रभाव स्थापित हो। अतः डफरिन ने थीबा को चेतावनी

दी और मांडले में ब्रिटिश राजदूत रखने की मांग की। थीवा से यह भी मांग की गई कि वह भारत सरकार के परामर्श के बिना विदेशों से सम्बंध स्थापित न करे। थीवा ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। अतः डफरिन ने, रंगून में स्थित अंग्रेजी सेनाओं को आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। वर्मी सैनिक आक्रमण का सामना न कर सके तथा ब्रिटिश सेनाएं राजधानी पहुंच गई। इस पर थीवा ने बिना शर्त आत्मसर्पमरण कर दिया। फलस्वरूप 1886 में उत्तरी वर्मा को भी ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया तथा थीवा को पेंशन देकर भारत भेज दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने एक स्वतंत्र शासक की सत्ता को समाप्त कर अपनी घोर साम्राज्य-वादी प्रवृति का परिचय दिया था।

लार्ड लैन्सडाउन के उत्तराधिकारी लार्ड एल्गिन द्वितीय (1894-99) ने भी अपने पूर्वाधिकारियों की नीति को यथावत् बनाये रखा। उसने उत्तरी-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिये कश्मीर के गिलगित नामक स्थान पर ब्रिटिश ऐजेन्सी स्थापित की तथा इसकी एक चौकी चितराल के मस्तुज नामक स्थान पर रखी, जहां से ब्रिटिश पोलीटिकल एजेन्ट समय समय पर चितराल जाता रहता था।

लार्ड एल्गिन द्वितीय को आर्थिक कठिनाइयों से अधिक संघर्ष करना पड़ा, क्योंकि विनिमय दर में कमी के कारण बजट में भयंकर घाटे की संभावना थी। अतः उसने कपड़े को छोड़कर सभी आयात की जाने वाली चीजों पर 5 प्रतिशत आयात कर लगा दिया। व्यापारियों के कड़े विरोध के कारण 1896 में उसने यह आयात कर 3½ प्रतिशत कर दिया। लेकिन इसी वर्ष वर्षा कम होने के कारण उसे भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। अगस्त 1896 में बम्बई में प्लेग फैल गया। यह प्लेग धीरे धीरे नगरों व प्रान्तों में फैल गया। चिकित्सकों द्वारा बताये गये उपाय लागू नहीं हो सके, क्योंकि भारतीयों में अन्धविश्वास की भावना अधिक थी। सरकार ने भी इसके निवारण हेतु कोई उत्साह नहीं दिखाया। फलतः जनता में असंतोष फैलने लगा और पूना के प्लेग कमिश्नर की हत्या करदी गई। भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों ने भी सरकार की कटु आलोचना की।

साम्राज्यवाद का प्रतीक : लार्ड कर्जन (1899-1905)

जनवरी 1899 में लार्ड एल्गिन द्वितीय के स्थान पर लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। लार्ड कर्जन सेलिसबरी की सरकार में विदेश उपमंत्री तथा भारत उप सचिव जैसे महत्वपूर्ण पदों पर रह चुका था। गवर्नर जनरल बनने के पूर्व वह चार बार भारत आ चुका था और एशिया की समस्याओं पर उसकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थी। इतिहासकार पी. ई. रावर्ट्स ने लिखा है, "भारत में किसी अन्य वायसरांय को अपना पद संभालने से पूर्व भारत की समस्याओं का इतना ठीक ज्ञान नहीं था, जितना कि लार्ड कर्जन को।" भारत में

गवर्नर जनरल का पद उसने बड़े परिश्रम व धैर्य से प्राप्त किया था। अतः अपना पद ग्रहण करने पर उसने अपने एक भाषण में कहा था, "मैं भारत को, इसके लोगों को, इसके इतिहास को, इसकी सरकार को, इसकी सभ्यता के रहस्य को और इसके जीवन को प्यार करता हूं।" फिर भी जब वह भारत से विदा हुआ, उस समय वह सबसे अधिक अलोकप्रिय गवर्नर जनरल था।

लार्ड कर्जन के समक्ष भारत में अनेक समस्याएं थी। अकाल और प्लेग तो उसे उत्तराधिकार में मिले थे। आय कम होने से सरकार के समक्ष भीषण आर्थिक संकट था। भारत की राजनीतिक स्थिति भी सर्वथा बदल चुकी थी। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। ऐसी परिस्थितियों में लार्ड कर्जन चाहता था कि वह भारत में ऐसे प्रशासनिक कार्य करे, जिससे अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें मजबूत हो तथा भारतीयों को गुलामी की बेड़ियों में दृढ़ता से जकड़ दिया जाय। कर्जन अपनी योग्यता में असीमित विश्वास तथा दूसरों पर उतना ही अविश्वास रखता था। इसलिये कई बार उसे ऐसे कार्य भी करने पड़ते थे, जो एक साधारण कर्मचारी कर सकता था। उसके प्रशासन की मुख्य विशेषता थी, 'कार्य-कुशलता'। किन्तु उसके प्रशासनिक कार्य पूर्णतः प्रतिक्रियावादी थे।

वित्त सम्बंधी कार्य—लार्ड मेयो के काल से चले आ रहे वित्तीय विकेन्द्रीकरण को लार्ड कर्जन ने यथावत् रखा, केवल उसने पंचवर्षीय व्यवस्था के स्थान पर स्थायी व्यवस्था को लागू किया। कर्जन के भारत आने से पूर्व 1898 में लार्ड एल्गिन द्वितीय ने एक वित्त आयोग का गठन किया था। इस वित्त आयोग ने सुझाव दिया कि इंगलैण्ड के पौंड को भारत की सरकारी मुद्रा घोषित करदी जाय तथा विनिमय दर 15 रुपये करदी जाये। लार्ड कर्जन ने सितम्बर 1899 में एक अधिनियम द्वारा इस प्रस्ताव को कानूनी रूप प्रदान कर दिया। चांदी के सिक्कों से प्राप्त होने वाले लाभ से सोने का एक रक्षित कोष स्थापित किया ताकि विनिमय दर में स्थायित्व बना रहे। भारत से निर्यात की जाने वाली चाय पर भी उसने आवश्यक कर लगाया तथा नमक कर में भी कमी करदी। किन्तु कर्जन ने अपने देश के हितों की रक्षार्थ भारत को एक उपनिवेश समझते हुए औद्योगिक विकास नहीं किया, जबकि उस समय भारत में औद्योगिक विकास सम्भव था। यदि कर्जन भारत में औद्योगिक विकास करता तो प्रथम विश्वयुद्ध के अवसर पर अमेरीका से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अकाल एवं कृषि—कर्जन के आने के पूर्व भारत में भयंकर अकाल पड़ा था, जिसके प्रभाव चिन्ह अभी मिट नहीं पाये थे। भारतीय नेताओं का कहना था कि अकाल का प्रकोप इसलिये अधिक था कि किसानों से लगान अधिक लिया जाता है, जिससे संकट का सामना करने के लिये उनके पास कुछ नहीं बचता। 1900 में भारतीय नेताओं ने कर्जन को एक स्मरण पत्र देकर अनेक सुझाव दिये, किन्तु कर्जन

ने उन पर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने मैक्डोनल्ड की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग गठित किया। 1901 में इस आयोग ने गैर सरकारी सहायता प्राप्त करने का सुझाव दिया तथा रेलों, कृषि एवं सिंचाई के कार्यों में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि करने की सिफारिश की। आयोग की सिफारिशों के आधार पर अकाल संहिता में संशोधन किया गया। अकाल व सूखे के कारण कृषि की भी समस्या खड़ी हो चुकी थी। अतः कृषि में सुधार करने हेतु उसने निम्नलिखित कदम उठाये—

(1) 1900 ई. में पंजाब भूमि स्वामित्व हस्तांतरण अधिनियम पास करके इस बात का प्रयत्न किया कि भूमि कृषक जातियों से गैर कृषक जातियों को हस्तांतरित न की जाय। इस अधिनियम की भावना अच्छी थी, किन्तु कृषक जातियों की सूची मनमाने ढंग से तैयार की गई तथा उन वर्गों को गैर कृषक घोषित कर दिया जिनमें राजनैतिक जागृति अधिक दिखाई देती थी।

(2) 1902 में एक घोषणा द्वारा किसानों को बहुत सी सुविधाओं का आश्वासन दिया गया, किन्तु ये आश्वासन मात्र कागजों में ही रहे, वास्तविक कार्य कुछ भी नहीं हुआ। 1905 में यह व्यवस्था की गई कि अकाल के समय लगान वसूली में छूट दी जाय, किन्तु यह जिलाधिकारियों की स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया, जिससे प्रशासन में भ्रष्टाचार फैल गया।

(3) 1904 में सहकारी समिति अधिनियम पारित किया गया, जिसके अनुसार देहातों तथा नगरों में सहकारी समितियों की स्थापना कर किसानों को कम ब्याज पर ऋण दिया जाय। किन्तु इस पर भी ठोस कार्य न हो सका, क्योंकि सहकारी समितियों में भी प्रतिक्रियावादी तत्वों का बहुमत रहता था।

(4) 1901 में कृषि महानिरीक्षक की नियुक्ति की गई तथा 1905 में पूसा कृषि अनुसंधान संस्थान स्थापित की गई ताकि कृषि का वैज्ञानिक तरीके से विकास किया जा सके। किन्तु सामान्य जनता तक उसके लाभ नहीं पहुंच सके।

(5) मानसून पर अधिक निर्भर न रहने के लिये 1901 में कर्जन ने एक सिंचाई आयोग गठित किया और इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर अनेक नई नहरों का निर्माण किया गया। किन्तु नहरों के निर्माण में क्षेत्रों का चुनाव मनमाने ढंग से किया गया, जिससे सामान्य किसानों को इन सुविधाओं से कोई लाभ प्राप्त न हो सका।

रेल लाइनों का निर्माण— कर्जन के आने से पूर्व भारत में रेल सचालन की दोहरी व्यवस्था थी—कुछ रेलों का प्रवन्ध निजी कम्पनियों के पास था और कुछ भारत सरकार के पास था। इस दोहरी व्यवस्था पर विचार करने के लिये कर्जन ने सर थामस रावर्टसन को नियुक्त किया। 1903 में रावर्टसन ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर रेलों को व्यापारिक

दृष्टि से चलाने का सुझाव दिया। राबर्ट्सन के प्रतिवेदन के आधार पर कर्जन ने प्रचलित व्यवस्था को समाप्त कर तीन सदस्यों का एक रेलवे बोर्ड गठित किया तथा रेलों का सम्पूर्ण कार्य इस बोर्ड को सौंप दिया। इस रेलवे बोर्ड ने नई रेल लाइनों के निर्माण का कार्य हाथ में लिया। जिस समय कर्जन भारत से विदा हुआ, उस समय भारत में लगभग 28,150 मील रेल लाइनों का निर्माण हो चुका था तथा लगभग 3,167 मील रेल लाइनों का निर्माण कार्य चल रहा था। कर्जन द्वारा रेलवे बोर्ड की स्थापना, भारतीय रेलों के इतिहास में एक महान युगान्तकारी घटना कही जा सकती है।

शिक्षा सम्बंधी कार्य—लार्ड रिपन के काल में हण्टर आयोग की सिफारिशें लागू करदी गई थी और सरकार ने उच्च शिक्षा के दायित्वों से हाथ खींच लिया था। किन्तु कर्जन उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करना चाहता था। कर्जन का मुख्य उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभाव को कम करना था। उसका विचार था कि उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण स्थापित हो जाने से कांग्रेस का प्रभाव कम हो जायेगा। कर्जन को प्रचलित शिक्षा पद्धति में भी कुछ दोष दिखाई दिये। अतः सितम्वर 1901 में उसने विभिन्न सरकारी अधिकारियों का शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया, जहां उसने कालेजों व विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण वढ़ाने की वात कही। कर्जन की इस नीति की तीव्र आलोचना हुई। अतः जनवरी 1902 में कर्जन ने सर थामस रैले की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया, जिसमें दो भारतीय सदस्य भी थे। जून 1902 में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें प्रचलित शिक्षा पद्धति को निराशापूर्ण वताया। इस आयोग ने कालेजों को सरलता से मान्यता न देने, विश्वविद्यालयों के विभिन्न निकायों में सरकारी प्रतिनिधित्व वढ़ाने तथा विधि शिक्षा को केन्द्रित न करने के सुझाव दिये।

रैले आयोग की सिफारिशों के आधार पर प्राथमिक परीक्षाएं समाप्त करदी गई तथा प्राथमिक स्तर के छात्रों का मूल्यांकन परीक्षाफल के आधार पर न होकर वर्ष भर की योग्यता के आधार पर कर दिया। 1904 में उसने भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया, जिसमें मुख्य रूप से निम्नलिखित धाराएं थी—

(1) भारत में तीनों पुराने विश्वविद्यालयों के सीनेट के सदस्यों की संख्या कम से कम 50 तथा अधिक से अधिक 100 निर्धारित करदी गयी। नव स्थापित विश्वविद्यालयों के लिये सदस्य संख्या क्रमशः 40 और 75 निर्धारित की गई। सिंडीकेट के सदस्यों की संख्या 20 से भी कम कर दी गई। इन निकायों में सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों की संख्या 80 प्रतिशत कर दी गई।

(2) विश्वविद्यालयों द्वारा कालेजों को मान्यता देने का अधिकार सरकार को दे दिया गया। प्रोफेसरों एवं प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिये भी सरकार की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गई। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि नीति सम्बंधी मामले सरकार की अनुमति से ही तय किये जायेंगे।

(3) स्नातकोत्तर शिक्षा का प्रबन्ध विश्वविद्यालयों को दे दिया गया तथा विश्वविद्यालयों द्वारा कालेजों के निरीक्षण की भी व्यवस्था की गई। इससे विश्वविद्यालयों में शोध की सुविधाएं कम हो गयी।

इस अधिनियम का वास्तविक उद्देश्य उच्च शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करना था। भारत के राष्ट्रवादियों ने इस नीति की कटु आलोचना की। वस्तुतः उस समय देश में राष्ट्रीय आन्दोलन उत्पन्न हो रहा था, जिसे कर्जन ने भांप लिया था। अतः कर्जन की नीति का लक्ष्य राष्ट्रीय विचारधारा को कुंठित कर राष्ट्रीय आन्दोलन को समाप्त करना था। फलस्वरूप कर्जन ने शिक्षा के क्षेत्र में जो भी कार्य किये उन्हें प्रतिक्रियावादी तथा भारतीयों को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ने का प्रयत्न मात्र कहा गया। किन्तु कर्जन के प्रयत्नों से इतना लाभ अवश्य हुआ कि अब विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाएं न रहकर वास्तविक शिक्षण संस्थाएं बन गई, जिससे आगे चलकर शिक्षा का स्तर ऊंचा उठा।

पुलिस विभाग का प्रशासन—पुलिस की योग्यता के सम्बंध में जनता में सन्देह था तथा उसके कार्यों से जन असंतोष था। वस्तुतः उस समय पुलिस विभाग में अधिकांश कर्मचारी भारतीय थे, इसलिये कर्जन की दृष्टि में पुलिस विभाग में कार्य कुशलता का अभाव था। अतः कर्जन ने 1902 में सर एन्ड्रयू फ्रेजर की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग गठित किया और पुलिस व्यवस्था की जांच के आदेश दिये। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि पुलिस दल पूर्णतया अयोग्य है तथा भ्रष्ट व दमनकारी है। आयोग ने पुलिस प्रशासन की खूब निन्दा की और सुझाव दिया कि उच्च पदों पर पदोन्नति न करके सीधी भर्ती की जाय, अखिल भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारी यूरोपियन होने चाहिये तथा प्रान्तीय पुलिस सेवा के लिये भर्ती भारत में की जाय। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि पुलिस अधिकारियों के लिये प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया जाय और प्रत्येक प्रान्त में खुफिया पुलिस विभाग की स्थापना की जाय जो केन्द्र के अधीन हो। कर्जन ने इस आयोग की सिफारिशों को लागू करके पुलिस विभाग का पुनर्गठन किया। इस पुनर्गठन में अंग्रेज जिला पुलिस अधिकारियों की संख्या बढ़ा दी और उच्च पदों पर केवल अंग्रेजों की सीधी भर्ती की गई। इस प्रकार कर्जन ने प्रजातीय विभेद को और अधिक बढ़ावा दिया।

कलकत्ता निगम अधिनियम—कर्जन ने 1900 ई. में कलकत्ता निगम अधिनियम पारित करके प्रशासन पर प्रतिक्रियावादी नीति की स्पष्ट छाप अंकित कर दी। इस अधिनियम द्वारा यद्यपि नगर के कार्यों का वास्तविक उत्तरदायित्व कलकत्ता निगम को सौंप दिया गया, किन्तु निगम में स्थायी रूप से यूरोपियन सदस्यों का बहुमत कर दिया गया। निगम के सदस्यों की संख्या 75 से घटाकर 50 कर दी और इनमें भी निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम करके मनोनीत सरकारी

सदस्यों का बहुमत स्थापित कर दिया गया। वस्तुतः लार्ड कर्जन किसी भी स्वायत्त निकाय पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करने का पक्षपाती था। उसने भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित कर, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता समाप्त की और कलकत्ता निगम अधिनियम पारित करके निगम की स्वायत्तता समाप्त कर दी। उसने निगम के अध्यक्ष पद पर एक सरकारी अधिकारी को नियुक्त किया। भारत के राष्ट्रवादियों ने कर्जन की इस कार्यवाही की कटु आलोचना की और इसके विरुद्ध कलकत्ता में आन्दोलन छिड़ गया। लगभग 28 म्युनिसिपल समितियों के निर्वाचित सदस्यों ने त्याग पत्र दे दिया, किन्तु इस जन आन्दोलन का कर्जन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् वह अत्यधिक प्रतिक्रियावादी होता गया।

बंगाल का विभाजन—19वीं शताब्दी के अंत में जनसंख्या व क्षेत्रफल की दृष्टि से बंगाल एक बहुत बड़ा प्रान्त था। वर्तमान पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा और बंगला देश उस समय बंगाल प्रान्त में थे और प्रान्त की जनसंख्या 7 करोड़ 80 लाख थी। अतः प्रशासन का भार इतना बढ़ गया था कि एक लेफ्टिनेंट गवर्नर द्वारा प्रशासन चलाना कठिन हो रहा था। अतः बंगाल को दो भागों में बांटने के प्रस्ताव आने लगे। दिसम्बर 1903 में लार्ड कर्जन ने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार कर एक सरकारी निर्णय से जन साधारण को सूचित किया कि, "मेरे विचार में अच्छी सरकार वह है जो जनता को अधिकाधिक सन्तुष्ट रख सके और यदि बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय तो इन दोनों भागों में निश्चित रूप से प्रशासनिक कुशलता होगी जिसमें जनता अधिकाधिक मात्रा में संतुष्ट होगी।" विभाजन की योजना स्पष्ट करते हुए बताया कि ढाका, मेमनसिंह और चटगांव को असम में मिला दिया जायेगा और उड़िया भाषी क्षेत्रों को बंगाल के अधीन कर दिया जायेगा। इस विभाजन के सम्बंध में कर्जन के मन में एक बात यह भी थी कि बंगाल विभाजन से बंगालियों का राष्ट्रीयता में योगदान कम हो जायेगा।

इस विभाजन योजना की घोषणा के बाद तुरन्त इसकी आलोचना आरम्भ हो गयी। बंगालियों के विचार में यह विभाजन प्रशासनिक सुविधा से नहीं किया जा रहा था, क्योंकि प्रशासनिक सुविधा के कई विकल्प प्रस्तुत किये गये थे, किन्तु कर्जन ने किसी अन्य योजना को स्वीकार नहीं किया था। अतः बंगालियों की दृष्टि में यह विभाजन प्रान्त की राजनीतिक एकता को नष्ट करने के लिये किया जा रहा था तथा हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया जा रहा था। इन विचारों के कारण विभाजन के विरुद्ध एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। कर्जन ने फरवरी 1904 में पूर्वी बंगाल का दौरा किया। इस दौरे के बाद उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि बंगाली एकता को निश्चित रूप से भंग कर दिया जाय। अतः इन आन्दोलनों के समक्ष झुकना तो दूर रहा, कर्जन इसके प्रति और

दृढ़ हो गया। सितम्बर 1904 में उसने विभाजन की योजना तैयार करके 16 अक्टूबर 1905 में बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया। विभाजन के अनुसार राजशाही, दिनाजपुर, मालदा व कूच विहार भी असम के साथ मिलाकर एक नया प्रान्त बनाया गया जिसकी राजधानी ढाका रखी गई। इस नये प्रान्त में विधानसभा तथा राजस्व मंडल की स्थापना स्वीकार कर ली गई। शेष प्रान्त को पश्चिमी बंगाल के नाम से पृथक कर दिया। इसी बीच कर्जन इंगलैंड गया और इंगलैंड की सरकार से भी उसने अनौपचारिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। बंगाल विभाजन में कर्जन का राजनीतिक लक्ष्य बंगला भाषी हिन्दुओं को दोनों प्रान्तों में अल्पमत में रख देना था और पूर्वी बंगाल के मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करना था।

बंगाल विभाजन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध सर्वाधिक संगठित विरोध उत्पन्न कर दिया। भारतीयों के विचार में इस विभाजन की पृष्ठ-भूमि में साम्प्रदायिक तत्व छिपे हुए थे। वस्तुतः उनका विचार सही भी था, क्योंकि स्वयं लार्ड कर्जन ने पूर्वी बंगाल की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि विभाजन का उद्देश्य एक मुस्लिम प्रान्त की रचना करना था, जहां केवल इस्लाम का प्रभुत्व हो। इससे जन आन्दोलन और अधिक भड़क उठा। किन्तु कर्जन के समर्थकों ने इसे उचित ठहराया। इतिहासकार पी. ई. राबर्ट्स के अनुसार, "कर्जन ने यह कदम प्रशासन की श्रेष्ठता के लिये उठाया था। उसकी दृष्टि में यह परिवर्तन प्रशासकीय सीमाओं का पुनर्गठन मात्र था, जन भावना को ठेस पहुंचाना उसका लक्ष्य नहीं था। इस निर्णय को लेने से पूर्व कर्जन को क्या मालूम था कि उसके विरुद्ध इतना भयंकर आन्दोलन उठ खड़ा होगा और एक बार निर्णय करके पीछे हटना उसकी नीति के विरुद्ध था·······दृढ़ता के अभाव में प्रशासन का चक्र नहीं चलता। झुकने वाले प्रशासकों की साख खत्म हो जाती है और उन्हें जन सेवा से मुक्ति लेनी पड़ती है।" राबर्ट्स का यह कथन इतिहास का कोई भी विद्यार्थी स्वीकार नहीं कर सकता। यदि कर्जन जन भावना को ठेस पहुंचाना नहीं चाहता था तो पूर्वी बंगाल की सभा में दिया गया उसका भाषण जन भावना का आदर करने वाला कदापि नहीं था। राबर्ट्स का यह कथन कि 'झुकने वाले प्रशासकों की साख खत्म हो जाती है' सर्वथा मिथ्या है। 1883 में इल्बर्ट बिल विवाद के समय रिपन को झुकना पड़ा था। इससे रिपन की साख खत्म क्यों नहीं हुई? इसलिये कि वह यूरोपियनों के समक्ष झुका था। सत्य तो यह है कि जन भावनाओं का सम्मान करते हुए यदि किसी प्रशासक को अपना निर्णय बदलना भी पड़े तो उसका हम जनतांत्रिक प्रशासक के रूप में सम्मान कर सकते हैं।

इस विभाजन ने भारतीयों को संगठित कर दिया तथा भारतीयों के इस संगठित विरोध को शान्त करने के लिये भारत सरकार को विवश होकर 1911 में

बंगाल विभाजन रद्द करना पड़ा। पहली बार अंग्रेजी सरकार को भारतीय जनमत के समक्ष झुकना पड़ा, जिसके दूरगामी परिणाम हुए।

कर्जन-किचनर विवाद—उस समय व्यवस्था यह थी कि सेना का प्रधान सेनापति गवर्नर जनरल की परिषद का भी सदस्य होता था। किन्तु वह सैनिक कार्यों में व्यस्त होने के कारण परिषद् की बैठकों में अधिक समय नहीं दे सकता था। अतः एक प्रशासकीय विभाग की स्थापना की गई जिसका अध्यक्ष, गवर्नर जनरल की परिषद का एक सदस्य होता था, जिसे 'मिलट्री मेम्बर, कहते थे। वह सेना की किसी कमान को नहीं संभालता था। उसका प्रमुख कार्य प्रधान सेनापति के प्रस्तावों पर अपना मत व्यक्त करते हुए गवर्नर जनरल को उन प्रस्तावों के औचित्य व अनौचित्य को बताना था। 1902 में लार्ड किचनर प्रधान सेनापति नियुक्त होकर भारत आया। किचनर ने इस प्रचलित व्यवस्था को अवांछनीय एवं विलम्बकारी बताया तथा इसका विरोध किया। उसने सेना के कार्याङ्ग व प्रशासन को एक करने की सलाह दी। अतः 1905 में भारत सचिव ने इस प्रश्न पर विचार करने हेतु मामला कर्जन के पास भेज दिया। कर्जन ने इस प्रश्न को परिषद के समक्ष रखा। परिषद के एक सदस्य लार्ड रावर्ट्स ने किचनर का समर्थन किया। किचनर ने प्रचलित व्यवस्था का कड़ा विरोध किया और कहा कि इस व्यवस्था में मिलट्री मेम्बर को प्रधान सेनापति से अधिक शक्तियां प्राप्त है, जबकि वह प्रधान सेनापति से निम्न पद का व्यक्ति है। किचनर ने यह भी कहा कि मिलट्री मेम्बर द्वारा परिषद में बैठकर प्रधान सेनापति के कार्यों की आलोचना करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि उसे सैनिक मामलों का कोई अनुभव नहीं है। किन्तु कर्जन का कहना था कि सेना के कार्याङ्ग व प्रशासन को एक कर देने से सेना की पूर्ण सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जायेगी तथा उस पर किसी का नियंत्रण नहीं रह जायेगा। परिषद के सभी सदस्यों ने कर्जन का समर्थन किया तथा भारत सचिव को परिषद की सम्मति भेजते समय किचनर का विरोध पत्र भी उसके साथ लगा दिया गया। भारत सचिव ने भी प्रश्न के औचित्य व अनौचित्य पर निर्णय देने की वजाय दोनों पक्षों में मेल करवाना उचित समझा तथा निर्णय दिया कि प्रशासन का सैनिक विभाग प्रधान सेनापति के नियन्त्रण में हो तथा सैनिक मामलों में परामर्श देने का अधिकार केवल प्रधान सेनापति को हो। अन्य सहायक विभाग, परिषद के एक अन्य सदस्य की देखरेख में कार्य करे और इस सदस्य को सैनिक पूर्ति सदस्य (Military Supply Member) कहा जाय। यह भी सुझाव दिया कि पुरानी व्यवस्था के अन्तर्गत इस पद पर कार्य कर रहे एडमण्ड एलिस को सेवा निवृत कर उसके स्थान पर नयी व्यवस्था के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को नियुक्त किया जाय। यह प्रस्ताव कर्जन को स्वीकार नहीं था, अतः वह त्याग पत्र देने के लिये तैयार हो गया। किन्तु डान्जिल इवेट्सन द्वारा समझौता करा दिया गया।

काउन्सिल ने प्रस्ताव किया कि सैनिक पूर्ति सदस्य वायसराय को सैनिक प्रश्नों पर परामर्श देने के लिये उपलब्ध रहेगा। कर्जन और किचनर ने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। कर्जन ने इस पद पर सर एडमण्ड बैरो का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु भारत सचिव ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा कि इस पद पर किसी तकनीकी व्यक्ति को नामजद किया जाय और किसी व्यक्ति को नामजद करने से पूर्व किचनर से परामर्श ले लिया जाय। भारत मन्त्री के इस निर्देश को कर्जन ने अपने आत्म सम्मान पर प्रहार समझा। अतः अगस्त 1905 में उसने त्याग पत्र दे दिया।

लार्ड कर्जन की विदेश नीति

लार्ड कर्जन भारत के लिये वैज्ञानिक सीमाएं स्थापित करना चाहता था। अतः इसी दृष्टिकोण के आधार पर उसने अपनी विदेश नीति का निर्माण किया था। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कर्जन की विदेश नीति को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त नीति (2) अफगानिस्तान के प्रति नीति (3) तिब्बत के प्रति नीति और (4) फारस के प्रति नीति।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त नीति—भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा सदैव समस्यामूलक रही है। इस सीमान्त प्रदेश के कबाइली स्वाधीनता प्रिय थें। अतः जब अंग्रेजों ने अफगानिस्तान व कबाइली क्षेत्रों के बीच सीमांकन किया तो कबाइली भड़क उठे तथा कबाइलियों ने ब्रिटिश मार्गो पर लूटमार आरम्भ कर दी। लार्ड लैन्सडाउन ने उन्हें नियंत्रित किया, फिर भी कटुता बनी रही। लार्ड एलिगन द्वितीय ने कबाइलियों को नियंत्रित रखने हेतु कश्मीर के गिलगित नामक स्थान पर ब्रिटिश एजेन्सी स्थापित करके चितराल, टोची घाटी, लोडी कोतल व खैबर दर्रे में ब्रिटिश सैनिक तैनात किये। लार्ड कर्जन के भारत आने के समय ब्रिटिश सेना इन स्थानों पर तैनात थी।

उस समय उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त नीति के सम्बंध में दो विचारधाराएं प्रचलित थी —एक विचारधारा 'अग्रगामी नीति' की समर्थक थी, जिसके अनुसार ब्रिटिश सैनिकों को कबाइली क्षेत्रों में आगे बढ़ना चाहिये तथा सैन्य शक्ति से कबाइलियों को नियंत्रित करना चाहिये। दूसरी विचारधारा 'अहस्तक्षेप की नीति' की समर्थक थी। कर्जन ने मध्यमार्गी नीति का अवलम्बन किया। वह न तो इस क्षेत्र में सैन्य शक्ति के प्रयोग के पक्ष में था और न वह चाहता था कि यह क्षेत्र इतना अनियंत्रित हो जाय कि ब्रिटिश सेना को पीछे हटने के लिये विवश होना पड़। अतः कर्जन की नीति का मूल उद्देश्य यह था कि कबाइलियों को अपने प्रदेश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व स्वयं अपने ऊपर लेना चाहिये। कर्जन ने कबाइली क्षेत्रों से ब्रिटिश सेना को वापिस बुला लिया और उसके स्थान

पर कवाइली रंगरूटों को तैनात कर दिया, किन्तु उनकी सैनिक कमान ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के हाथ में रखी। कवाइलियों को यह वात अच्छी तरह समझा दी गई कि जहां भारत सरकार उनकी स्वाधीनता का सम्मान करती है, वहां इस क्षेत्र में किसी प्रकार की अव्यवस्था को भी सहन करने को तैयार नहीं है। कर्जन ने कवाइलियों के आक्रमण के प्रति सजग रहते हुए सीमा की सुरक्षा व्यवस्था को दृढ़ कर दिया। कवाइली क्षेत्रों में सड़कों आदि के निर्माण के लिये भी कवाइली मजदूरों की भर्ती की, ताकि वे अपना जीविकोपार्जन कर सके।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त जिला पंजाव एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन था, जिस पर भारत सरकार का कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था। इससे सरकार की नीतियों को लागू करने में अनावश्यक विलम्ब हो जाया करता था और लेफ्टिनेंट गवर्नर भी प्रशासन में इतना उलझा रहता था कि सीमान्त समस्या की ओर उचित ध्यान नहीं दे पाता था। लार्ड लिटन ने प्रस्ताव दिया था कि पंजाव से कुछ जिलों को अलग कर एक दूसरा उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त वनाया जाय, जो सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में हो। किन्तु उस समय इंगलैंड की सरकार ने लिटन के प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। इस प्रस्ताव को मूर्त रूप देने का श्रेय लार्ड कर्जन को है। कर्जन ने 1901 में इस नये प्रान्त का निर्माण किया और उसका प्रशासन चीफ कमिश्नर को सौंपा, जो प्रत्यक्ष रूप से भारत की केन्द्रीय सरकार के अधीन था। इस नयी व्यवस्था का पंजाव के कुछ जिला अधिकारियों ने तीव्र विरोध किया, क्योंकि नई व्यवस्था से उनके स्वच्छंद कार्यों पर रोक लग गयी थी और अव उन पर प्रत्यक्ष केन्द्र का नियंत्रण स्थापित हो गया था। किन्तु कर्जन एक वार निर्णय लेनें के वाद पीछे हटने वाला नहीं था।

लार्ड कर्जन की उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त नीति की सफलता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि भारत सरकार को अगले दस वर्षों तक इस क्षेत्र में किसी अप्रिय घटना का सामना नहीं करना पड़ा। इसके अतिरिक्त नई व्यवस्था मितव्यी भी थी। फिर भी इस नीति से सीमान्त समस्या का स्थायी हल नहीं निकल सका। प्रथम विश्व युद्ध के समय इस क्षेत्र में स्थिति पुनः अनियंत्रित हो गयी थी। प्रसिद्ध विद्वान थॉम्पसन और गैरट ने ठीक ही लिखा है कि, "लार्ड कर्जन ने सीमान्त समस्या को हल नहीं किया। इसकी अनेक कठिनाइयां अभी तक विद्यमान थी, किन्तु उसने ऐसी व्यवस्था स्थापित की, जो विद्वानों के विरोधी दृष्टिकोणों के वीच समझौता प्रमाणित हुई।" इस प्रकार कर्जन ने शान्त रहने पर कवाइली नेताओं को आर्थिक सहायता दी और आवश्यकता पड़नें पर अंग्रेजी सेना को कवाइली क्षेत्रों में आक्रमण करनें भी भेजा। अतः कर्जन ने सैनिक व आर्थिक सहायता की मिश्रित नीति का अवलम्वन किया।

अफगानिस्तान के प्रति नीति—लार्ड कर्जन के भारत आने के समय अव्दुल रहमान अफगानिस्तान का अमीर था तथा भारत के साथ उसके सम्वंध सामान्य

थे। 1893 में हुए ड्रण्ड समझौते के अनुसार अंग्रेजों ने उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, विदेशी आक्रमण के समय सैनिक सहायता देने तथा अच्छे सम्बंध बनाये रखने तक उसे 1,20,000 पौंड वार्षिक सहायता दी जाती रहेगी। इस समझौते के अनुसार अमीर को ब्रिटिश भारत के माध्यम से हथियार मंगवाने का अधिकार था। किन्तु अमीर ने इस समझौते का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया था। अक्टूबर 1901 में अब्दुल रहमान की मृत्यु हो गयी तथा उसका पुत्र हबीबुल्ला नया अमीर बना। कर्जन ने नये अमीर से कहा कि उसके पिता से जो सन्धि हुई थी, वह उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयी है, इसलिये नई सन्धि की जाय। हबीबुल्ला का कहना था कि जो सन्धि हुई थी वह दो व्यक्तियों के बीच न होकर दो राज्यों के बीच हुई थी, अतः वह समाप्त नहीं हो सकती। हबीबुल्ला के इस कथन से विवाद उत्पन्न हो गया।

इस समय अफगानिस्तान की राजनीति में परिवर्तन आने लगा। अमीर ने प्रशासन की समस्त शक्तियां अपने भाई को सौंप दी तथा उसकी सेना में भी अनुशासनहीनता दिखाई देने लगी। कर्जन को इसकी सूचना इस प्रकार मिली कि *नये अमीर का झुकाव रूस की तरफ है तथा मंचूरिया में जापान की सफलता से* अफगानिस्तान भी प्रेरित हो रहा है। कर्जन ने अमीर से बातचीत करने के लिये बार बार भारत आने का निमंत्रण भेजा, किन्तु अमीर ने उन्हें ठुकरा दिया। अतः 1904 में जब कर्जन छुट्टी लेकर इंगलैंड गया तब इंगलैंड में सरकार ने कर्जन से बातचीत कर अमीर को पत्र लिखा कि भारत में अंग्रेजी सरकार अफगानिस्तान में एक व्यापारिक मिशन भेजेगी। इसके प्रत्युत्तर में अमीर ने लिखा कि वह इस मिशन का स्वागत करेगा तथा अपने पुत्र इनायतुल्ला के नेतृत्व में एक मिशन भारत भेजेगा। फलस्वरूप 1904 के अन्त में इनायतुल्ला भारत आया, किन्तु उसकी यात्रा का कोई राजनीतिक परिणाम नहीं निकला। भारत सरकार ने भी लुइस डेन के नेतृत्व में एक मिशन अफगानिस्तान भेजा, जो 12 दिसम्बर 1904 को काबुल पहुंचा। इस मिशन के दो उद्देश्य थे—प्रथम तो ब्रिटिश सरकार व अमीर के बीच उत्पन्न हुए मतभेदों को समाप्त करना और दूसरा अमीर से नई सन्धि पर हस्ताक्षर करवाना। डेन एक सन्धि पत्र लेकर आया था, जो अमीर को दे दिया गया। किन्तु अमीर ने एक नया सन्धि पत्र तैयार किया, जिसमें उसने एक महत्वपूर्ण बात यह जोड़ दी कि उसे 'हिज मेजेस्टी' की उपाधि से सम्बोधित किया जाय। अमीर की इस शर्त से एक नया विवाद उत्पन्न हो गया।

इस समय अमीर को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिवर्ष दी जाने वाली सहायता की राशि, जो लगभग 4 लाख पौंड थी, रुकी हुई थी क्योंकि अब्दुल रहमान की मृत्यु के बाद ब्रिटिश सरकार ने नये अमीर को सहायता देना बंद कर दिया था और बहुत सी युद्ध सामग्री, जो अमीर ने मंगवायी थी, भारत में रोक ली गई थी। डेन इन परिस्थितियों का लाभ उठाना चाहता था, किन्तु अमीर ने धमकी दी कि यदि

सहायता की राशि नहीं चुकायी गयी और रोका गया युद्ध का सामान अफगानिस्तान नहीं पहुंचाया गया तो इसे सन्धि का उल्लंघन समझा जायेगा, जिसका समस्त उत्तर-दायित्व ब्रिटिश सरकार पर होगा। इधर डेन-मिशन असफल होता दिखाई दे रहा था, क्योंकि अमीर, डेन की किसी बात को मानने के लिये तैयार नहीं था और इस मिशन की असफलता से ब्रिटिश सम्मान पर आंच आ सकती थी। अतः अमीर से मैत्री करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। अन्त में मार्च 1905 में डेन को अमीर द्वारा तैयार किये गये सन्धि पत्र को जहर का घूंट समझकर भी पीना पड़ा। अमीर की सभी शर्तें स्वीकार कर ली गई।

भारत पहुंच कर डेन ने अपने मिशन को पूर्णतः सफल बताया। किन्तु वास्तव में डेन-मिशन पूरी तरह से असफल रहा और कर्जन की कूटनीतिक पराजय हुई। डेन-मिशन के कारण अफगानिस्तान में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा न्यूनतम बिन्दु तक पहुंच गई थी। अफगान यह बात अच्छी तरह जानते थे कि भारत सरकार के बार-बार निमंत्रण देने पर भी अमीर भारत नहीं गया और विवश होकर भारत सरकार को ही अपना मिशन भेजना पड़ा, जो अमीर से अपनी कोई बात नहीं मनवा सका। वस्तुतः कर्जन की कठोर नीति के कारण ही डेन मिशन को एक अपमानजनक सन्धि के लिये बाध्य होना पड़ा। यदि कर्जन की नीति में थोड़ा भी लचीलापन होता तो सम्भवतः अमीर के साथ कोई सम्मानजनक समझौता हो सकता था। कर्जन ने अमीर से सन्धि करने का जो तर्क प्रस्तुत किया, वह भी व्यर्थ और आधारहीन था। कर्जन ने अफगानिस्तान के प्रति अपनी साम्राज्यवादी प्रवृति का परिचय दिया तथा तथ्यों पर गहराई से विचार नहीं किया। फलस्वरूप उसे अपमान का घूंट पीना पड़ा।

कर्जन के उत्तराधिकारी लार्ड मिण्टो के निमंत्रण पर 1907 में अमीर भारत आया तथा मिण्टो ने हबीबुल्ला का हार्दिक स्वागत किया। इस अवसर पर ब्रिटिश सम्राट एडवर्ड ने अमीर को 'योर मेजेस्टी' से सम्बोधित करते हुए बधाई का तार भेजा।

तिब्बत पर आक्रमण—कर्जन के शासन काल की यह सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। तिब्बत पर चीन का नियंत्रण था तथा भारत की ब्रिटिश सरकार प्रारम्भ से ही तिब्बत से व्यापारिक सम्बंध स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थी। 1885 में चीन सरकार ने ब्रिटिश व्यापार मण्डल को यातुंग में व्यापार करने की अनुमति प्रदान कर दी थी, किन्तु तिब्बत के लोग अंग्रेजों के विरुद्ध थे जिससे अंग्रेजों को कोई लाभ नहीं हुआ। कर्जन के आने के समय तिब्बत की राजनीति में महत्व-पूर्ण परिवर्तन हुए। दलाई लामा ने वयस्क होते ही रीजेन्सी कौंसिल को समाप्त कर शासन सत्ता ग्रहण कर ली तथा चीन के प्रभाव से मुक्त होने के लिये उसका झुकाव रूस की तरफ होने लगा। दलाई लामा ने अपने एक अधिकारी डोरजीफ

को, जो जन्म से रूसी था, रूस भेजा ताकि रूस की बौद्ध प्रजा से धार्मिक उत्सवों के लिये दान एकत्रित कर सके। रूस ने इस घटना को अत्यधिक महत्व दिया तथा तिब्बत पर रूसी प्रभाव को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। कर्जन जैसे साम्राज्यवादी व्यक्ति के लिये यह स्थिति असह्य थी क्योंकि तिब्बत पर रूसी प्रभाव स्थापित होने से एशिया में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा गिर सकती थी।

अतः कर्जन ने एक मिशन तिब्बत भेजने हेतु इंगलैंड की सरकार से अनुमति मांगी। कर्जन ने इंगलैंड की सरकार को लिखा कि तिब्बतियों ने सिक्किम की सीमा का अतिक्रमण कर तिब्बत-सिक्किम सीमा के लिये जो खम्भे लगाये गये थे, उन्हें गिरा दिया है। उसने यह भी लिखा कि तिब्बत से यातुंग को मिलाने वाली सड़क पर तिब्बतियों ने दीवार खड़ी कर दी है, जिससे ब्रिटिश व्यापारी यातुंग नहीं पहुंच सकते। कर्जन ने तथ्यों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा था, क्योंकि यदि डोरजीफ का रूस आना जाना न होता तो सम्भवतः यह स्थिति उत्पन्न न होती। इंगलैंड की सरकार मिशन को तिब्बत भेजने के पक्ष में नहीं थी, क्योंकि तिब्बत चीन के अधीन था, अतः तिब्बत से सम्बंधित कोई वार्ता पीकिंग से होनी चाहिये थी। किन्तु कर्जन मिशन को तिब्बत भेजने के लिये कृत संकल्प था। उसने सुझाव दिया कि सिक्किम सीमा से 15 मील दूर खांबाजोग नामक स्थान पर चीन व तिब्बत से बातचीत की जाय और यदि दोनों सरकारों के प्रतिनिधि निर्धारित स्थान पर न पहुंचे तो ब्रिटिश मिशन को शिगात्से तक आगे बढ़ने की अनुमति दे दी जाय। इंगलैंड सरकार ने बड़ी अनिच्छा से इस सुझाव को स्वीकार कर लिया। कर्जन ने कर्नल फ्रांसिस यंग हस्बैंड के नेतृत्व में एक मिशन को खांबाजोग के लिये रवाना कर दिया, जो जुलाई 1903 में खांबाजोग पहुंचा। किन्तु तिब्बतियों ने स्पष्ट कह दिया कि जब तक मिशन अपनी सीमा में नहीं लौट जाता तब तक कोई बात नहीं की जायेगी। यंग हस्बैंड ने अपनी सीमा में लौटने से इन्कार कर दिया। अतः तिब्बतियों ने वहां अपनी सेनाओं को एकत्रित करना आरम्भ कर दिया। इससे कर्जन क्रुद्ध हो उठा और उसने इंगलैंड की सरकार से ग्यांत्से की ओर सेना भेजने की अनुमति मांगी। इंगलैंड की सरकार ने इस शर्त पर अनुमति प्रदान की कि क्षतिपूर्ति हो जाने पर सेनाएं वापिस अपनी सीमा में लौट आयेगी।

मार्च 1904 में ब्रिटिश सेनाएं ग्यांत्से की ओर बढ़ी तथा अनेक स्थानों पर तिब्बतियों से मुठभेड़ें हुई। तिब्बतियों के पास न तो अच्छे हथियार थे और न उन्हें युद्ध कला का ज्ञान था। वे तो केवल सेना का रास्ता रोक कर खड़े हो गये और जब उन्हें रास्ता देने को कहा तो उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर ब्रिटिश सैनिकों ने गोलियों की बौछार करके लगभग 700 तिब्बतियों को मौत के घाट उतार दिया। 11 अप्रेल 1904 को ब्रिटिश सैन्य दल सहित मिशन ग्यांत्से पहुंचा, किन्तु दलाई लामा ने मिशन से बात करने से इन्कार कर दिया। अतः ब्रिटिश

मिशन व सेनाओं को ल्हासा पहुंचने की अनुमति दे दी गई। ब्रिटिश सेना तिब्बतियों को परास्त करती हुई 3 अगस्त 1904 को ल्हासा पहुंच गई। रूस से किसी प्रकार की सहायता प्राप्त होने की आशा नहीं थीं, अतः ब्रिटिश मिशन व सेनाएं ल्हासा पहुंचने के तीन सप्ताह पूर्व ही दलाई लामा ने अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर उसे सत्ता सौंप दी और स्वयं कहीं अन्यत्र चला गया। यंग हस्बेंड ने उस प्रतिनिधि से बातचीत की और अन्त में 7 सितम्बर 1904 को 'ल्हासा की सन्धि' पर हस्ताक्षर हो गये। सन्धि के अनुसार ग्यांत्से में ब्रिटिश व्यापारिक प्रतिनिधि को रखने की अनुमति दी गई, 75 लाख रुपये क्षतिपूर्ति की राशि निश्चित की गई जिसका भुगतान एक लाख रुपये की वार्षिक किश्तों में किया जाना था और पूरी रकम का भुगतान न होने तक चुम्बीघाटी में ब्रिटिश सेना रखने का प्रावधान रखा गया, किसी विदेशी प्रतिनिधि को तिब्बत में प्रवेश न देने तथा तिब्बत में किसी अन्य राष्ट्र को कोई सुविधा देने पर वैसी ही सुविधा अंग्रेजों को देने के सम्बंध में सहमति हुई।

रूस ने ल्हासा की सन्धि का विरोध किया, क्योंकि सन्धि की शर्तें अत्यन्त कठोर थी। भारत सचिव के विचार में भी तिब्बत के साथ कठोर व्यवहार हुआ था। अतः भारत सचिव के निर्देशानुसार सन्धि में निम्न संशोधन किये गये—

(1) क्षतिपूर्ति की राशि घटाकर 25 लाख रुपये कर दी गई।

(2) यदि क्षतिपूर्ति की राशि की तीन किश्तें समय पर दे दी जाय तथा अन्य शर्तों का पालन ठीक से करने पर चुम्बीघाटी से अंग्रेजी सेना हटाली जाय।

(3) ब्रिटिश प्रतिनिधि केवल ग्यांत्से में रहेगा और उसे ल्हासा जाने का अधिकार नहीं होगा।

कर्जन की तिब्बत के प्रति नीति के सम्बंध में विद्वानों में मतभेद है। 1904 में लार्ड रोजबरी ने संसद में बोलते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार ने रूस के काल्पनिक भय के कारण तिब्बत और अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया, जबकि वहां हस्तक्षेप करने का न तो नैतिक आधार था और न वैधानिक अधिकार। जिस प्रकार लिटन ने काबुल में अपना प्रतिनिधि रखने पर जोर दिया था, उसी प्रकार कर्जन ने ल्हासा में अपना प्रतिनिधि रखने पर जोर दिया और दोनों बार इन राज्यों में शत्रुभाव के दर्शन किये, जबकि स्थिति एक बार भी ऐसी नहीं थी। कर्जन के समर्थकों का कहना था कि रूस निश्चित रूप से तिब्बत पर अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था, अतः कर्जन द्वारा तिब्बत में हस्तक्षेप करना एक राजनीतिक आवश्यकता थी। स्थिति का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तिब्बत के प्रति कर्जन की नीति न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित नहीं थी। यद्यपि डोरजीफ की रूस यात्रा निश्चित रूप से रूसी प्रभाव को निमंत्रण दे रही थी, जिससे एशिया में ब्रिटिश प्रतिष्ठा को आघात पहुंचने का खतरा उत्पन्न हो गया था और कर्जन ने निश्चित रूप से रूसी प्रभाव पर रोक लगादी थी, किन्तु कर्जन ने अत्यधिक कठोर नीति का

पालन किया और उसकी नीति आक्रामक व हानिकारक हस्तक्षेप की थी। फिर भी राजनैतिक दृष्टि से कर्जन की नीति को न्याय संगत कहा जा सकता है, किन्तु नैतिक दृष्टि से नहीं। अतः 1907 में इंगलैंड की सरकार ने तिब्बत से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि को समाप्त कर दिया और चुम्बीघाटी से भी अंग्रेजी सेनाएं हटा ली।

फारस के प्रति नीति—फारस में इंगलैंड के अनेक स्वार्थ थे। इंगलैंड और भारत को जोड़ने वाला रास्ता फारस की खाड़ी से होकर गुजरता था, जो व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। अतः इंगलैंड की यह नीति थी कि फारस को भारत पर आक्रमण करने का मार्ग न बनने दिया जाय और फारस की खाड़ी किसी अन्य शत्रु शक्ति के नियंत्रण में न चली जाय, जिससे भारत पर आक्रमण का भय उत्पन्न हो जाय। अतः ब्रिटिश सरकार सदैव फारस की खाड़ी पर अपना नियंत्रण चाहती थी। फारस की खाड़ी में किसी अन्य देश का प्रभाव स्थापित होने का अर्थ था अंग्रेजों की कमजोरी, जिससे ब्रिटिश सम्मान को ठेस पहुंच सकती थी। ब्रिटेन और भारत के बीच सम्पर्क मार्ग को बनाये रखने की दृष्टि से ब्रिटेन के लिये यह अनिवार्य हो गया था कि अदन से लेकर बिलोचिस्तान तक सम्पूर्ण पूर्वी समुद्र तट की रेखा पर नियंत्रण हो।

कर्जन के भारत आने के समय फारस की खाड़ी में स्थिति अत्यन्त ही पेचीदा हो चुकी थी। रूस उत्तरी फारस में अपनी स्थिति दृढ़ करने में लगा हुआ था तथा खाड़ी में अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने हेतु यहां के दो बन्दरगाहों-अब्बास व ओरमुज में रेल लाइन बनाने की योजना बना रहा था। फ्रांस भी मुस्कट (Muscat) नामक स्थान पर कोयला भरने का स्टेशन बनाना चाहता था। जर्मनी भी इस क्षेत्र में बर्लिन-बगदाद रेल लाइन का अंतिम स्टेशन बनाकर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने का इच्छुक था। तुर्की भी कुवैत के शासक शेख मुबारक की स्वाधीनता समाप्त कर कुवैत पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार रूस, फ्रांस, जर्मनी और तुर्की इस क्षेत्र पर अपना राजनैतिक प्रभाव स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। इनमें से किसी का भी नियंत्रण स्थापित होना, भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकता था। अतः 5 मई, 1903 को ब्रिटिश विदेश मंत्री लार्ड लैन्सडाउन ने घोषणा की कि यदि किसी राष्ट्र ने फारस की खाड़ी में अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया अथवा वहां किलेबन्दी की तो इसे ब्रिटिश हितों को चुनौती समझा जायेगा। कर्जन ने इस नीति को दृढ़ता से लागू किया तथा जिस किसी शक्ति ने वहां अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया, कर्जन ने उन प्रयत्नों को विफल कर दिया। कर्जन ने खाड़ी में निरन्तर चौकसी रखने हेतु तीन युद्ध पोत रखे तथा खाड़ी के बन्दरगाहों में द्रुतगामी डाक की व्यवस्था की। 1903 में वह स्वयं वहां गया तथा वहां सुरक्षा व्यवस्था बनाये

रखने हेतु वहां के अनेक सरदारों से मिला। जब कर्जन भारत से लौट रहा था उस समय फारस की खाड़ी में ब्रिटेन के शत्रुओं के चिन्ह भी दिखाई नहीं दे रहे थे।

लार्ड कर्जन का मूल्यांकन—कर्जन अत्यन्त ही योग्य, विश्व भ्रमण किया हुआ तथा अत्यधिक परिश्रमी था। भारत आने के पूर्व वह इंगलैंड की कामन सभा (House of Commons) का सदस्य बनने हेतु चुनाव में खड़ा हुआ था। वह अपने चुनाव भाषणों में साम्राज्यवाद के औचित्य तथा उच्च आदर्शों की बात कहता था, किन्तु इंगलैंड की जनता ऐसे भाषणों का स्वागत नहीं करती थी, फलस्वरूप उसे बहुत ही कम मत मिले और वह चुनाव हार गया। तत्पश्चात वह भारत के वायसराय के पद को प्राप्त करने को उत्सुक हुआ और बड़े परिश्रम और धैर्य से इस पद को प्राप्त किया। भारत आने के बाद उसने प्रशासन में अनेक सुधार किये, यद्यपि वे प्रतिक्रियावादी थे, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की दृष्टि से आवश्यक थे। इतिहासकार पी. ई. राबर्ट्स ने लिखा है कि "कर्जन की कूटनीतिज्ञता एवं नीति की प्रभावकारिता के सम्बंध में मतभेद हो सकता है, किन्तु उसके उच्च आदर्शों के एवं उसकी कर्त्तव्यपरायणता के सम्बंध में नहीं।" वह अपने कार्य और प्रशासन के प्रति बड़ा सजग रहता था।

यद्यपि कर्जन प्रतिभा का धनी था, किन्तु उसकी सारी प्रतिभा साम्राज्यवादी एवं प्रतिक्रियावादी नीतियों को कार्यान्वित करने में लगी रहती थी। वह स्वभाव से अहंवादी तथा जिद्दी था। एक बार जिस मार्ग को चुन लेता था, वहां से हटना अपनी प्रतिष्ठा पर आघात समझता था। उसने केन्द्रीयकरण की नीति द्वारा स्थानीय स्वशासन को हतोत्साहित किया तथा विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता समाप्त कर विश्वविद्यालयों का सरकारीकरण कर दिया। कलकत्ता निगम भी उसकी प्रतिक्रियावादी नीति का शिकार हुआ। वह अंग्रेज जाति की श्रेष्ठता में दृढ़ विश्वास रखता था, अतः उसने भारत में केवल ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर कार्य किया और ब्रिटिश हितों के समक्ष कभी जन भावना का आदर नहीं किया। बंगाल विभाजन को उसने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और जब जन आन्दोलन भड़क उठा तो उसने मुसमलानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया। तिब्बतियों के विरुद्ध जो अमानवीय व्यवहार किया उसे इतिहास में कभी नहीं भुलाया जा सकेगा। अफगानिस्तान के अमीर के साथ जो व्यवहार किया उसमें तो उसे कूटनीतिक पराजय का ही मुंह देखना पड़ा। उसके मस्तिष्क का संतुलन तो उसी दिन बिगड़ गया, जबकि उसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर लक्ष्य करके कहा था, "कांग्रेस गिरने के लिये लड़खड़ा रही है और मेरी यह सबसे बड़ी आकांक्षा है कि मैं इसकी शान्तिपूर्वक मृत्यु में सहायक बनूं।" यद्यपि कर्जन के इस प्रकार के कथनों से वह स्वयं तो अत्यधिक अलोकप्रिय हुआ, किन्तु इससे हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को बल प्राप्त हुआ, जो राष्ट्रीय आन्दोलनों में सहायक सिद्ध हुआ। डॉ. ईश्वरी

प्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि, "लार्ड कर्जन के प्रशासकीय सुधार भारतीय इतिहास में अद्वितीय स्थान रखते हैं, जिससे जनता में नयी स्फुर्ति उत्पन्न हुई और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा।" गोपालकृष्ण गोखले ने कर्जन के शासनकाल की समाप्ति पर कहा, "भगवान का शुक्र है कि विश्व में प्रत्येक चीज का अंत होता है।" कर्जन के शासन काल की समाप्ति के बाद एक तथ्य भलीभांति स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों ने जिस साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया था, वह, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभावशाली होने के साथ ही समाप्त होती दिखाई देने लगी, क्योंकि भारतीयों ने अंग्रेजों की इस नीति को भलीभांति समझ कर उसका विरोध करना सीख लिया था।

निसंदेह कर्जन एक योग्य एवं प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था, किन्तु उसने अपना सुधार चक्र इतना तेज और निर्दयता से चलाया कि, जन भावनाओं की भी परवाह नहीं की। फलस्वरूप उसकी सफलताओं पर पानी फिर गया और अपने शासन के अन्तिम दिनों में वह सर्वाधिक अलोकप्रिय गवर्नर जनरल हो गया।

अध्याय 12

19 वीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक-धार्मिक पुनरुद्धार आन्दोलन

भारतीय पुनरुद्धार अथवा पुनर्जागरण 19 वीं शताब्दी की एक महान घटना थी। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता से पूर्णतः प्रभावित हो गयी थी। भारत का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी भाषा, वेश-भूषा, साहित्य और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगा था और अपनी सभ्यता और संस्कृति में उसका विश्वास समाप्त होता जा रहा था। ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू और मुस्लिम धर्मों पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण लोग अपनी असली शिक्षा भूल रहे थे। भारतीय समाज में इतनी कुरीतियां उत्पन्न हो गयी थीं कि लोग उन्हें अपनाने में लज्जा अनुभव करने लगे और अनेक हिन्दू नवयुवक ईसाई धर्म से प्रभावित होकर उस धर्म को अपनाने लगे। मधुसुदन दत्त, नीलकण्ठ शास्त्री तथा रमाबाई जैसे व्यक्ति ईसाई बन गये। इन परिस्थितियों में भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक जगत तिलमिला उठा और बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इस नवीन चेतना ने भारतीय समाज, धर्म, साहित्य तथा राजनीतिक जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया। इस नई चेतना को तथा इससे प्रभावित विभिन्न प्रयत्नों को ही भारतीय पुनर्जागरण कहा जाता है।

पुनर्जागरण के प्रणेताओं ने भारत के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसके साथ ही प्राचीन सभ्यता के दोषों को दूर करते हुए समाज के लिये प्रगति का नया आधार प्रदान किया। पुनर्जागरण के प्रणेताओं के अनुसार भारतीय सभ्यता और संस्कृति श्रेष्ठ है तथा पश्चिमी सभ्यता के समकक्ष खड़ी हो सकती है। आरम्भ में भारतीय पुनर्जागरण एक बौद्धिक आन्दोलन था, जिसने हमारे साहित्य, शिक्षा तथा हमारी विचारधारा को प्रभावित किया। अपने दूसरे चरण में वह अनेक सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का आधार बना जिसने हमारे समाज और धर्म को प्रभावित किया। अपने तीसरे और अन्तिम चरण में

उसने भारत के राजनैतिक आन्दोलन को जीवन प्रदान किया, जिसके परिणाम-स्वरूप हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकी। 19वीं शताब्दी के इस पुनर्जागरण के निम्नलिखित कारण थे :—

(1) **एशिया के जागरण का प्रभाव**—19 वीं शताब्दी में सम्पूर्ण एशिया में जागृति की लहर व्याप्त हो गयी थी। चीन में विदेशियों के प्रभुत्व के विरुद्ध अनेक गुप्त समितियों का निर्माण हो चुका था, जिन्होंने चीन में अनेक विद्रोहों को जन्म दिया। तत्पश्चात चीन में सनयातसेन ने देश में जागृति उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व संभाला। इसी प्रकार जापान में, "सम्राट का आदर करो, विदेशियों को भगा दो" का नारा गूंजने लगा तथा मुत्सोहितों ने जापान में जागृति उत्पन्न करने का प्रयास किया। टर्की में भी राष्ट्रीयता की लहर फैल रही थी, जो सुल्तान के निरंकुश शासन को उखाड़ फेंकना चाहती थी। इस प्रकार सम्पूर्ण एशिया में जागृति फैल चुकी थी। यद्यपि भारत में जागृति की लहर बहुत पहले उत्पन्न हो चुकी थी, किन्तु अन्य देशों की जागृति ने भारतीय जागृति की लहर को बल प्रदान किया। वस्तुत: एशियाई देश एक दूसरे से प्रभावित होकर शक्ति ग्रहण करते हुए जागृत हो उठे थे।

(2) **नये मध्यम वर्ग का विकास**—19 वीं शताब्दी में एक नये मध्यम वर्ग का विकास हुआ जिसने परम्परागत सामाजिक संगठन को एक चुनौती प्रस्तुत की। यह मध्यम वर्ग प्राचीन जातीय व्यवस्था पर आधारित नहीं था। शिक्षित मध्यम वर्ग के अधिकांश सदस्य ब्राह्मण जाति के थे, किन्तु इस वर्ग में अन्य जाति के लोग भी सम्मिलित थे। जब विभिन्न वर्गों में व्यवसायिक समानता स्थापित होने लगी, तब जातीयता पर आधारित भेदभाव समाप्त करने की भी भावना उत्पन्न हुई तथा अन्तर्जातीय प्रतिबन्धों के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह मध्यम वर्ग पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित था। अत: वे अपने सामाजिक जीवन को अंग्रेजों के सामाजिक जीवन के आधार पर ढालना चाहते थे। इसलिये 19 वीं शताब्दी के समाज सुधार आन्दोलन मुख्य रूप से स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने से सम्बन्धित थे। स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा प्रथा समाप्त करना, अन्तर्जातीय विवाह के प्रतिबन्धों को तोड़ना, बाल विवाह को रोकना, विधवा विवाह के प्रतिबन्धों को समाप्त करना आदि समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य लक्ष्य थे।

(3) **अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण**—अंग्रेजों ने भारत में आर्थिक शोषण की नीति अपनाई और भारतीयों का खुलकर आर्थिक शोषण किया। अंग्रेजों की इस नीति के फलस्वरूप प्राचीन अर्थ व्यवस्था भंग हो गयी तथा किसानों, शिल्पियों आदि को जीवन निर्वाह के अन्य साधन खोजने के लिये विवश कर दिया। वास्तव में अंग्रेजों के आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण ने भारत की उन शक्तियों को सचेष्ट कर दिया जो भारत के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने हेतु प्रयत्नशील हो गयी

थी। अंग्रेजों की नई आर्थिक नीति के फलस्वरूप लोग अपने गांव छोड़कर नगरों में रहने लग गये। नगरों में वे उन बन्धनों से मुक्त थे, जो गांव में विद्यमान थे। नई परिस्थितियों एवं वातावरण में जीवन व्यतीत करने के लिये गांवों में प्रचलित परम्पराएं असंगतपूर्ण थी। अतः समाज सुधार के प्रयत्न प्रायः नगरों तक सीमित रहे।

(4) **पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**—भारतीय पुनर्जागरण में पाश्चात्य शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहा। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ ईसाई पादरियों के प्रयत्नों से हुआ। 1835 ई. में अंग्रेजी भाषा, शिक्षा का माध्यम स्वीकार करली गई। उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु अनेक भारतीय इंगलैंड गये तथा अन्य यूरोपीय देशों का यात्राएं की। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी देशों की सभ्यता और साहित्य के विषय में ज्ञान उपलब्ध हुआ, जिससे भारतीय स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन संभव हो सका। शैक्षणिक क्षेत्र में आधुनिक प्रवृतियां एवं अंग्रेजी साहित्य में निहित स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र की भावनाओं ने भारतीयों के हृदय को झकझोर दिया। भारतीयों के हृदय में गुलामी के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। उन्होंने समझा कि हमारी गुलामी का कारण समाज का खोखलापन है। अतः आरम्भ में समाज सुधार की आवाज अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ने ही उठाई थी, किन्तु इस कार्य में सफलता उन्हीं लोगों को मिली, जिन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की थी।

(5) **ईसाई धर्म प्रचारकों की आलोचना**—ईसाई धर्म प्रचारकों ने न केवल भारतीय धर्म का मजाक उड़ाया, बल्कि भारतीय सामाजिक ढांचे की भी कटु आलोचना की। उन्होंने हिन्दू समाज के लिये सभी प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग किया तथा ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा अपने धर्म की प्रशंसा करने की बात तो समझ में आती है, किन्तु यहां के धर्म को झूठा, आडम्बरी एवं पाखण्डी बताना सर्वथा अनुचित था। कार्नवालिस से लेकर केनिंग तक और उसके बाद अनेक गवर्नर जनरलों के भारतीयों के सम्बन्ध में तिरस्कारात्मक विचार थे। बैंटिक, मेटकॉफ, मेकाले आदि प्रशासक यहां की विभिन्न कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों को दूर करके कुछ सुधार करना चाहते थे, किन्तु भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति उनके मन में घोर घृणा की भावना थी और उनके सुधारवादी दृष्टिकोण में पाश्चात्य का आवरण था। अतः उन्होंने भी ईसाई धर्म प्रचारकों को सहयोग और सहायता प्रदान की। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं और मुसलमानों का अपने धर्म की रक्षा करने की ओर ध्यान आकर्षित हुआ।

(6) **भारतीय समाचार पत्र एवं साहित्य**—भारतीय समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, साहित्य आदि ने भी भारतीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रेस की स्थापना से विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा हो गयी। अब कुछ ऐसे समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी, जिनमें अंग्रेजों के दुर्व्यवहार, प्रजातीय विभेद नीति और उनके शोषण के समाचार प्रकाशित होते थे और भारतीय राष्ट्रवादियों

के विचार भी प्रकाशित होते थे, इनसे भारतीयों में जागरूकता उत्पन्न हो गयी। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलों के निर्माण से भी विचार विमर्श को प्रोत्साहन मिला। मध्यकाल में समाज सुधार आन्दोलन क्षेत्रीय स्तर से अधिक व्यापक नहीं हो पाया था, किन्तु अब समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं के माध्यम से वह व्यापक हो गया।

इन सभी कारणों से भारत में पुनर्जागरण की एक अद्भुत लहर उत्पन्न हो गयी तथा सम्पूर्ण देश एक विशेष नई शक्ति का अनुभव करने लगा। भारत में नव चेतना की जो लहर उत्पन्न हुई उसने शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया।

भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप

19 वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के फलस्वरूप जो समाज सुधार आन्दोलन हुआ, वह वास्तव में प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध एक व्यक्तिगत विद्रोह था। इन विद्रोही व्यक्तियों को व्यंगात्मक भाषा में 'सुधारक' कहा जाता था। इन सुधारकों का उद्देश्य प्रचलित सामाजिक ढांचे में परिवर्तन करना नहीं था, वल्कि उसमें रहन-सहन की नवीन प्रणाली का समावेश करना था। भारत में ऐसे व्यक्तिगत विद्रोह की प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही थी। 16 वीं से 18 वीं शताब्दी तक यह कार्य सन्तों एवं सन्यासियों द्वारा किया गया, जिसे भक्ति आन्दोलन की संज्ञा दी जाती है। 19 वीं शताब्दी में इस कार्य में गृहस्थ व्यक्तियों का योगदान अधिक रहा। सुधारकों के विचारों को शिक्षित समाज में अधिक समझा जाता था। वे सुधारक परम्परागत सामाजिक जीवन की प्रणाली से भिन्न जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते थे। इस सामाजिक आन्दोलन के मुख्य रूप से तीन चरण थे—

(1) 1877 के पूर्व यह आन्दोलन मुख्य रूप से व्यक्तिगत आन्दोलन ही रहा तथा इसकी कार्य विधि भी व्यक्ति-निष्ठ रही।

(2) 1877 से 1919 के वीच समाज सुधार के लिये संगठित प्रयास किये गये। इस अवधि में यह भी अनुभव किया गया कि समाज सुधार की अपेक्षा राजनीतिक स्वतन्त्रता अधिक आवश्यक थी। इधर अंग्रेज प्रशासक भी भारतीय नेताओं का ध्यान समाज सुधार की ओर केन्द्रित करना चाहते थे ताकि राजनीतिक पराधीनता से उनका ध्यान हटा रहे। तिलक ने यह अनुभव कर लिया था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के विना सामाजिक सुधार संभव नहीं था। इसलिये समाज सुधार आन्दोलन राष्ट्रीय जागरण को व्यापक वनाने में सहायक हुआ।

(3) 1919 के पश्चात समाज सुधार आन्दोलन पूर्णतया राजनीतिक आन्दोलन के अधीन हो गया तथा समाज सुधार आन्दोलन हरिजन उद्धार पर केन्द्रित हो गया। इस प्रकार 1919 के वाद समाज सुधार आन्दोलन मुख्य रूप से दलित वर्ग के उत्थान से सम्बन्धित रहा।

19 वीं सदी के समाज सुधार--जैसाकि बताया जा चुका है, अंग्रेज प्रशासक भारतीय नेताओं का ध्यान सामाजिक समस्याओं की ओर लगाये रखना चाहते थे, इसलिये ऐसे भारतीय नेताओं को, जो समाज सुधार की बातें करते थे, अंग्रेजों का समर्थन मिलता रहा। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सरकार की ओर से दो प्रमुख सुधार अधिनियम पारित किये—

(1) **ब्रह्म मेरिजेज एक्ट** (1872)—1866 में ब्रह्म समाज दो दलों में विभाजित हो गया था–आदि ब्रह्म समाज तथा ब्रह्म समाज ऑफ इण्डिया। ब्रह्म समाज ऑफ इण्डिया, समाज सुधार का अधिक पक्षपाती था। इसने विवाह की प्रचलित कुरीतियों को दूर कर उसमें परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप कई अंतर्जातीय विवाह और विधवा विवाह सम्पन्न हुए। किन्तु कानून विशेषज्ञों का कहना था कि हिन्दू कानून के अनुसार ऐसे विवाह वैध नहीं थे। अतः इन्हें वैध रूप देने के लिये एक विशेष अधिनियम की आवश्यकता थी। केशवचन्द्र सेन के अनुरोध पर 1868 में हेनरी मेन ने एक विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे 1872 में पास कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार विवाह से सम्बन्धित दोनों पक्षों को यह घोषणा करनी पड़ती थी कि वे किसी पुराने स्थापित धर्म के अनुयायी नहीं है। इस अधिनियम के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह और विधवा विवाह हो सकते थे तथा बाल विवाह व बहुविवाह का निषेध कर दिया गया। इस अधिनियम में यह भी कहा गया कि 14 वर्ष से कम लड़की और 18 वर्ष से कम लड़के का विवाह नहीं हो सकेगा। यद्यपि यह अधिनियम ब्रह्म समाज के अनुयायियों के अनुरोध व समर्थन से बना था, तथापि इसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि इस अधिनियम के अनुसार यह घोषणा करती पड़ती थी कि वे हिन्दू नहीं है। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम को पास करवाने में केशवचन्द्र सेन अधिक सक्रिय थे, किन्तु 1878 में उन्होंने स्वयं ने अपनी पुत्री का विवाह 13 वर्ष की आयु में कर दिया। अतः केशवचन्द्र सेनने के तृत्व के विरुद्ध आवाज उठी और ब्रह्म समाज के फिर दो टुकडे हो गये। अतः यह अधिनियम समाज सुधार के क्षेत्र में कोई विशेष सफल नहीं हुआ।

(2) **सहवास-वय विधेयक** (1892)—19 वीं शताब्दी में समाज सुधार हेतु दो विचारधाराएं प्रचलित थीं। कुछ समाज सुधारकों का विचार था कि ब्रिटिश सरकार की सहायता से कानून बनवा कर समाज की प्रचलित कुरीतियों को दूर किया जाय, क्योंकि उनके मतानुसार राजनीतिक प्रगति के लिये समाज सुधार आवश्यक हैं। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक महादेव गोविन्द रानाड़े थे। इसके अतिरिक्त दूसरे कुछ लोग राजनीतिक स्वाधीनता के बाद ही समाज सुधार को संभव मानते थे। दूसरी विचारधारा के प्रबल समर्थक बाल गंगाधर तिलक थे।

महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में महादेव गोविन्द रानाड़े का नाम उल्लेखनीय है। वे प्रार्थना समाज के एक प्रमुख नेता थे। बम्बई का प्रार्थना समाज बंगाल के ब्रह्म समाज से कई प्रकार से भिन्न था। प्रार्थना समाज ने ईसाई मिशनरियों से सांठ-

गांठ नहीं की थी । महाराष्ट्र के समाज सुधार आन्दोलन की विशेषता यह थी कि उसने प्राचीन परम्पराओं को सुरक्षित रखते हुए उनके दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया । इसलिये महाराष्ट्र में यह आन्दोलन, यद्यपि काफी मंद गति से चला, किन्तु वह सफल अधिक रहा । इसने बंगाल के समाज सुधार आन्दोलन की भांति अपनी प्राचीन परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया, वल्कि उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जो प्राचीन परम्पराओं में घुस गये थे । रानाड़े का समाज सुधार से अभिप्राय विधवा विवाह, स्त्रियों की शिक्षा, बाल विवाह का निषेध तथा जांति-पांति के भेदभाव को समाप्त करना था । उनका कहना था कि हमारी सामाजिक स्थिति, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति से जुड़ी हुई है । यदि हम राजनीतिक प्रगति चाहते हैं तो सामाजिक प्रगति आवश्यक है, क्योंकि समाज सुधार के बिना राजनीतिक स्वाधीनता संभव नहीं है । रानाडे का मत था कि, "सुधारक को सम्पूर्ण व्यवस्था से निपटने की कोशिश करनी चाहिये न कि केवल एक-दो सुधारों को चालू रखने की ।" वे इस सिद्धान्त में आस्था रखते थे कि सुधारकों की योजना लागू करते समय अतीत से नाता नहीं तोड़ना चाहिये और दीर्घकाल से बनी हुई आदतों तथा प्रवृतियों को ध्यान में रखना चाहिये, क्योंकि "सच्चे सुधारक को किसी साफ स्लेट पर नहीं लिखना है, वल्कि उसका काम तो अधिकांशत: अपूर्ण अर्थ के वाक्य को पूरा करना होता है ।" इन विचारों के कारण ही वे 19 वर्ष की आयु में ही 'विधावा विवाह संघ' के सदस्य बन गये । 1887 में उन्होंने राष्ट्रीय समाज सुधार समिति की स्थापना की । इसका अधिवेशन प्रतिवर्ष देश के अलग अलग क्षेत्रों में होता था । रानाड़े ने समाज सुधार समिति को राष्ट्रीय आधार दिया । यह समिति कई दशकों तक राष्ट्रीय सामाजिक सुधार की योजनाओं पर विचार करती रही ।

महादेव गोविन्दसिंह रानाड़े ने भारतीयों को पिछड़ेपन और कुरीतियों से ऊपर उठने का संदेश दिया । उन्होंने, पृथकता और संकीर्णता का भाव, अन्तरात्मा की आवाज को न पहचानना, जाति और परम्परा के आधार पर मनुष्यों में बनावटी भेद मानना, पाप और गलती पर निष्क्रिय भाव, लौकिक सुख-समृद्धि के विषय में उदासीन रहना और भाग्यवाद पर जमे रहने को समाज के पतन के लिये उत्तरदायी बताया । उन्होंने इन प्रवृतियों का डटकर विरोध किया । उन्होंने नारी जाति के उत्थान के लिये विशेष प्रयत्न किये । उनका कहना था कि, "नारी जाति पर किये गये जुल्मों से हमारा भारतीय समाज अपमानित हुआ है ।" वे सुधारों की ऐसी पद्धति अपनाने पर जोर दे रहे थे ताकि समाज का तत्कालीन स्वरूप सुरक्षित रहे लेकिन समाज प्रगति की ओर अग्रसर भी हो । इस प्रकार अतीत को भविष्य के साथ इस प्रकार जोड़ा गया कि उसमें किसी प्रकार का क्रान्तिकारी अन्तराल न आये । रानाड़े भलीभांति जानते थे कि भारतीय संस्कृति का प्रधान गुण निरन्तरता, सहनशीलता और आत्मसात करने की क्षमता है । इसी के आधार पर उन्होंने परिवर्तन की

व्यवस्था की। उन्होंने समाज सुधार के लिये राष्ट्रव्यापी संगठन का निर्माण करके और समाज सुधार आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन से संवद्ध करके महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

तिलक और महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में मुख्य रूप से दो बातो पर मतभेद था। तिलक राजनीतिक स्वाधीनता के समक्ष सामाजिक सुधारों को गौण समझते थे। वे इस मत से सहमत नहीं थे कि हमारी सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण राजनीतिक पराधीनता हुई है। उन्होंने श्रीलंका, वर्मा और आयरलैंड का उदाहरण देते हुए कहा कि वहां सामाजिक स्वतन्त्रता होते हुए भी राजनीतिक पराधीनता थीं। तिलक ने दूसरी बात यह कही कि हमें सामाजिक सुधार की बात उसी समय करनी चाहिये, जब हम स्वयं उन सामाजिक सुधारों के सिद्धान्तों का पालन करें। वे किसी बाहरी संस्था या सरकार द्वारा समाज सुधार किये जाने के विरोधी थे, जबकि रानाड़े सामाजिक सुधारों को प्रथम आवश्यकता मानते थे तथा सरकारी अधिनियमों द्वारा समाज सुधार करने के पक्षपाती थे। रानाड़े, पश्चिमी सभ्यता के सिद्धान्तों का प्रयोग इस तरह करना चाहते थे कि वे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध हों।

तिलक के उक्त विचारों के विरुद्ध मलावारी, गुजराती, पारसी तथा बंगाली नेता सरकारी सहायता से अधिनियम बनवाकर समाज सुधार चाहते थे। उन्हें समाज में बाल विवाह की प्रथा सबसे बड़ी बुराई दिखाई दे रही थी। इसलिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार को इस सम्बन्ध में अधिनियम बनाने को कहा तथा सहवास-वय को लड़कियों के लिये न्यूनतम 12 वर्ष करने का सुझाव दिया। ब्रिटिश सरकार ने 1890–91 में सहवास-वय विधेयक (Age of Consent Bill) प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार बाल्यावस्था में विवाह अवैध कर दिया तथा लड़कियों के लिये सहवास-वय न्यूनतम 12 वर्ष निर्धारित कर दी। तिलक ने इस विधेयक का घोर विरोध किया, क्योंकि बाल विवाह पर रोक सरकार द्वारा लगाई गई थी। उनका कहना था कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध स्वयं समाज द्वारा लगाये जांय तथा सरकार हमारे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करे। इस अधिनियम के कारण सर्वत्र भारत में सरकार की आलोचना हुई, किन्तु विधेयक के समर्थकों ने इंगलैंड की संसद के सदस्यों पर दबाव डालकर अधिनियम को पारित करने हेतु ब्रिटिश सरकार को सहमत करवा लिया। अतः यह अधिनियम पारित कर दिया गया। किन्तु इस अधिनियम का समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, बाल विवाहों पर भी इसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ और बाल विवाह पूर्व की भांति सम्पन्न होते रहे। फिर भी इस अधिनियम के पारित होने से लोगों में राजनीतिक जागृति अवश्य उत्पन्न हो गयी तथा विदेशी सत्ता के प्रति लोगों में सन्देह उत्पन्न हो गया। अतः सरकार ने अब कानून पास करके समाज सुधार के प्रयत्न छेड़ दिये।

समाज सुधार का मूल्यांकन—19 वीं शताब्दी का समाज सुधार आन्दोलन मुख्य रूप से व्यक्तिगत प्रयत्नों तक सीमित रहा, किन्तु 1880 के बाद कुछ संगठित प्रयास अवश्य किये गये। आरम्भ में समाज सुधारकों का उद्देश्य यह नहीं था कि उनके विचारों को सम्पूर्ण समाज में लागू कर दिया जाय, वल्कि वे चाहते थे कि उनके विचार सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत मान लिये जाय, चाहे समाज के अधिकांश सदस्य उनका पालन न भी करे। विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में सुधारकों को सफलता मिली। वाल विवाह व वहु विवाह जैसी कुरीतियां भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान थी तथा पिछड़े वर्गों में अन्य कुरीतियां भी प्रचलित थी। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होता गया, ये कुरीतियां धीरे-धीरे कम होती गई।

लार्ड विलियम वैंटिक के काल में सती प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया। इस कार्य में राजा राममोहन राय तथा द्वारिकानाथ टैगोर का महत्वपूर्ण योगदान रहा। आरम्भ में यह कानून केवल वंगाल के लिये था, किन्तु 1830 में यह मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सियों में भी लागू कर दिया गया। कानून का समर्थन प्राप्त होने पर भारत में यह प्रथा धीरे-धीरे समाप्त ही हो गयी। किन्तु सती प्रथा के वन्द होने से विधवाओं की समस्या पहले से भी अधिक गम्भीर हो गई। सती प्रथा के गैर कानूनी घोषित होने के वाद विधवाओं की संख्या में काफी वृद्धि हो गई। विधवाओं की समस्या वाल विवाह के साथ जुड़ी हुई थी, क्योंकि वाल्यावस्था में लड़कियों का विवाह हो जाता था और यौवन की देहली पर पैर रखते ही वे विधवा हो जाती थी। अत: 19 वीं सदी के सुधारकों ने विधवा विवाह के लिये भी आन्दोलन किया। संस्कृत के महान विद्वान पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं के पुनर्विवाह के लिये प्रवल आन्दोलन चलाया। उन्होंने शास्त्रों से उद्धरण देते हुए यह प्रमाणित किया कि हिन्दू शास्त्रों में विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध नहीं है। उनके प्रयत्नों से 1856 में विधवा विवाह को वैध घोषित कर दिया गया। धीरे-धीरे भारतीयों ने इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर 1872 में ब्रह्म मेरिजेज एक्ट पास किया गया जिसमें विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह को वैध मान लिया गया। वाल विवाह को रोकने के लिये सहवास-वय अधिनियम पारित किया गया। इन सारे प्रयासों का यद्यपि तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ा, लेकिन लोगों के मन में यह वात अवश्य घर कर गई कि वाल विवाह अनुचित है और विधवा विवाह उचित है।

महाराष्ट्र समाज सुधार की दृष्टि से अग्रणी रहा। महाराष्ट्र में ईसाई धर्म में परिवर्तित हिन्दुओं को पुन: हिन्दू धर्म में शामिल करने की परम्परा थी। वाल विवाह और विधवा विवाह के अलावा वहां की दशा वंगाल की तरह पिछड़ी हुई नहीं थी। जाति-पांति के बंधन थे, किन्तु 19 वीं शताब्दी के मध्य में इन वन्धनों को कम करने के लिये आन्दोलन आरम्भ हो चुका था।

समाज सुधार आन्दोलन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि सुधारकों ने समाज सुधार के जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया, उनका वे स्वयं पालन करना अनिवार्य नहीं समझते थे। अतः सुधारकों ने जिन सामाजिक कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, उन कुरीतियों से वे स्वयं मुक्त नहीं हो सके, जिसका समाज पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त सभी सुधारक, समाज सुधार की प्रत्येक बात से सहमत हों, यह आवश्यक नहीं था। कुछ सुधारक स्त्री शिक्षा के समर्थक थे, लेकिन विधवा विवाह के समर्थक नहीं थे। जो स्त्री शिक्षा के समर्थक थे उनमें भी इस बात पर मतभेद था कि स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। कुछ सुधारक बाल विवाह के विरोधी थे, लेकिन उनकी कार्य प्रणाली के बारे में उनमें मतभेद था। कुछ सुधारक सरकार से कानून बनवा कर सुधारों को लागू करने के पक्ष में थे। इसके विपरीत कुछ सुधारकों की यह दृढ़ मान्यता थी कि सामाजिक मामलों में सरकार का हस्तक्षेप अवांछनीय है।

समाज सुधार आन्दोलन की सफलता के बारे में प्रायः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह आन्दोलन समाज की सभी कुरीतियों को समाप्त करने में सफल हो सका? वस्तुतः भारतीय हिन्दू समाज शताब्दियों से एक व्यवस्था की परिधि में बंधा हुआ था। अतः उस परिधि को तोड़कर व्यवस्था में एकाएक परिवर्तन करना असंभव था। अतः प्रश्न यह होना चाहिये कि क्या उन सामाजिक कुरीतियों को वही मान्यता प्राप्त थी, जो 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में थी? इसका निश्चित उत्तर यही है कि वे मान्यताएं अब समाप्त होनी आरम्भ हो गयी थी। जिस मात्रा में वे मान्यताएं लुप्त होती दिखाई देती है, उतनी ही मात्रा में यह आन्दोलन सफल रहा। आज भी भारत में सती होने की घटनाएं होती हैं, आज भी भारत में अशिक्षित लड़कियां हैं, कुछ लोग आज भी विधवा विवाह को हेय समझते हैं और बाल विवाह भी होते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि समाज द्वारा इन प्रथाओं को मान्यता प्राप्त है। यह निर्विवाद है कि समाज इन प्रथाओं को उचित नहीं समझता। लेकिन परम्परागत व्यवस्था की परिधि को तोड़ने का साहस इने-गिने लोगों में ही है। अतः उन मान्यताओं को जो 19 वीं शताब्दी में प्रचलित थी, तोड़ देना ही इस आन्दोलन की महान् उपलब्धि कही जा सकती है।

धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन

जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है, समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य रूप से तीन चरण थे। प्रथम चरण का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। दूसरे चरण में (1877–1919) समाज सुधार के लिये संगठित प्रयास किये गये तथा समाज सुधार के कार्यक्रम में धर्म सुधार भी सम्मिलित हो गया। इसलिये धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन, राष्ट्रीय जागरण को व्यापक बनाने में सहायक हुआ।

मध्यकाल में तुर्की आक्रमण के कारण भारतीय हिन्दू समाज ने अपनी रक्षा के लिए अपने चारों ओर कृत्रिम चारदीवारी खड़ी कर दी थी। धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान को सरल कथाओं के द्वारा प्रचलित किया गया। अपने सामाजिक ढांचे को सुरक्षित रखने के लिये जाति प्रथा के बन्धनों को कठोर कर दिया गया। स्त्रियों के बचाव के लिये पर्दा-प्रथा, बाल विवाह प्रायः आवश्यक मान्यताएं बन गई। शिक्षा का प्रसार कम हो गया। किंतु 19वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क हुआ तब भारतीय समाज को भी परिष्कृत करने तथा नया सामाजिक-धार्मिक दृष्टिकोण विकसित करने के प्रयास आरम्भ हुए। इन प्रयासों के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारतीय जीवन में नई चेतना की लहर उत्पन्न हो गयी। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि सुधारकों ने हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति में सुधार लाने हेतु जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया। 19 वीं शताब्दी में जो धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन हुए, उनके मूल में अनेक कारण थे—

(1) **भारतीय समाज और धर्म में दोष**—भारतीय समाज और धर्म में अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। भारतीय समाज अन्धविश्वासों के गर्त में डूब चुका था। मूर्ति पूजा, बहुदेववाद, जादू-टोने, स्त्रियों की दुर्दशा, जातीय बन्धन, संकीर्ण दृष्टिकोण तथा अन्य दोषों के कारण भारतीय समाज खोखला होता जा रहा था। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में ईसाई पादरियों को भारत में धर्म प्रचार करने की छूट दे दी गई। अतः उन्होंने इस कार्य को बड़े ही सक्रिय ढंग से आरम्भ किया। ईसाई मिशनरियों ने स्थान-स्थान पर हिन्दू धर्म की कटु आलोचना आरम्भ कर दी। बहुदेववाद, अवतारवाद, और मूर्तिपूजा की भी कटु आलोचना की और समाज में प्रचलित कुरीतियों के लिये भी उन्होंने इस धर्म को ही दोषी ठहराया। ईसाई मिशनरियों की आलोचना का केन्द्र भारतीय समाज और धर्म था। अतः भारतीय समाज और धर्म में उत्पन्न दोषों का निवारण अनिवार्य था। ईशाई मिशनरियों के प्रचार ने भारतीयों को चुनौती दी। भारत में 19 वीं शताब्दी में कई सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन इसलिए आरम्भ हुए कि ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाय। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से सम्पर्क होने पर प्राचीन हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ हुए, जिससे भारतीयों में एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जिसमें अन्ध-विश्वास का स्थान आध्यात्मिक चिंतन ने ले लिया।

(2) **पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**—अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही भारतीय नवयुवकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। इस तथ्य को अनेक सुधारकों ने स्वीकार किया है। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के द्वारा ही यूरोपीय विज्ञान, दर्शन और साहित्य का अध्ययन हमारे देश में आरम्भ हुआ। शिक्षित मध्यमवर्गीय लोग

यूरोपीय विचारों से प्रभावित होने लगे। यूरोपीय साहित्यकारों के उत्तजक विचारों के प्रभाव से भारतीयों को नई दिशा प्राप्त हुई। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीय, यूरोप की उदारवादी विचारधारा से परिचित हुए, जिससे उनकी सदियों की मोह निद्रा भंग हुई। अब लोग भूतकाल पर आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे और भविष्य के सम्बन्ध में एक नूतन जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न हुई। भारतीयों ने यूरोपीय दर्शन से जो मुख्य सिद्धान्त सीखा वह यह था कि मानवीय सम्बन्धों का आधार परम्परागत व्यवस्था अथवा सत्ता न होकर तर्क होना चाहिये। अतः अब भारतीय धर्म और समाज की व्यवस्थाओं के औचित्य को समझने लगे। अब विचारों की शिथिलता प्रगति में बदल गई। परम्परागत रीति-रिवाजों के अन्धानुकरण का वे विरोध करने लगे। इस प्रकार उनकी चिंतन प्रणाली भी बदलने लगी और ऐसे लोगों द्वारा सामाजिक और धार्मिक सुधारों का बीड़ा उठाना स्वाभाविक ही था।

(3) **भारतीय समाचार पत्रों का योगदान**—भारतीय समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, साहित्य आदि ने भी धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन में सहयोग प्रदान किया। भारतीयों द्वारा पहला अंग्रेजी भाषा में समाचार पत्र 1816 में 'बंगाल गजट' के नाम से प्रकाशित हुआ। कहा जाता है कि इसमें धार्मिक विषयों पर विचारविमर्श अधिक होता था। तत्पश्चात बंगाली भाषा में 'दिग्दर्शन' तथा 'समाचार दर्पण' 1818 में प्रकाशित हुए। ये समाचार पत्र भी धर्म से अधिक प्रभावित थे। 1821 में राजा राममोहन राय ने साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' प्रकाशित किया जिसमें उनके धार्मिक और सामाजिक विचार प्रकाशित होते थे। राजा राममोहन राय के विचारों का विरोध करने के लिए 1822 में 'समाचार चन्द्रिका' प्रकाशित होना आरम्भ हुआ। इसके एक माह बाद ही अप्रेल 1822 में राजा राममोहन राय ने फारसी भाषा में एक साप्ताहिक 'मिरातउल अख़बार' तथा एक अंग्रेजी में 'ब्राह्मनिकल मैगजीन' निकालना आरम्भ किया। इन समाचार पत्रों के माध्यम से भारतीयों ने सामाजिक और धार्मिक समस्याओं पर विचारविमर्श आरंभ कर दिया था। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाचार पत्रों में राजनीतिक विषयों पर चर्चा कम होती थी, बल्कि सामाजिक और धार्मिक विषयों तथा शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर चर्चा करके इन्होंने भारतीय जनमत को जागृत किया। इन समाचार पत्रों में यह भी मत व्यक्त किया जाता था कि अंग्रेजी साम्राज्य भारतीय जनता को नैतिक, आर्थिक और मानसिक पतन की ओर ले जा रहा है। इस प्रकार भारतीय समाचार पत्रों ने देश में धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलन के विकास में योगदान दिया। इन समाचार पत्रों के कारण ही लोगों में आत्म सम्मान की सुरक्षा की भावना पैदा हुई और उन्होंने अपने समाज और धर्म की रक्षा करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

(4) **बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के कार्य**—बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने, जिसकी स्थापना 1784 में हुई थी, धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इस सोसाइटी के तत्वावधान में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों तथा यूरोपीय साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। विदेशी विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन कर उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया और बताया कि यह साहित्य विश्व सभ्यता की अमूल्य निधियाँ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की अनेक कलाकृतियों और सभ्यता के केन्द्रों की खोज की तथा उससे प्राचीन सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित की। मैक्समूलर, विलियम जॉन्स, मोनियर, विल्सन आदि विद्वानों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य को विश्व के सामने रखा, जिसका तुलनात्मक अध्ययन करने से भारतीयों को अपनी प्राचीन गौरवमय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान हुआ। दूसरी ओर भारतीयों को पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान का परिचय हुआ। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिससे भारतीयों की सुप्त भावनाएं जागृत हुई और उन्होंने अनुभव किया कि हम अपने मूल धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों से दूर चले गये हैं, जिससे हमारा पतन हुआ है। इस भावना से भारतीयों की आंखें खुली और उनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि जब तक धर्म और समाज की बुराइयों को दूर नहीं कर दिया जाता, उनका कल्याण संभव नहीं है।

(5) **पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव**—भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों का एक कारण भारतीयों पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव भी था। भारत में अंग्रेजों के आने के साथ-साथ पश्चिम की यूरोपीय सभ्यता का भी आगमन हुआ। भारतीय सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता से ऐसे समय में सम्पर्क हुआ जबकि यूरोप के विचारों पर बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद आधिपत्य जमाये हुए थे। ऐसी स्थिति में पश्चिमी सभ्यता के प्रबल वेग के समक्ष भारतीय सभ्यता घुटने टेकती दिखाई देने लगी। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों के लिये पाश्चात्य सभ्यता आदर्श बन गई। पश्चिमी विचार, वेश-भूषा, खान-पान, समाज और धर्म से वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनकी नकल करने में वे अपना गौरव समझने लगे। भारतीय धर्म और समाज से उनका विश्वास उठ गया और ऐसा प्रतीत होने लगा मानों सम्पूर्ण भारत पाश्चात्य सभ्यता का शिकार हो जायेगा। ऐसी स्थिति में कट्टर हिन्दुओं और बौद्धिक वर्ग की पश्चिमी ज्ञान के आलोक में आंखें खुलने पर अनुभव किया कि यदि धर्म और समाज में आवश्यक सुधार नहीं किये गये तो भारत में धर्म और समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। 19 वीं शताब्दी के धर्म और समाज सुधार आन्दोलन इसी अनुभव के परिणाम थे।

इसके अतिरिक्त 19 वीं शताब्दी में हुई पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति से भारतीयों का हृदय झंकृत हो उठा। विज्ञान की प्रगति से अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादिता का अन्धकार हटने लगा और उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की ओर भारतीयों की भाग-दौड़ का विरोध कर भारतीय धर्म और समाज में आस्था रखने की प्रेरणा दी।

उपर्युक्त कारणों से भारतीयों में सामाजिक और धार्मिक नवचेतना का संचार हुआ और 19 वीं शताब्दी में अनेक सुधारक पैदा हुए, जिन्होंने भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व किया। ये आन्दोलन मुख्य रूप से दो प्रकार के थे। कुछ उग्र सुधारवादी थे, जो धर्म और समाज में क्रान्तिकारी सुधार चाहते थे। इनकी प्रेरणा का स्रोत पश्चिमी शिक्षा और विचारधारा था और पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति को आधार मानकर भारतीय धर्म और समाज में सुधार करना चाहते थे। इनमें ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज मुख्य थे। पश्चिमी विचारों से आकृष्ट होकर इसके नेताओं ने जब अत्यधिक मौलिक परिवर्तन करने चाहे तो इसकी प्रतिक्रिया कट्टर सुधार आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन ऐसे ही कट्टर सुधारवादी प्रयास थे।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज

भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे, जिनका जन्म 1774 में बंगाल के राधानगर नामक गांव में, एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आरम्भ से ही वे क्रान्तिकारी विचारों के थे। 17 वर्ष की आयु में ही उन्होंने एक पुस्तिका निकाली, जिसमें मूर्तिपूजा पर प्रवल आक्षेप किया गया था। इससे नाराज होकर उनके कट्टरपंथी परिवार ने उन्हें घर से निकाल दिया। उसके बाद वे बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे, लेकिन इस काल का उन्होंने पूरा उपयोग किया। उन्होंने संस्कृत, फारसी, बंगला, अरबी तथा अंग्रेजी का अध्ययन किया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन रंगपुर की कलेक्टरी में नौकर हो गये और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल से एक साधारण क्लर्क की स्थिति से उठकर जिले की दीवानगिरी के उच्च पद पर पहुंच गये। इसी बीच उन्होंने लेटिन, ग्रीक व हिब्रू भाषाओं की जानकारी प्राप्त कर ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया। हिन्दू धर्म शास्त्र, वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त आदि का अध्ययन वे पहले ही कर चुके थे। अन्त में 40 वर्ष की आयु में अपना सारा जीवन लोकहित में लगाने के उद्देश्य से उन्होंने अपने सरकारी पद से त्याग पत्र दे दिया तथा 1814 से स्थायी रूप से कलकत्ता में बस गये। सन् 1813 के बाद ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू धर्म पर प्रवल आक्षेप करने आरम्भ कर दिये थे। आरम्भ में तो राजा राममोहन राय उन आक्षेपों का उत्तर देते रहे, किन्तु बाद में उन्होंने शुद्ध एकेश्वर-वाद की उपासना के लिये 20 अगस्त, 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की।

ब्रह्म समाज की स्थापना करके उन्होंने किसी नवीन मत या सम्प्रदाय को खड़ा नहीं किया था, वल्कि समस्त धर्मों की उच्च शिक्षाओं के तत्व से एक सामान्य पृष्ठभूमि तैयार की, जिसकी परिधि में विना किसी भेदभाव के सभी एक ही ईश्वर की उपासना में प्रवृत्त हो सकें।

ब्रह्म समाज के प्रमुख सिद्धान्त एक ही ईश्वर की उपासना, मानव मात्र के प्रति वन्धुत्व की भावना तथा सभी धर्मों के धार्मिक ग्रंथों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना था। राजा राममोहन राय ने जाति वन्धनों, मूर्तिपूजा, यज्ञ और बलि प्रथा का खण्डन किया। ब्रह्म समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में वेदों का पाठ, उपनिषदों के वंगला अनुवाद का वाचन और वंगला में उपदेश होते थे। 1833 में राजा राममोहन राय की मृत्यु के वाद देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्रसेन ने ब्रह्म समाज को अधिक प्रगतिशील वनाया। केशवचन्द्र सेन ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित थे। अतः वे ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म के सिद्धान्त के अनुसार चलाना चाहते थे, किन्तु देवेन्द्रनाथ टैगोर इससे सहमत नहीं थे। अतः ब्रह्म समाज दो भागों में विभक्त हो गया—आदि ब्रह्म समाज और भारतीय ब्रह्म समाज। प्रथम को देवेन्द्रनाथ तथा दूसरे को केशवचन्द्र चलाते रहे। केशवचन्द्र ने अपने समाज के प्रचारार्थ पर्यटन आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप वम्बई में प्रार्थना समाज और मद्रास में वेद समाज की स्थापना हुई। 1881 में भारतीय ब्रह्म समाज में पुनः मतभेद उत्पन्न हो गये। अतः केशवचन्द्र सेन ने नव विधान समाज की स्थापना की। नव विधान समाज में हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त ईसाई, वौद्ध और मुस्लिम धार्मिक ग्रन्थों से भी अनेक वातें ली गई थीं। इस प्रकार, यद्यपि ब्रह्म समाज विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो गया था, तथापि उसका मूल आधार एक ही था—हिन्दू समाज और धर्म का सुधार करना।

ब्रह्म समाज 19वीं शताव्दी का प्रथम धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन था तथा राजा राममोहनराय पहले भारतीय थे जिन्होंने उस सदी में भारतीय धर्म और समाज की वुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। उस समय भारतीय समाज और धर्म पतनोन्मुख हो रहे थे। धर्म का स्थान कर्मकाण्डों ने ले लिया था तथा सम्पूर्ण समाज में अन्धविश्वास व्याप्त हो गया था। समाज में अनेक कुरीतियाँ आ गयी थीं। ऐसी स्थिति में ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति ने हिन्दू धर्म पर प्रहार किया, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हिन्दू धर्म और सभ्यता नष्ट हो जायेगी। ऐसे समय में ब्रह्म समाज ने भारतीय धर्म और समाज की वुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने और समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। इससे हिन्दुओं को अपने धर्म व दर्शन का ज्ञान हुआ और वे अपने समाज की वुराइयों को दूर करने को तैयार हो गये। ब्रह्म समाज ने भारतीय समाज के सभी क्षेत्रों में नवीन जागृति उत्पन्न की। इस प्रकार हिन्दू धर्म को नवीन, आधुनिक और सरल वनाने का श्रेय ब्रह्म समाज को है। ब्रह्म समाज

ही वह पहला संगठन था, जिसने हिन्दू धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण करके उसकी दीवारों में दरार पैदा की। इससे अन्य धर्म और समाज सुधारकों को बल प्राप्त हुआ।

धार्मिक सुधार—ब्रह्म समाज ने वेदों और उपनिषदों को आधार मानकर बताया कि ईश्वर एक है, सभी धर्मों में सत्यता है, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक है तथा सामाजिक कुरीतियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। सर्वप्रथम ब्रह्म समाज ने ही तर्क के आधार पर धर्म की व्याख्या करने का विचार भारतीय समाज को प्रदान किया। धर्म की व्याख्या करते हुए उसने ईसाई धर्म के कर्मकाण्डों तथा ईसा मसीह के ईश्वरीय अवतार होने के दावे पर प्रबल आक्रमण किया तथा ईसाई धर्म प्रचारकों से शास्त्रार्थ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे, वे अपने धर्म परिवर्तन करने से रुक गये।

ब्रह्म समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार उपनिषदों का अद्वैतवाद था। इस समाज की बैठकों में वेद तथा उपनिषदों के मन्त्रों का पाठ हुआ करता था। ब्रह्म समाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(1) ईश्वर एक है, वह संसार का सृष्टा, पालक और रक्षक है; उसकी शक्ति, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है।

(2) आत्मा अमर है, उसमें उन्नति करने की असीम क्षमता है और वह अपने कार्यों के लिए भगवान के सामने उत्तरदायी है।

(3) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है।

(4) किसी भी बनायी हुई वस्तु को ईश्वर समझकर नहीं पूजना चाहिए और न किसी पुस्तक या पुरुष को निर्वाण अथवा मोक्ष का एक मात्र साधन मानना चाहिये।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध आदि सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि सभी धर्मों में सत्य है, किन्तु सभी धर्मों में कर्मकाण्ड सम्मिलित हो गये हैं, जिनको दूर करने की आवश्यकता है। इस धारणा को लेकर उन्होंने मुख्यतया हिन्दू धर्म में सुधार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। ब्रह्म समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, यद्यपि इसका मूल लक्ष्य हिन्दू धर्म और समाज में सुधार करना था, तथापि वह सभी धर्मों के प्रति सहनशील एवं उदार था। जब राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के लिए भवन का निर्माण कराया तब उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में यह स्पष्ट कर दिया कि, "सभी लोग बिना किसी भेदभाव के, शाश्वत सत्ता की

उपासना के लिए इस भवन का प्रयोग कर सकते हैं। इसमें किसी प्रकार की मूर्ति की स्थापना नहीं होगी, न इसमें कोई बलिदान होगा, न किसी धर्म की निन्दा की जायेगी। इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे, जिनसे सभी धर्मों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि हो।" वस्तुतः राजा राममोहनराय विश्व बन्धुत्वता के प्रबल हिमायती थे।

ब्रह्म समाज पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि उस पर पाश्चात्य धर्म और सभ्यता का प्रभाव था। यह सही है, क्योंकि उस समय पश्चिमी सभ्यता का अत्यन्त सुन्दर स्वरूप लोगों के सामने आया था। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजा राममोहन राय ने पश्चिमी सभ्यता एवं प्राचीन भारतीय सभ्यता से मिली-जुली सभ्यता अपनाने का उपदेश दिया। किन्तु यह सत्य नहीं है कि राजा राममोहन राय ने मूल रूप से ईसाई धर्म से प्रेरणा ग्रहण की थी। उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत तो प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थ ही थे। उन्होंने केवल पश्चिमी सभ्यता की तर्क, स्वतन्त्रता और अनुसंधान की भावना अवश्य ग्रहण की। इसीलिए उन्होंने तात्कालिक धर्म में प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन किया और इन सिद्धान्तों के खण्डन करने में उनका आधार प्राचीन वेद और उपनिषद् ही थे। इस प्रकार भारतीय हिन्दू धर्म को सरल बनाने का श्रेय ब्रह्म समाज को ही है। इतना ही नहीं, ब्रह्म समाज ने भारत के अन्य धर्मों में सुधार का मार्ग भी प्रशस्त किया था। इसलिये धर्म सुधार के क्षेत्र में ब्रह्म समाज का नाम सबसे आगे लिया जा सकता है।

सामाजिक सुधार—राजा राममोहन राय उच्च कोटि के समाज सुधारक थे। उस समय समाज में अनेक बुराइयां आ गयी थीं। राजा राममोहन राय ने उन्हें दूर करने का निश्चय किया। अपनी विधवा भाभी को सती होते देखकर उन्होंने इस भीषण, बर्बर तथा अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया। जिसके परिणामस्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में कानून बनाकर सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया। कुछ कट्टरपंथी हिन्दुओं ने इस कानून का विरोध करते हुए लंदन की प्रिवी कौंसिल को अपील की। लेकिन राजा राममोहन राय तथा देवेन्द्रनाथ टैगोर ने इस कानून का समर्थन करते हुए प्रिवी कौंसिल को अनेक पत्र लिखे, जिससे कट्टरपंथी हिन्दुओं का मनोबल गिर गया और अन्त में उनको विजय मिली। सती प्रथा समाप्त होने से राजा राममोहन राय विश्व के मानवतावादी सुधारकों की प्रथम पंक्ति में आ गये। इसी प्रकार ब्रह्म समाज ने बाल विवाह, बहु विवाह, जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, छुआछूत, नशा आदि सभी कुरीतियों का डटकर विरोध किया। इन कुरीतियों का विरोध कर उसने समाज में सुधार के लिये स्त्री शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि का समर्थन किया। उस समय भारतीय हिन्दू समाज में कन्या एवं वर विक्रय और कन्या वध जैसी कुप्रथाएं प्रचलित थी। ब्रह्म समाज ने इन कुरीतियों

के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन छेड़ दिया। समता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए उसने लाखों हिन्दुओं को ईसाई धर्म स्वीकार करने से रोका। 1822 और 1830 मे दो प्रकाशनों द्वारा राजा राममोहन राय ने स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति के अधिकारों पर प्रकाश डाला। उनकी दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान थे।

इस प्रकार समाज सुधार के क्षेत्र में ब्रह्म समाज का योगदान अद्वितीय है। हिन्दू समाज में कोई भी ऐसी कुरीति नहीं थी जिस पर ब्रह्म समाज ने आक्रमण न किया हो। आधुनिक काल में जिन कुरीतियों का विरोध सभी प्रबुद्ध भारतीयों ने किया है तथा जिन्हें आज भी भारत का शिक्षित वर्ग घृणा की दृष्टि से देखता है। उन कुरीतियों पर सर्वप्रथम आक्रमण ब्रह्म समाज़ ने ही किया था। स्वतन्त्र भारत के संविधान में जिन सामाजिक कुरीतियों को अब अवैध घोपित किया है, उनके विरुद्ध भी संघर्ष सर्वप्रथम ब्रह्म समाज ने ही किया था।

साहित्यिक एवं शैक्षणिक सुधार—साहित्यिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज ने उल्लेखनीय कार्य किया। उसने अपने विचारों को प्रचारित करने के लिये सभी आधुनिक साधनों का प्रयोग किया। उनके विचार प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों एवं उपनिपदों पर आधारित थे। इन विचारों को प्रचारित करने के लिये विभिन्न समाजों की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ की 'तत्व-बोधिनी सभा', केशवचन्द्र सेन की 'संगत सभा' और 'भारतीय समाज सुधार' जैसी सभाएं ब्रह्म समाज के विचारों का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हुई। अपने विचारों को प्रचारित करने के लिये राजा राममोहन राय की अनेक पुस्तकें और अनेक धार्मिक ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भारतीय साहित्यिक जगत के लिये स्थायी योगदान है। उसने बंगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में पुस्तकों की रचना कर भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। इसी प्रकार राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन के लेखों और वक्तव्यों ने भी साहित्य को समृद्ध बनाने में योगदान दिया। ब्रह्म समाज द्वारा समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाएं और समाचार पत्र निकाले गये। राजा राममोहन राय का 'अपील टू द क्रिश्चियन पब्लिक', केशवचन्द्र सेन के 'यंग बंगाल', 'दिस इज फार यू', 'एन अपील टू द ब्रिटिश नेशन', 'द डेस्टीनी आफ ह्यूमन लाइफ' जैसें लेखों ने भारतीयों में नव-जागरण उत्पन्न किया। राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' नामक सर्वप्रथम बंगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मिरातउल' अखबार भी प्रकाशित किया। केशवचन्द्र सेन ने भारतीय ब्रह्म समाज द्वारा 'तत्व कौमुदी', 'ब्रह्म पब्लिक ओपीनियन', 'संजीवनी' आदि पत्र भी प्रकाशित किये। इन पत्र-पत्रिकाओं ने न केवल भारतीयों के विचारों को ही परिवर्तित किया अपितु साहित्य के विकास में भी भारी योगदान दिया।

राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। इसलिये उन्होंने अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया। उनकी मान्यता थी कि आधुनिक युग में प्रगति के लिये अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। अतः वे चाहते थे कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान की सभी शाखाओं की शिक्षण व्यवस्था हो। इसके लिये ब्रह्म समाज ने विभिन्न स्थानों पर स्कूल और कालेज खोले। स्वयं राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में 'वेदान्त कॉलेज', 'इंगलिश स्कूल' और 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन के भारतीय ब्रह्म समाज ने 'ब्रह्म बालिका स्कूल' तथा 'सिटी कॉलेज ऑफ कलकत्ता' की नींव डाली। भारत के आधुनिकीकरण और समाज सुधार में इन शिक्षण संस्थाओं का महान् योगदान रहा। 'हिन्दू कालेज' ने तो भारतीय बौद्धिक जागरण में अग्रदूत का काम किया तथा 'युवा बंगाल आन्दोलन' को जन्म दिया, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

राष्ट्रीय सुधार—ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में भी योगदान दिया। उसने प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान कराया जिससे लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। राजा राममोहन राय ने हिन्दू कानून में सुधार करने के लिये आवाज उठाई, स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति के अधिकार पर बल दिया, भूमि कर में कमी करने की मांग की और दमनकारी कृषि कानूनों के विरुद्ध एक प्रार्थना पत्र इंगलैंड भेजा। समाचार पत्रों के प्रकाशन पर जो प्रतिबन्ध लगे हुए थे, उसका विरोध किया और इसके लिये उन्होंने सुप्रीम कोर्ट तथा किंग-इन-कौंसिल को आवेदन पत्र भी भेजे। राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम विचार स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द किया। उन्होंने भारतीयों को शासन और सेना में अधिक संख्या में भरती करने की मांग की। इंगलैंड के हाउस ऑफ कामन्स की एक प्रवर समिति के समक्ष उन्होंने अपना एक साक्ष्य दिया था और भारतीय शासन में सुधार हेतु सुझाव दिये थे। उन्होंने न्याय में जूरी प्रथा का समर्थन किया तथा न्यायपालिका को प्रशासन से अलग करने की मांग की। उन्होंने दीवानी तथा फौजदारी के कानूनों का संग्रह तैयार करने की भी मांग की और न्यायालयों में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को न्यायालयों की भाषा बनाने पर बल दिया। राजा राममोहन राय किसानों के प्रबल हिमायती थे, अतः उन्होंने किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी निश्चित करने की मांग की। उनके आन्दोलन के फलस्वरूप 1835 में समाचार पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों को हटा लिया गया। राजा राममोहन राय ने अपने देशवासियों में राजनीतिक जागृति पैदा करने का प्रयास किया। यद्यपि उनके प्रयास अप्रत्यक्ष एवं सीमिति थे, फिर भी उन्होंने भारत के राजनीतिक नवजागरण में महान योगदान दिया।

राजा राममोहन राय अन्तर्राष्ट्रीयता के भी अनन्य पुजारी थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने हेतु एक सुझाव प्रस्तुत किया जिसमें सम्बन्धित देशों की संसदों से एक-एक सदस्य लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने की योजना थी। इस प्रकार राजा राममोहन राय राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के प्रबल समर्थक थे। एडम ने ठीक ही लिखा है कि, "स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तर्रात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में फूट-फूट कर निकल पड़ती थी।" इसीलिये उन्हें, 'नये युग का अग्रदूत' कहा गया है।

युवा बंगाल आन्दोलन—भारत के धर्म और समाज सुधार आन्दोलन के इतिहास में, कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। वास्तव से सार्वजनिक जीवन तथा जनजागरण का इतिहास हिन्दू कालेज से ही आरम्भ होता है। कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना जनवरी 1817 में हुई थी। इससे पूर्व बंगाल में किसी प्रकार की जन जागृति नहीं थी। जन-जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव था तथा राजनीति से भारतीयों का कोई सम्पर्क नहीं था। किन्तु हिन्दू कालेज की स्थापना के बाद इसमें आमूल-चूल परिवर्तन की शृंखलाएं आरम्भ हो गयी। 1826 में हेनरी लुई विवियन देरीजियो नामक व्यक्ति की इस कालेज में शिक्षक के रूप में नियुक्ति हुई, जिसने हिन्दू कालेज को जन-जागरण का केन्द्र बना दिया। देरीजियो एक स्वतन्त्र विचारक था तथा 19 वीं शताब्दी की उदारवादी विचारधारा से बड़ा प्रभावित था। अतः वह एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहता था जिसमें भारतीयों को राजनीति में रुचि उत्पन्न हो। अतः उसने कालेज के अपने मेधावी छात्रों से निकट सम्पर्क स्थापित करके उन्हें यूरोप के राजनीतिक विचारकों की विचारधाराओं से परिचित कराया। अमृतलाल मित्र, कृष्णमोहन बनर्जी, रसिककृष्ण मल्लिक, दक्षिणारंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष आदि अनेक जागरूक एवं मेधावी छात्र उसके निकट सम्पर्क में थे। देरीजियो और इन मेधावी छात्रों की विचार गोष्ठियां आयोजित होती थी, जिसमें धर्म, राजनीति, नैतिकता और भारतीय इतिहास पर विचार विमर्श होता था। अतः जो छात्र देरीजियो के सम्पर्क में आये उनमें एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। इन छात्रों ने बंगाल में एक नया जागरूक वर्ग पैदा किया, जिन्हें 'युवा बंगाल' (Young Bengal) कहा जाता था। युवा बंगाल के सदस्य अन्धविश्वासों तथा भारतीय सामाजिक कुरीतियों के कटु आलोचक थे और सुधारों के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने बंगाल में एक आन्दोलन शुरू किया, जिसे युवा बंगाल आन्दोलन कहा जाता है।

देरीजियो के विचारों से प्रभावित होकर युवा बंगाल के सदस्यों ने 1828 में 'एकेडेमिक एसोसियेशन' की स्थापना की तथा देरीजियो इसका अध्यक्ष बना। इस एसोसियेशन के तत्वावधान में समय-समय पर सभाएं होती थी, जहां स्वच्छन्द

और खुले दिमाग से सभी विषयों पर वहस होती थी और विचारों का आदान-प्रदान होता था। इस प्रकार की विचार गोष्ठियों में केवल हिन्दू कालेज के छात्र ही भाग नहीं लेते थे, वरन् कलकत्ता के शिक्षित और जागरूक लोग भी भाग लेने लगे। देरीजियो और उसके एसोसियेशन ने सुप्त भारतीयों को झकझोर दिया। छात्रों में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हुई और वे अब खुले रूप से प्राचीन मान्यताओं की आलोचना करने लगे। उन्होंने हिन्दू धर्म के पाखण्डों पर प्रबल आक्षेप किये और कहा कि जो कार्य नैतिक दृष्टि से अनैतिक है, वह धार्मिक दृष्टि से कभी नैतिक नहीं हो सकता। अतः पुरातनपंथी भारतीयों में इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने ईसाई मिशनरियों पर आरोप लगाया कि वे भारतीयों को भड़का कर ईसाई वनाने का षड़यंत्र कर रहे हैं। उन्होंने एकेडेमिक एसोसियेशन के विरुद्ध आवाज उठाई तथा कम्पनी सरकार को इसके कार्य-कलापों के वारे में सूचित किया। अनेक अभिभावकों ने अपने लड़कों को हिन्दू कालेज से वापिस बुला लिया। इस पर कालेज की मेनेजिंग कमेटी ने आदेश प्रसारित किया कि कालेज का कोई छात्र इस एसोसियेशन से किसी प्रकार का सम्वन्ध अथवा सम्पर्क न रखे। मेनेजिंग कमेटी ने देरीजियो को कालेज से निकालने का भी निर्णय ले लिया। अतः मार्च 1831 में देरीजियो ने स्वयं पदत्याग कर दिया और इसके कुछ ही दिनों वाद उसकी मृत्यु हो गयी।

यद्यपि देरीजियो की मृत्यु हो गयी थी, तथापि उसकी भावना जीवित रही। उसके अनुयायी वंगाल में उसके वताये हुए मार्ग पर चलते रहे और वंगाल में जन-जागरण का कार्य करते रहे। वंगाल में सार्वजनिक संगठनों की स्थापना का प्रारम्भ हम देरीजियो के 'युवा वंगाल' तथा 'एकेडेमिक एसोसियेशन' से मान सकते हैं। उसने वंगाल में और अन्ततः सम्पूर्ण भारत में सर्वप्रथम जनजागरण की बुनियाद रखी। वस्तुओं को तर्क के आधार पर परखने, अन्धविश्वासों तथा पुरानी मान्यताओं पर प्रबल आक्षेप करने की शुरुआत उसी ने की थी। उसी के प्रयत्नों के फलस्वरूप वंगाल में एक जागरूक वर्ग पैदा हुआ। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण की पृष्ठ-भूमि तैयार करने में हिन्दू कालेज की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण मानी जायेगी।

वास्तव में राजा राममोहन राय एक महान समाज सुधारक, विशुद्ध धर्म प्रवर्तक, शिक्षा शास्त्री, पत्रकार, सच्चे महर्षि और तत्व ज्ञानी थे। यदि एक ओर वे कुसंस्कार जनित रूढ़ियों के विध्वंसक के रूप में उग्र रूप से समाज के मकड़ी जालों को झाड़ते-बुहारते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों की एक ऐसी वहुमूल्य देन वह अपने पीछे छोड़ गये कि शायद ही किसी व्यक्ति ने इतनी विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को एक साथ प्रदान की हो। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज आन्दोलन उनके पीछे भी भारतीय संस्कृति में काफी समय तक प्राण फूंकता रहा। हमारी राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में ब्रह्म

समाज ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। केशवचन्द्र सेन ने सर्वप्रथम भारतीयता के आधार पर समाज के निर्माण का प्रयत्न किया, जिससे भारत की एकता की भावना को बल प्राप्त हुआ और इसी के आधार पर आगे चल कर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने राजनीतिक आन्दोलन को समस्त भारत में फैलाने का प्रयत्न किया। वास्तव में ब्रह्म समाज हिन्दू समाज में उग्र सुधार करना चाहता था। ये सुधार आन्दोलन केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं थे। इसी से प्रेरित होकर मुस्लिम धर्म में भी सुधार की प्रवृतियां पैदा हुई। 1851 में शिक्षित पारसियों ने पारसी धर्म की रक्षा तथा कुरीतियों के संशोधन के लिये 'रहनुमाए मज्दायस्नान' नामक समाज की स्थापना की। ये सभी आन्दोलन उग्र सुधार तथा आमूल परिवर्तन के पक्ष में थे। पचास वर्ष पूर्व जहां शिक्षित हिन्दू समाज हिन्दू धर्म के विविध सिद्धान्तों और अनुष्ठानों की खिल्ली उड़ाता था, अब वह उनका वैज्ञानिक समर्थन करने लगा। वस्तुतः ब्रह्म समाज ईसाइयत के विरोध में हिन्दू समाज की रक्षा के लिये प्रथम बांध था और राजा राममोहन राय भारत के आधुनिक जीवन के पिता थे।

केशवचन्द्र सेन और भारतीय ब्रह्म समाज

केशवचन्द्र सेन 1857 में ब्रह्म समाज के सदस्य बने। उन्होंने अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा अनेक नवयुवकों को ब्रह्म समाज के प्रति आकर्षित किया। समाज के विचारों को प्रचारित करने के लिये उन्होंने 'संगत सभा' की भी स्थापना की। केशवचन्द्र सेन पाश्चात्य विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे तथा ईसाई धर्म का उन पर गहरा प्रभाव था। अतः वे ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार चलाना चाहते थे। फलस्वरूप देवेन्द्रनाथ टैगौर से उनका मतभेद हो गया और उन्होंने 1866 में भारतीय ब्रह्म समाज की स्थापना कर डाली। देवेन्द्रनाथ के प्रभावशाली व्यक्तित्व से मुक्त होने के बाद केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ईसाई धर्म की ओर झुकने लगा। फलस्वरूप ईसा मसीह ब्रह्म समाजियों के पूज्य पथ प्रदर्शक बन गये। बाइबिल तथा ईसाई पुराणों का अध्ययन उत्साह से होने लगा। इसके साथ ही उन्होंने अपने समाज को विश्व धर्म का व्याख्याता बताने के लिये उन्होंने सभी धर्मों की उपासना आरम्भ की। अपने समाज के प्रार्थना संग्रह में हिन्दू, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम और चीनी आदि सभी धर्मों की प्रार्थनाएं शामिल की। साथ ही उन्होंने वैष्णव कीर्तन के गीत भी अपनी प्रार्थना में शामिल किये।

केशवचन्द्र सेन ने अपने समाज के द्वारा नवयुवकों में सामाजिक सुधार की उग्र भावना जागृत की। उन्होंने स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह का प्रबल समर्थन किया तथा बाल विवाह, बहु विवाह और पर्दा प्रथा का विरोध किया। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया, जिसके परिणामस्वरूप 1872 में ब्रह्म मेरिजेज एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह व विधवा विवाह

हो सकते थे तथा बाल विवाह व बहु विवाह का निषेध कर दिया गया। इस एक्ट में यह भी कहा गया कि 14 वर्ष से कम लड़की और 18 वर्ष से कम लड़के का विवाह नहीं हो सकता था। 1870 में इंगलैंड से वापस लौटकर केशवचन्द्र सेन ने 'इण्डियन रिफार्म एसोसियेशन' की स्थापना की जिसमें स्त्रियों की स्थिति में सुधार, मजदूर वर्ग की शिक्षा, सस्ते साहित्य का निर्माण, नशाबन्दी, दान व दयालुता आदि उद्देश्य रखे गये। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एक साप्ताहिक समाचार पत्र 'सुलभ समाचार' को आरम्भ किया। स्त्रियों को उनके घरों पर शिक्षा देने के लिये एक समुदाय बनाया और अन्य समुदाय सस्ती व उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये स्थापित किया।

केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज का तीव्र गति से उत्कर्ष हुआ। नवयुवकों ने बंगाल के गांव-गांव में जाकर समाज का प्रचार किया तथा अनेक नवयुवक बंगाल से बाहर भी गये। 1866 के एक लेख से पता चलता है कि बंगाल में 50, उत्तर प्रदेश में 2, पंजाब तथा मद्रास में एक-एक शाखा स्थापित हो चुकी थी और विभिन्न भाषाओं में 37 पत्रिकाएं समाज के प्रचार के लिये प्रकाशित की जाती थी। इस प्रकार केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में दिनों-दिन उन्नति करता जा रहा था, किन्तु 1878 में कूच विहार के राजकुमार की ओर से केशवचन्द्र सेन की पुत्री से विवाह का प्रस्ताव आया, जिसे केशवचन्द्र सेन मना न कर सके और विवाह हो गया। केशवचन्द्र सेन की पुत्री तथा कूच विहार का राजकुमार दोनों नाबालिग थे। इससे केशवचन्द्र सेन की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात लगा क्योंकि 'ब्रह्म मेरिजेज एक्ट' पास करवाने में केशवचन्द्र सेन सबसे अधिक सक्रिय थे और अब उन्होंने स्वयं उस कानून का उल्लंघन कर दिया। अतः केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व के विरुद्ध आवाज उठी और भारतीय ब्रह्म समाज के दो टुकड़े हो गये। केशवचन्द्र सेन के विरोधियों ने एक अलग 'साधारण ब्रह्म समाज' स्थापित कर लिया। केशवचन्द्र सेन के साथ जो सभा रही उसका नाम 'नव विधान सभा' रखा गया जो ईसाइयत के अधिक नजदीक थी।

साधारण ब्रह्म समाज—इस समाज को सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, शिवनाथ शास्त्री आदि जैसे महान व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हुआ। इसने कलकत्ता में एक स्कूल स्थापित किया जो बाद में 'सिटी कालेज ऑफ कलकत्ता' बना। इसने पुस्तकालय, छापाखाने और समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं का प्रबन्ध किया। बंगाली में 'तत्व कौमुदी' और अंग्रेजी में 'ब्रह्म पब्लिक ऑपिनियन' नामक दो समाचार पत्र भी चलाये। 1884 में साप्ताहिक पत्रिका 'संजीवनी' आरम्भ की गई और 1888 में एक ब्रह्म बालिका स्कूल खोला गया। इस प्रकार साधारण ब्रह्म समाज ने भी धर्म और समाज सुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण कार्य किया। बाद के समय में ब्रह्म समाज की सबसे अधिक लोकप्रिय शाखा यही थी।

प्रार्थना समाज

सन 1819 में, महाराष्ट्र में प्रार्थना सभा नामक संस्था की स्थापना की गई थी, किन्तु इसका प्रभाव सीमित था और यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गयी। इसके बाद ब्रह्म समाज के प्रभाव से 1867 में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके संस्थापक डॉ० आत्माराम पाण्डुरंग थे। इस समाज का उद्देश्य भी ब्रह्म समाज की तरह एकेश्वरवाद और समाज सुधार थे। धार्मिक क्षेत्र में यह एकेश्वरवाद के अन्तर्गत ईश्वर के निराकार रूप को मानते थे, किन्तु ब्रह्म समाज की तरह मूर्ति पूजा के त्याग की शर्त इसमें नहीं थी। यह समाज मूल रूप से अपने सामाजिक सुधारों के लिये प्रसिद्ध है। सामाजिक क्षेत्र में इस संस्था के मुख्य उद्देश्य थे—(1) विधवा विवाह का प्रचार करना (2) जाति प्रथा को अस्वीकार करना (3) स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देना (4) बाल विवाह का बहिष्कार करना (5) विवेकपूर्ण उपासना करना, तथा (6) अन्य सामाजिक सुधार करना। ब्रह्म समाज के प्रभाव के अन्तर्गत इसकी खूब उन्नति हुई। केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय, पी. सी. मजूमदार और बाबू महेन्द्रनाथ बोस जैसे महान ब्रह्म समाजियों के बम्बई आगमन से प्रार्थना समाज को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रार्थना समाज के अनुयायियों ने अपना प्रमुख ध्यान अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह और महिलाओं व हरिजनों की शोचनीय दशा में सुधार करने की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने अनाथाश्रम, रात्रि पाठशालाएं, विधवाश्रम, अछूतोद्धार जैसी अनेक उपयोगी संस्थाएं स्थापित की। प्रार्थना समाज ने हिन्दू धर्म से अलग होकर कोई नवीन सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रयास नहीं किया और न इसने ईसाई धर्म का समर्थन ही किया। इसने अपने सिद्धान्त आस्तिक-वादी सन्तों व भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्धित रखे। इसके सदस्य विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों व मतमतान्तरों के होने पर भी सुसंगठित रहे और ब्रह्म समाज के समान इसमें फूट उत्पन्न न हो सकी। किन्तु यह संगठन कोई निश्चित नियमों पर आधारित न होने से, इसका आन्दोलन अधिक शक्तिशाली नहीं बन सका। इसकी सफलता का श्रेय जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे को है।

श्री रानाडे ने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रार्थना समाज के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में लगा दिया। वे समाज सुधार के साथ राष्ट्रीय प्रगति के कट्टर हिमायती थे। उन्होंने 1884 में 'डंकन एजुकेशन सोसाइटी' तथा 'विधवा विवाह संघ' की स्थापना की। उन्होंने अपने अथक प्रयासों द्वारा भारतीय सुधारों को एक नवीन दिशा प्रदान की। प्रार्थना समाज धार्मिक गतिविधियों की अपेक्षा सामाजिक क्षेत्र में अधिक कार्यशील रहा और पश्चिमी भारत में समाज सुधार सम्बन्धी विभिन्न कार्य-कलापों का केन्द्र रहा। प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र में समाज सुधार के लिये वही कार्य किया जो ब्रह्म समाज ने बंगाल में किया था।

इस प्रकार ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज दोनों ही नवाभ्युत्थान की प्रारम्भिक उपज थे। ये पाश्चात्य विचारों का परिणाम और पाश्चात्य विवेकशीलता के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का फल था। इसके बाद दो उग्र सुधारवादी आन्दोलन और भी हुए जिन्होंने भारत के अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर उसके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों से अपने मूल सिद्धान्त उपलब्ध किये। इन आन्दोलनों से हिन्दू धर्म में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हुई। ये आन्दोलन थे—आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन। ब्रह्म समाज अब लुप्त प्रायः हो गया है, लेकिन धर्म और समाज सुधार आन्दोलन की प्रथम मशाल उसी ने प्रज्वलित की थी, जिसके प्रकाश से भविष्य के आन्दोलन अपना मार्ग टटोल सके।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज

यद्यपि ब्रह्म समाज ने धर्म एवं समाज सुधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु ब्रह्म समाज एक रक्षात्मक आन्दोलन था। इसने पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई धर्म से प्रभावित होकर हिन्दू धर्म और समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया, फिर भी ब्रह्म समाज ने ईसाई व इस्लाम धर्म को समान स्थान प्रदान करते हुए हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित नहीं की। अतः हिन्दू धर्म की आत्मा सन्तुष्ट न हो सकी। हिन्दू धर्म एवं समाज को एक उग्र आन्दोलन की आवश्यकता थी तथा इस आवश्यकता की पूर्ति आर्य समाज ने की। आर्य समाज के संस्थापक गुजरात के सन्यासी स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा चलाया गया आर्य समाज आन्दोलन विभिन्न प्रकार से ब्रह्म समाज से भिन्न था।

दयानन्द सरस्वती का जन्म 1824 ई. में गुजरात के तंकरा परगने के जिवपुर ग्राम में एक धनी रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके बचपन का नाम मूलशंकर था। जब वे 14 वर्ष के थे, तब एक बार शिवरात्रि के पर्व पर अपने पिता के साथ शिव मन्दिर गये। वहां उन्होंने एक चूहे को शिवलिंग पर चढ़कर प्रसाद खाते देखा तो उनका मूर्तिपूजा में विश्वास उठ गया। जब उनके पिता ने उनके विवाह का प्रबन्ध किया तो 1845 में 21 वर्ष की आयु में वे आध्यात्मिक खोज के लिये भगवान बुद्ध की भांति गृह त्याग कर दिया। अगले 19 वर्षों तक वे विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते रहे तथा अध्ययन करते रहे। 1860 में वे मथुरा पहुंचे और वहां दण्डी स्वामी वृजानन्द के चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त किया। स्वामी वृजानन्द वैदिक साहित्य, भाषा एवं दर्शन के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने दयानन्द को वेदों में निहित ज्ञान की व्याख्या समझाई। अतः यहां पर दयानन्द को विश्वास हो गया कि वेद ही समस्त ज्ञान के स्रोत हैं। स्वामी वृजानन्द को विदा करते हुए उन्हें पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों का खण्डन कर देश में वैदिक धर्म व संस्कृति की पुनः स्थापना करने का आदेश दिया। स्वामी दयानन्द जीवन भर गुरु के इस आदेश का पालन करते रहे।

दयानन्द अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे तथा पाश्चात्य सभ्यता व ईसाई धर्म से भी अप्रभावित थे। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करना था तथा हिन्दू धर्म में जो बुराइयां प्रवेश कर चुकी थीं, उन्हें निकालना था। वे अपने धर्म प्रचार के कार्यों में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, किन्तु केशवचन्द्र सेन के परामर्श से उन्होंने हिन्दी भाषा के माध्यम से जन साधारण को अपना सन्देश दिया। उन्होंने 1863 में आगरा से अपने धर्म प्रचार का कार्य आरम्भ किया। 1874 में उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की। भारत की बौद्धिक राजधानी वाराणसी में कर्मकाण्डी पंडितों से हुए शास्त्रार्थ में उन्होंने प्रमाणित किया कि वेद ही समस्त ज्ञान के आधार हैं तथा मूर्ति पूजा वेदों की शिक्षा के प्रतिकूल है। उन्होंने हिन्दू धर्म, सभ्यता और भाषा के प्रचार के लिये सर्वप्रथम 10 अप्रैल, 1875 को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। इसके बाद स्वामीजी दिल्ली गये जहां 'सत्य' की खोज के लिये ईसाई, मुसलमान और हिन्दू पंडितों की एक सभा बुलाई, किन्तु दो दिन के विचारविमर्श के बाद भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। दिल्ली से स्वामीजी पंजाब गये, जहां उनके प्रति बड़ा उत्साह जागृत हुआ। जून 1877 में लाहोर में आर्य समाज की एक शाखा खोली गई और कालान्तर में इस आन्दोलन का प्रमुख कार्यालय लाहोर ही बन गया। इसके पश्चात भारत के विभिन्न प्रान्तों में घूम-घूम कर अपने विचारों का प्रचार करते रहे तथा आर्य समाज की शाखाएं स्थापित करते रहे।

अपने विचारों का प्रचार करने के लिये स्वामीजी ने तीन ग्रन्थ लिखे थे। 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' में उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया। दूसरे ग्रन्थ 'वेदभाष्य' में उन्होंने यजुर्वेद और ऋग्वेद की टीका लिखी। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' है। इसमें स्वामीजी ने सभी धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित किया कि वैदिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों का खण्डन जिस निर्भयता से किया है, उसी ढंग से इस्लाम तथा ईसाइयत के ढोंग, आडम्बर तथा अन्ध-विश्वासों की भी तीव्र आलोचना की है। इससे हिन्दू जनता को यह जानकर सन्तोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं है। दूसरा यह है कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुआ और वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिये गौरव का अनुभव करने लगे। ईसाइयत की श्रेष्ठता की भावना जो बल पकड़ रही थी, स्वामीजी ने उस पर रोक लगा दी। स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि वेद ही सभी ज्ञान के आधार हैं तथा मूर्तिपूजा वेदों की शिक्षा के प्रतिकूल है। उन्होंने अवतारवाद, तीर्थ यात्रा, श्राद्ध, व्रत-अनुष्ठान आदि पौराणिक बातों का बड़े ही युक्तिपूर्वक ढंग से खण्डन किया। उन्होंने प्रतिदिन वेद में निर्दिष्ट यज्ञ तथा

संध्या करना प्रत्येक आर्य के लिये आवश्यक बताया। स्वामीजी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। स्वामीजी ने बाल विवाह, बहु विवाह तथा पर्दा प्रथा का खण्डन किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर जोर दिया तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

स्वामी दयानन्द के अन्तिम दिन राजस्थान में व्यतीत हुए जहां अनेक राजा तथा जागीरदार उनके शिष्य बने। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने उनसे मनुस्मृति, राजनीति तथा राजधर्म की शीक्षा ग्रहण की। 1881 में उदयपुर के ही एक जागीरदार बनेड़ा के राजा गोविन्दसिंह का निमन्त्रण प्राप्त कर वे बनेड़ा गये, जहां राजा गोविन्दसिंह ने उनका हार्दिक स्वागत किया। बनेड़ा में स्वामीजी सोलह दिन रहे और इस दौरान स्वामीजी ने राजा गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों अक्षयसिंह और रामसिंह को सस्वर वेद पाठ करना सिखाया। स्वामीजी ने दोनों राजकुमारों को 'वर्णोच्चारण शिक्षा' नामक पुस्तक उपहार में दी। तत्पश्चात वे चित्तौड़गढ़ चले गये। अक्टूबर 1883 में वे जोधपुर आये जहां किसी के द्वारा स्वामीजी को विष दे दिया गया। धर्म के ऐसे महान आचार्य की 30 अक्टूबर, 1883 को दीपमालिका के दिन अजमेर में जीवन लीला समाप्त हो गयी। स्वामीजी की मृत्यु पर मेडम ब्लेवाटस्की (रूसी) ने लिखा था, "यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।" स्वामीजी की मृत्यु के बाद थियोसाफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था, "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन जनसमूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदय में ऋषियों और वेदों के लिये अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।"

आर्य समाज के नियम—स्वामी दयानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के सभी मौलिक सिद्धान्तों का परिचय हमें उनके महान ग्रन्थ, 'सत्य र्थ प्रकाश' में मिलता है। इस ग्रन्थ के आधार पर आर्य समाज के निम्नलिखित दस नियम हैं :—

(1) ईश्वर एक है तथा वह निराकार है। वह सर्व शक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, निर्विकार, सर्वव्यापक, अजर, अमर, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। अत: उसकी उपासना करने योग्य है।

(2) वेद ही सच्चे ज्ञान के स्रोत । अत: वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को सदा सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिये तैयार रहना चाहिये।

(4) सब कार्य धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिये।

(5) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात सबकी शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(6) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

(7) समस्त ज्ञान का निमित्त कारण और उसके माध्यम से समस्त बोध ईश्वर है।

(8) प्रत्येक को अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

(9) सभी से धर्मानुसार प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।

(10) व्यक्तिगत हितकारी विषयों में प्रत्येक व्यक्ति को आचरण की स्वतन्त्रता रहे, परन्तु सामाजिक भलाई से सम्बन्धित विषयों में सब मतभेदों को भुला देना चाहिये।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म एवं समाज सुधार हेतु महत्वपूर्ण कार्य किये। स्वामी दयानन्द ने अपना सम्पूर्ण जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों के खण्डन और वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लगाया। दयानन्द ने वेदों में एकेश्वरवाद की कल्पना को प्रमुख माना तथा वेदों में वर्णित यज्ञों और अन्य संस्कारों की नई व्याख्या की गई। हवन का मुख्य उद्देश्य सामान वायुमंडल को शुद्ध करना था। उन्होंने बताया कि हिन्दू धर्म सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दृष्टि से उदार रहा है। स्वयं वेद भी अपनी श्रेष्ठता का दावा नहीं करते। इसलिये हिन्दू धर्म ने सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया, जबकि इस्लाम और ईसाई धर्म क्रमशः कुरान और बाइबिल को ही एक मात्र सत्य ग्रन्थ मानते हैं और उसी धर्म का पालन करना स्वर्ग जाने का मार्ग बताते हैं। इसी कारण हिन्दू धर्म की उदारता उसकी निर्बलता सिद्ध हुई और इसीलिये हिन्दू धर्म कट्टर इस्लाम और ईसाई धर्म का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। अतः स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को भी कट्टरता प्रदान की। इसीलिये आर्य समाज हिन्दू धर्म का कट्टर समर्थक रहा तथा 'सैनिक हिन्दुत्व' कहलाया।

आर्य समाज ने वेदों के आधार पर हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया, इसलिये इसे पुनरुत्थानवादी आन्दोलन कहा जाता है। आर्य समाज आन्दोलन किसी बाहरी तत्वों से प्रेरित न होकर अपने ही मूल रूप से प्रेरित था। पहले वेदों का अध्ययन केवल ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। स्वामी दयानन्द ने सभी वर्णों के लोगों को वेदों के अध्ययन तथा उसकी व्याख्या करने का अधिकार

दे दिया। इस प्रकार समानता और धार्मिक कट्टरता की भावना को लेकर आर्य समाज ने भारत में धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो कार्य किया उसकी तुलना किसी भी धर्म सुधार आन्दोलन से नहीं की जा सकती।

सामाजिक सुधार-- भारतीय समाज में जाति व्यवस्था शताब्दियों से प्रचलित रही है। इस जाति प्रथा ने यदि एक ओर हिन्दू धर्म की रक्षा की तो दूसरी ओर हिन्दुओं के राजनीतिक एवं सामाजिक पतन के लिए भी उत्तरदायी रही। 19 वीं शताब्दी में प्रचलित जाति व्यवस्था प्राचीन वर्ण व्यवस्था से भिन्न थी। प्राचीन वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर व्यक्ति के कार्यों पर आधारित थी, जबकि 19 वीं शताब्दी में जाति व्यवस्था जन्म पर आधारित थी, जिसकी स्वामी दयानन्द ने कटु आलोचना की। उनके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर उपलब्ध होना चाहिये। समाज में किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर उच्च स्थान पर पहुंचने से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। उन्होंने छूआ-छूत तथा समुद्र यात्रा निषेध के विरुद्ध आवाज बुलन्द की तथा प्राचीन वर्ण व्यवस्था को उचित ठहराते हुए जाति प्रथा का खण्डन किया।

वैदिक काल के सामाजिक ढांचे के आधार पर आर्य समाज ने स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। वैदिक काल में स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा सामाजिक जीवन में पूरी तरह भाग लेने का पूरा अधिकार था। अतः आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। इसका कारण बहु-विवाह प्रथा तथा बाल-विवाह प्रथा था। वैदिक काल में ये प्रथाएँ प्रचलित नहीं थी, अतः समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। इसलिए आर्य समाज ने बाल-विवाह, बहु विवाह तथा पर्दा प्रथा का घोर विरोध किया तथा विधवा विवाह एवं स्त्री शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने 16 वर्ष से कम आयु की लड़कियों के विवाह बंद करने की बात कही। आर्य समाज ने सती प्रथा को पाप तथा क्रूरता बतलाया और समाज में स्त्रियों की समानता पर बल दिया। स्वामी दयानन्द ने तो यहां तक कहा कि वेदों के अध्ययन का अधिकार स्त्रियों को उतना ही है जितना पुरुषों को। प्रचलित हिन्दू मान्यता के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार केवल पुरुषों को ही था, किन्तु स्वामी दयानन्द ने कहा कि यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार स्त्रियों को भी है।

आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन को जन्म दिया। शुद्धि से अभिप्राय उस संस्कार से है जिसमें गैर हिन्दुओं, अछूतों, दलित वर्गों तथा ईसाई व मुसलमान बनाये हुए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया जाता था। आर्य समाज के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज तक लाखों हिन्दुओं को जो मुसलमान और ईसाई बन गये थे, शुद्ध करके उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में वापिस बुला लिया गया है तथा वे पूर्ण रूप से समाज में सम्मान का उपभोग कर रहे हैं। आर्य समाज ने

हिन्दू समाज में संगठन का बीजारोपण किया, जिससे हिन्दू समाज में आत्मविश्वास एवं आत्म सम्मान की भावना जागृत हुई। इससे पहले हिन्दुओं को किसी धर्म का विरोध करने में भय लगता था, किन्तु अब वे खुले-आम इस्लाम और ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की कटु आलोचना करने में तनिक भी नहीं हिचकते थे।

धार्मिक सुधार—आर्य समाज ने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, बलि-प्रथा, स्वर्ग और नरक की कल्पना तथा भाग्य में विश्वास का विरोध किया। उसने वेदों की श्रेष्ठता का दावा किया तथा वेदों के आधार पर ही हवन, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण, कर्म आदि पर बल दिया। उनका मानना था कि ईश्वर निराकार है, अतः मूर्तिपूजा निरर्थक है। उसने अनेकेश्वरवाद और अवतारवाद का विरोध किया। स्वामी दयानन्द ने अपने भाषणों में पौराणिक रूढ़ियों एवं मान्यताओं की निन्दा की। उन्होंने हिन्दुओं के मोक्ष का समर्थन किया तथा बताया कि ईश्वर की उपासना, अच्छे कर्म और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। उनके इस उपदेश से हिन्दुओं में ईसाई धर्म के प्रति घृणा और विरोध की भावना फैलने लगी, क्योंकि ईसाई धर्म मोक्ष का मार्ग नहीं बताता। वेदों की व्याख्या उसने इस प्रकार की, जिससे कि वेद वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों के स्रोत माने जा सकते हैं। आर्य समाज का यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो हम वेदों से प्राप्त नहीं कर सकते। अतः हमें इस्लाम या ईसाई धर्म या पाश्चात्य सभ्यता की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। वेदों की श्रेष्ठता के आधार पर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणों से बचाने में सफलता प्राप्त की। आर्य समाज ने न केवल हिन्दू धर्म की रक्षा का ही प्रयत्न किया बल्कि ईसाई धर्म के ढोंग और पाखण्डों पर भी भीषण प्रहार किया तथा हिन्दू धर्म की कुरीतियों का जनाजा निकाला। उसने मृतकों के श्राद्ध का विरोध किया और कहा कि भोजन कराके अथवा दान देकर परलोक में मृतक व्यक्ति को सब कुछ पहुँचाने की कल्पना मूर्खतापूर्ण है। स्वामी दयानन्द ने यह स्पष्ट किया कि भिन्न-भिन्न मत मतान्तर के लोगों को सच्चे धर्म से विमुख किया जाता है, अतः उन्हें न माना जाय, क्योंकि मात्र वैदिक धर्म ही मानव का सच्चा धर्म है। स्वामी दयानन्द रूढ़िवादिता और अन्धविश्वासों के कट्टर शत्रु थे तथा अतार्किक मान्यताएं उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाती थी। वे किसी धर्म से घृणा नहीं करते थे, किन्तु जहां पाखण्ड, ढोंग, असत्य, दम्भ और आडम्बर देखते तो उनकी धज्जियां उड़ाये बिना उन्हें चैन नहीं मिलता था। उन्होंने हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरवपूर्ण सभ्यता और आदर्श का स्मरण करा कर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की तथा हिन्दू धर्म को अन्ध रूढ़िवादिता से मुक्ति दिलाई।

इस प्रकार हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण के महायज्ञ में आर्य समाज ने महत्वपूर्ण भाग लिया। स्वामी दयानन्द ने देश में एक व्यापक धार्मिक क्रांति का सूत्रपात किया,

जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को हिलाने में सहायता दी। श्री अरविन्द के शब्दों में, "राजा राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये, किन्तु दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारी संस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है।" 19 वीं शताब्दी तक हिन्दू धर्म में अनेक अनावश्यक परम्पराएं एवं तत्व सम्मिलित हो गये थे, उन्हें हिन्दू धर्म से अलग कर उसके असली रूप को प्रस्तुत करने के लिए इससे अच्छा कोई अन्य प्रयत्न नहीं हो सकता था। यूरोप में भी प्राटेस्टेन्ट धर्म सुधार आन्दोलन बाइबिल के पुनः अध्ययन के आधार पर अधिक प्रभावशाली बना था, ठीक इसी प्रकार आर्य समाज का हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलन वेदों के पुनः अध्ययन के आधार पर प्रभावशाली बन गया तथा उसका प्रचार अधिक वेग से हुआ।

स्वामी दयानन्द ने अपने उपदेश केवल वेदों तक ही सीमित रखे तथा उपनिषदों एवं गीता के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। इसलिए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने उपनिषदों तथा गीता के महत्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया।

साहित्यिक एवं शैक्षणिक सुधार—स्वामी दयानन्द ने तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने साहित्यिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रंथ हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा के विकास में योगदान दिया। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत के महत्व को प्रतिपादित करते हुए उसके अध्ययन और अध्यापन हेतु बल दिया। आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य अज्ञानता को दूर कर ज्ञान का प्रसार करना था, अतः उसने प्राचीन आश्रम व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। उसने शिक्षा की प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को प्रचलित किया, जहां विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए गुरु के आश्रम में विद्या अध्ययन कर सके। स्वामी दयानन्द ने वेदों को विद्या का भण्डार बताया जबकि अंग्रेजी भाषा और साहित्य को कूड़ा-करकट बताया। आर्य समाज ने ही मैकाले की माया से मुग्ध भारतीयों की मोह निन्द्रा को भंग किया। उस समय हिन्दुओं में नारी शिक्षा के विरुद्ध वातावरण व्याप्त था तथा स्त्रियों को पढ़ाना समाज में अनुचित माना जाता था और वेदों का पढ़ना-पढ़ाना स्त्रियों के लिए वर्जित था। स्त्रियों का घर की चारदीवारी में रहकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना अच्छी गृहिणी के गुण माने जाते थे। कठोर पर्दा प्रथा भी स्त्रियों की शिक्षा में बाधक थी। अतः स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार के विचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और नारी शिक्षा का प्रबल समर्थन किया।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद आर्य समाजियों में कुछ विषयों पर मतभेद हो जाने के कारण 1892 में इसके दो दल बन गये। यह मतभेद इस मौलिक सिद्धान्त को लेकर आरम्भ हुआ कि क्या एक आर्य समाजी के लिए केवल दस नियमों

का पालन करना ही आवश्यक है अथवा स्वामी दयानन्द के विभिन्न आदेशों एवं वेदों की व्याख्या को भी मानना आवश्यक है। आर्य समाज के इन दो दलों में एक दल का नेता लाला हंसराज थे जो पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। उनके प्रयत्नों से स्थान-स्थान पर स्कूल व कॉलेज स्थापित किये गये, जो आज भी डी. ए. वी. कॉलेज के नाम से चल रहे हैं। ये शिक्षा संस्थाएं सरकारी शिक्षा पद्धति से सम्बन्धित थी। दूसरे दल के नेता महात्मा मुंशीराम थे, जो भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति को पुनः प्रचलित करना चाहते थे। अतः दूसरे दल ने गुरुकुल संस्थाएं स्थापित की। ये शिक्षण संस्थाएं न केवल हिन्दू धर्म और संस्कृति तथा आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में ही सहायक सिद्ध हुई, बल्कि ज्ञान के विस्तार में भी इनका बहुत बड़ा योगदान है। आर्य समाज के शैक्षणिक क्षेत्र में कार्य का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेज सरकार के अतिरिक्त पंजाब व यू. पी. में अन्य किसी भी संस्था ने छात्रों और छात्राओं की शिक्षा के लिए इसके समान प्रयत्न नहीं किये।

राष्ट्रीय सुधार—भारतवासियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में भी आर्य समाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्य समाज द्वारा किये गये सामाजिक और धार्मिक सुधारों का परिणाम यह हुआ कि आर्य समाजियों में प्रत्यक्ष रूप से तथा भारतीयों में परोक्ष रूप से आत्मविश्वास और स्वाभिमान का विकास हुआ। भारतीयों में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन का विकास अंग्रेज प्रशासकों को कैसे पसन्द आ सकता था? अतः ब्रिटिश अधिकारियों का दृष्टिकोण कठोर रहा। कुछ अंग्रेज लेखकों, अधिकारियों एवं ईसाई धर्म प्रचारकों ने आर्य समाज के सम्बन्ध में उल्टे-सीधे प्रचार किये। वेलेटाइन शिरोल ने बताया कि आर्य समाज का उद्देश्य सुधार की अपेक्षा हिन्दू धर्म को विदेशी प्रभाव से मुक्त करना था। शिरोल ने इन आरोपों का प्रत्युत्तर लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक, 'हिस्ट्री ऑफ द आर्य समाज' में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से दिया है। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने यह स्वीकार किया कि आर्य समाज एक धार्मिक संस्था है तथा उसे अंग्रेज विरोधी समझे जाने का एक प्रमुख कारण यह था कि यह संस्था ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध थी।

वस्तुतः आर्य समाज ने भारत के प्राचीन गौरव की चर्चा करते हुए स्वावलम्बन के विकास को प्रोत्साहन दिया। इससे राष्ट्रीयता और स्वराष्ट्र प्रेम की भावना को बल मिला। स्वामी दयानन्द के एक जीवनी लेखक ने लिखा है कि, "दयानन्द का एक मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। वास्तव में वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया।" स्वयं दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य की तुलना नहीं कर सकता। दयानन्द ने वेदकालीन भारत को इसलिये

गौरवमय बताया कि उस समय भारत में स्वराज्य था। अतः भारतवासियों के मन में हीनता की भावना कम हुई। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, गोपालकृष्ण गोखले, जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया, आर्य समाज से प्रभावित थे। आर्य समाज ने कट्टर राष्ट्रवादियों के निर्माण में सहयोग दिया। कांग्रेस में अग्रवाद की भावना का विकास होने का कारण हिन्दू धर्म की भावना थी तथा आर्य समाज ने इस भावना के निर्माण में सहयोग प्रदान किया था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है, "आर्य समाज आरम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था।" आर्य समाज ने प्राचीन भारत के बारे में एक निश्चित विचारधारा भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत की जिससे उनका ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रति दृष्टिकोण प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। आर्य समाज ने ही परस्पर अभिवादन करने हेतु विख्यात "नमस्ते" शब्द का प्रचलन किया, जो आज न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी लोकप्रिय है। आर्य समाज ने हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहित करके अंग्रेजी भाषा पर निर्भरता कम करने का प्रयास किया।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि आर्य समाज मात्र हिन्दू धर्म के पुनः स्थापन तक सीमित था, अतः इसने राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं किया, बल्कि साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट किया। किन्तु आर्य समाज को साम्प्रदायिकता की संज्ञा देना गलत होगा, क्योंकि एक राष्ट्र में विभिन्न पृथक पृथक वर्ग होते हैं और उन वर्गों के प्रेरणा स्रोत भी भिन्न हो सकते हैं। राष्ट्रीयता का अर्थ उस राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग के प्रेरणा स्रोत को समाप्त करना नहीं है, बल्कि प्रत्येक वर्ग अपने अपने प्रेरणा स्रोत से राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति में योगदान दे सकता है। आर्य समाज एवं हिन्दुओं का प्रेरणा स्रोत वेद थे और वेदों से प्रेरणा प्राप्त करना भारत के किसी अन्य वर्ग के विरुद्ध नहीं था। अतः आर्य समाज को साम्प्रदायिकता आन्दोलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

आर्य समाज वास्तव में एक ऐसा शक्तिशाली आन्दोलन था, जिसके फलस्वरूप हिन्दू समाज में नव चेतना एवं आत्म सम्मान के भाव जागृत हुए तथा हिन्दू, यह अनुभव करने लगे कि हिन्दू धर्म और संस्कृति अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों से श्रेष्ठ है। आर्य समाज ने भारतीयों में स्वाभिमान और राष्ट्र प्रेम की एक अद्भुत लहर उत्पन्न की तथा धर्म, समाज और शिक्षा के क्षेत्र में महान योगदान दिया। इसीलिये ब्रह्म समाज आन्दोलन, जबकि आज मृत प्रायः हो चुका है, आर्य समाज अभी तक एक जीवित आन्दोलन है और आज भी इसे एक जन आन्दोलन स्वीकार किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद इस आन्दोलन के विकास को कुछ धक्का अवश्य लगा, क्योंकि कुछ विषयों पर मतभेद हो जाने के कारण 1892 में आर्य सामाजियों के दो दल हो गये थे, किन्तु प्रत्येक दल ने अपनी-अपनी पद्धति एवं विचारधारा के आधार पर इस आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया। लाला

हंसराज के नेतृत्व में वैदिक सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार किया गया, तो महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व में प्राचीन शिक्षा पद्धति को प्रचलित किया गया। महात्मा मुंशीराम ने हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगडी की स्थापना की। यह देश का पहला विश्वविद्यालय था, जहां राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा सफलतापूक दी गई। महात्मा मुंशीराम ही आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए और उन्होंने आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने का अथक प्रयास किया। इसीलिए उन्हें एक मुस्लिम हत्यारे के हाथों अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। आर्य समाज के ही अथक प्रयासों से विभिन्न स्थानों पर अनाथालयों, विधवा-आश्रमों, गोशालाओं आदि की स्थापना की गई और आज भी यह सैकड़ों अनाथ बच्चों और विधवाओं का पालन कर उन्हें स्वावलम्बी बना रहा है।

थियोसॉफिकल सोसायटी

थियोसॉफ़िकल सोसायटी भी एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसने देश के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। 'थियोसॉफी' शब्द ग्रीक भाषा की 'थियो' (ईश्वर) और 'सोफिया' (ज्ञान) शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'ईश्वर का ज्ञान'। संस्कृत में इसके लिए 'ब्रह्म-विद्या' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का सर्वप्रथम तीसरी शताब्दी में एलेक्जेण्ड्रिया के ग्रीक विद्वान इम्ब्रीकस (Iambechus) ने किया था। उसने इस शब्द का प्रयोग ईश्वरीय ज्ञान के लिए किया था। आधुनिक काल में इस शब्द का प्रयोग थियोसॉफिकल सोसायटी ने किया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी। सर्वप्रथम इस संस्था की स्थापना 7 सितम्बर, 1875 को न्यूयार्क (अमेरीका) में हुई थी तथा इसके संस्थापक कर्नल एच. एस. आलकाट (अमेरिकन) और एक महिला एच पी. ब्लेवटास्की (रूसी) थे। थियोसॉफिकल सोसायटी के उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) प्रकृति के नियमों की खोज तथा मनुष्य की दैवी शक्तियों का विकास।

(2) किसी भी धर्म की कट्टरता को प्रश्रय न देकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करना।

(3) प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान जो संसार में कहीं भी पाया जा सकता है, उसके अध्ययन में सहयोग देना।

(4) विश्व बन्धुत्व अथवा विश्व मानवता का विकास करना।

(5) पूर्वी देशों के महान धर्मों तथा दर्शनों का अध्ययन तथा प्रसार करना।

सन् 1879 में आलकाट व ब्लेवटास्की, स्वामी दयानन्द के निमन्त्रण पर भारत आये और उन्होंने तात्कालिक धार्मिक आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित किया।

इन दोनों ने हिन्दुओं की कुरीतियों को दूर करने का उपदेश दिया। कर्नल आलकाट ने हिन्दू धर्म के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह सब धर्मों से श्रेष्ठ है तथा सम्पूर्ण सत्य इसी में निहित है। सोसायटी के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए आलकाट ने बम्बई में घोषणा की कि उसका लक्ष्य भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव और महानता की याद दिलाना है ताकि भारत अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सके। आरम्भ में ये दोनों थियोसॉफिस्ट्स, आर्य समाज के साथ मिलकर 1881 तक ईसाई धर्म के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु इन दोनों का (आर्य समाज और थियोसॉफिकल सोसायटी) सहयोग एवं मतैक्य स्थायी नहीं रह सका। स्वामी दयानन्द वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे, जो थियोसॉफिकल विचारकों को स्वीकार्य नहीं था। अतः 1886 में उन्होंने मद्रास के उपनगर आडियार में थियोसॉफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया। अब इस सोसायटी का कार्य क्षेत्र भारत हो गया तथा यहीं से अन्य देशों में इसके विचारों का प्रचार होने लगा।

श्रीमती एनीबीसेंट—भारत में इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व मुख्य रूप से एक अंग्रेज महिला श्रीमती एनीबीसेंट ने किया। श्रीमती एनीबीसेंट अत्यन्त ही उच्च शिक्षा प्राप्त कुलीनवंशी कन्या थी। 46 वर्ष की आयु में वह 16 नवम्बर 1893 को भारत आयी और भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ी। उसने थियोसॉफिकल सोसायटी को ऊँचा उठाने में महान योगदान दिया। उसके महान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से विद्वान और नेता इस सोसायटी में सम्मिलित हो गये। एनीबीसेंट की यह मान्यता थी कि वह पूर्व जन्म में हिन्दू थी। इसलिये भारत आते ही उसने अपने आपको पूर्ण रूप से हिन्दुत्व के रंग में रंग लिया। उसने भारतीय वेशभूषा और खानपान अपना लिया। वह हिन्दू तीर्थों में घूमती रहती थी, लेकिन उसने अपना अधिकांश समय काशी में व्यतीत किया। काशी में उसने एक सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। बनारस में रहते हुए उसने रामायण और महाभारत की कथाएं लिखी और गीता का अनुवाद किया। उसने हिन्दू धर्म और संस्कृति के विषय में अनेक ओजस्वी भाषण दिये।

यद्यपि श्रीमती एनीबीसेंट जन्म से आयरिश थी, किन्तु उसने भारत को ही मातृभूमि मान लिया, क्योंकि उसे भारतीयता, हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज से अगाध प्रेम था। उसकी यह स्पष्ट मान्यता थी कि भारत का भविष्य हिन्दू धर्म और संस्कृति से जुड़ा हुआ है। एक बार उसने अपने भाषण में कहा था, "हिन्दुत्व ही भारत के प्राण है, हिन्दुत्व वह मिट्टी है जिसमें भारत का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गई तो भारत रूपी वृक्ष सूख जायेगा। हिन्दुत्व के बिना भारत के सामने कोई भविष्य नहीं है।" उसने यह भी कहा था कि हिन्दुत्व की रक्षा

भारतवासी और हिन्दू ही कर सकते हैं। भारत में प्रश्रय पाने वाले अनेक धर्म हैं, अनेक जातियां हैं, किन्तु इनमें किसी की भी शिरा भारत के अतीत तक नहीं पहुँची है। इनमें से किसी में भी यह दम नहीं है कि भारत को एक राष्ट्र के रूप में जीवित रख सके। इनमें से प्रत्येक भारत से लोप हो जाय तब भी भारत, भारत ही रहेगा, किन्तु यदि हिन्दुत्व लोप हो गया तो शेष कुछ भी नहीं बचेगा। एनीबीसेंट की मान्यता थी कि हिन्दुत्व के जागरण से ही विश्व का कल्याण हो सकता है।

श्रीमती एनीबीसेंट का सबसे महत्वपूर्ण कार्य हिन्दू धर्म की सेवा थी। उसने अपने भाषणों में प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों और कर्मकाण्डों का बड़े प्रभावशाली ढंग से समर्थन किया। जहां राजा राममोहन राय एवं स्वामी दयानन्द ने निराकार ईश्वर की उपासना पर बल दिया तथा मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत-अनुष्ठान एवं पौराणिक बातों का खण्डन किया, वहां एनीबीसेंट ने न केवल वेद और उपनिषदों के महत्व को मान्यता दी बल्कि मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, योग, यज्ञ, पुनर्जन्म, कर्मवाद, तीर्थ, व्रत, गीता, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र और महाकाव्य, सबके द्वारा हिन्दुत्व के समग्र रूप का तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक ढंग से समर्थन किया। 1914 में उसने अपने एक भाषण में कहा था, "चालीस वर्ष के गम्भीर चिन्तन के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में मुझे हिन्दुत्व के समान कोई धर्म इतना पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिक से परिपूर्ण दिखाई नहीं देता, जितना अधिक तुमको इसका भान होगा, उतना ही अधिक तुम इससे प्रेम रखोगे।"

धार्मिक सुधार—थियोसॉफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म की अनेक रहस्यमय बातें, जो अभी तक अन्धविश्वास के कारण मानी जाती थी, वैज्ञानिक ढंग से समर्थन किया। जिस समय एनीबीसेंट भारत आई, उस समय हिन्दुत्व के सामने भारी संकट छाया हुआ था। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध ने अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को अन्धा बना दिया था और वे अंग्रेजों के तौर-तरीकों की नकल कर रहे थे। उन अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों का अपने धर्म तथा संस्कृति से विश्वास उठने लगा था। ऐसे समय में एनीबीसेंट ने भारतीय आदर्शों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। एनीबीसेंट स्वयं हिन्दू तीर्थ स्थानों की यात्रा की। उसने नंगे पैर अमरनाथ की यात्रा की और वहां शीतल जल से स्नान कर मन्दिर में प्रवेश किया। उस अंग्रेज महिला को ऐसा करते देखकर हिन्दुओं के मस्तिष्क में यह बात बैठ गई कि उनका धर्म अन्य धर्मों से हीन नहीं बल्कि श्रेष्ठ है। उस अंग्रेज महिला ने काशी में रहकर गीता का अनुवाद किया, रामायण तथा महाभारत पर संक्षिप्त भाष्य लिखे। यूरोप तथा अमेरीका के लोगों के सामने उसने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की महत्वता और गौरव का गान किया। उसने यह भी कहा मूर्तिपूजा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपयोगी है। जब उस अंग्रेज महिला के मुंह से हिन्दू धर्म और संस्कृति का गौरव गान भारत के

अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ने सुना तो उन्हें पुनः धर्म में आस्था जागृत होने लगी। एनीबीसेंट के भाषणों से भारतीयों में आत्म सम्मान की भावना जागृत होने लगी। वेलेटाइन शिरोल ने लिखा है, "जब अतिश्रेष्ठ बौद्धिक शक्तियों तथा अद्भुत वक्तव्य शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन, भारत जाकर भारतीयों से यह कहे कि उच्चतम ज्ञान की कुंजी यूरोप वालों के पास नहीं बल्कि तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारा दर्शन तथा तुम्हारी नैतिकता की छाया भी यूरोप वाले नहीं छू सकते, तब यदि भारतवासी हमारी सभ्यता से मुंह मोड़ ले तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?"

थियोसॉफिकल सोसायटी एकेश्वरवाद की प्रचारक है। इसके अनुसार, 'मानव जाति के विकास का आधार, विकास की एक ईश्वरीय योजना है' और सभी धर्म इसी योजना के विभिन्न रूप हैं। इसलिए उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता। इसके अनुसार धर्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है। इस संस्था के अनुयायी कर्मफल और पुनर्जन्म को मानते हैं। उसके अनुसार मृत्यु के बाद कर्मों के अनुसार जीव का पुनर्जन्म होता है और वह अपने पूर्व के कर्मों का फल भोगता है उनका उद्देश्य विश्व के सभी वर्गों में भ्रातृ भाव का विकास करना है। थियोसॉफिस्ट धार्मिक सहिष्णुता में विकास करते हैं।

राष्ट्रीय सुधार—थियोसॉफिकल सोसायटी ने तथा इसके संस्थापकों ने अपनी श्रेष्ठता के बारे में प्रचार किया और उस सम्बन्ध में अनेक झूठी सच्ची बातें जनता के सामने प्रकट हुई तो लोगों की, इस सोसायटी के प्रति श्रद्धा कम होने लगी। इससे एनीबीसेंट को अत्यन्त ही दुख हुआ और उसने अपना क्षेत्र धर्म से बदल कर 1914 में राजनीति में प्रवेश किया। एनीबीसेंट, लोकमान्य तिलक द्वारा चलाये गये 'होमरूल आन्दोलन' में शामिल हो गयी। इस अपराध में मद्रास सरकार ने उसे 1917 में नजरबन्द कर दिया, किन्तु जन आन्दोलन के समक्ष, सरकार को इन्हें तत्काल मुक्त करना पड़ा। इसी समय वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति पद पर चुनी गई। कांग्रेस की सक्रिय सदस्या के रूप में उसने भारत में राजनीतिक चेतना जागृत करने में महत्वपूर्ण कार्य किया। वह जन्म से अंग्रेज होते हुए भी हृदय से भारतीय थी। महात्मा गांधी ने उसके बारे में लिखा है, "जब तक भारतवर्ष जीवित है, एनीबीसेंट की सेवाएं भी जीवित रहेंगी। उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था। उसके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उसने भारत के चरणों में अर्पित कर दिया। इसलिए भारतवासियों की दृष्टि में वह इतनी प्यारी और श्रद्धेय हो गयी है।" एनीबीसेंट की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए श्री प्रकाश ने लिखा है, "श्रीमती एनीबीसेन्ट को ही इस का श्रेय है कि उन्होंने एक उदासीन और सोती हुई जाति को नींद से जगा दिया, उसने अपने आत्म सम्मान और गौरव को

पुनर्जीवित कर दिया। उनको (भारतीयों को) विवश कर दिया कि वे अपने कदम टेक सकें और संसार के राष्ट्रों में अपना स्थान ले सकें।"

थियोसॉफिल सोसायटी ने अनेक स्थानों पर स्कूल, कालेज और छात्रावास स्थापित कर शिक्षा के प्रसार हेतु प्रशंसनीय कार्य किया। इसके अतिरिक्त इसने बाल विवाह कन्या-वर-विक्रय, विधवा विवाह, छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया तथा समाज सुधार के लिये भी प्रशंसनीय कार्य किया। इस सोसायटी के कार्यों से न केवल धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन को बल प्राप्त हुआ, बल्कि राष्ट्रीय आन्दोलन में भी नई जान फूंक दी। एनीबीसेंट ने हिन्दू जागरण के लिये जितना कार्य किया, किसी हिन्दू ने उतना काम नहीं किया। भारत में इस सोसायटी की अनेक शाखाएं हैं, किन्तु धार्मिक और सामाजिक सुधार लाने में यह दक्षिण भारत में ही अधिक सफल हुई है।

स्वामी विवेकानंद और रामकृष्ण मिशन

ब्रह्म समाज और आर्य समाज के प्रचार से हिन्दू धर्म और संस्कृति के गौरव को प्रतिष्ठा तो प्राप्त हुई, किन्तु अब भारत के लोग यह जानने को उत्सुक हो उठे कि धर्म का स्वरूप क्या है? रामकृष्ण परमहंस (1836–1886) ने भारतीयों के समक्ष धर्म के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित किया। रामकृष्ण के बचपन का नाम गंगाधर चट्टोपाध्याय था तथा इनका जन्म 1836 में बंगाल के हुगली जिले में एक गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन से ही उन्हें शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं थी, बल्कि वे धार्मिक चिंतन में मग्न रहते थे। 17 वर्ष की आयु में अपने पिता का देहान्त हो जाने पर वे अपने बड़े भाई के साथ कलकत्ता आ गये। अपने भाई की मृत्यु के बाद 21 वर्ष की आयु में कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर में रासमणि द्वारा स्थापित कालीदेवी के मन्दिर में पुजारी बन गये। पुजारी के रूप में कार्य करते हुए उनके मन में काली मां के प्रति अगाध भक्ति एवं श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। वे देवी को मां कहकर पुकारते थे और अक्सर उसके सामने शिशु का सा व्यवहार करते थे। 24 वर्ष की आयु में उनका विवाह शारदामणि नामक 5 वर्ष की कन्या के साथ कर दिया गया।

रामकृष्ण विवाह के पश्चात पुनः दक्षिणेश्वर मन्दिर में आ गये। तत्पश्चात 12 वर्ष तक उन्होंने विभिन्न प्रकार की साधनाएं कीं। सर्वप्रथम उन्होंने भैरवी नामक एक ब्राह्मण सन्यासिन से 'तान्त्रिक साधना' को दो वर्ष तक सीखा। उसके बाद उन्होंने वैष्णव धर्म की साधना की। कहा जाता है कि वैष्णव धर्म की साधना करते हुए उन्होंने श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया। उसके बाद तोतापुरी नामक एक महान् वेदान्तिक साधु ने उन्हें 'वेदान्त-साधना' सिखाई। उसके पश्चात रामकृष्ण ने 'सूफी' धर्म में सम्मिलित होकर इस्लाम धर्म की भी साधना की। उसके बाद कुछ समय तक ईसाई धर्म की भी साधना की। 1867 के बाद रामकृष्ण की आत्मा

को सन्तोष प्राप्त हुआ। इस प्रकार उनका जीवन विविध प्रकार की आध्यात्मिक साधना से ओत-प्रोत हो गया। उन्होंने अपनी साधना द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि धर्म तथा ज्ञान, विद्या का विषय नहीं है, अपितु अनुभूति का विषय है। इसी समय शारदामणि एक युवती के रूप में उनकी पत्नी बनकर उनके पास आ गयी। शारदामणि जीवन्तपर्यन्त दक्षिणेश्वर में अपने पति के साथ रही, किन्तु रामकृष्ण ने उसे कभी पत्नी के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्होंने उसे मां कहकर उसकी पूजा की। साधना करते करते रामकृष्ण ने अपने शरीर को इतना शुद्ध कर लिया कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यन्त्र हो गया था। रामकृष्ण, राजा राममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द के समान विद्वान नहीं थे, अपितु उच्च कोटि के सन्त थे। एक सन्त के रूप में इस समय तक उनकी बहुत ख्याति हो चुकी थी और दूर दूर से लोग उनके दर्शनों को आने लगे। अनेक शिक्षित नवयुवक भी उनकी तरफ आकर्षित हुए। वे सुबह से रात तक अपने पास आने वाले व्यक्तियों को उपदेश देते रहते थे। उनके आध्यात्मिक जीवन को देखकर भारतीयों को मालुम हुआ कि धर्म वास्तव में कैसा होता है। आचार्य पी. सी. मजूमदार, जो एक ब्रह्म समाजी थे, ने लिखा है कि, "रामकृष्ण के दर्शन होने से पूर्व यह कोई नहीं जानता था कि धर्म कैसा होता है। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।" आध्यात्मवाद का उपदेश देते हुए 16 अगस्त 1886 को कैन्सर के रोग से उनकी मृत्यु हो गयी।

रामकृष्ण ने न तो कोई सम्प्रदाय ही स्थापित किया और न ही कोई आश्रम स्थापित किया। वे भारत की परम्परागत सन्त पद्धति से उपदेश देते थे। धर्म के गहन से गहन तत्वों को वे बहुत ही सीधे-सादे वाक्यों में उदाहरण देते हुए समझाते थे। वे साकार धर्म की प्रतिमा थे। रामकृष्ण को कुछ विद्वानों ने 'धर्म का जीता-जागता स्वरूप' बताया है। स्वामी दयानन्द ने तो हिन्दू धर्म के केवल एक अंग वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को ही सिद्ध किया था, किन्तु रामकृष्ण हिन्दू धर्म के वास्तविक प्रतिनिधि थे, जो निराकार तथा साकार ईश्वर दोनों को मानते थे। वे मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं थे और न एकेश्वरवाद-अनेकेश्वरवाद में भेद मानते थे। उनकी दृष्टि में वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण और महाभारत सभी पवित्र ग्रन्थ थे।

रामकृष्ण की शिक्षाएं—रामकृष्ण उच्चकोटि के विद्वान न होते हुए भी वेदान्त के सत्यों की बड़े ही सुन्दर ढंग से व्याख्या की। उनकी शिक्षाओं का सार संक्षेप में निम्नलिखित है—

(1) मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर से साक्षात्कार करना है। हम अपने उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास कर ईश्वर के दर्शन कर सकते हैं।

(2) उन्होंने गृहस्थ जीवन को ईश्वर प्राप्ति में बाधक नहीं माना। उनका कहना था कि ईश्वर प्राप्ति के लिये हमें विषय वासनाओं को त्यागना होगा तथा

मन को कंचन और कामिनी से हटाकर ईश्वर की ओर उन्मुख करना होगा। यदि हम निरन्तर ईश्वर का ध्यान रखें तो गृहस्थ में रहते हुए भी आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं।

(3) शरीर और आत्मा दो भिन्न वस्तुएं हैं, इस सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, कामिनी-कचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय तो शरीर अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट दिखाई देने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने पर जैसे उसके भीतर का खोपरा नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग अलग दिखाई देने लगते हैं वैसे ही शरीर और आत्मा के बारे में जानना चाहिये।

(4) तर्क से वे बहुत घबराते थे। उनका कहना था कि शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूं। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे है, मुझे तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जो कुछ है वह ईश्वरमय है, फिर तर्कों से क्या फायदा। बगीचों में तुम आम खाने जाते हो, न कि पेड़ों के पत्ते गिनने। फिर मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्यों चलता है।

(5) मूर्तिपूजा का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह प्रतिमा पर ध्यान जाते ही ईश्वर की याद आती है।

(6) रामकृष्ण अनुभूति को तर्क, वाद-विवाद, प्रवचन और भाषण से अधिक महत्व देते थे। उनका कहना था कि अनुभूति से ही परमतत्व का दर्शन सम्भव है। इस दर्शन के बाद मनुष्य की अभिलाषाएं समाप्त हो जाती है और उसे परम शान्ति मिल जाती है।

(7) रामकृष्ण मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में उनका कहना था कि मानो मनुष्य, केवल तकिये के गिलाफ के समान हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं वैसे ही मनुष्य भी कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई साधु और कोई दुष्ट होता है, बस इतना ही अन्तर है। पर जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ—कपास भरा रहता है, उसी के अनुसार सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा है।

(8) ईश्वर की उपासना का व्यवहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते थे कि जब तुम काम कर रहे हों, तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पांव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।

(9) विद्वान और पांडित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार चाहते थे। उनका कहना था कि विद्वान कभी भी अहंकार नहीं दिखाता। जिस प्रकार आलू सिक जाने पर नर्म हो जाता है उसी प्रकार विद्वता के साथ अहंकार समाप्त

हो जाता है। अनुशासनहीन और नैतिकता विहीन विद्वान के लिये उनमें आदर का भाव नहीं था।

(10) रामकृष्ण सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि सभी धर्म एक ही ईश्वर तक पहुंचने के विभिन्न मार्ग हैं। एक बार एक व्यक्ति ने उनसे पूछा कि जब सत्य एक है तो फिर धर्म अनेक क्यों हैं ? रामकृष्ण ने उत्तर दिया, "ईश्वर एक है लेकिन उसके विभिन्न स्वरूप हैं। जैसे एक घर का मालिक, एक के लिये पिता, दूसरे के लिये भाई और तीसरे के लिये पति है और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी विभिन्न कालों व देशों में भिन्न भिन्न नामों से व भावों से पूजा जाता है। इसीलिये धर्मों की अनेकता देखने को मिलती है।

रामकृष्ण परमहंस की देन—विश्व के लिये रामकृष्ण की सबसे बड़ी देन आध्यात्मवाद है। अपने सरल उपदेशों और अपने जीवन के उदाहरण से उन्होंने वेदों और उपनिषदों के जटिल ज्ञान को साधारण व्यक्तियों के निकट कर दिया। रामकृष्ण ने अपनी शिक्षाओं द्वारा हिन्दू धर्म के ग्रन्थों को न केवल सरल बनाया, बल्कि हिन्दुओं में अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति श्रद्धा और विश्वास भी उत्पन्न किया। एक प्रकार से रामकृष्ण हिन्दू धर्म के आध्यात्मवाद के जीवित स्वरूप थे। रामकृष्ण की दूसरी महत्वपूर्ण देन सभी धर्मों की एकता में विश्वास करना है। उन्होंने अपने केवल उपदेशों से ही नहीं बल्कि अपने जीवन में विभिन्न धर्मों की साधना करके यह स्पष्ट कर दिया कि सभी धर्म ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं। धार्मिक विचारों की यह उदारता रामकृष्ण की महत्वपूर्ण देन है। उनकी तीसरी महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने मानव मात्र की सेवा और भलाई को धर्म बताया। उनका कहना था कि प्रत्येक प्राणी भगवान का रूप है, अतः उसकी सेवा करना भगवान की सेवा करना है। उनके शिष्य विवेकानन्द ने इसी भाव को ग्रहण कर 'दरिद्रनारायण' की सेवा करने में अपनी शक्ति लगा दी।

इस प्रकार रामकृष्ण ने जहां अपने कर्म और व्यवहार से उपनिषदों के मूल विचारों को सरल कर हिन्दू धर्म की सेवा की, वहां धर्म और विभेदों को भूलकर मानव मात्र की भलाई करने का संदेश भी उन्होंने प्राणी मात्र को दिया। भौतिकवाद, संघर्ष और घृणा के उस युग में उन्होंने विश्व को आध्यात्मवाद का उपदेश देकर विश्व एकता, प्रेम और सहयोग का मार्ग बताया। डॉ. सिल्वेन लीवी ने रामकृष्ण के बारे में ठीक ही लिखा था कि, "क्योंकि रामकृष्ण का हृदय और मस्तिष्क सभी देशों के लिये था, इसलिये उनका नाम सम्पूर्ण मानव मात्र की सम्पत्ति है।"

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्म समाज और आर्य समाज की अपेक्षा हिन्दू धर्म का प्रतिपादन अधिक मनोबल एवं सम्मान से किया। राजा राममोहन राय हिन्दू

धर्म के लिये क्षमा याचक से अधिक नहीं थे तथा भारतीय हिन्दू धर्म को उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के परिपेक्ष्य में देखा। स्वामी दयानन्द ने वेदों में निहित ज्ञान को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया तथा ईसाई मिशनरियों के आरोपों का प्रत्युत्तर मात्र दिया। किन्तु स्वामी विवेकानन्द ने समस्त वेदान्त की सैद्धान्तिक व्याख्या की तथा पाश्चात्य धर्म में उपलब्ध ज्ञान से हिन्दू धर्म को उच्चतर बताया।

स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस के सबसे महान शिष्य थे। उनका जन्म 12 जनवरी 1863 को कलकत्ता में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। उनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा प्राप्त की और बी. ए. की डिग्री प्राप्त की। उन पर यूरोप के बुद्धिवाद और उदारवाद का भारी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल, ह्यूम, हर्बर्ट स्पेन्सर, रूसो जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का गहन अध्ययन किया। उनमें उच्च कोटि की बौद्धिकता के साथ-साथ जिज्ञासा भी प्रबल थी। आरम्भ में वे ब्रह्म समाज की ओर आकर्षित हुए, किन्तु ब्रह्म समाज के नेता उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा शान्त नहीं कर सके। तत्पश्चात किसी सम्बन्धी के कहने पर सन् 1881 में दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण से मिलने गये।

रामकृष्ण से भेंट—जिस समय नरेन्द्रनाथ की स्वामी रामकृष्ण से प्रथम भेंट हुई थी, उस समय उनके और रामकृष्ण के विचारों में कोई समानता नहीं थी। रामकृष्ण हिन्दू धर्म के प्रतीक थे, जबकि नरेन्द्रनाथ पश्चिम से प्रभावित तर्क, विचार और बुद्धिवाद में विश्वास करने वाले थे। किन्तु रामकृष्ण के सम्पर्क से नरेन्द्र के जीवन की दिशा ही बदल गई। जब युवक नरेन्द्र ने रामकृष्ण से प्रश्न किया कि क्या आपने ईश्वर को देखा है? रामकृष्ण ने तुरन्त उत्तर दिया—हाँ, मैं ईश्वर को वैसे ही देखता हूं जैसे मैं तुम्हें देखता हूं। तुम भी चाहो तो उसे देख सकते हो। उन्होंने फिर कहा इस संसार में कोई अपने बाप के लिये, कोई मां के लिये तथा कोई पत्नी के लिये रोता है, परन्तु मैंने आज तक ऐसे व्यक्ति को नहीं देखा जो इसलिये रो रहा हो कि उसे ईश्वर नहीं मिला। रामकृष्ण के इन कथनों से नरेन्द्र अत्यन्त ही प्रभावित हुए। जब दूसरी बार नरेन्द्र रामकृष्ण से मिले तो उन्होंने अपना दायां पांव नरेन्द्र के शरीर पर रखा। इस स्पर्श से नरेन्द्र को जो अनुभूति हुई, उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है, "आंखें खुली होने पर भी मैंने दीवारों सहित सारे कमरे को शून्य में विलीन होते देखा। मेरे व्यक्तित्व सहित सारा ब्रह्माण्ड ही एक सर्वव्यापक रहस्यमय शून्य में लुप्त होते दिखाई पड़ा।" इस प्रकार युवक नरेन्द्र रामकृष्ण की आध्यात्मिकता से अभिभूत हो गया तथा उसने रामकृष्ण को अपना गुरू मान लिया। गुरू के निरीक्षण में उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास होने लगा। रामकृष्ण ने नरेन्द्र को मानव मात्र में ईश्वर के दर्शन करने की प्रेरणा दी और उसे बताया कि मनुष्य ईश्वर का रूप है और उसकी

सेवा ही सर्वोच्च धार्मिक साधना है । नरेन्द्र ने अपना समस्त जीवन ही इस साधना में लगा दिया । अपनी मृत्यु के अवसर पर रामकृष्ण ने अपने विचारों को फैलाने तथा अपने शिष्यों की देखभाल करने का उत्तरदायित्व नरेन्द्र को ही सौंपा ।

जब स्वामी विवेकानन्द का आर्विभाव, था उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े । सबसे बड़ा काम धर्म की पुनः स्थापना का काम था, क्योंकि बुद्धिवादी मनुष्यों की श्रद्धा धर्म से हटती जा रही थी । अतः हिन्दू धर्म पर कम से कम हिन्दुओं की श्रद्धा बनाये रखना था और भारतवासियों में आत्म गौरव की भावना को प्रेरित करना था । उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था । यद्यपि स्वामी विवेकानन्द का देहान्त 39 वर्ष की आयु में ही हो गया था, किन्तु इस छोटी सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त कार्य सम्पन्न कर दिये । स्वामीजी ने अपनी वाणी और कर्तव्य से भारतवासियों में यह स्वाभिमान जागृत किया कि हम प्राचीन भारत की गौरवमय संस्कृति के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं । हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उत्तम एवं उन्नत है और हमारा इतिहास सबसे महान् है । हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है । यही नहीं, हमारा धर्म विश्व के सभी धर्मो का सार होते हुए भी उन सबसे कुछ और अधिक है ।

रामकृष्ण की मृत्यु के बाद उनके बहुत से शिष्य अपने अपने घरों को चले गये । किन्तु नरेन्द्र ने अपने तीन-चार साथियों के साथ एक मठ स्थापित करने का निश्चय किया । काशीपुर के निकट 'बारानगर' में एक टूटे हुए मकान में उन्होंने रहना आरम्भ किया । 1887 ई. में प्रथम बार इस मठ को धार्मिक रूप से ठीक प्रकार स्थापित किया गया, जबकि मठ के करीब 12 सदस्यों ने वैदिक क्रियाओं के अनुसार सन्यास ग्रहण किया और अपने नाम भी बदले । उसी समय नरेन्द्र का नाम स्वामी विवेकानन्द रखा गया ।

शिकागो सर्व-धर्म-सम्मेलन –सन्यास ग्रहण करने के बाद स्वामी विवेकान्द ने भारत भ्रमण किया और भ्रमण करते हुए वे कन्याकुमारी तक गये, जहां उन्हें पता लगा कि अमेरीका के शिकागो नगर में विश्व के सभी धर्मों की एक सभा हो रही है । अतः 1893 में बड़ी कठिनाई से स्वयं के प्रयत्नों से वे अमेरीका गये । हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिये यह अच्छा हुआ कि स्वामी जी इसमें जा सके, जहां उन्होंने हिन्दुत्व के पक्ष में इतना ऊंचा प्रचार किया, जैसा न तो कभी पहले हुआ था और न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है ।

स्वामीजी की इस विदेश यात्रा के मुख्य रूप से तीन उद्देश्य थे । प्रथम यह कि वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को भंग करना चाहते थे कि समुद्र यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से धर्म और जाति चली जाती है । दूसरा यह कि भारत के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना

चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर स्वयं भले ही न करे, किन्तु उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। तीसरा यह कि विश्व के सभी धर्म, एक ही धर्म के विभिन्न अंग है और सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जागृत होना ही चाहिये।

शिकागो नगर में होने वाले सर्व-धर्म-सम्मेलन में स्वामीजी ने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया,उससे वहां के लोग मन्त्र-मुग्ध हो गये और पहले दिन ही उनके भक्त हो गये। जब उन्होंने अपने प्रथम भाषण में अमेरिका वासियों को 'भाइयों और बहिनों' के शब्दों से सम्बोधित किया तो सम्मेलन में इसका भारी करतल-ध्वनि से स्वागत हुआ। इसकी सभाएँ प्रतिदिन होती थी और वे अपने भाषण सभा के अन्त में ही दिये, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने के लिये अन्त तक बैठी रहती थी। इस सम्मेलन में स्वामीजी ने 10 या 12 भाषण दिये। उन्होंने हिन्दू धर्म की उदारता पर प्रकाश डालते हुए बताया कि हिन्दुत्व के शब्दकोष में 'असहिष्णु' शब्द ही नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि हिन्दू धर्म का आधार शोषण, रक्तपात या हिंसा नहीं है, वरन् प्रेम है। स्वामीजी ने वेदान्त के सत्य पर भी प्रकाश डाला। जब तक सम्मेलन समाप्त हुआ तब तक स्वामीजी अपना तथा भारत का प्रभाव अमेरीका में स्थापित कर चुके थे। स्वामीजी के भाषणों की प्रशंसा में अमेरीका के समाचार पत्र 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा, "सर्व-धर्म-सम्मेलन में सबसे महान व्यक्ति विवेकानन्द है। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिये धर्म प्रचारक भेजने की बात कितनी मूर्खतापूर्ण है।"

इस सम्मेलन में स्वामीजी को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसने उन्हें विश्व प्रसिद्ध बना दिया। उन्होंने अमेरीका के अनेक नगरों की यात्राएं की जहां उनका भव्य स्वागत हुआ। अमेरीका से वे पेरिस गये तथा यूरोप के कई नगरों में उन्होंने हिन्दुत्व तथा वेदान्त दर्शन पर भाषण दिये। वे लगभग तीन वर्ष तक विदेशों में घूमते रहे। इस अल्पावधि में उनके भाषणों, वार्तालापों, लेखों, और वक्तव्यों के द्वारा यूरोप व अमेरीका में हिन्दू धर्म और संस्कृति को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। सितम्बर 1895 में वे पेरिस होते हुए लन्दन गये और वहां भी उन्होंने इसी प्रकार धर्म प्रचार किया। वे एक बार फिर अमेरीका गये तथा फरवरी 1896 में उन्होंने न्यूयार्क में वेदान्त सोसायटी की भी स्थापना की, जिसका लक्ष्य वेदान्त का प्रचार करना था। अमेरीका में उनके बहुत से अनुयायी हो गये। वे चाहते थे कि कुछ भारतीय धर्म प्रचारक अमेरीका में भारतीय दर्शन अर्थात वेदान्त का प्रचार करे और उनके अमरीकी शिष्य भारत आकर विज्ञान और संगठन का महत्व सिखाये।

जनवरी 1897 में जब वे भारत लौटे तो देशवासियों ने उनका दिल खोलकर स्वागत किया।

भारत लौटकर स्वामीजी ने मई 1897 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की तथा। जनवरी 1899 को बेलूर में इस मिशन का मुख्य कार्यालय स्थापित किया। जून 1899 में वे दूसरी बार अमेरीका गये तथा लॉस एंजिल्स, सैनफ्रांसिस्को, केलिफोर्निया आदि विभिन्न स्थानों पर वेदान्त सोसायटी की स्थापना की। यहां से वे पेरिस के एक धार्मिक सम्मेलन में भाग लेने के लिये गये और उन्होंने हिन्दू धर्म पर अपना भाषण दिया। अपने विदेश प्रवास के दौरान स्वामीजी ने हिन्दू धर्म का व्यापक प्रचार किया। प्राय: डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म प्रचारक विश्व में हिन्दुत्व की आलोचना कर निन्दा फैला रहे थे, उन पर अकेले स्वामीजी ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत स्वामीजी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्‌गद् हो रहा है, तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव करने लगे। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है, "हिन्दुत्व को लीलने के लिये अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वृक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।"

सम्पूर्ण यूरोप का दौरा कर स्वामी जी 1900 ई० में भारत लौटे। अब उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा था। इसी कारण वे बनारस गये। वहां से कलकत्ता वापिस आने पर उनका स्वास्थ्य फिर खराब हो गया और 4 जुलाई 1902 को 39 वर्ष की अल्पायु में विश्व की इस महान् विभूति का देहान्त हो गया।

विवेकानन्द के आदर्श कार्य

धार्मिक सुधार—स्वामी विवेकानन्द हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी में भेद नहीं मानते थे। विश्व धर्म सम्मेलन में उन्होंने सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास व्यक्त किया। उनको जितने वेद मान्य थे उतने ही उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि भी। उनको ईश्वर के निराकार की उपासना में जितनी रुचि थी, उतनी ही साकार रूप में भी। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उन्होंने धार्मिक झगड़ों का मूल कारण बाहरी चीजों पर अधिक बल देना बताया है। सिद्धान्त, धार्मिक क्रियाएं, पुस्तकें, मस्जिद, गिर्जे, मन्दिर आदि जिनके विषय में मतभेद हैं,केवल साधन मात्र है। इस कारण इन पर अधिक बल नहीं देना चाहिये। उन्होंने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा, "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है, धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। यह केवल अनुभूति में निवास करता है।" उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता

है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियां अनेक है। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है और देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सभी धर्मों में मूलभूत एकता है, यद्यपि उसके स्वरूप विभिन्न हैं। उन्होंने अन्य धर्म प्रचारकों को बताया कि भारत ही ऐसा देश है, जहां कभी धार्मिक भेदभाव नहीं हुआ और जहां प्रत्येक धर्म के प्रचार की स्वतन्त्रता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि धर्म परिवर्तन से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य समान है। उन्होंने ईसाई धर्म के अनुयायियों को स्पष्ट किया कि भारत में ईसाई धर्म के प्रचार से उतना लाभ नहीं हो सकता जितना पश्चिमी औद्योगिक तकनीकी तथा आर्थिक ज्ञान से हो सकता है। भारत पर विजय राजनीतिक हो सकती है, सांस्कृतिक नहीं। स्वामीजी ने अपने गुरु के विचारों का प्रतिपादन करते हुए वेदों और उपनिषदों के ज्ञान को प्रस्तुत किया।

इसके साथ ही स्वामीजी ने हिन्दू धर्म की महानता का जो प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शन किया, उससे भारत का मस्तक गौरव से ऊंचा हो गया। उन्होंने हिन्दू धर्म को सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् पर आधारित बताया। उन्होंने प्रत्येक हिन्दू को इस बात का सन्देश दिया कि हिन्दू राष्ट्र, विश्व का शिक्षक रहा है और भविष्य में भी रहेगा। प्रत्येक हिन्दू को अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा करनी चाहिये और साथ ही हिन्दुओं को पाश्चात्य शिक्षा और काम करने के तरीकों को भी अपनाना चाहिये अन्यथा हमारा उत्थान सम्भव नहीं है। उन्होंने वेदान्त दर्शन के सत्य की सुन्दर ढंग से व्याख्या की और बताया कि वेदान्त की आध्यात्मिकता के बल पर भारत सारे विश्व को जीत सकता है। विवेकानन्द, वेदान्त की परम्परागत व्याख्या से सहमत नहीं थे। अब तक भारतीय संत, सांसारिक जीवन से विमुख होकर ध्यान-समाधि द्वारा ब्रह्म से एकता का अनुभव कर रहे थे, किन्तु विवेकानन्द ने बताया कि ईश्वर या ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिये सांसारिक जीवन से विमुख होना अनुचित है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि सच्ची ईश्वरोपासना यह है कि हम अपने मानव बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। उन्होंने दीन-दुखी तथा दरिद्र मानव को ईश्वर का रूप बताया और उसके लिये 'दरिद्रनारायण' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'दरिद्रनारायण' की सेवा पर सर्वाधिक बल दिया। जब पड़ौसी भूखा मरता हो तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, बल्कि पाप है। स्वामीजी की इन घोषणाओं ने धार्मिक क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न करदी। जो लोग पश्चिम की भौतिकता तथा बुद्धिवाद से प्रभावित होकर ईसाइयत अथवा नास्तिकता की ओर दौड़ रहे थे, उनकी आंखें खुल गईं। लोगों में मानसिक दासता तथा आत्म-हीनता की भावना समाप्त होकर उनमें आत्म गौरव की भावना जागृत हुई। स्वामीजी की यह स्पष्ट मान्यता थी कि धर्मों की विभिन्नता स्वाभाविक है और आवश्यक भी। उन्होंने कहा था, "तुम सभी व्यक्तियों की विचारधारा को एक नहीं

कर सकते, यह सत्य है और मैं इसके लिये ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ। विचारों की भिन्नता और संघर्ष से ही नवीन विचार जन्म लेते हैं।"

समाज सेवा कार्य—भारत का भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने भारतीयों की दीन और हीन दशा को देखा। उनका कहना था कि अधिकांश भारतीय सामाजिक अत्याचार के शिकार हैं और वे पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः स्वामीजी ने अपने धर्म में मानव समाज की सेवा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। वे शिक्षा, स्त्री पुनरुद्धार तथा आर्थिक प्रगति के पक्ष में थे। उन्होंने रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, निर्धनता और अशिक्षा की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि, "ईश्वर विभिन्न रूपों में तुम्हारे सामने है। जो ईश्वर के बच्चों को प्यार करता है, वही ईश्वर की सच्ची सेवा करता है।" उन्होंने यह भी कहा कि, "जब तक करोड़ों व्यक्ति भूखे और अज्ञानी हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही मानता हूं, जो उन्हीं के खर्च पर शिक्षा प्राप्त करता है, किन्तु उनकी परवाह बिल्कुल नहीं करता है।" इस प्रकार समाज निर्माण और सेवा स्वामीजी का प्रथम धर्म था। उनकी मान्यता थी कि देश की गरीबी तथा दीन अवस्था को दूर करना आवश्यक है। वे कहा करते थे कि देशवासियों के उद्धार के पुनीत कार्य के लिये उन्हें मोक्ष छोड़ कर नरक में भी जाना स्वीकार है। स्वामीजी छुआछूत के घोर विरोधी थे तथा जन्म पर आधारित वर्ण भेद को नहीं मानते थे। किन्तु स्वामीजी प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सुधारों में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि आध्यात्मिकता से आत्म निर्माण होता है और आत्म निर्माण से ही देश की सामाजिक और आर्थिक प्रगति संभव है। आध्यात्मवाद द्वारा पहले वे मनुष्य को मनुष्य बनाना चाहते थे और उसी को वे प्रगति का आधार मानते थे। उन्होंने हिन्दू साधुओं तथा सन्यासियों को संकीर्णता से निकलने को कहा। उनकी मान्यता थी कि सन्यास के साथ-साथ सेवा भाव उतना ही महत्वपूर्ण लक्ष्य होना चाहिये। वे पश्चिम की जीवन पद्धति से काफी प्रभावित थे। उन्होंने जन कल्याण के लिये संगठित प्रयत्नों पर बल दिया। अतः समाज कल्याण के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये ही उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की थी जहां दीन-दुखियों के लिये कार्य करने हेतु विभिन्न जातियां, वर्ग और धर्म मिल सकते थे। उनका कहना था कि गरीबों और बीमारों की सहायता करना न केवल स्वार्थपरता समाप्त करने में सहायक होगा बल्कि ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में एक यज्ञ होगा। विवेकानन्द की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने सन्यासियों के समक्ष व्यक्तिनिष्ठ मोक्ष की अपेक्षा समाज सेवा के आदर्श प्रस्तुत किये।

उन्होंने अन्ध-विश्वासी और छुआछूत में विश्वास करने वाले सन्यासियों और ब्राह्मणों की तीव्र आलोचना की। इसलिये वे थियोसॉफिकल सोसायटी से भिन्न विचार रखते थे, क्योंकि थियोसॉफिकल सोसाइटी अन्ध-विश्वासों और तन्त्र विद्या को प्रोत्साहन दे रही थी। स्वामीजी ने पश्चिमी देशों में हिन्दुओं की आध्यात्मिक

उपलब्धियों की चर्चा करके हिन्दुओं की उस हीनता की भावना को समाप्त करने का प्रयास किया, जो ईसाई धर्म प्रचार से पैदा हो गयी थी। इस प्रकार भारतीयों में आत्म-विश्वास तथा आत्म सम्मान की भावना उत्पन्न करना स्वामीजी की महान् देन है।

राष्ट्रीयता का निर्माण—स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता के निर्माण में भी भारी योगदान दिया। उन्होंने समस्त विश्व में हिन्दू धर्म और आध्यात्मवाद की श्रेष्ठता को स्थापित किया जिससे हिन्दुओं में आत्मगौरव और देश प्रेम उत्पन्न हुआ। उन्होंने वेदान्त की मुख्य शिक्षा यह बताई कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में ईश्वर की ज्योति देख सकता है। जिस प्रकार ईश्वर सदा स्वतन्त्र है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भी सदा स्वतन्त्र है। पश्चिमी राजनीति तथा अन्य संस्थाओं के पीछे जो भारतीय दौड़ रहे हैं उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पश्चिमी देशों में व्यापक असन्तोष है जबकि उनके यहां वे संस्थाएं कई पीढ़ियों से चल रही है। वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द ने देशों में सांस्कृतिक चेतना की जो धारा प्रवाहित की उसी पर भारतीय राष्ट्रीयता का भव्य भवन खड़ा किया जा सका। उन्होंने कहा कि वेदान्त और आध्यात्मिकता के बल से विश्व पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की जा सकती है किन्तु जब तक भारत दासता व हीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, वह इस महत्वपूर्ण भूमिका को नहीं निभा सकता। उनकी मान्यता थी कि भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता विश्व मानवता के उद्धार के लिये अनिवार्य है। उन्होंने भारतीयों में राजनीतिक स्वाधीनता की भावना जागृत की। स्वामीजी ने भगवद्गीता के महापुरुष श्रीकृष्ण को भारतीय राष्ट्र का आदर्श बताया। उन्होंने भारतीयों को याद दिलाया कि संकल्प और शक्ति संचय पर ही भारत का भविष्य निर्भर है। वास्तव में स्वामीजी ने जिस देश भक्ति और समाज सेवा के लक्ष्यों का प्रतिपादन किया वह भारत में एक नये देश प्रेम को प्रोत्साहित करने में सफल हुआ। राष्ट्रीयता के निर्माण के लिये उन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार की। उनकी शिक्षाएं आगे चल कर राष्ट्रीय नेताओं के लिये प्रेरणादायक सिद्ध हुई। इसलिये रामकृष्ण मिशन भारतीय पुनरुद्धार आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतीयों को अपने उज्ज्वल अतीत का ज्ञान हुआ जिससे उनमें अपने अतीत के प्रति अभिमान पैदा हुआ। इसीलिये रविन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिये।" इसी प्रकार अरविन्द ने लिखा है, "पश्चिमी जगत में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को जागृत नहीं हुआ है, वरन् वह विश्व विजय करके दम लेगा।" पंडित नेहरू ने उनके बारे में लिखा है, "एक बार इस हिन्दू

सन्यासी को देख लेने के पश्चात उसे और उसके सन्देश को भुला देना मुश्किल है।" स्वामीजी की मृत्यु के बाद उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन उनके महान् कार्यों को सफलतापूर्वक करता रहा है। आध्यात्मिकता के प्रसार के लिये दो समाचार पत्र 'प्रबुद्ध भारत' अंग्रेजी भाषा का मासिक तथा 'उद्‌बोधन' बंगाली भाषा का पाक्षिक निकाले जाते रहे। स्वामीजी के विद्वतापूर्वक भाषणों का कई ग्रन्थों में प्रकाशन हुआ। रामकृष्ण मिशन की शाखाएं भारत के विभिन्न नगरों में विद्यमान है तथा अनेक कल्याणकारी कार्य कर रही हैं। चिकित्सालय, अनाथालय, विद्यालय, वाचनालय आदि स्थापित करके यह संस्था आज भी समाज सेवा के कार्यों में लगी हुई है।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन

19 वीं शताब्दी में हिन्दुओं की भांति मुस्लिम समाज में भी सुधार आन्दोलन हुए। मुस्लिम समाज सुधार आन्दोलन को समझने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि यह समाज दो वर्गों में विभाजित था—एक तो उच्च अभिजात वर्ग तथा दूसरा जनसाधारण। दूसरे वर्ग के अधिकांश मुसलमान मूल रूप से हिन्दू थे तथा धर्म परिवर्तन करके वे मुसलमान बन गये थे। धर्म परिवर्तन के बाद भी उनके सामाजिक जीवन स्तर में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था। उच्च अभिजात वर्ग, जो कभी राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त था, किन्तु 18 वीं व 19 वीं शताब्दी में इसका राजनीतिक प्रभुत्व समाप्त हो चुका था। यह वर्ग राजनीतिक प्रभुत्व का इतना अभ्यस्त हो गया था कि इसने कभी व्यापार या व्यवसाय की ओर ध्यान नहीं दिया। सरलता से धन प्राप्त हो जाने से इस वर्ग में अकर्मण्यता प्रवेश कर चुकी थी। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध यह वर्ग दिखावे के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने का प्रयत्न करने लगा, जिससे यह वर्ग खोखला हो गया। 1857 के विप्लव के बाद तो उसकी रही-सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी, क्योंकि अंग्रेजों ने इस विप्लव के लिये उच्च वर्ग के मुसलमानों को उत्तरदायी माना था।

उच्च वर्ग के मुसलमानों की सामाजिक समस्या यह थी कि वे परिवर्तित परिस्थितियों से सर्वथा अनभिज्ञ थे तथा लकीर के फकीर बने हुए थे। फलस्वरूप यह वर्ग पिछड़ता जा रहा था। 19 वीं शताब्दी में इन दोनों वर्गों में आर्थिक असमानता भी अत्यधिक बढ़ गई थी। इसका मूल कारण यह था कि मुस्लिम उच्च वर्ग ने समय के अनुकूल कार्य करने की नीति नहीं अपनाई। अतः मुस्लिम समाज सुधार आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य इस वर्ग को परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित करा कर समय की आवश्यकता बताना था तथा पाश्चात्य शिक्षा की ओर ध्यान दिलाना था। इस प्रकार मुसलमानों का समाज सुधार आन्दोलन हिन्दुओं के समाज सुधार आन्दोलन से भिन्न था। इस आन्दोलन की एक भिन्नता यह भी थी मुसलमानों का सामाजिक और धार्मिक जीवन उनकी धार्मिक पुस्तक कुरान पर आधारित माना जाता था। अतः प्रचलित सामाजिक और धार्मिक जीवन की पद्धति में परिवर्तन

करने के लिये यह आवश्यक था कि कुरान का नया अर्थ और नई व्याख्या बताई जाय अथवा यह बताया जाय कि प्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक पद्धति कुरान या हदीस के अनुसार नहीं है। कुछ मुस्लिम सुधारकों ने यह भी बताने का प्रयत्न किया किया कि सामाजिक जीवन कुरान पर आधारित नहीं होना चाहिये। किन्तु ऐसे सुधारकों का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा, क्योंकि कुरान पर आधारित जीवन पद्धति मुस्लिम समाज की गहराइयों में प्रवेश कर चुकी थी, जिसे त्यागने के लिये कोई मुसलमान तैयार नहीं था।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन का आरम्भ सैयद अहमद बरेलवी से हुआ, जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विरोध में कट्टर इस्लाम के सिद्धान्तों का समर्थन करने के लिये 'वहाबी आन्दोलन' प्रारम्भ किया। उनके विचारों का समर्थन तीव्रता से किया गया, किन्तु मुसलमानों की आर्थिक स्थिति, शिक्षा और राजनीतिक प्रगति के बारे में जितना कार्य सर-सैयद अहमदखां ने किया, उतना कार्य किसी ने नहीं किया।

अलीगढ़ आन्दोलन—कहा जाता है कि जो कार्य हिन्दुओं के लिये राजा राममोहन राय ने किया, वही कार्य सर सैयद अहमदखां ने भारतीय मुसलमानों के लिये किया। मुसलमानों को आत्म निर्भरता, अपनी मदद आप, अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिकीकरण की ओर ले जाने का श्रेय सर सैयद अहमदखां को है और उनका 'अलीगढ़ आन्दोलन' इसका केन्द्र बिन्दु रहा।

सर सैयद अहमदखां का जन्म 1817 में दिल्ली में हुआ था। 20 वर्ष की आयु में वे सरकारी सेवा में चले गये। 1857 के विद्रोह के समय उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की, जिससे उन्होंने अंग्रेजों की सद्भावना प्राप्त की और इस सद्-भावना का उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया। उस समय भारतीय मुसलमान अपने अतीत में खोये हुए थे और उन्होंने अपने आपको अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता से अलग कर रखा था। अंग्रेजों से उनके सम्बन्ध भी अच्छे नहीं थे और यही उनकी अवनति का मुख्य कारण बनता जा रहा था। अतः सर सैयद अहमदखां ने अपने जीवन के प्रमुख दो उद्देश्य बनाये—प्रथम तो अंग्रेजों और मुसलमानों के सम्बन्ध ठीक करना और दूसरा मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सर सैयद अहमदखां ने मुसलमानों को समझाया कि सरकार के प्रति वफादार रहने से ही उनके हितों की पूर्ति हो सकती तथा उन्होंने अंग्रेजों को समझाया कि मुसलमान हृदय से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं है और अंग्रेजों की थोड़ी सी सहानुभूति से वे सरकार के प्रति वफादार हो जायेंगे। अंग्रेजों ने भी 'फूट डालो राज्य करो' की नीति का अवलम्बन करते हुए मुसलमानों के प्रति सद्भावना प्रकट करना उचित समझा, क्योंकि हिन्दुओं में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के विरुद्ध वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता का प्रयोग कर सकते थे और

जैसा कि उन्होंने आगे चल कर ऐसा किया भी था। अतः सर सैयद अहमदखां को अपने प्रथम उद्देश्य में शीघ्र ही सफलता मिल गयी। अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने 1864 में गाजीपुर में एक अंग्रेजी शिक्षा का स्कूल स्थापित किया। एक वर्ष बाद अंग्रेजी पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करने के लिये एक विज्ञान समाज (Scientific Society) की स्थापना की। तत्पश्चात वे लन्दन चले गये और 1869 में अपनी लन्दन यात्रा की समाप्ति के पश्चात मुसलमानों की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिये एक आन्दोलन आरम्भ किया। दिसम्बर 1870 में उन्होंने 'तहजीब-उल-अखलाक' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने मुसलमानों को बदलती हुई परिस्थितियों से अवगत कराया। प्राचीन सामाजिक मूल्यों तथा रहन-सहन के तरीकों को वे समय के अनुकूल नहीं मानते थे। चूंकि मुसलमान अपने सामाजिक जीवन को कुरान तथा हदीस पर आधारित समझते थे, इसलिये सर सैयद अहमदखां को विवश होकर धर्म सम्बन्धी विवाद आरम्भ करना पड़ा।

सर सैयद अहमदखां ने कुरान का अर्थ समझाने के लिये उसकी नई व्याख्या की, जिसका मुख्य आधार यह था कि समस्त सृष्टि का निर्माता ईश्वर है और वही कुरान का रचयिता है। अतः कुरान वास्तविक स्थिति से भिन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार हदीस भी न तो कुरान के विरुद्ध हो सकती है और न वास्तविकता से भिन्न हो सकती है। इस प्रकार उन्होंने इस्लाम धर्म को वैज्ञानिक आक्षेपों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। कुरान की नई व्याख्या करने के लिये उन्होंने 'तफसीर-उल-कुरान' लिखना आरम्भ किया, जो पूरी नहीं हो सकी। सर सैयद अहमदखां ने अपने पत्र 'तहजीब-उल-अखलाक' का उद्देश्य मुसलमानों को सभ्य बनाना बताया। उन्होंने कहा कि मुस्लिम समाज तब तक सभ्य नहीं बन सकता, जब तक वह प्राचीन परम्पराओं को छोड़ कर नई परम्परा न अपना ले। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि प्रत्येक परम्परा समय और परिस्थितियों के अनुसार अपनाई जानी चाहिये, क्योंकि बदलती हुई परिस्थितियों में परम्पराएं भी अनुपयोगी सिद्ध हो जाती है। उन्होंने हज करने, जकात बांटने, मस्जिद बनवाने आदि की कटु आलोचना की तथा मुसलमानों को पश्चिमी सभ्यता एवं पद्धति अपनाने की सलाह दी।

अलीगढ़ आन्दोलन ने मुसलमानों की शिक्षा के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया, जिसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में पश्चिमी शिक्षा को लोकप्रिय बनाना था। पश्चिमी शिक्षा के प्रति मुसलमानों में उदासीनता थी। मुसलमान अरबी, फारसी तथा धार्मिक शिक्षा को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे तथा अंग्रेजी राज्य की प्रधानता का कारण अपनी विवशता समझते थे। अतः जिस किसी संस्था का सम्बन्ध अंग्रेजी राज्य से जुड़ा हुआ था, उससे वे अपने आपको अलग रखते थे। इसके अतिरिक्त मुल्ला और मौलवी लोग भी यही चाहते थे कि अरबी, फारसी व धार्मिक शिक्षा

को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। किन्तु सर सैयद अहमदखां ने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के दोषों को मुसलमानों की अरुचि का कारण बताया। उन्होंने हण्टर कमीशन के समक्ष गवाही देते हुए 1882 में कहा था कि मुसलमान ऐसी शिक्षण संस्थाओं में नहीं जाना चाहते, जहां अन्य सम्प्रदाय के लोग भी पढ़ते हों, क्योंकि वे (मुसलमान) उन्हें अपने से निम्न स्तर का मानते थे। मुसलमानों की यह मान्यता थी कि पश्चिमी शिक्षा प्राप्त करने से अधर्म बढ़ता है तथा अंग्रेजी पढ़ने को वे ईसाई धर्म स्वीकार करने के समान समझते थे। अतः मुसलमानों को इस बात का भय था कि अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कहने से वे 'काफिर' कहलाये जा सकते हैं।

सर सैयद अहमदखां ने मुसलमानों की शिक्षा के लिये एक विशेष शिक्षण संस्था की आवश्यकता का अनुभव करते हुए 1875 में अलीगढ़ में 'मोहम्मडन एंगलो ओरियंटल कालेज' की स्थापना की, जिसका आरम्भिक रूप एक प्राईमरी स्कूल था। जनवरी 1877 में लार्ड लिटन ने इस कालेज का विधिवत् उद्घाटन किया तथा उत्तर प्रदेश के गवर्नर विलियन म्यूर ने इस कालेज के लिये भूमि प्रदान की। इस प्रकार आरम्भ से ही इस संस्था पर अंग्रेजों की कृपा दृष्टि रही थी। यही कालेज आगे चलकर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया। यहीं पर आधुनिक विचारधारा के मुसलमानों ने शिक्षा प्राप्त की और बाद में यह अलीगढ़ आन्दोलन का केन्द्र बन गया। उन्होंने एक 'मोहम्डन एजुकेशनल कांफ्रेंस' की भी स्थापना की तथा अनेक ऐसे मुसलमानों को अपने साथ सम्मिलित कर लिया जो मुसलमानों को पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में लाने के उत्सुक थे।

अलीगढ़ मोहम्मडन कालेज मुसलमानों की केवल शिक्षा संस्था ही नहीं थी, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक स्थिति सुधारने का भी केन्द्र था। सर सैयद अहमदखां की मान्यता थी कि इस संस्था से अध्ययन कर निकले हुए विद्यार्थी, समाज में परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध होंगे। कालेज में विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास पर अधिक बल दिया जाता था। वाद विवाद प्रतियोगिता, खेलकूद, छात्रावास में अनिवार्य रूप से रहना तथा अंग्रेज अध्यापकों व अधिकारियों से मेल-जोल बढ़ाना, कालेज शिक्षा के अंग थे। सर सैयद अहमदखां ने अंग्रेजी शिक्षा पर अधिक बल दिया, क्योंकि सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि किसी समुदाय में किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा इसी आधार पर जांची जा सकती है कि राजकीय सेवा में उसे क्या स्थान प्राप्त है। वे प्रारम्भिक शिक्षा की अपेक्षा उच्च शिक्षा पर बल अधिक देते थे और यही तथ्य अलीगढ़ आन्दोलन की दुर्बलता के लिये उत्तरदायी था। यहां से अध्ययन करके निकले हुए विद्यार्थी अपने ही सम्प्रदाय के हितों के लिये अधिक प्रयत्नशील रहते थे।

19 वीं शताब्दी में मुसलमानों में समाज सुधार का मुख्य अभिप्राय पुरुषों की अंग्रेजी शिक्षा तक ही सीमित रह गया। सर सैयद अहमदखां मुसलमान स्त्रियों

के लिये शिक्षा को अनावश्यक मानते थे तथा वे स्त्रियों में पर्दा प्रथा के भी पक्ष में थे। वे वहुविवाह को तर्क-संगत मानते थे। वे स्त्रियों की शिक्षा इस प्रकार की चाहते थे कि वे कुशल माताएं व गृहिणी वन सकें। स्त्रियों को वे नौकरी कराना पसन्द नहीं कर सकते थे। अतः अलीगढ़ आन्दोलन, स्त्रियों के लिये परम्परागत शिक्षा तथा जीवन पद्धति को वदलने के पक्ष में नहीं था।

अलीगढ़ आन्दोलन मुसलमानों में पश्चिमी सभ्यता के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाने के लिये प्रमुख था। किन्तु अलीगढ़ आन्दोलन मुस्लिम साम्प्रदायिकता को वढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। अलीगढ़ कालेज के प्रथम प्रिन्सिपल थियोडोर वेक की प्रेरणा से 1893 में मुसलमानों का एक संगठन वना जिसका लक्ष्य भारतीय मुसलमानों को राजनीति से पृथक रखना था। वेक के वाद जव कालेज का प्रिन्सिपल मौरिसन वना तो उसने राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध करने के लिये मुसलमानों को संगठित करना आरम्भ कर दिया। स्वयं सर सैयद अहमदखां भी कांग्रेस के कट्टर विरोधी हो गये। अलीगढ़ कालेज के प्रिन्सिपल आर्कवाल्ड तथा अलीगढ़ कालेज के मंत्री नवाव मोशी-उल-मुल्क की प्रेरणा से 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। अतः अलीगढ़ आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति के विरोध में रहा। धीरे-धीरे यह आन्दोलन हिन्दुओं और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का कट्टर विरोधी हो गया। इस विरोध के अनेक कारण थे—

(1) सर सैयद अहमदखां तथा उनका अलीगढ़ आन्दोलन आरम्भ से ही अंग्रेजों की सहानुभूति पर निर्भर था तथा अंग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक था कि वे प्रगतिशील एवं राष्ट्रीय हिन्दुओं के विरुद्ध अंग्रेज कूटनीति का समर्थन करे.

(2) सर सैयद अहमदखां पश्चिमी सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित थे और इसलिये वे अंग्रेजों का वहुत अधिक मात्रा में समर्थन करने लगे थे।

(3) सर सैयद अहमदखां को सदा यह भय वना रहता था कि अल्पसंख्यक मुसलमान, वहुसंख्यक हिन्दुओं का मुकावला नहीं कर सकेंगे। अतः अंग्रेजों का समर्थन करना तथा उनकी सहायता पर निर्भर रहना मुसलमानों के हितों की पूर्ति के लिये आवश्यक था।

अधिकांश अवसरों पर सर सैयद अहमदखां ने जो विचार प्रकट किये वे साम्प्रदायिकता से परिपूर्ण थे। उनके द्वारा प्रकट किये गये विचारों के अनुसार अलीगढ़ आन्दोलन के मुख्य रूप से चार आधार वने थे :—

(1) हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राजनीतिक इकाइयां है, जिनके हितों और दृष्टिकोणों में काफी अन्तर है।

(2) भारत में जनतंत्र के आधार पर प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना करने तथा असैनिक सेवाओं (Civil Services) की परीक्षा भारत में करने से मुसलमानों

के हितों की सुरक्षा सम्भव नहीं हो सकेगी, क्योंकि इससे अल्पसंख्यक मुसलमान, बहुसंख्यक हिन्दू सत्ता के अधीन हो जायेंगे, जो अंग्रेजी शासन से भी बुरा होगा।

(3, मुसलमानों को अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत ही अपने हितों को सुरक्षित समझना चाहिये। अतः मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेना चाहिये।

(4) चूंकि मुसलमानों के हित अंग्रेजों के हाथों में सुरक्षित है। अतः उन्हें राजनीति से पृथक रह कर अपने सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार राजनीति से पृथक रह कर वे हिन्दुओं के राजनीतिक आन्दोलन को भी दुर्बल कर अंग्रेजों की सहायता कर सकेंगे।

इस प्रकार अलीगढ़ आन्दोलन मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ। वह सदैव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोध में रहा तथा पाकिस्तान के निर्माण में उसका बड़ा भारी योगदान रहा। परन्तु इस आन्दोलन का एक दूसरा पक्ष भी है। जहां तक मुसलमानों का प्रश्न है, यह आन्दोलन उनके लिये अवश्य लाभदायक रहा। अलीगढ़ आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों को अकर्मण्यता और निराशा से बचाया तथा उसे मध्य युग से आधुनिक युग में लाने में सहायता दी।

अन्य सुधार आन्दोलन

उपर्युक्त महत्वपूर्ण सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त भारत में अन्य भी बहुत से छोटे-छोटे और सीमित क्षेत्र में धार्मिक आन्दोलन हुए। पारसियों ने अपने धर्म और समाज सुधार के लिये 'धार्मिक सुधार समुदाय' की स्थापना की। बाद में दादा भाई नौरोजी ने पारसी धर्म में सुधार के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया। इसी प्रकार महादेव गोविन्द रानाडे ने सामाजिक सुधारों के साथ 1884 में 'डंकन एजूकेशन सोसाइटी' स्थापित कर शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया।

हिन्दुओं के वैष्णव सम्प्रदाय में भी कुछ धार्मिक आन्दोलन हुए। माधव सम्प्रदाय ने भी अपनी एक धर्म सुधार सभा बनायी। इसी तरह शंकराचार्य के समर्थकों ने अपने मत का अलग प्रचार किया और 1861 में शिवदयाल (1818-1878) ने आगरा में 'राधास्वामी सत्संग' की स्थापना की। राधास्वामी सत्संग के गुरु, ईश्वर के अवतार माने जाते थे। इसलिये इस संस्था में गुरु भक्ति की प्रधानता थी। इस संस्था के अनुयायी बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के ईश्वर की आराधना करते थे। ये ईश्वर, जीवात्मा और जगत को सत्य मानते थे। कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों की वाणियां इनके धार्मिक ग्रन्थ थे। वास्तव में यह समस्त धर्मों को समान मानते थे तथा प्रेम और भ्रातृभाव का प्रचार करते थे। राधास्वामी सत्संग भक्ति भाग और योग मार्ग का एक मिश्रण था। इस संस्था ने धार्मिक

जागृति के साथ जाति प्रतिबन्धों का बहिष्कार कर, शिक्षा का प्रसार कर सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्र निर्माण के कार्य में बहुमूल्य योगदान दिया।

पारसी धर्म और समाज सुधार के लिये दादा भाई नौरोजी तथा एस. एस. बंगाली ने प्रमुख रूप से कार्य किया। इन्होंने पारसियों की सामाजिक दशा सुधारने तथा पारसी धर्म का पुनरुत्थान कर उसे पूर्व पवित्रता की श्रेणी में लाने हेतु 1851 में 'रहनुमाई मज्दयासना' सभा की स्थापना की। इसने पारसियों के सामाजिक तथा धार्मिक सुधार हेतु महत्वपूर्ण कार्य किया। इसी की प्रेरणा से 1910 में पारसी धर्म गुरु ढोला के प्रोत्साहन से एक पारसी अधिवेशन का उद्‌घाटन हुआ, जिसने पारसी वर्ग की अत्यधिक सेवा की। पारसियों ने अपने सुधार के साथ-साथ देश के सामाजिक तथा राजनैतिक उत्थान में भी योगदान दिया। देश में अनेक पारसी संस्थाएं पारसी वर्ग की दानशीलता तथा धर्मपरायणता की द्योतक हैं। दादाभाई नौरोजी, सर फिरोजशाह मेहता, सर दीन शाईदुलजी आदि फारसी नेताओं ने भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रगति में बहुमूल्य योगदान दिया।

सिक्खों ने भी इस धार्मिक जागृति के प्रभाव में अपने धार्मिक व सामाजिक जीवन को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया। प्रभावशाली व प्रगतिशील सिक्खों ने अमृतसर में प्रख्यात खालसा कालेज की स्थापना की। इसके अतिरिक्त 'प्रधान खालसा दीवान' नामक एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण भी किया गया, जिसका उद्देश्य समाज व शिक्षा की दृष्टि से सिक्खों में सुधार करना था।

इसी प्रकार भारतीय ईसाइयों में भी नवजागरण उत्पन्न हुआ। परन्तु उनमें अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता अपेक्षाकृत कम थी। अतः उनमें सुधार और परिवर्तन भी अपेक्षाकृत कम हुए। विवेकशील ईसाई पादरियों और दूरदर्शी ईसाई धर्माधिकारियों ने भारतीय ईसाइयों में प्रचलित अनेक धार्मिक प्रथाओं, जो पश्चिमी प्रथाओं से भिन्न थी, के अन्तर को दूर करके एक विशाल संगठन स्थापित करने की चेष्टा की। प्रारम्भ में ईसाई धर्म प्रचारकों ने शिक्षा प्रसार के लिये विद्यालय स्थापित किये तथा आदिवासियों व दलित वर्गों को ईसाई धर्म में सम्मिलित कर लिया। इन नवीन ईसाइयों को शिक्षा की सुविधा देकर उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया। अनाथालयों, औषधालयों, विद्यालयों आदि परोपकारी संस्थाओं के द्वारा ईसाई धर्म प्रचारकों ने जनता की खूब सेवा की तथा भारतीय शिक्षा व साहित्य को समृद्ध करने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम

अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य संस्कृति, विदेशों से सम्पर्क, ईसाई पादरियों द्वारा धार्मिक प्रचार आदि के कारण भारत में जो पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न हुई और उससे जो पुनरुद्धार–आन्दोलन हुए उन्होंने भारत के जीवन को धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में प्रभावित किया

और जीवन के सभी अंगों में एक नवीन चेतना का संचार किया। भारत का आधुनिकीकरण काफी सीमा तक इन आन्दोलनों की ही देन है।

सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय समाज में देशव्यापी क्रान्ति हो गयी और सामाजिक सुधारों तथा देश हित के कार्यों के लिये व्यक्तिनिष्ठ और सामुहिक रूप से प्रयत्न करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप सती प्रथा पर भीषण प्रहार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सती प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा और धीरे-धीरे यह प्रथा भारत में समाप्त होने लगी। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से 'नेटिव मेरिज एक्ट' (Native Marriage Act) स्वीकृत हुआ, जिसके अन्तर्गत बहुविवाह को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया, बाल विवाह का निषेध कर दिया तथा अन्तर्जातीय विवाह उन लोगों के लिये स्वीकृत कर दिये गये जो इस कानून के अधीन होना चाहते थे। आधुनिक युग के सबसे बड़े पारसी सुधारक व. एम. मलाबारी ने बाल विवाह के विरोध में 1884 में सक्रिय आन्दोलन आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप 1891 में 'ऐज ऑफ कंसेण्ट' कानून स्वीकृत हुआ। इसके अन्तर्गत लड़कियों के लिये विवाह योग्य आयु 12 वर्ष निर्धारित करदी। 1901 में बड़ौदा राज्य की सरकार ने 'इनफेंट मेरिज प्रिवेन्शन एक्ट' द्वारा विवाह के लिये लड़की की आयु 12 वर्ष और लड़कों की आयु 16 वर्ष कर दी गई। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के लिये तीव्र आन्दोलन किया और उनके भागीरथ प्रयत्नों के फलस्वरूप 1856 में एक कानून स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मानकर विवाहित विधवाओं की सन्तान की वैधता घोपित करदी गई। शिक्षण संस्थाओं, अस्पतालों तथा अन्य संस्थाओं में शिक्षित विधवाओं को नौकरियां देकर उनके वैधव्य जीवन की जटिलता, नीरसता व यातनाओं को कम किया गया। शिक्षित वर्ग ने उनके विवाह करा कर विधवा विवाह को सामाजिक दृष्टि से निष्कलंक बताया। धीरे-धीरे विधवा विवाह समाज की निश्चित मान्यता बनने लगी।

सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप स्त्री शिक्षा को नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई। स्त्री शिक्षा हेतु अनेक विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित किये गये। दक्षिण शिक्षा समिति तथा पूना में श्रीमती रानाडे द्वारा स्थापित पूना सेवा सदन ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। ज्यौं-ज्यौं स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ, स्त्रियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न हुई और स्त्रियां अनेक कौंसिलों, संस्थाओं, कार्पोरेशन और नगरपालिकाओं में सदस्य होने लगी। इस प्रकार स्त्रियों के अधिकारों को मान्यता प्राप्त हुई। स्त्री शिक्षा के फलस्वरूप पर्दा प्रथा का उन्मूलन हुआ। शिक्षित हिन्दू महिलाओं ने ही नहीं अपितु अशिक्षित मुस्लिम महिलाओं ने भी पर्दा प्रथा का बहिष्कार किया। यद्यपि दक्षिण भारत में इस प्रथा का अस्तित्व नहीं था, तथापि सारे देश में सामान्य जागृति, शिक्षा आदि के प्रभाव से इस प्रथा का अन्त होने लगा। 19 वीं

शताब्दी के सभी सुधार आन्दोलनों ने जाति प्रथा के भेदभाव का तीव्र विरोध किया था। अतः जाति प्रथा के बन्धनों में शिथिलता आ गई। फलस्वरूप दलित जातियों में भी नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों ने अनेक अछूतों को ईसाई बना लिया था, किन्तु आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन द्वारा उन्हें पुनः हिन्दू समाज में शामिल कर लिया। दलित वर्गों की उन्नति के लिये अनेक संस्थाएं स्थापित हुईं।

धार्मिक क्षेत्र में भी इन आन्दोलनों के फलस्वरूप एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमती एनीबीसेंट आदि ने हिन्दुओं को अपने धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास पैदा कराया, जिससे वे ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होने से रुक गये। अब भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति गौरव का ज्ञान हुआ। इन आन्दोलनों के कारण मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, कर्मकाण्ड, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता आदि हिन्दू धर्म के विभिन्न दोषों को दूर करने के प्रयासों के फलस्वरूप धर्म के इन दोषों का उन्मूलन आरम्भ हुआ तथा सभी धर्मों की मूलभूत एकता स्थापित हुई। धर्म के बाह्य आडम्बर समाप्त होने लगे तथा धार्मिक सहिष्णुता की भावना ने भारतीयों की मनोवृत्ति को अधिक उदार बना दिया। स्वामी विवेकानन्द ने तो हिन्दुत्व के संदेश को अमेरीका तथा यूरोप तक पहुंचा दिया, जिससे यूरोपवासियों को भी हिन्दू धर्म की महानता का ज्ञान हुआ। संक्षेप में, जो धार्मिक दोष समाज और धर्म को खोखला किये जा रहे थे, उन पर घातक प्रहार कर उन्हें दूर करने के भागीरथ प्रयत्न आरम्भ हुए। वस्तुतः 19 वीं शताब्दी धर्म व समाज के परिमार्जन का युग था।

इन आन्दोलनों के परिणाम सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में ही प्रकट नहीं हुए बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी व्यापक क्रान्ति उत्पन्न हुई। संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ, जिससे भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से देशी भाषाओं में परिवर्तन होने लगा तथा उनमें आधुनिकता का समावेश होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भारत का न केवल बौद्धिक जागरण ही हुआ, बल्कि भारतीयों के समक्ष नवीन विचार प्रस्तुत हुए, जिससे नवीन साहित्य के सृजन को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इससे न केवल पुस्तकों की संख्या और प्रसार ही नहीं बढ़ा, अपितु ज्ञान कोष में भी वृद्धि हुई। साहित्य को देश-काल के अनुसार बनाने व उसमें उन्नति करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। धर्म प्रचारकों एवं समाज सुधारकों ने लोक भाषाओं को उन्नत करने में अपना योगदान दिया। हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू आदि भाषाएं एवं साहित्य का अभूतपूर्व समन्वय हुआ। सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप भारत की श्रेष्ठ प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं का ही पुनरुद्धार नहीं हुआ बल्कि पूर्व और

पश्चिम की उच्चतम साहित्यिक प्रवृतियों का सुन्दर समन्वय हुआ। साहित्य के उत्कर्ष की जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह अब तक भी पूर्ण वेग से जारी है।

सुधार आन्दोलनों ने राजनीतिक क्षेत्र में भी व्यापक प्रभाव छोड़ा। 19 वीं शताब्दी में भारतीय पश्चिम की चकाचौंध से अत्यधिक प्रभावित थे तथा पश्चिमी संस्कृति की ओर दौड़ रहे थे। सुधार आन्दोलनों के प्रवर्तकों ने भारतीयों में राष्ट्रीय गौरव जागृत किया और अपने पैरों पर खड़ा होने की प्रेरणा दी। यद्यपि ये आन्दोलन प्रधानतः धार्मिक थे, फिर भी इन्होंने देशभक्ति के भावों को जगा कर राष्ट्रीय चेतना को विकसित किया। इसीलिये वेलेन्टाइन शिरोल ने भारत के सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों में राष्ट्रीयता की उत्पति को देखा। स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया था। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार किया। इससे भारतीयों में उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने सांस्कृतिक चेतना की जो धारा प्रवाहित की, उसी पर राष्ट्रीयता का भव्य भवन खड़ा किया जा सका। उन्होंने भारतीयों को विश्व पर सांस्कृतिक विजय करने की प्रेरणा दी, किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि जब तक भारत गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, यह कार्य संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार उन्होंने भारत की राजनीतिक स्वाधीनता का समर्थन किया। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने तो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को एक नवीन गति प्रदान की।

कुल मिलाकर 19 वीं शताब्दी में हुए धार्मिक–सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने भारत को नवजागरण के मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया और देश को एक ऐसे मार्ग पर अग्रसर कर दिया जिस पर चलते हुए उसने निरन्तर प्रगति की और अपनी राजनीतिक स्वाधीनता भी प्राप्त की।

अध्याय 13

ब्रिटिश शासन का आर्थिक जीवन पर प्रभाव

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी राज्य की स्थापना के पूर्व मुगल बादशाहों के शासन काल में देश की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी और उन्नत थी। 1700 ई० के भारत की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए फ्रांसीसी यात्री वर्नियर ने लिखा था, "यह भारत एक अथाह गड्ढा है, जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चांदी चारों तरफ से अनेक रास्तों से आकर जमा होता है और जिसे बाहर निकालने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता......अपनी दो यात्राओं के दौरान में मैं बंगाल के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त कर सका हूं, वह मुझे विश्वास दिलाता है कि यह मिस्र से भी अधिक धनी देश है।" इसी प्रकार बंगाल की सम्पन्नता के बारे में लार्ड क्लाइव ने कहा था, "मुर्शिदाबाद का शहर उतना ही लम्बा चौड़ा, आबाद और धनवान है जितना कि लन्दन का शहर। अन्तर इतना है कि लन्दन के धनाढ्य से धनाढ्य व्यक्ति के पास जितनी सम्पत्ति है, उससे कहीं ज्यादा सम्पत्ति मुर्शिदाबाद में अनेकों के पास है।" इसके लगभग दो सौ वर्ष बाद अर्थात 1900 ई० में भारत की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए विलियम डिग्बी ने लिखा था कि, "20 वीं सदी के आरम्भ में लगभग दस करोड़ व्यक्ति ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिल सकता......इस अधःपतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य या उन्नतिशील देशों में कहीं पर दिखाई नहीं दे सकती।" इन उपर्युक्त कथनों से भारत की परिवर्तित आर्थिक स्थिति का परिचय मिल जाता है। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों के आने के पूर्व यहां की आर्थिक अवस्था उन्नत थी। वस्तुओं की कीमत सस्ती थी, किसानों की स्थिति संतोषजनक थी और दस्तकारियों एवं कुटीर उद्योगों का विकास अपनी चरम सीमा पर था।

18 वीं शताब्दी के अन्त में तथा 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत का उद्योग एवं व्यापार बहुत ही विकसित था। देश के जुलाहे अत्यन्त दक्ष थे। ढाका

की मलमल विश्व में विख्यात थी तथा पंजाब व कश्मीर के ऊनी वस्त्र जगत प्रसिद्ध थे। लखनऊ, मथुरा, नागपुर और अहमदाबाद में सूती वस्त्र का व्यवसाय अत्यधिक उन्नत था। पीतल, तांबे और सोना जैसी धातुओं के सामान भी भारत में खूब बनते थे। हाथी-दांत और चन्दन जैसी लकड़ियों की सुन्दर वस्तुएं यहां के कुशल कारीगर बनाते थे। दक्षिण भारत के समुद्री तट पर जहाज बनाने का उद्योग इंगलैण्ड से भी अधिक विकसित था। भारत का बना रेशमी कपड़ा, मलमल, हीरे-जवाहरात, गर्म मसाले, शृंगार-प्रसाधन, हाथी दांत की बनी कलात्मक वस्तुएं, सुगन्धित तेल, इत्र इत्यादि विदेशों में निर्यात किये जाते थे और इनके बदले में विदेशों से सोने और चांदी के सिक्के भारत आते रहते थे। इस प्रकार कम्पनी का राज्य स्थापित होने से पूर्व भारत में पूर्ण समृद्धि थी।

किन्तु कम्पनी का राज्य स्थापित होने के बाद यह स्थिति अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकी। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी एवं आर्थिक नीति के कारण भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। क्योंकि अंग्रेजों की आर्थिक नीति इंगलैण्ड में प्रचलित विचारधारा से तथा अंग्रेजों के आर्थिक हितों से प्रभावित थी। अतः भारत के आर्थिक हितों को तिलांजली दे दी गई। बंगाल की दीवानी का अधिकार प्राप्त होने के बाद कम्पनी ने किसानों का शोषण करना आरम्भ कर दिया। कम्पनी के कर्मचारी किसानों के साथ क्रूरतापूर्ण अमानुषिक व्यवहार करते थे। मद्रास में एक सरकारी प्रतिवेदन में इस क्रूरता की ओर संकेत करते हुए लिखा गया था कि, "निश्चित लगान प्राप्त करने के लिये कभी कभी ऐसी यातनाएं दी जाती थी, जैसे धूप में खड़ा करना, मुर्गा बनाना, भोजन अथवा शोच के लिये न जाने देना, कोड़े मारना, शिकंजे में कसना, गधे या भैंस की पूंछ से सिर के बाल बांध देना इत्यादि।" इन सब का परिणाम यह हुआ कि भारतीय किसान बर्बाद हो गये। उस समय अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचारों के बारे में स्वयं लार्ड क्लाइव ने लिखा था कि, "जो यूरोपियन एजेन्ट और असंख्य हिन्दुस्तानी एजेन्ट कर्मचारियों के अधीन कार्य करते थे, उन सभी ने प्रजा पर अत्याचार करने और जनता पर पीड़ा पहुंचाने के जो ढंग जारी कर रखे हैं, वे मुझे डर है कि इस देश में अंग्रेज के नाम पर सदा के लिए एक कलंक रहेंगे....मैं सदा देखता हूं कि हर व्यक्ति में बड़ा बनने और धन कमाने की इच्छा, उसकी सफलता और भोग-विलास इन सबने मिलकर एक नवीन प्रकार की राजनीति प्रचलित कर दी है जिससे अंग्रेज जाति की प्रतिष्ठा, कम्पनी पर लोगों का विश्वास और साधारण न्याय तथा मानवता का खून हो रहा है।"

भारत में लूट का आरम्भ—प्लासी के युद्ध के बाद भारत में अंग्रेजों की लूट आरम्भ हो गयी। 1757 से 1760 के बीच मीर जाफर ने लगभग 3 करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में कम्पनी व अंग्रेज अधिकारियों को दिये तथा अगले 8 वर्षों में

अंग्रेजों ने 15 करोड़ रुपये से अधिक का व्यापारिक लाभ उठाया। प्लासी के युद्ध के पूर्व भारत से माल खरीदने के लिये अंग्रेजों को इंगलैण्ड से सोना और चाँदी लाना पड़ता था, लेकिन युद्ध के बाद यह सब बन्द हो गया, क्योंकि अब उन्हें भारत में ही इतना पर्याप्त धन मिल जाता था कि अब इंगलैण्ड से मंगाने की आवश्यकता ही नहीं रही। बंगाल से प्राप्त हुए धन से ही उन्होंने चीन के व्यापार में पूंजी लगा दी। क्लाइव के द्वैध शासन के अन्तर्गत तो कम्पनी के कर्मचारियों की लूट और भारतीयों पर अत्याचार अत्यधिक बढ़ गये। स्वयं क्लाइव ने बाद में स्वीकार किया था कि कम्पनी के व्यापारी न केवल व्यापारी की तरह व्यापार करते थे बल्कि सम्प्रभु की तरह कार्य करते थे तथा उन्होंने हजारों भारतीय व्यापारियों के मुंह से उनकी रोटी छीन ली और उन्हें भिखारी बना दिया। भारतीय उद्योगों पर भी कम्पनी ने प्रहार किया। बंगाल का मुख्य उद्योग कपड़ा उद्योग था, किन्तु कम्पनी के गुमास्ते भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा बनाने को बाध्य करते थे और फिर अपनी इच्छानुसार उसकी कीमत देते थे। गुमास्तों की इच्छा पूरी न होने पर जुलाहों के अंगूठे काट दिये जाते थे। फलतः जुलाहों व बुनकरों ने कपड़ा बुनना छोड़ दिया। 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल में रेशम उद्योग अत्यन्त ही उन्नत था। किन्तु कम्पनी ने इस उद्योग को भी हतोत्साहित किया, क्योंकि इंगलैण्ड में रेशमी वस्त्र उद्योग उन्नति कर रहा था। अतः बंगाल में कच्चे रेशम बनाने वालों पर भीषण अत्याचार किये। उन्हें अपना उद्योग बन्द कर अंग्रेज फैक्ट्री में काम करने को बाध्य किया गया। फलस्वरूप बंगाल में उद्योग प्रायः नष्ट होने लगे।

अंग्रेज कर्मचारियों का निजी व्यापार—कम्पनी के कर्मचारी जिन उपायों से धन लूटते थे, उनमें 'दस्तक प्रथा' मुख्य थी। दस्तक वह प्रमाण था जो अंग्रेज फैक्ट्री का अध्यक्ष कम्पनी के सामान के सम्बन्ध में देता था, जिससे उस पर चुंगी नहीं लगती थी। कम्पनी के कर्मचारियों ने दस्तक का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। कम्पनी के कर्मचारी अपना निजी व्यापार करने लगे तथा निजी व्यापार में भी दस्तक का प्रयोग कर अपने माल को भी चुंगी से मुक्त करा लेते थे। 1752 के बाद व्यक्तिगत तथा कम्पनी के सामान में भेद करना ही असंभव हो गया, जिससे बंगाल सरकार को हानि होने लगी। इससे भारतीय व्यापार भी चौपट होने लगा, क्योंकि भारतीय व्यापारियों को चुंगी देनी पड़ती थी।

कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार से स्वयं कम्पनी को भी हानि उठानी पड़ रही थी, क्योंकि यूरोप के बाजारों में कम्पनी द्वारा भेजे गये माल की अपेक्षा कर्मचारियों द्वारा भेजा गया सामान सस्ता बिकता था। अतः कम्पनी के संचालकों ने कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार पर पहले नियन्त्रण और और बाद में समाप्त करने का निर्णय लिया। 1773 के रेगुलेटिंग एक्ट में निजी

व्यापार बन्द करने के आदेश दिये गये। किन्तु इसके बाद कम्पनी के कर्मचारी बंगाल के आन्तरिक व्यापार में कम और आयात-निर्यात व्यापार में अधिक भाग लेने लगे। इसमें से अधिकांश व्यापार भारतीय व्यापारी के नाम से होता था और वास्तव में व्यापार अंग्रेज अधिकारी करता था। कम्पनी के कर्मचारी बंगाल में में स्थित फ्रांस और हालैण्ड की कम्पनियों की सहायता से अपना व्यापार करते थे।

18 वीं शताब्दी के मध्य में बंगाल में अनेक सेठों व सर्राफों के घराने अत्यन्त धनी व प्रभावशाली थे, जैसे जगत सेठ घराना, बोस्तमदास, अमीचन्द आदि। इन सेठों व सर्राफों का व्यापार मुख्य रूप से दो क्षेत्रों पर आधारित था— प्रथम तो सिक्कों के बदलने से प्राप्त होने वाली बट्टे की आमदनी और दूसरा, जमींदारों द्वारा उनके पास धन जमा कराना, व्यापारियों को ऋण देना तथा ब्याज प्राप्त करना। ये कम्पनी के कर्मचारियों को भी व्यापार के लिये धन उपलब्ध कराते थे तथा कम्पनी द्वारा लाई गई धातु मुद्रा को बंगाल में प्रचलित मुद्रा में बदलने काम भी यही करते थे। उत्तरी भारत की अधिकांश मण्डियों में जगत सेठ घराने की कोठिआं थी तथा हुंडियों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजा जाता था। किन्तु प्लासी के युद्ध के बाद ये घराने भी निर्धन हो गये। क्योंकि अब इंगलैण्ड से धातु मुद्रा लाने की आवश्यकता समाप्त हो गयी तथा सेठों से रुपया उधार लेने की भी आवश्यकता नहीं रही, अतः सेठों और सर्राफों के घराने भी कमजोर हो गये।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कम्पनी के संचालक कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा भारत से धन अपहरण की सार्वजनिक रूप से निंदा करते थे, किन्तु निजी रूप से उन्हें मूक आज्ञा दी जाती रही। 1790 तक हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ दण्डित कर्मचारियों को पुनः नौकरी पर रख लिया गया तथा उनके अपराध क्षमा कर दिये।

धन का निष्कासन—18 वीं शताब्दी में इंगलैण्ड के उद्योगों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से भारत की निर्मित वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध था। किन्तु 19 वीं शताब्दी में कम्पनी के व्यापार का स्वरूप बदल गया। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत का व्यापार मुक्त कर दिया गया तथा इंगलैण्ड के निजी व्यापारियों को भी भारत से व्यापार करने की छूट दे दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड में निर्मित माल का भारत में आयात बढ़ गया तथा भारत में निर्मित वस्त्रों एवं कुटीर उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात में कमी आ गयी। अब इसके स्थान पर भारत से कच्चे माल का निर्यात बढ़ने लगा। इससे भारत औद्योगिक विकास में पीछे पड़ता चला गया। फलस्वरूप भारत की निर्धनता बढ़ती गई।

भारत की वढ़ती हुई निर्धनता का प्रमुख कारण भारत से धन का निष्कासन था। वह धन जो भारत से वाहर जाता था और जिसके वदले में कुछ भी प्राप्त नहीं होता था, वह धन का निष्कासन कहलाता है। यह धन का निष्कासन धातु मुद्रा के रूप में कम तथा वस्तुओं के व्यापार के रूप में अधिक था। कम्पनी भारत से जितना राजस्व प्राप्त करती थीं, उस धन से वस्तुएं खरीद कर वाहर भेज देती थी। उन वस्तुओं के वदले धातु मुद्रा प्राप्त नहीं होती थी। सोने-चाँदी को भारत से इंगलैण्ड ले जाना इस धन निष्कासन का वहुत छोटा अंश था। दादा भाई नौरोजी की दृष्टि में भारत के अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंगलैण्ड में अपने परिवारों को धन भेजना, अपनी समस्त वचत को इंगलैण्ड भेजना, अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंगलैण्ड में निर्मित वस्तुएं ही खरीदना, भारत में रेल निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए धन व व्याज चुकाना तथा मुद्रा परिवर्तन का घाटा भी धन का का निष्कासन था। जो धन भारत से निष्कासित हो जाता था, वही निष्कासित धन सार्वजनिक ऋण के रूप में पुनः भारत आ जाता था जिसे चुकाने के लिए व्याज सहित अधिक धन निष्कासित करना पड़ता था। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि भारतीयों पर करों का वोझ अत्यधिक वढ़ गया। इन करों का वोझ आय की तुलना में ही आंका जा सकता है। भारत में प्रति व्यक्ति आय का 14 प्रतिशत से अधिक कर भार था जवकि इंगलैण्ड में यह केवल 7 प्रतिशत से भी कम था। इसके अतिरिक्त भारत में लिये जाने वाले करों को भारतवासियों पर खर्च नहीं किया जाता था, इसलिए करों का वोझ उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया। देश में पूंजी संचय के लिये धन उपलव्ध न होने के कारण देश में जीवन स्तर निरन्तर गिरता गया। अंग्रेज प्रशासकों ने भारत की वढ़ती हुई निर्धनता का कारण भारत की वढ़ती हुई जनसंख्या वताया। लेकिन इस कथन में कोई सत्यता नहीं है, क्योंकि कोई भी सरकार पूंजी संचय किये विना औद्योगिक विकास नहीं करवा सकती।

अंग्रेजों की औद्योगिक नीति

अंग्रेजों का प्रमुख लक्ष्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। इंगलैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप वहाँ वड़ी-वड़ी मिलें खुल चुकी थी। इन मिलों में कम कीमत पर अधिक कपड़ा उत्पादित होने लगा था। सस्ती लागत का कपड़ा भारतीय वाजारों में विखेर दिया गया। फलतः अंग्रेजी कपड़ों की प्रतियोगिता में भारतीय कपड़े नहीं टिक सके, जिससे भारत का वस्त्र उद्योग लड़खड़ाने लगा। विदेशी वाजार तो पहले ही हाथ से निकल चुका था और अव देशी वाजार भी समाप्त होने लगा। अंग्रेज चाहते भी यही थे कि इंगलैण्ड में निर्मित वस्तुओं के लिए भारतीय वाजारों में पूरी सुविधा उपलव्ध रहे। इसलिए अंग्रेजों ने भारत के औद्योगिक विकास के प्रति पूर्ण उपेक्षा की नीति का अवलम्वन किया। अतः भारत में वेरोजगारी और निर्धनता वढ़ती गई। ज्यों-ज्यों भारत की औद्योगिक इमारत

गिरती गई, इंगलैंड का औद्योगिक भवन खड़ा होता गया। अंग्रेजी शिक्षा के परिणाम स्वरूप भी इंगलैंड में निर्मित माल की मांग बढ़ने लगी। लार्ड डलहौजी के समय बन्दरगाहों की सुविधाओं को बढ़ाकर इंगलैंड के माल के निर्बाध प्रवेश का मार्ग और भी अधिक खुला कर दिया गया, जिससे भारत का व्यवसाय लगभग नष्ट हो गया। यद्यपि 19 वीं शताब्दी के मध्य बम्बई प्रान्त में पहली कपड़ा मिल स्थापित की गई लेकिन इस उद्योग का विकास भी 1870 के बाद ही हुआ। 1850–70 के मध्य भारत के विभिन्न भागों में रुई से बिनौले निकालने तथा गांठों में रुई भरने के लिये जिनिंग और प्रेसिंग मिलें स्थापित की गई, लेकिन इसे औद्योगिकरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये मिलें केवल कच्चे माल को इंगलैंड भेजने का कार्य करती थी, न कि कच्चे माल को उत्पादित वस्तुओं में बदलने का कार्य करती थी। अतः इस उद्योग का विकास भी भारत के आर्थिक शोषण में ही सहायक हुआ। 19 वीं शताब्दी में भारत में मुख्य रूप से पटसन और सूती कपड़ा उद्योग का विकास हुआ था।

19 वीं शताब्दी के मध्य यूरोप में मुक्त व्यापार, समुद्री जहाजों के आवागमन की सुविधा तथा भाड़ा शुल्क में गिरावट के कारण विभिन्न देशों के बीच आयात निर्यात में अत्यधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप माल को बाहर भेजने के लिये बंडल बांधने की सहायक सामग्री की आवश्यकता में भी वृद्धि हुई। बंडल बांधने की सहायक सामग्री के रूप में बंगाल में उपलब्ध पटसन अत्यन्त ही उपयोगी था। अतः स्काटलैंड के व्यापारियों ने इस उद्योग पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। 1855 ई० में पहली पटसन मिल स्थापित हुई और इस मिल के बढ़ते हुए लाभ को देखते हुए पटसन मिलों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई। विश्व में पटसन उद्योग का एकाधिकार स्थापित हो गया। मिल मालिकों ने इस एकाधिकार का लाभ उठाया। उन्होंने उत्पादन को मांग से कम रखकर अपने लाभांश को बनाये रखा। 1884 में इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन का गठन करके मिलों में होने वाली प्रतियोगिता को भी समाप्त कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मिल मालिकों को अधिक लाभ होते हुए भी पटसन की खेती करने वाले किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि मिल मालिक कम कीमत देकर कच्चा पटसन खरीद लेते थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद 1929–30 की विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी का भी इस उद्योग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि मजदूरों के वेतन में कटौती करके, किसानों को कच्चे पटसन की कम कीमत देकर तथा उत्पादन घटाकर मिल मालिकों ने अपने लाभांश को बनाये रखा। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अन्य देशों में बंडल बांधने की अन्य सहायक सामग्री की तलाश आरम्भ हुई और शीघ्र ही मोटा कागज, पटसन के स्थान पर आ गया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय भी उत्पादन में भारी कमी हुई जबकि मूल्यों में बराबर वृद्धि होती गई; किन्तु कच्चे पटसन का मूल्य नहीं बढ़ाया गया। भारत की

स्वाधीनता के पूर्व तक इन मिलों के नवीनीकरण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और मिल मालिकों ने केवल उत्पादन कम करने में ही अधिक रुचि ली। परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय पटसन उद्योग को विश्व के बाजारों में अपना उचित स्थान प्राप्त करने में अत्यधिक कठिनाई होने लगी।

भारत में कपड़ा कुटीर उद्योग काफी विकसित था तथा 18 वीं शताब्दी में भारत का निर्मित कपड़ा इंगलैंड को निर्यात किया जाता था। किन्तु 19 वीं शताब्दी में इंगलैंड से कपड़ा आयात किया जाने लगा तथा भारत से रुई का निर्यात किया जाने लगा। फिर भी भारत में कुछ कपड़ा मिलें स्थापित हुईं। इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र बम्बई, अहमदाबाद और कानपुर थे। पटसन उद्योग में पूँजी विनियोग तथा नेतृत्व विदेशी था जबकि कपड़ा उद्योग में पूँजी विनियोग और नेतृत्व भारतीय था। किन्तु अपनी पूँजी पर निश्चित लाभ का आश्वासन प्राप्त किये बिना व्यापारी पूँजी विनियोग के लिये उत्सुक नहीं थे। अतः मेनेजिंग एजेन्सी प्रणाली का विकास हुआ जिसके अन्तर्गत मेनेजिंग एजेन्ट दीर्घावधि के लिये मिल के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेते थे। मेनेजिंग एजेन्ट को उचित पारिश्रमिक, उत्पादन अथवा बिक्री पर कमीशन दे दिया जाता था। इस प्रणाली से कपड़ा मिलों की स्थापना को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। किन्तु इन मिलों में तकनीकी कुशलता की अपेक्षा व्यवसायिक कुशलता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि मिलों का नवीनीकरण न हो सका तथा उत्पादन परम्परावादी रहा।

भारत में कपड़ा मिलों की स्थापना से इंगलैंड के मिल मालिकों को इस बात का भय हुआ कि भारत में उनके माल की खपत कम हो जायेगी। अतः उन्होंने भारत में लगे आयात करों के विरुद्ध संगठित आवाज उठायी। फलस्वरूप 1876–84 के मध्य भारत में लगे कपड़े पर आयात कर समाप्त कर दिया। फिर भी भारत में कपड़ा मिलों की संख्या में तथा उत्पादन में वृद्धि होती गई। 1894 तक भारत में जापान से कपड़ा आयात होने लगा तथा मुक्त व्यापार नीति के कारण अन्य देशों से भी प्रतियोगिता होने लगी। फलस्वरूप 1894 में भारत में कपड़े तथा सूत पर 5 प्रतिशत आयात कर और भारत में निर्मित कपड़े पर 5 प्रतिशत उत्पादन शुल्क लगा दिया गया। किन्तु 1896 में यह उत्पादन शुल्क $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया। प्रथम विश्व युद्ध में अंग्रेजों को धन की आवश्यकता हुई, अतः आयात कर की दर बढ़ाकर $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत करदी गई और 1921 में इसे 11 प्रतिशत कर दिया गया, लेकिन उत्पादन शुल्क $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत ही रहा। 1921 में भारत सचिव के सुझाव पर 'इंडियन फिसकल कमीशन' नियुक्त किया गया जिसने उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश की। अतः 1923 में एक टेरिफ बोर्ड का गठन किया गया। लेकिन इस टेरिफ बोर्ड ने कपड़ा उद्योग को कोई सहायता अथवा संरक्षण प्रदान नहीं किया।

1925–26 के बाद जापान का कपड़ा भारत में अत्यधिक मात्रा में आने लगा, जो इंगलैंड में निर्मित कपड़े से घटिया और मंहगा था। उधर विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी का इंगलैंड के उद्योगों पर भी प्रभाव पड़ा तथा इंगलैंड के लिये सुरक्षित भारतीय बाजारों में जापानी वस्तुओं की बिक्री भी बढ़ने लगी। अतः इस स्थिति से सामना करने के लिये 1930 में इंगलैंड से आयात होने वाले कपड़े पर 15 प्रतिशत तथा अन्य देशों के बने कपड़े पर 20 प्रतिशत आयात कर लगा दिया। 1931 में इस आयात कर को इंगलैंड के लिये 25 प्रतिशत तथा अन्य देशों के लिये 31½ प्रतिशत कर दिया। जापान में मुद्रा का अवमूल्यन होने के बाद 1932 में अन्य देशों के कपड़े पर आयात कर 50 प्रतिशत कर दिया और 1933 में इसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत कर दिया, किन्तु 1934 में इसे पुनः 50 प्रतिशत कर दिया। 1935 में इंगलैंड के लिये यह कर घटा कर 20 प्रतिशत कर दिया गया और 1939 में इसे और घटाकर 15 प्रतिशत कर दिया, जबकि अन्य देशों के लिये वह 50 प्रतिशत ही निर्धारित रहा।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से भारतीय कपड़ा मिलों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार किया गया, जिससे देश में बना कपड़ा अधिक लोकप्रिय होने लगा। 1941 के बाद इंगलैंड से कपड़े के आयात की संभावना कम हो गयी, जापान से आयात लगभग समाप्त हो गया और युद्ध के कारण सैनिक मांग में वृद्धि हो गयी। अतः उस समय भारत से कपड़ा निर्यात होना आरम्भ हुआ।

यद्यपि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीयता की भावना जागृत होने के कारण भारत में औद्योगीकरण का युग आरम्भ हो गया था तथा बड़े पैमाने पर उद्योगों की स्थापना भी हुई, लेकिन इन उद्योगों के प्रति अंग्रेज प्रशासकों का दृष्टिकोण सर्वथा दोषपूर्ण था। वे प्रत्येक उद्योग को राजनैतिक दृष्टि से देखते थे। फलस्वरूप भारत के औद्योगिक विकास के प्रति पूर्ण उदासीन रहे, क्योंकि भारत के औगोगिक विकास से इंगलैंड के उद्योगों को खतरा उत्पन्न हो सकता था। इसके अतिरिक्त भारतीय उद्योगों को संरक्षण भी प्रदान नहीं किया, इसलिये बिना संरक्षण के उद्योगों को वैज्ञानिक ढंग से संगठित करना संभव नहीं था। 1923 में उद्योगों को संरक्षण देने के लिये टेरिफ बोर्ड का भी गठन किया गया, लेकिन इस टेरिफ बोर्ड ने समस्त उद्योगों को एक इकाई के रूप में न मानकर विभिन्न उद्योगों के प्रति भिन्न-भिन्न नीतियां निर्धारित की। संरक्षण की नीति किसी एक उद्योग के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती, बल्कि समस्त उद्योगों को एक ईकाई के रूप में मानकर ही निर्धारित की जा सकती है।

अंग्रेजों की कृषि सम्बन्धी नीति

भारत एक कृषि प्रधान देश था और अब भी है। अंग्रेजी शासन से पूर्व

भारत में उद्योग-व्यवस्था और कृषि दोनों में सन्तुलन था। अतः 18 वीं शताब्दी में भारत कृषि प्रधान होते हुए भी सम्पन्न था। किन्तु 18 वीं शताब्दी के अन्त में तथा 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज प्रशासकों ने ऐसी नीति अपनायी कि सिंचाई और आवागमन की अधिक सुविधाओं के बावजूद कृषि जीवन अस्त व्यस्त हो गया तथा देश की भूमि शक्ति नष्ट हो गयी। इस परिवर्तित स्थिति के लिये अंग्रेजों की कृषि सम्बन्धी नीति ही उत्तरदायी थी।

1793 में लार्ड कार्नवालिस ने भूमि का स्थायी बन्दोबस्त किया था, जिसका उल्लेख नवें अध्याय में किया जा चुका है। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ तक इस स्थायी बन्दोबस्त के दोष प्रकट होने लग गये थे, अतः यह व्यवस्था अत्यन्त ही दोषपूर्ण समझी गई। इसलिये दो नई प्रणालियों—महलवाड़ी प्रथा तथा रैयतवाड़ी प्रथा का विकास किया गया। 1801 में कम्पनी ने अवध से जो क्षेत्र प्राप्त किये तथा 1803–4 में उत्तरी भारत में मराठों से जो क्षेत्र जीते, वहां महलवाड़ी प्रथा स्थापित की गई। इस प्रथा के अन्तर्गत राजस्व व्यवस्था प्रत्येक महल (यह फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ जागीर अथवा गांव होता है) के साथ स्थापित की गई। 1801 से 1803 के बीच अवध के प्रदेशों में लगान की दर 25 प्रतिशत तक बढ़ा दी गई। 1807–1818 के बीच लगान 50 प्रतिशत तक बढ़ गया। 1822 में पहली बार महलवाड़ी प्रथा को औपचारिक एवं व्यवस्थित रूप से लागू किया गया। इसके अनुसार गांव के प्रधान के साथ समझौता किया गया। गांव का प्रधान किसानों से लगान वसूल करके, प्राप्त हुए लगान का 83 प्रतिशत कम्पनी के कोष में जमा करा देता था। 1833 में इस प्रथा को और अधिक व्यवस्थित किया गया। इसके अनुसार कुछ गांवों को मिलाकर महल (क्षेत्र) का निर्माण किया गया तथा उस महल का लगान निश्चित कर दिया गया और फिर उस लगान को गांवों में विभाजित कर दिया गया। इस समय भूराजस्व की मांग इतनी अधिक थी कि आगे चलकर स्वयं सरकार को इसे कम करने के लिये विवश होना पड़ा। इस समय भूराजस्व की मात्रा पैदावार का $\frac{2}{3}$ निर्धारित की थी, लेकिन 1855 में लगान की मात्रा पैदावार का $\frac{1}{2}$ कर दी गई।

मद्रास में पहले जमींदारी प्रथा स्थापित करने का प्रयत्न किया गया, लेकिन वहां कुछ क्षेत्रों में जमींदार वर्ग था ही नहीं। 1800 ई० में बंगाल की तरह नीलामी व्यवस्था लागू की गई। किन्तु वह भी पूरी तरह सफल नहीं हुई। अतः वहां भी महलवाड़ी प्रथा स्थापित की गई। किन्तु यह प्रथा वहां सफल नहीं हुई, क्योंकि गांव का प्रधान, दूसरे किसानों का दायित्व अपने ऊपर लेने को तैयार नहीं था। अतः विवश होकर 1812 में वहां रैयतवाड़ी प्रथा स्थापित की गई। इसके अन्तर्गत प्रत्येक किसान के साथ व्यक्तिगत रूप से समझौता करके राजस्व तय किया जाता था। किसान को यह विकल्प दिया जाता था कि वह चाहे तो निर्धारित लगान देकर खेती

करे अथवा खेती का कार्य छोड़ दे। यह प्रथा किसानों के लिये हानिकारक सिद्ध हुई, क्योंकि प्रथम तो भूराजस्व की मात्रा अत्यधिक थी और दूसरा, किसी वर्ष फसल खराब हो जाने पर लगान में छूट की संभावना लगभग अनिश्चित थी। लगान वसूल करने वाला अधिकारी बड़ी निर्दयता से लगान वसूल करता था। अतः 1852-53 में ब्रिटिश संसद की जांच समिति ने इसमें परिवर्तन के आदेश दिये, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। बम्बई में भी भूमि की पैमाइश करवाई गई और कुछ फेर बदल कर रैय्यतवाड़ी प्रथा ही स्थापित की गई। वहां पर भी किसानों पर लगान का बोझ अत्यधिक रहा।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित उपर्युक्त पद्धतियों के बड़े विनाशकारी परिणाम हुए। प्रायः प्रत्येक व्यवस्था में लगान की मात्रा इतनी अधिक थी कि किसान उसे चुकाने में असमर्थ था। फलस्वरूप किसानों को साहूकारों से ऋण लेकर लगान चुकाना पड़ता था। साहूकारों को ऋण की वसूली के लिये पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध थी। साहूकारों ने ऋण की वसूली के लिये जमीन नीलाम करवा कर उस पर अपना अधिकार करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार स्वामित्व प्राप्त किसान भूमिहीन मजदूरों की श्रेणी में आ गया। जमींदार प्रथा में भी किसानों का शोषण बढ़ता रहा। 19 वीं शताब्दी में भारत के आर्थिक जीवन की विशेषता ही यह थी कि किसान ऋणी होते गये। उधर कुटीर उद्योगों के विनाश तथा औद्योगीकरण के अभाव में लोग अपने जीविकोपार्जन हेतु कृषि की ओर झुके। अतः भूमि की मांग बढ़ने लगी। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भी कृषि पर अधिकाधिक भार बढ़ता गया। किन्तु कृषि साधनों में नवीनता को न अपनाने से कृषि की उन्नति नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रणाली टूटने लगी थी, जिससे भूमि का बंटवारा होने लगा। फलस्वरूप किसानों के पास जो कुछ भी भूमि थी वह छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गई। अंग्रेजों की नीति कृषि उत्पादन का अधिक से अधिक निर्यात करना थी। अतः 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निर्यात व्यापार में अवश्य वृद्धि हुई, किन्तु इससे किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ। इतना ही नहीं, इंगलैंड की कृषि उत्पादन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अंग्रेजों ने विभिन्न क्षेत्रों में नई फसलें उगाने के आदेश दिये, जिससे कुछ क्षेत्र तो विशेष फसलों के लिये प्रसिद्ध हो गये, जैसे पंजाब, गेहूं और रुई के लिये, बम्बई रुई के लिये, बंगाल पटसन और नील के लिये, बिहार अफीम के लिये तथा आसाम चाय के लिये। भारत से खाद्यान्न का निर्यात भी किया जाता था। 1876–78 में दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा फिर भी इस समय 79 लाख पौंड मूल्य का अनाज निर्यात किया गया और किसानों को आधे पेट रह कर गुजारा करना पड़ा।

प्रारम्भ में अंग्रेजी प्रशासन में कृषि का कोई अलग विभाग नहीं था। 1880 में अकाल आयोग की सिफारिशों पर विभिन्न प्रान्तों में कृषि विभाग स्थापित

किये गये। किन्तु कुछ ही वर्षों बाद उसे समाप्त कर दिया गया। कई बार प्रायोगिक फार्म स्थापित करके वहाँ आधुनिक उपकरणों से खेती करने का प्रचार किया गया, किन्तु इन फार्मों के संचालक ऐसे लोग होते थे जो भारत की परिस्थितियों से सर्वथा अनभिज्ञ होते थे। अतः ऐसे फार्मों की असफलता तो निश्चित ही थी। इसी प्रकार 1883 में भूमि सुधार विधेयक तथा 1884 में कृषक ऋण विधेयक पारित किये गये। लेकिन इन विधेयकों को कार्यान्वित करने का दायित्व कलक्टरों पर छोड़ दिया गया, जिन्हें भूमि सुधारों के प्रति कोई रुचि नहीं थी। कृषक ऋण विधेयक द्वारा किसानों को कम व्याज पर ऋण देने की व्यवस्था की गई ताकि उसे साहूकार या महाजन से अधिक व्याज पर ऋण न लेना पड़े। लेकिन इस विधेयक का भी कोई अच्छा परिणाम सामने नहीं आया, क्योंकि किसान को सरकार से समय पर ऋण मिलने की निश्चित आशा नहीं होती थी। फिर यदि ऋण मिल भी जाता था तो ऋण की वसूली कठोरता से होती थी, जिनमें मानवीय तत्वों का सदा अभाव रहता था। इसलिये किसान महाजन से अधिक व्याज की दर पर ऋण लेना अधिक उपयोगी समझता था। 1880–95 के बीच कोई प्राकृतिक प्रकोप नहीं पड़ा, अतः इन 15 वर्षों में उत्पादन बढ़ाया जा सकता था, लेकिन अंग्रेजों ने कृषि सम्बन्धी कोई सुधार नहीं किया। लेकिन 1899–1901 में भयंकर अकाल पड़ा, अतः लार्ड कर्जन ने कृषि की ओर ध्यान दिया। 1901 में केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों को कृषि सम्बन्धी परामर्श देने के लिये इन्सपेक्टर जनरल आफ एग्रीकल्चर नामक अधिकारी नियुक्त किया गया तथा एक इम्पीरियल कृषि विभाग स्थापित किया गया। पूना में (1903 में) एक केन्द्रीय कृषि अनुसंधान संस्थान तथा कृषि कालेज की स्थापना की गई। 1905 में भारत सरकार को कृषि सम्बन्धी सुझाव देने के लिये अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना की गई। 1906 में इंडियन एग्रीकल्चर सर्विस का निर्माण किया गया।

कृषि विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये कृषि कालेजों की स्थापना की गई। 1908 में पूना में कृषि कालेज की स्थापना की गई और कालान्तर में ऐसे ही कालेज लायलपुर, नागपुर, कानपुर, कोयम्बटूर और माण्डले में भी खोले गये। 1919 के अधिनियम में कृषि हस्तांरित विषय बना दिया गया, किन्तु सिंचाई तथा कृषि अनुसन्धान का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर ही रहा। 1928 में कृषि के सम्बन्ध में लिनलिथगो कमीशन नियुक्त किया गया। इसकी सिफारिशों के आधार पर 1929 में इम्पीरियल कौंसिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च की स्थापना हुई, जिसका प्रमुख कार्य कृषि अनुसंधान को प्रोत्साहन देना था। 1935 में कृषि उपज को बेचने के लिये भारत सरकार ने एक केन्द्रीय मार्केटिंग विभाग स्थापित किया गया। 1937 में प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाने के बाद किसानों की रक्षा तथा समृद्धि के लिये

कानून पास किये गये ताकि वे जमींदार व महाजन के चंगुल व अत्याचार से बच सकें।

इतने उपायों के बावजूद भी कृषि में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। केवल निर्यात होने वाले कृषि उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया गया अर्थात रुई व पटसन की खेती पर अधिक ध्यान दिया गया। किसानों की स्थिति में भी कोई सुधार नहीं हुआ। अंग्रेजों ने किसानों की निर्धनता के लिये अधिक व्याज पर साहूकारों से उधार लेने की परम्परा को दोषी ठहराया। यह नितान्त सही है कि साहूकारों व महाजनों ने किसानों का अत्यधिक शोषण किया, लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ऐसी कौनसी परिस्थितियां थी कि किसानों को साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था ? इसका सीधा और सरल उत्तर यह है कि किसानों के लिये ऋण की कोई अन्य सुविधा नहीं थी तथा साहूकार ऋण की अदायगी के बदले भूमि छीन लेते थे। अतः किसान निर्धन और भूमिहीन होते गये। किसानों से लगान इतना अधिक लिया जाता था कि वे विपत्ति के समयके लिये कुछ भी बचाकर नहीं रख सकते थे।

अंग्रेजों की अकाल के प्रति नीति

भारत कृषि प्रधान देश होने के कारण सदैव मानसून के हाथ का खिलौना रहा है। मानसून के असफल होने पर न केवल फसल ही खराब होती है बल्कि किसान को अपने पशुधन और हल से भी वंचित होना पड़ता है। तालावों का पानी सूख जाता है और उसके कीचड़ में नाना प्रकार के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। जिसका परिणाम होता है लाखों लोगों की मृत्यु और घास के अभाव में पशु धन की समाप्ति। जो इससे बच जाते हैं उनके भाग्य में होती है बीमारी और भुखमरी। मुगल शासकों के समय यद्यपि भूमि का प्रबन्ध तो कर दिया, किन्तु अकाल से रक्षा करने का कोई स्थायी प्रबन्ध नहीं किया गया। मुगलों के बाद कम्पनी राजसत्ता ने भी 18 वीं शताब्दी में इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उस समय कम्पनी अपने राज्य विस्तार में व्यस्त थी। अतः राष्ट्रीय स्तर पर किसी नीति निर्माण नहीं किया गया।

1837 में भयंकर अकाल पड़ा, लेकिन अकाल राहत के लिये कोई व्यापक कार्य नहीं किया गया। कई स्थानों पर भुखमरी के कारण दंगे हुए, किन्तु सरकार ने उनका दमन कर दिया और परिस्थितियां पूर्व भांति बनी रही। 1857 के विप्लव के बाद कम्पनी की सत्ता समाप्त हुई तथा ब्रिटिश ताज द्वारा सत्ता ग्रहण की गई। तत्पश्चात इस भीषण समस्या की ओर ध्यान दिया गया। 1857 से 1947 के मध्य ज्यों-ज्यों अकाल पड़ने लगे, नये नये आयोगों की नियुक्ति होने लगी जिन्होंने समय समय पर अकाल के कारणों को ज्ञात करके सहायता के लिये सिफारिशें की, किन्तु इस समस्या का कोई स्थायी हल नहीं ढूंढा जा सका, क्योंकि अंग्रेजों को भारतीय जनता के प्रति कोई सद्भावना नहीं थी।

1860 में भयंकर अकाल पड़ा। किन्तु उत्तरी पश्चिमी प्रान्त के दक्षिण पूर्वी जिलों में थोड़ी बहुत वर्षा हो जाने से अकाल की भयंकरता में कमी आ गई। भारत की ब्रिटिश सरकार ने प्रथम बार कर्नल बेयर्ड स्मिथ की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग की नियुक्ति की। किन्तु दुर्भाग्य से बेयर्ड स्मिथ की रिपोर्ट के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सका। अतः अकाल आयोग की सिफारिशें कार्यान्वित नहीं हो सकी। 1866-77 में उड़ीसा और दक्षिण-पूर्वी समुद्र तट पर भयंकर अकाल पड़ा। इस अकाल से दस से बीस लाख तक लोग मौत के मुंह में चले गये। व्यापारियों ने अनाज का भण्डार करके स्थिति को और भी संकटमय बना दिया। सरकार ने समय पर अपना उत्तरदायित्व नहीं संभाला। उड़ीसा में पड़े इस अकाल के कारणों तथा उसका सामना करने के उपायों पर विचार करने के लिये केम्पबेल की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने अकाल का उत्तरदायित्व बंगाल सरकार पर डाला और कहा कि यदि सरकार समय पर उचित कदम उठाती तो लोगों को यह अकाल इतना कष्टदायक मालुम नहीं होता। आयोग ने सिफारिश की कि बंगाल सरकार को चाहिये कि वह समुचित रूप से कृषि आंकड़ों और भूराजस्व का स्थायी अध्ययन करे। आयोग ने यातायात एवं संचार के साधनों का विकास करने का भी सुझाव दिया। किन्तु सरकार ने खाद्यानों के निर्यात में कोई कमी नहीं की, जिसका परिणाम यह हुआ कि थोड़ी सी प्राकृतिक आपत्ति के समय भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। 1868-69 में उत्तर पश्चिमी प्रान्त, पंजाब और राजपूताना के कुछ भागों में अकाल पड़ा। सरकार ने इस दिशा में अधिक सजग रहने के आदेश जारी किये, फिर भी एक करोड़ दो लाख लोगों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।

1873 में पुन मानसून असफल हो जाने से बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। लार्ड नार्थब्रुक ने बर्मा से भारी मात्रा में चावल खरीदा तथा इस क्षेत्र में वितरित किया गया, जिससे अकाल का वेग और भयंकरता दोनों घट गई। यह प्रथम अवसर था, जबकि मनुष्यों को भूख से बचाया गया तथा अकाल का सफलतापूर्वक सामना किया गया। लेकिन वे केवल तात्कालिक उपाय थे, समस्या का स्थायी हल नहीं। फलस्वरूप जब 1876-77 में पुनः मानसून असफल हो गया तब फिर भीषण भकाल पड़ा। 1876 में इसका प्रकोप दक्षिण भारत में मद्रास, बम्बई, हैदराबाद और मैसूर तक ही सीमित रहा, किन्तु अगले वर्ष पुनः मानसून की असफलता के कारण इसने मध्य भारत एवं पंजाब के कुछ क्षेत्रों को भी अपनी चपेट में ले लिया। इतने विशाल क्षेत्र पर पूर्व अकाल का प्रकोप कभी नहीं हुआ था। लार्ड लिटन ने इस दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं किया। जब लाखों लोग अकाल के कारण भूखों मर रहे थे, तब लिटन ने एक शानदार दरबार का आयोजन किया।

इतना ही नहीं, उसने 79 लाख पौंड मूल्य का अनाज भी देश से निर्यात किया। परिणामस्वरूप केवल ब्रिटिश क्षेत्र में 50 लाख लोग अकाल की भेंट चढ़ गये। इससे लिटन की तीव्र आलोचना हुई। अतः लिटन ने सर रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग नियुक्त किया। स्ट्रेची आयोग ने 1880 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने मुख्य रूप से निम्न सुझाव दिये—

(1) अकाल के समय स्वस्थ व्यक्तियों को राहत कार्यों में नियुक्त किया जाय तथा उन्हें पेट भरने योग्य पारिश्रमिक दिया जाय। आयोग का अनुमान था कि 15 प्रतिशत किसान परिवार ऐसे कार्यों का लाभ उठाने को तैयार हो जायेंगे।

(2) विशेष परिस्थितियों में स्थानीय व्यापारियों को अनाज के वितरण का कार्य सौंपा जाय और उन पर करीब से नियंत्रण रखा जाय।

(3) अकालग्रस्त क्षेत्रों से भू-लगान स्थगित कर दिया जाय अथवा समाप्त कर दिया जाय तथा किसानों के लिए कर्ज की व्यवस्था की जाय जिससे कि किसान बैल तथा बीजों की व्यवस्था कर सके।

(4) सामान्य राजस्व में से 15 लाख पौंड का एक कोष तैयार किया जाय जो अकाल के समय लगान कम करने अथवा माफ करने के काम आ सके तथा अकालग्रस्त क्षेत्रों में नहरें खोदने एवं रेलें निकालने के काम आ सके।

(5) स्थानीय अकाल कोड का निर्माण किया जाय जो केन्द्र के नियंत्रण में हो।

इन सुझावों के आधार पर एक स्थायी कोष की स्थापना की गई। 1883 में अकाल कोड का निर्माण किया गया। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है, "अकाल नीति पर ठोस विचार प्रस्तुत करने के लिए लार्ड लिटन प्रशंसा का पात्र है। अकाल प्रशासन की सम्पूर्ण वर्तमान व्यवस्था उसके विचारों की आधार शिला पर खड़ी है।" लेकिन स्मिथ के इस कथन में कोई सत्यता प्रतीत नहीं होती। आयोग ने अकाल-ग्रस्त क्षेत्रों से भू-राजस्व स्थगित करने की सिफारिश की थी, लेकिन इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं किया गया, यद्यपि स्थायी कोष की स्थापना की गई, लेकिन इसका रुपया अधिकांशतः रेलों के निर्माण पर तथा सिंचाई के साधनों के विस्तार पर खर्च किया गया। सिंचाई योजनाओं का विस्तार अधिकांशतः पंजाब में हुआ, जहां रुई के उत्पादन के योग्य भूमि थी। 1883 में अकाल कोड का निर्माण किया गया, लेकिन जब 1899-1901 में इस अकाल कोड के औचित्य की जांच का अवसर आया, उस समय यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों का दृष्टिकोण मानवीय न होकर प्रशासनिक अथवा वित्तीय अधिक था। अतः समस्या का स्थायी समाधान संभव नहीं हुआ। 1895 में वर्षा कुछ कम हुई तथा 1896 में बिल्कुल नहीं हुई। फलस्वरूप संयुक्त एवं मध्य प्रान्तों, बरार, बंगाल, बम्बई तथा मद्रास के कुछ जिलों

में और राजपूताना उत्तरी वर्मा में अकाल के दानव ने अपना नग्न ताण्डव प्रारम्भ कर दिया। इस अकाल की भयंकरता के लिए अकाल कोड अपर्याप्त सिद्ध हुए। अतः लार्ड एल्गिन ने सर जेम्स लायल की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने 1880 के आयोग के सुझावों के आधार पर ही अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस अकाल के समय भी भू-लगान की कमी करने की दिशा में कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये।

1896 के अकाल के चिन्ह अभी मिट ही नहीं पाये थे कि 1899 में भयंकर सूखा पड़ गया। कहा जाता है कि ऐसा भयंकर सूखा पिछले 200 वर्षों में कभी नहीं पड़ा। पंजाब, राजपूताना, बड़ौदा, बम्बई, मध्य प्रान्त, बरार, हैदराबाद और गुजरात इससे प्रभावित थे। केवल ब्रिटिश क्षेत्र में 10 लाख व्यक्ति अकाल की भेंट चढ़ गये तथा 50 लाख पौंड की फसल नष्ट हो गयी और देशी रियासतों में 30 लाख पौंड की क्षति हुई। लार्ड कर्जन ने सर एन्थोनी मेकडोनल्ड की अध्यक्षता में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस आयोग ने भी भू-लगान शीघ्र स्थगित करने, ग्राम-स्तर पर सार्वजनिक निर्माण कार्य करने, सिंचाई से साधनों का विकास करने, रेल यातायात का विस्तार करने तथा ग्रामीण साख संस्थाओं एवं कृषि बैंकों का गठन करने का सुझाव दिया। इस आयोग के सुझावों के आधार पर अकाल कोड को संशोधित किया गया। भू-लगान के सम्बन्ध में केवल 12½ लाख रुपयों का लगान माफ किया गया, जबकि अकाल की चपेट में आने वाले लोगों की संख्या लगभग 6 करोड़ थी। अकाल राहत कार्यों पर निर्भर रहने वाले लोगों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। 1880 में राहत कार्यों पर निर्भर रहने वाले लोगों की संख्या 15 प्रतिशत थी, जबकि 1899–1900 में कुछ क्षेत्रों में यह संख्या 44 प्रतिशत बढ़ गई। व्यापारियों के पास खाद्यान्न का पर्याप्त भण्डार था, लेकिन लोगों के पास उसे खरीदने के लिये धन नहीं था। इस अकाल के भयंकर परिणामों को देखते हुए किसानों ने खाद्यान्न की खेती करना आरम्भ किया। इससे नील और अफीम की खेती में कमी आ गई। केवल रुई और पटसन पर ही अधिक ध्यान दिया गया, जिनका भारत से निर्यात होता था।

1907-8 में पुनः अकाल पड़ा। इस समय तक भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन प्रबल वेग से चल पड़ा था। अतः सरकार ने अकाल राहत के लिये तुरन्त कार्यवाही की और अकाल को उत्तर प्रदेश तक ही सीमित कर दिया। सरकार ने किसानों को ऋण दिया तथा भू लगान भी स्थगित कर दिया। इसके बाद प्रथम विश्व युद्ध के मध्य 1918 में पुनः मानसून की असफलता के कारण अकाल पड़ा। इस समय 19 प्रतिशत वर्षा कम हुई और इसके साथ ही फ्लू का प्रभाव भी बढ़ गया। सरकार ने तुरन्त सहायता कार्यों को कार्यान्वित किया। लेकिन सरकार के समस्त प्रयास बढ़ते हुए जन आन्दोलन से विवश होकर किये गये थे, अतः अंग्रेजों

ने हृदय से और मानवीय दृष्टिकोण से इस समस्या को कभी देखने का प्रयास नहीं किया। कृषि बैंकों तथा सहकारी बैंकों की स्थापना तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही संभव हो सकी।

रेल निर्माण कार्य

विश्व के विभिन्न देशों की आर्थिक प्रगति में रेलों का भारी योगदान था। यातायात की सुविधा के बिना भारी वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना तथा बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं का व्यापार संभव नहीं था। यद्यपि विश्व में प्रथम रेल मार्ग 1830 में खुल गया था, लेकिन भारत में 1848 के पूर्व अंग्रेज प्रशासकों ने रेल निर्माण की योजना में रुचि नहीं ली। लार्ड डलहौजी को भारत में रेल निर्माण का श्रेय दिया जाता है। डलहौजी के बाद के गवर्नर जनरलों ने भी रेल लाइनों का विकास किया, किन्तु भारत में रेल निर्माण का विकास होने के बावजूद इतना आर्थिक विकास नहीं हो सका जितना जापान, जर्मनी, कनाड़ा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में रेलों के निर्माण के पश्चात हुआ था। इसके लिये अंग्रेजी रेल नीति मुख्य रूप से उत्तरदायी थी।

सर्वप्रथम लार्ड हार्डिंग ने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये, सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने तथा उपद्रवों को दबाने के लिये रेलों का महत्व स्पष्ट करते हुए कम्पनी के संचालकों को भारत में रेल निर्माण को प्रोत्साहन देनें हेतु लिखा था। रेलों के निर्माण से भारत से कच्चे माल का निर्यात बढ़ सकता था तथा इंगलैण्ड में उत्पादित माल को बड़ी मात्रा में भारत भेजा जा सकता था। इस प्रकार रेलों का निर्माण, भारत की अर्थव्यवस्था को इंगलैंड की अर्थव्यवस्था के अधीन बनाये रखने का प्रयास मात्र था। लार्ड डलहौजी द्वारा किये गये रेल निर्माण कार्य का उल्लेख नवें अध्याय में किया जा चुका है। लेकिन डलहौजी का रेल निर्माण कार्य एक विशेष पद्धति पर आधारित था, जिसे गारण्टी पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत ब्रिटिश निजी कम्पनियों को सरकारी देखरेख में रेल निर्माण का कार्य सौंपा गया। इन कम्पनियों को मुफ्त भूमि दी गई तथा उनकी पूंजी पर ब्याज और 4½ से 5 प्रतिशत लाभ की गारण्टी दी गई। यदि कभी निर्धारित लाभ से कम लाभ होता था तो सरकार की ओर से वह राशि पूरी की जाती थी और यदि किसी वर्ष निर्धारित प्रतिशत से अधिक लाभ होता था तो आधा अतिरिक्त लाभ सरकार को उस राशि को पूरा करने हेतु दिया जायेगा जो लाभ न होने के वर्षों में सरकार द्वारा कम्पनियों को दिया गया था। सरकार को 25-30 वर्ष पश्चात रेलों को खरीदने का अधिकार दिया गया।

इस गारण्टी पद्धति के पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं। इसके पक्ष में मुख्य बात यह कही जाती है कि इस पद्धति द्वारा बिना कम्पनी के कोष पर बोझ पड़े रेल निर्माण का कार्य चालू हो गया। यह भी कहा जाता है कि उस समय

भारतीय पूंजी विनियोग के लिये उपलब्ध नहीं थी और ब्रिटिश पूंजी का विनियोग भारत में तब तक संभव नहीं था जब तक कि पूंजी विनियोग करने वालों को उनकी पूंजी की गारण्टी नहीं दे दी जाती। लेकिन इस तर्क में कोई सत्यता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि अमेरीका, कनाड़ा, आस्ट्रेलिया तथा यूरोप के अन्य देशों में अंग्रेज उद्योगपति बिना गारण्टी के पूंजी विनियोग कर रहे थे, फिर अंग्रेजी साम्राज्य में अंग्रेजों को ही पूंजी विनियोग के लिये गारण्टी की क्या आवश्यकता थी। वास्तविकता यह थी कि उस समय इंगलैंड में अतिरिक्त पूंजी बहुत थी और अंग्रेज पूंजीपति विभिन्न देशों में विनियोग का अवसर ढूंढ रहे थे। इस पद्धति द्वारा उन्हें लाभ कमाने का स्वर्ण अवसर मिल गया। फिर गारण्टी मिल जाने पर पूंजी विनियोग करने वालों को किफायत से काम करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि समस्त रेल निर्माण योजना लाभ से सम्बंधित नहीं थी। समस्त पूंजी पर लाभ गारण्टी किये हुए था। यह तथ्य इस बात से भी प्रकट होता है कि भारत में रेल निर्माण पर औसत खर्च 20 से 30 हजार पौंड प्रति मील आ रहा था, जबकि इंगलैंड में यह केवल 9,000 पौंड था। इसके अतिरिक्त छोटे से छोटा पुर्जा भी इंगलैंड से आयात किया जाता था। अतः रेल निर्माण योजना भारत से धन निष्कासन का एक सहायक कारण बनी। रेलों में लगाई गई पूंजी तथा व्याज भारत को लौटाना पड़ रहा था, फिर भी रेलों की पूंजी राष्ट्रीय सम्पत्ति में शामिल नहीं हो पायी। अंग्रेज लेखकों ने भारत में रेलों का लाभ बताते हुए कहा है कि इससे भारत का निर्यात व्यापार बढ़ा, भारतीयों को नौकरी के अवसर उपलब्ध हुए और अकाल के समय वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में सुविधा हुई। लेकिन निर्यात व्यापार बढ़ने से लाभ केवल अंग्रेजों को हुआ, भारतीयों को नहीं। भारतीयों को नौकरी के अवसर अवश्य उपलब्ध हुए, लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम थी। फिर हमें यह आंकड़े अभी उपलब्ध नहीं हो पाये हैं कि भारतीयों को किस वेतन पर नौकरी पर लिया जाता था। अंग्रेजों की प्रजातीय विभेद की नीति को देखते हुए इस प्रश्न का उत्तर भी सरलता से दिया जा सकता है। ब्रिटिश कम्पनियों ने रेल निर्माण में मितव्ययता से काम नहीं किया, अतः कम्पनियों को घाटा रहा जिसे भारतीय राजस्व से पूरा किया गया।

1869 में इस गारण्टी पद्धति को त्याग कर अंग्रेज सरकार ने स्वयं पूंजी उधार लेकर रेल निर्माण की नीति अपनाई। इस नीति के अन्तर्गत राजपूताना, उत्तरी पंजाब और उत्तरी बंगाल में रेल लाइनें खोली गईं। किन्तु 1876-77 के अकाल के कारण तथा द्वितीय अफगान युद्ध के कारण भारत की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। अतः इस नीति का परित्याग कर पुनः पहले की अपेक्षा अधिक उदार शर्तों पर गारण्टी पद्धति अपनाई गई। अंग्रेजी सरकार ने देशी रियासतों को अपने राज्य में रेल निर्माण के लिये प्रोत्साहित किया। अतः विभिन्न रियासतों की रेल

लाइनें स्थापित हुईं। 1905 में रेलों के सुप्रबन्ध के लिये रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई। 1908 में एक मेके समिति नियुक्त की गई जिसने रेलों के विस्तार की एक विशाल योजना तैयार की, किन्तु विश्व युद्ध के कारण योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी। 1921 में एक्वर्थ कमीशन ने रेलों के विकास की अन्य योजना बनाई तथा रेल कम्पनियों के प्रबन्ध के लिये सुझाव दिये। किन्तु सरकार ने इस कमीशन के सुझावों को अस्वीकार कर दिया। रेल कम्पनियाँ प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपया लाभ के रूप में इंगलैंड ले जाती थी, किन्तु व्यापारियों, उत्पादकों और यात्रियों की सुविधा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। अतः इसके विरुद्ध जन आन्दोलन हुआ। विवश होकर सरकार ने अनेक रेलों को अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया। 1925 में ईस्ट इंडिया रेलवे और जी. आई. पी., 1929 में ब्रह्मा रेलवे, 1930 में सदर्न पंजाब रेलवे तथा 1942 में बी. बी. एण्ड सी. आई. रेलवे सरकार ने अपने हाथ में ले ली। इसके बाद रेलों के प्रबन्ध व संलाचन में परिवर्तन हुए और यात्रियों की सुख सुविधाओं की ओर कुछ ध्यान दिया गया।

यातायात के अन्य साधन

किसी देश के आर्थिक जीवन में यातायात के साधनों का विशेष महत्व रहता है। लार्ड विलियम बैंटिक के समय तक अंग्रेज़ी सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वप्रथम बैंटिक के काल में कलकत्ता और उत्तरी प्रान्तों को जोड़ने वाली सड़क के सम्बन्ध में योजना तैयार की गई जिसे डलहौजी के काल में कार्यान्वित किया गया। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्रत्येक प्रान्त में एक सैनिक समिति सड़क निर्माण का कार्य करती थी। डलहौजी ने सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना करके सड़क निर्माण का कार्य उसे सौंप दिया। 1929 में स्टैंडिंग कमेटी ऑफ रोड्स की स्थापना हुई तथा सड़कों के निर्माण के लिए 'सड़क कोष' स्थापित किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध में सड़कों का महत्व स्पष्ट हो गया। अतः दिसम्बर 1943 में नागपुर में विविध प्रान्तों के चीफ इन्जीनियर्स की एक सभा हुई जिसमें सड़कों के निर्माण के लिए पंचवर्षीय योजना बनाई गई जो अप्रैल 1947 में कार्यान्वित करदी गई। फलतः बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में सड़कों का विस्तार हुआ। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में केवल उन्हीं स्थानों को सड़कों से सम्बन्धित किया गया, जो या तो ब्रिटिश आर्थिक हितों की पूर्ति में सहायक होते थे या सामरिक दृटि से ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक थे।

यातायात एवं आर्थिक विकास की दृष्टि से डाक, तार और टेलीफोन का भी अपना महत्व है। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में डाक एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल हरकारों द्वारा अथवा यत्र-तत्र घोड़ा गाड़ियों द्वारा भेजने की व्यवस्था थी। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डाकखानों की संख्या बहुत ही कम थी। लार्ड डलहौजी ने डाक व तार विभाग को पुनर्गठित किया जिसका उल्लेख

नवें अध्याय में किया जा चुका है। 20 वीं शताब्दी के आरम्भ में डाकघरों की संख्या तथा तार लाइनों की लम्बाई में खूब वृद्धि हुई। 1912 तक डायरेक्टर जनरल ऑफ टेलीग्राफ के अधीन तार विभाग एक अलग विभाग था, जो भारत सरकार के व्यापार व उद्योग विभाग के अन्तर्गत था। किन्तु 1914 में डाक व तार विभाग सम्मिलित कर दिये गये।

भारत के आर्थिक जीवन में टेलीफोन ने बहुत लम्बे समय के बाद प्रवेश किया। किन्तु भारत की टेलीफोन व्यवस्था पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक खर्चीली रही। अतः इसका प्रयोग धनिकों, व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा सरकारी विभागों तक सीमित रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद टेलीफोन का उपयोग अधिक बढ़ गया, अतः टेलीफोन का प्रसार द्रुत गति से हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध तक वायुयानों का प्रयोग केवल युद्धों तक ही सीमित था, किन्तु इस युद्ध के बाद वायुयानों का उपयोग असैनिक कार्यों के लिए भी होने लगा। इसके लिए सिविल एवियेशन डिपार्टमेन्ट की स्थापना की गई तथा वायुयान चलाने से सम्बन्धित कार्यों का प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। वायुयान यातायात का विस्तार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही अधिक हुआ।

रेलों के विस्तार के पूर्व भारत में नदियाँ यातायात का साधन थीं। सिन्धु नदी में समुद्र से लेकर अटक तक नावें चलती थी, चिनाव में वजीराबाद तक, सतलज में लुधियाना तक, गंगा में कानपुर तक और यमुना में आगरा तक नावें चलती थी। किन्तु आगे चलकर ये नदियां नौ-परिवहन के योग्य नहीं रही, क्योंकि अंग्रेजों ने जल यातायात को उन्नत करने का कोई प्रयास नहीं किया। रेल विस्तार ने भी जल यातायात को क्षति पहुंचाई। कलकत्ता और इलाहाबाद के बीच यात्री और माल ढोने के लिए स्टीमरों की व्यवस्था की गई। फिर भी दक्षिण भारत की कुछ नदियों तथा बंगाल में बहुत सा माल आज भी देश के आन्तरिक भागों से आता जाता है।

अंग्रेजों ने निर्यात को बढ़ावा देने तथा इंगलैंड में उत्पादित माल को भारत के बाजारों में भरने के लिए अनेक नये बन्दरगाहों को रेलों द्वारा सम्बन्धित कर दिया गया।

मुद्रा व्यवस्था तथा बैंक

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में विनिमय प्रायः वस्तुओं के आदान-प्रदान से होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय भी कुछ समय तक भूमि का लगान प्रायः अनाज के माध्यम से ही चुकाया जाता रहा। किन्तु शीघ्र ही अंग्रेजों द्वारा मुद्रा के माध्यम से भुगतान की प्रथा लागू कर दी गई। इस प्रथा से आरम्भ में किसानों को असुविधा और हानि का सामना करना पड़ा, क्योंकि उन्हें अपनी उपज सस्ते भाव में बेचनी पड़ती थी और लगान चुकाना पड़ता था। किन्तु इस मुद्रा व्यवस्था के

कारण देश में विनिमय बड़ा आसान हो गया। मुद्रा के माध्यम से लेन-देन करने में सुविधा प्राप्त हुई।

देश के आर्थिक जीवन में बैंकों का सदैव महत्व रहा है। आरम्भ में यहां साहूकार वर्ग बैंकों का कार्य करता था। यह साहूकार वर्ग विभिन्न प्रकार का व्यापार करते थे, उत्पादन का कार्य करते थे तथा ऋण देने का काम भी करते थे। प्रमुख व्यापारिक नगरों और मंडियों में इनकी आढ़त होती थी जिनके द्वारा वे अपना वाणिज्य व्यवसाय करते थे। ये देश के विभिन्न भागों में हुण्डिओं द्वारा रुपयों का भुगतान करते थे। 18 वीं शताब्दी में तो स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी अपने ऋण व रुपयों का भुगतान करने हेतु देशी साहूकारों का आश्रय लेती रही। भारत में आधुनिक बैंक व्यवस्था का प्रादुर्भाव 18 वीं शताब्दी में बम्बई और कलकत्ता में विद्यमान अंग्रेज एजेन्सियों के बैंकों से हुआ। ये बैंक अपने नोट प्रचलित करते थे और कम्पनी के व्यापार में सहायता करते थे। इसके बाद प्रेसीडेन्सी बैंक स्थापित हुए। सर्वप्रथम कलकत्ता में 1806 में बैंक ऑफ बंगाल स्थापित हुआ, 1840 में बैंक ऑफ बाम्बे तथा 1843 में बैंक ऑफ मद्रास स्थापित हुए। 1862 के पूर्व तक ये बैंक ईस्ट इण्डिआ कम्पनी को ऋण देते थे और अंग्रेज व्यापारियों को आर्थिक सहायता देने के साथ नोट भी चलाते थे। किन्तु 1862 में ये नोट चलाने के अधिकार से वंचित कर दिये गये, पर प्रान्तों के विभिन्न नगरों में इन्हें सरकारी खजाने का कार्य सौंपा गया। आगे चलकर 1921 में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई। 1836 से एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का विचार चल रहा था। 1913 में चेम्बरलेन कमीशन और बाद में हिल्टन यंग कमीशन ने इस पर गम्भीरता से विचार कर एक विशिष्ट केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिया। फलस्वरूप 1924 में भारत की व्यवस्थापिका सभा ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट स्वीकृत किया, जिसके अनुसार भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बैंकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन काल में भारत के आर्थिक जीवन में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। किन्तु अंग्रेजों का प्रमुख लक्ष्य भारत का औपनिवेशिक शोषण था। अतः भारत के आर्थिक ढांचे में इस प्रकार परिवर्तन किये गये कि वह इंगलैंड की अर्थ-व्यवस्था का पोषण करता रहे। किन्तु अंग्रेजों के इन प्रयत्नों से अप्रत्यक्ष रूप से भारत के आधुनिकीकरण का श्री गणेश हो गया, यद्यपि अंग्रेजों का यह लक्ष्य नहीं था।

अध्याय 14

राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्भव एवम् विकास

प्रत्येक देश में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना उन अनेक शक्तियों के पारस्परिक एवं सामूहिक प्रभाव का परिणाम होता है जो दीर्घकाल से उस देश में कार्यरत होती है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की अग्रणी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी, जिसका जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि उस असीमित आर्थिक तथा राजनीतिक असंतोष की व्यापक अभिव्यक्ति थी, जो ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी नीतियों के कारण भारतीयों में उत्पन्न हो रहा था। अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में एक नये शिक्षित मध्यम वर्ग का विकास हो चुका था। इस मध्यम वर्ग में कुछ लोग ऐसे थे जो सरकारी नौकरी प्राप्त करने के इच्छुक थे और कुछ अपना स्वतन्त्र व्यवसाय—जैसे वकालत, पत्रकारिता आदि अपनाने के इच्छुक थे। इस मध्यम वर्ग में दो प्रकार की विचारधारा के लोग थे—एक वर्ग तो ब्रिटिश सरकार का गुणगान करता रहता था तथा इंगलैण्ड में प्रचलित प्रजातंत्र का उदाहरण देकर भारत में भी उसी प्रकार की सुविधाएं चाहता था। वह अंग्रेजों के प्रति निष्ठा रखता था और अंग्रेजों की प्रशासकीय नीतियों से असन्तुष्ट होते हुए भी ब्रिटिश शासन के किसी अन्य विकल्प की कल्पना नहीं कर सकता था। वह अत्यन्त ही विनम्र भाव से अंग्रेजों को अपनी नीतियों में परिवर्तन करने का अनुरोध करता रहता था। दूसरा वर्ग अंग्रेजी सरकार की कृपा का आकांक्षी नहीं था तथा अपने व्यक्तिगत अधिकारों को प्राप्त करने के लिये सरकारी कृपा को आवश्यक नहीं मानता था। वह प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों में आस्था रखता था।

अंग्रेजों ने रंग एवं जाति का भेद किये बिना भारतीयों को सरकारी सेवा में लेने का बार-बार आश्वासन दिया था, किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसे प्रबन्ध किये

कि भारतीयों के लिये सरकारी सेवाओं के द्वार बिल्कुल बन्द थे। अतः 1870 के बाद शिक्षित वर्ग में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई और उन्होंने कुछ प्रशासकीय सुविधाओं तथा प्रशासन से संबद्ध होने हेतु मांग की। यह मांग किसी एक प्रान्त, विशिष्ट क्षेत्र, जाति अथवा गुट विशेष तक सीमित नहीं थी बल्कि यह मांग अखिल भारतीय थी। इस अखिल भारतीय राजनीतिक जागरण के अनेक कारण थे, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित थे—

(1) **भारत का राजनीतिक एकीकरण**—1707 के बाद भारत की राजनीतिक एकता का लोप हो चुका था। किन्तु अंग्रेजों ने सम्पूर्ण देश को एक दृढ़ केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत लाकर भारत में राजनीतिक एकता स्थापित की। इससे भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का अंकुरण हुआ और शनैः शनैः समान विचारों वाले व्यक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना हुई। ब्रिटिश शासन काल में जिस राजनीतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ वह उस राजनीतिक एकता से सर्वत्र भिन्न थी जो प्राचीन तथा मध्यकालीन शासकों द्वारा स्थापित हुई थी। इस एकता को महत्वपूर्ण बनाने का श्रेय पाश्चात्य शिक्षा, यातायात का विकास, साम्राज्यवादी दरबारों के आयोजनों और संचार साधनों के विकास को है। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कह दिया है कि, "कम्पनी के शासन काल के कारण ही उस नींव की स्थापना हुई जिसके कारण भारत में वैधानिक विकास और राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, अन्यथा वह भारत में एक कल्पना ही बनी रहती।" ब्रिटिश शासन के अंतर्गत विभिन्न भाषा-भाषी, धार्मिक तथा सामाजिक दल, एक दल में सम्मिलित हुए और उनमें राजनीतिक एकता की भावना जागृत हुई, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

(2) **धर्म सुधार आन्दोलन**—19 वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवाद की प्रबल धारा को उस युग के सुधार आन्दोलनों ने अपूर्व बल प्रदान किया। सदियों तक विदेशी पराधीनता के बाहुपाश में बंधे रहने के कारण भारतीय जन समूह अपने सांस्कृतिक वैभव को भूल चुका था। भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही ईसाई धर्म का प्रचार भी बड़ी तेजी से होने लगा, जिससे हिन्दू धर्म का विनाश होने लगा। पढ़े-लिखे भारतीयों में ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और वे ईसाई धर्म स्वीकार करने लगे। इस प्रक्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में भारत में विभिन्न धर्म सुधार आंदोलन हुए। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना करके ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होने की भावना को कम किया। राजा राममोहन राय ने जो कार्य किया वह केवल बंगाल में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रहा, किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज ने यह आन्दोलन जन साधारण तक पहुंचा दिया। स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को नया स्वरूप प्रदान किया तथा वेदों की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया। वे एक महान

देशभक्त थे, जिन्होंने कहा था, "विदेशी राज्य चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य की तुलना में कभी अच्छा नहीं हो सकता।" स्वामीजी प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा था, 'भारत भारतीयों के लिए है।' दक्षिण भारत में थियोसॉफिकल सोसाइटी ने लोगों को जागृत किया। भारत में इस आन्दोलन को व्यापक बनाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेंट को है, जिसने राष्ट्रीय चेतना की प्रबल धारा को आगे बढ़ाया। स्वामी विवेकानन्द ने समस्त विश्व में हिन्दू धर्म और आध्यात्मवाद की श्रेष्ठता को स्थापित किया। उन्होंने कहा कि वेदान्त और आध्यात्मिकता के बल से समस्त विश्व पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की जा सकती है, किन्तु जब तक भारत दासता व दीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, वह इस महत्वपूर्ण भूमिका को नहीं निभा सकता। महाराष्ट्र में सामाजिक ढांचा व्यवस्थित था, अतः वहां पर बंगाल की भांति ईसाई धर्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ। महाराष्ट्र में सरदार गोपाल हरि देशमुख तथा ज्योतिबा फुले जैसे सुधारकों ने हिन्दू समाज के दलित वर्गों के उत्थान के लिये ब्रिटिश साम्राज्य को आवश्यक बताया, किन्तु विष्णुकृष्ण चिफलंकर तथा वसुदेव फड़के जैसे सुधारकों ने सामाजिक बुराइयों की अपेक्षा विदेशी नियन्त्रण को अधिक आपत्तिजनक बताया। इस प्रकार इन धर्म सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों में आत्म विश्वास तथा अपनी प्राचीन गौरवमय परम्पराओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की, जिससे देश में राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ।

(3) **पाश्चात्य शिक्षा का विकास**—भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास में पाश्चात्य शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। लार्ड मेकाले ने जिस शिक्षा पद्धति को प्रचलित किया उसके पीछे उद्देश्य तो यह था कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भारतीयों के हृदय में ब्रिटिश शासन के प्रति अनुरक्ति का भाव उत्पन्न हो जायेगा, किन्तु इससे भारतीयों को लाभ अधिक हुआ। अंग्रेजी साहित्य स्वतन्त्रता की भावनाओं से परिपूर्ण था, अतः उसने भारतीयों के लिये स्वतन्त्र यूरोपीय विचारों के द्वार खोल दिये। पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को दो तरीकों से बल पहुंचाया। प्रथम तो इसके द्वारा हमें एक सम्पर्क भाषा प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप विविध प्रदेशों के निवासियों में पारस्परिक विचार विनिमय के लिए अवसर प्राप्त हो सका। इसके पूर्व ऐसी कोई भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से सम्पर्क स्थापित हो सके। दूसरा यह कि मिल, मिल्टन, बैन्थम, रूसो, वाल्टेयर आदि यूरोपीय लेखकों के स्वतन्त्र विचारों से भारतीय परिचित हुए और उनके विचारों का भारतीय बुद्धिजीवियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीयों में स्वतन्त्रता और समानता की भावना उत्पन्न हुई। इस शिक्षा के प्रसार से विभिन्न देशों की राजनीतिक घटनाओं का ज्ञान सरलता से उपलब्ध होने लगा। इटली में हुए विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्षों का वर्णन तथा स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धांतों

को लेकर हुई फ्रांस की क्रान्तियों का ज्ञान भारतीयों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। विश्व में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त होने से भारतीय नेताओं का दृष्टिकोण विकसित हुआ। उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु जो भारतीय इंगलैण्ड गये, वे वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनमें वहां की प्रजातान्त्रिक संस्थाओं के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। जब वे पुनः भारत आये तो उन्हें यहां भिन्न वातावरण मिला और दोनों देशों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनके मन में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हुआ। इस असन्तोष ने राष्ट्रीय भावनाओं को वल प्रदान किया। इस प्रकार पाश्चात्य शिक्षा हमारे लिए वरदान सिद्ध हुई। पाश्चात्य शिक्षा के प्रतिपादन में अंग्रेजों का ध्येय भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ें मजबूत करना था, किन्तु वाद में वह अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें खोदने में सहायक हुई।

(4) **प्रजातीय विभेद की नीति**—विप्लव के वाद अंग्रेजों की प्रजातीय विभेद की नीति अधिक उग्र हो गयी थी। यद्यपि 1858 में महारानी की घोषणा में भारतीयों को यह आश्वासन दिया गया था कि उन्हें, उनकी योग्यता के अनुसार सरकारी नौकरियों में स्थान दिया जायेगा, किन्तु ब्रिटिश प्रशासकों ने इस घोषणा पर कभी अमल नहीं किया। वस्तुतः विप्लव के वाद तो अंग्रेजों की भारतीयों के साथ पिछली सहानुभूति, घृणा की भावना में वदल गई थी। प्रशासकीय क्षेत्र में भारतीयों को उच्च पदों से वंचित करने, उन्हें अयोग्य घोषित करने तथा उनके प्रति रंगभेद की नीति पर अब अधिक वल दिया जाने लगा। 1869 में श्री सुरेन्द्र नाथ वनर्जी ने इण्डियन सिविल सर्विसेज की परीक्षा उत्तीर्ण की, किन्तु किसी तकनीकी भूल के कारण उन्हें नौकरी में नहीं लिया गया। अतः श्री वनर्जी ने 'क्वीन्स वेंच' लन्दन में अपील की, जिसका निर्णय होने पर उन्हें मजिस्ट्रेट के पद पर लिया गया, किन्तु दो वर्ष वाद ही उन पर झूठे आक्षेप लगाकर उन्हें नौकरी से अलग कर दिया। इस घटना के सम्वन्ध में स्वयं श्री वनर्जी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है, "मेरे मामले ने भारतीयों के हृदय में भारी क्षोभ उत्पन्न कर दिया, उनमें यह विचार फैल गया कि यदि मैं भारतीय न होता तो मुझे इतनी कठिनाइयां उठानी नहीं पड़ती।"

किसी भी भारतीय जज को अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं था। एक ही अपराध के लिये भारतीयों व अंग्रेजों के लिए दण्ड विधान में भी अन्तर था। अंग्रेजों के निवास स्थान भारतीयों के निवास-स्थानों से विल्कुल अलग थे। वे भारतीयों के साथ वड़ा ही अशिष्ट व्यवहार करते थे तथा उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। इतिहासकार गैरट ने लिखा है कि अंग्रेज भारत में यह भावना लेकर आने लगे कि यूरोपियनों का जीवन कितने ही भारतीयों के जीवन के वरावर है। भारतीय केवल भय को ही समझते हैं, अतः यदि उन पर शासन करना है तो

केवल बल द्वारा ही हो सकता है। अंग्रेजों का कार्य भारत में आकर अपने त्याग के फलों का स्वाद लेना है। इसी भावना को लेकर अंग्रेजों ने भारतीयों से अपने जूतों के फीते खुलवाये, उन्हें अकारण ही मौत के मुंह में धकेला और अंग्रेज सिपाहियों द्वारा भारतीय नारियों का सतीत्व नष्ट करवाया। ऐसे वातावरण में अंग्रेजों के विरुद्ध ज्वालामुखी का विस्फोट होना स्वाभाविक ही था। गैरट ने भी स्वीकार किया है कि, "भारतीय राष्ट्रीयता के उदय का प्रधान कारण प्रजातीय विभेद था।"

(5) राजनीतिक संस्थाओं का योगदान—भारतीय राष्ट्रीय चेतना में अंग्रेजों द्वारा गठित संस्थाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा। बंगाल में अंग्रेज व्यापारियों, उत्पादकों आदि द्वारा गठित संस्थाओं का सरकार पर दबाव बना रहता था। अतः 1838 में बंगाल के जमींदारों ने एक 'भूमिधारकों की समीति' (Landholder's Society) बनाई जिसने कर मुक्त भूमि को सरकार द्वारा ग्रहण किये जाने का विरोध किया और कुछ अंशों तक उसे सफलता भी प्राप्त हुई। तत्पश्चात् अनेक संस्थाएं बनी जो राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने हेतु सरकार को ज्ञापन देती रहती थी। 1851 में कलकत्ता में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई। 1852 में बम्बई एसोसिएशन तथा मद्रास नेटिव एसोसिएशन की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने अपने-अपने प्रान्तों की राजनीतिक गतिविधियों में भाग लिया। इनमें ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन अधिक सक्रिय रही। इस संस्था ने अधिक नम्र भाषा में अपने सुझाव विभिन्न स्मरण-पत्रों के माध्यम से सरकार के समक्ष पेश किये। किन्तु 1870 तक यह संस्था प्रायः निष्क्रिय हो गयी। 1876 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व आनन्दमोहन बोस ने 'द इण्डियन एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। इसी प्रकार 1861 में अवध में तथा 1866 में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना हुई।

1870 में बम्बई प्रान्त के पूना नगर में एक सार्वजनिक सभा का गठन किया गया, जिसका प्रत्येक सदस्य कम से कम 50 व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता था। पश्चिमी भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में इस संस्था ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1876 में महारानी विक्टोरिया द्वारा 'केसरे हिन्द' की उपाधि ग्रहण करने के अवसर पर महारानी को बधाई सन्देश भेजा जिसमें भारतीयों को प्रशासन से सम्बद्ध करने तथा उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करने की मांग की। 1876 में लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर इसने भारतीय नेताओं को राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्न करने का सुझाव दिया। इंगलैण्ड में भी भारतीय समस्याओं से परिचित कराने तथा राजनीतिक अधिकारों की माग के लिए प्रचार करने हेतु लंदन में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना हुई।

(6) **समाचार पत्रों तथा साहित्य का विकास**—समाचार पत्रों एवं साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहित किया। भारत में सबसे पहला समाचार पत्र 1780 में 'बंगाल गजट' प्रकाशित हुआ, जो साप्ताहिक था। इसके बाद 'कलकत्ता गजट' और 'द इण्डियन वर्ड' आदि आरम्भ हुए। किन्तु विप्लव के पूर्व समाचार पत्रों की संख्या कम थी और उनका कोई विशेष महत्व भी नहीं था। विप्लव के बाद समाचार पत्रों की संख्या, प्रसार और प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि हुई। इन समाचार पत्रों के माध्यम से राजनीतिक अधिकारों की बात जनता तक फैलायी जा सकी। इण्डियन मिरर, बम्बई समाचार, अमृत बाजार पत्रिका, दि हिन्दू, दि केसरी आदि समाचार पत्रों का प्रभाव बहुत ही महत्वपूर्ण था। 1877 में देशी भाषाओं में छपने वाले समाचार पत्रों की संख्या लगभग 169 थी। इनमें सरकारी नीति की आलोचना बड़ी तीव्र होती थी। अतः सरकार का दृष्टिकोण इन समाचार पत्रों के प्रति कठोर होता गया। क्योंकि वास्तव में ये समाचार पत्र सामान्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देने का काम कर रहे थे। इन समाचार पत्रों में अंग्रेजी प्रशासन की अन्यायपूर्ण नीतियां, प्रजातीय विभेद, आर्थिक शोषण और प्रशासकीय सेवाओं से भारतीयों को वंचित रखने सम्बन्धी विषयों पर पर्याप्त चर्चा होती थी। अंग्रेजी साम्राज्य पर अपना मत व्यक्त करते हुए देशी भाषा के समाचार पत्रों ने लिखा था कि अंग्रेजी साम्राज्य भारतीय जनता को नैतिक, आर्थिक और मानसिक पतन की ओर ले जा रहा है। लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति का तो इन समाचार पत्रों ने खुलकर विरोध किया। ब्रिटिश प्रशासक आलोचना सुनने के अभ्यस्त नहीं थे, अतः लिटन ने 1878 में वर्नाक्यूलर एक्ट पास कर उन समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस एक्ट का विरोध वैधानिक ढंग से किया गया, जैसे ग्राम सभाएं आयोजित करना, सरकार को ज्ञापन देना तथा इंगलैण्ड के संसद सदस्यों को प्रभावित करना आदि। अतः 1882 में लार्ड रिपन ने इस एक्ट को रद्द कर दिया। 1878 के बाद भारत में राष्ट्रीय चेतना फैलाने में इन समाचार पत्रों का योगदान उल्लेखनीय रहा।

19 वीं शताब्दी में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य के विकास ने भी राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। रविन्द्रनाथ टैगोर की बंगला भाषी कविताएं आज भी हृदय को झंकृत कर देती है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनन्द मठ' को देश प्रेम का बाइबिल कहा जाय तो कोई अनुपयुक्त न होगा। बंगला साहित्य के अतिरिक्त मराठी साहित्य में, शिवाजी का मुगलों के विरुद्ध संघर्ष विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष बताया गया। हिन्दी साहित्य में प्राचीन संस्कृत साहित्य की महानता, वेदों में वर्णित उपलब्धियों की व्याख्या तथा हमारी प्राचीन गौरवपूर्ण सभ्यता का वर्णन भारतीयों में देश प्रेम की भावना जागृत की। यद्यपि इस साहित्य में क्षेत्रीयता दिखाई पड़ती है, किन्तु यह क्षेत्रीयता राष्ट्र विरोधी नहीं थी, बल्कि उस क्षेत्र के

प्रति प्रेम, भक्ति, बलिदान और त्याग की भावना उत्पन्न करने वाली थी। यही भावना आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना को प्रोत्साहन देने में सहायक सिद्ध हुई।

(7) **आर्थिक शोषण की नीति**—भारतीय राष्ट्रीय चेतना का एक प्रमुख कारण आर्थिक था, जो दो रूपों में दृष्टिगत होता है—आर्थिक कार्यों में सरकार द्वारा शोषण और यातायात के साधनों का विकास। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योगों को पहले ही नष्ट कर दिया था। विप्लव के बाद तो केवल ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर ही आर्थिक नीति अपनाई जाती रही। उद्योग धन्धों के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारतीय दस्तकारी भी नष्ट कर दी। इंगलैण्ड से यंत्र निर्मित वस्त्र भारत आने लगे, जिससे सहस्रों व्यक्तियों को अपनी जीविका से वंचित होना पड़ा। उद्योगों एवं दस्तकारी के विनाश का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि इनमें कार्यरत व्यक्तियों को कृषि की ओर आकर्षित होना पड़ा, किन्तु वहां वे अपनी जीविका नहीं चला पाये, क्योंकि जमींदारी प्रथा, भू लगान सम्बन्धी नियमों तथा कृषि की परम्परागत दुर्बलताओं के कारण कृषि का भी विनाश आरंभ हो गया था। सरकार ने कृषि की उन्नति तथा उसे प्रोत्साहन देने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया और फिर दुर्भिक्ष एवं बाढ़ों ने तो किसानों की स्थिति को अत्यन्त ही शोचनीय बना दिया।

अंग्रेजों ने मुक्त व्यापार नीति अपनायी, जिससे भारत में आयात होने वाले सामान पर कर नहीं लगता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्योगों द्वारा तैयार माल गोदामों में इकट्ठा होने लगा, क्योंकि वह विदेशी माल की अपेक्षा मंहगा बिकता था। भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड भेज दिया जाता था, जिससे भारतीय उद्योगों को कच्चा माल भी मिलना बन्द हो गया। भारतीय उद्योग व व्यापार नष्ट होने से बेकारी की समस्या उत्पन्न हो गयी। भारतीय शिक्षित वर्ग को भी बेकारी का सामना करना पड़ा जिससे उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। डी. ई. वाचा ने लिखा है, "भारतीयों की आर्थिक स्थिति ब्रिटिश शासन काल में अधिक बिगड़ी थी। चार करोड़ भारतीयों को केवल दिन में एक बार खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता था। इसका एक मात्र कारण यह था कि इंगलैण्ड भूखे किसानों से कर प्राप्त करता था तथा वहां अपना माल भेजकर लाभ कमाता था।" ऐसी स्थिति में भारतीयों ने सोचा कि अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारतीयों का आर्थिक शोषण करना है और जब तक वे रहेंगे, भारतीय आर्थिक दासता की बेड़ियों में जकड़े रहेंगे।

अंग्रेजों की आर्थिक नीति ने जहां भारतीयों का शोषण किया, वहां उनके द्वारा विकसित यातायात के साधनों ने भारतीयों में एकता उत्पन्न कर दी। यातायात के साधनों में वृद्धि होने के कारण व्यक्तियों के बीच की दूरी समाप्त हो गयी

और उनमें पारस्परिक विचार-विनिमय संभव हो गया। जिससे सभी प्रान्तों के विचारवान व्यक्ति एक होकर राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने लगे।

(8) **लार्ड लिटन की नीति**—लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण राष्ट्रीय असन्तोष की ज्वाला धधक उठी और इस ज्वाला ने राष्ट्रीय चेतना की मसाल जला दी। लार्ड लिटन ने भारतीय सिविल सर्विस में प्रवेश की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी, जिससे भारतीयों का प्रवेश बिल्कुल असम्भव हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसका घोर विरोध किया तथा राष्ट्र को सरकार के विरुद्ध संगठित किया। लिटन द्वारा पारित शस्त्र अधिनियम ने तो भारतीयों को अत्यधिक उत्तेजित कर दिया, क्योंकि इस अधिनियम द्वारा भारतीय जनता को निहत्था कर दिया और वे अब आत्मरक्षा करने में भी असमर्थ हो गये। लिटन द्वारा पारित वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट भी उसकी प्रतिक्रियावादी नीति का ज्वलंत उदाहरण था, जिसकी केवल भारतीयों ने ही नहीं बल्कि इंगलैण्ड की संसद में भी भारी आलोचना हुई। इस एक्ट से लिटन भले ही प्रेस का दमन करना चाहता हो, क़िन्तु इस एक्ट ने भारतीयों को अपने राजनीतिक अस्तित्व के बारे में सजग कर दिया। लिटन द्वारा उस समय दिल्ली दरबार का आयोजन करना, जिस समय भारत के विभिन्न क्षेत्र अकाल की चपेट में आये हुए थे और लाखों चलते फिरते प्राणी मौत के मुंह में जा रहे थे, भारतीयों के असन्तोष की आग में घी का काम किया। इस दिल्ली दरबार के सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था, "यदि एक स्वेच्छाचारी वायसराय की प्रशंसा के लिये देश के राजा तथा अमीर उमरावों को एकत्रित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है तो देशवासियों को न्यायसंगत ढंग से स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिये क्यों नहीं संगठित किया जा सकता।" लिटन की अग्रगामी अफगान नीति के कारण द्वितीय अफगान युद्ध हुआ जिसमें अपार जन-धन की हानि हुई, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। भारतीय जनता को युद्ध व्यय का भार उठाना पड़ा, जिससे असन्तोष अधिक तीव्र हो उठा। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति का प्रबल विरोध किया गया तथा भारतीयों ने संगठन की आवश्यकता अनुभव की।

(9) **इल्बर्ट बिल विवाद**—भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति असन्तोष तो था ही कि शीघ्र एक घटना ऐसी घटी जिसने भारतीयों को एक राष्ट्रव्यापी राजनीतिक संस्था स्थापित करने की प्रेरणा दी। इस घटना का सम्बन्ध इल्बर्ट बिल से है। प्रचलित न्याय प्रणाली के अनुसार प्रेसीडेन्सी को छोड़कर अन्य कहीं भी अंग्रेजों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही कर सकते थे। भारतीय न्यायाधीश किसी अंग्रेज के विरुद्ध फौजदारी मुकदमा नहीं सुन सकता था। लार्ड रिपन के समय तक अनेक भारतीय जज सेशन जज बन चुके थे। किन्तु वे अंग्रेजों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई नहीं कर सकते थे। न्याय की दृष्टि में भारतीयों

एवं यूरोपियनों को समान स्तर पर लाने के उद्देश्य से लार्ड रिपन ने अपनी कौंसिल के विधि सदस्य सी. पी. इल्बर्ट को इस सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत करने को कहा। अतः इल्बर्ट ने एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें भारत में रहने वाले यूरोपियनों के विरुद्ध अभियोगों की सुनवाई करने का अधिकार भारतीय मजिस्ट्रेटों को देने की व्यवस्था थी। इस विधेयक से समस्त यूरोपियनों में खलबली मच गई। अंग्रेजों ने इसे 'काला कानून' कहा और भारत के अधिकांश गैर सरकारी अंग्रेज इस विरोध में सम्मिलित हो गये। उन्होंने इस विधेयक का संगठित विरोध करने के लिये एक 'एंग्लो-इण्डियन डिफेन्स एसोसिएशन' का गठन कर लिया। कलकत्ता में रिपन के विरुद्ध एंग्लो-इण्डियन आन्दोलन भड़क उठा। यह भी षड़यन्त्र किया गया कि रिपन का अपहरण करके उसे बलपूर्वक लंदन भेज दिया जाय। अन्त में विवश होकर रिपन को विधेयक में संशोधन करना पड़ा, जिससे उसकी मूल भावना ही समाप्त हो गयी। रिपन को संगठित विरोध के सामने झुकना पड़ा।

इस घटना ने भारतीयों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। यूरोपियनों के संगठित विरोध ने भारतीयों की आंखें खोल दीं। भारतीयों ने अनुभव किया कि यदि राजनीतिक प्रगति वांछनीय है तो वह केवल एक राष्ट्रीय संस्था द्वारा ही सम्भव है। इसी भावना ने कांग्रेस की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हेनरी कॉटन ने लिखा है कि इस बिल के विरोध में किये गये यूरोपियनों के आन्दोलन ने भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा को जितनी एकता प्रदान की उतनी तो बिल पारित होकर भी प्रदान नहीं कर सकता था।

निष्कर्षतः भारत में राजनीतिक चेतना की प्रेरणा सर्वप्रथम धर्म सुधार आन्दोलनों ने दी। इन्हीं आन्दोलनों ने भारतीय के हृदय में स्वाभिमान एवं देश-भक्ति का बीजारोपण किया। अंग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीतियों ने उस बीज को प्रस्फुटित होने में सहयोग दिया। धीरे-धीरे भारतीयों के हृदय में राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा। इन्हीं भावनाओं ने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में सहयोग दिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

1885 ई० तक भारतीयों में राजनीतिक चेतना का उद्भव हो चुका था और अब राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने हेतु देशव्यापी आन्दोलन चलाने के लिये वे एक राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। 1876 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने 'इण्डियन एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। 28 से 30 दिसम्बर, 1883 में कलकत्ता के इल्बर्ट हॉल में इस संस्था का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें उन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया, जो आगे चलकर आन्दोलन की पृष्ठभूमि बन गये। 1884 में कलकत्ता में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई, जहां एकत्र हुए भारतीय नेताओं ने एक अखिल राष्ट्रीय आन्दोलन ठोस आधार पर

संगठित करने पर बल दिया। तत्पश्चात विभिन्न प्रान्तों में क्षेत्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। 1884 में बंगाल में नेशनल लीग की स्थापना हुई। इसी वर्ष मद्रास में मद्रास महाजन सभा की स्थापना हुई। जनवरी 1885 में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन की स्थापना की गई। इन समस्त संस्थाओं का कार्यक्षेत्र प्रान्तों तक सीमित था, किन्तु इन संस्थाओं ने कांग्रेस की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। दिसम्बर 1884 में अड्यार नगर में थियोसॉफिकल सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन के उपरान्त 17 व्यक्ति, जो देश के विभिन्न भागों से आये थे, दीवान बहादुर रघुनाथराव के निवास स्थान पर एकत्र हुए। इस बैठक में एक देशव्यापी संगठन स्थापित करने का निश्चय किया गया, जिसके फलस्वरूप 'इण्डियन नेशनल यूनियन' नामक एक संस्था की स्थापना हुई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का श्रेय एलन ओक्टोवियन ह्यूम को दिया जाता है। ह्यूम एक अंग्रेज सरकारी अधिकारी था। 1879 में नीति संबंधी मतभेद होने के कारण लार्ड लिटन ने उसकी पदावनति कर दी थी। इस घटना ने उसे राजनीतिक आन्दोलनकारी बना दिया। मार्च 1883 में उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक खुला पत्र लिखा जिसमें उन्हें संगठित होकर भारतीय कल्याण के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी। ह्यूम एक उदारवादी अंग्रेज था और भारत के प्रति उसकी विशेष सहानुभूति थी। वह एक अनुभवी एवं दूरदर्शी व्यक्ति था। वह जानता था कि भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध घोर असन्तोष है और इस असन्तोष का भयंकर विस्फोट हो सकता है। अतः भारतीयों की क्रान्तिकारी भावनाओं को वैधानिक प्रवाह में परिणित करने के लिये एक अखिल भारतीय संगठन की स्थापना चाहते थे। 1884 के अन्त में ह्यूम बम्बई गया तथा महाराष्ट्र व मद्रास के नेताओं से विचार विमर्श करने के बाद मार्च 1885 में एक राष्ट्रीय संगठन की योजना तैयार की, किन्तु उसने यह योजना गुप्त रखी। मार्च व अप्रेल में उसने बंगाल व उत्तरी भारत का दौरा किया। मई 1885 में उसने प्रस्तावित संगठन के बारे में लार्ड डफरिन से चर्चा की तथा बम्बई के गवर्नर को अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव किया। लार्ड डफरिन ने राष्ट्रीय संगठन के बारे में अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा कि, "भारत में ऐसी कोई संस्था नहीं है जो इंगलैण्ड के विरोधी दल की भाँति यहां भी कार्य कर सके और सरकार को यह बता सके कि शासन में क्या त्रुटियां है और उनको कैसे दूर किया जा सकता है।" बम्बई के गवर्नर को अध्यक्ष बनाने के सम्बन्ध में डफरिन ने कहा, "गवर्नर को ऐसी संस्थाओं की अध्यक्षता नहीं करनी चाहिये क्योंकि गवर्नर की उपस्थिति में लोग अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट नहीं कर सकेंगे।" इस विचार विमर्श के बाद मई 1885 में पहला परिपत्र जारी किया गया जिसमें दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में देश के सभी भागों के प्रतिनिधियों की एक सभा पूना में बुलायी गई। इस परिपत्र में इस सभा के दो उद्देश्य बताये गये—(1) राष्ट्र की प्रगति के कार्य में लगे लोगों का

एक दूसरे से परिचय (2) इस वर्ष के लिये कौन-कौन से कार्य किये जाय, उनकी चर्चा और निर्णय लेना।

कांग्रेस के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया था कि वह पूना में 25 से 28 दिसम्बर, 1885 तक हो। किन्तु पूना में प्लेग फैल जाने के कारण कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन 28 दिसम्बर 1885 को बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के भवन में हुआ। इसमें देश के विभिन्न भागों से आये 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस अधिवेशन की अध्यक्षता उमेशचन्द्र बनर्जी ने की। इस प्रकार भारत की महान् राजनीतिक संस्था कांग्रेस का जन्म हुआ, जिसके नेतृत्व में भारत की आजादी की लड़ाई लड़ी गयी। कांग्रेस की स्थापना तात्कालिक वायसराय लार्ड डफरिन की स्वीकृति और आशीर्वाद से हुई थी। कूपलैंड ने लिखा है, "कांग्रेस का जन्म भारत में ब्रिटिश शासन के शत्रु के रूप में नहीं, अपितु मित्र के रूप में हुआ था। यह तो बाद के कटु अनुभवों का प्रतिफल था कि राष्ट्रीय शक्तियों ने अहिंसात्मक आन्दोलन का संगठन करके ब्रिटिश शासकों को भारत छोड़ने के लिये विवश कर दिया।"

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन—जैसा कि ऊपर बताया गया है, कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में 28 दिसम्बर, 1885 को आरम्भ हुआ। इस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उमेशचन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस के निम्नलिखित उद्देश्य बताए—

(i) सारे भारतवर्ष में देश हित में काम करने वाले लोगों का आपस में सम्पर्क बढ़ाना और उनमें मित्रता की भावना उत्पन्न करना।

(ii) व्यक्तिगत मित्रता तथा मेल-जोल के द्वारा देश प्रेमियों के बीच में जाति-पांति के भेदभाव, वंश, धर्म और प्रान्तीयता की संकीर्ण भावनाओं का नाश करना। कांग्रेस राष्ट्रीय एकता की उन भावनाओं का विकास करना चाहती है, जिनकी उत्पत्ति सर्वप्रिय लार्ड रिपन के काल में हुई थी।

(iii) पूरे वाद-विवाद के बाद भारत के शिक्षित लोगों की सामाजिक समस्याओं के बारे में सम्मतियां प्राप्त कर उनका प्रामाणिक संग्रह तैयार करना।

(iv) उन तरीकों पर विचार कर निर्णय करना, जिनके अनुसार आने वाले बारह महीनों में राजनीतिज्ञ देश हित के लिये कार्य करेंगे।

कांग्रेस के इस प्रथम अधिवेशन में नौ प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनके द्वारा विभिन्न सुधारों की मांग की गई। प्रथम प्रस्ताव में भारतीय प्रशासन की जाँच के लिए एक रॉयल कमीशन नियुक्त करने की मांग की गई। दूसरे प्रस्ताव में भारत सचिव की इण्डिया कौंसिल को समाप्त करने की मांग की गई। तीसरे प्रस्ताव में केन्द्रीय व प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में नामजद सदस्यों के स्थान पर निर्वाचित

भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाने की मांग की गई। अन्य प्रस्तावों में सैनिक खर्च में कमी, भारत और इंगलैण्ड में प्रतियोगिता परीक्षाओं को एक ही समय पर साथ-साथ कराने और आयात करों में वृद्धि करने आदि के बारे में मांग की गई। इन प्रस्तावों में ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं था जिस पर पहले से ही विचार विमर्श न हो रहा हो। विभिन्न प्रान्तीय राजनीतिक संस्थाओं में इन विषयों पर कई बार प्रस्ताव पास किये थे। अधिवेशन की समाप्ति पर ह्यूम ने अपने प्रति प्रकट किये गये सम्मान के लिये धन्यवाद दिया और 'महारानी विक्टोरिया की जय' के नारे लगवाये।

इस प्रकार कांग्रेस के जीवन का प्रारम्भ इंगलैण्ड के प्रति भक्ति भाव रखते हुए आरम्भ हुआ। किन्तु इस घटना ने भारतीय राजनीतिक चेतना को एक नवीन और निश्चित मोड़ प्रदान कर दिया। यह राजनीतिक चेतना ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति भाव रखने तथा याचिकाओं तथा स्मरण पत्रों द्वारा कुछ राजनीतिक अधिकार मांगने की ओर मोड़ दी गई। निःसंदेह कांग्रेस की स्थापना एक प्रबल और बढ़ती हुई शक्ति के निष्कासन के लिए एक रक्षा-नली (Safety-valve) के रूप में हुई थी। कांग्रेस के नेता भारत पर अंग्रेजी नियन्त्रण को सौभाग्य की बात समझते थे। इसलिये ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा प्रथम आवश्यकता मानते थे और भारतीयों के लिये राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति गौण मानते थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम चरण (1885-1905)

कांग्रेस का इतिहास भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के बाद, इसकी शक्ति प्रतिवर्ष बढ़ती गई। इसकी लोकप्रियता भी दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। 1885 में स्थापित कांग्रेस का नेतृत्व उन महान विभूतियों के पास रहा जिन पर ब्रिटिश उदारवाद का प्रभाव था। इन महान् विभूतियों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, उमेशचन्द्र बनर्जी तथा पंडित मदनमोहन मालवीय प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त कुछ उदार अंग्रेज भी इसके सदस्य थे। जिनमें ए. ओ. ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न, जार्ज यूल, मैक्वीन, स्मिथ आदि प्रमुख थे। इन्हीं उदारवादी नेताओं ने आने वाले 20 वर्षों तक कांग्रेस का मार्ग दर्शन किया। इसलिये भारत के राष्ट्रीय इतिहास में इस काल को 'उदारवादी युग' कहा जाता है।

इन उदारयुगीन नेताओं पर ब्रिटिश विचारधारा, साहित्य एवं सभ्यता का बहुत गहरा प्रभाव था। अतः भारत में वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अभिशाप नहीं बल्कि वरदान समझते थे। उनका यह भी विश्वास था कि अंग्रेजी राज्य के कारण ही वे अपने अतीत का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और भविष्य में भी इसी के सहारे अपने देश का उत्थान कर सकते हैं। अतः ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध रखने में ही

भारतीयों का हित है। इन नेताओं में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति अन्ध भक्ति थी, क्योंकि इनका उत्थान उस शिक्षा से हुआ था, जिसे अंग्रेजों ने भारत में लागू की थी। अत: आरम्भ में कांग्रेस क्रान्तिकारी संगठन नहीं था तथा उसकी बागडोर नरम राष्ट्रवादियों के हाथ में थी। इसने कभी भी वर्ग विशेष के हितों का समर्थन नहीं किया वरन् सभी प्रश्नों पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया।

उदार युग की मांगें—प्रारम्भ के 20 वर्षों में कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशनों में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रस्ताव पास किये तथा ब्रिटिश सरकार का ध्यान उन विषयों की ओर आकर्षित कर प्रशासन में सुधार करने की मांग की। उन प्रस्तावों के आधार पर उस युग की मुख्य मांगें निम्नलिखित थी—

(1) भारत सचिव की इण्डिया कौंसिल को समाप्त करना। इस मांग का मुख्य औचित्य यह था कि इस कौंसिल का समस्त खर्च भारत से दिया जाता था, जिससे भारत से धन का निष्कासन होता था।

(2) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों का विस्तार, उनमें सरकारी नामजद सदस्यों की संख्या में कमी तथा निर्वाचित और गैर सरकारी भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि करना ताकि भारत में प्रतिनिधि शासन स्थापित हो सके।

(3) उच्च सार्वजनिक पदों पर भारतीयों को अंग्रेजों के समान अवसर दिया जाय। भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता परीक्षाओं में केवल योग्यता के आधार पर भारत में भी परीक्षाएं आयोजित की जाय तथा इन सेवाओं में प्रवेश की आयु बढ़ाई जाय।

(4) कार्यकारिणी और न्याय सम्बन्धी प्रशासन पृथक किये जाय तथा मुकदमों की सुनवाई में जूरी प्रथा को मान्यता दी जाय।

(5) अंग्रेज़ी साम्राज्य की सुरक्षा और विस्तार का खर्च केवल भारत पर ही न डाला जाय तथा भारत से धन का निष्कासन रोका जाय।

(6) सैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिये भारत में सैनिक कॉलेज स्थापित किये जाय तथा शस्त्र कानून में संशोधन किया जाय। देश में औद्योगिक शिक्षा का भी प्रचार किया जाय।

(7) भारत सचिव की कौंसिल में तथा प्रिवी कौंसिल में भारतीयों को भी स्थान दिये जांय।

(8) भूराजस्व कम किया जाय, नमक कर में कमी की जाय तथा किसानों की स्थिति सुधारने के लिये भूराजस्व की दर स्थायी रूप से निर्धारित कर दी जाय और इसे 20 या 30 वर्षों तक न बढ़ाया जाय।

(9) भारत में निर्धनता कम करने हेतु कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय और भारत में तकनीकी शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाय।

उपर्युक्त मुख्य मांगों के अतिरिक्त सिंचाई की उचित व्यवस्था करने, कृषि बैंकों की स्थापना करने, पुलिस व्यवस्था में सुधार करने, विदेशों में रहने वाले भारतीयों की रक्षा करने, प्रेस की स्वतन्त्रता की रक्षा करने आदि के सम्बन्ध में भी छोटे-मोटे प्रस्ताव पास किये गये। सुरेन्द्रनाथ वनर्जी ने कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में 1887 में जो मद्रास में हुआ था उसमें कहा था, "हमारी मांगों का प्रमुख लक्ष्य, जिसे एक वाक्य में 'भारत में प्रतिनिधि संस्था की स्थापना' कहा जा सकता है।"

उदार युग की कार्य विधि—जिन नेताओं की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति भावना हो उनके कार्य करने की विधि उसका अपवाद नहीं हो सकती थी। उदारवादी नेता पूर्णतया वैधानिक तरीकों पर आश्रित थे। प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशनों में पारित मांगें समाचार पत्रों और भाषणों द्वारा जनसाधारण में प्रसारित करते थे और बड़ी-बड़ी याचिकाएं एवं स्मरण पत्र भारत सरकार एवं गृह सरकार की सेवा में प्रस्तुत करते थे, जिनमें अत्यधिक विनम्र भाषा का प्रयोग किया जाता था। इन याचिकाओं एवं स्मरण-पत्रों में कहा जाता था—"हम हमारी प्यारी लोकप्रिय सरकार से प्रार्थना करते हैं कि…उपर्युक्त सुधारों को लागू करने की कृपा कर हमें अनुग्रहित करें।" इतना ही नहीं कांग्रेस अपने प्रस्तावों से इंगलैंड के अधिकारियों को अवगत कराने हेतु समय समय पर अपने शिष्टमण्डल लन्दन भेजती थी, जहाँ भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को वहां के समाचार पत्रों द्वारा गृह सरकार और जनता तक पहुंचाते थे। इस युग में हमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जबकि सरकार के विरुद्ध विष वमन या हिंसात्मक प्रचार किया गया हो। किन्तु उनके ये तरीके उस समय की परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थे और उस युग में इससे अधिक की आशा ही नहीं की जा सकती थी।

इंगलैण्ड में भारतीय सुधार समिति—कांग्रेस ने इस युग में अपनी मांगों को मजबूत बनाने के लिये इंगलैण्ड में भी अपनी संस्थाएं स्थापित की। 1887 में दादाभाई नौरोजी ने लन्दन में 'भारतीय सुधार समिति' (Indian Reform Association) की स्थापना की। उन्होंने इस समिति के उद्देश्यों के बारे में कहा, "क्योंकि शासन सत्ता का प्रमुख स्रोत इंगलैण्ड में है, इसलिये इंगलैण्ड में कांग्रेस द्वारा किये गये कोई भी वैधानिक प्रयत्न अधिक प्रभावशाली और लाभदायक होंगे।" दादाभाई नौरोजी स्थायी रूप से इंगलैण्ड में कार्य करने लगे। 1888 में विलियम डिग्बी की सहायता से वहां 'इण्डियन एजेन्सी' की स्थापना की गई जो 1889 में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति' बन गई, जिसकी अनेक प्रतिष्ठित अंग्रेजों ने सदस्यता ग्रहण कर ली। इस समिति ने 'इण्डिया' नामक समाचार पत्र का सम्पादन आरम्भ किया, जिसे इंगलैण्ड में काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसी समय दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश संसद के सदस्य निर्वाचित हुए। 1893 में 'भारतीय

संसद समिति' बनी जिसके प्रयत्नों से ब्रिटिश संसद ने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा भारत में भी आयोजित करने का प्रस्ताव पारित किया।

इस प्रकार उदारयुगीन नेताओं के नेतृत्व में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन हुआ जो उस समय भारतीय राजनीति में घूम रहे थे। इस युग में मि० मेकनील ने भारतीय राजनीति के विषय में संसद में अनेक प्रश्न पूछे और इस बात पर बल दिया कि कांग्रेस भारतीय जनता की सच्ची प्रतिनिधि संस्था है। सेमुअल स्मिथ ने कांग्रेस को 'वैधानिक एवं राजभक्त दल' कहकर सम्बोधित किया। 1891 में श्री चार्ल्स ब्रेडला की मृत्यु हो जाने पर भारतीयों ने इसे महान् क्षति माना, क्योंकि ब्रिटिश संसद में वे भारतीय हितों के प्रबल हिमायती थे।

अंग्रेज सरकार की नीति—डा० आर. सी. मजूमदार का मत है कि कांग्रेस और इसके आन्दोलन के प्रति अंग्रेज सरकार का रुख प्रतिकूल रहा। नौकरशाही को भी इसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी और कुछ विशेष व्यक्तियों को छोड़कर सम्पूर्ण ब्रिटिश राष्ट्र इसके विरुद्ध था। डॉ० प्रसाद ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि नौकरशाही ने आरम्भ से ही कांग्रेस आन्दोलन का मजाक उड़ाया, फिर गाली गलौच पर उतर आई और अन्त में सशक्त होकर इसके प्रति दमन चक्र की नीति अपनाई। किन्तु इसे पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। रेम्ज मेकडोनल्ड ने ठीक लिखा है कि, "राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति काफी सीमा तक सरकार की नीति पर निर्भर करती थी, जो आरम्भ में मैत्रीपूर्ण रही, किन्तु बाद में घोर विरोध की हो गयी।"

1885 में कांग्रेस की स्थापना लार्ड डफरिन की स्वीकृति के बाद हुई थी और उसी के सुझाव पर ह्यूम ने इसे राजनीतिक संस्था का रूप दिया था। अतः 1886 में जब कांग्रेस का कलकत्ता में अधिवेशन हुआ तब 406 प्रतिनिधियों को वायसराय की ओर से गार्डन पार्टी दी गई और अनेक प्रमुख सरकारी अधिकारियों ने इसमें भाग लिया। 1887 में मद्रास में हुए अधिवेशन के अवसर पर 600 प्रतिनिधियों का मद्रास के गवर्नर ने गवर्नर हाउस में शानदार स्वागत किया। किन्तु इस अधिवेशन के उपरान्त अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन आ गया। अब लार्ड डफरिन कांग्रेस का कट्टर आलोचक बन गया। इसका मूल रूप से कारण यह था कि 1885–86 ई० के मध्य ह्यूम और डफरिन के पारस्परिक व्यक्तिगत सम्बन्ध बिगड़ गये थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेज प्रशासक भारतीयों के समानता के दावे को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। डफरिन ने 30 नवम्बर 1888 को अपने भाषण में कांग्रेस द्वारा की गई संसदीय सरकार की मांग की खिल्ली उड़ायी और कांग्रेस को एक सीमित वर्ग की प्रतिनिधि संस्था कहकर सम्बोधित किया। उसने यह भी कहा कि कांग्रेस की मांगों से भारतीय जनता के सभी वर्ग सहमत नहीं हैं। उसके ये तर्क सर्वथा बेबुनियाद थे। वास्तव में अंग्रेज कांग्रेस द्वारा मांगे गये अधिकार और

सुविधाएं देने को तैयार हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि भारत को वे मात्र उपनिवेश रखना चाहते थे। अंग्रेज सरकार का यह विरोध कांग्रेस की मांगों को स्वीकार न करने तक ही सीमित नहीं था, बल्कि सरकार ने कांग्रेस के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करना आरम्भ कर दिया। 1888 में हुए इलाहाबाद अधिवेशन में उत्तर प्रदेश सरकार ने असहयोग किया तथा अधिवेशन के लिए स्थान ही उपलब्ध न होने दिया। सरकारी अधिकारियों ने कांग्रेस में सम्मिलित न होने के लिये लोगों पर दबाव डाला। इतना ही नहीं, मुसलमानों और देशी नरेशों को कांग्रेस से दूर रखने का प्रयत्न किया गया और सरकारी अधिकारियों व कर्मचारियों को कांग्रेस अधि-वेशन में भाग लेने पर रोक लगा दी। लार्ड हेमिल्टन ने, जो भारत सचिव था, कांग्रेस को धन देने वालों पर निगरानी रखने का आदेश दे दिया। कुछ प्रान्तों के गवर्नरों ने तो यह भी सुझाव दिया कि कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों पर ही रोक लगा दी जाय, किन्तु यह सुझाव स्वीकृत नहीं हुआ। 1895 के बाद तो कांग्रेस के प्रति अंग्रेज सरकार का दृष्टिकोण दिनों-दिन कठोर होता गया।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो कांग्रेस अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति इतनी निष्ठा और भक्ति रखती थी, उसी के प्रति अंग्रेज सरकार का दृष्टिकोण क्यों कठोर होता गया? इसका सहज उत्तर यह है कि नौकरशाही सरकार की नीतियों की आलोचना का परिणाम यह होता कि सामान्य जनता के हृदय में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति भक्ति भावना कम होना। क्योंकि अंग्रेज जानते थे कि किसी नियन्त्रण के विरुद्ध आन्दोलन सर्वप्रथम उसकी मुक्त आलोचना से ही आरम्भ होता है। इसलिये, कोई व्यापक आन्दोलन उठने के पूर्व ही अंग्रेज उस आन्दोलन की जड़ें ही काट देना उचित समझते थे। किन्तु कांग्रेस का जितना दमन करने का प्रयत्न किया गया; वह उतनी ही लोकप्रिय होती गई और ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र भी उसे रोकने में असफल रहा, क्योंकि यह संस्था उस समय तक मध्यम वर्ग का सहयोग प्राप्त कर चुकी थी। अंग्रेज सरकार की नीति कांग्रेस को दुर्बल बनाकर समाप्त करने की रही और इसके लिये उन्होंने निम्न से निम्न हथकण्डे अपनाये।

कांग्रेस और मुसलमान—19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज मुस्लिम नेताओं को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि अंग्रेज 1857 के विप्लव के लिये मुसलमानों को उत्तरदायी मानते थे। 1870 के बाद पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित कुछ भारतीय नेता 'भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना' विषय पर बौद्धिक चर्चा करने लगे। सर सैयद अहमदखां ने, जिसने मुसलमानों में राजनीतिक जागृति पैदा करने हेतु कार्य किया, प्रजातन्त्र की स्थापना को आपत्तिजनक बताया। उनका कहना था कि प्रजातन्त्र के परिणामस्वरूप देश में दो दलों का गठन होता है और ये दो दल केवल हिन्दू और मुसलमान ही हो सकते हैं। सर सैयद अहमद का यही तर्क राज-नीति को साम्प्रदायिक आधारों पर ढालने के लिये उत्तरदायी हुआ। सर सैयद

प्रतियोगिता परीक्षाओं के पक्ष में थे किन्तु जब उन्हें पता चला कि मुसलमान छात्र प्रतियोगिता परीक्षा में हिन्दू छात्रों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकते तो 1885 के बाद प्रतियोगिता परीक्षाओं का विरोध करना आरम्भ कर दिया और तर्क दिया कि चूंकि इन परीक्षाओं के बाद उच्च कुल के व्यक्तिओं को निम्न कुल के व्यक्तियों के अधीन कार्य करना पड़ सकता है, इसलिये ये अनुचित है।

1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद सर सैयद अहमद द्वारा इसका विरोध करना स्वाभाविक ही था। सर सैयद अहमद ने दिसम्बर 1887 में कांग्रेस का विरोध करते हुए कहा कि इस संस्था और इस आन्दोलन से मुस्लिम हितों को हानि पहुंचती है। 1888 में उन्होंने इंगलैण्ड की सरकार को यह आश्वासन देने का प्रयत्न किया कि भारत में बहुत से हिन्दू-मुसलमान कांग्रेस के समर्थक नहीं है। इसके लिये उन्होंने 'देश भक्त एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसने कांग्रेस के प्रगतिशील विचारों का हर संभव तरीके से विरोध किया। 1892 में पारित इण्डियन कौंसिल्स एक्ट में उन्होंने संसदात्मक प्रजातन्त्र की छाया देखी। अतः 1893 में उन्होंने 'मुस्लिम एंग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना की। इसका उद्देश्य मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति निष्ठा एवं भक्ति की भावना उत्पन्न करना तथा ब्रिटिश सरकार की सहायता से मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा करना था। यह संस्था भी कांग्रेस के सख्त विरुद्ध थी।

1905 में बंगाल विभाजन के कारण हिन्दुओं में बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी। अंग्रेजी सरकार ने पूर्वी बंगाल को मुस्लिम प्रान्त कहा, वहां के मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया और मजहबी दंगे करवाये। फिर भी राष्ट्रवाद का वेग कम नहीं हुआ। अतः भारत सचिव लार्ड मार्ले ने भारत के वायसराय लार्ड मिण्टो को कुछ संवैधानिक सुधार करने की सलाह दी। मिण्टो सुधारों के साथ-साथ राष्ट्रवाद के वेग को रोकने के लिये हिन्दू और मुसलमानों की फूट को अधिक बढ़ाना चाहता था। अतः वायसराय के संकेत पर उसके निजी सचिव स्मिथ ने अलीगढ़ कालेज के नये प्रिन्सिपल आर्कबाल्ड को लिखा कि, "यदि मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल मुसलमानों के लिये अलग अधिकारों की मांग करे और इसके लिये वायसराय से मिले तो वायसराय को उनसे मिलने में बड़ी प्रसन्नता होगी।" इस पर अलीगढ़ कालेज के मन्त्री नवाब मोशी-उल-मुल्क ने आगाखां के नेतृत्व में मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल वायसराय से मिलने भेजा। अक्टूबर 1906 में इस प्रतिनिधि मण्डल ने वायसराय के समक्ष निम्नलिखित मांगें प्रस्तुत कीं—

(i) मुसलमानों के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्र।

(ii) सुधार के बाद बने विधान मण्डलों में मुसलमानों को उनकी आबादी से अधिक स्थान देना।

(iii) सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को अधिक लेना।

(iv) मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना में सरकारी सहायता देना।

(v) यदि गवर्नर जनरल की कौंसिल में किसी भारतीय को नियुक्त किया जाय तो मुसलमानों के हितों का ध्यान रखना।

इन मांगों के प्रत्युत्तर में लार्ड मिण्टो ने इस प्रतिनिधि मण्डल को कहा, "तुम्हारी बात ठीक है कि मुसलमानों के लिये अलग चुनाव क्षेत्र बनाये जाय, क्योंकि थोड़ी संख्या में होने के कारण तुम्हारी जाति के उम्मीदवारों को बहुमत वाली हिन्दू जाति के सामने जीतने की कोई आशा नहीं है। तुम यह सत्य ही कहते हो कि तुम्हारी जाति का महत्व संख्या के आधार पर न लगाया जाय बल्कि राज-नैतिक महत्व तथा ब्रिटिश साम्राज्य की सेवाओं के आधार पर लगाया जाय।" इससे स्पष्ट है कि पृथक् चुनाव क्षेत्रों का घातक सिद्धान्त लार्ड मिण्टो ने ही आरम्भ करवाया था। यद्यपि भारत सचिव इस सिद्धान्त के विरुद्ध थे, फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य के हित में उसे लार्ड मिण्टो की बात माननी पड़ी। 'स्टेट्समेन' समाचार पत्र ने, जो सदैव अंग्रेजों का पक्ष लेता था, इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की। इस सिद्धान्त का भारतीय राजनीति पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। अब मुसलमान कांग्रेस और हिन्दुओं से अलग होकर अपने पृथक अधिकारों की मांग करने लगे। इस सिद्धान्त का अन्तिम परिणाम यह निकला कि देश में हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच एक गहरी खाई तैयार हो गयी और 1947 में भारत का बंटवारा करके मुसलमानों को पाकिस्तान देना पड़ा।

मुसलमानों का प्रतिनिधि मण्डल वायसराय के प्रत्युत्तर से बड़ा प्रोत्साहित हुआ। अंग्रेजों ने मुसलमानों को एक अलग अखिल भारतीय संस्था स्थापित करने हेतु भी प्रोत्साहित किया, जो कांग्रेस की बढ़ती हुई मांगों का विरोध कर सके। इससे मुसलमानों का उत्साह बढ़ा और 30 दिसम्बर 1906 को उन्होंने ढाका में मुस्लिम लीग की नींव डाली। मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में यद्यपि दूसरी जातियों से मेल-मिलाप करने की बात कही गई थी, लेकिन व्यवहार में इसका रूप कांग्रेस के प्रत्येक कार्य का विरोध करना तथा मुसलमानों के लिये अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त करना था।

उदारवादी आन्दोलन का मूल्यांकन—इस काल में कांग्रेस ने लोगों में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। गुरुमुखनिहाल सिंह ने लिखा है कि, "कांग्रेस ने आरम्भ में लोगों में राष्ट्रीय जागृति, राजनीतिक शिक्षा तथा भारतीयों में संगठन की भावना उत्पन्न करने का कार्य किया और लोगों में सामान्य राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की।" प्रतिवर्ष कांग्रेस का अधिवेशन होता था और उसमें प्रस्ताव पास किये जाते थे। ये प्रस्ताव समाचार पत्रों में विस्तार से छपते थे, जिससे लोगों में सार्वजनिक विषयों के प्रति चेतना उत्पन्न होती थी।

कांग्रेस के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 में इण्डियन कौंसिल एक्ट द्वारा पारित हुआ और उसके द्वारा भारतीयों को पहले की अपेक्षा अधिक राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए। यह बात अलग है कि इसने भारतीयों को कहां तक सन्तुष्ट किया। कांग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई और इसके कार्यों की प्रशंसा देश भर में होने लगी। कांग्रेस ने वह कार्य किया जिसका लाभ 30 वर्ष बाद उठाया गया, जैसाकि के. एम. मुन्शी ने लिखा है, "यदि पिछले तीस वर्षों में कांग्रेस के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत न रहती तो संभवतः गांधीजी का कोई आन्दोलन सफल नहीं होता और न ही सरदार पटेल की अध्यक्षता में कांग्रेस इतनी कुशल यंत्र प्रमाणित होती।" उदार युग के नेताओं ने उस समय की परिस्थितियों का अध्ययन करके ही उसके अनुरूप अपनी नीति निर्धारित की थी। क्योंकि वे नौकरशाही के तरीकों से भली-भांति परिचित थे। अतः उन्होंने नौकरशाही के क्रूर हाथों से इस संस्था को बचाकर भविष्य के लिए इसकी जड़ें इतनी गहरी कर दी कि बाद में नौकरशाही तो क्या स्वयं इंगलैण्ड की सरकार भी नहीं हिला सकी। यही इस युग की महान् उपलब्धि रही।

दूसरी ओर इस युग में हुई कांग्रेस की प्रगति को संतोषजनक नहीं माना गया और 1892 के अधिनियम से कोई भी संतुष्ट नहीं हुआ। आलोचकों का कहना है कि कांग्रेस के नेता यद्यपि अंग्रेज नौकरशाही के तो आलोचक थे, किन्तु इंगलैण्ड की सरकार के प्रति उनकी अन्ध भक्ति थी। लाला लाजपतराय ने ठीक ही लिखा है कि कांग्रेसी नेता उस वर्ग के लोगों के सहयोग से कार्य करना चाहते थे जिसके विरुद्ध वे आवाज उठाते थे। आलोचकों का यह भी कहना है कि इस युग में कांग्रेस का नेतृत्व कुछ ऐसे विशेष वर्ग के लोगों के हाथ में था, जो जन-साधारण, गरीब और अनपढ़ लोगों की वास्तविक मांगों से दूर थे। सबसे अधिक असन्तोष तो इससे था कि इस काल में जो कार्यविधि अपनाई गई वह बहुत ही उपहासजनक थी और इसलिये देश भक्त नेताओं को राजनीतिक भिखारी कहकर सम्बोधित किया गया, जो अपनी मांगों को याचिकाओं, प्रार्थना पत्रों और स्मरण-पत्रों द्वारा सरकार के समक्ष प्रस्तुत करते थे। अंग्रेज नौकरशाही इस प्रकार की मांगों पर कब विचार करने वाली थी? कांग्रेसी नेताओं को अंग्रेज प्रशासकों की ईमानदारी में अटूट विश्वास था, जबकि अंग्रेज प्रशासक भारतीयों की वास्तविक भलाई नहीं चाहते थे।

इन उदार युग के नेताओं की असफलता ने राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया जिसे 'उग्रवादी युग' कहा गया। इस उग्रवादी युग में लाल, बाल और पाल का नेतृत्व देश के राजनीतिक रंगमंच पर आगे आया जो उस समय तक अपना प्रभाव जमाये रखने में सफल रहा जब तक कि 'गांधी युग' का आरम्भ नहीं हो गया।

———

अध्याय 15

तिलक और उग्रवादी आन्दोलन

प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस की सदस्य संख्या और लोकप्रियता में वृद्धि हुई थी। किन्तु 1888 के बाद अंग्रेज सरकार की कांग्रेस के प्रति नीति में परिवर्तन आने से कांग्रेस की लोकप्रियता में कमी आने लगी। उदार युग में कांग्रेस का आन्दोलन केवल एक उच्चवर्गीय आन्दोलन ही रहा और सामान्य जनता पर इसका प्रभाव बहुत ही कम रहा। वर्ष में एक बार केवल तीन दिन के लिये इसके सदस्य एक जगह एकत्रित होकर कुछ प्रस्ताव पास कर देने से अधिक इसका कोई कार्य नहीं था। कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत के लिये प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग की थी। किन्तु 1892 के अधिनियम में भारतीयों को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये। 1905 तक कांग्रेस, विधान सभाओं में निर्वाचित सदस्यों में वृद्धि, भारत सचिव की कौंसिल में भारतीयों की नियुक्ति, सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अंग्रेजों के समान अवसर देने आदि की मांग करती रही। लेकिन अंग्रेज सरकार इन मांगों की अनदेखी करती रही और 1890 के बाद तो सरकार स्पष्टतः कांग्रेस विरोधी हो गयी। 1885–1905 के मध्य कुछ घटनाएं ऐसी घटित हुई कि कांग्रेस आन्दोलन में एक नया मोड़ आ गया तथा इन घटनाओं ने अंग्रेज विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन दिया।

कांग्रेस के प्रति सरकार की विरोधी नीति के कारण शिक्षित भारतीयों में एक नई राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई, क्योंकि बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के लिये उदारवादियों की भिक्षावृति की कार्य पद्धति सर्वथा अनुपयुक्त थी। कांग्रेस की इस भिक्षा वृति की नीति की घोर प्रतिक्रिया हुई। सार्वजनिक क्रोध भड़क उठा और कांग्रेस के नवयुवक सदस्य क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये अधीर हो उठे। फलस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर दो विचारधाराएं परिलक्षित होने लगी। एक विचारधारा ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत सुधार चाहती थी तथा पश्चिमीकरण की समर्थक थी। दूसरी विचारधारा भिक्षावृति की नीति की घोर विरोधी थी, पश्चिमीकरण की घोर विरोधी थी, अंग्रेजों के प्रति उनका विश्वास नहीं था और भारत की प्राचीन

सभ्यता एवं संस्कृति में दृढ़ विश्वास था। पहली विचारधारा के लोग उदारवादी अथवा नरम दल कहलाया और दूसरी विचारधारा को अंग्रेज लेखकों ने उग्र राष्ट्रीयता या उग्रवादी या गरम दल कहकर सम्बोधित किया। उग्र राष्ट्रीयता के विकास में निम्नलिखित तत्वों का योगदान रहा—

(1) **कांग्रेस की मांगों की उपेक्षा**—1888 से 1905 तक ब्रिटेन में अनुदार दल का आधिपत्य रहा। इस दल के लोग भारत में किसी तरह के सुधार के पक्षपाती नहीं थे, बल्कि उन्होंने भारतीयों के प्रति अविश्वास तथा प्रजातीय विभेद की नीति को व्यापक रूप से लागू की। 1892 के सुधार सर्वथा अपर्याप्त थे, क्योंकि उनमें उन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया गया, जिसकी मांग कांग्रेस करती आ रही थी। इस अधिनियम द्वारा केवल भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि करदी गई, किन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया। कांग्रेस की मांगों के फलस्वरूप न तो अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति में ही परिवर्तन आया और न प्रजातीय विभेद की नीति में कमी आई। अंग्रेज प्रशासकों का जनता के प्रति कठोर दृष्टिकोण, भारतीय सहन करने को तैयार नहीं थे। यहां तक कि गोखले जैसे उदारवादी नेता ने भी कह दिया कि सरकार जिस प्रतिक्रियावादी नीति का अनुसरण कर रही है उसका परिणाम सरकार के लिए भयानक सिद्ध हो सकता है। फिर भी कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से विधान परिषदों के विस्तार, निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि और सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अंग्रेजों के समान अवसर देने की मांग करती रही। लेकिन ब्रिटिश सरकार इन मांगों की अपेक्षा करती रही। इससे कांग्रेस के नौजवान नेता बेचैन हो उठे। इन नेताओं में लोकमान्य तिलक, विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय प्रमुख थे। लाला लाजपतराय ने कहा कि, "भारतीयों को अब भिखारी बने रहने से संतोष नहीं कर लेना चाहिये और न अंग्रेजी सरकार के सामने गिड़गिड़ाना चाहिये।" उन्होंने यह भी कहा कि अंग्रेजों द्वारा कांग्रेस की मांगों की उपेक्षा का कारण यह था कि अधिकांश कांग्रेसी नेताओं में त्याग और बलिदान की भावना नहीं है। अपनी मांगों को स्वीकार कराने के लिये त्याग और बलिदान की आवश्यकता है।

(2) **भारत का तीव्र आर्थिक शोषण**—अंग्रेजों के भारत आने से पूर्व यहां अनेक घरेलू उद्योग-धन्धे प्रचलित थे तथा भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। किन्तु अंग्रेजों ने इंगलैण्ड को लाभ पहुंचाने के लिये सभी उद्योग समाप्त कर दिये और भारत को केवल कच्चे माल की मण्डी बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत से करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष बाहर जाने लगा और भारत की जनता दिन प्रतिदिन निर्धन होती गई। 1870 के बाद भारतीय नेताओं का ध्यान इन आर्थिक परिणामों की ओर आकर्षित हुआ। भारतीय उद्योगों का विनाश, कपास की बनी चीजों पर आयात कर में कमी और भारतीय मिलों में तैयार होने वाले कपड़े पर

$7\frac{1}{2}$ प्रतिशत उत्पादन शुल्क, कृषि पर भूराजस्व का अत्यधिक बोझ जिससे किसानों की बढ़ती हुई निर्धनता और शासन के उच्च पदों से भारतीयों की पदच्युति ऐसी समस्याएं थीं जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज केवल भारत से धन लूटकर ले जाना ही अधिक महत्वपूर्ण मानते थे।

भारतीय नेताओं ने अपनी पुस्तकों द्वारा अंग्रेजों की आर्थिक शोषण की वास्तविकता स्पष्ट की। उन्होंने बताया कि भारत की आर्थिक स्थिति कितनी दयनीय हो गयी है, महत्वपूर्ण व्यापारिक प्रतिष्ठान अंग्रेजों के नियंत्रण में है और कपड़ा उद्योग भारतीयों के नियंत्रण में है, किन्तु उसके विकास में अंग्रेजों ने अनेक बाधाएं उपस्थित कर दी है और सरकार की आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश में बेकारी और भुखमरी फैली हुई है। इससे भारतीयों में घोर असन्तोष फैलने लगा तथा कांग्रेस के नौजवान नेता यह समझने लगे कि जब तक भारत पराधीन रहेगा तब तक उसका आर्थिक शोषण जारी रहेगा। अतः उनमें से बहुत से लोग भारत में ब्रिटिश सत्ता को पलटने के लिये कटिबद्ध हो गये।

(3) **अकाल और महामारी**—अंग्रेज सरकार की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप जब भारत की ऐसी दुर्दशा हो रही थी तब 1896–97 तथा 1899–1900 में देश में भयंकर दुर्भिक्ष और महामारी फैल गई। दुर्भिक्ष और प्लेग की महामारी ने करोड़ों लोगों की जानें ले ली। इस अवसर पर प्रशासन का जनता के प्रति क्रूर तथा अमानवीय व्यवहार और अधिक स्पष्ट हो गया। अकाल से छुटकारा पाने के लिये सरकार ने जिस मन्द गति से कार्य किया वह लगभग नगण्य सिद्ध हुआ। बम्बई में प्लेग के प्रकोप की रोकथाम के लिये अंग्रेज अधिकारियों ने बड़े ही अमानवीय ढंग से लोगों को बलपूर्वक घरों से निकाल दिया। पूना में रोग का उपचार सेना को सौंप दिया गया और आज्ञा प्रसारित करदी कि सिपाही घरों में जाकर व्यक्तियों की जांच करेंगे। फलस्वरूप विदेशी सिपाही भारतीयों के घरों में घुस जाते थे और स्त्रियों की जांच करने के बहाने उनके साथ अत्यन्त ही अशिष्ट एवं अमानवीय व्यवहार करते थे। इससे जनता का क्रोध भड़क उठा और एक नौजवान दामोदर हरि चापेकर ने पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड और उसके सहायक लेफ्टिनेंट एयर्स्ट की हत्या करदी। उस नौजवान को फांसी की सजा दे दी गई। लोकमान्य तिलक ने अपने समाचार पत्र 'केसरी' में सरकार की कटु आलोचना की थी। अतः तिलक पर उस नवयुवक को भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें 18 महीने की सख्त कैद की सजा दे दी गई और पूना में दण्ड देने वाली पुलिस तैनात कर दी गई। इन घटनाओं ने भारतीयों को झकझोर दिया। अंग्रेज भक्त कांग्रेस के नेताओं का भी अंग्रेजी न्यायप्रियता तथा ईमानदारी पर विश्वास डगमगाने लगा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, "हम पूना में दण्ड देने वाली पुलिस ठहराना गलत समझते हैं। तिलक और पूना के कुछ अन्य सम्पादकों को कैद में डालना और भी अधिक गलत समझते

हैं। तिलक की कैद पर सारा राष्ट्र रो रहा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा बहुमूल्य अधिकार है और इसके लिये हम सभी संवैधानिक उपायों से यत्न करेंगे।" श्रीमती एनीबीसेन्ट की मान्यता थी कि इन्हीं घटनाओं ने भारत में उग्रवाद का विकास किया।

(4) **सांस्कृतिक नव जागरण**—अंग्रेजों ने भारतीयों को यह बताने की चेष्टा की कि भारत पर आक्रान्ता सदैव सफल रहे हैं और इसका कारण भारतीयों की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सैनिक दुर्बलताएं हैं। उन्होंने यह भी बताने का प्रयास किया कि पाश्चात्य संस्कृति, भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ है। अंग्रेजों ने जिस प्रकार की शिक्षा का विकास किया उसमें भी उनका उद्देश्य भारत में पाश्चात्य संस्कृति का प्रसार करना था। भारत के शिक्षित वर्ग पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः कांग्रेस के उदारवादी नेता भी ब्रिटिश सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे। इसलिये वे ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के लिये आवश्यक मानते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सुधार चाहते थे। किन्तु भारत की विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार संस्थाओं ने, जिनके प्रणेता स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती तथा श्रीमती ऐनीबीसेन्ट थे, बताया कि किस प्रकार भारतीय सभ्यता और संस्कृति, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से श्रेष्ठ है। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने तो यहां तक कह दिया था कि विश्व का कोई धर्म इतना पूर्ण नहीं है, जितना हिन्दू धर्म। स्वामी विवेकानन्द ने तो भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का प्रचार विदेशों में किया। फलस्वरूप भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान हुआ। अरविन्द घोष ने कहा कि, "स्वतन्त्रता हमारे जीवन का उद्देश्य है और हिन्दू धर्म ही हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा·······राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर की देन है।" कांग्रेस के नौजवान नेताओं में धार्मिक उत्साह अधिक था और वे पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के घोर विरोधी थे। अतः उन्होंने भी प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति को श्रेष्ठ बताकर भारतीय युवकों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया। इस आत्मविश्वास ने भारतीयों को विदेशी शासन के प्रतिकार करने का, कष्ट सहने का तथा आवश्यकता पड़ने पर बलिदान करने का दृढ़ निश्चय प्रदान किया। विपिनचन्द्र पाल ब्रिटिश सरकार से स्वराज्य भिक्षा या भेंट के रूप में नहीं चाहते थे, बल्कि जनता के त्याग और बलिदान से प्राप्त करना चाहते थे।

(5) **लार्ड कर्जन एवं अन्य वायसरायों की नीतियां**—जैसाकि ऊपर बताया गया है, 1888 से 1905 तक इंगलैण्ड में अनुदार दल की सरकार सत्ता में रही। इस काल में भारत में तीन वायसराय आये-लार्ड लैन्सडाउन, लार्ड एल्गिन और लार्ड कर्जन। ये तीनों भारतीयों से घोर घृणा करते थे। लार्ड लैन्सडाउन तथा एल्गिन के काल में अनेक दमनकारी कानून बनाये। लार्ड एल्गिन के समय भयंकर

अकाल पड़ा, किन्तु उसने जनता के राहत कार्यों की ओर कोई ध्यान न देकर दिल्ली में एक शानदार दरबार आयोजित कर उस पर लाखों रुपया खर्च कर दिया। इस लिये लालमोहन घोष ने 1903 में मद्रास कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में इस दिल्ली दरबार की कटु आलोचना की। एल्गिन ने रिटायर होते समय शिमला के एक क्लब में भाषण देते हुए कहा कि, "हिन्दुस्तान तलवार की जोर पर जीता गया था और तलवार के जोर से ही उसकी रक्षा की जायेगी।"

लार्ड कर्जन की दमनकारी नीतियों ने जले पर नमक छिड़कने का कार्य किया। 1899–1901 के बीच दो बार अकाल पड़ा। अकाल राहत कार्यों में अंग्रेज अधिकारियों का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर और अमानवीय था। कर्जन ने प्रजातीय विभेद नीति को अधिक उग्र कर दिया तथा रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज में शुद्ध भारतीयों के लिये प्रवेश निषेध कर दिया। 1899 में उसने कलकत्ता निगम अधिनियम पारित कर निगम की स्वायत्तता छीन ली। 1904 में विश्वविद्यालय अधिनियम पारित कर विश्वविद्यालयों का सरकारीकरण कर दिया। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में बोलते हुए उसने कहा, "सत्य का उच्च आदर्श अधिकतर पश्चिमी विचार है। इस आदर्श ने पहले पश्चिमी नैतिक परम्परा में उच्च स्थान लिया। बाद में यह आदर्श पूर्व में भी आया जहां पहले चालाकी और कुटिलता आदर पाती रही थी।" इससे जनता में क्रोध व्याप्त हो गया और भारतीयों का एक प्रतिनिधि मंडल कर्जन से मिलने की अनुमति मांगी ताकि उसे भारतीयों के वास्तविक चरित्र का ज्ञान कराया जा सके, किन्तु कर्जन ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। उसने तो यहां तक कह दिया कि, "केवल अंग्रेज ही भारत पर शासन करने के योग्य हैं तथा ईश्वर ने अंग्रेजों को ही भारत पर शासन करने के लिये चुना है और भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करना ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है।" राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के लिये उसने बंगाल का विभाजन कर दिया। ये समस्त घटनाएं ऐसी थी जिनसे अंग्रेजों की ईमानदारी पर से अधिकांश शिक्षित वर्ग का विश्वास समाप्त हो गया।

(6) **विदेशी घटनाएं**—ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ व्यवहार असन्तोष का एक मुख्य कारण था। दक्षिणी अफ्रीका में उन्हें नीच जाति का मनुष्य समझा जाता था। उनकी गतिविधियों पर तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये थे। वे रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा नहीं कर सकते थे और रात के नौ बजे के बाद घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। अतः भारतीयों ने अनुभव किया कि इस दुर्व्यवहार का कारण भारत की पराधीनता है और इस अत्याचार को समाप्त करने का एक मात्र मार्ग भारत को स्वतंत्र करवाना है। इसके अतिरिक्त 1896 में अबीसीनिया ने इटली को तथा 1904–5 में जापान ने रूस को जब पराजित कर दिया तो भारतीयों को विश्वास हो गया कि यूरोपीय शक्तियां अजेय नहीं है। कुछ भारतीय

नेताओं ने जापान की प्रगति का अध्ययन आरम्भ किया और यह सोचने के लिये विवश हो गये कि जापान के तरीकों पर भारत को भी शक्तिशाली बनाया जाय ताकि वे भारत को अंग्रेजों से मुक्त करवा सकें।

(7) **बंगाल विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन**—बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने के उद्देश्य से लार्ड कर्जन ने 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया। कर्जन का कहना तो यह था कि प्रशासनिक सुविधा के लिये ऐसा किया गया था, किन्तु उसका मूल उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालकर उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलना था। पूर्वी बंगाल में जहां मुसलमानों का बहुमत था, वहां उसने मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया कि इस बंटवारे से पूर्वी बंगाल में इस्लाम का प्रभुत्व हो जायेगा और हिन्दुओं की प्रधानता समाप्त हो जायेगी। पूर्वी बंगाल के गवर्नर ने कहा, "उसकी दो स्त्रियां हैं, एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान, किन्तु वह दूसरी को अधिक चाहता है।" इस प्रकार बंगाल का विभाजन भारत की राष्ट्रीय एकता पर धूर्ततापूर्ण आक्रमण था। इस विभाजन ने सामान्य बंगालियों की भावनाओं को उत्तेजित कर दिया और बंगाल में नई पीढ़ी के कुछ युवक अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह की योजना बनाने लगे। लोगों का नरम दल की नीतियों में विश्वास समाप्त हो गया।

बंगाल विभाजन का विरोध करने के लिये अनेक सभाएं आयोजित की गई तथा वन्दे मातरम् का गान करती हुई अनेक टोलियां जुलूस के रूप में निकली। सरकार ने दमन नीति का सहारा लिया। लोगों ने इसका प्रत्युत्तर विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करके और स्वदेशी आन्दोलन चला कर दिया। अनेक स्थानों पर विदेशी कपड़ों की होलियां जलायी गई। सरकार ने भी अपनी दमन नीति तेज कर दी। गोखले ब्रिटिश सरकार के सामने स्थिति स्पष्ट करने के लिये लंदन गये तथा भारत सचिव लार्ड मार्ले को बंगाल विभाजन रद्द करने की प्रार्थना की, किन्तु लार्ड मार्ले ने इस बात को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इसलिये लोगों का नरम दल के प्रति विश्वास जाता रहा। स्वयं गोखले ने, जो नरम दल के नेता थे, कहा कि, "नवयुवक यह पूछने लगे हैं कि संवैधानिक उपायों का क्या लाभ है, यदि इनका परिणाम बंगाल का विभाजन ही होना था।" परिस्थितियों से विवश होकर गोखले को कहना पड़ा कि सरकार से सहयोग की नीति को जनता के हित में विदाई दी जाती है। चूंकि ब्रिटिश सरकार भारत में बंगाल के बंटवारे के विरुद्ध आन्दोलन करने वालों के साथ बहुत सख्ती का व्यवहार कर रही थी, इसलिये लोगों ने समझा कि सभाओं के करने से काम नहीं चलेगा, इसलिये कोई अन्य प्रभावशाली उपायों को अपनाने की आवश्यकता है। इससे उग्रवाद और आतंकवाद को काफी बल मिला।

उग्र दल का विकास तथा अंतिम विस्फोट

1904 तक कांग्रेस में उग्र और उदार विचारधारा के लोग सम्मिलित थे, किन्तु कांग्रेस की सविनय प्रार्थना की नीति की असफलता के कारण उग्र दल के लोगों

की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। कांग्रेस में उग्र विचारधारा के प्रमुख नेता बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल थे। उदारवादियों और उग्रवादियों में पर्याप्त सैद्धान्तिक मतभेद थे। उदारवादी सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास करते हुए अधिराज्य स्थिति (Dominion Status) अर्थात ब्रिटिश सत्ता के अन्तर्गत स्वशासन चाहते थे, जबकि उग्रवादियों का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्ति था। उदारवादी सविनय प्रार्थना की नीति में विश्वास रखते थे, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि आवश्यक बोध हो जाने पर अंग्रेज अपनी नीति में परिवर्तन कर लेंगे। किन्तु उग्रवादी सविनय प्रार्थना की नीति के विरोधी थे, क्योंकि वे अंग्रेजों की न्यायप्रियता को धोखा समझते थे। उनका विश्वास था कि भिक्षावृति से अंग्रेज कुछ भी देने वाले नहीं है, इसलिये हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। उग्रवादी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार व स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार पर जोर देते थे। किन्तु उदारवादी ऐसे किसी राजनीतिक आन्दोलन में विश्वास नहीं करते थे।

उदारवादियों व उग्रवादियों के सैद्धान्तिक मतभेद दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में सर्वप्रथम इन नेताओं ने अपने अनुयायियों के साथ अलग बैठक की। क्योंकि अधिवेशन में उग्रवादी गुट ने कुछ प्रस्ताव रखे थे, लेकिन नरम दल के विरोध के कारण वे प्रस्ताव पारित नहीं हो सके। अक्टूबर 1905 में बंगाल का विभाजन कर दिया गया था। तत्पश्चात 1906 में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें उग्रवादियों ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये लोकमान्य तिलक का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु नरम दल ने इसका विरोध किया। अन्त में वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष बनाने पर दोनों पक्ष सहमत हो गये। फिर भी उग्रवादियों ने स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा सम्बंधी प्रस्ताव पास करवा लिये। इसलिये इस अधिवेशन में उग्रवादियों की जीत हुई। इस अधिवेशन में भी दादाभाई नौरोजी ने कांग्रेस का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों की भांति ही भारत के लिये भी अधिराज्य स्थिति प्राप्त करना बताया।

यद्यपि कलकत्ता अधिवेशन में उग्रवादियों की सारी बातें मान ली गई थी, किन्तु उदारवादी उन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने को तैयार नहीं थे। दूसरी ओर लार्ड मिण्टो उग्रवादी दल को प्रभावशाली नहीं बनने देना चाहता था। अतः उसने भावी सुधारों के लिये उदारवादियों से विचार विमर्श आरम्भ कर दिया। इंगलैण्ड में भारत सचिव लार्ड मोर्ले और गोखले में एक प्रकार का समझौता भी हो चुका था। इधर उदारवादी कांग्रेस के संविधान में ऐसा संशोधन करना चाहते थे ताकि 1906 में स्वीकृत सभी प्रस्ताव समाप्त हो जाय। इसलिये उग्रवादियों द्वारा उदारवादियों पर संदेह करना स्वाभाविक ही था। फलस्वरूप कांग्रेस के दोनों गुटों में

मतभेद की खाई चौड़ी होती गई। दोनों गुट अब कांग्रेस पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिये प्रयत्न करने लगे। इन परिस्थितियों में 1907 में कांग्रेस का सूरत में अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन दोनों पक्षों के शक्ति परीक्षण का स्थल वन गया। नरम दल ने अध्यक्ष पद के लिये डॉ. रासविहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया, किन्तु उग्र दल ने लाला लाजपतराय का नाम प्रस्तावित किया। नरम दल वालों ने लाला लाजपतराय का विरोध करने का निश्चय किया और उनका उस समय कांग्रेस में वहुमत था। ऐसी परिस्थितियों में लाला लाजपतराय ने अपना नाम वापस ले लिया। इसके वाद उग्रवादियों ने खुले चुनाव की मांग की तथा तिलक ने मंच पर आकर अध्यक्ष के निर्वाचन के सम्वंध में कुछ आपत्तियां उठानी चाही, किन्तु उन्हें वोलने की अनुमति नहीं दी गई। इसी समय श्रोताओं में से किसी ने एक जूता सुरेन्द्र नाथ वनर्जी पर फेंका और फिर पूरे पाण्डाल में अव्यवस्था फैल गई। यहां तक कि मेजों और कुर्सियों को एक दूसरे पर फेंका गया। कांग्रेस अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। दूसरे दिन 25 दिसम्वर 1907 को फिर शोरगुल मचा तथा आपस में जूते और लाठियां तक चल गई। इसलिये पुलिस आ गयी और वल पूर्वक कांग्रेस भवन खाली कराया गया। इसके वाद नरम दल ने अपना सम्मेलन किया और अपना अलग विधान वनाया। उन्होंने उग्रवादियों को कांग्रेस से निकाल दिया। इस प्रकार गोखले और तिलक के अनुयायी अलग अलग हो गये (गोखले नरम दल के नेता थे तथा तिलक गरम दल के नेता थे)। सूरत में कांग्रेस की इस फूट का कारण यह वताया जाता है कि स्वयं अंग्रेज सरकार नरम दल को प्रोत्साहित कर रही थी ताकि उग्र दल कांग्रेस से अलग हो जाय। अंग्रेज सरकार को आखिर अपनी कुटिल नीति में सफलता मिल ही गई।

सूरत अधिवेशन के वाद तिलक ने अकेले ही संघर्ष आरम्भ किया और वम्वई के कौने-कौने में देश भक्ति की आग लगा दी। उन्होंने अपने तूफानी दौरों में वहुत सा धन भी जमा कर लिया। उन्होंने लोगों से कहा, "स्वराज्य के लिये काम करो और कष्ठ उठाने के लिये तैयार हो जाओ। हम स्वराज्य की मांग कर रहे हैं। स्वराज्य हमसे दूर नहीं है, वह उसी क्षण हमारे पास आ जायेगा जिस क्षण हम अपने पावों पर खड़ा होना सीख लेंगे।" सभाओं में उनका नारा था, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।"

कांग्रेस की फूट का परिणाम—कांग्रेस की इस फूट का अंग्रेज सरकार ने लाभ उठाया तथा उग्रवादियों के विरुद्ध अपना दमन चक्र छोड़ दिया। लाला लाजपतराय को वन्दी वनाकर मांडले भेज दिया। 1908 में समाचार पत्र अधिनियम पारित किया जिससे समाचार पत्रों की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। 1908 में 'केसरी' समाचार पत्र में सरकार के विरुद्ध लिखे गये लेख के आधार पर लोकमान्य तिलक को 6 वर्ष की सख्त कैद की सजा दी गई। 1911 में षड्यंत्रकारी सभा

अधिनियम पारित करवाया जिससे सार्वजनिक सभाओं पर पावन्दी लगा दी। अतः श्रीमती एनीबीसेन्ट ने कहा, "सूरत की फूट कांग्रेस के इतिहास में सबसे अधिक दुखपूर्ण घटना है।" अंग्रेजी सरकार की इस दमनकारी नीति का यह परिणाम निकाला कि देश के नवयुवकों का खून खौल उठा और उन्होंने सरकार से वदला लेने के लिये गुप्त रूप से वम बनाने आरम्भ कर दिये। इस प्रकार देश में आतंकवादी और क्रान्तिकारी आन्दोलनों का जन्म हुआ।

उग्र दल की कार्य विधि—उग्र दल का उद्भव एवं विकास नरम दल के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः स्वाभाविक ही था कि वह नरम दल द्वारा प्रतिपादित सविनय प्रार्थना की नीति में विश्वास नहीं करता था। अंग्रेज सरकार की न्यायप्रियता में भी उसका विश्वास नहीं था, क्योंकि वह उसे एक धोखा समझता था। उस समय उदारवादी अंग्रेजी साम्राज्य से मुक्त भारत की कल्पना ही नहीं कर सकते थे, और इसीलिये वे भारत के लिये अधिराज्य स्थिति की मांग कर रहे थे। किन्तु उग्र दल के नेता अंग्रेजी साम्राज्य से सहयोग भारत के विकास में हानिकारक समझते थे, क्योंकि उनको भारत की सभ्यता और संस्कृति में पूरा विश्वास था। इसलिये वे स्वराज्य की मांग कर रहे थे। स्वराज्य का साधारण अभिप्राय राजनीतिक मुक्ति से था। नरम दल पूरे वर्ष में तीन या चार दिन का अधिवेशन कर प्रस्ताव पास करके, उसके आधार पर अंग्रेजी सरकार को प्रार्थना पत्र भेजकर अपने कार्य की इति श्री समझ लेते थे, जबकि उग्र दल का लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने के लिये प्रभावशाली ढंग से आन्दोलन करना तथा इससे लोगों में त्याग और वलिदान की ऐसी भावना उत्पन्न करना कि शासकों को विवश होकर उनके समक्ष झुकना पड़े। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और राष्ट्रीय शिक्षा पर अधिक वल देते थे। लाला लाजपतराय का कहना था कि, "इस व्यापारी जाति के लिये व्यापार की हानि न्याय की नैतिकता के वाद-विवादों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली होगी।"

उग्रवादियों का कार्यक्रम केवल सत्याग्रह अथवा विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार तक ही सीमित नहीं था। वे राष्ट्रीय शिक्षा प्रद्धति की स्थापना चाहते थे ताकि इस प्रकार की शिक्षा से ऐसे देश भक्त स्वयंसेवक निकल सकें जो आत्मनिर्भरता तथा स्वतन्त्र कार्यवाही में विश्वास करते हों ताकि सरकार पर निर्भरता कम हो सके। वे लोगों के राजनीतिक प्रशिक्षण के लिये सार्वजनिक सभाओं, भाषणों एवं प्रदर्शनों का प्रयोग करते थे। उनकी समस्त योजना सरकार के विरुद्ध नहीं वल्कि सरकार के नियंत्रण से मुक्त थी।

क्रान्तिकारी तथा आतंकवादी आन्दोलन

उग्रवादी आन्दोलन के विरुद्ध ब्रिटिश हकूमत का दमन चक्र चालू था। सरकार ने लोकमत की उपेक्षा करके बड़े-बड़े नेताओं को जेलों में ठूंसना शुरू कर

किया, किन्तु वायसराय वाल वाल वच गये। एक दिन इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में चन्द्रशेखर तथा सुखदेवराज वड़ी गम्भीरता से कुछ सोच रहे थे कि पुलिस आ गयी। दोनों ओर से गोलियां चलायी गई। इस मुठभेड़ में ये दोनों क्रान्तिकारी वीर गति को प्राप्त हुए। इस प्रकार क्रान्तिकारियों ने सरकारी अधिकारियों की हत्याएं करके तथा सरकारी खजाना लूट कर समस्त देश में क्रान्ति की आग लगा दी।

विदेशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन—पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा उसके सहायक की हत्याओं में सरकार को यह भी सन्देह था कि इसमें श्यामजी कृष्ण वर्मा का हाथ है। श्यामजी कृष्ण वर्मा संस्कृत के महान विद्वान थे तथा उदयपुर और जूनागढ़ में दीवान रह चुके थे। सरकार की कार्यवाहियों से तंग आकर वे इंगलैंड चले गये। वहां व्यापार में उन्होंने काफी धन कमाया, किन्तु सारा धन इंगलैंड में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रचार करने में लगा दिया। वे उन भारतीय विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देते थे जो भारत से इंगलैंड आकर राष्ट्रीय आन्दोलन करते थे। उन्होंने इंगलैंड में 'इण्डिया हाउस' की स्थापना की, जो भारतीय क्रान्तिकारियों का केन्द्र बन गया। वीर सावरकर, मदनलाल ढींगरा, सरदारसिंह राणा, लाला हरदयाल आदि क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में यहीं अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिये योजनाएं बनाते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशों में क्रान्ति की लहर उत्पन्न की। जनवरी 1905 में उन्होंने 'सोशियोलोजिस्ट' नामक समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया, जिसमें क्रान्तिकारी लेख छपते थे। उन्होंने लंदन में 'होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार ने उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखना आरम्भ कर दिया। अतः श्यामजी कृष्ण वर्मा लंदन से पेरिस आ गये तथा इण्डिया हाउस का कार्य वीर सावरकर को सौंप दिया। वीर सावरकर ने 'अभिनव भारत' (Young India) नामक संस्था स्थापित की जिसने यूरोप में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने लाला हरदयाल को पेरिस में बुलाकर 'वन्दे मातरम्' नामक समाचार पत्र निकालने का प्रयत्न किया। 13 मार्च 1910 को वीर सावरकर को लंदन में गिरफ्तार कर लिया गया। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उन्हें भगाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इस प्रकार इन क्रान्तिकारियों ने फ्रान्स, इंगलैंड, जर्मनी और रूस में भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रचार करते रहे।

जिस प्रकार श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इंगलैंड, फ्रांस, व जर्मनी में कार्य किया, उसी प्रकार भाई परमानन्द ने अमेरीका और इंगलैंड में भारतीय स्वतन्त्रता के लिये प्रचार किया। लाला हरदयाल ने अमेरीका में 25 मार्च 1913 को सेन फ्रांसिसको (केलीफोर्निया) नगर में भारत में गदर कराने की दृष्टि से 'गदर-पार्टी' की स्थापना की। इस गदर पार्टी के सभापति बाबा सोहनसिंह, उपसभापति बाबा

केशरसिंह, मंत्री लाला हरदयाल और कोपाध्यक्ष पंडित काशीराम चुने गये। इस पार्टी ने 1 नवम्बर 1913 से एक साप्ताहिक पत्रिका 'गदर' का प्रकाशन आरम्भ किया तथा जहां जहां विदेशों में भारतीय रहते थे, इसकी प्रतियां भेजी जाती थी। इस पत्र द्वारा क्रान्ति और भारतीय स्वतन्त्रता का खूब प्रचार किया जाता था। अमेरीका में पहले गदर पार्टी ने और बाद में इंडिया लीग ने भारतीय स्वतन्त्रता के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया।

कनाड़ा में 1913 ई. तक लगभग चार हजार भारतीय थे, जिनमें अधिकांश सिक्ख थे। कनाड़ा की सरकार इन भारतीयों को बहुत तंग करती थी। अतः कनाड़ा में भारतीयों का जीवन नरक के समान था। कनाड़ा सरकार ने भारतीयों को कनाड़ा आने से रोकने के लिये एक कानून बनाया जिसके अनुसार वही भारतीय कनाड़ा में उतर सकता था जो भारत से किसी जहाज में सीधा कनाड़ा आया हो। उस समय कोई जहाज भारत से सीधा कनाड़ा नहीं जाता था। इस पर अमृतसर के एक व्यापारी बाबा गुरुदत्तसिंह ने एक नेवीगेशन कम्पनी बनाई और जापान से एक जहाज किराये पर लिया, जिसका नाम 'कोमागातामारु' था। कनाड़ा जाने वाले भारतीयों को इसमें बैठाकर इसे कनाड़ा के मुख्य बन्दरगाह वैंकावर की ओर भेज दिया। 22 मई 1914 को यह जहाज वैंकावर पहुंच गया, किन्तु कनाड़ा सरकार ने जहाज के किसी यात्री को उतरने की अनुमति नहीं दी तथा जहाज को वापिस लौटने के आदेश दे दिये। बाबा गुरुदत्तसिंह ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया, तो कनाड़ा सरकार ने पुलिस का एक दल भेज दिया, जिसने यात्रियों पर उबलता हुआ पानी फेंका। यात्रियों ने भी पुलिस पर गर्म कोयले फेंकने आरम्भ कर दिये तथा पुलिस दल को मार भगाया। तत्पश्चात कनाड़ा सरकार ने अपना एक जंगी बेड़ा भेजा जिससे विवश होकर 'कोमागातामारु' को भारत की ओर लौटना पड़ा। 26 सितम्बर 1914 को यह जहाज बजबज (कलकत्ता) पहुंचा। भारत सरकार ने इन यात्रियों को गिरफ्तार करने के लिये पहले से ही गाड़ी खड़ी कर रखी थी। पुलिस ने यात्रियों को बलपूर्वक गाड़ी में भरने का प्रयत्न किया। इस पर झगड़ा हो गया और दोनों तरफ से गोली चल गई। इसमें 18 सिक्ख मारे गये और बाबा गुरुदत्तसिंह, जो स्वयं क्रान्तिकारी थे, घायल हो गये। कुछ यात्री गोलियों की वर्षा में से बाबा को उठाकर भाग गये। सरकार ने बाद में बाबा को पकड़ने को लाख प्रयत्न किये, किन्तु सरकार को उनका कहीं पता नहीं चला।

प्रथम विश्व युद्ध और क्रान्तिकारी आन्दोलन—क्रान्तिकारियों के लिये प्रथम विश्व युद्ध स्वर्ण अवसर था, क्योंकि अंग्रेज सरकार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में उलझी हुई थी। जर्मनी, इंगलैंड का शत्रु था, अतः क्रान्तिकारियों को जर्मनी से सहायता प्राप्त होने की आशा थी। लाला हरदयाल स्वयं जर्मनी गये और वहां उन्होंने जर्मनी के सम्राट विलियम कैसर द्वितीय से सांठ-गांठ करने की योजना बनायी। जर्मनी भी

भारतीयों को सहायता देने को उत्सुक था। जर्मनी में एक 'भारतीय स्वतन्त्रता समिति' स्थापित की गई, जो भारतीयों को अस्त्र शस्त्र पहुंचाने तथा आर्थिक सहायता देने का कार्य करती थी। लाला हरदयाल की प्रेरणा से काबुल में राजा महेन्द्र प्रताप ने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये एक अस्थायी सरकार बनायी और यह तय हुआ कि जर्मनी और तुर्की की सहायता से ईरान, अरब, ईराक और अफगानिस्तान के मुसलमान विद्रोह कर दें और उधर पंजाब में सिक्ख उनका साथ दें। इसके लिये लाला हरदयाल ने सैकड़ों क्रान्तिकारी तथा बहुत सा गोला बारूद भी भारत भेजा तथा क्रान्ति के लिये 21 फरवरी 1915 का दिन निश्चित किया। किन्तु यह सारी योजना देशद्रोही कृपालसिंह द्वारा नष्ट कर दी गई। उस समय जबकि इंगलैंड जर्मनी से हार रहा था, यह योजना सफल हो जाती तो संभवतः भारत का इतिहास ही कुछ दूसरा होता।

क्रान्तिकारी तथा आतंकवादी आन्दोलन की असफलता—सशस्त्र प्रयत्नों से अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त करने के क्रान्तिकारियों के प्रयत्न विफल रहे, यद्यपि क्रान्तिकारी भावना समाप्त नहीं हुई। क्रान्तिकारियों की असफलता के अनेक कारण थे। क्रान्तिकारियों की कार्यवाहियों का भारतीय समुदाय के अत्यन्त ही छोटे वर्ग ने समर्थन किया। उसे जन साधारण या मध्यम वर्ग तथा कांग्रेस जैसी संस्था का भी समर्थन नहीं मिल सका। समाज के उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोग तो इसके कट्टर विरोधी थे। क्रान्तिकारियों की कार्यवाहियों में कोई समन्वय नहीं था, अतः विभिन्न प्रान्तों के संगठन अलग अलग कार्य करते रहे। विभिन्न प्रान्तों के क्रान्तिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। सरकार की दमनकारी नीति के सामने भी क्रान्तिकारी अधिक समय तक टिके नहीं रह सके। सरकार का खुफिया विभाग इतना कुशल और तत्पर था कि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों की सूचना सरकार को प्राप्त हो जाती थी। फिर हमारे देश में जयचंद जैसे देशद्रोही तो हर युग में हुए हैं, जो क्रान्तिकारियों की योजना पर पानी फेर देते थे।

आन्दोलनों का महत्व—यद्यपि क्रान्तिकारी अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहे, फिर भी क्रान्तिकारी आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को नीति परिवर्तन के लिये बाध्य किया। ब्रिटिश सरकार इस आन्दोलन को निष्प्रभाव करना चाहती थी और यह तभी संभव था जबकि वह भारतीयों की कुछ मांगें माने। इसलिये ब्रिटिश सरकार को उदारवादियों की कुछ मांगें मानकर उन्हें सन्तुष्ट करना पड़ा ताकि उदारवादी आन्दोलन के प्रति लोगों की आस्था बनी रहे। अंग्रेज इन क्रान्तिकारियों को डाकू, हत्यारे तथा आतंकवादी कहते थे, लेकिन उन्होंने कभी भी समाज में आतंक फैलाने का कार्य नहीं किया बल्कि वे तो अत्याचारी शासकों के मन में आतंक उत्पन्न करके देश को पराधीनता से मुक्त कराना चाहते थे। क्रान्तिकारी जानते थे कि पकड़े जाने पर उन्हें आजन्म कारावास, देश निर्वासन अथवा मृत्यु दण्ड

से कम सजा नहीं मिल सकती थी। फिर भी देश की स्वाधीनता के लिये वे किसी प्रकार का वलिदान करने को तैयार थे। अतः अनेक क्रान्तिकारी हंसते-हंसते फांसी के फन्दों की मालाएं अपने गले में धारण कर ली और इन्हीं शहीदों के खून से हमारी आजादी का पौधा सींचा गया था। दुर्भाग्य की बात है कि इतिहासकारों ने इन क्रान्तिकारियों के योगदान को नगण्य वताया है। वास्तव में आज हमारी राष्ट्रीय स्मृति में जन शहीदों को स्थान प्राप्त है जिन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह किया था। क्रान्तिकारियों ने ही देश की स्वतन्त्रता के लिये प्राणों का वलिदान करने का उज्ज्वल उदाहरण जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था। वलिदान की यही भावना आगे चलकर अहिंसात्मक आन्दोलन की सफलता के लिये उत्तरदायी हुई थी।

महात्मा गांधी अहिंसात्मक आन्दोलन पर अधिक वल देते थे। अतः महात्मा गांधी ने अपने एक लेख 'वम की पूजा' (Cult of Bomb) में इस कृत्य की निन्दा की। इसका प्रत्युत्तर क्रान्तिकारियों ने 'वम की फिलॉसफी' (Philosophy of Bomb) नामक पर्चा निकाल कर दिया। इस पर्चे में उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया। परिस्थितियों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेज सरकार वहुत निरंकुश थी और उसे हिलाने के लिये शक्ति का प्रयोग आवश्यक था। पट्टाभिसीतारमैया ने ठीक ही लिखा है कि, "कराची में कांग्रेस के अधिवेशन के समय सरदार भगतसिंह का नाम भारत में उतना ही लोकप्रिय हो चुका था जितना गांधीजी का। इसलिये कांग्रेस ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के वलिदानों की सराहना में एक प्रस्ताव पास किया।" सुभाषचन्द्र वोस भी अंग्रेजों को निकालने के लिये सशस्त्र आन्दोलन आवश्यक मानते थे। इसीलिये उन्होंने आजाद हिन्द फौज वनाई। इस आजाद हिन्द फौज द्वारा जो जन जागरण हुआ, उसे कौन इन्कार कर सकता है।

मोर्ले-मिण्टो सुधार और आन्दोलन—भारत सचिव मोर्ले भारत में संसदात्मक प्रणाली स्थापित करना नहीं चाहता था। किन्तु उग्रवादियों व क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को रोकने के लिये नरम दल को सरकार की ओर मिलाये रखना चाहता था। भारत का तात्कालिक वायसराय लार्ड मिण्टो, मोर्ले से भी अधिक प्रतिक्रियावादी था। किन्तु भारत में राजनीतिक आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था और वंगाल विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन ने क्रान्तिकारी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था। ऐसी परिस्थितियों में भारत में कुछ सुधार करना भी आवश्यक था। अतः मोर्ले ने लार्ड मिण्टो से वातचीत करके 1909 में एक सुधार अधिनियम पारित करवाया, जिसे मोर्ले-मिण्टो सुधार कहते हैं। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय व प्रान्तीय धारा सभाओं की सदस्य संख्या तथा उनके अधिकारों में भी कुछ वृद्धि की गई। गैर सरकारी सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि की गई और

निर्वाचन का सिद्धान्त भी एक सीमा तक स्वीकार किया गया। किन्तु इससे साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की स्थापना कर दी गई। निर्वाचन क्षेत्रों को चार भागों में बांटा गया—सामान्य, जमींदारों, चेम्बर ऑफ कामर्स तथा मुसलमानों के लिये। इस प्रकार मुसलमानों को पृथक निर्वाचन अधिकार देकर साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान का बीजारोपण कर दिया। इन सुधारों से कोई भी प्रसन्न नहीं हुआ। हाँ, अलीगढ़ विचारधारा के मुसलमान, जिनके आग्रह पर ऐसा किया गया था, वे अवश्य ही प्रसन्न हुए होंगे। इससे तो कांग्रेस के उदारवादियों को भी बड़ी निराशा हुई।

इन सुधारों से उग्रवादी सर्वाधिक असन्तुष्ट हुए तथा उनका जोर बढ़ता ही गया। क्रान्तिकारियों की गतिविधियां और अधिक तेज हो गयी। सरकार ने इनका दमन करने के लिये 1911 में 'राजद्रोह सभा अधिनियम' (Seditious Meetings Act) पास किया और लाला लाजपतराय व सरदार अजीतसिंह को कैद करके वर्मा भेज दिया गया। बंगाल में बंग-भंग आन्दोलन भी जोरों पर था। अतः वायसराय लार्ड हार्डिंग ने कलकत्ता की बजाय दिल्ली को भारत की राजधानी बनाने का निश्चय किया, क्योंकि अंग्रेजी सरकार के लिये कलकत्ता खतरनाक जगह थी। तत्पश्चात बंग-भंग आन्दोलन समाप्त करने के उद्देश्य से 1911 में बंगाल विभाजन भी रद्द कर दिया। बंगला भाषी क्षेत्र को एक प्रान्त बना दिया गया तथा बिहार व उड़ीसा को एक अलग प्रान्त बना दिया गया।

प्रथम विश्व युद्ध और उसका प्रभाव—1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि यह युद्ध जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र की रक्षा के लिये लड़ा जा रहा है। लोकतन्त्र की रक्षा के लिये भारत से भी सहायता मांगी गई। कांग्रेसी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार की हर सम्भव तरीके से सहायता की। वे अंग्रेजी साम्राज्य की कठिनाइयों से लाभ उठाना नहीं चाहते थे। भारत के सारे नेता यह सोचते थे कि जब अंग्रेज लोकतन्त्र की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं तो भारतीयों को लोकतन्त्र देने से कैसे इन्कार कर सकते हैं। इंगलैंड ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। तुर्की का सुलतान विश्व के मुसलमानों का खलीफा था, फिर भी मुसलमानों की अंग्रेजों के प्रति भक्ति में कोई अन्तर नहीं आया। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने भारत के मुसलमानों को विश्वास दिलाया था कि टर्की के सुल्तान के सम्मान की रक्षा की जायेगी।

युद्ध के दौरान क्रान्तिकारी गतिविधियां चालू थी। अतः क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिये सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' (Defence of India Act) पारित किया और प्रेस पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। इस युद्ध में नरम दल, गरम दल और मुस्लिम लीग सरकार के साथ सहयोग कर रहे थे। अतः इन तीनों में स्थायी एकता के प्रयास किये गये। यह एकता नरम दल व गरम दल

में तथा कांग्रेस व मुस्लिम लीग में स्थापित करनी थी। 1914 में तिलक 6 वर्ष के कारावास से मुक्त होकर आये ही थे, अतः तिलक और उदारवादियों के बीच समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। किन्तु गोखले व फिरोजशाह मेहता उग्रवादियों से समझौता करने को तैयार नहीं हुए। फलस्वरूप उस समय समझौता संभव नहीं हो सका। फरवरी 1915 में गोखले तथा नवम्बर 1915 में फिरोजशाह मेहता का स्वर्गवास हो गया, तब दिसम्बर 1915 में श्रीमती एनीबीसेंट के प्रयत्नों से कांग्रेस के संविधान में कुछ संशोधन करके नरम दल व गरम दल में पुनः मेल करवा दिया गया। तत्पश्चात भारतीय नेताओं ने मांग की कि सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत में वैसी ही सरकार स्थापित कर दी जायेगी जैसी अन्य उपनिवेशों में है। ब्रिटिश सरकार इस बारे में चुप रही। अतः भारतीय नेताओं को इस चुप्पी पर कुछ सन्देह हुआ। इसलिये विवश होकर भारतीयों ने होमरूल आन्दोलन चलाया।

होमरूल आन्दोलन

इस आन्दोलन को चलाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेंट तथा तिलक को दिया जाता है। श्रीमती एनीबीसेन्ट आयरलैंड की रहने वाली थी और भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रमुख कार्यकर्त्री थी। वह भारत की सभ्यता और संस्कृति में अगाध विश्वास रखती थी, इसलिये आयरलैंड को छोड़कर वह भारत में बस गई थी। वह भारत को वैसा ही स्वराज्य अथवा होमरूल दिलाना चाहती थी जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे उपनिवेशों को प्राप्त था। वह कहती थी कि बुद्धि और दूरदर्शिता का तकाजा है कि वह भारत को होमरूल देकर संतुष्ट करे। डॉ. जकरिया के मतानुसार, "उसकी योजना उग्रवादी राष्ट्रीय व्यक्तियों को क्रान्तिकारियों के साथ इकट्ठा होने से रोकने की थी। वह भारतीयों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य दिलाकर सन्तुष्ट रखना चाहती थी।" इसलिये एक ओर तो उसने कांग्रेस के दोनों दलों में मेल करवाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर एक ऐसा संवैधानिक आन्दोलन आरम्भ किया जिससे कि भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारियों का प्रभाव न बढ़ सके। 1908-14 के बीच वह कई बार इंगलैंड गई और अपने लक्ष्यों का प्रचार किया, किन्तु इंगलैंड में उसे कोई सफलता नहीं मिली। भारत लौटकर 1914 में वह कांग्रेस में शामिल हो गयी। अपने उद्देश्यों का प्रचार करने के लिये उसने 2 जनवरी 1914 से 'कामन वील' एक साप्ताहिक समाचार पत्र अंग्रेजी में निकालना आरम्भ किया तथा इसके छः महीने बाद 14 जुलाई 1914 को 'न्यू इंडिया' नामक दैनिक समाचार पत्र भी अंग्रेजी में निकालना आरम्भ किया। उसने 1914 के मद्रास कांग्रेस अधिवेशन में कहा, "भारत अब साम्राज्यवाद के शिशुगृह में एक शिशु की भांति बन्द नहीं रहना चाहता। भारत को स्वराज्य देना आवश्यक है।"

1914 में तिलक छः वर्ष की कैद काटकर मुक्त होकर आये थे। उनके मुक्त होकर आने से लोगों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और राष्ट्रीय विचारधारा पुनः प्रवल हुई। दिसम्बर 1915 में एनीवीसेन्ट ने कांग्रेस से होमरूल के सम्वंध में एक योजना बनाने को कहा, किन्तु 1 सितम्बर 1916 तक कोई योजना न बन सकी। अतः एनीवीसेन्ट ने स्वयं सितम्वर 1916 में मद्रास के गोखले हॉल में होमरूल लीग की स्थापना की। इधर दिसम्वर 1915 में तिलक नें पूना में, वम्बई, मध्य प्रान्त और वरार के राष्ट्रवादियों की एक सभा बुलाई और इसकी एक समिति ने अप्रेल 1916 में वेलगांव प्रान्तीय कांफ्रेंस के अवसर पर इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की। इस प्रकार तिलक ने होमरूल लीग पहले स्थापित की तथा एनी वीसेन्ट ने वाद में। किन्तु इन दोनों में पर्याप्त सहयोग था। तिलक का कार्य क्षेत्र महाराष्ट्र और मध्य भारत था और शेष भारत में आन्दोलन संचालित करने का दायित्व एनीवीसेन्ट का था। थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखाएं प्रायः प्रत्येक प्रान्त और जिले में थी, इसलिये एनीवीसेन्ट को इससे बड़ा लाभ हुआ। होमरूल आन्दोलन आरम्भ होते ही थियोसोफिल सोसाइटी होमरूल लीग की शाखा वन गई।

1917 में होमरूल आन्दोलन वड़ी तेजी से चला और घर घर में इसकी आवाज गूंजने लगी। ब्रिटिश सरकार युद्ध के दौरान ऐसे आन्दोलन को सहन करने वाली नहीं थी। अतः सरकार ने तिलक पर अनेक पावन्दियां लगा दी तथा एनी वीसेन्ट के समाचार पत्र 'न्यू इंडिया' की जमानत जव्त कर ली। कुछ समय वाद तिलक को दिल्ली व पंजाव में घुसने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। एनीवीसेन्ट और उसके साथियों को नजरवन्द कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में एनीवीसेन्ट तथा होमरूल आन्दोलन की लोकप्रियता अत्यधिक वढ़ गई। एनी वीसेन्ट को छुड़ाने के लिये स्थान स्थान पर सभाएं होने लगी। थोड़े समय वाद विवश होकर सरकार ने एनीवीसेन्ट को छोड़ दिया। 1917 में वह कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गई। तिलक ने होमरूल आन्दोलन को और अधिक वढ़ाया। भारत सरकार इस आन्दोलन के प्रभाव से भयभीत हो गयी तथा भारत सचिव मोंटेग्यू पर दवाव डाला कि वह भारतीय सरकार की नीति स्पष्ट करे। अतः विवश होकर भारत सचिव ने 20 अगस्त 1917 को घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार की नीति धीरे धीरे भारत में स्वायत्त शासन स्थापित करने की है। इस घोषणा के वाद एनीवीसेन्ट ने अपना होमरूल आन्दोलन समाप्त कर दिया।

इसके वाद एनीवीसेन्ट राजनीति से अलग-थलग पड़ गई, क्योंकि 1919 के सुधारों के वाद उसने प्रत्येक मामले में अंग्रेजी सरकार का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। अप्रेल 1919 में पुलिस द्वारा भारतीयों पर गोली चलाना और रोलेट एक्ट पारित करना उसने उचित वताया। 1919 के सुधारों में कुछ परिवर्तन

चाहने वाला एक शिष्टमंडल इंगलैंड भेजा गया, किन्तु [illegible]
विरोध किया। उसने तो गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का [illegible]
अतः उसकी भारतीय राजनीति में केवल चार वर्षों तक [illegible]
महत्वपूर्ण भूमिका रही। संभवतः उसका विचार था कि ब्रिटिश शासन के
विरुद्ध असन्तोष को वैधानिक सीमाओं में बांध दिया जाय [illegible]
विस्फोटक न वन सके।

लखनऊ समझौता—सर सैयद अहमदखां ने मुस्लिम लीग द्वारा मुसलमानों
को कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने का प्रयत्न किया था, किन्तु 1912
के वाद परिस्थितियां वदलने लगी। 1912-13 में हुए बाल्कन युद्धों में अंग्रेजों की
सहानुभूति टर्की के साथ नहीं थी। 1911 में वंगाल विभाजन भी रद्द कर दिया
गया था और मुसलमानों के हितों की उपेक्षा की थी। प्रथम विश्व युद्ध में कांग्रेस
ने सरकार की पूरी सहायता की थी, इसलिये सरकार की कांग्रेस के प्रति सहानुभूति
थी। अतः मुस्लिम लीग ब्रिटिश सरकार से नाराज थी। 1913 में मुस्लिम लीग ने
अपने लखनऊ अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास कर दिया कि उसका लक्ष्य ब्रिटिश ताज
के अधीन भारत के लिये स्वराज्य प्राप्त करना है। इससे कांग्रेस व मुस्लिम लीग में
सहयोग का मार्ग प्रशस्त हो गया, क्योंकि दोनों के उद्देश्य अब काफी सीमा तक
समान हो गये थे।

प्रथम महायुद्ध में भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति टर्की के साथ थी,
अतः उन्होंने ब्रिटिश सरकार की आलोचना शुरू कर दी। अतः सरकार ने मोहम्मद
अली, शौकत अली व मौलाना अब्दुल कलाम आजाद को कैद कर लिया गया।
इससे मुसलमानों का रोष अधिक वढ़ गया और उन्होंने कांग्रेस से समझौता करने
की आवश्यकता अनुभव की। मुहम्मद अली जिन्ना के प्रयत्नों से 1915 में दोनों
संस्थाओं का अधिवेशन एक ही दिनों में वम्बई में बुलाये गये। महात्मा गांधी,
मदनमोहन मालवीय और सरोजनी नायडू जैसे प्रसिद्ध नेताओं को मुस्लिम लीग के
अधिवेशन में निमन्त्रित किया गया, जहां उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के वारे में
भाषण दिये। कांग्रेस व मुस्लिम लीग ने एक संयुक्त समिति वनाई जिसने दोनों
संस्थाओं में मेल उत्पन्न करने हेतु एक योजना तैयार की। इस योजना को कांग्रेस-
लीग योजना कहते हैं। 1916 में दोनों संस्थाओं ने अपने लखनऊ अधिवेशन में इस
योजना को स्वीकार कर लिया, इसलिये इसे लखनऊ समझौता भी कहा जाता है।
इस समझौते की मुख्य वातें निम्न थीं—

(1) कांग्रेस ने साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली तथा मुसलमानों को उनकी
जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देने की मांग स्वीकार कर ली। विभिन्न
प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित सदस्यों का निश्चित भाग मुसलमानों
के लिये आरक्षित कर दिया गया। तदनुसार मुसलमानों को पंजाव में 50 प्रतिशत,

उत्तर प्रदेश में 30 प्रतिशत, बंगाल में 40 प्रतिशत, बिहार में 25 प्रतिशत, मध्य प्रान्त में 15 प्रतिशत, मद्रास में 15 प्रतिशत और बम्बई (जिसमें सिन्ध प्रान्त सम्मिलित था) में 33 प्रतिशत स्थान दिये गये।

(2) केन्द्रीय विधान परिषद में निर्वाचित सदस्यों का 1/3 भाग मुसलमानों के लिये आरक्षित कर दिये गये, जो मुस्लिम मतदाताओं द्वारा चुने जायेंगे।

(3) यदि किसी गैर सरकारी सदस्य द्वारा ऐसा कोई प्रस्ताव या विधेयक परिषद में प्रस्तुत किया जाय जो दूसरे सम्प्रदाय के हितों को प्रभावित करता हो और उस सम्प्रदाय के 3/4 सदस्य उस प्रस्ताव या विधेयक का विरोध करे तो उसे पारित नहीं किया जायेगा।

(4) प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषद में कम से कम आधे सदस्य भारतीय होने चाहिये, जो उस प्रान्त की विधान परिषद् द्वारा चुने जायेंगे। इसी प्रकार गवर्नर जनरल की कौंसिल के भी आधे सदस्य भारतीय होने चाहिये, जो केन्द्रीय विधान परिषद द्वारा चुने जायेंगे। इस चुनाव में केन्द्रीय विधान परिषद के केवल निर्वाचित सदस्यों को ही मत देने का अधिकार होना चाहिये।

(5) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में 80 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने चाहिये।

(6) भारत सचिव की इंडिया कौंसिल को समाप्त कर दिया जाय और भारत सचिव का वेतन भारतीय कोष की बजाय इंगलैंड के कोष से दिया जाय।

लखनऊ समझौते की समीक्षा—कांग्रेसी नेताओं ने इस समझौते को अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बताया। तिलक और एनीबीसेन्ट ने भी इस समझौते का समर्थन किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार यह दिन भारतीय इतिहास का सुनहला दिन था। वे अपनी सफलता इस बात में समझ रहे थे कि उन्होंने मुसलमानों की प्रमुख राजनीतिक संस्था से कुछ मांगों पर सहमति प्राप्त करली थी, जिनका अब तक मुस्लिम लीग विरोध करती आ रही थी। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि कांग्रेसियों ने या तो इसके दूरगामी परिणामों को ठीक से समझा ही नहीं या फिर उनकी उपेक्षा की। कांग्रेस ने अब तक साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र का विरोध किया था, किन्तु इस समझौते में इसे स्वीकार कर लिया, जिससे राष्ट्रीय एकता का सिद्धान्त समाप्त कर दिया। कांग्रेसियों ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था मानकर अपने आपको हिन्दुओं का प्रतिनिधि बना लिया। कांग्रेस ने तो अब अपने राष्ट्रीय होने का दावा ही दुर्बल बना लिया। वस्तुतः यह समझौता कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के प्रति तुष्टिकरण की नीति का प्रारम्भ था। कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता के सामने घुटने टेक दिये। इससे मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाएं अधिक तीव्र हुई जिसका अन्तिम परिणाम देश का विभाजन हुआ। निसन्देह यह राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था तथा

खिलाफत आन्दोलन इसी का परिणाम था, किन्तु कांग्रेस को इसके लिये बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी ।

नरम दल व गरम दल में पुनः मतभेद—यद्यपि नरम दल और गरम दल में मेल हो गया था, किन्तु दोनों की विचारधाराएं एक नहीं हो सकी । गरम दल के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रमुत्व से नरम दल में असंतोष था । मोंटेग्यू ने भारत को स्वायत्त शासन देने की घोषणा की थी तथा भारत आकर यहां की परिस्थितियों का अध्ययन कर उसने एक सुधार योजना बनायी । नरम दल के नेताओं ने मोंटेग्यू से बातचीत की, जिससे उन्हें पता चला कि मोंटेग्यू की प्रस्तावित सुधार योजना गरम दल को स्वीकार्य नहीं होगी । जुलाई 1918 में मोंटेग्यू की सुधार योजना प्रकाशित हुई और जैसी आशंका थी, गरम दल ने इसका विरोध किया । देश के राजनीतिक वातावरण में तनाव पैदा हो गया । अगस्त 1918 में इस सुधार योजना पर विचार करने के लिये कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया । नरम दल इस योजना को स्वीकार करना चाहता था, क्योंकि इसमें उत्तरदायी सरकार के आरम्भ करने का आश्वासन दिया गया था । अतः नरम दल वाले उस अधिवेशन में सम्मिलित ही नहीं हुए, क्योंकि इस समय कांग्रेस पर गरम दल का पूर्ण प्रभाव था । इस प्रकार नरम दल और गरम दल में सदा के लिए फूट पड़ गई । नरम दल के नेताओं ने नवम्बर 1918 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में बम्बई में एक अलग सम्मेलन आयोजित किया और अपने को एक अलग संस्था—अखिल भारतीय राष्ट्रीय उदार संघ (Indian National Liberal Fedration) के रूप में संगठित किया । इस सम्मेलन में सुधारों की योजना स्वीकार कर ली गई । नरम दल ने नयी योजना के अनुसार नवम्बर-दिसम्बर 1920 के चुनावों में भाग लिया, जबकि महात्मा गांधी असहयोग आन्दोलन चला रहे थे ।

मोंटेग्यू योजना ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर भी प्रहार किया । मुसलमान प्रस्तावित सुधारों में अपने समुदाय के लिये विशेषाधिकार प्राप्त करना चाहते थे और उधर अक्तूबर 1916 में आरा (बिहार) में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे, जिससे दोनों सम्प्रदायों में तनाव बढ़ा । फिर सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में दंगा हुआ और इन साम्प्रदायिक दंगों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर घातक प्रहार किया । गुरुमुखनिहाल सिंह ने लिखा है, "मोंटेग्यू-योजना वस्तुतः भारतीयों के लिये झगड़े की जड़ सिद्ध हुई । काफी यत्न और बलिदान के बाद भारत में जो एकता स्थापित हुई थी, वह तुरन्त ही नष्ट हो गयी ।"

तिलक का राष्ट्रीय आन्दोलन में योगदान

बालगंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी में एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनके पिता का नाम गंगाधर रामचन्द्र तिलक था, जो संस्कृत के विद्वान थे । बालगंगाधर तिलक जब 17 वर्ष के

ही थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। आपने डेकन कालेज से 1879 में कानून की डिग्री प्राप्त की। कालेज से निकलते समय उन्होंने जनहित के कार्यों में लगे रहने तथा सरकारी नौकरी न करने का निश्चय किया और अपने मित्र गोपाल गणेश अगरकर के साथ मिलकर सर्वप्रथम एक अंग्रेजी स्कूल स्थापित किया। 1881 ई. में आपने 'केसरी' मराठी भाषा में तथा 'मराठा' अंग्रेजी भाषा में समाचार पत्र निकालना आरम्भ किया। 'केसरी' का संपादन अगरकर तथा 'मराठा' का संपादन स्वयं तिलक करते थे। 'केसरी' ने लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने तथा 'मराठा' ने लोगों के विचारों को सरकार तक पहुंचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

तिलक और उनके समकालीन राजनीतिज्ञों में मौलिक मतभेद थे। उस समय पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति ने भारतीय नेताओं पर अपनी प्रधानता स्थापित कर दी थी। अतः भारतीय नेता पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को श्रेष्ठ मानते थे और अपनी सभ्यता और संस्कृति में उनका विश्वास समाप्त होता जा रहा था। तिलक पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की प्रधानता को समाप्त कर लोगों को भारत के प्राचीन गौरव का अनुभव कराना चाहते थे। उस समय लोगों पर अंग्रेजी नैतिक उच्चता की भी छाप थी और इसीलिये वे अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति सहयोग की नीति अपना रहे थे। लेकिन तिलक इस अंग्रेजी नैतिक उच्चता के मोह जाल को काटना चाहते थे। अतः वे भारतीय इतिहास के ऐसे नायकों के जीवन से लोगों को प्रेरणा देना चाहते थे जो अंग्रेजी चिंतन प्रणाली से मुक्ति प्रदान करने में सहायक हों। उन्होंने शिवाजी के औरंगजेब के साथ संघर्ष को एक विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष बताया और महाराष्ट्र में उन्होंने 'शिवाजी उत्सव' मनाने की प्रथा आरम्भ की। इसी कारण अंग्रेज लेखकों ने उन पर मुस्लिम विरोधी होने का आरोप लगाया है। किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य साम्प्रदायिक नहीं था बल्कि शिवाजी के जीवन से प्रेरणा देकर महाराष्ट्र के लोगों को जागृत करना था। इसी प्रकार उन्होंने 'गणपति उत्सव' को भी राष्ट्रीय जागृति में सहायक बनाया। गणपति उत्सव के अवसर पर अपने राजनीतिक भाषणों द्वारा लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने का कार्य किया।

तिलक और महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में भी मौलिक मतभेद थे। वे राजनीतिक स्वाधीनता के समक्ष सामाजिक सुधारों को गौण समझते थे। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि हमारी सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण राजनीतिक पराधीनता हुई है। उन्होंने श्रीलंका, बर्मा और आयरलैंड का उदाहरण देते हुए कहा कि वहां सामाजिक स्वतंत्रता होते हुए भी राजनीतिक पराधीनता थी। तिलक ने यह भी कहा कि हमें सामाजिक सुधार की बात उसी समय करनी चाहिये जब हम स्वयं उन सामाजिक सुधारों के सिद्धान्तों का पालन करें। उन्होंने किसी बाहरी संस्था या

सरकार द्वारा समाज सुधार किये जाने का विरोध किया। सरकारी अधिनियमों द्वारा समाज सुधार को वे अनुचित मानते थे। इन विचारों के कारण ही अंग्रेज लेखकों ने तिलक को रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी कहा है। किन्तु ये आरोप निराधार हैं, क्योंकि उन्होंने इंडियन स्पेशल कांफ्रेंस के वार्षिक अधिवेशनों में बाल विवाह के विरुद्ध तथा विधवा विवाह के पक्ष में अपने प्रस्ताव रखे थे और यहां पर भी उन्होंने यही कहा कि समाज सुधार के समर्थकों को पहले स्वयं इसका पालन कर उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए फिर उन्हें समाज पर लागू करना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाज सुधार में विदेशी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये, क्योंकि विदेशी सत्ता द्वारा अधिनियम बना देने मात्र से समाज सुधार संभव नहीं है। इसलिये ब्रिटिश सरकार ने 1890-91 में जब सहवास-वय विधेयक (Age of Consent Bill) प्रस्तुत किया जिसमें लड़कियों की सहवास-वय न्यूनतम 12 वर्ष निर्धारित करते हुए बाल्य अवस्था में विवाह अवैध घोषित कर दिया था, तिलक ने इस विधेयक का घोर विरोध किया। क्योंकि बाल विवाह पर रोक सरकार द्वारा लगाई गई थी। उनका कहना था कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध स्वयं समाज द्वारा लगाये जांय तथा सरकार हमारे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करे।

तिलक पर मुकदमा और सजा—तिलक की राजनीतिक विचारधारा अन्य समकालीन विचारकों से भिन्न थी। वे भारतीयों के लिये केवल प्रशासन से संबद्ध होने का अधिकार नहीं मांगते थे बल्कि भारत में स्वराज्य एक अधिकार के रूप में प्राप्त करना चाहते थे। 1897 में महाराष्ट्र में भीषण अकाल पड़ा और फिर प्लेग फैल गया। सरकार ने इसकी रोकथाम के लिये बहुत ही धीमी कार्यवाही की। सरकार के रवैये से आतंकित होकर पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा एक अन्य अंग्रेज अधिकारी आयर्स्ट की हत्या कर दी गई। अंग्रेज सरकार ने तिलक पर हिंसा भड़काने का आरोप लगाकर उन्हें 18 महीने की कड़ी सजा दे दी। तिलक को दी गई सजा की सर्वत्र निन्दा की गई। अमरावती कांग्रेस अधिवेशन में सर शंकरन नायर तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने भाषणों में तिलक के कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनकी रिहाई की मांग की। तिलक को सजा देने से उनकी कीर्ति शिखर पर पहुंच गई। लोगों को अंग्रेज सरकार की ईमानदारी पर संदेह होने लगा तथा स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की बात अधिक लोकप्रिय हो गयी। तिलक की सजा भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में अत्यधिक महत्व रखती है, क्योंकि इससे पहले किसी पर राजद्रोह के आरोप में मुकदमा नहीं चला था। अंग्रेजी सरकार की इस चुनौती से आत्म विश्वास, त्याग, बलिदान और कष्ट सहन करने के नये अध्याय का श्री गणेश हुआ।

तिलक और कांग्रेस का विभाजन—कांग्रेस में प्रविष्ट होकर तिलक ने कांग्रेस के स्वरूप को ही बदलने का निश्चय किया। 1896 से ही वे कांग्रेस को इस

यान के लिये प्रेरित करते रहे कि वह मजबूती दिखाए। किन्तु कांग्रेस के कुछ नेता वैधानिक आन्दोलनों तथा सविनय प्रार्थना की नीति का अवलम्बन कर सरकार के प्रति नरमी दिखा रहे थे। किन्तु तिलक ने एक अवसर पर कहा, "मैं मानता हूं कि हमें अपने अधिकारों के लिये मांग करनी चाहिये, पर हमें यह अनुभव करते हुए मांग करनी चाहिये कि वह मांग अस्वीकार नहीं की जा सके। मांग प्रस्तुत करने तथा याचना करने में बहुत बड़ा अन्तर है। अगर आप अपनी मांग नामंजूर किये जाने पर लड़ने को तैयार है, तो निश्चित मानिये कि आपकी मांग नामंजूर नहीं की जायेगी।" इससे नरम और गरम दल के नेताओं में मतभेद बढ़ने लगा। तिलक गरम दल के नेता तथा उग्रवादी थे। उन्होंने कहा, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।" वे उदारवादियों की भिक्षावृति के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि स्वराज्य अपने आप नहीं आयेगा वरन् अंग्रेजों से छीनना पड़ेगा। अतः नरम दल और गरम दल में मतभेद बढ़ता गया और 1907 में सूरत के कांग्रेस अधिवेशन में ये मतभेद चरम विन्दु पर पहुंच गये। अतः विवश होकर उन्हें नरम दलीय कांग्रेस छोड़नी पड़ी। अंग्रेज सरकार ने कांग्रेस की इस फूट का लाभ उठाया तथा उग्रवादियों को कुचलने के लिये सख्त कानून बनाये। 1908 में तिलक पर पुनः राजद्रोह का आरोप लगा कर कैद कर लिया और छः वर्ष के वनवास की सजा दी गई। 1908 से 1914 तक वे वर्मा में मांडले की जेल में रहे।

1914 में वे जेल से मुक्त होकर आये। उस समय प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो चुका था। इस अवसर पर उन्होंने अंग्रेज सरकार से सहयोग करने को कहा। 1914-15 में श्रीमती एनीबीसेन्ट के प्रयत्नों से कांग्रेस के दोनों दलों में मेल करवाया गया। 1915-16 में कुछ ऐसी परिस्थितियों का विकास हुआ कि लोग उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करने को तैयार हो गये। अप्रेल 1916 में तिलक ने एनीबीसेन्ट के सहयोग से होमरूल आन्दोलन चलाया। होमरूल का अर्थ अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त करना नहीं था, वल्कि अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन स्वायत्तता प्राप्त करना था। 1919 में उन्होंने पेरिस शान्ति सम्मेलन में भारत के भाग लेने के अधिकार की मांग की तथा विल्सन के आत्म निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर भारत के लिये भी इसी अधिकार की मांग की।

तिलक का विचार था कांग्रेस, सत्ता को चुनौती देना सीखे और स्वराज्य हासिल करने के लिये हमें कुर्बानी के लिये तैयार रहना चाहिये। किन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि स्वराज्य हासिल करने के लिये लोग हिंसक बने, लेकिन शान्तिपूर्ण तरीके प्रभावशाली सिद्ध न होने पर हिंसात्मक तरीके अपनाने में भी कोई हानि नहीं है। यह सही है कि 1914 तक कांग्रेस पर नरम दल का प्रभाव रहा, किन्तु 1914 में जब तिलक कारावास से मुक्त होकर आये, तब तक गरम दल काफी

लोकप्रिय हो चुका था । अतः नरम दल वाले तिलक व उनके गरम दल का मुकाबला न कर सके और नरम दल वालों को विवश होकर लिबरल फेडरेशन नामक संगठन के रूप में संगठित होना पड़ा और कांग्रेस पर गरम दल का प्रभाव स्थापित हो गया । तिलक ने कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार की प्रशंसक से बदल कर ब्रिटिश साम्राज्य की विद्रोही बना दिया ।

तिलक न केवल कुशल राजनेता एवं राष्ट्र धर्म के उपासक ही थे, बल्कि महान् विद्वान भी थे । माण्डले जेल में उन्होंने 'गीता रहस्य' तथा 'आर्कटिक होम इन द वेदाज' नामक पुस्तकें लिखी । वे पहले कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने सुझाव रखा कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा हो । तिलक ने कहा था, "सामान्य लिपि राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अविभाज्य अंग है । सारे भारत में एक ही राष्ट्र भाषा होनी चाहिये । यदि आप किसी राष्ट्र को एक रखना चाहते हैं, तो सबके लिये एक सामान्य भाषा से बढ़कर कोई बड़ा बल नहीं है ।" तिलक के भाषणों में आग होती थी, क्योंकि वे सरकार की बेधड़क होकर आलोचना करते थे । इसलिये अंग्रेजों ने उन्हें 'भारतीय अशान्ति का पिता' कहा । उन्हें अंग्रेज सरकार और अपने राजनैतिक विरोधियों दोनों से लड़ना पड़ा था । कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के बाद कुछ लोगों ने उन्हें कांग्रेस को तोड़ने वाला कहा, किन्तु इस घटना से जितना दुख तिलक को हुआ, उतना किसी और को नहीं । उनके समकालीन अन्य महान् नेताओं की अपेक्षा किसी न किसी अर्थ में उच्चतर थे ।

देश में जब ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने की चर्चा चल रही थी, उस समय 1 अगस्त 1920 को इस महान विभूति का देहान्त हो गया । तिलक का नाम राष्ट्र निर्माता के रूप में सदा अमर रहेगा और भारतवासी उन्हें तब तक कृतज्ञतापूर्वक याद करते रहेंगे जब तक देश में अपने भूतकाल पर अभिमान और भविष्य के लिये आशा बनी रहेगी ।

अध्याय 16

गांधी युग और राष्ट्रीय आन्दोलन

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप तथा कार्य-प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुआ। 1918 तक कांग्रेस का नेतृत्व नरम दल के हाथ में रहा, अतः कांग्रेस के आन्दोलन का प्रभाव मध्यम शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहा। केवल तिलक ऐसे नेता थे, जिन्होंने महाराष्ट्र में एक व्यापक जन आन्दोलन जागृत किया था। यद्यपि 1905 में बंगाल विभाजन के पश्चात बंगाल में भी जन आन्दोलन हुआ था, किन्तु 1911 में बंगाल विभाजन रद्द करने के बाद वहां भी जन आन्दोलन समाप्त हो गया था। 1920 में कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में चला गया, जिन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में एक नई जान डाल दी। उनके नेतृत्व में कांग्रेस के आन्दोलन ने एक नया रूप धारण किया, जिसे हम जन आन्दोलन कह सकते हैं। वास्तव में राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष 1920 से ही आरम्भ हुआ था। इसलिये प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारतीय राजनीति का इतिहास 'गांधी युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

जनवरी 1915 में भारत वापस आने से पूर्व महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को सुविधाएं दिलाने के लिये वहां सत्याग्रह आन्दोलन चलाया था, जिसमें उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई थी। भारत में उन्होंने 1917 में सत्याग्रह करके भारतीयों को बलपूर्वक ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी करने के लिये ले जाने की पद्धति बन्द करवाई तथा चम्पारण (बिहार) में नील की खेती में काम करने वाले मजदूरों को उनके मालिकों के अत्याचार से मुक्ति दिलवाई। अगले वर्ष खेड़ा में किसानों को लगान से छूट दिलवाने के लिये 'कर नहीं' आन्दोलन चलाया और उनके इस अहिंसात्मक सत्याग्रह ने सफलता प्राप्त की। इसी वर्ष अहमदाबाद में मिल मजदूरों की मांगों के समर्थन में आमरण अनशन करके, उनकी मांगें पूरी करवाई।

यद्यपि महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया था, किन्तु गोखले के विचारों से प्रभावित होने के कारण संवैधानिक

सुधारों और सरकार को सहयोग देने के पक्ष में थे। जिस समय वे भारत लौटे उन दिनों प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था, अतः उन्होंने इस अवसर पर भारत सरकार को पूर्ण सहयोग दिया। प्रोफेसर सूद के अनुसार, "गांधीजी ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता में विश्वास करते थे और उसमें गर्व भी अनुभव करते थे। इसीलिये उन्होंने भारत सरकार को रंगरूटों की भर्ती तथा घायल व्यक्तियों की देखभाल के लिये भी अपनी सेवाएं अर्पित की। प्रथम महायुद्ध में की गई सेवाओं के कारण सरकार ने उन्हें पदक भी दिया।" इस प्रकार गांधीजी ब्रिटिश सरकार के पूर्ण सहयोगी थे। इसके बावजूद भी ब्रिटिश सरकार ने भारत को स्वराज्य नहीं दिया। इससे राष्ट्रवादियों को बड़ी निराशा हुई और गांधीजी को भी निराशा हुई, लेकिन गांधीजी ने अपनी सहयोगी नीति को नहीं छोड़ा। 1919 के सुधार अधिनियम से सभी राष्ट्रवादी असन्तुष्ट थे, लेकिन गांधीजी परीक्षण के तौर पर उसे कार्यान्वित करने के पक्ष में थे। उन्होंने अपने पत्र 'यंग इंडिया' के 31 दिसम्बर 1919 के अंक में लोगों से अपील की कि इन सुधारों की आलोचना न करें तथा उन्हें सफल बनाने की लिये कार्य करें। किन्तु इसके बाद कुछ घटनाएं ऐसी घटित हुई, जिनसे गांधीजी एक सहयोगी से असहयोगी बन गये। वे प्रमुख घटनाएं निम्नलिखित थीं –

रोलेट एक्ट—20 वीं शताब्दी के आरम्भ में क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी दलों की उत्पत्ति हो चुकी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान क्रान्तिकारी दल अत्यधिक सक्रिय हो गये थे और देश में वे क्रान्ति लाकर ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहते थे। इनको कुचलने के लिये सरकार ने 'भारत रक्षा अधिनियम' पारित किया था। युद्ध समाप्त हो चुका था और इस अधिनियम की अवधि भी समाप्त होने वाली थी। किन्तु अंग्रेज नौकरशाही क्रान्तिकारियों तथा उग्र विचारों के राष्ट्रीय नेताओं को दबाने के लिये इस कानून को किसी न किसी रूप में रखना चाहती थी। अतः अंग्रेज सरकार ने 1918 में न्यायाधीश रोलेट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसे क्रान्तिकारी गतिविधियों की रोकथाम के लिये उपाय बताने को कहा गया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर फरवरी 1919 में भारत सरकार ने दो विधेयक प्रस्तावित किये, जो पारित होने के बाद रोलेट एक्ट के नाम से विख्यात हुआ। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति पर संदेह मात्र होने पर उसे बन्दी बनाया जा सकता था और बिना मुकदमा चलाये उसे चाहे जितने समय तक जेल में रखा जा सकता था अथवा गुप्त रूप से मुकदमा चलाकर उसे दण्डित किया जा सकता था। इस समय प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था और देश में कोई विशेष क्रान्तिकारी आन्दोलन भी नहीं चल रहा था, अतः इस प्रकार के कानून की कोई आवश्यकता नहीं थी। विधेयक प्रस्तावित होते ही गांधीजी ने घोषणा की कि यदि ये कानून पास कर दिये गये तो इन कानूनों का विरोध करने के लिये वे सत्याग्रह करेंगे। सरकार अपनी तानाशाही कब छोड़ने वाली थी? सरकार ने

भारतीय नेताओं के विरोध की उपेक्षा करके 21 मार्च 1919 को इस कानून को लागू कर दिया।

महात्मा गांधी ने अपनी पूर्व घोषणा के अनुसार इस कानून का विरोध करने का निश्चय किया। महात्मा गांधी ने लोगों को 6 अप्रेल 1919 को देशव्यापी हड़ताल के लिये आव्हान किया (पहले हड़ताल की तारीख 30 मार्च 1919 निश्चित की गई थी, किन्तु बाद में यह 6 अप्रेल करदी गई)। 6 अप्रेल को सारे देश में हड़ताल रखी गई तथा जुलूस निकाले गये। दिल्ली में जुलूस का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द ने किया। कुछ यूरोपियन सैनिकों ने उन पर गोली चलाने की धमकी दी। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी नंगी छाती उनके सामने करदी। किन्तु उस समय जुलूस पर गोली नहीं चलाई गयी। जब जुलूस दिल्ली के रेल्वे स्टेशन के पास पहुंचा, तब उस पर गोली चला दी गई। इससे 5 व्यक्तियों की मृत्यु हो गयी, कुछ अन्य लोगों के सख्त चोटें आई। लाहोर में भी गोली चली और पंजाब में उपद्रव हुए। पंजाब के उपद्रव का समाचार सुनकर तथा स्वामी श्रद्धानन्द एवं पंजाब के लोकप्रिय नेता डॉ. सत्यपाल का निमन्त्रण मिलने पर गांधीजी 8 अप्रेल 1919 को दिल्ली की तरफ रवाना हुए। माग में गांधीजी को सरकार का नोटिस मिला कि वे दिल्ली और पंजाब में प्रविष्ट न हों। गांधीजी ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया। अतः पलवल (हरियाणा) में गांधीजी को गिरफ्तार करके उन्हें वापिस बम्बई भेज दिया गया।

जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड—पंजाब में उप-गवर्नर माइकेल ओडायर का प्रशासन अत्यधिक क्रूर और अमानवीय था। जनता में भय और आतंक फैला हुआ था। महात्मा गांधी की गिरफ्तारी की खबर सारे देश में बिजली की तरह फैल गई। अमृतसर में भी उत्तेजना फैल गई। जनता के असंतोष को व्यक्त न होने देने के लिये 9 अप्रेल 1919 को अमृतसर के दो लोकप्रिय नेताओं—डॉ. सत्यपाल और डॉ. किचलू को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। इससे अमृतसर में बहुत उत्तेजना फैल गई और भीड़ ने अपने नेताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये जिला मजिस्ट्रेट की कोठी की तरफ बढ़ना शुरू किया। सैनिक अधिकारियों ने भीड़ को रोकने का प्रयास किया और न रुकने पर गोली चला दी। फलस्वरूप दो व्यक्ति मारे गये। भीड़ ने मरे हुए व्यक्तियों को कन्धों पर डालकर जुलूस निकाला। मार्ग में भीड़ ने नेशनल बैंक के भवन में आग लगा दी और एक यूरोपियन मैनेजर की हत्या करदी। भीड़ ने कुल पांच अंग्रेजों की हत्या करदी तथा कुछ अन्य भवनों में आग लगादी। 10 अप्रेल 1919 को अमृतसर नगर का शासन सैनिक अधिकारियों को सौंप दिया गया। 11 अप्रेल 1919 को ब्रिगेडियर जनरल डायर उपद्रवों पर नियंत्रण करने के लिये अमृतसर पहुंचा तथा 12 अप्रेल से लोगों को धड़ाधड़ बन्दी बनाने लगा।

13 अप्रेल 1919 को बैशाखी के दिन अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक आम सभा का आयोजन किया गया। जनरल डायर ने इस सभा को गैर कानूनी घोषित कर दिया, किन्तु सभा पर प्रतिबन्ध लगाने का नोटिस नगर में अच्छी तरह नहीं घुमाया गया और हजारों लोगों को इकट्ठा होने दिया गया। जब लोग इकट्ठा हो गये तब जनरल डायर 100 भारतीय और 50 अंग्रेज सैनिकों को लेकर जलियांवाला बाग में पहुंचा। वह अपने साथ मशीनगन भी ले गया था, किन्तु वह उन मशीनगन को अन्दर नहीं ले जा सका, क्योंकि जलियांवाला बाग में एक ही रास्ता था और वह भी इतना तंग था कि मशीनगन अन्दर नहीं जा सकती थी। सभा में लगभग आठ-दस हजार व्यक्ति उपस्थित थे और सभा की कार्यवाही पूर्णतः शान्तिपूर्वक हो रही थी। इसमें केवल डॉ. सत्यपाल, डॉ. किचलू और गांधीजी की रिहाई की मांग की जा रही थी और रोलेट एक्ट का भी विरोध हो रहा था। जनरल डायर ने बिना चेतावनी दिये भीड़ पर 1650 गोलियां चलाई और उसने गोली चलाना तभी बन्द किया जब उसका गोला बारूद समाप्त हो गया। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इस गोलीकाण्ड में 400 व्यक्ति मारे गये व एक और दो हजार के बीच व्यक्ति घायल हुए। इसमें सन्देह नहीं कि घायल और मरने वालों की संख्या निश्चित रूप से अधिक थी। इस हत्याकाण्ड से समस्त देश में असंतोष और घृणा फैल गई। सरकार और कांग्रेस ने पृथक-पृथक इस काण्ड की जांच के लिये समितियां नियुक्त की। सरकार की ओर से हण्टर समिति नियुक्त की गई। हण्टर कमेटी के सामने बयान देते हुए जनरल डायर ने स्वीकार किया कि उसने लोगों को तितर-बितर होने का आदेश दिया, किन्तु उस आदेश को देने के बाद में दो या तीन मिनट में गोली चलादी। स्पष्ट है कि दो या तीन मिनट में आठ-दस हजार की भीड़ तितर-बितर नहीं हो सकती थी। हण्टर समिति के एक सदस्य न्यायाधीश रैंकिन ने जब डायर से पूछा, 'जनरल क्षमा करना, क्या यह आतंक का एक रूप नहीं था?" जनरल डायर ने उत्तर दिया, "नहीं, यह बड़ा भयानक कर्त्तव्य था जो मुझे पूरा करना पड़ा। मैंने सोचा कि मुझे गोलियां अच्छी तरह और खूब चलानी चाहिये ताकि मुझे और किसी व्यक्ति को दुबारा गोली चलाने की आवश्यकता न पड़े। मैं समझता हूं कि यह सम्भव है कि भीड़ को बिना गोली चलाये तितर-बितर भी कर सकता था, परन्तु वह दुबारा वापस आ जाती और मेरे ऊपर हंसती और मैं अपने आपको स्वयं बेवकूफ बना लेता।"

अंग्रेज सरकार के ये अत्याचार अमृतसर नगर तक ही सीमित नहीं थे। लाहोर, गुजरांवाला, कसूर तथा अन्य स्थानों पर भी ऐसे अत्याचार किये गये जो खून को जमाने वाले थे। जहां भी भीड़ देखते उन पर गोली चलादी जाती, हवाई जहाज से बम गिरा कर लोगों को मारा गया और भागते हुए लोगों के पीछे मशीनगनें छोड़ी गई। पंजाब में मार्शल-लॉ लागू कर दिया गया तथा मार्शल-लॉ के

उल्लंघन के आरोप में 300 व्यक्तियों को बन्दी बनाया गया, इनमें से 51 व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड तथा 46 को जीवन भर का देश निर्वासन और कैद की सजा दी गई। मार्च '920 में हण्टर समिति ने अपनी रिपोर्ट दे दी। इसमें सरकारी अधिकारियों के दृष्टिकोण को ठीक सिद्ध किया गया। जनरल डायर को केवल इतना दण्ड दिया गया कि उसे नौकरी से अलग कर दिया गया। परन्तु इंगलैंड के समाचार पत्रों ने उसे ब्रिटिश साम्राज्य का रक्षक घोषित किया। जनता ने उसके गुजारे के लिये चन्दा इकट्ठा किया। इंगलैंड की सरकार ने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये की गई सेवाओं के लिये जनरल डायर को मान की तलवार (Sword of Honour) तथा 2,000 पौंड भेंट किये। इन सब बातों ने महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों के जले हुए हृदय पर नमक का काम किया। कांग्रेस ने पंजाब के अत्याचारों के लिये उत्तरदायी अधिकारियों को उचित दण्ड देने तथा मृत व्यक्तियों के परिवारों को आर्थिक सहायता देने की मांग की। सरकार ने इस मांग की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया।

खिलाफत आन्दोलन—तुर्की का सुल्तान विश्व के मुसलमानों का खलीफा (धार्मिक नेता) समझा जाता था। प्रथम विश्व युद्ध में तुर्की जर्मनी का साथ देते हुए इंगलैंड के विरुद्ध लड़ा। अतः भारतीय मुसलमानों के सामने समस्या यह उत्पन्न हुई कि युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करें अथवा नहीं। भारतीय मुसलमानों को यह आशंका थी कि यदि तुर्की हार गया तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायेंगे तथा खलीफा की समस्त शक्तियां समाप्त करदी जायेगी। 5 जनवरी 1918 को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज ने भारतीय मुसलमानों को आश्वासन दिया कि तुर्की साम्राज्य भंग नहीं किया जायेगा तथा खलीफा की प्रतिष्ठा को क्षति नहीं पहुंचाई जायेगी। अतः युद्ध काल में भारतीय मुसलमानों ने अंग्रेजों को भरपूर सहयोग दिया। युद्ध के पश्चात 10 अगस्त 1919 को सेवें की सन्धि हुई, जिसके अनुसार तुर्की साम्राज्य को भंग कर दिया गया तथा सुल्तान को कुस्तुन्तुनिया में नजरबन्द कर दिया गया। अतः भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन आरम्भ किया। मौलाना मोहम्मद अली और शौकत अली इस आन्दोलन के प्रभावशाली नेता थे। गांधीजी ने इसे हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वर्ण अवसर समझा। अतः गांधीजी ने इस आन्दोलन का समर्थन किया। 24 नवम्बर 1819 को दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन हुआ, जिसमें गांधीजी को अध्यक्ष चुना गया। गांधीजी ने परामर्श दिया कि यदि अंग्रेज तुर्की की समस्या का उचित हल न निकालें तो असहयोग एवं बहिष्कार की नीति अपनाई जाय। गांधीजी की सलाह से डॉ. अन्सारी के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल वायसराय से मिला, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं निकला। मार्च 1920 में अली बन्धु (मोहम्मद अली और शौकत अली) ने लंदन जाकर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री से बातचीत की, लेकिन उसका भी कोई

परिणाम नहीं निकला । अतः 20 मई 1920 को खिलाफत समिति ने गांधीजी के असहयोग कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया । डॉ. पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में, "खिलाफत, पंजाब की भूलें और अपर्याप्त सुधारों की त्रिवेणी से असंतोष का पानी किनारे से ऊपर बह चला और उसके संगम ने राष्ट्रीय असंतोष की धारा को एक नवीन रूप में व्यापक एवं गतिशील बना दिया ।"

असहयोग आन्दोलन और उसकी प्रगति

इस प्रकार सरकार ने रोलेट एक्ट व पंजाब की गलतियों को ठीक नहीं किया और मुसलमानों को दिये गये वचनों का पालन नहीं किया तो महात्मा गांधी एक सहयोगी से असहयोगी बन गये । जब असहयोग आन्दोलन के कारण गांधीजी को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया, तब उन्होंने उच्च न्यायालय में उन कारणों का उल्लेख किया जिससे वे असहयोगी बने । उन्होंने कहा, "मुझे सर्व प्रथम आघात रोलेट एक्ट से लगा, जिसका निर्माण जनता की स्वाधीनता का अपहरण करने के लिये किया गया था । मुझे अपनी अन्तरात्मा की ओर से प्रेरणा मिली कि इसके विरुद्ध मुझे आन्दोलन करना चाहिये । तदनन्तर मेरे समक्ष पंजाब के अत्याचारों का नग्न ताण्डव उपस्थित हुआ । जलियांवाला बाग का कत्ले आम, निर्दोष व्यक्तियों को पेट के बल चलने का आदेश, खुले आम कोड़े लगाना तथा इस प्रकार के अन्य अपमानजनक एवं तिरस्कृत अत्याचारों ने मेरे हृदय में एक विद्रोह की ज्वाला उत्पन्न करदी । मैंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री द्वारा तुर्की की स्वाधीनता और इस्लाम की धार्मिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दिये गये आश्वासन कभी पूरे नहीं होंगे ।" गांधीजी ने आगे कहा, "मुझे मोण्ट फोर्ड सुधार भी भारत में आर्थिक शोषण तथा दासता को स्थायी रखने के साधन एवं उपाय मात्र प्रतीत हुए ।" गांधीजी के इन कथनों से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि वे किस प्रकार असहयोगी बने ।

जब महात्मा गांधी अंग्रेजों के धृष्टतापूर्ण रवैये का पूरी तरह ज्ञान हो गया तब उन्होंने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाने का निश्चय किया । भारतीय मुसलमान भी गांधीजी के साथ हो गये थे । अतः सितम्बर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया । इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन का एक प्रस्ताव रखा, जिसमें निम्नलिखित कार्यक्रम का उल्लेख किया गया—

(1) सरकारी उपाधियां व अवैतनिक पदों को छोड़ दिया जाय तथा जिन संस्थाओं में जो लोग नामजद हुए हैं, वे इस्तीफा दे दें ।

(2) सरकारी दरबारों, स्वागत समारोहों तथा सरकारी अधिकारियों द्वारा उनके सम्मान में किये जाने वाले अन्य सरकारी व अर्द्ध सरकारी उत्सवों में भाग न ले ।

(3) सरकारी तथा सरकारी मान्यता प्राप्त स्कूलों एवं कालेजों का बहिष्कार किया जाय तथा भारतीय छात्रों को शिक्षा देने के लिये राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की जाय।

(4) वकीलों व मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का बहिष्कार किया जाय तथा आपसी झगड़ों के लिये पंचायती अदालतें स्थापित की जाय।

(5) कौंसिलों के चुनाव में खड़े उम्मीदवार अपने नाम वापस ले। यदि कोई उम्मीदवार चुनाव लड़े तो मतदाता उसे वोट न दे।

(6) सैनिकों, क्लर्कों तथा मजदूरों द्वारा मेसोपोटामिया के लिये अपनी सेवाएं अर्पित करने से इन्कार कर दे।

(7) विदेशी माल एवं शराब का वहिष्कार किया जाय।

गांधीजी के इस प्रस्ताव का देशवन्धु चितरंजनदास, मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती एनीबीसेन्ट ने विरोध किया और आरोप लगाया कि इस कार्यक्रम का सारा झुकाव एकतन्त्र और व्यक्तिगत सत्ता की ओर है। लेकिन महात्मा गांधी ने मोतीलाल नेहरू और अली बन्धुओं के समर्थन से प्रस्ताव पास करवा लिया। महात्मा गांधी तथा अली बन्धुओं ने सारे देश का दौरा करके असहयोग आन्दोलन के पक्ष में वातावरण तैयार कर दिया था। अतः अधिकांश प्रतिनिधियों ने प्रस्ताव का समर्थन किया। दिसम्बर 1920 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ, जिसमें असहयोग के प्रस्ताव की पुष्टि करदी तथा असहयोग कार्यक्रम में तीन बातें और जोड़ दी—(1) सरकार को कर की अदायगी न की जाय, (2) विदेशी व्यापार का परित्याग किया जाय, और (3) हाथ की कताई व बुनाई को प्रोत्साहित किया जाय। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी ने कहा कि, "यदि सम्भव हो तो स्वराज्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्राप्त किया जाय परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसको ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर भी प्राप्त किया जा सकता है।"

असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद गांधीजी ने सारे देश का दौरा किया तथा लोगों को इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु प्रोत्साहित किया। गांधीजी का ऐसा जादू चला कि हजारों लोग गाँधीजी के साथ हो गये। लोगों ने सरकारी उपाधियां लौटा दी, वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया और विद्यार्थियों ने स्कूल व कालेज छोड़ दिये। इस हेतु कई राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाएं खोली गईं, जैसे गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बंगाल नेशनल विद्यापीठ, नेशनल मुस्लिम युनिवर्सिटी अलीगढ़, दिल्ली का जामिया मिलिया, नेशनल कालेज, लाहौर इत्यादि। सेठ जमनालाल बजाज ने उन वकीलों के गुजारे के लिये एक लाख रुपया दिया जिन्होंने अपनी वकालात छोड़कर आन्दोलन में भाग लिया था। जब ड्यूक आफ कनाट 1919 के सुधारों का उद्घाटन करने आया, तो हड़तालों से उसका स्वागत किया गया। विदेशी कपड़ों की जगह-जगह होलियां जलाई

गई और हजारों चर्खे चालू हो गये। गांधीजी ने केसरे हिन्द की उपाधि लौटा दी। 17 नवम्बर 1921 को प्रिन्स ऑफ वेल्स बम्बई आये। इस अवसर पर कुछ वफादार लोगों ने उसका स्वागत करना चाहा, इसलिये वहां झगड़ा हो गया और दोनों तरफ से हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया गया। महात्मा गांधी ने हिंसात्मक साधनों की घोर निन्दा की।

दिसम्बर 1921 में अहमदाबाद में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें आन्दोलन अधिक तेज करने का निर्णय लिया और इस सम्बन्ध में सारे अधिकार गांधीजी को सौंप दिये। फरवरी 1922 में महात्मा गांधी ने वायसराय लार्ड रिडिंग को एक पत्र लिखा कि यदि एक सप्ताह में सरकार ने अपना रवैया न बदला तो कर न देने का आन्दोलन चलाया जायेगा। किन्तु 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिले में 'चोरी चौरा' नामक स्थान पर पुलिस ने अहिंसात्मक आन्दोलनकारियों पर गोली चला दी। जब उनकी गोलियां समाप्त हो गयी तब वे भागकर थाने में छिप गये। उत्तेजित भीड़ ने थाने को आग लगा दी, जिससे एक पुलिस सब-इन्सपेक्टर 21 पुलिस के सिपाही और भवन जलकर राख हो गये। गांधीजी हिंसा के पक्ष में नहीं थे। अतः गांधीजी ने तुरन्त आन्दोलन समाप्त करने की घोषणा करदी। अचानक आन्दोलन स्थगित करने के कारण अनेक नेताओं ने गांधीजी की तीव्र आलोचना की और कुछ समय के लिये गांधीजी अलोकप्रिय हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अंग्रेज सरकार ने 10 मार्च 1922 को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और राजद्रोह फैलाने के अपराध में उन्हें 6 वर्ष की सादी कैद की सजा दी गई। किन्तु 5 फरवरी 1924 को बीमारी के कारण गांधीजी को पहले छोड़ दिया गया।

आन्दोलन की असफलता—गांधीजी की गिरफ्तारी से आन्दोलन स्वतः ही समाप्त हो गया। डॉ. एम. एस जैन के अनुसार गांधीजी द्वारा आन्दोलन स्थगित किये जाने का अभिप्राय उसकी असफलता स्वीकार करना था। वस्तुतः यह आन्दोलन पूर्णतः सफल नहीं रहा। इसका कारण आन्दोलन में कुछ अपूर्णताएँ (Defects) थी, जो मुख्य रूप से निम्नलिखित थीं —

(1) 1920-21 में होने वाले विधान मण्डलों के चुनाव का बहिष्कार किया गया। कांग्रेसी सदस्यों ने निर्वाचन में अवश्य भाग लिया, किन्तु वफादार व नरम दल के लोगों को निर्वाचन में भाग लेने से नहीं रोका जा सका। फलस्वरूप वफादार व उदारवादी चुनाव जीत गये और कांग्रेस के देश भक्त नेता विधान मण्डलों में नहीं जा सके। अतः विधान मण्डलों के बहिष्कार से कांग्रेस को कोई लाभ नहीं मिला।

(2) गांधीजी ने अपने सहयोगियों से परामर्श किये बिना ही अचानक आन्दोलन समाप्त कर दिया। देशबन्धु चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाला

लाजपतराय, सुभाषचन्द्र बोस आदि नेताओं ने जेल में रहते हुए भी इस कार्य की आलोचना की। वस्तुतः आन्दोलन समाप्त उस समय किया गया जबकि वह सफलता के निकट पहुंच चुका था। यह सही है कि आन्दोलन पूर्णतः अहिंसात्मक नहीं रह सका। किन्तु हिंसा के लिये केवल आन्दोलनकारी ही उत्तरदायी नहीं थे। ब्रिटिश सरकार ने शान्तिपूर्ण सत्याग्रहियों पर अमानवीय अत्याचार किये, अतः आन्दोलन-कारियों का हिंसात्मक होना स्वाभाविक ही था। यदि आन्दोलन कुछ दिन और चलता तो अंग्रेज सरकार को कुछ समझौता करने के लिये विवश होना पड़ता। किन्तु चरमोत्कर्ष पर आन्दोलन समाप्त कर देने से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका।

(3) गांधीजी ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये खिलाफत का प्रश्न भी अपना प्रश्न बना लिया था। खिलाफत का प्रश्न मुसलमानों का धार्मिक प्रश्न था। यह प्रश्न ऐसा था जिसमें स्वयं तुर्की के मुसलमान भी रुचि नहीं रखते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में धार्मिक प्रश्नों को गौण माना जाता है, क्योंकि धार्मिक प्रवृतियां राष्ट्रीय आन्दोलन को संकीर्णता की ओर ले जाकर सदैव राष्ट्रीय आन्दोलन को क्षति पहुंचाती है।

(4) मुसलमानों ने अभी तक आन्दोलन के अहिंसात्मक स्वरूप को समझा नहीं था। अतः अचानक आन्दोलन समाप्त करने पर मुसलमानों ने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि गांधीजी ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये मुसलमानों को बेवकूफ बनाया था। इससे देश में उत्तेजना फैल गई और जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हो गये।

(5) अंग्रेज सरकार का दमन चक्र इतना तेज था कि उसके द्वारा दी जाने वाली अमानवीय यातनाएं सहन करना कठिन था। अतः तीव्र दमन चक्र के घेरे में आन्दोलन का गतिशील रहना असम्भव था।

आन्दोलन का महत्व—यद्यपि असहयोग आन्दोलन असफल रहा, किन्तु आन्दोलन को निष्फल कहना भी अनुचित होगा। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इसका असाधारण महत्व है। इसकी विभिन्न सफलताओं का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(1) इस आन्दोलन ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया मोड़ प्रदान किया। लोगों में राजनीतिक अधिकारों के लिये जागरुकता उत्पन्न हुई तथा स्वराज्य की मांग प्रबल हुई।

(2) प्रथम बार कांग्रेस ने सविनय प्रार्थना पत्र भेजने की नीति का परि-त्याग कर ब्रिटिश साम्राज्य से सीधी टक्कर ली। अतः प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देने तथा देश के प्रति बलिदान की भावना जागृत हुई। इससे पूर्व कांग्रेस का आन्दोलन केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित था, किन्तु अब कांग्रेस का

आन्दोलन आम जनता में प्रवेश कर गया। इस प्रकार कांग्रेस का स्वरूप ही बदल गया।

(3) इससे पूर्व जनता, सरकार की आलोचना करने से डरती थी। किन्तु अब जनता निर्भीक हो गयी। पहले जनता जेलों से बहुत डरती थी, किन्तु अब जेल जाना देश भक्ति का चिन्ह समझा जाने लगा। 'स्वराज्य' शब्द बच्चे-बच्चे की जुबान से सुनाई देने लगा।

(4) महात्मा गांधी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिये अहिंसात्मक सत्याग्रह का जो हथियार हाथ में लिया, उसका अंग्रेज सरकार के पास कोई उत्तर नहीं था। शान्त सत्याग्रहियों पर गोली चलाना अथवा लाठियां बरसाना घृणित समझा जाने लगा। इससे सरकार के विरुद्ध जनमत प्रबल हो गया। वस्तुतः अहिंसात्मक सत्याग्रह के हथियार ने सरकार के दमन चक्र को कुण्ठित कर दिया। अतः भविष्य में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिये यह हथियार महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(5) आन्दोलन के दौरान कांग्रेस ने अनेक रचनात्मक कार्य किये। राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना, चर्खा चलाना व खादी तैयार करना, स्वदेशी माल को अपनाना आदि। विदेशी माल के बहिष्कार से आर्थिक शोषण की नीति में रुकावट पैदा हो गयी। राष्ट्रीय विद्यापीठों से देश भक्त निकलने लगे और स्वदेशी माल को अपनाने से हजारों बेरोजगार जुलाहों को काम मिल गया।

सुभाषचन्द्र बोस ने इस आन्दोलन की सफलताओं का उल्लेख करते हुए कहा था, "1921 के वर्ष ने देश को निःसन्देह एक सुव्यवस्थित पार्टी संगठन प्रदान किया। इससे पूर्व कांग्रेस एक वैधानिक दल और वह भी मुख्य रूप से बातचीत करने वाली संस्था थी। महात्माजी ने इसे नया विधान दिया और देशव्यापी बनाया। उन्होंने इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये जाने लगे, एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा हर जगह दिखाई देने लगी। अंग्रेजी भाषा का महत्व जाता रहा और कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। खादी सभी कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई।"

स्वराज्य दल—जेल से छूटने के बाद चितरंजनदास तथा मोतीलाल नेहरू का विचार था कि विधान मण्डलों के चुनाव लड़ने के लिये कांग्रेसियों के ऊपर से सारे प्रतिबन्ध हटा दिये जाय। उनका विचार था कि विधान मण्डलों में प्रवेश करने से सरकार के वफादार व उदारवादियों को विधान मण्डलों में जाने का अवसर नहीं मिलेगा तथा असहयोग का कार्यक्रम कौंसिलों में ले जाया जा सकेगा। ये भारतीय नेता यह भी चाहते थे कि विधान मण्डलों में जाकर 1919 के सुधारों को अव्यवहारिक एवं असफल सिद्ध किया जाय। दिसम्बर 1922 में गया में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष स्वयं चितरंजनदास थे। चितरंजनदास ने अपने

कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा, लेकिन राजगोपालाचारी, डॉ. अन्सारी आदि के विरोध के कारण उन्हें बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। अतः चितरंजनदास ने कांग्रेस से त्याग पत्र दे दिया तथा मोतीलाल नेहरू से मिलकर इलाहाबाद में मार्च 1923 में स्वराज्य पार्टी स्थापित की। सितम्बर 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जिसमें कांग्रेस ने दल के सदस्यों को आगामी निर्वाचन में मतदान करने तथा चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता प्रदान करके स्वराज्य दल के गठन को स्वीकार कर लिया। 1924 में जब गांधीजी जेल से छूट कर आये तब गांधीजी ने भी स्वराज्य दल के कार्यक्रम का समर्थन किया।

स्वराज्य दल का मुख्य उद्देश्य था विधान मण्डलों में प्रवेश करके बाधा नीति अपनाई जाय तथा विधान मण्डलों के भीतर जाकर अंग्रेज नौकरशाही के दुर्ग को ध्वस्त किया जाय। 1923 के चुनाव में स्वराज्य दल को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय विधान मण्डल में स्वराज्य दल के नेता मोतीलाल नेहरू थे। उन्होंने 8 फरवरी, 1924 को, भारत के लिये उत्तरदायी सरकार स्थापित करने, गोलमेज सम्मेलन बुलाने तथा भारत के लिये नए संविधान का प्रस्ताव पास करवा लिया। वार्षिक बजट की मांगों को अस्वीकार कर दिया, जिससे गवर्नर जनरल को अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग करना पड़ा। सरकार के कड़े विरोध के बावजूद 1918 के दमनकारी कानूनों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये गये तथा राजनैतिक नेताओं की रिहाई के लिये भी प्रस्ताव पास किये। फरवरी 1924 के प्रस्ताव के कारण सरकार ने 1919 के द्वैध शासन की जांच के लिये गृह सदस्य अलेक्जेंडर मुडिमैन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसने द्वैध शासन को मौलिक रूप से ठीक बताया। मुडिमैन समिति की रिपोर्ट केन्द्रीय विधान मण्डल के समक्ष प्रस्तुत की गई। मोतीलाल नेहरू ने सरकार के कड़े विरोध के बावजूद उस रिपोर्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास करवाया।

1925 में देशबन्धु चितरंजनदास का देहान्त हो गया। इधर फरवरी 1925 में मोतीलाल नेहरू व जिन्ना में आपसी समझौता समाप्त हो गया, जिससे स्वराज्य दल कमजोर हो गया। मार्च 1926 में कांग्रेस के आदेशानुसार विधान मण्डलों का बहिष्कार कर दिया गया। इस अवसर पर मोतीलाल नेहरू ने घोषणा की कि अंग्रेज सरकार ने भारतीय सहयोग का मूल्य नहीं समझा। बार-बार विरोध करने पर भी सरकार ने अपनी दमनकारी नीति नहीं छोड़ी। इसलिये विधान मण्डलों में प्रवेश का कार्यक्रम स्थगित किया गया। स्वराज्य दल की बाधा नीति तथा दबाव नीति से सरकार को यह भलीभांति विदित हो गया कि 1919 के सुधारों से जनता सन्तुष्ट नहीं है, अतः उन्होंने समय से पूर्व ही साइमन कमीशन नियुक्त किया। सरकार का यह थोथा दावा भी समाप्त हो गया कि भारत में शासन जनता की इच्छाओं से चलाया जा रहा है। केन्द्रीय विधान मण्डल में सरकार की बार-बार

पराजय से विदेशों में जनता को पता चल गया कि भारतीय अंग्रेज सरकार के सख्त विरुद्ध हैं और स्वतन्त्रता चाहते हैं।

साइमन कमीशन—1919 के अधिनियम के अनुसार दस वर्ष बाद भारत में उत्तरदायी सरकार की प्रगति की जांच के लिये एक आयोग नियुक्त करने की व्यवस्था थी। चूंकि ये सुधार 1921 में लागू किये गये थे इसलिये कमीशन की नियुक्ति 1931 में होनी चाहिये थी अथवा जल्दी से जल्दी 1929 में होनी चाहिये थी। किन्तु अचानक 8 नवम्बर, 1927 को ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने एक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा करदी। समय से पूर्व कमीशन की नियुक्ति का प्रमुख कारण यह था कि 1929 में इंगलैंड में चुनाव होने वाले थे और उसमें मजदूर दल की जीत की पूरी आशा थी, इसीलिये सत्तारूढ़ दल (अनुदार दल) भारत का भविष्य मजदूर दल के हाथों में सौंपना नहीं चाहता था, क्योंकि इसे भय था कि कहीं मजदूर दल भारत को पूर्ण स्वराज्य न दे दे। यह कमीशन सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया, जिसमें साइमन के अतिरिक्त 6 सदस्य और थे। इसके सभी सदस्य अंग्रेज थे तथा ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। इसलिये भारत के सभी राज-नीतिक दलों ने इसका बहिष्कार किया। जब 3 फरवरी, 1928 को कमीशन बम्बई पहुंचा तो उसके विरुद्ध अनेक प्रदर्शन किये गये। जहां भी साइमन कमीशन गया, वहां काले झण्डों, हड़तालों, प्रदर्शनों और 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारों से उसका स्वागत हुआ। जब कमीशन लाहोर पहुंचा तो लाला लाजपतराय के नेतृत्व में बड़ा विशाल जुलूस निकाला गया। पुलिस अधिकारी साण्डर्स ने लाला लाजपतराय पर लाठी का सख्त प्रहार किया, जिससे लालाजी को सख्त चोटें आई और कुछ दिनों बाद इसी कारण उनका देहान्त हो गया। बाद में सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आदि क्रान्तिकारियों ने मिलकर साण्डर्स की हत्या करके इस राष्ट्रीय अपमान का बदला लिया। जब कमीशन लखनऊ पहुंचा तो उसके विरुद्ध पंडित गोविन्दवल्लभ पंत और पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में प्रदर्शन हुए। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर अनेक अत्याचार किये। दो वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद मई 1930 में साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी और 7 जून, 1930 को रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थी:—

(1) भारत सचिव को परामर्श देने के लिये भारत परिषद कायम रखी जाय, किन्तु इसकी शक्ति को कम किया जाय।

(2) भारत में संघ व्यवस्था लागू की जाय, जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों।

(3) प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त कर प्रान्तों को स्वायत्तता दे दी जाय, सारा प्रान्तीय शासन मंत्रियों को सौंप दिया जाय, जो विधान मण्डल के प्रति उत्तर-

दायी हों। प्रान्तों में गवर्नर को विशेष शक्तियां दी जाय ताकि वे विशेष परिस्थितियों में मंत्रियों की सलाह की उपेक्षा कर सके।

(4) कम से कम 10 या 15 प्रतिशत आबादी को वोट देने का अधिकार होना चाहिये। साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को कायम रखा जाय।

(5) प्रान्तीय विधान मण्डलों का विस्तार किया जाय, जिनमें सरकारी अधिकारी बिल्कुल न रहे और नामजद और सरकारी अधिकारियों की संख्या विधान मंडल की समस्त सदस्य संख्या के दसवें भाग से अधिक न हो।

(6) वर्मा को भारत से तथा सिन्ध को बम्बई से अलग कर दिया जाय। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को प्रान्तीय स्वायत्तता न दी जाय।

(7) उच्च न्यायालयों को भारत सरकार के अधीन कर दिया जाय।

(8) हर दस वर्ष बाद भारत की संवैधानिक प्रगति की जांच की पद्धति समाप्त करदी जाय और नया संविधान ऐसा लचीला तैयार किया जाय कि वह स्वयं ही विकसित हो सके।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य का कहीं उल्लेख नहीं था और केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिये भी कुछ नहीं कहा गया था। प्रतिरक्षा को भारतीयों के हाथों में नहीं सौंपा गया था। प्रान्तों को भी स्वायत्तता देकर गवर्नर की विशेष शक्तियों द्वारा सीमित कर दिया गया था। इसलिये भारतीयों ने इसकी निन्दा की। सर शिवस्वामी आयर ने इसे रद्दी की टोकरी में रखने लायक बताया तथा कूपलैंड के विचार में इसे राजनीति शास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्च कोटि की रचना प्रदान करने वाला बताया। किन्तु बाद में 1935 के अधिनियम में इसकी अनेक बातें अपना ली गई।

नेहरू रिपोर्ट—जब भारतीय साइमन कमीशन का वहिष्कार कर रहे थे, तो उस समय भारत सचिव ने भारतीय नेताओं को यह चुनौती दी थी कि यदि वे विभिन्न सम्प्रदायों की सहमति से एक संविधान तैयार कर सकें तो इंगलैंड की सरकार उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार रहेगी। कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और 28 फरवरी, 1928 को दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में कुछ मौलिक बातों को तय करने के बाद 10 मई, 1928 को बम्बई में इसकी दुबारा बैठक हुई, जहां पर भारत के संविधान का मसविदा तैयार करने के लिये मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में 8 व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने जो रिपोर्ट तैयार की उसे नेहरू रिपोर्ट कहते हैं। नेहरू रिपोर्ट की मुख्य बातें निम्नलिखित थी :—

(1) तात्कालिक लक्ष्य के रूप में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाय। केन्द्र व प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय तथा कार्यकारिणी को विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय।

(2) भारत में संघीय व्यवस्था लागू की जाय और संघीय आधार पर शक्तियों का बंटवारा किया जाय। अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के पास रखी जाय।

(3) साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति तथा अधिप्रतिनिधित्व (आबादी से अधिक स्थान) को अस्वीकृत कर दिया गया। किन्तु अल्पमतों को सांस्कृतिक स्वायत्तता, रक्षा तथा अनेक प्रकार की गारंटियों द्वारा सुरक्षा प्रदान करने की सिफारिश की गई।

(4) सिन्ध को बम्बई से अलग किया जाय तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के समान दर्जा दिया जाय।

(5) भारत सरकार की कानूनी शक्तियां संसद के पास रहेगी जो सम्राट, सीनेट और प्रतिनिधि सभा से मिलकर बनेगी। प्रतिनिधि सभा तथा प्रान्तीय विधान परिषदों के चुनाव में 21 वर्ष या अधिक आयु वाले उस व्यक्ति को भाग लेने का अधिकार होगा जो कानून द्वारा अयोग्य घोषित न किया गया हो।

(6) भारत की कार्यकारिणी शक्ति सम्राट के पास रहेगी और वह शक्ति गवर्नर जनरल द्वारा सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से, कानूनों और संविधान के अनुसार प्रयोग की जायेगी। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में प्रधान मंत्री और छः अन्य मंत्री होंगे। प्रधान मंत्री की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होगी और प्रधान मंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति होगी। कार्यकारिणी परिषद् सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होगी।

(7) एक प्रतिरक्षा समिति बनाई जायेगी, जिसमें प्रधान मंत्री, प्रतिरक्षा मंत्री, प्रधान सेनापति, वायु सेना और जल सेना के सेनापति, जनरल स्टाफ का अध्यक्ष तथा दो अन्य सैनिक विशेषज्ञ होंगे। प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय की स्वीकृति प्रतिनिधि सभा से लेनी होगी, किन्तु भारत पर विदेशी आक्रमण होने या इसकी सम्भावना होने पर केन्द्रीय कार्यकारिणी को किसी भी धनराशि के खर्च करने का अधिकार होगा।

(8) प्रिवी कौंसिल की तमाम अपीलें बन्द करके भारत में एक उच्चतम न्यायालय स्थापित किया जाय, जो संविधान की व्याख्या करेगा तथा प्रान्तीय झगड़ों पर निर्णय देगा।

जब यह रिपोर्ट विभिन्न दलों की अलग-अलग बैठकों को सामने आई तब अनेक दलों ने इस पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार करना आरम्भ कर दिया। मुस्लिम लीग में इस रिपोर्ट पर काफी मतभेद था। अली बन्धुओं ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार करने के लिये विभिन्न प्रान्तीय मुसलमान संगठनों को प्रोत्साहित किया। मोहम्मद अली जिन्ना इसमें कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन चाहते थे जिससे इसका स्वरूप ही बदल जाय। जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले में अपनी चौदह शर्तें पेश की। स्वयं कांग्रेस में भी काफी मतभेद उत्पन्न हो गया। दिसम्बर 1928

में कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक दल इस रिपोर्ट को केवल पूर्ण स्वतन्त्रता के आधार पर स्वीकार करना चाहता था। किन्तु गांधीजी के बीच-बचाव करने पर नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया। इस अधिवेशन में यह भी तय किया गया कि यदि ब्रिटिश संसद 31 दिसम्बर, 1929 तक या इससे पहले इस रिपोर्ट को स्वीकार नहीं करती है तो पूर्ण स्वतन्त्रता राष्ट्रीय लक्ष्य हो जायेगा तथा अंग्रेज सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट अस्वीकृत हो जाने पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया जायेगा।

पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव—नेहरू रिपोर्ट काफी अच्छी थी। किन्तु अंग्रेज सरकार ने इसे 1929 तक स्वीकार नहीं की। मई 1929 में इंगलैंड के चुनाव में अनुदार दल की पराजय के बाद रेम्जे मेकडोनल्ड के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार बनी। मजदूर दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था, अतः लिबरल पार्टी के सहयोग से उन्होंने सरकार बनाई थी। चुनाव के बाद राष्ट्रमंडलीय देशों के श्रमिक दलों के सम्मेलन में मेकडोनल्ड ने भारत को अधिराज्य स्थिति देने की घोषणा की और अक्टूबर 1929 में भारत के गवर्नर जनरल लार्ड इरविन को विचार विमर्श के लिये इंगलैंड बुलाया। इंगलैंड से लौटकर लार्ड इरविन ने 31 अक्टूबर, 1929 को घोषणा की कि 1917 की घोषणा से यह अभिप्राय स्पष्ट होता है कि भारत को अधिराज्य स्थिति का दर्जा मिले। इरविन ने यह भी कहा कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद उस पर विचार करने के लिये ब्रिटिश सरकार एक गोलमेज सम्मेलन बुलायेगी। यद्यपि इरविन की घोषणा अत्यन्त ही अस्पष्ट थी और इसमें यह नहीं कहा गया कि भारत को कब स्वराज्य प्राप्त होगा, किन्तु इस घोषणा से इंगलैंड में तूफान खड़ा हो गया। इंगलैंड के अनुदार दल ने औपनिवेशिक स्वराज्य या अधिराज्य स्थिति की चर्चा तक का विरोध किया। ऐसे भ्रान्तिमय वातावरण के कारण स्थिति स्पष्ट करने के लिये दिसम्बर 1929 में गांधीजी ने लार्ड इरविन से भेंट की, किन्तु इसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। इससे कांग्रेसी नेताओं को बड़ी निराशा हुई। इसी बीच इंगलैंड सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को भी अस्वीकार कर दिया था।

दिसम्बर 1929 को कांग्रेस का अधिवेशन लाहोर में हुआ, जिसमें पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया और कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दिया कि उपयुक्त समय पर वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करदे। यह भी निश्चय किया गया कि प्रत्येक वर्ष 26 जनवरी का दिन 'स्वाधीनता दिवस' के रूप में मनाया जाय। एक प्रतिज्ञा बनाई गई जो इस दिन प्रत्येक कांग्रेसी द्वारा ग्रहण की जाती थी। 26 जनवरी, 1930 को लाहोर में रावी नदी के किनारे सभी कांग्रेस के सदस्यों ने पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ग्रहण की। इसीलिये 26 जनवरी का दिन भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है। भारत का नया संविधान

26 जनवरी को ही लागू किया गया और अब 26 जनवरी का दिन गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

फरवरी 1930 में कांग्रेस कार्य समिति ने पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिये सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार महात्मा गांधी को दे दिया कि वे ही उचित समय का चयन कर आन्दोलन आरम्भ करदें। इससे पूर्व अंग्रेज सरकार के विरुद्ध 1928 के मध्य सरदार पटेल के नेतृत्व में किसानों ने बारदोली (सूरत जिला) में एक सफल सत्याग्रह किया था और सरकार को भूमि कर देने से इन्कार कर दिया था। इसलिये कांग्रेस को अपनी मांगें मनवाने के लिये यह तरीका काफी प्रभावशाली प्रतीत हुआ। किन्तु आन्दोलन आरम्भ करने से पूर्व महात्मा गांधी ने एक बार फिर सरकार से समझौते का प्रयत्न किया और इस हेतु लार्ड इरवन को 2 मार्च, 1930 को एक पत्र लिखा, जिसमें उन 11 मांगों का उल्लेख किया गया जो जनवरी 1930 में सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई थी। उन्होंने यह भी कहा कि यदि अंग्रेज सरकार ने उन मांगों को पूरा करने का प्रयत्न नहीं किया तो वे 12 मार्च, 1930 को नमक कानून का उल्लंघन करेंगे। इरविन ने इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। गांधीजी ने अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिये वायसराय से भेंट करना भी चाहा, किन्तु इरविन ने गांधीजी से मिलने से ही इन्कार कर दिया।

दाण्डी कूच—गांधीजी ने कोई कार्य जल्दी में नहीं किया। लाहोर अधिवेशन के बाद गांधीजी ने अपने कार्यकर्त्ताओं को सत्याग्रह का प्रशिक्षण दिया। 12 मार्च, 1930 को गांधीजी अपने 79 कार्यकर्त्ताओं के साथ साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर स्थित दाण्डी की ओर कूच किया। दो सौ मील की यात्रा पैदल चलकर 24 दिन में पूरी की गई। सरदार पटेल ने आगे-आगे चल कर लोगों को गांधीजी के स्वागत के लिये तैयार किया। मार्ग में गांधीजी ने लोगों को बलिदान और अहिंसा का उपदेश दिया। लोगों में देश भक्ति का असीम उत्साह दिखाई दे रहा था। 6 मार्च, 1930 को प्रातःकाल प्रार्थना के बाद महात्मा गांधी ने समुद्र तट पर नमक बनाकर नमक कानून भंग किया।

आन्दोलन का कार्यक्रम—महात्मा गांधी द्वारा नमक कानून भंग करना सारे देश के लिये सविनय अवज्ञा के प्रारम्भ का संकेत था। अतः जगह-जगह लोगों ने सरकारी कानूनों को तोड़ना शुरू कर दिया। महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किया—

(1) गांव-गांव में नमक कानून तोड़ा जाय।

(2) विद्यार्थी सरकारी स्कूलों को और राज्य कर्मचारी सरकारी दफ्तरों को छोड़ दें।

(3) स्त्रियां शराब, अफीम और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना दें।

(4) विदेशी कपड़ों को जलाया जाय।

(5) लोग सरकार को टैक्स न दें।

आन्दोलन की प्रगति—गांधीजी द्वारा कानून तोड़ने से आन्दोलन आरम्भ हो गया और दिन प्रतिदिन इसका प्रभाव बढ़ता गया। बम्बई, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त और मद्रास में गैर कानूनी तरीके से नमक बनना शुरू हो गया। दिल्ली में 16'0 नारियों ने शराब की दुकानों पर धरना दिया और बहुत सी दुकानें बन्द हो गयी। नारियों ने पर्दा त्याग कर इस सत्याग्रह में जो भाग लिया, वह सदा इतिहास में स्मरणीय बन गया है। इन सभी नारियों को कैद में डाल दिया गया। विदेशी कपड़े का बहिष्कार आशा से भी अधिक सफल रहा। बम्बई में अंग्रेज व्यापारियों की सोलह मिलें बन्द हो गयी तथा भारतीय व्यापारियों की मिलें दुगनी तेजी से काम करने लगी। धारासना में 2,500 सत्याग्रहियों ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई करदी। पुलिस ने उनकी निर्ममता से पिटाई की, जिससे अनेक व्यक्ति बुरी तरह से घायल हो गये और कई मर गये। किसानों ने कर न अदा करने का आन्दोलन चलाया।

इस आन्दोलन में अधिकांश मुसलमानों ने भाग नहीं लिया। मोहम्मद अली जिन्ना ने कहा, "हम गांधी के साथ शामिल होने से इन्कार करते हैं, क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये नहीं बल्कि भारत के 7 करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिये है।" यद्यपि जिन्ना के नेतृत्व में अधिकतर मुसलमान इस आन्दोलन से अलग रहे, लेकिन उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पठानों ने खां अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में इस आन्दोलन में भाग लिया और पुलिस की लाठियां और गोलियों को सहन किया।

जून 1930 तक यह आन्दोलन पूरे जोर पर पहुंच गया। अनेक स्थानों पर ब्रिटिश शासन ठप्प हो गया। पुलिस के अत्याचारों तथा सेना की गोलियों से भयभीत होने के स्थान पर सत्याग्रहियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती गई। 16 अप्रेल, 1930 को जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य महत्वपूर्ण कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और 5 मई को महात्मा गांधी को जेल में डाल दिया। कुल 60 हजार लोगों को जेल में ठूंस दिया गया। इससे लोगों में उत्तेजना फैल गई। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने छः थाने जला दिये। पुलिस ने अनेक व्यक्तियों को गोली से भून दिया। जिस समय आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था, इंगलैंड की सरकार ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये इंगलैंड में गोलमेज सम्मेलन बुलाया। कांग्रेस के अधिकांश कार्यकर्त्ता जेल में थे, अतः उनका कोई प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन में भाग नहीं ले सका। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में

जिन्ना और डॉ. अम्बेडकर में तीव्र मतभेद हो जाने के कारण सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हो सका।

गांधी-इरविन पैक्ट—इरविन ने यह अनुभव कर लिया कि आन्दोलन को शक्ति से नहीं दवाया जा सकता तथा गोलमेज सम्मेलन की असफलता को देखते हुए कांग्रेस के सहयोग के बिना कोई समस्या का समाधान नहीं हो सकता। अतः देश में अच्छा वातावरण बनाने के लिये 26 जनवरी, 1931 को गांधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया। तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर के प्रयत्नों से 17 फरवरी, 1931 को दिल्ली में गांधीजी व इरविन के बीच बातचीत आरम्भ हुई और 5 मार्च 1931 को दोनों में एक समझौता हो गया। समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

(1) सरकार सभी अध्यादेशों और चालू मुकदमों को वापस ले लेगी।

(2) सरकार उन सभी राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर देगी जिन्होंने हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया।

(3) समुद्र के पास रहने वाले लोगों को सरकार बिना टैक्स के नमक बनाने और इकट्ठा करने की अनुमति देगी।

(4) विदेशी कपड़ों, शराब और अफीम की दुकानों पर सरकार शान्तिपूर्वक धरना रखने देगी और उसमें कोई रुकावट उत्पन्न नहीं करेगी।

(5) सरकार सत्याग्रहियों की जब्त की हुई सम्पत्ति को वापस कर देगी।

कांग्रेस की ओर से गांधीजी ने निम्न बातें स्वीकार कीं—

(1) कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन को स्थगित कर देगी।

(2) पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों के बारे में निष्पक्ष जांच की मांग छोड़ दी जायेगी।

(3) कांग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी। कांग्रेस उत्तरदायी शासन को, अल्पसंख्यकों, प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा कुछ वित्तीय शक्तियों को अंग्रेजों के हाथ में रखते हुए स्वीकार कर लेगी।

(4) कांग्रेस सब बहिष्कारों को बन्द कर देगी, लेकिन स्वदेशी का प्रचार जारी रखेगी।

गांधी-इरविन पैक्ट की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। गांधीजी ने इसे उचित बताया, क्योंकि पहली बार अंग्रेज सरकार ने भारतीय नेताओं के साथ समानता के स्तर पर बातचीत की थी। किन्तु जवाहरलाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस गांधीजी के इस मूल्यांकन से सहमत नहीं थे, क्योंकि एक तरफ कांग्रेस के सामने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य था और दूसरी ओर गांधीजी ने महत्वपूर्ण विषयों को अंग्रेजों के हाथों में रखना स्वीकार कर लिया था, इससे पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य को त्यागना परिलक्षित होता था। कांग्रेस के वामपक्षी लोगों ने इसे सरकार के सामने आत्म समर्पण

बनाया। कांग्रेस का युवा वर्ग इससे बहुत असंतुष्ट हुआ, क्योंकि गांधीजी तीन प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों—सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को न तो कैद से छुड़ा सके और न उनकी फांसी की सजा को आजन्म कारावास में बदलवा सके। 25 मार्च, 1931 को करांची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उस समय सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी हो चुकी थी, इसलिये नवयुवकों ने महात्मा गांधी के विरुद्ध काले झण्डों का प्रदर्शन किया। महात्मा गांधी बड़ी कठिनता से इस समझौते को कांग्रेस से स्वीकार करा सके।

इरविन की नीति से अंग्रेज नौकरशाही भी असन्तुष्ट थी, क्योंकि वह इस समझौते को सरकार की हार मानती थी। अतः इरविन के जाने के बाद उसके उत्तराधिकारी विलिंगडन ने हर संभव तरीके से समझौते के उल्लंघन में संकोच नहीं किया। कई बार तो गांधीजी को चेतावनी देनी पड़ी कि सरकारी दमन बन्द नहीं किया गया तो वे लंदन नहीं जायेंगे। गांधीजी व विलिंगडन में समझौता होने के बाद ही गांधीजी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने लंदन गये। दूसरा गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर, 1931 को आरम्भ हुआ लेकिन ब्रिटिश सरकार के विरोधी रुख के कारण, डॉ. अम्बेडकर द्वारा दलित वर्गों के लिये कुछ स्थान आरक्षित करने की जिद तथा साम्प्रदायिक समस्या के कारण 1 दिसम्बर, 1931 को सम्मेलन किसी समस्या को हल किये बिना समाप्त हो गया। गांधीजी निराश होकर खाली हाथ भारत लौट आये।

महात्मा गांधी की अनुपस्थिति में लार्ड विलिंगडन ने अपना दमनकारी चक्र तेज कर दिया था। जब महात्मा गांधी भारत लौटे तो उत्तर प्रदेश के कृषि सम्बन्धी झगड़ों के कारण जवाहरलाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया था। खां अब्दुल गफ्फार खां तथा उनके भाई को भी गिरफ्तार कर लिया था। बंगाल में सैनिक शासन लागू कर दिया था तथा उत्तर प्रदेश व उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में अध्यादेशों द्वारा शासन चलाया जा रहा था। ऐसी गम्भीर परिस्थितियों को हल करने के लिये महात्मा गांधी लार्ड विलिंगडन से मुलाकात करना चाहा, लेकिन विलिंगडन ने मिलने से इन्कार कर दिया। अतः विवश होकर महात्मा गांधी ने 3 जनवरी 1932 को सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः आरम्भ करने की घोषणा करदी। ब्रिटिश सरकार तो अवसर ढूंढ रही थी, अतः 4 जनवरी 1932 को महात्मा गांधी तथा कांग्रेस अध्यक्ष सरदार पटेल को गिरफ्तार कर लिया गया और कांग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया। हजारों व्यक्ति जिन पर कांग्रेसी होने या कांग्रेस से सहानुभूति रखने का सन्देह किया गया, उनको गिरफ्तार कर लिया गया।

1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन और 1932 के आन्दोलन में अन्तर था। 1930 में कांग्रेस ने पूरी तैयारी के साथ आन्दोलन शुरू किया था, जबकि इस बार सरकार ने अपनी पूरी तैयारी के बाद कांग्रेस को तंग करके आन्दोलन

भड़काया था। विलिंगडन ने कहा था कि वह कांग्रेस को छः सप्ताह में बिल्कुल कुचल देगा। लेकिन उसकी यह मनोकामना पूरी नहीं हो सकी। यद्यपि हजारों कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी के कारण आन्दोलन की शक्ति घट गई थी, फिर भी आन्दोलन चलता रहा। लगभग 1,20,000 व्यक्तियों को गिरफ्तार करके कड़े दण्ड दिये गये।

हरिजनों पर हिन्दुओं द्वारा किये गये अन्यायों पर पश्चाताप करने के लिये 8 मई, 1933 को गांधीजी ने 21 दिन का उपवास शुरू किया। सरकार ने उसी दिन गांधीजी को जेल से छोड़ दिया। गांधीजी ने अपने आपको हरिजन कल्याण के लिये लगाया, क्योंकि रेम्जे मेकडोनल्ड के साम्प्रदायिक पंचाट के कारण सवर्ण हिन्दुओं व शूद्रों में एक खाई पैदा हो गई थी। 8 मई, 1933 को महात्मा गांधी ने जन आन्दोलन रोक दिया, किन्तु व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा। जनता का उत्साह भी अब कम हो गया था और आन्दोलन में कमजोरी आ गई थी। इसलिये 7 अप्रेल, 1934 को महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन पूरी तरह से समाप्त कर दिया। गांधीजी द्वारा आन्दोलन समाप्त किया जाना बहुत से नेताओं को बड़ा अप्रिय लगा और गांधीजी की नीति उन्हें बड़ी छिन्नभिन्न दिखाई दी।

गोलमेज सम्मेलन--जिस समय सविनय आन्दोलन पूरे जोरों पर था तब लार्ड इरविन ने इंगलैंड की सरकार पर दबाव डाला कि भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया जाय जो भारत की संवैधानिक समस्याओं पर विचार विमर्श करे। इंगलैंड की सरकार ने गोलमेज सम्मेलन की योजना स्वीकार करली। सम्मेलन में सभी विचारधारा के व्यक्तियों को आमंत्रित किया गया। मुसलमानों, हिन्दू महासभा, सिक्ख, ईसाई, जमींदारों, उद्योगपतियों, हरिजनों, यूरोपियनों, भारतीय नरेशों, इंगलैंड के विभिन्न राजनीतिक दलों तथा भारतीय उदारपंथियों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया। प्रतिनिधि सदस्यों का चयन इस प्रकार किया गया कि भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद स्पष्ट हो जाय। प्रथम गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला रहा थी, अतः कांग्रेस ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग नहीं लिया।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन का उद्घाटन 12 नवम्बर, 1930 को सम्राट जार्ज पंचम ने किया तथा सम्मेलन की अध्यक्षता इंगलैंड के प्रधान मंत्री रेम्जे मेकडोनल्ड ने की। सम्मेलन के आरम्भ में ही इंगलैंड के अनुदार दल व लिबरल दल के प्रतिनिधियों में तथा भारतीय प्रतिनिधियों में मतभेद स्पष्ट हो गये। भारतीय प्रतिनिधि भारत में एक संघीय व्यवस्था चाहते थे, जिसमें सारे अधिकार भारतीयों को सौंप दिया जाय, किन्तु इंगलैंड के प्रतिनिधि भारत को अधिराज्य स्थिति भी देने को तैयार नहीं थे। रेम्जे मेकडोनल्ड ने सुझाव दिया कि प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता दे दी जाय, किन्तु अल्पमतों के हितों की रक्षा के लिये गवर्नर के पास

विशेष शक्तियां रहें। केन्द्र में संघ स्थापित किया जाय, जिसमें ब्रिटिश प्रान्तों व देशी रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों और केन्द्र में दोहरा शासन स्थापित कर दिया जाय। इन सभी बातों पर लगभग सारे प्रतिनिधि सहमत थे, किन्तु साम्प्रदायिक समस्या पर भारतीय प्रतिनिधियों में समझौता नहीं हो सका। मुसलमानों ने अलग प्रतिनिधित्व की मांग की तथा जिन्ना अपनी चौदह शर्तों को मनवाने के लिये अड़ा रहा। डॉ. अम्बेडकर ने हरिजनों के लिये अलग प्रतिनिधित्व की मांग की। हिन्दुओं के प्रतिनिधि संयुक्त चुनाव पद्धति के पक्ष में थे। इस प्रकार प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ने अपने-अपने हितों को सुरक्षित करने के लिये मांगें पेश की। अतः सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हो सका तथा 19 जनवरी, 1931 को सम्मेलन समाप्त हो गया।

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के समय तक इंगलैंड में सर्वदलीय मंत्रिमंडल बन चुका था जिसमें अनुदार दल का बहुमत था। सम्मेलन के अधिवेशन के दौरान अक्टूबर 1931 के चुनावों के बाद इंगलैंड में अनुदार दल का मंत्रिमंडल बना। दूसरे सम्मेलन में कांग्रेस ने गांधीजी को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। दूसरा गोलमेज सम्मेलन 7 सितम्बर, 1931 को आरम्भ हो गया। महात्मा गांधी 12 सितम्बर, 1931 को लंदन पहुंचे। इस सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों के लिये कुछ स्थान आरक्षित करने की मांग की, किन्तु गांधीजी ने इसे अस्वीकार कर दिया और कांग्रेस को 85 प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधि बताया। महात्मा गांधी ने भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने यह मांग नहीं मानी। साम्प्रदायिक समस्या भी अत्यधिक जटिल बन गई। महात्मा गाँधी ने कहा कि यदि भारतीय प्रतिनिधि आपस में साम्प्रदायिक समस्या का हल नहीं निकाल सके तो उन्हें इसका निर्णय अंग्रेजी सरकार पर छोड़ देना चाहिये। सम्मेलन में अधिकांश प्रतिनिधियों ने मेकडोनल्ड के निर्णय के प्रति आस्था प्रकट की। गांधीजी ने केवल मुसलमानों और सिक्खों के लिये मेकडोनल्ड की मध्यस्थता स्वीकार की थी, दलित वर्गों के लिये नहीं। लेकिन वहां प्रत्येक जाति के प्रतिनिधियों ने अपनी मांगें बढ़-चढ़ा कर पेश की। ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ऐसे ही चुने थे, जिनमें कोई समझौता न हो सके। अतः साम्प्रदायिक समस्या का वहां कोई समाधान नहीं हो सका। महात्मा गांधी के सभी प्रयत्न विफल हुए और उन्हें निराश भारत लौटना पड़ा।

दूसरे गोलमेज सम्मेलन की असफलता के बाद एक तीसरा गोलमेज सम्मेलन भी हुआ जो 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर, 1932 तक चला। लेकिन इसका कोई विशेष महत्व नहीं था, क्योंकि इस सम्मेलन में केवल राजभक्तों ने ही भाग लिया था। कांग्रेस इस समय विवश होकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला रही थी। इस सम्मेलन में दूसरे गोलमेज सम्मेलन की उप समितियों की सिफारिशों के आधार

पर कुछ निर्णय लिये गये, जिनको भारत सरकार ने 1935 के अधिनियम में स्थान दिया ।

साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award)

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के अन्त में रेम्जे मेकडोनल्ड ने कहा था कि यदि भारतीय प्रतिनिधि आपस में साम्प्रदायिक समस्या हल न कर सके तो ब्रिटिश सरकार अपना निर्णय देने हेतु बाध्य हो जायेगी । चूंकि लंदन में विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों में कोई समझौता नहीं हो सका, अतः 16 अगस्त 1932 को मेकडोनल्ड ने अपने निर्णय की घोषणा कर दी, जिसको साम्प्रदायिक पंचाट कहा जाता है । इस पंचाट में मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों, एंग्लो-इंडियनों, व्यापारिक एवं औद्योगिक वर्ग, जमींदारों और विश्वविद्यालयों के लिये अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था की गई, उनके लिये सीटें निश्चित करदी गई और निर्वाचन की विभिन्न प्रणालियां अपनाई गई । हरिजन या दलित वर्ग को एक अलग अल्पमत मान लिया गया । स्थानों का बंटवारा केवल प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिये किया गया और केन्द्रीय विधान मण्डल के बारे में कुछ नहीं कहा गया ।

साम्प्रदायिक पंचाट भारत के संवैधानिक इतिहास में सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ । इसके द्वारा हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने की कोशिश की गई । इसमें हिन्दुओं के साथ न्याय नहीं किया गया । जिन प्रान्तों में हिन्दू अल्पमत में थे वहां हिन्दुओं को वही रियायतें नहीं दी गई जो मुसलमानों को उन प्रान्तों में दी गई, जहां वे अल्पमत में थे । पंजाब में सिक्खों को तथा बंगाल में यूरोपियनों को आबादी से अधिक स्थान दे दिये गये । भारतीय ईसाइयों ने कभी अलग प्रतिनिधित्व की मांग नहीं की थी, फिर भी यह पद्धति उन पर लाद दी गई । साम्प्रदायिक प्रणाली, जो भारतीय राष्ट्रवाद के लिये घातक थी, उसे न केवल जारी रखा गया, बल्कि उसका अधिक विस्तार भी कर दिया । इससे विभिन्न सम्प्रदायों में धार्मिक विष उत्पन्न हुआ और व्यर्थ के झगड़े बढ़ गये ।

गांधीजी को इस निर्णय से सबसे अधिक दुख दलित वर्गों के लिये साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली की स्थापना से हुआ । गांधीजी ने इसके विरोध में 18 अगस्त, 1932 को मेकडोनल्ड को एक पत्र लिखा, जिसमें चेतावनी दी कि यदि 20 सितम्बर, 1932 तक दलित वर्गों के पृथक निर्वाचन को समाप्त नहीं किया गया तो वे 20 सितम्बर, 1932 की दोपहर से आमरण अनशन कर देंगे । ब्रिटिश सरकार ने इसकी कोई परवाह नहीं की । अतः 20 सितम्बर, 1932 को महात्मा गांधी ने अपना आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया । डॉ. अम्बेडकर ने इसे राजनैतिक धूर्तता कहा । किन्तु पं० मदनमोहन मालवीय, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद तथा अन्य हिन्दुओं ने डॉ. अम्बेडकर से विचार विमर्श किया । अन्त में 26 सितम्बर, 1932 को एक समझौते पर हस्ताक्षर हो गये, जिसे पूना समझौता (Poona Pact) कहते

है। गांधीजी ने 26 सितम्बर को अपना अनशन समाप्त कर दिया। डॉ. अम्बेडकर ने अवसर का लाभ उठाते हुए 71 के स्थान पर 148 स्थान दलित वर्गों के लिये सुरक्षित करवा लिये। इन स्थानों का चुनाव दो अवस्थाओं में होना था। प्रारम्भिक चुनाव में हरिजन साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली के आधार पर प्रत्येक स्थान के लिये चार उम्मीदवार चुनते थे, परन्तु अन्तिम चुनाव में सवर्ण हिन्दू तथा हरिजन मिलकर मतदान करते थे। इसके अतिरिक्त उन साधारण स्थानों (General Seats) के लिये, जो हरिजनों के लिये सुरक्षित नहीं किये गये, हरिजनों को चुनाव में एक अतिरिक्त मत देने का अधिकार दे दिया गया। स्थानीय संस्थानों तथा सार्वजनिक सेवाओं मे हरिजनों को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया और हरिजनों को शिक्षा के लिये आर्थिक सहायता देने की शर्त रखी गई।

गांधीजी द्वारा पूना समझौता स्वीकार करने से साम्प्रदायिक पंचाट को परोक्ष रूप से मान्यता प्राप्त हो गयी। अब तक साम्प्रदायिक समस्या केवल हिन्दुओं व मुसलमानों तक सीमित थी, लेकिन अब इस समस्या में दलित वर्ग भी सम्मिलित हो गया। गांधीजी के अनशन के कारण लोगों का ध्यान 1932-33 में पुनः चालू किये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन से हट गया और जनता सरकार के अत्याचारों से भयभीत हो चुकी थी। अतः 8 मई, 1933 को गांधीजी ने आन्दोलन समाप्त कर दिया तथा सरकार से बंदी सत्याग्रहियों को रिहा करने की मांग की। लेकिन सरकार ने इस मांग की भी उपेक्षा की।

श्वेत पत्र—तीसरे गोलमेज की समाप्ति के बाद मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने उन बिन्दुओं का संकेत दिया, जिनके आधार पर 1935 का एक्ट बनने वाला था। यह श्वेत पत्र इतना प्रतिक्रियावादी था कि भारत के प्रगतिशील तत्वों ने इसे बिल्कुल पसन्द नहीं किया। अप्रैल 1933 में लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक संयुक्त संसदीय समिति नियुक्त की जिसे श्वेत पत्र के प्रस्तावों पर विचार करना था। इस समिति ने कुछ थोड़े से सुधार किये, जैसे–पहले श्वेत पत्र में संघीय सभा के प्रत्यक्ष चुनाव का सुझाव दिया गया था, किन्तु इस समिति ने अप्रत्यक्ष चुनाव का सुझाव दिया। इससे सुधार के नाम पर उल्टा नुकसान हुआ। इस समिति की रिपोर्ट 11 नवम्बर, 1934 को प्रकाशित हो गयी और इसके आधार पर एक अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया, जिसे अगस्त 1935 में ब्रिटिश सम्राट की आज्ञा प्राप्त हो गयी।

1935 का अधिनियम व राजनीतिक सरगर्मी

1935 के अधिनियम द्वारा अखिल भारतीय संघ की स्थापना की गई तथा केन्द्र में द्वैध शासन स्थापित किया गया। यद्यपि 1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में स्थापित द्वैध शासन प्रणाली की अव्यवहारिकता सिद्ध हो चुकी थी, फिर भी

1935 में इसे केन्द्र में स्थापित करदी गई। इससे स्पष्ट होता है कि अंग्रेज भारतीय मंत्रियों को सत्ता हस्तांतरित करना ही नहीं चाहते थे। गवर्नर जनरल को कुछ विशेष अधिकार देकर संघीय व्यवस्थापिका को भी शक्तिहीन बना दिया गया। गोलमेज सम्मेलनों में मुस्लिम लीग ने प्रान्तीय स्वायत्तता की मांग पर अत्यधिक जोर दिया था, ताकि मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों में वे स्वतन्त्र और केन्द्र से मुक्त रह सकें। अतः इस अधिनियम में प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गई। कांग्रेस तथा अन्य दल इस अधिनियम से सन्तुष्ट नहीं हुए, विशेषकर वे अधिनियम के संघीय भाग के सर्वथा विरुद्ध थे। देशी रियासतों के शासकों ने भी बाद में इस योजना के प्रति कोई रुचि नहीं दिखाई। अतः इस अधिनियम का संघीय भाग लागू नहीं हो सका।

प्रान्तीय स्वायत्तता का इतना विरोध नहीं हुआ था, अतः इस अधिनियम को प्रान्तीय क्षेत्रों में 1 अप्रेल, 1937 से लागू करने की घोषणा की गई। तदनुसार प्रान्तों में चुनाव कराये गये, जिसके फलस्वरूप छः प्रान्तों (मद्रास, बम्बई, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रान्त) में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ, तीन प्रान्तों (बंगाल, असम और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त) में कांग्रेस को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए तथा दो प्रान्तों (पंजाब और सिन्ध) में कांग्रेस को नहीं के बराबर स्थान प्राप्त हुए।

प्रान्तों में चुनाव जीतने के बाद कांग्रेस के सामने प्रश्न उत्पन्न हुआ कि कांग्रेस को सत्ता ग्रहण करनी चाहिये या नहीं, क्योंकि कांग्रेस ने इस संविधान (1935 का अधिनियम) को अन्दर से नष्ट करने की दृष्टि से चुनाव लड़ा था, सत्ता ग्रहण करने के लिये नहीं। कांग्रेस के कुछ वरिष्ठ सदस्य—सी. राजगोपालाचारी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और सरदार पटेल पद ग्रहण करने के पक्ष में थे, जबकि जवाहरलाल नेहरू और कुछ उनके अनुयायी पद ग्रहण करने के विरुद्ध थे। अन्त में महात्मा गांधी के कहने पर यह निर्णय लिया गया कि यदि गवर्नर जनरल यह आश्वासन दे कि प्रान्तों के गवर्नर दैनिक प्रशासन में मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेंगे, तो कांग्रेस पद ग्रहण कर लेगी। गवर्नर जनरल लार्ड लिनलिथगो ने इस प्रकार का आश्वासन देने से इन्कार कर दिया, अतः कांग्रेस ने पद ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। प्रान्तों के गवर्नर ने दूसरे सबसे बड़े दल को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया और अन्तरिम मंत्रिमंडल बना लिये गये, किन्तु बहुमत न होने के कारण विधान मंडलों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। अन्त में परिस्थिति से विवश होकर 21 जून, 1937 को लार्ड लिनलिथगो ने इस प्रकार का आश्वासन दिया और 7 जुलाई, 1937 को कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में अन्तरिम मंत्रिमंडलों ने त्याग पत्र दे दिया और कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडल बनाये। अगले वर्ष कांग्रेस ने दूसरे दलों से मिलकर (मुस्लिम

लीग से नहीं) असम में अपना मंत्रिमंडल बनाया। इसी दौरान उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो गया। अतः मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडल ने त्याग पत्र दे दिया और उसके स्थान पर कांग्रेस ने दूसरे दलों के सहयोग से मंत्रिमंडल बनाया। इस प्रकार कुल 11 प्रान्तों में से 8 प्रान्तों में कांग्रेस ने पद ग्रहण कर लिये। केवल तीन प्रान्तों (बंगाल, पंजाब और सिन्ध) में गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाये गये। जिन प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाये, वहां कांग्रेसी नेता मुस्मिल लीग के सदस्यों को इस शर्त पर मंत्रिमंडल में लेने को तैयार हुए कि विधान मंडलों में मुस्लिम लीग अपना पृथक अस्तित्व समाप्त करदे। मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार नहीं किया और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में शामिल नहीं हुई। फलस्वरूप मुस्लिम लीग कांग्रेस का अब अधिक विरोध करने लगी।

कांग्रेस ने सत्तारूढ़ होने के बाद राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया, किसानों को साहूकारों के ऋणों से मुक्ति दिलाई, जमींदारों का प्रभाव समाप्त करने तथा किसानों की दशा सुधारने, हरिजन उद्धार, शराबबन्दी तथा प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। 1939 तक कांग्रेसी तथा गैर कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय मंत्रिमंडल ठीक ढंग से कार्य करते रहे। कांग्रेसी प्रान्तों में गवर्नरों ने मंत्रियों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु गैर कांग्रेसी प्रान्तों में वे जिस समय भी चाहते, हस्तक्षेप कर लेते। इसका कारण यह था कि उन प्रान्तों में कांग्रेस जैसा कोई ब्रिटिश विरोधी संगठित दल नहीं था।

द्वितीय विश्व युद्ध तथा संवैधानिक गतिरोध

1 सितम्बर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। इस पर इंगलैंड ने 3 सितम्बर, 1939 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। अंग्रेजों ने कहा—इस युद्ध द्वारा प्रत्येक राष्ट्र के शोषण का अन्त होगा और प्रत्येक जाति को आत्म निर्णय का अधिकार होगा। इसके तुरन्त बाद लार्ड लिनलिथगो ने केन्द्रीय विधान मण्डल, प्रान्तीय विधान मण्डल अथवा मंत्रिमंडलों से परामर्श किए बिना भारत को भी इंगलैंड के साथ युद्ध में शामिल कर लिया। कांग्रेस ने गवर्नर जनरल की इस कार्यवाही को सर्वथा अनुचित बताया। 10 अक्टूबर, 1939 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें मांग की गई कि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जायेगा और अब तत्काल भारतीय मामलों पर अधिक से अधिक नियंत्रण दे दिया जायेगा। कांग्रेस की इस मांग के बावजूद 17 अक्टूबर, 1939 को लार्ड लिनलिथगो ने युद्ध के बाद भारत को अधिराज्य स्थिति देने की घोषणा की। इस घोषणा से किसी को भी तसल्ली नहीं हुई। महात्मा गांधी ने कहा, "कांग्रेस ने रोटी मांगी थी परन्तु उसको पत्थर मिले।" 22 अक्टूबर, 1939 को कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव

पास किया जिसमें ब्रिटिश सरकार के रवैये के विरुद्ध रोष प्रकट करने के लिये कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को त्याग पत्र देने को कहा। आठ प्रान्तों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग पत्र दे दिया। इन सभी प्रान्तों में गवर्नर जनरल ने संविधान की विफलता घोषित करके धारा 93 के अनुसार प्रान्तों का शासन गवर्नरों को सौंप दिया और प्रान्तीय स्वराज्य का अन्त कर दिया। इसके बाद इन प्रान्तों में गवर्नरों का निरंकुश शासन स्थापित हो गया।

प्रान्तों में उत्पन्न संवैधानिक गतिरोध का परिणाम यह निकला कि लार्ड लिनलिथगो का रवैया बदल गया। अब वह जिन्ना की सहायता की तरफ अधिक झुकने लगा। वास्तव में जिन्ना को भारत की संवैधानिक प्रगति पर निषेधाधिकार प्रयोग करने का अधिकार दे दिया गया। इससे मुस्लिम लीग को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और मार्च 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग प्रस्तुत की। इधर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी तेजी से बदलती जा रही थी। जर्मनी ने जून 1940 तक अनेक देशों पर विजय प्राप्त करली थी और ब्रिटेन पर बड़ी तेजी से हवाई हमले आरम्भ कर दिये थे। इससे अंग्रेजों को भारी खतरा उत्पन्न हो गया था। इस अवसर पर महात्मा गांधी ने कहा, "हम ब्रिटेन की बर्बादी में अपनी आजादी तलाश नहीं करते।" कांग्रेस ने 7 जुलाई, 1940 को पूना में एक प्रस्ताव पास कर, दो शर्तों पर ब्रिटिश सरकार को सहायता देने का वचन दिया। पहली शर्त यह थी कि युद्ध के बाद भारत को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर दिया जाय और दूसरी यह कि केन्द्र में सभी मुख्य राजनैतिक दलों को मिलाकर तुरन्त एक अन्तरिम सरकार स्थापित की जाय।

इसी समय इंगलैंड में राजनीतिक परिवर्तन आया। चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल प्रधान मंत्री तथा लार्ड जेटलैण्ड के स्थान पर एमरी भारत सचिव बन गये। उनकी भारत के प्रति सहानुभूति बिल्कुल नहीं थी। किन्तु गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए गवर्नर जनरल को भारतीय नेताओं से बातचीत करके भारतीयों को कुछ अधिकार देकर सन्तुष्ट करने की आज्ञा दी। अतः गवर्नर जनरल ने 8 अगस्त, 1940 को एक घोषणा की, जिसमें कहा गया कि युद्ध के बाद एक ऐसी समिति नियुक्त की जायेगी, जो पूर्णतया राष्ट्रीय होगी और वह भारत के भावी संविधान की रूपरेखा तैयार करेगी। इस घोषणा में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति में भारतीय प्रतिनिधियों को शामिल करने का आश्वासन दिया गया। युद्ध सम्बन्धी मामलों में सलाह देने के लिये एक युद्ध परामर्श समिति स्थापित करने को कहा गया जिसमें देशी रियासतों तथा भारत के राष्ट्रीय जीवन के सभी प्रमुख तत्वों को शामिल करने की व्यवस्था थी। कांग्रेस ने इस घोषणा को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि पूना–प्रस्ताव में उल्लिखित शर्तों का पालन इस घोषणा में नहीं किया गया। इसके विपरीत इस घोषणा में अप्रत्यक्ष रूप से यह कह दिया गया कि मुस्लिम लीग

की स्वीकृति के बिना भारत में कोई संवैधानिक परिवर्तन नहीं किया जायेगा। इस प्रकार बहुमत को अल्पमत की दया पर छोड़ दिया गया। यह घोषणा राष्ट्रीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल थी, क्योंकि बाद में इसी से पाकिस्तान की मांग प्रबल हुई थी। इसलिये कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिये व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया, जिसमें देशवासियों को युद्ध में ब्रिटिश सरकार की सहायता न करने की अपील की गई।

मुस्लिम राजनीति और पाकिस्तान की मांग

महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलन में जो कांग्रेस और मुस्लिम लीग में सहयोग और एकता रही वैसी फिर कभी दिखाई नहीं दी। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उससे कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच गहरी खाई उत्पन्न हो गयी। मुस्लिम लीग कांग्रेस की हर नीति का विरोध कर रही थी। अप्रेल 1930 में महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। मुस्लिम लीग न केवल इस आन्दोलन से अलग रही बल्कि आन्दोलन की कटु आलोचना भी की। गोलमेज सम्मेलन में जिन्ना ने अपनी चौदह शर्तें मनवाने का भरसक प्रयत्न किया। फलस्वरूप साम्प्रदायिक पंचाट में मुसलमानों को उनकी आबादी के अनुपात से अधिक स्थान दे दिये गये। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के मतानुसार इस पंचाट में जिन्ना की चौदह सूत्री मांगों को लगभग स्वीकार कर लिया था।

1935 के अधिनियम के अनुसार जब 1937 में प्रान्तीय क्षेत्रों के चुनाव हुए, तो मुस्लिम लीग को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। मुस्लिम लीग केवल मुस्लिम प्रान्तों में ही प्रभावशाली रही। ऐसी परिस्थिति में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से सहयोग करने हेतु वार्ता आरम्भ की। जिन्ना ने कहा, "लीग तथा कांग्रेस में कोई विशेष अथवा मौलिक मतभेद नहीं है, हम कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों में सहयोग देने के लिये सदैव प्रस्तुत रहेंगे।" इस पर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग को मंत्रि-मंडलों में लेने के लिये कुछ शर्तें रखी, किन्तु मुस्लिम लीग ने उन शर्तों को स्वीकार नहीं किया और जिन्ना ने घोषणा की कि, "मुसलमान कांग्रेस सरकार के अधीन न्याय की आशा नहीं कर सकते।" मुस्लिम लीग कांग्रेस के जन सम्पर्क आन्दोलन से भी बौखला उठी थी, क्योंकि मुस्लिम लीग ने इसे मुसलमानों को विभक्त एवं कमजोर करने का षड्यंत्र समझा। अशोक मेहता तथा पटवर्धन ने अपनी पुस्तक 'साम्प्रदायिक त्रिकोण' में लिखा है, "मुस्लिम लीग ऐसी स्थिति पर पहुंच गई थी कि वह किसी अन्य नीति का अनुसरण कर ही नहीं सकती थी ....मुस्लिम लीग का अपना रचनात्मक कार्यक्रम नहीं था तथा उसे दृढ़ बनाने का एकमात्र उपाय यही था कि वह कांग्रेस की निंदा करे।"

मुस्लिम लीग ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध यह प्रचार आरम्भ कर दिया कि हिन्दू राज्यों में मुसलमानों पर अत्याचार हो रहे हैं। उसने कपोल कल्पित घटनाओं का वर्णन करके कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों में घृणा फैलाना आरम्भ कर दिया। 1938 में मुस्लिम लीग ने इन तथाकथित अत्याचारों की जांच के लिये पिरपुर के राजा मोहम्मद मेंहदी की अध्यक्षता में एक जांच समिति नियुक्त की। पिरपुर रिपोर्ट में कांग्रेस राज्यों के अधीन मुसलमानों के कपोल कल्पित अत्याचारों का वर्णन किया गया और घोषित किया कि 'बहुमत के अत्याचार से बढ़कर और कोई अत्याचार नहीं है।' यद्यपि इन आरोपों में कोई तथ्य नहीं था। स्वयं उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर हेग ने कहा था कि, "कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने मुसलमानों के साथ औचित्य तथा न्यायपूर्ण व्यवहार किया है।" पिरपुर रिपोर्ट की भांति बिहार में 'शरीफ रिपोर्ट' प्रकाशित की गई। इसी प्रकार की रिपोर्ट बंगाल में प्रजा पार्टी के नेता फज्ल-उल-हक ने प्रकाशित की जिसका शीर्षक था, 'कांग्रेस प्रशासन में मुसलमानों पर अत्याचार।' ये रिपोर्ट भी मनगढ़न्त घटनाओं पर आधारित थी। फिर भी कांग्रेस के प्रधान ने मुस्लिम लीग से कहा कि कांग्रेस राज्य के अधीन मुसलमानों पर होने वाले तथाकथित अत्याचारों को किसी निष्पक्ष जांच आयोग के समक्ष प्रस्तुत करे, किन्तु मुस्लिम लीग ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। मुस्लिम लीग तो यह सिद्ध करना चाहती थी कि संसदीय प्रणाली भारत के लिये उपयुक्त नहीं है, और मुस्लिम लीग ही भारतीय मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था है।

1937 के बाद जिन्ना को यह स्पष्ट मालुम हो गया कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में मुस्लिम लीग को बहुमत नहीं मिल सकता। 1930 में मोहम्मद इकबाल ने मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों को एक राज्य बनाने का प्रस्ताव किया था। अतः जिन्ना को अब उस प्रस्ताव का ध्यान आया, लेकिन वह इस योजना के प्रति ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया जानना चाहता था। अतः अक्टूबर 1938 में लीग की कार्यकारिणी के सदस्य इंगलैंड में भारत सचिव व उपसचिव से मिले तथा भारत विभाजन की चर्चा की। भारत सचिव व उपसचिव ने अप्रत्यक्ष रूप से इस योजना पर अपनी सहमति प्रकट की।

यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने पर गवर्नर जनरल ने भारतीय नेताओं से परामर्श किये बिना भारत को भी इंगलैंड के समर्थन में युद्ध में धकेल दिया, जिसके विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग पत्र दे दिये। इस पर जिन्ना ने कहा, "भारतीय मुसलमानों को हिन्दुओं के अत्याचार, अन्यायपूर्ण और क्रूर शासन से मुक्ति प्राप्त हुई है।" जिन्ना ने भारतीय मुसलमानों को 22 दिसम्बर, 1939 को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाने की अपील की। जिन्ना ने भारतीय मुसलमानों को इस प्रकार उत्तेजित किया कि कांग्रेस प्रशासन के विरुद्ध लगाये गये तथाकथित आरोप सत्य प्रतीत होने लगे।

पाकिस्तान का प्रस्ताव- जनवरी 1940 से जिन्ना अधिक सक्रिय दिखाई देने लगा। मार्च 1940 में उसने घोषणा की कि कोई भी संवैधानिक योजना भारत में तब तक लागू नहीं होनी चाहिये, जब तक सभी दल उस पर सहमत न हो जाय। यदि कोई योजना बिना मुसलमानों की सहमति के लागू होती है तो मुसलमान उसका विरोध करेंगे। 22 मार्च 1940 को लाहोर में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें अध्यक्ष पद से बोलते हुए जिन्ना ने कहा, "यदि ब्रिटिश सरकार वास्तव में भारत मे लोगों की शांति एवं प्रसन्नता चाहती है तो हम सबके सामने एक मात्र मार्ग यही है कि भारत को स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों में बांट कर प्रधान जातियों को अलग अलग घर बनाने की अनुमति प्रदान करे।" 23 मार्च 1940 को मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास कर दिया, जिसमें कहा गया कि, "इस देश में कोई भी संवैधानिक योजना मुसलमानों को उस समय तक स्वीकृत नही होगी, जब तक वह इस आधार पर न बनी हो कि उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी भारत में मुसलमानों के बहुमत वाले भौगोलिक दृष्टि से संलग्न क्षेत्रों को पृथक स्वायत्त सम्पन्न स्वतंत्र राज्यों के रूप में न बना दिया जाय।" जिन्ना ने यह भी स्पष्ट किया कि इसमें उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब और पूर्व में बंगाल और असम शामिल होंगे।

इस प्रकार 1940 के बाद 'पाकिस्तान' मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्र बिन्दु बन गया। कांग्रेस आरम्भ से ही 'अखण्ड भारत' की समर्थक थी। इसलिये कांग्रेस ने पाकिस्तान की मांग का विरोध किया। फलस्वरूप भारत के दो प्रमुख दलों में सीधी टक्कर आरम्भ हो गयी तथा भारतीय राजनीति गतिरोध की राजनीति बन गई। 1940 से 1947 के बीच भारत में जितनी राजनीतिक घटनाएं घटित हुई उनके मूल में मुस्लिम लीग की यह मांग और कांग्रेस द्वारा उसका विरोध ही था। स्वयं ब्रिटिश अधिकारी भी मुसलमानों को इसके लिये प्रोत्साहित करते रहते थे। इसलिये उत्तरोत्तर यह स्पष्ट होता गया कि साम्प्रदायिक समस्या का एक मात्र राजनीतिक हल देश का विभाजन ही था।

पाकिस्तान की योजना का निर्माण करने में जिन्ना का योगदान नगण्य था। सर्वप्रथम इसका विचार 1930 में मोहम्मद इकबाल ने प्रस्तुत किया था, जिससे प्रभावित होकर 1933 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक छात्र रहमत अली के नेतृत्व में कुछ अन्य मुस्लिम छात्रों ने इसकी योजना प्रस्तुत की थी। जुलाई 1939 में सिकन्दर हयातखां ने भी इस प्रकार की योजना प्रकाशित की थी। लाहोर अधिवेशन में पाकिस्तान का प्रस्ताव फज्ल-उल-हक ने प्रस्तुत किया था और खलीक उज्जमा ने उसका अनुमोदन किया था। अतः इसे केवल जिन्ना के मस्तिष्क की उपज कहना अनुचित होगा।

क्रिप्स प्रस्ताव और उसकी असफलता

अंग्रेजों द्वारा कांग्रेस की मांगों को पूरा न करने के कारण, ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहायता न देने के लिये महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया था। किन्तु जापान की बढ़ती हुई प्रगति देखकर महात्मा गांधी ने 30 दिसम्बर 1941 को इस आन्दोलन को कांग्रेस के नेतृत्व से मुक्त कर दिया। किन्तु इस आन्दोलन का प्रभाव अन्य देशों की जनता पर पड़ा। इंगलैंड में भी यह भावना प्रबल होने लगी कि भारतीयों को कुछ अधिकार दिये बिना उनका सहयोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। इधर 1942 के आरम्भ तक जापान ने सिंगापुर, मलाया, इण्डोनेशिया, अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों को जीत लिया था। जापान के जहाज बंगाल की खाड़ी में घूम रहे थे। 8 मार्च 1942 को जापान ने रंगून पर अधिकार कर लिया। जापान ने यह भी प्रचार आरम्भ कर दिया था कि वह भारत को अंग्रेजी नियंत्रण से मुक्त करवाने आ रहा है। इससे ब्रिटिश सरकार बहुत घबराई, क्योंकि रंगून पर जापानियों का अधिकार हो जाने से भारत पर आक्रमण स्पष्ट दिखाई देने लगा था। अतः 11 मार्च 1942 को चर्चिल ने घोषणा की कि भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने एक योजना तैयार की है और इस हेतु सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा जायेगा।

स्टेफर्ड क्रिप्स 23 मार्च 1942 को दिल्ली पहुंचा। वह कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, हरिजनों, राजाओं और उदारवादियों के प्रतिनिधियों से मिला और तत्पश्चात 30 मार्च 1942 को अपने प्रस्तावों की घोषणा करदी। क्रिप्स के कुछ प्रस्ताव युद्ध के बाद लागू होने थे और कुछ प्रस्ताव तत्काल लागू होने थे। युद्ध के बाद लागू होने वाले प्रस्ताव में कहा गया था कि युद्ध के बाद भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा गठित की जायेगी जिसमें भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि भी होंगे। नये संविधान को लागू करने की निम्न दो शर्तें होंगी—

(1) ब्रिटिश भारत के जिन प्रान्तों को नवीन संविधान पसन्द नहीं होगा तो वे अपनी वर्तमान संवैधानिक स्थिति को कायम रख सकेंगे। जो प्रान्त नये संविधान को मानने और भारतीय संघ में शामिल होने के लिये तैयार नहीं होंगे, उन्हें भी अपने लिये नया संविधान बनाने का अधिकार होगा और इनकी स्थिति भी भारतीय संघ की तरह होगी।

(2) ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा के बीच एक सन्धि होगी जिसमें ब्रिटिश सरकार द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को उनकी रक्षा के लिये दिये गये आश्वासनों का वर्णन होगा। यदि कोई भारतीय राज्य नये संविधान को स्वीकार करना चाहे तो उसे भी ब्रिटिश सरकार के साथ नई सन्धि करनी पड़ेगी।

संविधान सभा के निर्वाचन के सम्बंध में कहा गया कि प्रान्तीय विधान मण्डलों के निचले सदन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार संविधान सभा का चुनाव

करेंगे। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या चुनने वाली विधान सभाओं की कुल संख्या का दसवां भाग होगी।

युद्ध के समय लागू होने वाले प्रस्ताव में कहा गया कि नये संविधान के बनने तक भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर होगा। किन्तु भारतीय जनता के सहयोग के बिना जन धन की पूरी सहायता उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः भारतीय नेताओं को अपना रचनात्मक सहयोग देने के लिये आमंत्रित किया।

डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि, 'इस प्रस्ताव में विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट करने के लिये विभिन्न पदार्थ थे।' यद्यपि इस प्रस्ताव में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाना था, फिर भी भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस का कहना था कि इसमें पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि इसने विभिन्न प्रान्तों तथा राज्यों को भारतीय संघ से अलग रहने का अधिकार प्रदान कर दिया है। मुस्लिम लीग का कहना था कि इसमें स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की मांग को स्वीकार नहीं किया गया है तथा भारत के लिये केवल एक संविधान सभा के निर्माण की व्यवस्था की गई है, जबकि मुस्लिम लीग अपनी अलग संविधान सभा चाहती है। तत्काल लागू होने वाले प्रस्ताव में क्रिप्स ने आश्वासन दिया था कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी एक मंत्री परिषद की भांति कार्य करेगी, किन्तु लार्ड लिनलिथगो ने इसका विरोध किया। चर्चिल भी वास्तविक सत्ता भारतीयों को सौंपना नहीं चाहता था, जैसाकि लॉस्की ने लिखा है, "चर्चिल की सरकार ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत की समस्या को हल करने के सच्चे इरादे से नहीं भेजा था, असली विचार भारत को स्वाधीनता देना नहीं बल्कि मित्रराष्ट्रों की आंखों में धूल झोंकना था।" इस प्रकार जब भारत के प्रमुख दलों ने क्रिप्स प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया और क्रिप्स द्वारा दिये गये आश्वासनों को ब्रिटिश सरकार ने समर्थन नहीं दिया तो क्रिप्स मिशन पूर्णतया असफल रहा। क्रिप्स ने 11 अप्रैल 1942 को इन सुझावों को वापस ले लिया तथा अपनी असफलता का उत्तरदायित्व कांग्रेस पर डालते हुए कहा, "यदि कांग्रेस की मांगें स्वीकार करली जाय तो उसका अर्थ मुस्लिम जनता और अछूतों पर हिन्दुओं के प्रभुत्व की स्थापना करना होगा।" क्रिप्स योजना से चर्चिल को इतना लाभ अवश्य हुआ कि उसे अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा चीन के राष्ट्रपति च्यांग कांई शेक के दबाव से मुक्ति मिल गई, क्योंकि इन्होंने चर्चिल पर दबाव डाला था कि वह भारतीयों से कुछ समझौता करे ताकि युद्ध में उनका सहयोग प्राप्त हो सके।

भारत छोड़ो आन्दोलन

30 मार्च 1942 को सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने यह संकेत दिया था कि यदि भारतीय नेताओं से बातचीत असफल हो गयी तो ब्रिटिश सरकार भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिये और कोई बातचीत नहीं करेगी। चूंकि क्रिप्स मिशन अब

असफल हो चुका था, अतः भारतीयों के समक्ष स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये आन्दोलन करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। इसलिये कांग्रेस को विवश होकर भारत छोड़ो आन्दोलन चलाना पड़ा। किन्तु केवल क्रिप्स मिशन की असफलता ही इस आन्दोलन का मूल कारण नहीं था। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए इस आन्दोलन के निम्न कारण बताये जा सकते हैं—

(1) क्रिप्स के प्रस्ताव अपर्याप्त थे। कांग्रेस भारतीय समस्या का हल चाहती थी और वह हल था, देश की आजादी। किन्तु सितम्बर 1941 में चर्चिल ने यह स्पष्ट कह दिया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिये प्रधान मंत्री नहीं बना था। उसने यह भी कहा कि एटलाण्टिक चार्टर में दिया गया 'आत्मनिर्णय का अधिकार' भारत में लागू नहीं होगा। अतः क्रिप्स मिशन की असफलता के बाद तो भारतीयों को विश्वास हो गया कि क्रिप्स को चीन तथा अमेरीका के दबाव के कारण भेजा गया था और चर्चिल भारतीयों को वास्तविक शक्ति देना ही नहीं चाहता है। अतः लोगों में निराशा फैल गयी, किन्तु लोगों की स्वतन्त्रता प्राप्ति की लालसा अब अधिक तीव्र हो उठी थी।

(2) भारत पर जापान के आक्रमण का भय दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। यद्यपि भारतीयों की इंगलैंड के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, लेकिन उनकी दृष्टि में जापान भी इंगलैंड से कम साम्राज्यवादी नहीं था।

(3) बर्मा पर जापान का आक्रमण होने के बाद वहां से जो भारतीय शरणार्थी आ रहे थे उन्होंने अपनी दुखभरी कहानियां यहां आकर सुनाई। भारतीय शरणार्थियों से ऐसा व्यवहार किया जा रहा था जैसे वे किसी घटिया जाति के हों। भारतीय और यूरोपियन शरणार्थियों से व्यवहार में भेदभाव पूर्ण नीति के कारण अंग्रेजों के प्रति अविश्वास बढ़ रहा था।

(4) इस समय युद्ध के कारण बहुत सी आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध नहीं हो रही थी और वस्तुओं के दाम बढ़ते जा रहे थे। लोगों का कागज के नोटों में विश्वास उठता जा रहा था। मध्यम वर्ग में सरकार के प्रति अविश्वास अधिक उत्पन्न हो गया था।

(5) सिंगापुर, मलाया और बर्मा में अंग्रेजों की हार से गांधीजी को यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज भारत की रक्षा करने में असमर्थ है। गांधीजी का यह भी विश्वास था कि यदि अंग्रेज भारत में रहेंगे तो जापान, भारत पर आक्रमण अवश्य करेगा और यदि अंग्रेज भारत छोड़ दे तो शायद जापानियों का आक्रमण न हो। इसलिये गाँधीजी ने अंग्रेजों को भारत से निकल जाने को कहा। उन्होंने 5 जुलाई 1942 के 'हरिजन' समाचार पत्र में लिखा, "अंग्रेजों, भारत को जापान के लिये मत छोड़ो बल्कि भारत को भारतीयों के लिये व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।"

उपर्युक्त परिस्थितियों में गांधीजी का विचार था कि वर्तमान स्थिति में निष्क्रिय बने रहना देश के लिये हितकर नहीं होगा। वे सरकार के समक्ष घुटने टेकने की नीति के विरुद्ध थे, क्योंकि इससे भारतीय स्वतन्त्रता अधिक दिनों तक रुकी रह सकती थी। वे प्रयत्क्ष कार्यवाही के पक्ष में थे, चाहे इसका युद्ध पर कितना ही बुरा असर क्यों न पड़े। अतः 14 जुलाई 1942 को वर्धा में कांग्रेस की कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसका शीर्षक था 'भारत छोड़ो प्रस्ताव।' इस प्रस्ताव में कहा गया था कि यदि अंग्रेज भारत से अपना नियंत्रण हटा ले तो भारतीय जनता विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करने के लिये हर प्रकार से योगदान करने को तैयार है। इस प्रस्ताव पर अंतिम निर्णय 7 तथा 8 अगस्त 1942 को बम्बई में कांग्रेस की महासमिति में किया गया। कांग्रेस महासमिति ने 8 अगस्त 1942 को 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। इस अन्तिम प्रस्ताव में कहा गया, "भारत में ब्रिटिश शासन का तुरन्त अन्त होना चाहिये। पराधीन भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चिन्ह बना हुआ है, किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति युद्ध के रूप को बदल सकती है। अतः कांग्रेस भारत से ब्रिटिश सत्ता के हट जाने की मांग दोहराती है। यह मांग न मानी जाने पर यह समिति गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक संघर्ष चलाने की अनुमति प्रदान करती है तथा भारतीयों से अपील करती है कि इसका आधार अहिंसा हो।" इस प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट किया गया कि सरकारी दमन नीति के कारण यदि गांधीजी का नेतृत्व उपलब्ध न रहे तो प्रत्येक व्यक्ति अपना नेता स्वयं होगा।

सरकार की दमन नीति—'भारत छोड़ो प्रस्ताव' कोई अंग्रेजों को धमकी नहीं थी। गांधीजी ने बातचीत करने के लिये गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा और उसके उत्तर की प्रतीक्षा में थे। गांधीजी ने अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा चीन के राष्ट्राध्यक्ष च्यांग काई शेक को भी जो पत्र लिखा था उसमें उन्होंने कहा था कि वे कोई कदम जल्दी में नहीं उठाना चाहते। उन्होंने यह भी लिखा था कि वे भारत की स्वतन्त्रता के लिये इंगलैंड पर दवाव डाले। किन्तु लार्ड लिनलिथगो भारत में बढ़ते हुए असंतोष से भली-भांति परिचित था। वह जानता था कि यदि इस बार आन्दोलन हुआ तो वह सबसे अधिक भयंकर होगा। अतः वह आन्दोलन आरम्भ होने से पूर्व ही उसे कुचल देना चाहता था। कांग्रेस महासमिति की बैठक 'भारत छोड़ो प्रस्ताव' स्वीकृत करने के बाद 8 अगस्त 1942 को अर्द्ध रात्रि के समय समाप्त हुई थी और 9 अगस्त को सूर्योदय से पूर्व ही गांधीजी व कांग्रेस कार्य समिति के सभी नेताओं को बम्बई में गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। बहुत दिनों तक जनता को उनकी कोई जानकारी ही नहीं मिली। बाद में पता चला कि गांधीजी को पूना में आगाखां महल में तथा अन्य नेताओं को अहमदाबाद जेल में बन्द किया गया था। सरकार ने कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया। सरकार ने

आन्दोलन का दमन करने लिये जनता पर अमानवीय अत्याचार किये। अंग्रेज प्रशासक यह समझते थे कि ऐसा करने से आन्दोलन समाप्त हो जायेगा, लेकिन जन आन्दोलन तो एक गेंद की तरह होता है, जिसे जितना अधिक दवाने का प्रयास किया जाता है, वह उतनी ही शक्ति से ऊपर उछलता है।

कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी से जनता नेतृत्वहीन हो गयी। कांग्रेसी नेताओं ने कोई हिदायत भी नहीं छोड़ी थी। गांधीजी ने केवल यही कहा था कि "मेरे जीवन का यह अंतिम संघर्ष होगा।" उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिये जनता को 'करो या मरो' (Do or Die) का नारा दिया था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस के शेष नेताओं ने कांग्रेस कमेटी की ओर से एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें 12 सूत्री कार्यक्रम दिया हुआ था। इस पुस्तिका में सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने, सार्वजनिक सभाएं करने, नमक वनाने, लगान न देने आदि की वात कही गई थी। इस पुस्तिका में अहिंसात्मक आन्दोलन पर विशेप वल दिया गया था।

आन्दोलन का स्वरूप—1942 के आन्दोलन की कोई तैयारी नहीं की गई थी और न आन्दोलन संचालन की रूपरेखा तैयार की थी। यह तो एक स्वाभाविक जन आन्दोलन था, जो मुख्यतः विद्यार्थियों, किसानों और निम्न मध्यम वर्ग तक सीमित रहा। श्रमिकों ने इस आन्दोलन में वहुत कम भाग लिया। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चार अवस्थाओं में से होकर गुजरा था।

आन्दोलन की प्रथम अवस्था 9 अगस्त 1942 से लेकर तीन या चार दिन तक चली। इस अवस्था में हड़तालें, प्रदर्शन और जुलूस आदि निकाले गये। सरकार ने शान्तिपूर्ण आन्दोलन को कुचलने के लिये लोगों पर अत्यधिक अत्याचार किये। 11 अगस्त 1942 को पुलिस ने दोपहर के ढाई वजे तक वम्वई में तेरह वार गोलियां चलाई। इसमें कई लोग मारे गये और अनेक जख्मी हुए, जिनमें औरतें और वच्चे भी शामिल थे। इससे लोगों में सरकार के विरुद्ध आग भड़क उठी और वे हिंसा पर उतर आये। इसके वाद आन्दोलन की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है।

दूसरी अवस्था में लोगों ने म्युनिसिपल भवनों, सरकारी इमारतों तथा सम्पत्ति पर आक्रमण किये। रेल्वे स्टेशन, डाकखाने और पुलिस थानों पर आक्रमण करके उनमें आग लगादी। रेल की पटरियां उखाड़ दी और तार की लाइनें काट दी गई। पूर्वी उत्तर प्रदेश में आन्दोलन अत्यधिक प्रभावशाली रहा। वलिया जिले में अंग्रेजी राज्य प्रायः समाप्त हो गया तथा अस्थायी सरकार स्थापित कर ली गई। आन्दोलन को दवाने के लिये सेना वुला ली गई। इस सेना ने लोगों पर अमानवीय अत्याचार किये। 21 व 22 अगस्त तथा 6 सितम्वर को विहार के एक गांव में लोगों को मशीनगनों द्वारा भून दिया गया।

तीसरी अवस्था सितम्बर 1942 के मध्य से प्रारम्भ होती है। इसमें लोगों ने पुलिस व सेना के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर सरकारी सम्पत्ति, अधिकारी और

संचार साधनों पर हथियारों सहित आक्रमण किये। बम्बई, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रान्त में कुछ स्थानों पर जनता द्वारा बम फेंके गये। यह स्थिति फरवरी 1943 तक चलती रही। इसके वाद आन्दोलन को कुचल दिया गया।

चौथी अवस्था में आन्दोलन वहुत ही धीमी गति से 9 मई 1944 तक चला, जवकि गांधीजी को छोड़ दिया गया। इस अवस्था में लोगों ने तिलक दिवस और स्वतन्त्रता दिवस मनाये। इस आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण और अरुणा आसफअली ने सराहनीय कार्य किये। किसानों और विद्यार्थियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा।

अन्य दलों का आन्दोलन के प्रति रवैया— कांग्रेस को छोड़कर अन्य किसी दल ने इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया। साम्यवादी दल की नीति तो रूस के कार्यकलापों से प्रभावित होती रही। जव द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ तो उन्होंने युद्ध को साम्राज्यवादी वताया था, किन्तु जव रूस पर जर्मनी का आक्रमण हुआ और रूस, इंगलैंड के साथ मिल गया तव उन्होंने इस युद्ध को जनता का युद्ध कहना शुरू कर दिया। इस प्रकार साम्यवादी दल ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से प्रभावित होकर राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपना दृष्टिकोण शीघ्र वदल लिया और उन्होंने लोगों से अंग्रेजों की सहायता करने को भी कहा। साम्यवादियों ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की निन्दा की। मुस्लिम लीग ने भी इस आन्दोलन की तीव्र आलोचना की। मुस्लिम लीग के सर्वेसर्वा जिन्ना ने इस आन्दोलन को अत्यन्त खतरनाक वताते हुए मुसलमानों को इसमें भाग न लेने की अपील की। इतना ही नहीं, इस समय जवकि कांग्रेस के सभी प्रमुख नेता जेलों में थे, मुस्लिम लीग ने उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अंग्रेजों से सांठगांठ करना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू महासभा के प्रधान वीर सावरकर ने यद्यपि सरकार की कटु आलोचना की, लेकिन हिन्दुओं को इस आन्दोलन में भाग न लेने को कहा। उदारवादियों के नेता सर तेज वहादुर सप्रू ने कांग्रेस के प्रस्ताव को अनीतिपूर्ण और असामयिक वताया। एंग्लो-इंडियन जाति के प्रवक्ता एन्थोनी ने आन्दोलन का विरोध करते हुए कहा कि अंग्रेजों से अपना पुराना वदला चुकाने के लिये भारत को धुरी राष्ट्रों के हाथों वेचना ठीक नहीं होगा। हरिजन नेता डॉ. अम्वेडकर, भारतीय ईसाइयों तथा अकाली दल ने भी इस आन्दोलन का विरोध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे दल अंग्रेजों को अप्रसन्न करने के पक्ष में नहीं थे।

आन्दोलन का महत्व और परिणाम—यह आन्दोलन न तो कोई साधारण आन्दोलन था और न अहिंसात्मक। कांग्रेसी नेताओं को एकदम जेल में बन्द कर देने तथा शान्त प्रदर्शनकारियों पर असह्य अत्याचार करने के वाद जनता ने स्वः प्रेरणा से हिंसात्मक आन्दोलन चलाया। वस्तुतः यह अंग्रेज प्रशासकों के अत्याचार का परिणाम था। इस आन्दोलन में भाग लेने वाले हजारों व्यक्तियों ने अदम्य

साहस व सहनशीलता का परिचय दिया और सैकड़ों लोगों ने अपने जीवन का वलिदान कर दिया। अंग्रेजों ने देश में हिंसा भड़काने की सारी जिम्मेवारी गांधीजी पर डाल दी। गांधीजी ने इसका विरोध करने के लिये 10 फरवरी 1943 से 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया। 13 दिन वाद गांधीजी की हालत खराव होने पर भी सरकार ने उन्हें छोड़ने से इन्कार कर दिया। गांधीजी किसी तरह वच गये, लेकिन 22 फरवरी 1944 को उनकी धर्मपत्नी कस्तूरवा का जेल में ही देहान्त हो गया। अंत में जव लार्ड वेवल भारत के गवर्नर जनरल वने तव 6 मई 1944 को उन्हें छोड़ दिया गया।

वस्तुतः भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु किये गये चान्दोलनों की पुष्पलड़ी में पिरोया जाने वाला यह अंतिम पुष्प था। आन्दोलन को दवाने के लिये पुलिस और सेना ने 538 वार गोलियां चलाई। इसमें लगभग 7,000 व्यक्ति मारे गये (गैर सरकारी आंकड़ों के अनुसार 10,000 से लेकर 40,000 तक लोग मारे गये) और 60,229 व्यक्तियों को जेलों में ठूंस दिया। डॉ. अम्वाप्रसाद के अनुसार यह आन्दोलन अपने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य में यद्यपि असफल रहा, किन्तु लोगों में सरकार से मुकावला करने की भावना उत्पन्न करने में सफल रहा। इसने भारतीय स्वतन्त्रता के लिये पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस आन्दोलन से अंग्रेजों को यह भली-भांति विदित हो गया कि यहां उनका राज्य कोई नहीं चाहता। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप अंग्रेज और मुस्लिम लीग एक दूसरे के समीप आने लगे, क्योंकि दोनों कांग्रेस के विरोधी थे। दूसरे विश्व युद्ध में जिन्ना ने अंग्रेजों की हर प्रकार से सहायता करने के लिये मुसलमानों को आन्दोलन से अलग रहने को कहा। जिस समय जापान भारत पर आक्रमण करने के लिये तैयार खड़ा था, उस समय अंग्रेज जिन्ना की सहायता को वड़ी महत्वपूर्ण समझते थे। इसीलिये उन्होंने आगे चलकर जिन्ना को पाकिस्तान दे दिया था।

इस आन्दोलन का विदेशों पर भी प्रभाव पड़ा। 25 जुलाई 1942 को च्यांग काई शेक ने रूजवेल्ट को लिखा था, "अंग्रेजों के लिये सवसे श्रेष्ठ नीति यह है कि भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दे। इस पर रूजवेल्ट ने कहा कि जो वात च्यांग चाहते हैं, उसको स्थगित करना ठीक नहीं है। तत्पश्चात च्यांग काई शेक ने भारत को स्वतन्त्रता देने के लिये चर्चिल को भी लिखा। इस पर चर्चिल ने धमकी दी कि, "यदि चीन भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करता रहा, तो अंग्रेज चीन के साथ अपनी सन्धि तोड़ देंगे।" इन सभी का परिणाम यह हुआ कि युद्ध के वाद अमेरीका और इंगलैंड में जनमत इतना प्रवल हुआ कि इंगलैंड को विवश होकर भारत को स्वतन्त्रता देनी पड़ी।

आन्दोलन की असफलता के कारण—डॉ. अम्वाप्रसाद ने इस आन्दोलन की असफलता के मुख्य तीन कारण वताये हैं—

(1) इस आन्दोलन के संगठन और योजना में कमियां थी। किसी भी जन आन्दोलन को आरम्भ करने से पूर्व उसके नेताओं को आन्दोलन की रणनीति का ज्ञान आवश्यक इ ।। है। लेकिन इस आन्दोलन के नेताओं ने कोई रणनीति निश्चित नहीं की थी। सरकार उन्हें जेलों में वन्द करे, इससे पूर्व ही उन्हें अज्ञात स्थान पर चला जाना चाहिये था। किन्तु आन्दोलन का अध्ययन करने से पता चलता है कि किसी को कुछ पता नहीं था कि क्या किया जाय। गांधीजी की यह धारणा सर्वथा गलत सिद्ध हुई कि सरकार को आन्दोलन की चेतावनी देने पर, सरकार उनसे वातचीत करेगी। उन्हें पक्का विश्वास था कि सरकार उन्हें 1920 के आन्दोलन की भांति गिरफ्तार नहीं करेगी। गांधीजी की ये धारणाएं गलत सिद्ध हुई। प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के वाद आन्दोलन नेतृत्वहीन हो गया। वाद में जो हिंसात्मक कार्यवाही हुई, उसके वारे में भी कांग्रेस में द ग प थे। एक हिंसात्मक कार्यवाही को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये ठीक समझता था और दूसरा कहता था कि गांधीजी इसे पसन्द नहीं करेंगे। अतः स्वयं आन्दोलनकारियों में भी एकता नहीं थी।

(2) इस आन्दोलन के काल में सरकारी कर्मचारी, सेना, पुलिस और देशी राजा सरकार के प्रति वफादार रहे। अतः सरकार का कामकाज वेरोक-टोक चलता रहा। सरकार के वफादार सेवकों ने आन्दोलनकारियों पर भीषण अत्याचार किये तथा राष्ट्रीयता के प्रवल तूफान को रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इन वफादार सेवकों ने आन्दोलनकारियों की गतिविधियों की गुप्त सूचनाएं सरकार के पास पहुंचाते रहे, जिससे आन्दोलन का दमन करना सरकार के लिये आसान हो गया।

(3) सरकार के पास जितने साधन और शक्ति थी, उतने आन्दोलनकारियों के पास नहीं थे। आन्दोलनकारियों के पास कोई गुप्तचर विभाग नहीं था और न एक दूसरे को सूचना पहुंचाने के साधन थे। सरकार की अपेक्षा आन्दोलनकारियों के पास आर्थिक शक्ति भी कम थी। सरकार अपने समस्त साधनों को आन्दोलन को कुचलने में लगा दिया। लोगों पर दिल दहला देने वाले अत्याचार हुए जिसका सामना करना साधारण जनता के लिये कठिन था। अतः आन्दोलन को कुचल दिया गया।

यद्यपि यह आन्दोलन तत्काल अंग्रेजों को भारत से निकालने में असफल रहा, किन्तु भारतीय जनता ने जो वलिदान किये, वे व्यर्थ नहीं गये। इस आन्दोलन से भारतीय स्वतन्त्रता निकट आ गई। सरदार पटेल ने कहा, "भारत में ब्रिटिश राज के इतिहास में ऐसा विप्लव कभी नहीं हुआ, जैसा कि पिछले तीन वर्षों में हुआ। लोगों ने जो प्रतिक्रिया की, हमें उस पर गर्व है।"

अध्याय 17

भारत का विभाजन और स्वाधीनता

1942 का आन्दोलन, 1857 के वाद व्यापक पैमाने पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध दूसरी देशव्यापी बगावत थी। वुड्रो वायट, जो 1946 में आये मंत्रिमंडल मिशन के मुख्य परामर्शदाता थे, का विचार था कि, "यदि अंग्रेज भारत को शक्ति देने का कोई हल नहीं निकालते हैं, तो उनको निकालने के लिये फिर क्रान्ति होगी।" साथ ही विश्व के वहुत से देश भारतीय समस्या का उचित हल चाहते थे। क्योंकि इस आन्दोलन ने अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्नों को काफी सीमा तक प्रभावित किया था। इस आन्दोलन के फलस्वरूप सैनिकों के लिये आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया था। वर्मा में अंग्रेजी सेना की पराजय के लिये भी संभवतः यह आन्दोलन काफी सीमा तक उत्तरदायी रहा हो। यह आन्दोलन अपने स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य में तत्काल सफल न हो सका। स्वतन्त्रता प्राप्ति के मार्ग में सवसे विकट वाधा साम्प्रदायिक समस्या की थी। अतः आन्दोलन की समाप्ति के वाद सारे प्रयत्न इसी समस्या को हल करने में लगाये गये।

राजगोपालाचारी योजना (सी. आर. फार्मूला)—सी. राजगोपालाचारी मद्रास प्रान्त के प्रभावशाली नेता थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के पूर्व उन्होंने भारत की साम्प्रदायिक समस्या का हल निकालने के लिये एक योजना तैयार की थी, जिसमें आत्म निर्णय के अधिकार के नाम पर मुसलमानों की पाकिस्तान की मांग स्वीकार करली गई थी। कांग्रेस के नेताओं ने इसे वहुत बुरा माना तथा इस प्रश्न पर राजगोपालाचारी से तीव्र मतभेद हो गया। अतः 1943 में उन्होंने कांग्रेस से तथा कांग्रेस कार्य समिति की सदस्यता से अपना त्याग पत्र दे दिया। 1942 के आन्दोलन में मुस्लिम लीग ने सरकार का साथ दिया था। अतः अब यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि विना मुस्लिम लीग से समझौता किये भारत में राजनीतिक गतिरोध को दूर नहीं किया जा सकता। जेल से छूटने के वाद गांधीजी ने इस समस्या के समाधान हेतु जिन्ना से भी वातचीत करना आवश्यक समझा ताकि इस समस्या का कोई ऐसा समाधान निकल आये जिससे मुस्लिम लीग भी सहमत हो जाय। इसलिये 10 जुलाई,

1944 को राजगोपालाचारी ने अपनी योजना प्रकाशित की, जो उन्हीं के नाम पर 'सी. आर. फार्मूला' के नाम से विख्यात हुई। इस योजना की मुख्य बातें निम्न-लिखित थीं—

(1) मुस्लिम लीग भारतीय स्वतन्त्रता की मांग का समर्थन करेगी और कांग्रेस को संक्रमण काल में अस्थायी सरकार बनाने में अपना पूर्ण सहयोग देगी।

(2) युद्ध के बाद भारत के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम में मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों की सीमा निर्धारित करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया जायेगा। इन प्रदेशों में वयस्क मताधिकार अथवा अन्य किसी व्यवहारिक मताधिकार के आधार पर यह तय करने के लिये जनमत लिया जायेगा कि ये प्रदेश भारत से अलग होना चाहते हैं या नहीं।

(3) यदि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्र भारत से अलग होने का निर्णय करते हैं, तो उनका राज्य अलग बन जायेगा और दोनों राज्यों के बीच प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्बंध में एक सन्धि होगी।

(4) ये शर्तें तभी लागू होगी जब ब्रिटेन भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा।

उपर्युक्त फार्मूले के आधार पर सितम्बर 1944 में गांधीजी व जिन्ना के बीच वार्ता आरम्भ हुई। जिन्ना ने मुख्य रूप से तीन कारणों से इस फार्मूले को अस्वीकृत कर दिया। प्रथम तो यह कि इसमें मुसलमानों को 'अपूर्ण, अंगहीन तथा दीमक लगा हुआ' पाकिस्तान दिया गया, क्योंकि वह तो सम्पूर्ण बंगाल, असम, सिन्ध, पंजाब और उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त व बलूचिस्तान चाहता था। दूसरा, इसमें जनमत संग्रह में गैर मुसलमानों को भी भाग लेने की अनुमति दी गई थी, जबकि जिन्ना केवल मुसलमानों को मताधिकार देना चाहता था। तीसरा, इसमें प्रतिरक्षा, संचार और आवागमन के साधनों के सम्बंध में संयुक्त व्यवस्था का प्रस्ताव था, जिसे जिन्ना मानने को तैयार नहीं था। अतः सी. आर. फार्मूले के सम्बंध में वार्ता असफल रही।

इस वार्ता के असफल होने से जिन्ना को अत्यधिक लाभ प्राप्त हुआ। गांधीजी का इस अवसर पर जिन्ना से बातचीत करना उनकी राजनैतिक भूल थी, क्योंकि अब देश विभाजन अधिक चर्चा का विषय बन गया। गांधीजी के जिन्ना के पीछे भागने और उससे प्रार्थनाएं करने से जिन्ना का अखिल भारतीय महत्व बढ़ गया। इतना ही नहीं, गांधीजी ने ही जिन्ना को सबसे पहले 'कायदे-आजम' (बड़ा नेता) कहना शुरू किया। इस प्रकार गांधीजी ने उसको बड़ा नेता मानकर मुसलमानों की दृष्टि में उसे अत्यधिक महत्व प्रदान कर दिया। मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों के नेताओं के सामने अब कोई विकल्प नहीं रह गया था। इसलिये उन्होंने भी जिन्ना के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया।

वेवल योजना और शिमला सम्मेलन—अक्टूबर 1943 में लार्ड लिनलिथगो का कार्यकाल समाप्त होने के बाद लार्ड वेवल भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। अपनी नियुक्ति के कुछ समय बाद उसने घोषणा की कि, "मैं अपने थैले में बहुत सी चीजें ला रहा हूँ।" इस कथन से यह स्पष्ट संकेत था कि वह भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान लेकर आ रहा था, लेकिन 6 मई 1944 को गांधीजी को, बीमारी के कारण, कारागार से मुक्त करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया। 21 मार्च 1945 को लार्ड वेवल भारतीय समस्या के सम्बंध में सलाह करने इंगलैंड गया और 4 जून 1945 को वह भारत लौटा। 14 जून 1945 को लार्ड वेवल ने भारतीय गतिरोध को दूर करने के लिये एक योजना प्रकाशित की, जिसे 'वेवल योजना' कहा जाता है। इस योजना की मुख्य बातें निम्न थीं—

(1) गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद का पुनर्गठन करने को तैयार है, जिसमें गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति को छोड़कर सभी सदस्य भारतीय होंगे। इस परिषद में मुसलमानों एवं सवर्ण हिन्दुओं की संख्या बराबर होगी। यह परिषद् लगभग अस्थायी सरकार की भांति होगी। प्रतिरक्षा और सीमान्त एवं कबाइली मामलों को छोड़कर सभी मामले भारतीयों के पास रहेंगे।

(2) प्रान्तों में गवर्नर शासन समाप्त करके मिली-जुली उत्तरदायी सरकारें स्थापित की जायेगी।

(3) इन प्रस्तावों का भारत के भावी संविधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, जिसको बाद में भारतीय स्वयं बनायेंगे।

वेवल ने देश में अच्छा वातावरण उत्पन्न करने के लिये कांग्रेस की कार्य समिति के सभी सदस्यों को छोड़ दिया और महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं को शिमला में एक सम्मेलन में आने का निमंत्रण भेज दिया। 25 जून 1945 को शिमला में सम्मेलन आरम्भ हुआ। कांग्रेस ने योजना इसलिये स्वीकार करली कि इसके बाद भारत की स्वतंत्रता निश्चित हो जायेगी। किन्तु जिन्ना ने यह दावा प्रस्तुत किया कि कार्यकारिणी परिषद में समस्त मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का एक मात्र अधिकार मुस्लिम लीग का ही है। इस आधार पर कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद कौंसिल के सदस्य नहीं हो सकते थे। कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत दलित वर्ग के सदस्यों के नाम पर भी आपत्ति की गई। इस पर वेवल ने विभिन्न दलों को अपने प्रतिनिधियों की सूची देने को कहा तथा उन सूचियों में निर्धारित संख्या में सदस्यों के चयन का अधिकार अपने पास रखा। इस पर भी मुस्लिम लीग सहमत नहीं हुई। अतः 14 जुलाई 1945 को लार्ड वेवल ने सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी। इस प्रकार, जिन्ना की हठधर्मी तथा वेवल द्वारा जिन्ना के दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्व देने के कारण शिमला सम्मेलन विफल हो गया।

आजाद हिन्द फौज तथा सुभाष चन्द्र बोस

शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद देश में पूर्ण निराशा छा गयी। लेकिन इसी समय देश में ऐसी घटना घटित हुई कि देश की शुष्क धमनियों में पुनः नवीन रक्त का संचार होने लगा और जनता में पुनः उत्साह आ गया। यह घटना थी, दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों के मुकदमे की सुनवायी। इस मुकदमे और उसके परिणामों का उल्लेख करने से पूर्व आजाद हिन्द फौज की उत्पत्ति पर विचार करना समीचीन होगा।

आजाद हिन्द फौज का गठन मार्च 1942 में जापान में रह रहे एक भारतीय क्रान्तिकारी रासविहारी बोस द्वारा किया गया। अंग्रेजी सेना के जो भारतीय सैनिक और अधिकारी, जापान में युद्ध वन्दी थे और जिनकी संख्या लगभग 60 हजार थी, अधिकांशतः इस सेना में भर्ती किये गये तथा जापान ने शस्त्रों से इनकी सहायता की। केप्टिन मोहनसिंह ने इस सेना को देश की स्वतंत्रता के लिये मर मिटने का मंत्र दिया। जून 1942 में सुभाष चन्द्र बोस को पूर्वी एशीया आने का निमंत्रण दिया गया।

सुभाष चन्द्र बोस का जन्म 23 फरवरी 1897 को हुआ था। 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. आनर्स की परीक्षा उत्तीर्ण करने के वाद वे भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए। किन्तु विदेशी सरकार की गुलामी को वर्दाश्त न करने के कारण अंग्रेजों की नौकरी नहीं की। लंदन से आते ही उन्होंने गांधीजी से मुलाकात की, किन्तु गांधीजी के विचारों से वे प्रभावित नहीं हुए। इसके वाद वे देशबन्धु चितरंजनदास से मिले, जिनसे वे काफी प्रभावित हुए। अतः जब तक देशवन्धु जीवित रहे, सुभाष उनके सहयोगी के रूप में कार्य करते रहे। असहयोग आन्दोलन के दौरान सुभाष ने प्रिन्स आफ वेल्स के बहिष्कार के लिये आन्दोलन का नेतृत्व किया। अतः 1921 में उन्हें गिरफ्तार कर छः महिने की कैद की सजा दे दी। जेल से छूटने के वाद उन्होंने स्वराज्य पार्टी में काम किया। 1923 में उन्होंने 'फारवर्ड' नामक समाचार पत्र निकाला। ब्रिटिश सरकार उनकी गतिविधियों से चिन्तित हो उठी। 1925 में आपको पुनः गिरफ्तार कर मांडले भेज दिया। किन्तु स्वास्थ्य खराब होने के कारण 1927 में उन्हें विना शर्त रिहा कर दिया गया। इस समय वे वंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मंत्री थे। जब भारत में साइमन कमीशन आया तब इसके विरुद्ध प्रदर्शनों का नेतृत्व किया। 1928 में ही उन्होंने वंगाल छात्र संघ तथा वंगाल युवक संघ की स्थापना की। इसी वर्ष मद्रास में हुए कांग्रेस अधिवेशन में पहली वार उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी में लिया गया। धीरे धीरे गांधीजी से उनका मतभेद वढ़ने लगा। गांधीजी स्वराज्य की मांग कर रहे थे, जवकि सुभाष पूर्ण स्वतन्त्रता से कम किसी भी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। अव सुभाष का व्यक्तित्व स्वाधीनता संग्राम के अग्रिम मोर्चे पर आने लगा। सुभाष और

गांधीजी के मतभेद बढ़ते ही गये। द्वितीय विश्व युद्ध को सुभाष भारतीय स्वाधीनता के लिये वरदान समझते थे, जबकि गांधीजी इंगलैंड के संकट को भारत का अवसर नहीं समझते थे। 1939 में त्रिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी के विरोध के बावजूद वे कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए। गांधीजी के विरोध का एक कारण के. एम. मुंशी ने यह लिखा है कि सुभाष ने जर्मनी के राजदूत से कलकत्ता में भेंट की थी तथा उसे आश्वासन दिया था कि विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी कांग्रेस के समर्थन की आशा कर सकता है। गांधीजी नहीं चाहते थे कि कांग्रेस अध्यक्ष इस प्रकार का देश-द्रोहपूर्ण कार्य करे।

कांग्रेस की अध्यक्षता में उन्होंने देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन को नया मोड़ प्रदान किया। त्रिपुरा अधिवेशन में उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम दे दिया जाय कि वे 6 महीने में भारत को स्वतन्त्रता दे दे। यदि 6 महीने में स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है तो भारत को ब्रिटेन की विरोधी शक्तियों से सैनिक सहायता ले लेनी चाहिये। महात्मा गांधी व पंडित नेहरू ने इसका विरोध किया। अतः यह प्रस्ताव पास न हो सका। इन तीव्र मतभेदों के कारण सुभाष ने अप्रेल 1939 में कांग्रेस से त्याग पत्र देकर 'फारवर्ड ब्लॉक' का गठन किया। सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने पर फारवर्ड ब्लॉक ने अंग्रेजों के विरुद्ध जंगी तैयारियां आरम्भ करदी। अतः 2 जुलाई 1940 को वे बन्दी बना लिये गये। इस पर उन्होंने सरकार को चेतावनी दी कि, "मेरी गिरफ्तारी का कोई नैतिक अथवा कानूनी अधार नहीं है और यदि मुझे तुरन्त रिहा न किया गया तो मैं अनशन करूंगा।" सरकार ने इसकी उपेक्षा की, अतः सुभाष ने अनशन आरम्भ करने से पूर्व गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा, "व्यक्ति का बलिदान आवश्यक है, ताकि राष्ट्र जिन्दा रह सके। आज मुझे मरना चाहिये ताकि भारत को स्वतन्त्रता और गौरव प्राप्त हो सके।" 29 नवम्बर 1940 को उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। उनकी स्थिति बिगड़ती देखकर सरकार ने उन्हें 5 दिसम्बर 1940 को रिहा कर दिया। उन्हें उनके मकान में पुलिस की कड़ी निगरानी में रखा गया। 16 जनवरी 1941 को उन्हें अंतिम बार देखा गया, किन्तु इसके 10 दिन बाद सारा भारत और ब्रिटेन यह सुनकर दंग रहा गया कि सुभाष अपने घर से भाग निकलने में सफल हो गये थे। वे पेशावर, काबुल और मास्को होते हुए बर्लिन पहुंचे और हिटलर के साथ मिलकर अंग्रेज विरोधी कार्य करना आरम्भ किया। नवम्बर 1941 में विश्व ने सुभाष की आवाज तब सुनी जब उन्होंने जर्मन रेडियो से अपना सन्देश प्रसारित किया।

जब दिसम्बर 1941 में जापान भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा और सिंगापुर का पतन हो गया, तब जून 1942 में उन्हें रासबिहारी बोस का निमंत्रण मिला। अतः सुभाष 8 फरवरी 1943 को एक जर्मन पनडुब्बी द्वारा जापान के लिये

रवाना हुए और जून 1943 में वे टोक्यो पहुंचे। 2 जुलाई 1943 को वे सिंगापुर पहुंचे, जहां 4 जुलाई को रासविहारी वोस ने आजाद हिन्द फौज तथा इंडियन इंडिपेंडेंस लीग का नेतृत्व सुभाष को सौंप दिया। 21 अक्टूबर 1943 को सुभाष ने सिंगापुर में अस्थायी भारत सरकार की स्थापना की तथा जापान के सेनाध्यक्षों को इस बात के लिये राजी करा लिया कि भारत-वर्मा सीमा पर जापानी सेना के साथ आजाद हिन्द फौज भी युद्ध करे। शाहनवाजखां आजाद हिन्द फौज की प्रथम ब्रिग्रेड के कमाण्डर नियुक्त हुए। उन्होंने अपनी फौज के समक्ष 'दिल्ली चलो' का नारा बुलन्द करते हुए एक रोमांचकारी भाषण दिया। उन्होंने कहा, "कोई भी उद्देश्य इससे अधिक पवित्र नहीं हो सकता और इसकी प्राप्ति के लिये कोई भी वलिदान वड़ा नहीं, जीवन का वलिदान भी नहीं।............अतः आप ऐसा उदाहरण पेश करेंगे, जिससे आपके देशवासी आपको आशीर्वाद दें और आने वाली पीढ़ियां आपसे प्रेरणा ग्रहण करे।" अपने भाषण के अन्त में कहा, "यदि आप जीवन-मरण में मेरा साथ दें तो आपको यह यकीन अवश्य दिला सकता हूं कि हम मिलकर स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त करेंगे। हम में से कितने स्वाधीनता का सूर्योदय देखने के लिये जीवित वचेंगे, इस बात का कोई महत्व नहीं है। इतना ही काफी है कि भारत स्वाधीन होगा और हम उसे स्वाधीन कराने में अपना सर्वस्व लगा देंगे।" उन्होंने सैनिकों को आव्हान करते हुए कहा, "तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।"

फरवरी 1944 से जून 1944 तक आजाद हिन्द फौज की तीन ब्रिग्रेडों ने जापानी सेना के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध किया। सुभाष की योजना थी कि वर्मी मोर्चे से आजाद हिन्द फौज लेकर भारत की सीमा में प्रवेश कर बंगाल और असम से ब्रिटिश फौजों को पीछे धकेल दिया जाय। उनका विश्वास था कि आजाद हिन्द फौज की सफलता देखकर भारतीय जनता अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देगी, जिससे ब्रिटिश सरकार के यहां से पैर उखड़ जायेंगे। अतः आजाद हिन्द फौज ने वर्मी मोर्चे पर अपनी वहादुरी एवं कौशल का अद्वितीय परिचय दिया। किन्तु जून 1944 के वाद जापान आगे नहीं वढ़ सका, क्योंकि प्रशान्त महासागर में अमरीकी नौ सेना ने जापान के लिये कठिन स्थिति पैदा करदी थी। अंत में 13 अगस्त 1945 को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। अगस्त 1945 में आजाद हिन्द फौज के सैनिकों व अधिकारियों को अंग्रेजों ने वन्दी वना लिया। इस समय सुभाष मलाया के दौरे पर गये हुए थे। अतः वे तुरन्त सिंगापुर आये। सिंगापुर में उनके साथियों का विचार था कि सुभाष का सिंगापुर में रहना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि विजयी ब्रिटिश सेनाओं द्वारा उन्हें वन्दी वना लिया जाना प्रायः निश्चित था। अतः 16 अगस्त 1945 को वे अपने विश्वस्त सहयोगियों के साथ विमान द्वारा सिंगापुर से वैंकाक के लिये रवाना हुए। इसके पांच दिन वाद 22 अगस्त 1945 को टोकियो रेडियो से यह समाचार प्रसारित हुआ कि 18 अगस्त 1945 को फारमोसा में विमान दुर्घटना में नेताजी की मृत्यु हो गयी।

आजाद हिन्द फौज पर मुकदमे—शिमला सम्मेलन की असफलता के निराशापूर्ण वातावरण में नवम्बर 1945 में आजाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों कर्नल सहगल, कर्नल ढिल्लन और मेजर शाहनवाजखां पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमे चलाये गये। सरकार ने उन पर मुकदमा इसलिये चलाया था कि इन्होंने युद्ध के दौरान भारतीय सेना को छोड़कर आजाद हिन्द फौज में शामिल हो गये थे। मुकदमे का समाचार सुनकर भारतीय जनता उत्तेजित हो गयी और कांग्रेस ने जनता की ओर से इन आजादी के दीवानों के पक्ष में मुकदमा लड़ने का निश्चय किया। देश के बड़े-बड़े श्रेष्ठतम वकील-बैरिस्टर निशुल्क इस मुकदमे की पैरवी के लिये आ पहुंचे। पंडित नेहरू ने 30 वर्ष बाद वकील की अदालती पोशाक धारण की और लाल किले गये। सर तेजबहादुर सप्रू व भूलाभाई देसाई ने इनकी रक्षा के लिये उच्चकोटि के तर्क प्रस्तुत किये, किन्तु सैनिक न्यायालय ने तीनों को मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी। भारतीय जनता ने इसका जबरदस्त विरोध किया, अतः जनमत का दबाव पड़ने पर गवर्नर जनरल ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर इन तीनों को क्षमा कर दिया।

इन मुकदमों के परिणामस्वरूप देश में एक नवीन चेतना फैल गई। सम्पूर्ण भारत में आजाद हिन्द फौज की सराहना की गई। लोगों में इन अभियुक्तों को स्वतंत्र कराने के लिये अपार जोश उत्पन्न हुआ। प्रतिरक्षा वकील भूलाभाई देसाई ने अदालत में घोषणा की, "पराधीन देश का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये विदेशी शासकों के विरुद्ध विद्रोह करे।" इससे सेना में विशेष रूप से जागृति उत्पन्न हो गयी। अब अंग्रेज सरकार भारतीय सेना पर विश्वास नहीं कर सकती थी। बाद में भारतीय जल सेना ने फरवरी 1946 में विद्रोह किया, तब अंग्रेजों का विश्वास और अधिक दृढ़ हो गया। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के निर्णय को इन घटनाओं ने प्रभावित किया।

इंगलैण्ड में सत्ता परिवर्तन व भारत में चुनाव—जुलाई 1945 में इंगलैंड में चुनाव हुए। इंगलैंड के मजदूर दल ने चुनाव के समय अपने घोषणा पत्र में यह आश्वासन दिया था कि यदि मजदूर दल सरकार बनायेगा तो भारत को स्वाधीनता दे दी जायेगी। चुनावों में मजदूर दल को भारी बहुमत मिला तथा 10 जुलाई 1945 को मजदूर दल की सरकार स्थापित हो गयी। चर्चिल के स्थान पर एटली प्रधान मंत्री बने तथा एमरी के स्थान पर लार्ड पैथिक लारेन्स भारत सचिव बने। अगस्त 1945 में लार्ड वेवल ने गवर्नरों का एक सम्मेलन बुलाया, जिसमें भारत में चुनाव कराने का निर्णय लिया गया। 25 अगस्त 1945 को वेवल इंगलैंड सरकार से बातचीत करने लंदन पहुंचे तथा 18 सितम्बर 1945 को भारत लौटे। 19 सितम्बर 1945 को वेवल ने घोषणा की कि युद्ध के कारण जो चुनाव स्थगित हो गये थे, वे अब इसी शीतकाल में होंगे। ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही स्वशासन स्थापित

करने हेतु भारत में संविधान सभा बुलाना चाहती है। चुनावों के बाद प्रान्तों में पुनः उत्तरदायी सरकार स्थापित की जायेगी।

दिसम्बर 1945 में चुनाव हुए। केन्द्रीय विधान सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को सामान्य स्थानों पर तथा मुस्लिम लीग को मुसलमानों के लिये आरक्षित स्थानों पर भारी सफलता मिली। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस का मुसलमानों में कोई विशेष प्रभाव नहीं था और मुसलमानों का वास्तविक प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग ही कर रही है। प्रान्तों में चुनाव के फलस्वरूप 11 प्रान्तों में से 7 प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बन गये, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में खुदाई खिदमतगारों का मंत्रिमंडल बना, जिनका नेता खान अब्दुल गफ्फार खां काँग्रेसी था। पंजाब में काँग्रेस तथा अकाली दल की मिलीजुली सरकार बनी। बंगाल व सिन्ध में मुस्लिम लीग के मंत्रि-मंडल बने।

नवीन निर्वाचन के समय तथा उसके बाद देश का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त उत्तेजित था। आजाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों को मृत्यु दण्ड की सजा सुनाने के विरुद्ध अनेक स्थानों पर प्रदर्शन हुए। कलकत्ता में 43 व्यक्ति पुलिस की गोली से मारे गये। जबलपुर में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। 18 फरवरी 1946 को भारतीय नौ सेना ने तथा वायु सेना के एक भाग ने आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों की सहानुभूति में विद्रोह कर दिया। इसके तुरन्त बाद बम्बई शहर में विद्रोह हुआ। बम्बई में पुलिस की गोली से दो सौ श्रमिक मारे गये। कराची में अंग्रेजी सेना ने विद्रोही नौ सेना पर जब गोली चलाई तो भारतीय सेना ने भी प्रत्युत्तर में गोली चलाई। इन घटनाओं ने अंगेजों की आंखें खोल दी और उन्होंने समझ लिया कि भारतीय राष्ट्रवाद को अब सेना में घुसने से नहीं रोका जा सकता और भारत में इतनी ब्रिटिश सेनाएं नहीं थी कि सब जगह भेजी जा सके। सेना की टुकड़ियों का विद्रोह भविष्य के लिये खतरे का संकेत था।

एटली की घोषणा और मन्त्रिमण्डल मिशन—भारत के उत्तेजित वातावरण को ध्यान में रखते हुए 15 मार्च 1946 को संसद में एक ऐतिहासिक घोषणा की गई। इस घोषणा में भारतीयों के आत्म निर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। भारतीयों को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में इच्छानुसार रहने अथवा छोड़ने की भी छूट दी गई। यह भी कहा गया कि यद्यपि ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यकों के हितों के बारे में बहुत चिन्तित है, किन्तु किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग को बहुमत की प्रगति रोकने के लिये निषेधाधिकार नहीं दिया जा सकता। यह भी घोषणा की गई कि ब्रिटिश सरकार भारतीय गतिरोध को हल करने के लिये एक मंत्रिमंडल मिशन भेज रही है।

मंत्रिमंडल मिशन में ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्य-लार्ड पैथिक लारेन्स, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और ए. वी. अलेक्जेण्डर शामिल थे। यह मंत्रिमंडल मिशन 24 मार्च 1946 को दिल्ली पहुंचा। इस मिशन का उद्देश्य एक नवीन वैधानिक रूपरेखा

तैयार करना तथा केन्द्र में एक अस्थायी सरकार की स्थापना करना था। इस मिशन ने आते ही विभिन्न विचारधारा के लोगों से बातचीत आरम्भ करदी। सर्वाधिक जटिल समस्या कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौते की थी। मुस्लिम लीग अपनी पाकिस्तान की मांग पर अड़ी हुई थी, जबकि कांग्रेस अखण्ड भारत की मांग पर अडिग थी। मुस्लिम लीग के नेताओं ने अपने भाषण में ऐसा जहर उगलना आरम्भ कर दिया था, जो देश की एकता के लिये घातक था। मुस्लिम लीग के एक नेता चुन्द्रीगर ने घोषणा की कि अंग्रेजों को यह अधिकार नहीं है कि वे मुसलमानों को ऐसे लोगों के हाथ में सौप दें, जिन पर हम हजारों वर्षों तक शासन करते रहे हैं। एक अन्य नेता मोहम्मद इस्माइल ने कहा, "भारतीय मुसलमान जिहाद करने का निश्चय कर चुके हैं।" फिरोजखां नून ने कहा, "हिन्दू, मुसलमानों के उस ताण्डव नृत्य को देखेंगे जो चंगेजखां या हलाकू ने भी नहीं किया था।" इस प्रकार मुस्लिम लीग ने अपनी पाकिस्तान की मांग मिशन के सामने प्रस्तुत की तथा कांग्रेस ने अखण्ड भारत के भावी शासन की अपनी योजना प्रस्तुत की। मंत्रिमंडल मिशन ने दोनों की योजनाओं को अस्वीकृत कर दिया और स्पष्ट कह दिया कि पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं है तथा उन क्षेत्रों को पाकिस्तान में मिलाना भी अनुचित होगा, जिन क्षेत्रों में गैर मुसलमानों का बहुमत है।

जब मुस्लिम लीग और कांग्रेस में कोई समझौता न हो सका तब मिशन ने विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों का शिमला में एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन 11 मई 1946 तक चलता रहा। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग तथा इसके लिये जिन्ना की हठधर्मी के कारण सम्मेलन असफल हो गया। जब यह सम्मेलन किसी निष्कर्ष पर न पहुंच सका तब मिशन ने स्वयं ही एक योजना का निर्माण किया जिसे 'मंत्रिमंडल मिशन योजना' कहते हैं। 16 मई 1946 को इस योजना की घोषणा करदी गई। मंत्रिमंडल मिशन की योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) भारत में एक संघ शासन की व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें ब्रिटिश भारत के सभी प्रान्त तथा भारत की देशी रियासतें सम्मिलित हों। प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिये। संघ के पास वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा तथा संचार साधनों का दायित्व होना चाहिये। ऐसे सभी विषय जो स्पष्ट रूप से संघ को नहीं सौंपे गये हैं, वे सभी प्रान्तों के पास रहने चाहिये। जिन विषयों को देशी रियासतें संघ को नहीं सौंपेगी, उन सभी पर देशी रियासतों का अधिकार होगा।

(2) भारत का संविधान बनाने के लिये एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा। जिसमें प्रत्येक प्रान्त को अपनी 10 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनाने का अधिकार होगा। संविधान सभा के कुल सदस्य 389 होंगे, इनमें 93 सदस्य देशी रियासतों के, 4 चीफ कमिश्नर प्रान्तों के और शेष 292 सदस्य गवर्नर प्रान्तों के होंगे। सम्प्रदाय के आधार पर—गैर मुस्लिम 210, मुस्लिम 78, सिक्ख 4 तथा चीफ कमिश्नर प्रान्तों के 4 प्रतिनिधि होंगे।

(3) संविधान सभा की प्रारम्भिक बैठक के बाद सभी प्रान्त तीन समूहों में विभाजित हो जायेंगे। पहले समूह में मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा होंगे, दूसरे समूह में सिन्ध, बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब शामिल होंगे तथा तीसरे समूह में बंगाल और असम होंगे। प्रत्येक समूह को यह अधिकार होगा कि वह जिस प्रकार की शासन व्यवस्था चाहे स्थापित कर सकता है और सम्पूर्ण समूह के लिये अलग संविधान का निर्माण हो सकता है। प्रान्तों को अपने समूह से सम्बंध विच्छेद करने का अधिकार होगा।

(4) ब्रिटिश सरकार संविधान सभा द्वारा बनाये गये संविधान को पूरी तरह लागू करेगी।

(5) भारतीय देशी रियासतों पर नियंत्रण का अधिकार न तो संघ को होगा और न अंग्रेज सरकार के पास रहेगा।

(6) प्रशासनिक, आर्थिक और सैनिक आधार पर पाकिस्तान की मांग न्योचित नहीं है।

मंत्रिमंडल मिशन योजना में यह भी कहा गया था कि जब तक नये संविधान का निर्माण नहीं हो जाता तब तक के लिये एक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जायेगी। इसमें 14 सदस्य होंगे, जिनमें 6 कांग्रेस, 5 मुस्लिम लीग, भारतीय ईसाइयों, सिक्ख और पारसियों का एक एक प्रतिनिधि होगा। प्रशासनीय मामलों में ब्रिटिश सरकार, अन्तरिम सरकार को पूर्ण सहयोग देगी तथा सत्ता का जल्द से जल्द हस्तांतरण कर देगी।

भारत के संवैधानिक गतिरोध को दूर करने का यह एक ईमानदार प्रयास था। इसने पाकिस्तान की मांग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। लेकिन मुस्लिम लीग को सन्तुष्ट करने के लिये केन्द्र को निर्बल रखा गया तथा कांग्रेस की मांग को ध्यान में रखते हुए एक संघ स्थापित करने की व्यवस्था की गई। संविधान सभा में जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व देकर संविधान सभा को लोकतंत्रीय बनाने का प्रयास किया गया। इस संविधान सभा को पूर्ण स्वतन्त्रता और सभी अधिकार दिये गये। इसमें अन्तरिम सरकार की व्यवस्था करके सभी विभाग भारतीयों को सौंपने को कहा गया। स्वयं गांधीजी ने कहा था कि तात्कालीन परिस्थितियों में यह सर्वोत्तम प्रलेख है। जिन्ना ने भी स्वीकार किया कि अल्पसंख्यकों की समस्या के समाधान का इससे उत्तम उपाय नहीं हो सकता था।

इस योजना में प्रान्तों को समूह में बांटना, इसका सबसे बड़ा दोष था। इससे राष्ट्रीय एकता महत्वहीन हो गयी। प्रान्तों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार देने से सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की शासन पद्धति स्थापित नहीं हो सकती थी। समूहों का फार्मूला भी अस्पष्ट था, अतः कांग्रेस और लीग में विवाद आरम्भ हो गया। कांग्रेस के अनुसार समूह में शामिल होना अथवा संविधान को मानना एच्छिक था, जबकि मुस्लिम लीग इसे अनिवार्य मानती थी। अंतरिम

सरकार में राष्ट्रवादी मुसलमानों को कोई मान्यता नहीं दी गई अर्थात् कांग्रेस किसी मुसलमान सदस्य को मनोनीत नहीं कर सकती थी।

6 जून 1946 को मुस्लिम लीग ने इस योजना को स्वीकार कर लिया तथा 14 जून 1946 को कांग्रेस ने भी इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु कांग्रेस ने अंतरिम सरकार में भाग लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि कांग्रेस किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को अंतरिम सरकार में मनोनीत करना चाहती थी। जुलाई 1946 में योजना के अनुसार चुनाव हुए, जिसमें कांग्रेस को भारी सफलता मिली। 10 जुलाई को पंडित नेहरू ने वम्वई में एक वक्तव्य दिया कि कांग्रेस संविधान सभा में भाग लेने के लिये सहमत है और मंत्रिमंडल मिशन योजना को संशोधित करने के लिये अपने आप को स्वतंत्र समझती है। पंडित नेहरू का यह वक्तव्य गलत था, क्योंकि जिन्ना ने अपने लाभ के लिये इसका खूव प्रयोग किया। 29 जुलाई 1946 को मुस्लिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। क्योंकि लार्ड वेवल केवल मुस्लिम लीग के सहयोग से अंतरिम सरकार वनाने को तैयार नहीं हुआ (कांग्रेस ने अंतरिम सरकार की योजना अस्वीकृत करदी थी)। जिन्ना ने कहा कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग को त्याग कर भारी कुर्वानी की थी। अव उसने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये सीधी कार्यवाही करने की धमकी दी।

अन्तरिम सरकार—कांग्रेस ने वाद में अंतरिम सरकार में भाग लेने की योजना स्वीकार करली। अतः 12 अगस्त 1946 को गवर्नर जनरल ने पंडित नेहरू को अंतरिम सरकार वनाने का निमंत्रण भेजा। मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के साथ मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया तथा 16 अगस्त 1946 से सीधी कार्यवाही करने का निश्चय किया। 16 अगस्त से साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला आरम्भ हो गया, जिसमें लाखों व्यक्तियों की जानें गयी तथा करोड़ों रुपये की सम्पत्ति का नुकसान हुआ। वंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार थी और सुहरावर्दी वहां का मुख्य मंत्री था। उसने 16 अगस्त की छुट्टी घोषित करदी। अतः वंगाल में सवसे अधिक दंगे हुए। 24 अगस्त को घोषणा करदी गई कि 2 सितम्वर को अन्तरिम मंत्रिमंडल शपथ ग्रहण करेगा।

24 अगस्त के वाद लार्ड वेवल ने मुस्लिम लीग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। वह चाहता था कि मुस्लिम लीग को उसकी शर्तों के अनुसार मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया जाय। लेकिन भारत सचिव ने इसका समर्थन नहीं किया। 2 सितम्वर 1946 को पंडित नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार ने शपथ ग्रहण की। तत्पश्चात वेवल के प्रयत्नों से मुस्लिम लीग ने भी अंतरिम सरकार में अपना प्रतिनिधि भेजना स्वीकार कर लिया। मुस्लिम लीग को अंतरिम सरकार में लेने के वाद वेवल ने मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व को स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। मुस्लिम लीग द्वारा अंतरिम सरकार को कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि वह

तो सरकार में सम्मिलित होकर कांग्रेस की नीतियों को समाप्त करना चाहती थी। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि लियाकत अली वित्त मंत्री थे। उन्होंने नया वजट प्रस्तुत करते समय उद्योगपतियों एवं व्यापारियों पर भारी कर लगाये। उनका कहना तो यह था कि ये कर कांग्रेस की नीतियों–'आर्थिक विषमताओं को दूर करने' के लिये लगाये जा रहे हैं। लेकिन ये कर स्पष्टतः साम्प्रदायिकता से प्रेरित थे क्योंकि अधिकांश व्यापारी व उद्योगपति हिन्दू थे। अतः कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिलकर कार्य नहीं कर सकी।

पाकिस्तान की मांग को लेकर सारे देश में दंगे हो रहे थे। कलकत्ता के वाद नोआरवली में दंगे फैल गये, जहां हिन्दुओं पर मुसलमानों ने वहुत अत्याचार किये। इसकी प्रतिक्रिया विहार, गढ़मुक्तेश्वर और अहमदावाद में हुई, जहां हिन्दुओं ने मुसलमानों पर अत्याचार किये। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों को भड़काने के लिये विहार दिवस मनाया। फलस्वरूप उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाव आदि में भी दंगे फैल गये।

एटली की घोषणा—भारत की विषम स्थिति से इंगलैंड की सरकार भलीभांति परिचित थी। अव उसने भारत को इसी विगड़ी हुई स्थिति में छोड़कर भारत से अपना अधिकार समाप्त करना ही श्रेष्ठ समझा। अतः लार्ड एटली ने 20 फरवरी 1947 को घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार जून 1948 तक भारत के उत्तरदायी व्यक्तियों को सत्ता सौंप देगी। इसके साथ ही यह घोषणा की गई कि लार्ड वेवल को भारत से वापस वुला लिया जायेगा और उसके स्थान पर लार्ड माउंटवेटन को गवर्नर जनरल नियुक्त किया जायेगा, जो भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल होंगे। एटली की इस घोषणा का संसद में अनुदार दल ने भारी विरोध किया, किन्तु अन्त में इस घोषणा को स्वीकार कर लिया गया। 24 मार्च 1947 को माउंटवेटन ने गवर्नर जनरल का पद ग्रहण कर लिया।

भारत का विभाजन—लार्ड माउंटबेटन ने भारत आने के वाद अनुभव किया कि कांगेस संयुक्त भारत चाहती है और मुस्लिम लीग विभाजित भारत (पाकिस्तान)। अतः दोनों में समझौता असम्भव है। जिन्ना ने सारे देश में गड़वड़ फैला रखी थी। हजारों लोग मर रहे थे और स्थिति वेकावू होती जा रही थी। इसलिये माउंटवेटन ने देखा कि भारत को विभाजित करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। लेकिन महात्मा गांधी ने कहा था कि चाहे सारे भारत को आग लग जाय, तो भी पाकिस्तान नहीं वनेगा। उन्होंने तो यहां तक कह दिया था कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा। अतः महात्मा गांधी को पाकिस्तान के लिये सहमत कराना असंभव था। इसलिये माउंटवेटन ने पंडित नेहरू तथा सरदार पटेल को पाकिस्तान की स्थापना के लिये सहमत कराने का प्रयत्न किया। सरदार पटेल ने वेगुनाहों के कत्ले आम से पाकिस्तान की स्वीकृति अच्छी समझी और नेहरू ने शेष भारत को संगठित और

शक्तिशाली बनाना अच्छा समझा। माउंटबेटन ने दोनों की सहमति प्राप्त करने के बाद 3 जून 1947 को भारत विभाजन की योजना प्रकाशित करदी, जिसे 'माउंट बेटन योजना' कहते हैं। इस योजना में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें थीं—

(1) भारत को दो अधिराज्यों में बांट दिया जायेगा–इण्डिया तथा पाकिस्तान और दोनों को जून 1948 की बजाय 15 अगस्त 1947 को ही स्वतन्त्रता दे दी जायेगी।

(2) पंजाब तथा बंगाल की विधान सभाओं के सदस्य अलग अलग हिन्दू बहुमत और मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के हिसाब से बैठेंगे। यदि उसमें कोई भी पक्ष प्रान्त के बंटवारे का प्रस्ताव पास कर देगा तो उस प्रान्त का बंटवारा कर दिया जायेगा।

(3) असम के सिलहट जिले में जनमत द्वारा यह निर्णय किया जायेगा कि वहां के नागरिक भारत में मिलना चाहते हैं अथवा पूर्वी पाकिस्तान में।

(4) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में जनमत संग्रह द्वारा पता लगाया जायेगा कि वह भारत में मिलना चाहता है अथवा पाकिस्तान में।

(5) भारत के देशी राज्यों को सर्वोच्चता के अधिकार उन राज्यों को वापिस लौटा दिये जायेंगे।

इस योजना को कांग्रेस ने अपनी 14 जून 1947 की बैठक में स्वीकार कर लिया। किन्तु जिन्ना की दृष्टि में जो पाकिस्तान दिया गया था वह लंगड़ा पाकिस्तान था, क्योंकि वह तो सारा बंगाल व असम पूर्वी पाकिस्तान में मिलाना चाहता था और इसी प्रकार सारा पंजाब, उत्तर-पशिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान को पश्चिमी पाकिस्तान में शामिल करना चाहता था। अतः जिन्ना ने लंगड़े पाकिस्तान को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, किन्तु माउंटबेटन के दबाव के कारण अंततः उसे स्वीकार करना पड़ा। तत्पश्चात भारत के विभाजन की तैयारी आरम्भ हो गयी। पंजाब और बंगाल में जिलों के विभाजन तथा सीमा निर्धारण का कार्य एक आयोग को सौंपा गया, जिसकी अध्यक्षता रेडक्लिफ ने की।

माउंटबेटन योजना को कार्यान्वित करने के लिये ब्रिटिश संसद में 4 जुलाई 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसे 16 जुलाई 1947 को पारित कर दिया गया। इसके अनुसार 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिराज्य बना दिये जायेंगे और ब्रिटिश सरकार उन्हें सत्ता सौंप देगी। जब तक दोनों अधिराज्यों के लिये नया संविधान न बन जाय, तब तक दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को अपने अपने अधिराज्य के लिये कानून बनाने की अनुमति दे दी गई। संविधान सभाओं को संविधान बनाने की शक्ति के अतिरिक्त वे समस्त शक्तियां प्रदान की गई जो 1947 से पहले केन्द्रीय विधान मंडल के पास थीं।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अनुसार भारत का बंटवारा कर दिया गया और 15 अगस्त 1947 को दोनों को स्वतन्त्रता दे दी गई। कांग्रेस आरम्भ से ही अखण्ड भारत चाहती थी। महात्मा गांधी विभाजन के कट्टर विरोधी थे। लेकिन कांग्रेस के अधिवेशन में माउंटवेटन योजना का समर्थन करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था, "मैं विभाजन का आरम्भ से ही विरोधी रहा हूं, किन्तु अब परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई है कि दूसरा कोई रास्ता नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर कांग्रेस ने भारत का विभाजन स्वीकार किया ? भारत विभाजन की परिस्थिति निम्नलिखित कारणों में अन्तर्निहित है—

(1) सांप्रदायिक दंगे—मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिये सीधी कार्यवाही शुरू करके साम्प्रदायिक दंगों का सूत्रपात किया था। इन दंगों में भीषण हत्याकांड हुआ और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। अन्तरिम सरकार इन दंगों को रोकने में असमर्थ थी, क्योंकि जिन प्रान्तों में मुस्लिम लीग का शासन था, वहां की सरकार उपद्रवकारियों की सहायता कर रही थी। यद्यपि अन्तरिम सरकार में सरदार बलदेवसिंह प्रतिरक्षा मंत्री थे, किन्तु सेना और पुलिस पर उनका नियंत्रण नहीं था क्योंकि इन पर अंग्रेजों ने अन्त तक अपना ही नियंत्रण रखा। ये दंगे निश्चित रूप से योजनाबद्ध थे और इनका एक मात्र उद्देश्य कांग्रेस को आतंकित करके विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार कराना था। यदि अंग्रेज चाहते तो इन दंगों को रोक सकते थे, लेकिन उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे यह बताना चाहते थे कि भारतीय स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है और यदि भारत को स्वतन्त्रता दे दी जाती है तो यहां के लोग आपस में ही कट मरेंगे। अंग्रेज तो पाकिस्तान की स्थापना के पक्ष में थे, क्योंकि जिन्ना अंग्रेजों को पाकिस्तान में अपना प्रभाव रखने की अनुमति दे चुका था। यद्यपि गांधीजी शान्ति के मूल्य को चुकाने के लिये देश का बंटवारा स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, किन्तु कांग्रेस को भय था कि यदि यही स्थिति रही तो देश की अराजकता बेकाबू हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में इन दंगों को तुरन्त रोकना आवश्यक था। इन दंगों को बंद करने तथा बेगुनाह लोगों की हत्याएं रोकने के लिये विभाजन के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था।

(2) अंग्रेज प्रशासकों के षड़यंत्र—आरम्भ से ही अंग्रेज प्रशासकों की सहानुभूति मुसलमानों के साथ थी। वस्तुतः साम्प्रदायिकता का बीजारोपण भी अंग्रेजों ने किया, जबकि उन्होंने मुसलमानों को विधान मंडलों में उनके लिये अलग स्थान देने के लिये प्रोत्साहित किया। सुधार अधिनियमों में साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को स्थान देकर हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य को और अधिक बढ़ावा दिया। आगे चलकर उन्होंने मुस्लिम लीग की पृथक राज्य की मांग का समर्थन करके उन्हें

खूब प्रोत्साहित किया। साम्प्रदायिक दंगों से स्थिति बहुत खराब हो रही थी और मुसलमानों को पुलिस, प्रतिरक्षा, सूचना और यातायात विभाग में महत्वपूर्ण पदों पर लगाया जा रहा था। मुस्लिम लीग के समर्थक और गैर कानूनी रूप से गोला-बारूद और शस्त्र एकत्रित कर रहे थे। अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के सदस्य कांग्रेसी मंत्रियों के लिये सरदर्द बन गये। अंत में पंडित नेहरू ने तंग आकर कहा कि, "हम सरदर्द से छुटकारा पाने के लिये सिर कटवाने को तैयार हो गये।" सरदार पटेल ने नवम्बर 1947 में नागपुर में भाषण देते हुए कहा कि, "जब अन्तरिम सरकार में आने के बाद मुझे यह पूर्ण अनुभव हो गया कि राजनैतिक विभाग के षड़यंत्रों द्वारा भारत के हितों को बड़ी हानि पहुंच रही है तो मुझे विश्वास हो गया कि जितनी जल्दी हम अंग्रेजों से छुटकारा पा लें उतना ही अच्छा है.......मैंने उस समय महसूस किया कि भारत को मजबूत और सुरक्षित करने का यही तरीका है कि शेष भारत को संगठित किया जाय।" नवम्बर 1949 में सरदार पटेल ने संविधान सभा में भाषण देते हुए बताया कि किस प्रकार मुस्लिम लीग ने देश में तबाही मचा दी थी और अंग्रेज अधिकारी इस तबाही को और अधिक बढ़ावा दे रहे थे। सरदार पटेल ने गुड़गांव के जिला अधिकारी का तबादला कराने की कोशिश की, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। वस्तुतः मुस्लिम लीग के सदस्य बंटवारे के लिये ही अन्तरिम सरकार में शामिल हुए थे। उन्होंने सरकार चलाना भी असम्भव कर दिया। इसलिये सरदार पटेल ने कहा था, "मैं देश के बंटवारे के लिये उस समय माना जबकि इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा। हम उस समय ऐसी अवस्था पर पहुंच गये थे, यदि हम देश का बंटवारा न मानते तो सब कुछ हमारे हाथ से चला जाता।"

(3) **अविलम्ब स्वतन्त्रता के लिये**—कांग्रेस ने देश का विभाजन अविलम्ब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये भी स्वीकार कर लिया। अंग्रेज हमेशा मुस्लिम लीग का पक्ष लेते रहे। लार्ड वेवल मुस्लिम लीग के बिना संविधान सभा बुलाने को तैयार नहीं हुआ और उसे अन्तरिम सरकार में सम्मिलित करने के लिये भारत सचिव के निर्देशों की भी अवहेलना की। मुस्लिम लीग को अन्तरिम सरकार में इसलिये लिया गया कि अंग्रेज दोनों के मतभेदों का बहाना लेकर भारत में रहना चाहते थे। माउंटबेटन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि, "यदि ऐसी परिस्थिति में हिन्दुस्तान की पार्टियां हमें ठहरने के लिये कहेंगी, तो हमें ठहरना पड़ेगा।" अतः कांग्रेस को विश्वास हो गया था कि यदि अंग्रेज शीघ्रातिशीघ्र भारत को स्वतन्त्र कर भारत से चले नहीं जाते तो भारत अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जायेगा। अन्तरिम सरकार में लीग के विभागों में उच्च पदों से लेकर चपरासी तक मुसलमान भरे जा रहे थे और हिन्दुओं को निकाला जा रहा था। इसलिये सरदार पटेल ने कहा था कि यदि पाकिस्तान स्वीकार नहीं किया जाता तो प्रत्येक दफ्तर में पाकिस्तान की

एक ईकाई स्थापित हो जाती। अन्तरिम सरकार में कांग्रेसी सदस्यों को यह भलीभांति ज्ञात हो गया था कि अंग्रेज-मुस्लिम लीग गठवन्धन देश के लिये घातक वनता जा रहा है। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों द्वारा भारतीय हितों के प्रति विश्वासघात हो रहा था। सरदार पटेल ने कहा, "मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि सवसे अच्छा तरीका यह है कि अंग्रेजों को भारत से शीघ्र से शीघ्र निकाला जाय चाहे देश का वंटवारा भी करना पड़े।" कांग्रेस की वैठक में माउंटवेटन योजना पर विचार प्रकट करते हुए गोविन्दवल्लभ पंत ने कहा था, "3 जून 1947 की योजना की स्वीकृति ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये एक मात्र मार्ग है········आज कांग्रेस को या तो इस योजना को स्वीकार करना है अथवा आत्म हत्या करनी है।"

(4) कांग्रेस की त्रुटिपूर्ण नीति—कांग्रेस सदैव मुस्लिम लीग से समझौता करने को उत्सुक रहती थी, इससे लीग का अनावश्यक महत्व वढ़ गया और वह समझने लगी, उसके विना कांग्रेस भारत की संवैधानिक समस्या को हल नहीं कर सकती। कांग्रेस ने 1916 में लखनऊ पेक्ट में लीग की बहुत सी वातें मान ली, फिर सिन्ध को वम्वई से अलग करने की वात भी स्वीकार कर ली। सी. आर. फार्मूले में पाकिस्तान की मांग काफी सीमा तक मानली गई और इस फार्मूले के सम्वंध में वातचीत करने के लिये गांधीजी, जिन्ना के पीछे पीछे भागते रहे। इतना ही नहीं, जिन्ना को 'कायदे आजम' के नाम से सम्वोधित करने लगे। 14 जून 1947 को कांग्रेस कमेटी की वैठक में पंडित नेहरू ने कहा, "कांग्रेस भारतीय संघ में किसी भी ईकाई को वलपूर्वक रखने के विरुद्ध रही है।" सरदार पटेल के भाषणों में भी इस वात को समर्थन मिलता रहा। इन परिस्थितियों में जिन्ना को यह समझते देर नहीं लगी कि कांग्रेस विवश होकर पाकिस्तान की मांग भी स्वीकार कर लेगी। कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग को अनावश्यक महत्व देना और उसके पीछे पीछे भागना कांग्रेस की सवसे वड़ी गलती थी।

(5) सशक्त भारत की इच्छा—कांग्रेस के नेता मुस्लिम लीग की अडंगा नीति और तोड़फोड़ की नीति से तंग आ चुके थे। इसलिये उन्होंने अनुभव किया कि मुस्लिम लीग, कांग्रेस से किसी वात पर सहयोग नहीं करेगी और मुस्लिम लीग की इस नीति के कारण भारत कभी सशक्त राज्य नहीं बन सकेगा, जैसा कि सरदार पटेल ने कहा था कि, "मैंने उस समय महसूस किया कि भारत को मजबूत और सुरक्षित करने का यही तरीका है कि शेष भारत को संगठित किया जाय।" मुस्लिम लीग केन्द्र को शक्तिशाली नहीं देखना चाहती थी। इसीलिये मंत्रिमंडल मिशन योजना में मुस्लिम लीग की इस मांग को स्वीकार करते हुए केन्द्र को निर्वल वनाया गया। केन्द्र के निर्वल रहने से भारत कभी भी शक्तिशाली राष्ट्र नहीं वन सकता था। संयुक्त भारत के लिये लीग से समझौता करने का अर्थ होता—निर्वल व शक्तिहीन भारत। इसलिये सरदार पटेल ने कहा, "वंटवारे के वाद हम कम से कम 75

या 80 प्रतिशत भाग को शक्तिशाली बना सकते हैं, शेष को मुस्लिम लीग बना सकती है।" इसलिये कांग्रेस की भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छा के कारण उसे देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

(6) **जिन्ना की हठधर्मी**—भारत के राष्ट्रवादी नेताओं का विचार था कि हमारा संघर्ष मुख्य रूप से अंग्रेजों के साथ है। इसलिये कांग्रेसी नेता जिन्ना से बातचीत करने को सदैव तत्पर रहते थे। जिन्ना ने सदैव इसका अनुचित लाभ उठाया और सदैव अपनी मांगों को बढ़ाना जारी रखा। जिन्ना की जिद्द और हठधर्मी के कारण गोलमेज सम्मेलन और वेवल योजना असफल हो गयी। वह अपनी पाकिस्तान की मांग पर अडिग रहा, जिससे साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। वह सदैव कांग्रेस को एक हिन्दू संस्था सिद्ध करने का प्रयास करता था। 1937 के चुनावों के बाद जिन प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बनी उन पर लगातार मनगढ़न्त आरोप लगाकर उन्हें मुसलमानों पर अत्याचार करने वाली सरकारें बताता रहा। द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ होने पर जब कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्याग पत्र दिये तो जिन्ना ने 'मुक्ति दिवस' मनाया। ऐसी परिस्थिति में सरदार पटेल, मौलाना आजाद तथा अन्य कांग्रेसी नेता इस बात के विरुद्ध थे कि गांधीजी, व्यर्थ में जिन्ना के पीछे भागकर उसके मान सम्मान में वृद्धि करे। गांधीजी द्वारा बार बार जिन्ना से बात-चीत करने का परिणाम यह निकला कि जिन्ना की हठधर्मी निरन्तर बढ़ती गई। उसने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिये देश भर में साम्प्रदायिक दंगे फैला दिये और हजारों निर्दोष लोगों के खून से होली खेलना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तान प्राप्त करके भी वह शान्त नहीं हुआ। उसने पाकिस्तान से हिन्दुओं को भारत में लेने की मांग की और जब उसकी यह मांग नहीं मानी गई तो उसने हिन्दुओं पर अमानवीय अत्याचार करके उन्हें बलपूर्वक वहां से निकाल दिया। जिन्ना की इस हठधर्मी को प्रोत्साहित करने में न केवल गांधीजी ने योगदान दिया, बल्कि अंग्रेज प्रशासकों ने भी अपना योगदान दिया था। वस्तुतः अंग्रेज इसके लिये अधिक उत्तरदायी थे। जब देश में साम्प्रदायिक दंगे फैल गये तब अंग्रेज इन दंगों का दमन कर सकते थे। आश्चर्य होता है कि जिस प्रबल स्वाधीनता आन्दोलन को अंग्रेज कुचलने में सफल हो गये, वहां इन साम्प्रदायिक दंगों का दमन नहीं कर सके। यह अप्रत्यक्ष रूप से जिन्ना को प्रोत्साहन नहीं था तो और क्या था ?

(7) **अन्तरिम सरकार की असफलता**—पंडित नेहरू और सरदार पटेल अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग की कार्यवाही देखकर बहुत दुखी हुए। अन्तरिम सरकार में लियाकत अली वित्त मंत्री थे, जो कांग्रेस मंत्रियों की योजना में सदैव बाधा उपस्थित करते रहे। कांग्रेस मंत्रियों के विभागों को आवश्यक धन स्वीकृत न करके उन्हें बदनाम करने का प्रयास करते रहे और सरकार का चलना बिल्कुल असंभव बना दिया। मुस्लिम लीग अन्तरिम सरकार में इसलिये शामिल हुई थी,

क्योंकि मुसलमानों के हितों को वह कांग्रेस के हाथों में नहीं सौंपना चाहती थी और अपने मुकाबले में कांग्रेस को अपनी स्थिति मजबूत न करने देना चाहती थी। ऐसी स्थिति में दोनों में सहयोग उत्पन्न हो ही नहीं सकता था। मुस्लिम लीग द्वारा असहयोग और अडंगा नीति ने अन्तरिम सरकार की असफलता सुनिश्चित कर दी थी। इसलिये सरदार पटेल ने कहा, "यदि शरीर का एक भाग खराब हो जाय तो उसको शीघ्र हटाना ठीक है, ताकि सारे शरीर में जहर न फैले। मैं मुस्लिम लीग से छुटकारा पाने के लिये भारत का कुछ भाग इसे देने के लिये तैयार हूं।"

(8) **माउंटबेटन का प्रभाव** - साम्प्रदायिक दंगों के कारण स्थिति अनियंत्रित होती जा रही थी। इसलिये माउंटबेटन ने अनुभव किया कि भारत को विभाजित करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। गाँधीजी को इसके लिये सहमत करना असंभव सा था। अतः माउंटबेटन ने पंडित नेहरू व सरदार पटेल से बातचीत आरम्भ की। गवर्नर जनरल के संवैधानिक परामर्शदाता वी. पी. मेनन ने सरदार पटेल को समझाया कि, "गृह युद्ध की तरफ बढ़ने की बजाय देश का बंटवारा स्वीकार कर लेना अच्छा है।" अंग्रेजों ने भारत छोड़ने की तिथि जून 1948 की बजाय 15 अगस्त 1947 घोषित कर दी थी, अतः कांग्रेस के सामने केवल दो विकल्प थे—गृह युद्ध या पाकिस्तान। माउंटबेटन ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए समझाया कि संयुक्त भारत में मुस्लिम लीग कभी शान्ति और व्यवस्था नहीं रहने देगी, शान्ति और व्यवस्था के अभाव में देश सदैव निर्बल रहेगा और फिर जब कोई सम्प्रदाय भारत में रहना ही नहीं चाहता तो उसे इसके लिये कैसे विवश किया जा सकता है। माउंटबेटन के अकाट्य तर्कों का प्रभाव पंडित नेहरू और सरदार पटेल पर पड़ा। पंडित नेहरू ने कहा था कि, "यदि हमें आजादी मिल भी जाती, तो भारत निस्सन्देह निर्बल रहता जिसमें इकाइयों के पास बहुत अधिक शक्तियां रहती और संयुक्त भारत में सदैव कलह और झगड़े रहते। इसलिये हमने देश का बंटवारा स्वीकार कर लिया ताकि हम भारत को शक्तिशाली बना सकें। जब दूसरे (मुस्लिम लीगी मुसलमान) हमारे साथ रहना ही नहीं चाहते तो हम उन्हें क्यों और कैसे मजबूर कर सकते थे ?" नेहरू ने आगे कहा, "हालात की मजबूरी थी और यह महसूस किया गया कि जिस मार्ग का हम अनुसरण कर रहे हैं, उसके द्वारा गतिरोध दूर नहीं किया जा सकता। अतः हमें देश का बंटवारा मानना पड़ा।" इन वक्तव्यों से स्पष्ट पता चलता है कि माउंटबेटन ने अपने प्रभाव का प्रयोग करके पंडित नेहरू व सरदार पटेल को देश विभाजन के लिये तैयार किया था। कांग्रेसी नेताओं के पास भी बंटवारा स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था।

उपर्युक्त कारणों से देश का विभाजन अनिवार्य हो गया था। वस्तुतः देश का विभाजन मुस्लिम लीग का एक षड़यंत्र था, जिसके फलस्वरूप देश में जन

हत्याएं हुई और अपार सम्पत्ति का विनाश हुआ। जिन्ना ने देश के साम्प्रदायिक दंगों को उसकी चरम सीमा पर पहुंचा दिया था, फिर भी उसे विभाजन के बाद संतोष नहीं हुआ। जिन्ना भारत में खून की होली खेल कर भी 'कटा पिटा दीपक लगा' पाकिस्तान ले पाया। जिस पाकिस्तान के निर्माण का स्वप्न 1930 में मोहम्मद इकबाल ने देखा था तथा मुस्लिम लीग ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों को तिलांजली देकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया, वह पाकिस्तान एक स्वप्न ही रहा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी पाकिस्तान में जो घटनाएं घटी और भारत में उसकी प्रतिक्रिया हुई, उससे इतिहास कलंकित है। पाकिस्तान में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर और भारत में हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों पर किये गये अत्याचारों की समता का कोई उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है।

भारत की स्वतन्त्रता में सहायक तत्व – भारत की स्वतन्त्रता में अनेक तत्वों ने योगदान दिया था। 1857 के बाद भारत में जो राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न हुआ, उस राष्ट्रीय जागरण में अनेक तत्व अन्तर्निहित थे। अतः मौलिक रूप से भारत की स्वतन्त्रता में निम्न तत्व सहायक सिद्ध हुए--

(1) गांधीजी के नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय आन्दलनों का भारत की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण योगदान रहा। वाह्य रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और भारत छोड़ो आन्दोलन अपने लक्ष्यों को प्राप्त न कर सके, किन्तु इन आन्दोलनों के फलस्वरूप लोगों का ब्रिटिश शासकों की शक्ति में विश्वास समाप्त हो गया और जनता ब्रिटिश शासकों से सीधी टक्कर लेने लगी। स्थानीय जनता के सहयोग के बिना कोई भी शासक सफलतापूर्वक शासन नहीं कर सकता। शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन का प्रभाव राष्ट्रव्यापी हो चुका था और शान्तिपूर्ण आन्दोलनकारियों पर गोलियां चलाने व लाठियों की वर्षा करने से लोगों में विदेशी शासकों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी थी।

(2) दूसरे विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन इतना कमजोर हो गया था कि वह भारत पर अधिक समय तक नियंत्रण नहीं रख सकता था। ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली नें स्वयं ब्रिटिश संसद में इस बात को स्वीकार किया था।

(3) देश में राष्ट्रीय जागरण केवल नागरिकों तक ही सीमित न रहा वल्कि इसकी लहर पुलिस व सेना तक पहुंच चुकी थी। आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों पर चलाये गये मुकदमों के फलस्वरूप सेना में भी नवीन चेतना आ गयी थी। इसलिये 1946 में नौसेना का विद्रोह हुआ। इससे अंग्रेज भारतीय सेना की वफादारी पर संदेह करने लगे थे और अंग्रेजों को विश्वास हो गया था कि भारतीय सेना पर निर्भर रहकर भारत पर शक्ति के बल पर शासन नहीं किया जा सकता।

(4) इंगलैंड में मजदूर दल की सरकार की स्थापना, भारत की स्वतन्त्रता के लिये एक महत्वपूर्ण बात थी। मजदूर दल भारत को स्वतन्त्रता देना चाहता था

और सत्ता में आने के पूर्व ही आम चुनावों के अवसर पर उसने घोषित कर दिया था कि यदि मजदूर दल सत्ता में आया तो भारत को स्वतन्त्र कर देगा। इंगलैंड में जब तक अनुदार दल की सरकार रही, वह भारत में प्रजातीय विभेद की नीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों का दमन करने की नीति का अवलम्बन करती रही।

(5) मुस्लिम लीग द्वारा फैलाये गये साम्प्रदायिक दंगों का प्रभाव सेना, पुलिस और प्रशासन में भी फैल चुका था। अतः अंग्रेजों के लिये केवल मुस्लिम लीग तथा उनके समर्थकों की सहायता से अधिक समय तक प्रशासन चलाना असम्भव था।

(6) विश्व का जनमत भी इंगलैंड के विरुद्ध हो रहा था। अमेरीका और चीन निरन्तर इंगलैंड पर दवाव डाल रहे थे कि भारत को स्वतन्त्रता दे दी जाय। अतः इंगलैंड विश्व जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता था। युद्ध के वाद जापान और जर्मनी भी यह सहन करने को तैयार नहीं थे कि उनके उपनिवेश तो छीन लिये जाय और अंग्रेज अपने उपनिवेशों को कायम रखे। रूस भी उपनिवेशवाद का विरोधी था।

(7) कांग्रेस ने शीघ्र स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये देश के बंटवारे को स्वीकार कर लिया था। यदि कांग्रेस देश के वंटवारे को स्वीकार नहीं करती तो मुस्लिम लीग से कदापि समझौता नहीं हो सकता था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज-मुस्लिम लीग गठवन्धन देश की स्वतन्त्रता में देरी उत्पन्न कर सकते थे। अतः कांग्रेस ने देश की शीघ्र स्वतन्त्रता के लिये सबसे बड़ी कीमत चुकायी और वह कीमत थी—देश का वंटवारा।

(8) इंगलैंड द्वारा भारत को स्वतन्त्रता देना उसकी विवशता का भी द्योतक था। इंगलैंड की आर्थिक स्थिति विगड़ती जा रही थी और उसे अमेरीका से भारी मात्रा में ऋण लेना पड़ रहा था। व्यापार संतुलन भी भारत के पक्ष में था, अतः युद्ध के समय भारत का भी ऋण इंगलैंड पर चढ़ गया था। अतः इंगलैंड के राजनीतिज्ञों में यह धारणा उत्पन्न हो गयी थी कि भारत पर अधिक समय तक नियंत्रण वनाये रखना आर्थिक दृष्टि से भी हानिकारक है।

यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति में कांग्रेस का महान् योगदान था, परन्तु क्रान्तिकारियों और आतंकवादियों के वलिदानों को सर्वथा भूल जाना भी अनुचित होगा। जिस समय सरकार विल्कुल निरंकुश हो चुकी थी और कांग्रेसी नेताओं का मनोवल गिर रहा था, इन क्रान्तिकारियों व आतंकवादियों ने ईंट का जवाव पत्थर से देकर राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर को गतिमान वनाये रखा। इसके अतिरिक्त भारतीय समाचार पत्रों, लेखकों, विद्यार्थियों, पूंजीपतियों और साधारण जनता ने अपने ढंग से आन्दोलन में भाग लेकर भारतीय स्वतंत्रता में सहायता दी।

महात्मा गांधी का योगदान

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में 1919 से 1947 तक के काल को 'गांधी युग' कहा जाता है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार रहे, वल्कि उन्होंने देश के सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र को भी अपने विचारों से प्रभावित किया। जनवरी 1915 में दक्षिणी अफ्रीका से लौटने के वाद उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने अंग्रेज सरकार से पूर्ण सहयोग किया, किन्तु युद्ध के वाद भारतीयों की स्वराज्य की मांग को कुचलने के लिये सरकार ने रौलेट एक्ट पास किया, तव महात्मा गांधी ने उसका विरोध किया। अंग्रेजों ने प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाई, जिसमें जलियांवाला वाग का हत्याकांड विशेष रूप से उल्लेखनीय है। खिलाफत के प्रश्न पर गांधीजी ने मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करके 1920 से 1922 तक सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन चलाया। आन्दोलन में हिंसा आने के कारण गांधीजी ने आन्दोलन समाप्ति की घोषणा कर दी। इसके वाद उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, किन्तु बीमारी के कारण कुछ महीनों वाद छोड़ दिया गया। जेल से छूटने के वाद उन्होंने अपना ध्यान जन कल्याण की ओर लगाया। 1928 में साइमन कमीशन का विरोध करने के लिये गांधीजी से नेतृत्व करने की प्रार्थना की गई। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के मुकावले में नेहरू रिपोर्ट तैयार करके सरकार के पास भेजी गई। जव सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को मानने से इन्कार कर दिया तव कांग्रेस ने पंडित नेहरू के नेतृत्व में पूर्ण स्वतंत्रता की शपथ ली तथा गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया, अतः वे प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग न ले सके। गांधी-इरविन समझौते के वाद वे दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने लंदन गये, लेकिन साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल न निकलने के कारण निराश होकर लौटे। महात्मा गांधी को पुनः गिरफ्तार कर ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक पंचाट घोषित किया। गाधीजी ने इसके विरुद्ध मरण व्रत रखा, लेकिन पूना समझौता होने पर व्रत तोड़ दिया।

1937 के चुनावों में कांग्रेस को भारी सफलता मिली। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने पर गवर्नर जनरल ने विना जनप्रतिनिधियों से परामर्श किये भारत को युद्ध में धकेल दिया। इसके विरोध में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग पत्र दे दिये। मार्च 1942 में जापान वढ़ता हुआ भारत की ओर आने लगा, तव ब्रिटिश सरकार ने विवश होकर भारतीय समस्या को हल करने के लिये क्रिप्स को भेजा। क्रिप्स भारतीयों को तुरन्त स्वाधीनता देने को तैयार नहीं हुआ। अतः गांधीजी ने क्रिप्स के सुझावों को अस्वीकार करके 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया। गांधीजी सहित हजारों आन्दोलनकारियों को जेल में ठूंस दिया गया तथा जनता पर अमानवीय अत्याचार

किये गये। 1944 में जेल से छूटने के वाद साम्प्रदायिक समस्या को हल करने के लिये जिन्ना से वातचीत की, जो विफल रही। ब्रिटिश सरकार ने इस गतिरोध को दूर करने के लिये मंत्रिमंडल मिशन भेजा। मंत्रिमंडल मिशन ने जिन्ना की पाकिस्तान की मांग स्वीकार नहीं की, अतः जिन्ना ने मंत्रिमंडल मिशन योजना को अस्वीकार कर सीधी कार्यवाही चालू कर दी, जिसके कारण सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे फैल गये व हजारों व्यक्ति मारे गये। गांधीजी ने इन दंगों को समाप्त कराने का प्रयत्न किया। किन्तु अन्त में विवश होकर देश का बंटवारा स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने उस समय पाकिस्तान को प्रतिरक्षा स्टोरों के लिये 55 करोड़ रुपये भी दिलवा दिये। लेकिन पाकिस्तान में जव लाखों शरणार्थियों की सम्पत्ति को लूट कर उन्हें वहां से वलपूर्वक निकाल दिया, तव गांधीजी के विरुद्ध सारे देश में क्षोभ छा गया। 30 जनवरी 1948 को नाथूराम गोड्से नामक व्यक्ति ने उनकी गोली मारकर हत्या कर दी।

गांधीजी के राजनैतिक विचार—भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर गांधीजी का आगमन तिलक की मृत्यु के बाद हुआ। उन्होंने देश को राजनैतिक और नैतिक नेतृत्व दिया और राजनीति के क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का अनोखा परीक्षण किया। राजनीति पर उन्होंने सत्याग्रह की अमिट छाप लगाई। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है-सत्य के लिये आग्रह। उनका कहना था कि व्यक्तिगत और सार्व-जनिक जीवन में भेद समाप्त होना चाहिये। सत्याग्रह में उन्होंने सत्य पर अधिक वल दिया। लेकिन सत्य मार्ग का अनुसरण विरोधी पर हिंसा प्रयोग की स्वीकृति नहीं देता, परन्तु विरोधी को गलत रास्ता छुड़ाकर ठीक रास्ते पर लाने की स्वीकृति देता है। सत्याग्रह दुहरा वरदान है, यह उसके लिये भी वरदान है जो इसका आचरण करता है और उसके लिए भी जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाय। सत्याग्रही पराजित होना नहीं जानता। उनका विचार था कि विदेशी आक्रमणकारी से भी अहिंसात्मक ढंग से मुकावला किया जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका में उन्होंने प्रजातीय विभेद को समाप्त करने के लिये सफल सत्याग्रह का प्रयोग किया। उन्होंने ब्रिटिश शक्ति के विरुद्ध भी इसका प्रयोग किया। वास्तव में गांधीजी के सत्याग्रह ने ब्रिटिश सरकार के दमन चक्र को भी कुण्ठित कर दिया। 1915 में उन्होंने स्वराज्य की परिभाषा इन शब्दों में की थी, "स्वराज्य से मेरा अभिप्राय भारत की उस सरकार से है जो स्त्री, पुरुष, वासी, अधिवासी, किसी का भेद किये विना ऐसी वालिग जनता के वहुमत से वनी हो, जो राज्य को अपना श्रम देते हों और जिन्होंने मतदाता सूची में स्वयं अपना नाम दर्ज करा लिया हो।" वे लोगों की राजसत्ता में विश्वास करते थे और इसका आधार नैतिक मानते थे। उन्होंने अहिंसात्मक राज्य की कल्पना की थी।

गांधीजी के आर्थिक विचार—गांधीजी अहिंसात्मक राज्य में भारी उद्योग लगाने की इजाजत देते थे, लेकिन वे ध्यान रखना चाहते थे कि भारी उद्योग लाभ

की दृष्टि से न लगाए जाय और वे घरेलू उद्योगों को तबाह न करे। वे केन्द्रीभूत उत्पादन पर राज्य के स्वामित्व की अपेक्षा निजी स्वामित्व के पक्ष में थे। उनका कहना था कि जब कोई अन्य विकल्प न रहे तभी राज्य को लोगों की सम्पत्ति अपने अधिकार में करनी चाहिये। गांधीजी के विचार में अहिंसात्मक राज्य को आत्म निर्भरता, सामाजिक न्याय तथा समान आर्थिक दशा लानी चाहिये। राज्य जंगल, खान, बिजली और यातायात को जनहित की दृष्टि से नियंत्रित करे और छोटे व कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दे। यदि पूंजीपति, ट्रस्टी के आदर्श का पालन न करे तो राज्य कम से कम हिंसा का प्रयोग करते हुए उनकी सम्पत्ति छीन ले और किसानों व मजदूरों से मिलकर उनका प्रवन्ध करे। कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक भूमि न रखे। वे पश्चिमी लोकतंत्र के विरुद्ध थे क्योंकि उसमें अहिंसा तथा अनुशासन की उपेक्षा होती है।

गांधीजी वर्गहीन और राज्यहीन समाज चाहते थे। अहिंसात्मक क्रान्ति के पक्ष में नहीं थे। लेकिन अहिंसा का अर्थ अन्यायी के समक्ष झुकना नहीं है, वल्कि अपने पूरे मनोवल से उसका विरोध करना है। वे पूंजीवाद को हिंसा द्वारा नहीं, वल्कि आर्थिक विकेन्द्रीकरण कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर तथा पूंजीपतियों को ट्रस्टी वनाकर खत्म करना चाहते थे। वे समानता और स्वतन्त्रता पर अधिक वल देते थे।

गांधीजी के सामाजिक विचार—गांधीजी बुनियादी शिक्षा के समर्थक थे और इसके द्वारा समाज सुधार करना चाहते थे। उनका समाज सुधार कार्यक्रम उनके राजनैतिक कार्यक्रम का ही एक अंग था। वे स्त्री शिक्षा पर अधिक वल देते थे; क्योंकि इसके विना समाज का उत्थान नहीं हो सकता था। वे वाल विवाह के विरुद्ध थे तथा विधवा विवाह के समर्थक थे। वे सामाजिक असमानता के विरुद्ध थे और हरिजनों को अन्य जातियों के समान समझते थे। इसलिये उन्होंने हरिजनों व दलित वर्गों के उद्धार पर अत्यधिक वल दिया। उनका कहना था कि उच्च जातियों ने शताब्दियों से हरिजनों पर अत्याचार किए हैं, इसलिये उन्हें ही इस असमानता को दूर करना चाहिये। हिन्दुओं से समानता स्थापित करने के लिये गांधीजी ने हरिजनों को मंदिर प्रवेश की अनुमति दी। गांधीजी के इन विचारों का ही परिणाम है कि स्वतंत्र भारत के संविधान में छुआछूत को गैर कानूनी करार दे दिया गया है। गांधीजी ने आजीवन हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये भी प्रयत्न किया। यद्यपि वे अपने आपको हिन्दू कहते थे लेकिन उनका धर्म इतना व्यापक था कि उसमें सभी धर्मों की अच्छी शिक्षाएं शामिल थी। वे हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को स्वतन्त्रता प्राप्ति में वाधक समझते थे। उन्होंने तो अंतिम समय तक यही प्रयत्न किया कि हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करते हुए देश का विभाजन रोका जाय, किन्तु दुर्भाग्य की वात है कि मुस्लिम लीग के संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारों ने गांधीजी की वात को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, जिसका अनुभव आज पाकिस्तान के लोग भी कर रहे होंगे।

वे शराब के विरुद्ध थे, अतः नियमों द्वारा शराबबन्दी करवाना चाहते थे। वे जानते थे कि गरीबों के लिये शराब, विनाश का कारण सिद्ध हो सकती है और भारत की परिस्थितियों को देखते हुए वे जानते थे कि शराबबन्दी नियमों द्वारा ही लागू हो सकती है। अपने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कार्यक्रम में शराब की दूकानों पर धरने देने का कार्यक्रम शामिल किया तथा स्त्रियों को शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करने की आज्ञा दी। वे खादी के प्रबल समर्थक थे और प्रत्येक कांग्रेसी के लिये खादी पहनना अनिवार्य ठहराया, क्योंकि इससे लाखों जुलाहों को रोजगार मिलता था। उन्होंने प्रत्येक देशवासी को चर्खा कातने की सलाह दी। वे अपराध को एक मानसिक बीमारी समझते थे। इसलिये जेलों को सुधारालय बनाने के पक्ष में थे।

गांधीजी केवल सिद्धान्तवादी या आदर्श विचारक ही नहीं थे बल्कि व्यवहारिक भी थे। डॉ. एम. एस. जैन के अनुसार, "उनका आश्रम उनके विचारों की सार्थकता की जांच करने वाली प्रयोगशाला था।" उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह को व्यवहारिक रूप दिया। उनका खादी प्रयोग कार्यक्रम, स्वदेशी आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षा, हिन्दू-मुस्लिम एकता, ग्रामोद्धार, शराबबन्दी, छुआछूत की समाप्ति, बालविवाह को रोकना, विधवा विवाह की आज्ञा देना, सार्वजनिक जीवन में स्त्री-पुरुषों की समानता आदि सभी व्यवहारिक आदर्श थे। डॉ. एम. एस. जैन ने ठीक ही लिखा है कि, "भारत सचिव मोंटेग्यू ने गांधीजी को हवा में रहने वाला शुद्ध दार्शनिक कहा था। लेकिन उसी दार्शनिक ने अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें हिला दी, समाज में मौलिक परिवर्तन कर दिया और देश की असहाय जनता को शक्ति प्रदान की।"

भारतीय संविधान का निर्माण

अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्त होने और स्वाधीनता के सूर्योदय के साथ ही भारत को दो गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा-प्रथम तो भारतीय राज्यों का एकीकरण और दूसरा, भारत के लिये नये संविधान का निर्माण। जब अंग्रेज भारत छोड़कर गये तो उन्होंने घोषणा करदी कि देशी रियासतें ब्रिटिश नियंत्रण से पूर्ण स्वतन्त्र हो जायेगी और उनकी इच्छा पर निर्भर होगा कि वे पाकिस्तान में मिले या हिन्दुस्तान में अथवा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखे। इस घोषणा के बाद अनेक भारतीय राजओं ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखने का स्वप्न देखना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने जाते जाते भारतीय समस्या का एक और पुछल्ला छोड़ गये। लेकिन भारतीय राज्यों के एकीकरण के लिये सरदार पटेल (तत्कालीन गृह मंत्री) के नेतृत्व में एक राज्य मंत्रालय (State Ministry) की स्थापना की गई। सरदार पटेल के अथक प्रयत्नों से सभी देशी रियासतें भारतीय संघ में मिलने, भारतीय संघ को कुछ विषय देने तथा संविधान को मानने के लिये तैयार हो गयी।

नये संविधान के निर्माण के सम्बंध में, मंत्रिमंडल मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के चुनाव हुए तथा 9 दिसम्बर 1946 को सर्वाधिक वरिष्ठ सदस्य सच्चिदानन्द सिन्हा के अस्थायी सभापतित्व में संविधान सभा का अधिवेशन आरम्भ हुआ। 11 दिसम्बर 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद इस संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष चुने गये। संविधान के निर्माण के लिये अनेक उप-समितियां बनाई गई और डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक प्रारूप समिति (Drafting Committee) नियुक्त की गई। संविधान का प्रारूप तैयार हो जाने के बाद इसे सामान्य जनता के विचार-विमर्श हेतु प्रकाशित किया गया तथा संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया। संविधान सभा में विचार करते समय दो हजार से अधिक संशोधनों पर विचार विमर्श हुआ। 26 नवम्बर 1949 को संविधान सभा ने नये संविधान को पारित कर दिया और 26 जनवरी 1950 को यह संविधान लागू कर दिया गया। इस संविधान की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(1) **लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना**—हमारे संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गई है। इसका अर्थ यह है कि अब भारत पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गया है और किसी भी वाह्य सत्ता के अधीन नहीं है। भारत में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना भी की गई है। प्रत्येक पांच वर्ष बाद आम चुनाव होते हैं, जिसमें 21 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मताधिकार दिया गया है। गणराज्य शब्द का प्रयोग केवल संविधान की प्रस्तावना में ही किया गया है और कहीं भी इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है। अतः गणराज्य का अर्थ केवल राज्य के अध्यक्ष के निर्वाचन तक ही सीमित है। इसका अर्थ यह है कि राज्य के अध्यक्ष का पद पैतृक या वंशानुगत नहीं होगा, वल्कि इसका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। हमारे देश का राष्ट्रपति संसद तथा राज्य की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा चुना जाता है।

(2) **संसदीय सरकार की स्थापना**—संविधान सभा ने वहुमत से यह निर्णय लिया था कि भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की जाय। इसका कारण यह था कि 1946 से पूर्व भारतीय नेता सदैव उत्तरदायी कार्यकारिणी की मांग करते रहे थे। इसीलिये भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की गई। संसदीय सरकार की यह विशेषता होती है कि इसमें निर्वाचित संसद सदस्यों में से मंत्रिमंडल का गठन किया जाता है, जिसके हाथ में समस्त कार्यपालिका शक्तियां होती है तथा गणराज्य के अध्यक्ष के पास नाम-मात्र की शक्तियां होती है। मंत्रिमंडल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। इसका अर्थ यह है कि लोक-सभा मंत्रिमंडल के विरुद्ध 'काम रोको प्रस्ताव' और 'निन्दा प्रस्ताव' पास कर सकती है और प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकती है। यद्यपि भारत के राष्ट्रपति को संसद को सन्देश

भेजने तथा विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने का अधिकार है, किन्तु अमेरीका की तरह भारत में अध्यक्षात्मक सरकार न होने के कारण राष्ट्रपति इनका प्रयोग संसद की इच्छा के विरुद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि राष्ट्रपति, जिसकी कार्य-पालिका शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमंडल करता है, संसद के प्रति उत्तरदायी होता है, जबकि अमेरीका का राष्ट्रपति अपनी शासन सम्बंधी कार्यवाहियों और नीतियों के लिये संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। संसदीय प्रणाली स्थापित करने का कारण डॉ. अम्बेडकर ने यह बताया था कि, "इसमें उत्तरदायित्वता तथा स्थिरता दोनों पाई जाती है।" जबकि अध्यक्षात्मक सरकार में केवल स्थिरता पाई जाती है, परन्तु उत्तरदायित्व नहीं पाया जाता।

(3) **मौलिक अधिकार तथा नीति निर्देशक तत्व**—ब्रिटिश प्रशासकों के निरंकुश शासन के कटु अनुभव के बाद संविधान निर्माताओं ने संविधान में मौलिक अधिकारों का समावेश करना आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये भी मौलिक अधिकारों की आवश्यकता होती है। इसलिये हमारे संविधान में मौलिक अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। संविधान के अनुसार नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता, धार्मिक, स्वतन्त्रता के अधिकार, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बंधी अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार दिये गये हैं और साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। श्रीनिवासन ने लिखा है, "पूर्ण वयस्क मताधिकार की स्थापना और साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति के कारण नए संविधान को प्रगतिशील कहा गया है। सत्य यह है कि ऊपर लिखी दोनों बातें ही नए संविधान की महान् और क्रान्तिकारी विशेषताएं हैं।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश के विकास और नये समाज की रचना के लिये संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। नीति निर्देशक तत्व सरकार के लिये एक प्रकार से आदर्श हिदायतें है, ताकि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके। नीति निर्देशक तत्वों व मौलिक अधिकारों में मुख्य अंतर यह है कि मौलिक अधिकारों को न्यायालय द्वारा लागू करवाया जा सकता है, लेकिन नीति निर्देशक तत्वों को न्यायालय द्वारा लागू नहीं करवाया जा सकता। हमारे संविधान में नीति निर्देशक तत्वों में लिखा है कि राज्य की आर्थिक व्यवस्था इस तरह चलाई जाय कि थोड़े से पूंजीपतियों के हाथ में धन केन्द्रित न हो। राज्य स्त्री व पुरुष को समान कार्य के लिये समान वेतन दिलवायेगा। राज्य 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिये मुफ्त शिक्षा का प्रबन्ध करेगा। किसी भी देश में आर्थिक व सामाजिक समानता, उस देश के प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं। अतः नीति निर्देशक तत्वों द्वारा हमारे देश में प्रजातन्त्र को सुरक्षित रखा गया है। ये एक प्रकार से राज्यों एवं संघ का उत्तरदायित्व है, और राज्यों और संघ से यह अपेक्षा की गई है कि वे इस उत्तरदायित्व को पूरा करेंगे।

(4) **संघात्मक सरकार की स्थापना**—संविधान में भारत को राज्यों का संघ (Union of States) कहा गया है। इस हेतु केन्द्र और राज्यों में शक्तियों का बंटवारा किया गया है। यदि सारी शक्तियां केन्द्र के पास हीं हों तो वहां फिर एकात्मक सरकार स्थापित हो जाती है। विषयों का बंटवारा करने के लिये तीन सूचियां बनाई गई-संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ-सूची में उल्लिखित विषयों पर केवल संसद कानून बना सकती है, राज्य-सूची पर प्रायः राज्य का विधान मण्डल कानून बना सकता है और समवर्ती सूची पर संसद तथा राज्य के विधान मंडल दोनों कानून बना सकते हैं। संघीय व्यवस्था में केन्द्र और राज्य दोनों ही संविधान को सर्वोच्च मानते हैं। संघीय व्यवस्था में एक सर्वोच्च न्यायालय होता है, जो केन्द्र तथा राज्यों के झगड़ों का निर्णय करता है और संविधान की व्याख्या करता है। संविधान में संशोधन के लिये साधारण प्रक्रिया के स्थान पर विशेष पद्धति अपनाई गई है। किन्तु केवल संघात्मक सरकार निर्बल होती है। अतः हमारे संविधान में संघीय प्रणाली को अपनाते हुए केन्द्र को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिये शक्तियों के बंटवारे में केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियां दी गई है। समवर्ती सूची पर केन्द्र और राज्य दोनों कानून बना सकते हैं, किन्तु दोनों के बनाये हुए कानूनों में कोई विरोध उत्पन्न हो जाय तो केन्द्रीय कानून ही माना जायेगा, राज्यों का कानून नहीं। प्रान्तों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है तथा राज्यपालों द्वारा केन्द्र का राज्यों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। राष्ट्रपति द्वारा संकटकालीन घोषणा करने पर, राष्ट्रपति राज्यों को किसी प्रकार का निर्देश दे सकता है। इस अवस्था में एक प्रकार से राज्यों की स्वायत्तता समाप्त की जा सकती है। संसद को राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने अथवा किसी पुराने राज्य को समाप्त कर नये राज्य बनाने का अधिकार दिया गया है। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के परामर्श से राष्ट्रपति किसी भी राज्य के विधान मंडल को भंग कर सकता है। इन सभी बातों से स्पष्ट होता है कि केन्द्र को काफी शक्तिशाली बनाया गया है लेकिन केन्द्र को शक्तिशाली बनाने से संघीय व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि राज्यों का कार्यक्षेत्र निर्धारित कर देने से राज्य अपने दायरे में पूर्ण स्वायत्त हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि भारत में संघात्मक सरकार ही है, परन्तु देश में एकता कायम करने के लिये ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुए अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(5) **धर्म निरपेक्ष राज्य**—हमारे स्वाधीनता संग्राम में भारतीय नेताओं ने धर्म पर आधारित राजनीति का विरोध किया था, जबकि जिन्ना और उसकी मुस्लिम लीग ने भारत के विभाजन का औचित्य मुसलमानों का धर्म बताया था। इसलिये संविधान निर्माताओं ने संविधान में धर्म को राजनीति से अलग कर दिया है। संविधान में भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाने का प्रयत्न किया है। धर्म निरपेक्ष का

अर्थ यह है कि भारत में कोई राज्य धर्म नहीं होगा। चूंकि भारत में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर हैं, इसलिये भारत में राज्य द्वारा किसी विशेष धर्म को मान्यता देना अच्छा नहीं समझा गया। प्रोफेसर लॉस्की का विचार बिल्कुल ठीक है कि यदि राज्य किसी विशेष धर्म को मान्यता दे देता है तो उसके अनुयायियों को किसी न किसी रूप में कोई विशेष अधिकार अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। अतः भारत में धार्मिक मामलों में राज्य तटस्थ रहेगा और किसी भी धर्म का पक्षपात नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के मानने, प्रचार करने अथवा धर्म परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता होगी। धार्मिक आधार पर सरकारी नौकरियों तथा किसी अन्य क्षेत्र में कोई भेदभाव का व्यवहार नहीं किया जायेगा। अल्पसंख्यकों को अपनी धार्मिक संस्थाएं चलाने का पूर्ण अधिकार होगा।

(6) **न्यायपालिका की सर्वोच्चता**—हमारे संविधान में न्यायपालिका की व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों की जांच कर सकती है तथा संविधान की किसी धारा के प्रतिकूल पाने पर उस कानून को अवैध करार दे सकती है। संविधान के अनुकूल कानूनों के तोड़ने वालों को दण्ड देती है और व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करती है। किसी भी कानून की वैधता अथवा अवैधता का निर्णय न्यायपालिका करती है और इसके निर्णय को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों को मानना पड़ता है। इसलिये संविधान में न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया गया है, इसके लिये न्यायाधीशों की योग्यताएं, नियुक्ति का ढंग तथा वेतन संविधान में निश्चित कर दिये गये हैं ताकि सरकार अथवा संसद सदस्य उनके वेतन में कटौती की धमकी देकर अथवा पदच्युति की धमकी देकर उन पर अनुचित दबाव न डाल सकें। न्यायपालिका के कार्यों में न तो कार्यपालिका हस्तक्षेप कर सकती है और न व्यवस्थापिका। अर्थात न्यायपालिका की स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त व्यवस्था के अतिरिक्त लोकतन्त्र को मजबूत रखने के लिये समय समय पर निष्पक्ष चुनाव कराने के लिये स्वतन्त्र चुनाव कमीशन की भी स्थापना की गई है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को भी सरकार के अधीन नहीं रखा गया है। उसे केवल संसद ही अपने विशेष बहुमत से हटा सकती है। संघीय लोक सेवा आयोग तथा राज्यों के लोक सेवा आयोग की भी व्यवस्था की गई है जो सरकारी नौकरियों के लिये निष्पक्ष रूप से योग्य व्यक्ति चुनते हैं। लोक सेवा आयोग के सदस्यों को नौकरी की सुरक्षा प्रदान की गई है ताकि वे निर्भीक एवं निष्पक्ष होकर अपना कार्य कर सके।

हमारा संविधान अनेक स्रोतों से तैयार किया गया है। संसदीय पद्धति इंगलैंड से ली गई, मौलिक अधिकारों और सर्वोच्च न्यायालय की कार्यपद्धति पर

अमेरीका का प्रभाव दिखाई देता है और नीति निर्देशक तत्व आयरलैण्ड के संविधान से लिये गये हैं। संघीय व्यवस्था अधिकांशतः केनेड़ा के ढंग पर स्थापित की गई है। संविधान में संशोधन की पद्धति तथा राज्य सभा की निर्वाचन पद्धति पर दक्षिणी अफ्रीका के संविधान का प्रभाव दिखाई देता है। राष्ट्रपति को आपातकालीन स्थिति में संविधान को स्थगित करने की जो शक्तियां दी गई है वे जर्मनी के वाइमर संविधान से मिलती जुलती है। इन सब विदेशी प्रभावों के अतिरिक्त हमारे संविधान में 1929 की नेहरू रिपोर्ट का भी सर्वाधिक प्रभाव दिखाई देता है। 1935 के अधिनियम ने भी हमारे संविधान को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन सभी का प्रभाव होते हुए भी हमारा संविधान ब्रिटेन की तरह न तो अत्यधिक लचीला है और न अमेरीका की तरह अत्यधिक कठोर।

अध्याय 18

भारत का संवैधानिक विकास

किसी भी देश के संविधान को भलीभांति समझने के लिये उसके विकास का इतिहास जानना आवश्यक है। भारत के संवैधानिक विकास का इतिहास ब्रिटिश शासन के इतिहास से जुड़ा हुआ है। 1858 के बाद भारत में जो संवैधानिक विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसके दूरगामी परिणाम हुए। 1858 के अधिनियम द्वारा भारत का प्रशासन ब्रिटिश ताज के अधीन कर दिया गया तथा भारतीयों के हृदय को पुनः जीतने के लिए महारानी विक्टोरिया की घोषणा प्रसारित की गई, जिसमें भारतीयों को यह आश्वासन दिया गया कि अब भारत का प्रशासन प्रजा के हितों को ध्यान में रखकर चलाया जायेगा। इस घोषणा का सर्वत्र स्वागत हुआ। किन्तु वास्तव में प्रशासन की दुकान वही रही, केवल दुकान का बोर्ड बदल दिया गया। फलस्वरूप भारतीयों में असंतोष उत्पन्न होने लगा और भारत में राष्ट्रवाद का उत्थान होने लगा। इसलिए 1858 से 1947 तक के संवैधानिक विकास का इतिहास ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद के बीच संघर्ष का परिणाम था। इसलिए भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि एक का अध्ययन दूसरे के बिना संभव नहीं है।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य एक संवैधानिक स्थिति प्राप्त करना था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाव से विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर भारत में संवैधानिक सुधार किये, जिसके फलस्वरूप भारत में संसदीय तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास हुआ। 1853 के चार्टर अधिनियम में यह व्यवस्था की गई थी कि सर्वोच्च विधान परिषद् सभी प्रान्तों के लिए कानून बनाये। कि परिषद् को प्रान्तों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान न होने से कानून ढंग से नहीं बन पाते थे। अतः प्रान्तों की परिषदों को वैधानिक शक्तियां देना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च विधान परिषद् एक छोटी संसद के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया था और अत्यधिक शक्तिशाली हो गयी थी। अतः इस विधान परिषद् की

शक्तियों को कम करना था। इसलिए 1861 का भारतीय कौंसिल अधिनियम पारित किया गया। 1885 से 1891 के बीच कांग्रेस वैधानिक सुधारों की मांग करती रही। अतः 1892 का भारतीय कौंसिल अधिनियम इस मांग का परिणाम था। उग्रवादी आन्दोलन के फलस्वरूप 1909 का मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम पारित किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के काल में राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हो गया और विवश होकर भारत सचिव मोन्टेग्यू को अपनी ऐतिहासिक घोषणा करनी पड़ी। इसके आधार पर 1919 का अधिनियम पारित किया गया। तत्पश्चात असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य पार्टी की गतिविधियां, साइमन कमीशन की नियुक्ति, सविनय अवज्ञा आन्दोलन और गोलमेज सम्मेलनों के फलस्वरूप 1935 का अधिनियम पारित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में भारतीयों की अत्यधिक जागरूकता तथा 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पारित हुआ। इस प्रकार हमारे संवैधानिक विकास पर राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

भारतीय कौंसिल्स अधिनियम, 1861

1853 के चार्टर अधिनियम में सभी प्रान्तों के लिए समान कानून बनाने के लिए सर्वोच्च विधान परिषद् स्थापित की गई थी। डलहौजी के शासन काल तक यह सर्वोच्च विधान परिषद् एक छोटी संसद के रूप में कार्य करना आरम्भ कर दिया था। इसके 6 ग़ैर सरकारी सदस्य विरोधी दल की भांति सरकार की आलोचना करने लगे थे। इतना ही नहीं, जिन कानूनों को पास करने के लिए ब्रिटिश सरकार सिफारिश करती थी, उन्हें पास करने से भी इन्कार कर देती थी। 1857–58 में लार्ड केनिंग को इससे अत्यधिक कठिनाई हुई। 1857 के विप्लव के बाद गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्य बार्टल फीरी ने इस बात पर बल दिया था कि कानून बनाने वाली परिषदों में भारतीयों को भी स्थान दिया जाय ताकि सरकार को भारतीयों की प्रतिक्रिया का पता लग सके। इसके अलावा 1858 में कम्पनी शासन की समाप्ति के बाद भारत के प्रशासनिक ढांचे में कुछ परिवर्तन करना भी आवश्यक हो गया था। अतः सर चार्ल्स वुड ने 6 जून, 1861 को इंगलैंड में भारतीय कौंसिल्स विधेयक प्रस्तुत किया, जिसे पारित कर दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थी—

(1) गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक सदस्य बढ़ाकर सदस्यों की संख्या पांच कर दी गई। इस अतिरिक्त सदस्य के लिये वित्त सम्बन्धी ज्ञान आवश्यक था। प्रधान सेनापति को पहले की भांति कौंसिल का विशिष्ट सदस्य बनाये रखा गया।

(2) गवर्नर जनरल को अपनी कौंसिल के सदस्यों में कार्य का वितरण करने का अधिकार दिया गया। सप्ताह में एक बार कौंसिल का प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक विभाग का सचिव गवर्नर जनरल से अलग-अलग भेंट करते थे। महत्वपूर्ण अथवा सामान्य हित के मामले गवर्नर जनरल के सामने रखे जाते थे। मतभेद उत्पन्न हो

जाने पर वह मामला कौंसिल के समक्ष रखा जाता था, जहां निर्णय बहुमत के आधार पर होता था। किन्तु अंतिम स्वीकृति गवर्नर के हाथ में रखी गई। गवर्नर जनरल अपनी कौंसिल के कार्य संचालन के लिये नियम व उप-नियम बना सकता था।

(3) जिस समय गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी किसी बिल को पास करने हेतु बैठती थी, उस समय कुछ अतिरिक्त सदस्य भी उस बैठक में सम्मिलित होने की व्यवस्था की गई। ये अतिरिक्त सदस्य केवल बिल पर विचार करने के समय ही कौंसिल की बैठक में शामिल हो सकते थे। ऐसी बैठक जिसमें अतिरिक्त सदस्यों को बिल पर विचार करने के लिये आमंत्रित किया गया हो, विधान परिषद् कहते थे। गवर्नर जनरल को अधिकार दिया गया कि विधान परिषद् में कम से कम छः तथा अधिक से अधिक 12 सदस्य मनोनीत कर सकता था, जिसमें आधे सदस्य गैर सरकारी होंगे और उनका कार्यकाल 2 वर्ष होगा। इन अतिरिक्त सदस्यों को पुनः मनोनीत किया जा सकता था।

(4) विधान परिषद् द्वारा पारित विधेयक पर अन्तिम स्वीकृति गवर्नर जनरल से लेनी पड़ती थी और तत्पश्चात वह अधिनियम भारत के समस्त ब्रिटिश क्षेत्रों में लागू होता था। गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत अधिनियमों को भारत सचिव रद्द कर सकता था।

(5) बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों को अपनी कौंसिल में, कानून बनाने के लिये एक महाधिवक्ता तथा कम से कम चार और अधिक से अधिक 8 अतिरिक्त सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। इन अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल भी 2 वर्ष निर्धारित किया गया। प्रान्तीय विधान परिषद् का कार्यक्षेत्र प्रान्तीय विषयों तक सीमित रखा गया और बहुत से विषयों पर कानून बनाने के लिये केन्द्र से अनुमति लेनी पड़ती थी। प्रान्तीय विधान परिषदों द्वारा बनाये गये कानूनों पर अन्तिम स्वीकृति गवर्नर जनरल से ली जाती थी।

(6) आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया। ये अध्यादेश छः महिने तक जारी रह सकते थे। किन्तु छः महीने से पहले भी भारत सचिव तथा उसकी कौंसिल और गवर्नर जनरल की विधान परिषद् उसे रद्द कर सकती थी।

अधिनियम की समीक्षा—1853 के चार्टर एक्ट में जो केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त अपनाया गया था, उसके स्थान पर अब विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। प्रान्तों को पुनः कानून बनाने के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्रता दे दी गई। गुरुमुख निहालसिंह ने इस अधिनियम का महत्व बताते हुए लिखा है, "इसके द्वारा गवर्नर जनरल को कानून बनाने के कार्य में भारतीयों को साथ लेने का अधिकार दिया

गया। दूसरा, बम्बई तथा मद्रास की विधान परिषदों को पुनः कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया और अन्य प्रान्तों के लिए भी ऐसी ही व्यवस्था की गई। इस तरह उस नीति का प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण 1937 में, 1935 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों को आन्तरिक मामलों में स्वराज्य दे दिया गया।" यद्यपि आरम्भ में अतिरिक्त सदस्यों के अन्तर्गत कुछ ऐसे सामन्तों को नियुक्त किया गया जो साधारण भारतीय जनता की भावनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ थे, किन्तु बाद में ऐसे सदस्यों की नियुक्तियां कम होती गई।

इस अधिनियम का उद्देश्य भारतीय जनता को विधान परिषदों में वास्तविक प्रतिनिधित्व देना नहीं था, बल्कि विधान परिषद् की शक्तियों को कम करना था। अतः इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी की निरंकुशता बढ़ाई गई। क्योंकि गैर सरकारी सदस्य गवर्नर जनरल अथवा उसकी कार्यकारिणी के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते थे। भारतीय प्रशासन पर भारत सचिव का नियंत्रण भी ज्यौं का त्यौं बनाये रखा गया। कृपाराम बम्बवाल के अनुसार, "इस अधिनियम की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि विधान परिषदें, कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रखती थी। उन पर इतने प्रतिबन्ध लगे हुए थे कि उनका सारा महत्व दिखावटी मालुम पड़ता था।" संक्षेप में भारत में ब्रिटिश नौकरशाही ज्यौं की त्यौं कार्य करती रही तथा गैर सरकारी सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना का भी विकास नहीं होने दिया गया।

भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892

19 वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों, पाश्चात्य शिक्षा, भारत के आर्थिक शोषण और ब्रिटिश सरकार की प्रजातीय विभेद की नीति ने भारत में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत कर दिया। फलस्वरूप 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस ने 1861 के सुधारों को अपर्याप्त बताया और विधान परिषदों के विस्तार की मांग की। विधान परिषदों में अधिकतर सदस्य सरकारी अधिकारी होते थे, अतः कांग्रेस ने इनमें अधिक निर्वाचित सदस्यों की मांग की। कांग्रेस ने यह भी मांग की कि विधान परिषद् के सदस्यों को गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने और बजट पर बहस करने का भी अधिकार दिया जाय। लार्ड डफरिन को कांग्रेस की इन मांगों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, लेकिन वह प्रतिष्ठित सामन्तों के स्थान पर पाश्चात्य विचारों से प्रभावित भारतीयों को विधान परिषद् में स्थान देना चाहता था। अतः लार्ड डफरिन ने सर जार्ज चेनी की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसे भारत में किये जाने वाले सुधारों के बारे में सुझाव देने को कहा गया। इस समिति ने विधान कौंसिल को एक छोटी संसद के रूप में विकसित करने का सुझाव दिया, किन्तु यह समिति संसदीय सरकार स्थापित करने के पक्ष में नहीं थी। इधर कांग्रेस ने भी विधान परिषद् के ढांचे में सुधार करने हेतु प्रतिवर्ष प्रस्ताव

पास कर सरकार का इस ओर ध्यान आकर्षित करती रही। प्रमुख समाचार पत्रों ने भी अधिक भारतीयों की नियुक्ति तथा कौंसिल के अधिकारों में वृद्धि करने की समस्या की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया। अतः लार्ड डफरिन ने चेनी समिति की रिपोर्ट के आधार पर गृह सरकार को अपने सुझाव भेजे। ब्रिटिश सरकार ने इन सुझावों के आधार पर 1892 में भारतीय परिषद अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम की मुख्यधाराएं निम्नलिखित थीं—

(1) गवर्नर जनरल की विधान परिषद में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। अब कम से कम 10 तथा अधिक से अधिक 16 सदस्य मनोनीत किये जा सकते थे। मद्रास तथा बम्बई की विधान परिषदों में कम से कम 8 तथा अधिक से अधिक 20 अतिरिक्त सदस्य मनोनीत किये जा सकते थे। बंगाल कौंसिल में 20 तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त में 15 अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किये जायेंगे।

(2) इस प्रकार नियुक्त किये जाने वाले अतिरिक्त सदस्यों में 2/5 सदस्य गैर सरकारी होंगे। इन सदस्यों की नियुक्ति के लिये ऐसी प्रणाली अपनाई गई जो निर्वाचित और मनोनीत के मध्य की प्रणाली थी, जिसमें प्रतिनिधित्व का कुछ अंश सम्मिलित था। किन्तु इस सम्बन्ध में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई। गवर्नर जनरल को सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार दिया गया, किन्तु उसके लिये भारत सचिव की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

(3) विधान परिषद के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने तथा बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया। किन्तु पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया, प्रश्न के उत्तर पर बहस करने का अधिकार नहीं दिया गया तथा विधान परिषद के अध्यक्ष को यह अधिकार दिया गया कि वह बिना कारण बताये किसी प्रश्न के पूछने की अनुमति न दे।

अधिनियम की समीक्षा—इस अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि विधान परिषद के सदस्यों को कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि इस अधिनियम ने भारत में संसदीय प्रणाली की नींव डाली। यद्यपि इस अधिनियम में 'निर्वाचन' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया था, किन्तु परोक्ष निर्वाचन की प्रथा का प्रारम्भ इसी अधिनियम से हुआ।

यद्यपि 1892 का भारतीय परिषद अधिनियम कांग्रेस के धैर्यपूर्ण आन्दोलन का परिणाम था, लेकिन इस अधिनियम से असंतोष और अधिक बढ़ा, क्योंकि भारतीयों को प्रशासन में सक्रिय भाग लेने का अवसर नहीं मिला। कार्यकारिणी अपनी नीतियों के लिये विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। विधान परिषद के सदस्यों को सरकारी नीति के विरुद्ध मत व्यक्त करने का अधिकार नहीं था। सदस्यों

को प्रश्न पूछने का तो अधिकार दिया गया किन्तु पूरक प्रश्न पूछने या सरकारी उत्तर पर बहस करने का अधिकार नहीं था। विधान परिषद का अध्यक्ष किसी प्रश्न के पूछे जाने से इन्कार कर सकता था और अध्यक्ष के इस निर्णय के विरुद्ध कोई नहीं बोल सकता था। यद्यपि बजट पर बहस की जा सकती थी, किन्तु बजट के किसी मद पर न तो कोई प्रस्ताव पेश किया जा सकता था और न मतदान होता था। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अपनी नीति में परिवर्तन करके जागरुक भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी।

मार्ले-मिण्टो सुधार
(1909 का सुधार अधिनियम)

1892 से 1909 के मध्य का समय तूफान तथा दबाव का समय था। 1892 के अधिनियम से भारतीयों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। लार्ड कर्जन की नीतियों से देश में व्यापक असंतोष उत्पन्न हो गया तथा कांग्रेस क्रान्तिकारी विचारों से परिप्लावित होने लगी। 1905 के बंगाल विभाजन ने देश में बढ़ते हुए असंतोष में आहुति का कार्य किया। इसी समय अबीसीनिया ने इटली और जापान ने रूस को पराजित किया। इससे भारतीयों में एक नई चेतना का संचार हुआ और बंग-भंग आन्दोलन ने क्रान्तिकारी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, जिसको सरकार ने अपनी पूर्ण शक्ति से दमन करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप देश में आतंकवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। दुर्भाग्यवश राष्ट्रीय कांग्रेस में फूट पड़ गई और उसमें उदार तथा उग्र विचारधारा वाले दो दल बन गये। सूरत अधिवेशन (1907 ई०) में उदार दल ने उग्र दल को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया। इस फूट का लाभ उठाकर सरकार ने उग्रवादियों को कुचलने तथा उदारवादियों की पीठ थपथपाने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

इस समय ब्रिटिश नीति में भी परिवर्तन आया। 1857 के बाद अंग्रेज प्रशासकों की नीति हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी। किन्तु अब गवर्नर जनरल मिण्टो राष्ट्रवाद के वेग को रोकने के लिये हिन्दू मुसलमानों में फूट पैदा करना चाहता था। मिण्टो के निजी सचिव ने मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व देने की मांग करने हेतु उकसाया। गवर्नर जनरल ने मुसलमानों की मांग के प्रति सहानुभूति प्रकट की। गवर्नर जनरल से प्रोत्साहित होकर मुसलमानों ने 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना करली। भारत सचिव मार्ले ने लार्ड मिण्टो को कुछ संवैधानिक सुधार करने की सलाह दी। अतः मिण्टो ने भारत में सुधार करने की एक योजना मार्ले के पास भेजी। यह योजना एक विधेयक के रूप में ब्रिटिश संसद में पेश की गई। ब्रिटिश संसद ने इस विधेयक को 1909 में पास कर दिया। 1909 में पास किये गये भारतीय परिषद अधिनियम को मार्ले–मिण्टो सुधार कहते हैं। इस अधिनियम की मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं—

(1) विधान परिषद के सदस्यों की कुल संख्या 69 निश्चित की गई, जिनमें 9 पदेन (कार्यकारिणी के सदस्य) तथा 60 अतिरिक्त सदस्य रखे गये। अतिरिक्त सदस्यों में से 28 सरकारी सदस्यों को गवर्नर जनरल मनोनीत करेगा। 32 गैर सरकारी सदस्यों में से 27 निर्वाचित तथा 5 मनोनीत सदस्य होंगे। 27 निर्वाचित सदस्यों में से 5 मुसलमानों द्वारा, 6 हिन्दू जमींदारों द्वारा, एक-एक मुस्लिम जमींदारों, बंगाल चेम्बर ऑफ कॉमर्स तथा बम्बई चेम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा चुने जाने थे। शेष 13 सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय विधान परिषदों द्वारा किया जाना था। अतिरिक्त सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष निर्धारित किया गया।

(2) बम्बई, मद्रास, बंगाल और उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय परिषदों में भी अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर 50 कर दी गई जिसमें गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत होता था। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वहां निर्वाचित सदस्यों का बहुमत कर दिया गया। कुछ गैर सरकारी लोगों को प्रान्तों के गवर्नर मनोनीत करते थे, जो सदैव गवर्नर के प्रति वफादार रहते थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष में तो गैर सरकारी सदस्यों के बहुमत की व्यवस्था की गई लेकिन परोक्ष में सरकार का ही बहुमत रखा गया। छोटे प्रान्तों के लिये अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 30 कर दी गई।

(3) विधान परिषदों के कार्यों और अधिकारों में वृद्धि की गई। उस सदस्य को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया जिसने मूल प्रश्न पूछा हो। स्पष्ट है कि दूसरे सदस्य को पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं दिया गया। बजट पर बहस करने और प्रस्ताव पेश करने का अधिकार दिया गया, किन्तु बजट के कुछ विशेष मदों पर चर्चा करने का अधिकार नहीं दिया गया और न बजट पर मतदान ही करवाया जा सकता था। विधान परिषद का अध्यक्ष सार्वजनिक हित का बहाना लेकर किसी भी प्रस्ताव के रखने की अस्वीकृति दे सकता था। प्रस्ताव प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में कहा गया कि, "वे स्पष्ट तथा निश्चित होने चाहिये, उनमें दलील, अनुमान तथा आक्षेप की चर्चा नहीं होनी चाहिये।"

(4) भारत सचिव को अधिकार दिया गया कि वह मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणी परिषद में दो से चार तक सदस्य संख्या बढ़ा सके और उनमें से कम से कम आधे सदस्य ऐसे हों जो 12 वर्ष तक सम्राट की सेवा में भारत में रह चुके हों। इस अधिनियम के स्वीकृत होते ही दो भारतीयों को भारत सचिव की कौंसिल में तथा एक भारतीय को गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में मनोनीत किया गया।

अधिनियम की समीक्षा—यह अधिनियम निश्चित रूप से 1892 के अधिनियम से बहुत आगे था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक भारतीय को

स्थान दिया गया और दो भारतीयों को भारत सचिव की कौंसिल में स्थान दिया गया। विधान परिषदों का विस्तार करके इसके कार्यो और अधिकारों में वृद्धि की गई। इस अधिनियम द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सिद्धान्त पहली बार स्वीकार किया गया। विधान परिषद के सदस्यों को सार्वजनिक हित के मामलों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने का अधिकार दिया गया। भारतीयों को सरकार की आलोचना करने तथा सुझाव देने का अधिकार प्राप्त हुआ। किन्तु सरकार पर भारतीयों का कोई नियन्त्रण नहीं था। रैम्जे मेकडोनल्ड ने लिखा है कि, "मार्ले-मिण्टो सुधार जनतन्त्रवाद और नौकरशाही के बीच एक अधूरा और अल्पकालीन समझौता था।"

वस्तुत: मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम का मुख्य उद्देश्य उदारवादियों की पीठ थपथपाना था। यदि किसी वजह से उदारवादी भी अंग्रेजों का साथ न दे सके तो मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व देकर उनकी पीठ भी थपथपायी गई। भारतीयों ने उत्तरदायी सरकार की मांग की थी, लेकिन इस अधिनियम द्वारा उनकी इस मांग को पूरा नहीं किया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य भारत में संसदीय सरकार स्थापित करना नहीं था, जैसा कि स्वयं मार्ले ने ब्रिटिश संसद में कहा था, "यदि इन सुधारों के विषय में यह कहा जाय कि इनसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारत में संसदीय सरकार की स्थापना होती है तो मेरा ऐसे कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।" इन सुधारों से कार्यकारिणी और विधान परिषद के सम्बन्धों पर भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि कार्यकारिणी पूर्व की भांति स्वेच्छाचारी बनी रही। विधान परिषद में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाने का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि कुछ सरकारी अधिकारी और कुछ मनोनीत किये हुए और गैर सरकारी अधिकारियों द्वारा सरकार का बहुमत बना रहता था। विधान परिषदें सरकार के हाथ की कठपुतली बनी रही। विधान परिषद के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की गई, किन्तु उन पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा कर उन अधिकारों को सीमित कर दिया गया। सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार था, किन्तु कार्यकारिणी द्वारा उसका उत्तर देना अनिवार्य नहीं था। सदस्यों को सार्वजनिक हित के प्रस्ताव पेश करने का अधिकार था, किन्तु विधान परिषद का अध्यक्ष ऐसे प्रस्ताव को प्रस्तुत करने की मनाही कर सकता था। इस अधिनियम को लागू करने के लिये जो विनियम (Regulations) बनाये गये, उनमें उग्रवादी राष्ट्रीय नेताओं को चुनाव लड़ने के लिये अयोग्य घोषित कर दिया गया। इस अधिनियम पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए 'अमृत बाजार पत्रिका' ने 17 नवम्बर 1909 को लिखा, "शून्य के साथ यदि कई शून्य जोड़ भी दिये जाय तब भी वह शून्य, शून्य ही रहता है।" कूपलैण्ड ने लिखा है कि, "विधान परिषद् संसदें न होकर केवल दरबार थी।"

इस अधिनियम ने भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता के विपैले तत्वों का ऐसा वीजारोपण किया, जो 1947 में देश विभाजन के रूप में पल्लवित हुआ। निर्वाचन क्षेत्रों को क्षेत्रीयता के स्थान पर धार्मिक, व्यवसायिक तथा सम्पत्ति के आधार पर विभाजित किया गया। इस प्रकार निर्वाचन प्रणाली द्वारा विभिन्न हितों एवं सम्प्रदायों में परस्पर फूट उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व देकर उनमें हिन्दुओं से अलग होने की प्रवृति उत्पन्न कर दी। यह विपैला पौधा यहीं समाप्त नहीं हुआ वल्कि अंग्रेज प्रशासकों ने समय-समय पर इसको सींचकर पल्लवित होने में सहयोग दिया और अन्त में इसी साम्प्रदायिक खड्ग द्वारा भारत के दो टुकड़े कर दिये।

यह अधिनियम भारतीयों को संतुष्ट करने में असमर्थ रहा। स्वयं गोखले ने, जो उदारवादी नेता थे, कहा कि इन सुधारों में अच्छी वातें अवश्य थी, किन्तु सरकारी नियमों व उपनियमों द्वारा उन्हें नष्ट कर दिया गया है। उन्होंने साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली की घोर निन्दा की। डॉ० ज़करिया ने लिखा है कि इन सुधारों ने लोगों को मूलभूत तत्व देने की वजाय उसकी छाया प्रदान की थी। इसी प्रकार डॉ० मजूमदार ने इसे चन्द्रमा की चमक की संज्ञा दी है। यद्यपि इस अधिनियम द्वारा उदार दल को शान्त करने का प्रयास किया गया था, किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति में भी यह पूर्णतः असफल रहा।

मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार
(भारत सरकार अधिनियम, 1919)

1909 के सुधारों से भारतीयों की क्षुधा शान्त नहीं हो सकी। भारत में राजनैतिक असन्तोष दिन प्रतिदिन वढ़ता गया, जिसके फलस्वरूप देश में क्रान्तिकारी और आतंकवादी आन्दोलन तीव्र हो गये और शासन सुधार की मांग तेज हो गयी। सरकार की दमन नीति ने आग में घी का काम किया। 1910 में भारतीय प्रेस एक्ट पारित करके समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता को कुचल दिया गया। 1911 में राजद्रोह सभा अधिनियम पास करके सरकार के विरुद्ध सभाएँ करने पर रोक लगा दी। राष्ट्रवादी आन्दोलनों का दमन करने के लिये 1913 में फौजदारी संशोधन अधिनियम पारित किया गया। किन्तु इस दमन नीति के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन और अधिक तीव्र हो गया। इस असंतोषपूर्ण वातावरण में प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। मित्र राष्ट्रों ने घोपणा की कि वे जनतन्त्र की रक्षार्थ युद्ध लड़ रहे थे। अतः भारतीयों ने तन, मन और धन से अंग्रेज सरकार को सहायता दी, क्योंकि उन्हें युद्ध के वाद स्वराज्य प्राप्ति की आशा थी। किन्तु युद्ध के वाद ब्रिटिश सरकार ने चुप्पी साध ली। अतः भारतीयों को विवश होकर होमरूल आन्दोलन आरम्भ करना पड़ा। यद्यपि इस अन्दोलन को दवाने का प्रयास किया गया, लेकिन लोगों में उत्पन्न जागृति को नहीं दवाया जा सका। अतः विवश होकर भारत मंत्री

मॉण्टेग्यू ने 20 अगस्त 1917 को ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना सरकार का चरम लक्ष्य है। इसकी क्रमिक पूर्ति के लिये यह संकेत किया गया कि स्वायत्त शासन की संस्थाओं का उत्तरोत्तर विकास किया जाय और भारतीयों को प्रशासन की प्रत्येक शाखा में साझीदार बनाया जाय ।

इस घोषणा के बाद मॉन्टेग्यू नवम्बर 1917 को दिल्ली आया तथा गवर्नर जनरल चेम्सफोर्ड के साथ देश का दौरा किया। मॉण्टेग्यू ने भारतीय नेताओं से भी विचार विमर्श किया। तत्पश्चात एक रिपोर्ट तैयार की गई जिसे मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट कहते हैं। 8 जुलाई 1918 को यह रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। इस रिपोर्ट में मुख्य पांच बातें दी गईं—

(1) जहां तक सम्भव हो, स्थानीय संस्थाओं पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का नियन्त्रण हो, सरकार का कम से कम नियंत्रण हो।

(2) प्रान्तों में थोड़ी सी उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी जाय और प्रान्तों को पहले की अपेक्षा अधिक शक्तियां दी जाय।

(3) भारत सरकार की ब्रिटिश संसद के प्रति जिम्मेदारी ज्यों की त्यों बनी रहेगी, किन्तु केन्द्रीय विधान परिषद का विस्तार कर दिया जाय ताकि यह भारत सरकार को पहले से अधिक प्रभावित कर सके।

(4) भारत सरकार पर, भारत सचिव का नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया जाय।

(5) सिक्ख, ईसाई और एंग्लो-इण्डियन्स को भी अलग प्रतिनिधित्व दिया जाय।

इस रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसे 1919 में पारित कर दिया गया। इसे भारत सरकार अधिनियम, 1919 अथवा मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम कहते हैं। इस अधिनियम को 1921 में कार्यान्वित किया गया। इसके द्वारा मुख्य रूप से निम्नलिखित परिवर्तन किये गये—

(क) गृह सरकार

भारत सचिव—शासन का दो भागों में विभाजन भारत में ब्रिटिश शासन प्रणाली की मुख्य विशेषता थी। इसका एक भाग इंगलैण्ड में कार्य करता था और दूसरा भारत में। शासन का जो भाग इंगलैण्ड में कार्य करता था वह गृह सरकार कहलाता था। इसके मुख्य पांच अंग थे—सम्राट, मंत्रीमण्डल, संसद, भारत सचिव और इंडिया कौंसिल। इनमें भारत सचिव व इंडिया कौंसिल सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। भारत सचिव भारत के शासन सम्बंधी मामलों के लिये ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। 1919 के अधिनियम के पूर्व भारत सचिव को वेतन भारतीय राजस्व में से मिलता था, जिसके विरुद्ध भारतीयों ने आवाज

उठाई थी। अतः 1919 के अधिनियम द्वारा भारत सचिव का वेतन इंगलैण्ड के कोष से दिये जाने की व्यवस्था की गई।

इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई तथा केन्द्र की व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया। अतः भारत सचिव की शक्तियों में कमी करना आवश्यक था। प्रान्तों में जो विषय भारतीय मन्त्रियों को दिये गये उन्हें हस्तांतरित विषय कहा गया तथा जो विषय गवर्नर ने अपने पास रखे उन्हें रक्षित विषय कहा गया। भारत सचिव का हस्तांतरित विषयों पर नियंत्रण कम कर दिया गया। हस्तांतरित विषयों में भारत सचिव का हस्तक्षेप निम्नलिखित बातों तक सीमित कर दिया गया—

(1) ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा।

(2) ऐसे प्रश्नों का निर्णय करना, जो प्रान्तों द्वारा न सुलझ सके हों।

(3) गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद को 1919 के अधिनियम के अधीन जो कार्य सौंपे गये हैं, उनकी देखभाल करना तथा उनके उचित कार्यों का समर्थन करना। केन्द्रीय विषयों के शासनों की देखभाल करना।

(4) भारतीय हाई कमिश्नर, भारतीय नौकरियों और अपने ऋण लेने के अधिकारों की रक्षा करना।

केन्द्र तथा प्रान्तों के रक्षित विषयों पर भी भारत सचिव का नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इस अधिनियम के पूर्व जो भी विधेयक केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान सभाओं में प्रस्तुत किये जाते थे, उनमें भारत सचिव की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि कुछ विशेष मामलों से सम्बंधित विधेयक जैसे विदेशी मामले, सीमा शुल्क, सैनिक मामले, नोट (Currency) तथा सार्वजनिक ऋण इत्यादि को छोड़कर शेष विषयों में भारत सचिव की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होगी। प्रान्तों के मामलों के सम्बन्ध में यह निश्चित कर दिया कि किसी भी बिल को भारत सचिव के पास तब तक नहीं भेजा जायेगा, जब तक कि गवर्नर जनरल उनकी स्वीकृति के बारे में कोई रुकावट उत्पन्न न करे।

इण्डिया कौंसिल—इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत सचिव, अवर सचिव (Under Secretary) तथा उसके विभाग के सभी खर्चे भारतीय कोष से देने की बजाय इंगलैण्ड के खजाने से देने की व्यवस्था की गई। यह भी व्यवस्था की गई कि इण्डिया कौंसिल में कम से कम 8 तथा अधिक से अधिक 12 सदस्य होंगे जिनमें आधे सदस्य ऐसे होंगे जिन्हें भारत में सेवा करने का कम से कम दस वर्ष का अनुभव हो। इण्डिया कौंसिल के सदस्यों का कार्यलय 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया तथा उनका वेतन 1,000 पौंड से बढ़ाकर 1,200 पौंड वार्षिक कर दिया।

हाई कमिश्नर—इस अधिनियम के अन्तर्गत पहली बार हाई कमिश्नर के पद का सृजन किया गया। इससे पूर्व भारत सरकार के लिये स्टोरों की सभी आवश्यक वस्तुएं और मशीनें भारत सचिव लंदन में खरीदा करता था। इस अधिनियम में यह तय किया गया कि भारत सचिव की बजाय हाई कमिश्नर भारत सरकार की सभी आवश्यक वस्तुएं लंदन में खरीदेगा। इसके अतिरिक्त वह इंगलैण्ड में पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थियों की सुविधाओं और आवश्यकताओं की तरफ ध्यान देगा। हाई कमिश्नर की नियुक्ति सपरिषद् गवर्नर जनरल करता था और उसका वेतन भी भारतीय कोष से दिया जाता था। साधारणतः वह छः वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता था। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि इंगलैण्ड में भारत का प्रतिनिधित्व हाई कमिश्नर द्वारा करवाने से भारतीय अनुभव करेंगे कि उनका सम्मान बढ़ गया है। किन्तु भारतीयों ने इसकी नियुक्ति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया।

उपर्युक्त परिवर्तनों का गृह सरकार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि इस अधिनियम के बाद भी गृह सरकार की वैधानिक सर्वोच्चता ज्यों की त्यों बनी रही। गर्वनर जनरल और उसकी सरकार के सभी सदस्यों को गृह सरकार का आदेश मानना पड़ता था।

(ख) केन्द्रीय सरकार

गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी—इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् की रचना और शक्तियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया गया। गवर्नर जनरल की शक्तियां पहले की भांति असीमित, निरंकुश और अनुत्तरदायी रही। यद्यपि वह अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी कार्यकारिणी परिषद् से मिलकर करता था, लेकिन कार्यकारिणी परिषद् पर गवर्नर जनरल का विशेष प्रभाव था। गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारिणी परिषद् का प्रधान होता था तथा कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति उसकी सिफारिश पर भारत सचिव करता था। गवर्नर जनरल ही अपनी कार्यकारिणी के सदस्यों में कार्य का विभाजन करता था और चाहे जहां कार्यकारिणी परिषद् की बैठक बुला सकता था। गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारिणी के परामर्श की अवहेलना भी कर सकता था। वह भारत में ब्रिटिश सम्राट का प्रतिनिधि होता था। उसकी नियुक्ति ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की सिफारिश पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा पांच वर्ष के लिए की जाती थी। 1919 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल का विदेश विभाग और राजनैतिक विभाग पर सीधा नियन्त्रण स्थापित किया गया। इस अधिनियम द्वारा कानून सदस्य की योग्यता में कुछ परिवर्तन किया गया। अब उसी व्यक्ति को कानून सदस्य नियुक्त किया जा सकता था जो भारत के उच्च न्यायालयों में कम से कम दस वर्ष एडवोकेट रहा हो। इस अधिनियम में यह भी कहा गया कि कार्यकारिणी में तीन ऐसे सदस्य

होने चाहिये, जिन्होंने ब्रिटिश ताज के अधीन कम से कम दस वर्ष सेवा की हो। इसके परिणामस्वरूप कार्यकारिणी में तीन भारतीय सदस्यों की नियुक्ति की गई, लेकिन इन भारतीयों के हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नहीं थी। कार्यकारिणी, विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी न होकर गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी थी। गवर्नर जनरल भी केन्द्रीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी न होकर भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी था और भारत सचिव ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था।

केन्द्रीय विधान मण्डल—एस अधिनियम द्वारा पहली वार द्विसदनात्मक विधान मण्डल की स्थापना की गई। पहले सदन को विधान सभा और दूसरे सदन को राज्य सभा कहा जाता था। विधान सभा में 145 सदस्य थे जिनमें 104 निर्वाचित तथा 41 मनोनीत होते थे। 104 निर्वाचित सदस्यों में से 52 सदस्य सामान्य निर्वाचित क्षेत्रों से, 30 मुस्लिम, 2 सिक्ख, 9 यूरोपियन, 7 जमींदार तथा 4 भारतीय वाणिज्य के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। 41 मनोनीत सदस्यों में 26 सरकारी अधिकारी और 15 गैर सरकारी अधिकारी होते थे। राज्य सभा के 60 सदस्यों में 33 निर्वाचित और 27 मनोनीत सदस्य होते थे। 33 निर्वाचित सदस्य विभिन्न सम्प्रदायों और हितों में बंटे हुए थे और 27 मनोनीत सदस्यों में 17 सरकारी अधिकारी और 10 गैर सरकारी सदस्य होते थे।

विधान सभा तीन वर्ष के लिए तथा राज्य सभा पांच वर्ष के लिए निर्वाचित होती थी। किन्तु गवर्नर जनरल इन सदस्यों का कार्यकाल बढ़ा सकता था और कार्य-काल समाप्त होने से पूर्व उन्हें भंग भी कर सकता था।

विधान मण्डल का कार्य क्षेत्र—विधान सभा केन्द्रीय सूची में उल्लिखित सभी विषयों पर ब्रिटिश भारत की जनता के लिये कानून बना सकती थी तथा गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति से यह प्रान्तों के लिये भी कानून बना सकती थी। किन्तु यह 1919 के अधिनियम में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी तथा ऐसा कोई कानून नहीं बना सकती थी जो ब्रिटिश संसद के किसी कानून के विरुद्ध हो। केन्द्रीय बजट सबसे पहले विधान सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता था और इसके बाद राज्य सरकार में भेजा जाता था। किन्तु बजट का लगभग 85 प्रतिशत भाग ऐसा था जिस पर विधान सभा बहस तो कर सकती थी लेकिन मतदान नहीं कर सकती थी। शेष 15 प्रतिशत भाग के बारे में विधान सभा किसी खर्च के लिए इन्कार कर सकती थी अथवा कोई कटौती कर सकती थी, किन्तु यह किसी रकम को बढ़ा नहीं सकती थी।

कोई भी बिल जब तक दोनों सदनों द्वारा पारित नहीं हो जाता था, कानून नहीं बन सकता था। बजट, राज्य सभा में उसी दिन पेश किया जाता था, जिस दिन विधान सभा में। अन्य वित्त विधेयक पहले विधान सभा में पेश किये जाते थे। वित्त विधेयक को राज्य सभा या तो बिल्कुल अस्वीकार कर सकती थी अथवा कुछ संशोधन के लिए सुझाव दे सकती थी। लेकिन राज्य

सभा की अस्वीकृति या संशोधनों के सुझावों से विधान सभा सहमत न हो तो गवर्नर जनरल अपनी विशेष शक्तियों द्वारा उसे स्वीकार कर सकता था।

केन्द्रीय विधान मण्डल का ढांचा अत्यन्त ही दोषपूर्ण था। गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। विधान मंडल, गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करके उन्हें त्याग पत्र देने को बाध्य नहीं कर सकती थी। यह केवल सार्वजनिक हितों के मामलों में प्रस्ताव पास कर सकती थी, लेकिन इन प्रस्तावों को मानना या न मानना गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था। अतः विधान मंडल के पास प्रभुत्व शक्ति का अभाव था। यह केवल कार्यकारिणी को प्रभावित कर सकता था। गवर्नर जनरल के पास इतनी शक्तियां थी कि वह विधान मंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को अस्वीकृत कर सकता था, वह किसी प्रस्ताव पर बहस रोक सकता था और अपनी इच्छानुसार किसी विधेयक में संशोधन कर सकता था। आपातकाल में वह अध्यादेश प्रसारित कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल भारतीय प्रशासन के मामलों में सर्वेसर्वा था और केन्द्रीय विधान मंडल उसके सामने बिल्कुल अशक्त थे।

शक्ति तथा राजस्व विभाजन—इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई थी। अतः शासन सम्बन्धी समस्त विषयों को दो सूचियों में विभाजित किया गया—केन्द्रीय सूची और प्रान्तीय सूची। जो विषय दोनों सूचियों में सम्मिलित होने से रह गया था वह केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आ जाता था। जिन विषयों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण भारत अथवा एक से अधिक प्रान्तों में समान कानून की आवश्यकता अनुभव की गई, उन्हें केन्द्रीय सूची में रखा गया और प्रान्तीय हित के विषयप्रा न्तीय सूची में रखे गये। केन्द्रीय सूची में 47 विषय थे, जैसे प्रतिरक्षा, विदेशों से सम्बन्ध, देशी रियासतों से सम्बन्ध, रेल, डाक व तार, सिक्के तथा नोट, सैन्य सम्बन्धी विषय, सार्वजनिक ऋण, दीवानी तथा फौजदारी कानून, सीमा शुल्क, रुई पर उत्पादन कर, नमक, आयकर आदि। प्रान्तीय सूची में 50 विषय रखे गये, जैसे स्थानीय, स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण कार्य, पुलिस तथा जेल, वन, सिंचाई, अकाल में सहायता, कृषि भूमि कर, सहकारी संस्थाएं आदि। दोनों सूचियों के किसी विषय के सम्बन्ध में मतभेद होने पर उसका निर्णय गवर्नर जनरल करता था।

प्रशासनिक अधिकारों की भांति राजस्व के साधनों को भी दो भागों में विभाजित किया गया। केन्द्रीय राजस्व में चुंगी, आयकर, रेल, तार, डाक, नमक, अफीम आदि से प्राप्त राजस्व आय होती थी। प्रान्तीय में भूमि कर, चुंगी, सिंचाई, स्टाम्प व रजिस्ट्रेशन आदि थे।

(ग) प्रान्तीय शासन व्यवस्था

इस अधिनियम द्वारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रान्तीय शासन में किया गया। प्रान्तों में एक विचित्र प्रकार की शासन व्यवस्था स्थापित की गई जिसे द्वैध शासन प्रणाली कहते हैं। द्वैध शासन का अर्थ है—दो शासकों का शासन या दोहरा शासन। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई। जैसा कि ऊपर बताया गया है, सम्पूर्ण प्रशासनिक विषयों को केन्द्रीय सूची और प्रान्तीय सूची में विभाजित किया गया। इस अधिनियम द्वारा पहली बार प्रान्तीय विषयों को भी दो भागों में बांटा गया—रक्षित विषय (Reserved Subjects) तथा हस्तांतरित विषय (Transferred Subjects)। जिन विषयों को भारतीयों के हाथों में देने से ब्रिटिश सरकार को कोई विशेष हानि नहीं होती थी, उन विषयों को हस्तांतरित किया गया तथा उनके शासन का उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों को सौंपा गया। उदाहरणार्थ, स्थानीय स्वशासन, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सफाई, यूरोपियनों एवं एंग्लो-इण्डियन्स की शिक्षा को छोड़कर शेष जनता की शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, सहकारी समितियां, मछली क्षेत्र, उद्योग धन्धे, खाद्य वस्तुओं में मिलावट, जन्म तथा मृत्यु सम्बन्धी आंकड़े, तोल और माप आदि ऐसे 22 विषय हस्तांतरित रखे गये। शेष 28 विषय अधिक महत्वपूर्ण थे, वे सभी रक्षित रखे गये। उदाहरणार्थ, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय प्रशासन, खनिज साधनों का विकास, पुलिस, समाचार पत्र, पुस्तकों व छापाखानों पर नियंत्रण, प्रान्तीय वित्त आदि रक्षित विषय रखे गये।

हस्तांतरित विषयों का उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों को सौंप दिया गया, जो प्रान्तीय विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी होते थे। रक्षित विषयों के शासन का उत्तरदायित्व गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद् को सौंपा गया। गवर्नर अपनी कार्यकारिणी सहित इन विषयों के शासन के लिए प्रान्तीय विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी न होकर भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी होता था। रक्षित विषयों पर प्रान्तीय विधान परिषद् का कोई नियन्त्रण नहीं था। जहां यह विवाद उत्पन्न हो जाता कि कोई विषय रक्षित है अथवा हस्तांतरित, वहां गवर्नर का निर्णय अन्तिम समझा जाता था।

प्रान्तीय कार्यपालिका – प्रान्तीय कार्यपालिका को भी दो अलग-अलग भागों में बांटा गया। एक भाग तो कार्यकारिणी परिषद् थी और दूसरा भाग भारतीय मंत्री थे। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में कार्यकारिणी परिषद में चार सदस्य थे, अन्य प्रान्तों में केवल दो थे। यह व्यवस्था की गई कि कार्यकारिणी परिषद में आधे सदस्य गैर सरकारी भारतीय होंगे। कार्यकारिणी के सभी सदस्य पांच वर्ष के लिये ब्रिटिश ताज द्वारा भारत सचिव की सिफारिश पर नियुक्त किये जाते थे। व्यवहार में जिन व्यक्तियों के नाम की सिफारिश गवर्नर जनरल कर देते थे, भारत

सचिव उन्हीं की स्वीकृति दे देता था। गवर्नर कार्यकारिणी परिषद का प्रधान होता था तथा कार्यकारिणी के किसी भी निर्णय की वह उपेक्षा कर सकता था।

हस्तांतरित विषयों का शासन चलाने के लिये मन्त्री नियुक्त किये गये। उनकी अधिकतम संख्या निश्चित नहीं की गई। बम्बई, कलकत्ता व मद्रास में तीन मन्त्री नियुक्त किये गये और शेष प्रान्तों में दो मन्त्री नियुक्त किये गये थे। मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा की जाती थी तथा उसकी इच्छा रहने तक ही वे अपने पद पर बने रह सकते थे। मन्त्रियों की नियुक्ति विधान परिषद के सदस्यों में से ही की जाती थी। यदि किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता जो विधान परिषद का सदस्य नहीं होता था, तो उसे 6 महीने के अन्दर विधान परिषद का सदस्य बनना पड़ता था। जिस मन्त्री में विधान परिषद का विश्वास नहीं होता था, उसे अपना त्याग पत्र देना पड़ता था। इधर गवर्नर को बिना कारण बताये मन्त्रियों को हटाने का अधिकार था। इस प्रकार मन्त्रियों को विधान परिषद तथा गवर्नर की दया पर छोड़ दिया गया था। इसलिये मन्त्रियों को अपने दो स्वामियों को प्रसन्न रखना पड़ता था। यदि मन्त्रियों की सलाह से प्रान्त की शान्ति या सुरक्षा में बाधा उत्पन्न होती हो, अथवा वह सलाह अल्पसंख्यक जातियों के हितों के विरुद्ध हो, अथवा भारत सचिव व गवर्नर जनरल के आदेशों के विरुद्ध हो तो गवर्नर मन्त्रियों की सलाह की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। यदि किसी कारणवश हस्तांतरित विषयों का शासन इस अधिनियम के अनुसार नहीं चलाया जा सकता था, तो गवर्नर, भारत सचिव की पूर्व स्वीकृति से इस अधिनियम को, जितने समय के लिये आवश्यक समझे, स्थगित कर सकता था। ऐसी स्थिति में हस्तांतरित विषयों का प्रशासन रक्षित विषयों की तरह चलाया जा सकता था।

प्रान्तीय विधान मण्डल—प्रान्तीय विधान मण्डल से हमारा अभिप्राय केवल विधान परिषद् से है। विधान परिषद के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। प्रत्येक प्रान्त में इसके सदस्यों की संख्या भिन्न-भिन्न थी। यह व्यवस्था की गई कि विधान परिषद में कम से कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होंगे और 20 प्रतिशत से अधिक सरकारी अधिकारी नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त कुछ मनोनीत गैर सरकारी अधिकारी भी होंगे। गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य विधान परिषद के पदेन सदस्य होते थे। विधान परिषद का कार्यकाल तीन वर्ष निर्धारित किया गया। किन्तु गवर्नर इस अवधि से पूर्व भी उसे भंग कर सकता था और विशेष परिस्थिति में उसकी अवधि एक वर्ष के लिये बढ़ा भी सकता था।

प्रान्तीय विधान परिषद को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने प्रान्त की शान्ति तथा अच्छी सरकार के लिये कानून बनाये। इस अधिनियम से पूर्व प्रत्येक बिल के लिये गवर्नर जनरल की पूर्व आज्ञा लेना आवश्यक था, लेकिन इस अधिनियम में यह तय किया गया कि कुछ विशेष मामलों को छोड़कर शेष गवर्नर अथवा गवर्नर

जनरल की आज्ञा की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु गवर्नर तथा गवर्नर जनरल को विशेष शक्तियां देकर विधान परिषद के अधिकारों को सीमित कर दिया गया।

द्वैध शासन के दोष और उसकी असफलता के कारण

द्वैध शासन प्रणाली के वर्णन से स्पष्ट है कि प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित नहीं की गई थी। अतः कांग्रेस दल ने इसका पूर्ण बहिष्कार किया। 1924 में कांग्रेस की ओर से स्वराज्य पार्टी ने चुनावों में भाग लिया। स्वराज्य पार्टी का मुख्य उद्देश्य विधान मंडलों में जाकर द्वैध शासन को असफल बनाना था। विधान मण्डलों में आकर उन्होंने द्वैध शासन में परिवर्तन की मांग की। अतः सरकार ने मुडीमैन समिति की नियुक्ति की, जिसमें यूरोपियन और भारतीय दोनों तरह के सदस्य थे। यूरोपियन सदस्य द्वैध शासन को मौलिक रूप से सही मानते थे, जबकि भारतीय सदस्य द्वैध शासन को मौलिक रूप से गलत मानते थे। साइमन कमीशन ने भी द्वैध शासन प्रणाली के दोषों पर प्रकाश डाला था। नेहरू रिपोर्ट में भी इसकी कटु आलोचना की गई थी। 1921 से 1937 तक द्वैध शासन पद्धति ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में चालू रही। इस काल में जो अनुभव प्राप्त हुआ, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस व्यवस्था में अनेक दोष थे और इसकी असफलता निश्चित थी। द्वैध शासन के निम्नलिखित दोष असफलता के कारण सिद्ध हुए—

(1) **सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण**—द्वैध शासन सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण था। द्वैध शासन में यह बात स्वतः मान ली गई कि भारतीय अभी पूर्ण उत्तरदायी शासन के लिये अयोग्य हैं। इसलिये भारत में शुरू में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाय, ताकि भारतीय मंत्रियों को साधारण अधिकार भी मिल जाय और अंग्रेजों के हाथ से वास्तविक शक्ति भी न निकले। इसलिये भारतीयों का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक ही था। दूसरा, प्रान्तीय सरकार को दो भागों में बांटना, जिसमें एक भाग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी था और दूसरा अनुत्तर-दायी था, सर्वथा त्रुटिपूर्ण था। इससे शासन की एकता और कार्यक्षमता नष्ट हो गयी। लार्ड लिटन ने ठीक ही कहा था कि सरकार के रक्षित भाग को यद्यपि कोई पसन्द नहीं करता था, लेकिन उसे आदर सभी देते थे जबकि हस्तांतरित भाग को न केवल नापसन्द किया जाता था अपितु तुच्छ भी समझा जाता था।

(2) **विषयों का अवैज्ञानिक विभाजन**—प्रान्तीय विषयों का रक्षित और हस्तांतरित विषयों में बंटवारा सरकार की न केवल एकता को नष्ट करने वाला था बल्कि यह विभाजन कृत्रिम तथा अव्यवहारिक था, जिसके फलस्वरूप नित्य नई समस्याएं उठ खड़ी होती थी। विषयों का बंटवारा ऐसे अवैज्ञानिक ढंग से किया गया कि मंत्रियों के पास किसी भी समूचे विभाग का पूर्ण नियंत्रण नहीं था। उदाहरणार्थ, कृषि और सिंचाई का अभिन्न सम्बन्ध है, किन्तु कृषि हस्तांतरित विषय रखा गया

और सिंचाई को रक्षित। शिक्षा हस्तांतरित विषय था, किन्तु यूरोपियनों तथा एंग्लो-इंडियन्स की शिक्षा रक्षित विषय था। मद्रास सरकार के व्यवसाय मंत्री सर के० वी० रेड्डी ने मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा था, "मैं कृषि मंत्री था। पर सिंचाई से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। कृषि मंत्री होते हुए भी मेरा मद्रास कृषक ऋण अधिनियम और मद्रास भूमि विकास ऋण अधिनियम से कोई सरोकार नहीं था। सिंचाई, कृषि ऋण, भूमि विकास ऋण और अकाल रक्षा के बिना कृषि मंत्री की कार्यक्षमता और प्रभाव की केवल कल्पना ही की जा सकती है। मैं मंत्री था उद्योग का, पर कारखाने, भाप यन्त्र, जल विद्युत तथा श्रम विभाग मेरे पास नहीं थे, क्योंकि ये सब रक्षित विषय थे।" इस कथन से स्पष्ट होता है कि मन्त्रियों को रक्षित विभागों पर आवश्यकता से अधिक निर्भर बना दिया गया था, जिसके दुष्परिणाम निकले।

(3) **गवर्नर की विशेष शक्तियां**—दोहरे शासन की सफलता इस बात पर निर्भर थी कि गवर्नर हस्तांतरित तथा रक्षित भागों के मतभेदों को किस प्रकार दूर करते हैं। यदि गवर्नर मंत्रियों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करे और उनको वांछनीय सहयोग न दे अथवा अपनी विशेष शक्तियों का बार-बार प्रयोग करे तब दोहरा शासन कभी सफल नहीं हो सकता था। यह सही है कि मोण्टफोर्ड रिपोर्ट के रचयिता गवर्नर को मात्र संवैधानिक अध्यक्ष नहीं बनाना चाहते थे। उनका उद्देश्य था कि जब तक मंत्रियों की सलाह से कोई भयानक परिणाम न निकले, उनकी सलाह मान ली जाय। प्रारम्भ के दो वर्षों तक कांग्रेस के नरम दल का सहयोग प्राप्त करने हेतु गवर्नरों ने मंत्रियों के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु बाद में उन्होंने अनुचित हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। गवर्नरों ने तीन प्रकार से सारी शक्तियां अपने हाथ में ले ली थीं। प्रथम, उन्हें सरकार को अच्छी तरह संचालित करने के लिये नियम बनाने व आदेश जारी करने का अधिकार था। उन्होंने नियम बना दिया कि सप्ताह में एक बार सचिव अपने विभागीय कार्य के लिये गवर्नर से मिला करे और जहां उनके मंत्रियों से मतभेद हों, वे सभी मामले गवर्नरों के निर्णय के लिये प्रस्तुत करे। इससे मंत्री बिल्कुल शक्तिहीन हो गये और सचिव उनके विरुद्ध गवर्नर के कान भरने लगे। दूसरा, गवर्नरों ने मंत्रियों से इकट्ठा मिलने की बजाय अलग-अलग मिलना शुरू कर दिया, इससे मंत्रियों की बातों की उपेक्षा करना बहुत आसान हो गया। तीसरा, गवर्नरों ने एक नया सिद्धान्त अपना लिया कि मंत्री केवल उनके परामर्शदाता हैं और यह उनकी इच्छा पर निर्भर है कि वे मंत्रियों की किसी बात को माने या न माने। इसका परिणाम यह हुआ कि गवर्नर मंत्रियों की उचित सलाह की भी उपेक्षा करने लगा।

(4) **संयुक्त विचार विमर्श का अभाव**—इस अधिनियम के रचयिताओं ने प्रान्तीय सरकार के दोनों भागों (रक्षित तथा हस्तांतरित) में संयुक्त विचार विमर्श

की सिफारिश की थी ताकि मंत्रियों द्वारा गवर्नर की कार्यकारिणी को जन-इच्छाओं का पता लग सके तथा कार्यकारिणी के सदस्यों के अनुभवों से मंत्री कुछ सीख सके। गवर्नरों को इस प्रकार के निर्देश भी दिये गये थे। किन्तु मद्रास के गवर्नर को छोड़कर किसी भी गवर्नर ने इन निर्देशों का पालन नहीं किया। बजट पर विचार करने के अतिरिक्त कार्यकारिणी के सदस्य तथा मन्त्रीगण शासन सम्बन्धी मामलों पर विचार-विमर्श के लिये कभी सम्मिलित नहीं होते थे। फलस्वरूप उनमें निरन्तर अविश्वास तथा तनातनी रहती थी और वे सार्वजनिक रूप से एक दूसरे की निन्दा करते थे। मन्त्रियों से यह आशा की जाती थी कि वे अपने साथियों की प्रत्येक बात का विधान परिषद में समर्थन करे, जबकि रक्षित विभागों के बारे में उनसे कोई सलाह नहीं ली जाती थी। अतः प्रशासन पर इसके दुष्प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सके।

(5) **संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव**—मन्त्री किसी भी संगठित राजनैतिक दल के प्रतिनिधि नहीं थे, अतः वे किसी निश्चित कार्यक्रम से बंधे हुए नहीं थे। गवर्नर ने उनमें संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करने का प्रयास ही नहीं किया और न कभी उनमें सामूहिक विचार-विमर्श ही होता था। इसलिये विभिन्न समस्याओं पर उनके भिन्न-भिन्न विचार होते थे। कई बार एक मन्त्री दूसरे मन्त्री की योजना की विधान परिषद में आलोचना कर देता था। मन्त्रियों में जहां पारस्परिक सहयोग का अभाव था, वहां कार्यकारिणी के साथ भी उनका कोई सहयोग नहीं था। मन्त्री विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी थे, अतः वे विधान परिषद के सदस्यों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। इसके विपरीत कार्यकारिणी के सदस्य विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। इसलिये उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि विधान परिषद उनसे प्रसन्न है अथवा नाराज। अतः वे मन्त्रियों को सहयोग देने की चिन्ता ही नहीं करते थे। इस आपसी सहयोग से प्रशासन में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती थी।

(6) **मंत्रियों की दुर्बल स्थिति**—मन्त्रियों की स्थिति वास्तव में बड़ी दुर्बल थी। उनके पास कोई वास्तविक अधिकार नहीं थे। वे राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी विभागों का संचालन करते थे, किन्तु उनके पास फण्ड नहीं थे। प्रान्तों में वित्त विभाग रक्षित विषय था। अतः यह हर मामले में रक्षित विभागों का पक्ष लेता था तथा उन्हें हर प्रकार की सुविधा देता था और हस्तांतरित विभागों के मार्ग में अनेक प्रकार के रोडे अटकाता था ताकि यह सिद्ध हो जाय कि भारतीय मन्त्री अयोग्य हैं। वित्त विभाग का यह पूर्ण प्रयत्न रहता था कि हस्तांतरित विभागों की मांगों पर विचार करने से पूर्व रक्षित विभागों की सारी मांगें पूरी कर दी जाय। अतः हस्तांतरित विभागों के लिये धन का अभाव सदा बना रहता था। इसके अतिरिक्त गवर्नर हस्तांतरित विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था तथा बिना कारण बताये किसी मन्त्री को पदच्युत कर सकता था। अतः वह विधान परिषद व गवर्नर की दया पर

आश्रित हो गया था। इसलिये अनेक मन्त्री गवर्नर की चापलूसी करने लगे थे। ऐसी स्थिति में दोहरे शासन की असफलता स्वाभाविक थी और इसकी काफी जिम्मेवारी गवर्नर की थी।

(7) **विधान परिषद का दोषपूर्ण संगठन**—प्रान्तों की विधान परिषदों का संगठन भी दोषपूर्ण था। इसमें लगभग 30 प्रतिशत सदस्य सरकारी अधिकारी अथवा सरकार द्वारा मनोनीत गैर सरकारी अधिकारी थे। जो सदस्य निर्वाचित थे वे विभिन्न सम्प्रदायों तथा विशेषाधिकार प्राप्त तत्वों का प्रतिनिधित्व करते थे। मतदान का अधिकार भी सम्पत्ति, आयकर तथा राजस्व सम्बन्धी योग्यता पर आधारित था। अतः विधान परिषद के अधिकांश सदस्य प्रतिक्रियावादी थे। सभी सदस्य विशेष हितों के प्रतिनिधि थे और वे सरकार को हर प्रकार से प्रसन्न रखना चाहते थे ताकि वे अपने-अपने सम्प्रदायों के लिये अधिक से अधिक सुविधाएं प्राप्त कर सकें।

(8) **बाहरी परिस्थितियों का उत्तरदायित्व**—यद्यपि द्वैध शासन की असफलता का मुख्य कारण 1919 के अधिनियम के आन्तरिक दोष थे, तथापि बाहरी परिस्थितियों ने भी इसकी असफलता में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। जिस समय यह अधिनियम लागू किया गया, उस समय भारत में इसके अनुकूल परिस्थितियां नहीं थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद अनेक राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो गयी थी। ब्रिटेन ने अपने अधिराज्यों के साथ समानता का व्यवहार करना शुरू कर दिया था और एशिया में नई राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में भारतीयों को ब्रिटिश सरकार के ये सुधार अपर्याप्त और निराशाजनक प्रतीत हुए। देश में असहयोग आन्दोलन ने सद्भावना के स्थान पर कटुता, अविश्वास और असहयोग का वातावरण उत्पन्न कर दिया। इसलिये सुधारों की असफलता अवश्यंभावी हो गयी। स्वराज्य पार्टी ने विधान मण्डलों में प्रवेश किया, किन्तु वह विधान मण्डलों में इसलिये प्रविष्ट हुई थी कि सरकार के मार्ग में रोड़े अटका कर द्वैध शासन की अव्यवहारिकता सिद्ध कर दी जाय। 1931 में महात्मा गांधी द्वारा आरम्भ किये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन भारतीयों का ध्यान इन सुधारों पर अमल करने की तरफ गया ही नहीं, क्योंकि अब कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना हो गया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जो नीति अपनाई वह भी सर्वथा अनुचित ही थी। कुछ वर्षों बाद जब मोन्टेग्यू, भारत सचिव के पद पर नहीं रहे तब ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण भारतीयों को कम से कम स्वशासन देना हो गया। अतः भारत सरकार ने विधान मण्डलों की इच्छाओं की अवहेलना आरम्भ कर दी। इसलिये सर तेजबहादुर सप्रू, सी० वाई० चिन्तामणि तथा पण्डित जगत नारायण ने अपने मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिये। डॉ० जकरिया ने ठीक ही लिखा है कि, "सरकार के इस निर्णय ने कि सुधारों पर इस तरह अमल किया जाय, जिससे लोगों

को कम से कम स्वशासन के अधिकार मिले और दूसरी तरफ स्वराज्य दल की इस नीति ने कि सरकार के संचालन में अधिक से अधिक रुकावटें लगाई जाय, 1919 के सुधारों के भाग्य का पहले से निर्णय कर दिया।" कूपलैंड ने भी स्वीकार किया है कि द्वैध शासन असफल रहा, क्योंकि वह अपने रचयिताओं के मूल उद्देश्य को पूरा न कर सका। इसने भारतीयों को उत्तरदायी शासन का सही प्रशिक्षण नहीं दिया।

द्वैध शासन की सफलताएं

द्वैध शासन चाहे असफल रहा हो और 1937 में इसको समाप्त भी कर दिया गया (1935 का अधिनियम पारित होने के बाद), परन्तु यह सर्वथा लाभहीन नहीं रहा। इस परीक्षण के अन्तर्गत भारतीय मन्त्रियों को स्वशासन का कुछ प्रशिक्षण मिल गया। उन्हें पता चल गया कि स्वशासन के मार्ग में कौनसी कठिनाइयां आ सकती है और उनका हल कैसे निकाला जा सकता है। भारतीय मंत्रियों को तथा जनता को स्वशासन के प्रति ब्रिटिश सरकार के रवैये का भी पता चल गया। हस्तांतरित विषयों में नौकरशाही के ऊपर मंत्रियों का जो नियन्त्रण स्थापित किया गया, इससे नौकरशाही को महसूस हुआ कि बदलती हुई परिस्थितियों में जनता की मांगों और हितों की ओर थोड़ा बहुत ध्यान अवश्य देना पड़ेगा। धीरे धीरे आंशिक उत्तरदायी शासन के साथ-साथ सार्वजनिक सेवाओं का भारतीयकरण होने लगा। इस अधिनियम द्वारा प्रथम बार लोगों को मतदान का अधिकार मिला और प्रथम बार बड़े पैमाने पर चुनाव हुए। परिषदों में प्रथम बार संसदीय वातावरण बना। सरकारी नौकरशाही ने पहली बार जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रियों के आदेशों का पालन किया। मंत्रियों को उन सरकारी रहस्यों का पहली बार ज्ञान हुआ, जिन्हें अब तक पूर्णतया गुप्त रखा जाता था।

भारतीय मंत्रियों ने भी शिक्षा और स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। कई प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं का सुधार किया और इसके लिये उन्होंने कुछ आवश्यक कानून भी बनाये। मंत्रियों ने सामाजिक सुधार की तरफ भी ध्यान दिया। मद्रास में इस हेतु हिन्दू धार्मिक दान अधिनियम और बंगाल में बाल अधिनियम पास किये गये। उत्तर प्रदेश और मद्रास में तो पहले दो वर्ष तक काफी ठीक चला। मंत्रीगण, विधान परिषद् के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते रहे और अपने विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाने पर वे त्याग पत्र देने के लिये भी तैयार हो जाते थे। किन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक मॉण्टेग्यू, भारत सचिव रहे, तब तक द्वैध शासन सफलतापूर्वक कार्य करता रहा। वस्तुतः यह अधिनियम स्वेच्छाचारिता और उत्तरदायित्व के बीच एक पुल था। श्री के. वी. पुन्नियाह के अनुसार, "द्वैध शासन प्रणाली एक अनोखा प्रयोग थी। इसका मुख्य प्रयोजन और उद्देश्य भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में प्रशिक्षण देना

था। निसन्देह इसके रचयिता इस प्रणाली के दोषों और कमियों से परिचित थे। परन्तु वे सोचते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अच्छा कोई विकल्प नहीं है। इस अधिनियम के परीक्षण के बाद ब्रिटिश सरकार, भारतीयों द्वारा उत्तरदायी शासन चलाने की क्षमता पर सन्देह नहीं कर सकती थी। इसीलिये ब्रिटिश सरकार ने 1935 का अधिनियम पारित करके प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान कर दी थी।

भारत सरकार अधिनियम, 1935

1919 के सुधारों ने भारतीयों की आशाओं पर पानी फेर दिया, क्योंकि इन सुधारों में 'स्वतन्त्रता' की गन्ध भी नहीं थी। कांग्रेस ने उन्हें अपर्याप्त, असन्तोपजनक और निराशापूर्ण घोषित किया। अतः भारतीय राष्ट्रवादी नेता ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जद्दे जिहाद के लिये उठ खड़े हुए। फलस्वरूप 1919 के सुधारों की जांच पड़ताल करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने 1927 में साइमन कमीशन भेजा। साइमन कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज थे, अतः भारतीयों ने इसका तीव्र विरोध किया। फिर भी 1930 में इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट ने भारतीयों की स्वशासन की आकांक्षा को पूरा नहीं किया। भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने इस रिपोर्ट के विरुद्ध 'नेहरू रिपोर्ट' तैयार की, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने इसकी कोई परवाह नहीं की। फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हो उठा और भारतीयों को असंतोप में दिन प्रति दिन वृद्धि होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये लंदन में तीन गोलमेज सम्मेलन आयोजित किये। इन गोलमेज सम्मेलनों में हुए विचार विमर्श के आधार पर मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के भावी सुधारों का एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया। श्वेत पत्र के प्रस्तावों पर विचार करने के लिये ब्रिटिश संसद ने दोनों सदनों के सदस्यों की एक संयुक्त समिति नियुक्त की। जिसकी रिपोर्ट 1934 में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट तथा श्वेत-पत्र के प्रस्तावों के आधार पर 3 अगस्त 1935 को ब्रिटिश संसद ने 1935 का भारत सरकार अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं—

(1) **गृह सरकार के नियन्त्रण में कमी**—इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में स्वायत्तता तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई। इसके लिये गृह सरकार के अधिकारों में कमी करना आवश्यक था। भारतीय नेता इंडिया कौंसिल की कटु आलोचना करते थे। अतः इस अधिनियम के अन्तर्गत इंडिया कौंसिल को समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान पर भारत सचिव के परामर्श-दाता नियुक्त किये गये जिनकी संख्या अधिक से अधिक 6 तथा कम से कम 3 निर्धारित की गई। भारत सचिव इनके परामर्श को मानने के लिये बाध्य नहीं था। भारत सचिव का उन मामलों पर नियन्त्रण लगभग समाप्त कर दिया गया

जो हस्तांतरित विषय थे तथा जिनका शासन उत्तरदायी मंत्रियों को सौंप दिया गया था। जिन विषयों में गवर्नर जनरल तथा गर्वनर अपनी व्यक्तिगत इच्छा और निर्णय से कार्य करते थे, वहां भारत सचिव का नियन्त्रण पूर्ववत् बना रहा। व्यवहारिक रूप में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि 1935 के अधिनियम का संघीय पक्ष कभी लागू ही नहीं हुआ तथा केन्द्र का प्रशासन 1919 के अधिनियम के अनुसार ही चलता रहा। केवल प्रान्तों में जहां पूर्ण स्वायत्तता दी गई, वहां उसके नियंत्रण में काफी कमी आ गई थी।

(2) **अखिल भारतीय संघ की स्थापना** - इस अधिनियम के अन्तर्गत एक अखिल भारतीय संघ स्थापित करने की व्यवस्था की गई, जिसमें 11 गवर्नर जनरल के प्रान्त, 6 चीफ कमिश्नर के प्रान्त और भारत की देशी रियासतों को सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। किसी भी संघ व्यवस्था के लिये तीन तत्वों की आवश्यकता होती है—लिखित संविधान की सर्वोच्चता, अधिकारों का विभाजन तथा न्यायपालिका की विशेष स्थिति। 1935 के अधिनियम में इन तीनों तत्वों को स्वीकार कर संघ योजना तैयार की गई थी। संघ के दोनों सदनों में देशी राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया। संघीय विधान सभा में 375 सदस्यों में से 125 सदस्य तथा संघीय राज्य सभा में 260 सदस्यों में से 104 सदस्य देशी रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। यह संघ दो शर्तें पूरी होने के पश्चात शाही घोषणा द्वारा स्थापित किया जाना था :

1. संघीय संसद के दोनों सदन सम्राट को प्रार्थना करें कि संघ की स्थापना की जाय।

2. इतनी देशी रियासतें संघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दे कि उनकी जनसंख्या कुल रियासती जनसंख्या की आधी से अधिक हो तथा जो संघीय राज्य सभा में 52 स्थानों से अधिक स्थानों के अधिकारी हो।

इस अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के लिये संघ में शामिल होना अनिवार्य था, परन्तु देशी रियासतों के लिये एच्छिक था। प्रत्येक देशी रियासत को जो संघ में शामिल होना चाहती थी, एक प्रवेश-पत्र या स्वीकृति लेख (Insturment of Accession) पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे। उस स्वीकृति लेख में वह रियासत उन शर्तों का उल्लेख करती थी, जिनके आधार पर वह संघ में शामिल होने को तैयार है। इस स्वीकृति लेख में उन सब शक्तियों का वर्णन होता था, जो रियासत संघ को देना चाहती थी। संघ की समस्त इकाइयों को अपने आन्तरिक मामलों में स्वराज्य प्राप्त था।

1935 के अधिनियम में प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ की स्थापना नहीं हो सकी, क्योंकि देशी रियासतों की निर्धारित संख्या ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। संघ की योजना में उन सभी तत्वों का अभाव था, जो एक

संघ योजना के लिये आवश्यक होती है। प्रस्तावित संघ योजना में निरंकुशवाद और प्रजातन्त्रवाद का अनोखा समन्वय था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद, भारतीय राष्ट्रवाद और रियासती सामन्तवाद जैसे विरोधी तत्वों का समन्वय कभी सफल नहीं हो सकता था। एक ओर देशी रियासतों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि होंगे तो दूसरी ओर जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होंगे। निर्वाचित प्रतिनिधि, मनोनीत सदस्यों को प्रजातन्त्र के विकास में बाधक समझते हैं और दूसरी ओर देशी रियासतें अपने राज्य में प्रजातन्त्र के विकास से चिंतित रहती है। अतः संघ की बेमेल योजना कभी कार्यान्वित ही नहीं हो सकी।

(3) **केन्द्र में द्वैध शासन की स्थापना**—1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में जो आंशिक उत्तरदायित्व स्थापित किया गया था, उसे द्वैध शासन की संज्ञा दी गई थी। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया, परन्तु इसको केन्द्र में लागू कर दिया गया। संघीय विषयों को दो भागों में बांटा गया—रक्षित विषय तथा हस्तांतरित विषय। रक्षित विषयों में प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, चर्च सम्बन्धी मामले और कबाइली क्षेत्र के मामले शामिल थे। इनका शासन गवर्नर जनरल अपनी इच्छानुसार चला सकता था। रक्षित विषयों पर विधान मण्डल का नियन्त्रण नाम मात्र भी नहीं था। इन विषयों के प्रशासन में गवर्नर जनरल एक कार्यकारिणी परिषद की सहायता लेता था, जिसमें सदस्यों की संख्या तीन से अधिक नहीं हो सकती थी। उनकी नियुक्ति सम्राट करता था तथा वे गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी होते थे। ये केन्द्रीय विधान मण्डलों के दोनों सदनों के पदेन सदस्य होते थे और उनकी बैठकों में भाग लेते थे, किन्तु उनके प्रति उत्तरदायी नहीं थे।

हस्तांतरित विषयों का शासन चलाने के लिये एक मन्त्री परिषद होती थी जो संघीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती थी। मन्त्रियों की नियुक्ति और पदमुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होती थी। इनकी संख्या दस से अधिक नहीं हो सकती थी। मंत्रियों के लिये यह अवश्यक था कि वे संघीय विधान मण्डल के किसी भी सदन के सदस्य हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता, जो किसी भी सदन का सदस्य न हो, तो उसे 6 महीने के अन्दर सदन का सदस्य बनना पड़ता था या त्याग पत्र देना पड़ता था। यद्यपि गवर्नर जनरल से यह आशा की जाती थी कि वह हस्तांतरित विषयों में मन्त्रियों की सलाह से शासन चलायेगा। किन्तु हस्तांतरित विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को विशेषाधिकार दिये गये थे। अतः उचित व्यवस्था के नाम पर वह मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता था।

1919 के द्वैध शासन के कटु अनुभव के बाद भी इसे केन्द्र में स्थापित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को कोई वास्तविक अधिकार या शक्ति नहीं देना चाहती थी। भारतीय मन्त्रियों को जो थोड़ी बहुत शक्तियां दी गई, उन्हें भी गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों द्वारा समाप्त कर दिया गया।

(4) **संघीय विधान मण्डल की निर्बलता**—संघीय विधान मण्डल के दो सदन थे—संघीय विधान सभा और संघीय राज्य सभा। संघीय विधान सभा में कुल 375 सदस्य थे, जिनमें 125 स्थान देशी रियासतों को दिये गये। देशी रियासतों के प्रतिनिधि भारतीय नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाते थे। प्रान्तों के प्रतिनिधियों का चुनाव सामान्य स्थानों, मुसलमानों व सिक्खों के सुरक्षित स्थानों पर प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा होता था। इसमें 82 स्थान मुसलमानों को प्राप्त थे। इस प्रकार देशी रियासतों के मनोनीत प्रतिनिधि (जो व्यवहार में ब्रिटिश रेजीडेन्ट द्वारा ही मनोनीत होते थे) और मुसलमान सदस्यों को मिलाकर सरकार बड़ी सरलता से अपना स्थायी बहुमत स्थापित कर सकती थी। इसी प्रकार संघीय राज्य सभा में कुल 260 सदस्य रखे गये, जिनमें 104 स्थान देशी रियासतों को दिये गये और 6 स्थानों पर नारियों, अल्पमतों तथा दलित वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिये गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते थे। शेष 150 प्रतिनिधियों का चुनाव साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली के आधार पर अप्रत्यक्ष रीति से होता था। अतः संघीय राज्य सभा में भी सरकार अपना बहुमत स्थापित कर सकती थी।

संघीय विधान मण्डल की शक्तियों को अत्यन्त ही सीमित कर उसे निर्बल बना दिया गया। विधान मण्डल 1935 के अधिनियम में संशोधन नहीं कर सकता था और न ब्रिटिश संसद के कानूनों के विरुद्ध कोई कानून पास कर सकता था। विधान मण्डल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को गवर्नर जनरल अस्वीकृत कर सकता था और गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत विधेयक को इंगलैंड की सरकार अस्वीकृत कर सकती थी। विधान मण्डल की वित्तीय शक्तियां भी अत्यन्त सीमित थी। बजट के दो भाग थे—(1) भारत के राजस्व से किया जाने वाला व्यय (2) शेष व्यय। भारत के राजस्व से किया जाने वाला व्यय सम्पूर्ण बजट का लगभग 80 प्रतिशत होता था, जिन पर विधान मण्डल बहस तो कर सकता था, किन्तु उसमें कोई कटौती नहीं कर सकता था। कोई भी वित्तीय विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना विधान मण्डल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। विधान मण्डल के अधिवेशन के दौरान भी गवर्नर जनरल को कोई अध्यादेश जारी करने का अधिकार था तथा वह अधिनियम भी पास कर सकता था। गवर्नर जनरल के संकटकालीन अधिकार भी व्यापक थे। वह इस अधिनियम को स्थगित कर न्यायालय के अतिरिक्त समस्त अधिकार अपने हाथ में ले सकता था।

वास्तव में विधान मण्डल को निर्बल बनाने की अंग्रेजों की चाल थी, क्योंकि वे भारतीयों को कोई वास्तविक शक्ति देना ही नहीं चाहते थे। प्रो० कीथ ने ठीक ही लिखा है कि इस अधिनियम द्वारा एक ओर तो भारतीयों को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की गई कि उन्हें सब कुछ दे दिया गया है और दूसरी ओर संरक्षणों और आरक्षणों की व्यवस्था कर अंग्रेजों को यह विश्वास दिलाया गया कि उन्होंने कुछ भी नहीं खोया है।

(5) **अधिकारों के विभाजन की नई पद्धति**—इस अधिनियम द्वारा विषयों का विभाजन किया गया। जो विषय संघीय सरकार से सम्बन्धित थे, उन्हें संघीय सूची में रखा गया, जिसमें 59 विषय थे। जो विषय प्रान्तीय हित के थे, उन्हें प्रान्तीय सूची में रखा गया, जिसमें 54 विषय थे। जिन विषयों के सम्बन्ध में संघ और प्रान्त दोनों कानून बना सकते थे, उन्हें समवर्ती सूची में रखा गया, जिसमें 36 विषय थे। इस सूची के सम्बन्ध में यदि प्रान्त और केन्द्रीय विधान मण्डल के कानून में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न हो जाय तो केन्द्रीय विधान मण्डल के कानून को माना जायेगा तथा प्रान्तीय विधान मण्डल का कानून रद्द समझा जायेगा। अवशिष्ट शक्तियों के बारे में यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से केन्द्रीय विधान मण्डल अथवा प्रान्तीय विधान मण्डल को इन विषयों पर कानून बनाने की शक्ति दे सकता था।

विश्व के किसी भी संविधान में अधिकारों के विभाजन की ऐसी पद्धति नहीं थी। विश्व के संघीय संविधानों में दो पद्धतियां प्रचलित थी। प्रथम तो यह कि संघ के अधिकार क्षेत्रों की स्पष्ट व्याख्या करके अवशिष्ट शक्तियां संघ की इकाइयों को सौंप दी गई थी। दूसरी, संघ की इकाइयों के अधिकार क्षेत्र की स्पष्ट व्याख्या करके अवशिष्ट शक्तियां संघ को सौंप दी गई थी। किन्तु भारत सरकार अधिनियम, 1935 में एक अनोखी पद्धति अपनाई गई। समवर्ती सूची के सम्बन्ध में संघ को उच्चता दे दी गई और अवशिष्ट शक्तियों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को अधिकार दे दिया गया।

(6) **संघीय न्यायालय की स्थापना**—संघ व उसकी इकाईयों के झगड़ों का फैसला करने के लिये एक उच्च, निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायालय की आवश्यकता होती है। इसका मुख्य कार्य संघ की विभिन्न इकाईयों के मध्य उठने वाले तथा संघ और किसी इकाई के मध्य उठने वाले विवादों पर निर्णय देना तथा अधिनियम की धाराओं पर मतभेद हो जाने पर धाराओं की सही व्याख्या करना होता है। 1935 के अधिनियम द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गई, जो इन कार्यों को सम्पादित करे। यदि गवर्नर जनरल अपनी इच्छा से किसी भी कानूनी मामले पर इसकी राय मांगे, तो संघीय न्यायालय गवर्नर जनरल को कानूनी परामर्श भी दे सकता था। किन्तु संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था तथा इसके द्वारा की गई अधिनियम की व्याख्या अन्तिम नहीं थी। इसके फैसलों के विरुद्ध इसकी आज्ञा के विना निम्नलिखित मामलों में प्रिवी कौंसिल की न्याय समीति को अपील की जा सकती थी—

(1) ऐसे मामले जिनमें 1935 के अधिनियम की व्याख्या अथवा इस अधिनियम के अधीन जारी किये गये सपरिपद् आदेश की व्याख्या का प्रश्न उत्पन्न होता हो और संघीय न्यायालय द्वारा प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction) के अन्तर्गत निर्णय दिया गया हो।

(2) ऐसे मामले जिनमें किसी रियासत के प्रवेश पत्र (Instrument of Accession) द्वारा संघ सरकार को दी गई कानूनी और कार्यकारिणी शक्ति के विस्तार का प्रश्न उत्पन्न होता हो।

(3) संघ में शामिल होने वाली देशी रियासतों में संघीय विधान मण्डल द्वारा बनाये हुए कानूनों को लागू करने से जो मामले उत्पन्न हों।

उपर्युक्त मामलों को छोड़कर शेष मामलों में प्रिवी कौंसिल की न्याय समिति को अपीलें केवल संघीय न्यायालय की आज्ञा से की जा सकती थी।

(7) **प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना**—गोलमेज सम्मेलन में मुस्लिम लीग ने मांग की थी कि प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्तता दी जाय ताकि मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों में वे स्वतन्त्र और केन्द्र के नियन्त्रण से मुक्त होकर कार्य कर सके। अतः 1935 के अधिनियम की सबसे बड़ी विशेषता प्रान्तों को स्वायत्तता देना थी। राजनीति शास्त्र में प्रान्तीय स्वायत्तता के साधारतया दो अर्थ होते हैं—केन्द्र के नियन्त्रण से प्रान्तों की स्वतन्त्रता तथा प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना। इस पद्धति के अनुसार प्रान्तों को एक नया संवैधानिक दर्जा दिया गया। प्रान्तों को अपने आन्तरिक मामलों में काफी हद तक स्वतन्त्रता दे दी गई। प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया। इसलिये प्रान्तों में रक्षित तथा हस्तांतरित विषयों का भेद समाप्त कर दिया गया। जो विषय प्रान्तीय सूची में दिये गये, उनके प्रशासन के सम्बन्ध में प्रान्तों को स्वशासन दे दिया गया और केन्द्रीय नियन्त्रण को बहुत कम कर दिया गया। प्रान्तीय शासन संचालन का भार मन्त्रियों पर आ पड़ा, जो विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार प्रान्तीय शासन की बागडोर भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आ गई और प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो गयी।

वास्तव में प्रान्तीय स्वायत्तता पर गवर्नर को काफी शक्तियां दी गई थी। इसलिये भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इसे अस्वीकार कर दिया था। किन्तु जब इस अधिनियम को प्रान्तों में 1 अप्रैल 1937 से लागू करने की घोषणा की गई, तब निर्वाचन में भाग लेने को सभी तैयार हो गये। चुनावों के बाद उस समय तक मन्त्रिमण्डल बनाना व्यर्थ था जब तक कि गवर्नर द्वारा यह आश्वासन न दे दिया जाय कि वह दैनिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करेगा और केवल संवैधानिक अध्यक्ष की भांति कार्य करेगा। जब गवर्नर से ऐसा आश्वासन प्राप्त हुआ तभी कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाये गये। प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों ने अत्यन्त ही प्रशंसनीय कार्य किये तथा गवर्नर ने भी उनके दैनिक प्रशासन में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन सितम्बर 1939 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया और गवर्नर जनरल ने बिना मंत्रिमण्डलों से परामर्श किये भारत को युद्ध में धकेल दिया, तब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। ऐसे प्रान्तों

में गवर्नर ने समस्त प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। जुलाई 1937 से सितम्बर 1939 तक प्रान्तीय स्वायत्तता सफलतापूर्वक कार्य करती रही।

(8) **गवर्नरों और गवर्नर जनरल की मनमानी शक्तियां**—इस अधिनियम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रबल दबाव होते हुए भी गवर्नरों और गवर्नर जनरल को मनमानी शक्तियां प्रदान कर उत्तरदायी सरकार की स्थापना निरर्थक कर दी। इस अधिनियम द्वारा भारतीय विधान मंडलों को आर्थिक मामलों में नियन्त्रण देकर भी अंतिम वास्तविक नियन्त्रण अंग्रेजों ने अपने पास रख लिया। यद्यपि कानून और व्यवस्था विभाग उत्तरदायी मन्त्रियों को सौंप दिया गया था लेकिन प्रान्त में शान्ति कायम रखने का विशेष उत्तरदायित्व गवर्नर का भी था। इस विशेष उत्तरदायित्व का बहाना लेकर गवर्नर राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन कर सकते थे। इसलिये डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था, "यह कहना कि ये विषय हस्तान्तरित हैं, बिल्कुल छल और धूर्तता है, जबकि उनके विषय में जिम्मेदारियाँ अंग्रेजों के पास सुरक्षित हैं। गवर्नर, गवर्नर जनरल और ब्रिटिश ताज तथा संसद द्वारा दी हुई विस्तृत शक्तियों ने प्रान्तीय स्वराज्य को नहीं के बराबर कर दिया है जो कि भारतीयों के लिये सबसे बड़ा पुरस्कार था।"

अधिनियम की आलोचना—अंग्रेज विद्वानों ने इस अधिनियम की अत्यधिक प्रशंसा की है। प्रो० कूपलैण्ड ने इस अधिनियम को रचनात्मक राजनैतिक विचार की एक महान सफलता बताया है। उनके मत में, इस अधिनियम ने भारत के भाग्य को अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में बदल दिया। कूपलैंड के इस विचार से भारतीय विद्वान सहमत नहीं हैं। स्वयं इंगलैण्ड में मजदूर दल के नेता एटली ने कहा था कि इस अधिनियम से संघीय स्तर पर रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी तत्वों को इतनी अधिक प्रधानता दी गई है कि किसी भी प्रकार का प्रजातन्त्रीय विकास सम्भव ही नहीं है। इस अधिनियम में औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा तक नहीं की गई। केन्द्र में आंशिक तथा प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई, लेकिन गवर्नरों तथा गवर्नर जनरल को विशेष शक्तियां देकर लोकतन्त्र को खोखला बना दिया गया। साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली राष्ट्रवाद के लिए अहितकर थी, फिर भी न केवल उसे कायम रखा गया, बल्कि उसका विस्तार भी कर दिया गया। हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करके देश के राजनैतिक वातावरण को विषैला बना दिया गया। देशी रियासतों के मनोनीत प्रतिनिधियों को प्रान्तों तथा ब्रिटिश भारत की जनता के विकास सम्बन्धी मामलों में निर्णायक मत देने का अधिकार दे दिया गया। भारतीयों को अपने लिये स्वतन्त्र संविधान बनाने का अधिकार नहीं था। भारत की प्रगति का निर्णय करने का अधिकार इंगलैण्ड की संसद को था। संघीय विधान सभा के लिए प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली भी स्थापित नहीं की गई। यह एक महान अप्रजातान्त्रिक कदम था, जो जान-बूझकर उठाया गया था। केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था संघीय विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थी। वैधानिक शक्तियों

का बंटवारा भी उचित नहीं था। निसन्देह भारत के लिये एक संघ की नितान्त आवश्यकता थी और इसलिए भारतीयों द्वारा संघ योजना का स्वागत किया जाना चाहिये था। किन्तु इसकी अनूठी विशेषताओं तथा त्रुटियों के कारण इसकी सर्वत्र आलोचना की गयी। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा आदि सभी दलों ने इसे अस्वीकार कर दिया था। देशी रियासतों के शासकों ने भी इसका विरोध किया। अतः 11 सितम्बर 1940 को गवर्नर जनरल ने घोषणा की कि इस अधिनियम का संघ सम्बन्धी भाग निलम्बित तथा निष्क्रिय कर दिया गया है।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

यद्यपि कांग्रेस 1935 के अधिनियम के विरुद्ध थी, तथापि इसने संविधान (1935 के अधिनियम) को अन्दर से नष्ट करने की दृष्टि से विधान मण्डलों के लिये चुनाव लड़ने का निर्णय किया। चुनावों के बाद गवर्नर द्वारा दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन देने पर कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में काँग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाये। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर गवर्नर जनरल ने देश के प्रतिनिधियों से मन्त्रणा किये बिना भारत को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में धकेल दिया। इस पर काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिये तथा अंग्रेज सरकार से सहयोग करने से इन्कार कर दिया। किन्तु 1940 के पूर्वार्द्ध में जर्मनी की सफलता देखकर 8 अगस्त 1940 को गवर्नर जनरल ने भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिये घोषणा की कि युद्ध के बाद भारतीय प्रतिनिधियों की बैठक बुलाई जायेगी जिसमें संवैधानिक विकास पर विचार किया जायेगा। किन्तु इसके तुरन्त पश्चात 9 सितम्बर 1941 को इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने घोषणा की कि एटलांटिक चार्टर (जिसमें आत्म निर्णय की बात कही गई थी) भारत पर लागू नहीं होगा। इससे भारतीयों को विश्वास हो गया कि इंगलैण्ड भारत को स्वतन्त्रता देना ही नहीं चाहता। इधर 1942 के आरम्भ में जापान की पूर्वी एशिया में सफलता देखकर तथा अमेरीका व चीन के दबाव के कारण चर्चिल ने भारतीय समस्या को हल करने के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा, किन्तु क्रिप्स मिशन भी असफल रहा। तत्पश्चात् कांग्रेस ने भारत छोड़ो आन्दोलन छेड़ दिया। यद्यपि इस आन्दोलन को निर्ममता पूर्वक कुचल दिया गया, लेकिन इस आन्दोलन के बाद अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया कि वे अधिक समय तक भारत में अपना राज्य कायम नहीं रख सकेंगे। 1945 में भारत की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने हेतु गवर्नर जनरल लार्ड वेवल ने एक योजना तैयार की तथा शिमला में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया, लेकिन जिन्ना की पाकिस्तान की मांग की जिद्द के कारण यह सम्मेलन भी असफल रहा।

जुलाई 1945 में इंगलैण्ड में चुनाव हुए जिसके फलस्वरूप मजदूर दल सत्ता में आया। मज़दूर दल ने चुनावों के अवसर पर घोषणा कर दी थी कि यदि वह सत्ता में आया तो भारत को स्वतन्त्रता दे दी जायेगी। अतः मजदूर दल के प्रधान

मन्त्री एटली ने एक मन्त्रिमण्डल मिशन भारत भेजा। आरम्भ में यह मिशन कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न हो सकने के कारण असफल रहा। इस अवरोध को दूर करने के लिये मंत्रिमण्डल मिशन ने सुझाव दिया कि जब तक भावी संविधान रूपरेखा तैयार न हो तब तक अन्तरिम सरकार की स्थापना की जाय और वह सम्पूर्ण शासन भार सम्भाले। पाकिस्तान की मांग को उन्होंने अव्यवहारिक करार दिया। कांग्रेस ने केन्द्र में अन्तरिम सरकार बनाई। मुस्लिम लीग ने देश विभाजन के लिए मारकाट आरम्भ कर दी। मार्च 1947 में लार्ड माउन्ट बेटन ने भारत के गवर्नर जनरल का पद ग्रहण किया, जिसने सरदार पटेल और पंडित नेहरू को समझा बुझा कर भारत विभाजन के लिये सहमत कर लिया। 3 जून, 1947 को माउन्ट बेटन ने भारत विभाजन की योजना प्रस्तुत की, जिसे कांग्रेस व मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। माउन्ट बेटन योजना को कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश संसद ने 4 जुलाई 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास कर दिया। इस अधिनियम की मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं—

(1) इस अधिनियम में कहा गया कि 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो अधिनियम बना दिए जायेंगे और उनको ब्रिटिश सरकार सत्ता सौंप देगी। दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को राजसत्ता (Sovereignty) दे दी जायेगी।

(2) जब तक दोनों राज्यों के लिये नया संविधान न बन जाय, दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को अपने अपने अधिराज्य के लिये कानून बनाने का अधिकार होगा। नई संविधान सभाओं को संविधान बनाने के अधिकार के अतिरिक्त वे सारे अधिकार होंगे जो 1947 से पहले केन्द्रीय विधान मण्डल के पास थे।

(3) दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाओं को अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार संविधान बनाने का अधिकार होगा। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अपनी इच्छानुसार रखने अथवा छोड़ने का अधिकार होगा।

(4) ब्रिटिश सरकार का 15 अगस्त 1947 के बाद दोनों अधिराज्यों, उनके प्रान्तों अथवा किसी भाग के मामलों पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा।

(5) जब तक दोनों अधिराज्यों के लिए नया संविधान नहीं बन जाता तब तक दोनों अधिराज्यों तथा उनके प्रान्तों में शासन, भारत सरकार अधिनियम 1935 के अनुसार चलेगा। प्रत्येक अधिराज्य को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 के अनुसार भारत सरकार अधिनियम, 1935 में आवश्यकता के अनुसार संशोधन करने का अधिकार होगा। 31 मार्च 1948 तक गवर्नर जनरल को आवश्यकता के अनुसार भारत सरकार अधिनियम, 1935 में संशोधन करने का अधिकार होगा। उसके बाद संविधान सभाओं को उस अधिनियम में संशोधन करने का अधिकार होगा।

(6) भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अन्तर्गत भारत सचिव का पद समाप्त कर दिया गया और उसके कार्य राष्ट्रमण्डल के सचिव को सौंप दिये गये।

(7) ब्रिटिश सम्राट के पद से 'भारत का सम्राट' नामक पद हटा दिया गया। ब्रिटिश सम्राट की अधिराज्यों के कानूनों पर निषेधाधिकार (Veto) लगाने की शक्ति समाप्त कर दी गई। इसके बाद कोई विधेयक ब्रिटिश सम्राट की अनुमति के लिये रक्षित नहीं किया जायेगा। दोनों अधिराज्यों के गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वे ब्रिटिश सम्राट की ओर से किसी भी साधारण विधेयक की अनुमति दे सके।

(8) ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों के ऊपर सर्वोच्चता समाप्त कर दी गई। ब्रिटिश सरकार की देशी राज्यों से हुई समस्त सन्धियां समाप्त कर दी गई। जब तक देशी रियासतों और भारत सरकार में बातचीत द्वारा कुछ तय न हो जाय, भारत सरकार और देशी रियासतों में पहला सम्बन्ध कायम रहेगा। इसका अर्थ यह था कि देशी रियासतें स्वयं इस बात का निर्णय करेगी कि वह किस अधि-राज्य में अपना अस्तित्व रखेगी।

(9) उत्तर-पश्चिमी सीमा के कबाइलियों से पाकिस्तान समझौते की बातचीत करेगा।

इस अधिनियम के बाद 15 अगस्त, 1947 की आधी रात को भारत गुलामी की बेड़ियों से मुक्त हुआ तथा स्वाधीनता की आराध्य देवी सदियों के पश्चात पुनः भारत भूमि पर क्रीड़ा करने लगी। स्वाधीनता के बाद जिन्ना ने हिन्दू आबादी को पाकिस्तान से खदेड़ने हेतु भीषण मारकाट आरम्भ करवा दी। फलतः भारत में भी साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे और भीषण रक्तपात हुआ। भारत सरकार ने तुरन्त उन पर नियन्त्रण प्राप्त कर देश में कानून और व्यवस्था स्थापित की। तत्पश्चात नवम्बर 1949 को भारत की संविधान सभा ने संविधान पास कर दिया, जिसे 26 जनवरी 1950 को देश में लागू कर दिया गया। इस संविधान के द्वारा भारत में प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हुई तथा समस्त भारतीयों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, सभी प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएं तथा समानताएं प्रदान की गई। हमारा संविधान राष्ट्र के सुनहरे स्वप्नों का तथा स्वाधीनता के लिये किये गये असंख्य भारतीयों के त्याग और बलिदान का प्रतीक है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान सभा में स्वतन्त्रता के बाद माउन्ट बेटन को धन्यवाद देते हुए कहा था, "जहां स्वतन्त्रता की प्राप्ति काफी सीमा तक हमारे अपने त्यागों और बलिदानों के फलस्वरूप आई है, वहां यह विश्व की विभिन्न शक्तियों और घटनाओं के कारण भी प्राप्त हुई है। यह ब्रिटिश जाति के लोकतन्त्रीय आदर्शों और ऐतिहासिक परम्पराओं की पूर्ति भी है।"